कृष्ण स्मृति

कृष्ण-स्मृति

ओशो द्वारा कृष्ण के बहु-आयामी व्यक्तित्व पर दी गई 21 वार्त्ताओं एवं नव-संन्यास पर दिए गए एक विशेष प्रवचन का अप्रतिम संकलन। यही वह प्रवचनमाला है जिसके दौरान ओशो के साक्षित्व में संन्यास ने नए शिखरों को छूने के लिए उत्प्रेरणा ली और 'नव संन्यास अंतर्राष्ट्रीय' की संन्यास-दीक्षा का सूत्रपात हुआ।

भूमिका

सुप्रसिद्ध कवि एवं लेखक

डा. दामोदर खड़से

एम.ए.,एम.एड,पीएच.डी.

कृष्ण स्मृति

हीरे जो कभी परखे ही न गए

ओशो

पूर्णता का नाम कृष्ण

जीवन एक विशाल कैनवास है, जिसमें क्षण-क्षण भावों की कूची से अनेकानेक रंग मिल-जुल कर सुख-दुख के चित्र उभारते हैं। मनुष्य सदियों से चिर आनंद की खोज में अपने पल-पल उन चित्रों की बेहतरी के लिए जुटाता है। ये चित्र हजारों वर्षों से मानव-संस्कृति के अंग बन चुके हैं। किसी एक के नाम का उच्चारण करते ही प्रतिकृति हंसती-मुस्काती उदित हो उठती है।

आदिकाल से मनुष्य किसी चित्र को अपने मन में बसाकर कभी पूजा, तो कभी आराधना, तो कभी चिंतन-मनन से गुजरता हुआ ध्यान की अवस्था तक पहुंचता रहा है। इतिहास में, पुराणों में ऐसे कई चित्र हैं, जो सदियों से मानव संस्कृति को प्रभावित करते रहे हैं। महावीर, क्राइस्ट, बुद्ध, राम ने मानव-जाति को गहरे छुआ है। इन सबकी बातें अलग-अलग हैं। कृष्ण ने इन सबके रूपों-गुणों को अपने आपमें समाहित किया है। कृष्ण एक ऐसा नाम है, जिसने जीवन को पूर्णता दी। एक ओर नाचना-गाना, रास-लीला तो दूसरी ओर युद्ध और राजनीति, सामान्यतः परस्पर विरोधी बातों को अपने में समेटकर आनंदित हो मुरली बजाने जैसी सहज क्रियाओं से जुड़े कृष्ण सचमुच चौंकानेवाले चरित्र हैं। ऐसे चरित्र को रेखांकित करना कम चुनौतीपूर्ण नहीं है। व्याख्याएं कभी-कभी दिशाएं मोड़ देती हैं, कभी-कभी भटका भी देती है।

ओशो ने कृष्ण को अपनी दृष्टि से हमारे सामने रखा है, अपनी दार्शनिक और चिंतनशील पारदर्शी दृष्टि से हम तक इस पुस्तक के माध्यम से पहुंचाया है। व्यक्तित्व जब बड़ा हो, विशाल हो तब मूर्ति बनाना आसान नहीं। सिर्फ बाहरी छबि उभारना पर्याप्त नहीं होता। व्यक्तित्व के सभी पहलू भी उभरने चाहिए। श्रेष्ठ कलाकार वही है जो मूर्ति में ऐसी बातों को भी उभार सके जो सामान्य आंखें देख नहीं पातीं।

कृष्ण भारतीय जन-मानस के लिए नए नहीं हैं। कृष्ण की छबि, मुद्रा परिचित है। चाहे यह बाल्यकाल की छबि सूरदास की हो या महाभारत की विभिन्न मुद्राएं हों या विभिन्न कवियों के कृष्ण हों, लोककथाओं या आख्यायिकाओं के कृष्ण हों—चिर-परिचित हैं। कृष्ण का चित्र स्टील फोटोग्राफी की तरह हमारे मन में रच-बस गया है।

परंतु, ओशो ने इस पुस्तक की विचार-शृंखला में कृष्ण का मात्र फोटो नहीं खींचा है बल्कि एक सधे हुए चिंतक-कलाकार की तरह अपने विचार-रंगों से कृष्ण के जीवन के उन पहलुओं को छुआ है, आकार दिया है, जो कैमरे की आंख से नहीं देखे जा सकते। सिर्फ कूची के स्पर्श से उभारे जा सकते हैं। कैमरा सिर्फ मूर्त आकृतियों की प्रतिकृति देता है पर कलाकार की कूची अमूर्तता को रेखांकित करती है। 'कृष्ण स्मृति' ऐसी ही अनदेखी, अनजानी अमूर्त छटाओं का एक संपूर्ण संकलन है, जो ओशो की एक लंबी-प्रवचन-शृंखला से उभरा है। श्रोताओं की जिज्ञासाओं, कुतूहलों और कृष्ण व्यक्तित्व से

उठनेवाले उन तमाम प्रश्नों के उत्तर में, झरने-सा कल-कल बहता हुआ, कांच की तरह पारदर्शी विचार-चिंतन इस पुस्तक में प्रवाहित हुआ है।

कृष्ण यथार्थवादी हैं। वे राग, प्रेम, भोग, काम, योग, ध्यान और आत्मा-परमात्मा जैसे विषयों को उनके यथार्थ रूप में ही स्वीकार करते हैं। दूसरी ओर युद्ध और राजनीति को भी उन्होंने वास्तविक अर्थों में स्वीकार किया है। ओशो कहते हैं कृष्ण युद्धवादी नहीं हैं। कृष्ण का व्यक्तित्व पूर्वाग्रही नहीं है। यदि युद्ध होना ही हो तो भागना ठीक नहीं है। यदि युद्ध होना ही है और मनुष्य के हित में अनिवार्य हो जाए तो युद्ध को आनंद से स्वीकार करना चाहिए। उसे बोझ की तरह ढोना उचित नहीं। क्योंकि बोझ समझकर लड़ने में हार निश्चित है।

ओशो युद्ध और शांति के द्वंद्व को समझाते हुए कृष्ण के व्यक्तित्व को अधिक सरलता से प्रस्तुत करते हैं। क्योंकि कृष्ण जीवन को युद्ध और शांति दोनों द्वारों से गुजरने देना चाहते हैं। शांति के लिए युद्ध की सामर्थ्य हो।

मनुष्य की युद्ध की मानसिकता को ओशो ने बड़ी सहजता से उजागर किया है। वे कहते हैं सतगुणों और दुर्गुणों से ही मनुष्य आकार लेता है। अनुपात कम-अधिक हो सकते हैं। ऐसा अच्छे से अच्छा आदमी नहीं है पृथ्वी पर, जिसमें बुरा थोड़ा-सा न हो। और ऐसा बुरा आदमी भी नहीं खोजा जा सकता, जिसमें थोड़ा-सा अच्छा न हो। इसलिए सवाल सदा अनुपात और प्रबलता का है। स्वतंत्रता, व्यक्ति, आत्मा, धर्म, ये मूल्य हैं जिनकी तरफ शुभ की चेतना साथ होगी। कृष्ण इसी चेतना के प्रतीक हैं।

ओशो ने कृष्ण पर बोलने का बड़ा सुंदर आधार दिया है—कृष्ण का महत्व अतीत के लिए कम और भविष्य के लिए ज्यादा है। सच ऐसा है कि कृष्ण अपने समय से कम पांच हजार वर्ष पहले पैदा हुए। सभी महत्वपूर्ण व्यक्ति अपने समय से पहले पैदा होते हैं और सभी गैर-महत्वपूर्ण व्यक्ति अपने समय के बाद पैदा होते हैं। बस महत्वपूर्ण और गैर-महत्वपूर्ण व्यक्ति में इतना ही फर्क है। और सभी साधारण व्यक्ति अपने समय के साथ पैदा होते हैं। ऐसे महत्वपूर्ण व्यक्ति को समझना आसान नहीं होता। उसका वर्तमान और अतीत उसे समझने में असमर्थता अनुभव करता है। ओशो ने कितना सुंदर कहा है कि जब हम समझने योग्य नहीं हो पाते, तब हम उसकी पूजा करना शुरू कर देते हैं। या तो हम उसका विरोध करते हैं। या तो हम गाली देते हैं या हम प्रशंसा करते हैं। दोनों पूजाएं हैं—एक शत्रु की है, एक मित्र की है।

ओशो की एक प्रखर आंखों ने कृष्ण को अपने वर्तमान के लिए देखा। दुख, निराशा, उदासी, वैराग्य, जैसी बातें कृष्ण ने पृथ्वी पर नहीं कीं। पृथ्वी पर जीनेवाले, उल्लास, उत्सव, आनंद, गीत, नृत्य, संगीत को कृष्ण ने विस्तार दिया। कृष्ण ने इस संसार की सारी चीजों को उनके वास्तविक अर्थों में ही स्वीकार किया।

कृष्ण के बहुआयामी व्यक्तित्व और रहस्यपूर्ण कृतित्व की व्याख्या ओशो ने सहजता और सरलता से की है। कृष्ण को देखने की उनकी दृष्टि सचमुच ऐसा विस्तार देती है, जो मात्र तुलना नहीं है। कृष्ण कुशलता से चोरी कर सकते हैं, महावीर एकदम बेकाम चोर साबित होंगे। कृष्ण कुशलता से युद्ध कर सकते हैं, बुद्ध न लड़ सकेंगे। जीसस की हम कल्पना ही नहीं कर सकते कि वे बांसुरी बजा सकते हैं, लेकिन कृष्ण सूली पर चढ़ सकते हैं। कृष्ण को क्राइस्ट के व्यक्तित्व में सोचा ही नहीं जा सकता।

यह पूरा सिलसिला लंबे प्रवचनों के माध्यम से प्रश्नों के उत्तरों के रूप में है। इसमें मानव मन से उठनेवाली तमाम जिज्ञासाओं और कुतूहलों की आतुरता शांत की गई है। प्रेम, नैतिकता, पत्नी, प्रेमिका, स्त्री-पुरुष, विवाह, आध्यात्मिक संभोग, राधा-कृष्ण संबंधों और हजार-हजार प्रश्नों के रेशों को इसमें कुशलता से सहेजा गया है, समाधान किया गया है। प्रतीकों और यथार्थ की तराजू पर तौलते हुए मानवीय संवेदनाओं और शरीर की जैविक आवश्यकताओं तथा मन, बुद्धि और शरीर की यात्राओं में स्त्री-पुरुष की पूर्णता का युक्तिसंगत ऊहापोह ठोस मनोवैज्ञानिक धरातल पर किया गया है। राधा और कृष्ण, कृष्ण और सोलह हजार गोपिकाएं, इनके बीच नैतिक-अनैतिक की परिभाषाएं उदाहरणों से इतनी पारदर्शी हो उठी हैं कि तर्कों की डोर बहुत शिथिल पड़ जाती है। कृष्ण की पृष्ठभूमि में विवाह, स्त्री-पुरुष संबंध, प्रेम और सामाजिक पृष्ठभूमि में ये विचार देशकाल की सीमाओं को तोड़कर व्यक्ति को एक नया अर्थ देते हैं। इन सारे संबंधों में निकटता, आकर्षण, ऊर्जा, बहाव, तृप्ति, हल्कापन और सृजन को बड़ी सुंदरता से प्रस्तुत किया है।

कृष्ण स्मृति

इन विस्तृत चर्चाओं में कृष्ण के इर्द-गिर्द जुड़े समस्त पात्रों के अलावा कृष्ण से फ्रॉयड तक की मनोवैज्ञानिक बातें और गांधी तक का दर्शन समाहित किया गया है।

कृष्ण को एक विस्तृत 'कैनवास' के रूप में उपयोग कर हमारे वर्तमान जीवन के रंग और भविष्य के चित्र बड़ी खूबसूरती से उभरे हैं। कोई भी बात बाहर से थोपी नहीं गई है। अपनी विशिष्ट शैली में ओशो ने मन तक पहुंचाई है। कृष्ण के पक्ष या विपक्ष में ले जाने का कोई आग्रह नहीं है। पर ओशो की दृष्टि में आए कृष्ण को जानने, देखने, समझने और अनुभव करने की जिज्ञासा इस पुस्तक से जहां एक ओर शांत होती है, वहीं उस अनंत व्यक्तित्व के बारे में मौलिक चिंतन की शुरुआत का एक छोर भी अनायास ही हाथ लग जाता है।

ओशो ने अपनी इस पुस्तक में कहीं भी पुजारी की भूमिका नहीं की। सिर्फ विविध छटाओं को विस्तार दिया है। जिसको जो छटा भाती है, वह उसको सोचकर आनंद को प्राप्त होता है। कृष्ण का जीवन अन्य आराध्यों-सा सपाट और आदर्श के शिखर पर विराजमान नहीं है। बल्कि अत्यंत अकल्पनीय ढंग से उतार-चढ़ाव और रहस्यों से भरपूर होते हुए भी हमारी आपकी पृथ्वी पर खड़ा है। इसकी सिर्फ पूजा नहीं इसे जीया भी जा सकता है। संसार के बंधन और मन की गांठ खुल सकती है।

यह सब बताते हुए ओशो यह भी आगाह करते हैं कि अनुकरण से सावधान रहना चाहिए। क्योंकि प्रत्येक का जीवन मौलिक होता है और अनुकरण से उसका पतन हो सकता है।

कृष्ण संपूर्णता के प्रतीक हैं। मानव-समाज के आनंद के लिए सुंदर आविष्कार के रूप में उभरते हैं, जहां किसी भी बात को पूर्वाग्रह से नकारा नहीं गया है। एक सहज, सकारात्मक, रागात्मक, प्रेमपूर्ण जीवन को उत्सव की तरह संपन्न करने वाले कृष्ण इस पुस्तक में जो चित्र उभरकर निखरता है, वह सर्वथा नया और आनंददायी है।

डां.दामोदर खड़से
8/9 चंद्रलोक नगरी,
डहाणूकर कॉलोनी र.नं.-11
कोथरूड,
पुणे-411029

हिंदी साहित्य जगत में ख्याति व मान्यता प्राप्त कवि व कथाकार डां. दामोदर खड़से बैंक ऑफ महाराष्ट्र के राजभाषा विभाग के उप-मुख्य प्रबंधक हैं। दो कहानी-संग्रह एवं दो उपन्यास प्रकाशित। भटकते कोलंबस (कहानी संग्रह) पर भारत सरकार द्वारा पुरस्कृत। मध्य प्रदेश साहित्य परिषद द्वारा आचार्य रामचंद्र शुक्ल पुरस्कार। प्रमुख हिंदी पत्र-पत्रिकाओं में जाना-माना नाम। मराठी, कन्नड़, तेलगू व अंग्रेजी में रचनाएं अनूदित। विविध भारती (बंबई); आकाशवाणी, नागपुर, दिल्ली, पूना से इनकी रचनाओं, भाषणों आदि का प्रसारण। रसायन एवं उर्वरक मंत्रालय तथा ऊर्जा मंत्रालय, भारत सरकार के हिंदी सलाहकार।

अनुक्रम

1 हंसते व जीवंत धर्म के प्रतीक कृष्ण

'कृष्ण के व्यक्तित्व में आज के युग के लिए क्या-क्या विशेषताएं हैं और उनके व्यक्तित्व का क्या महत्त्व हो सकता है? इस पर कुछ प्रकाश डालें?'

कृष्ण स्मृति

 कृष्ण का व्यक्तित्व बहुत अनूठा है। अनूठेपन की पहली बात तो यह है कि कृष्ण हुए तो अतीत में, लेकिन हैं भविष्य के। मनुष्य अभी भी इस योग्य नहीं हो पाया कि कृष्ण का समसामयिक बन सके। अभी भी कृष्ण मनुष्य की समझ से बाहर हैं। भविष्य में ही यह संभव हो पाएगा कि कृष्ण को हम समझ पाएं।

इसके कुछ कारण हैं।

सबसे बड़ा कारण तो यह है कि कृष्ण अकेले ही ऐसे व्यक्ति हैं जो धर्म की परम गहराइयों और ऊंचाइयों पर होकर भी गंभीर नहीं हैं, उदास नहीं हैं, रोते हुए नहीं हैं। साधारणतः संत का लक्षण ही रोता हुआ होना है। जिंदगी से उदास, हारा हुआ, भागा हुआ। कृष्ण अकेले ही नाचते हुए वयक्ति हैं। हंसते हुए, गीत गाते हुए। अतीत का सारा धर्म दुखवादी था। कृष्ण को छोड़ दें तो अतीत का सारा धर्म उदास, आंसुओं से भरा हुआ था। हंसता हुआ धर्म मर गया है और पुराना ईश्वर, जिसे हम अब तक ईश्वर समझते थे, जो हमारी धारणा थी ईश्वर की, वह भी मर गई है।

जीसस के संबंध में कहा जाता है कि वह कभी हंसे नहीं। शायद जीसस का यह उदास व्यक्तित्व और सूली पर लटका हुआ उनका शरीर ही हम दुखी-चित्त लोगों को बहुत आकर्षण का कारण बन गया। महावीर या बुद्ध बहुत गहरे अर्थों में इस जीवन के विरोधी हैं। कोई और जीवन है परलोक में, कोई मोक्ष है, उसके पक्षपाती हैं। समस्त धर्मों ने दो हिस्से कर रखे हैं जीवन के—एक वह जो स्वीकार योग्य है और एक वह जो इनकार के योग्य है।

कृष्ण अकेले ही इस समग्र जीवन को पूरा ही स्वीकार कर लेते हैं। जीवन की समग्रता की स्वीकृति उनके व्यक्तित्व में फलित हुई है। इसलिए, इस देश ने और सभी अवतारों को आंशिक अवतार कहा है, कृष्ण को पूर्ण अवतार कहा है। राम भी अंश ही हैं परमात्मा के, लेकिन कृष्ण पूरे ही परमात्मा हैं। और यह कहने का, यह सोचने का, ऐसा समझने का कारण है। और वह कारण यह है कि कृष्ण ने सभी कुछ आत्मसात कर लिया है।

अल्बर्ट श्वीत्ज़र ने भारतीय धर्म की आलोचना में एक बड़ी कीमत की बात कही है, और वह यह कि भारत का धर्म जीवन-निषेधक, 'लाइफ निगेटिव' है। यह बात बहुत दूर तक सच है, यदि कृष्ण को भुला दिया जाए। और यदि कृष्ण को भी विचार में लिया जाए तो यह बात एकदम ही गलत हो जाती है। और श्वीत्ज़र यदि कृष्ण को समझते तो ऐसी बात न कह पाते। लेकिन कृष्ण की कोई व्यापक छाया भी हमारे चित्त पर नहीं पड़ी है। वे अकेले दुख के एक महासागर में नाचते हुए एक छोटे-से द्वीप हैं। या ऐसा हम समझें कि उदास और निषेध और दमन और निंदा के बड़े मरुस्थल में एक बहुत छोटे-से नाचते हुए मरूद्यान हैं। वह हमारे पूरे जीवन की धारा को नहीं प्रभावित कर पाए। हम ही इस योग्य न थे, हम उन्हें आत्मसात न कर पाए।

मनुष्य ाका मन अब तक तोड़कर सोचता रहा, द्वंद्व करके सोचता रहा। शरीर को इनकार करना है, आत्मा को स्वीकार करना है। तो आत्मा और शरीर को लड़ा देना है। परलोक को स्वीकार करना है, इहलोक को इनकार करना है। तो इहलोक और परलोक को लड़ा देना है। स्वभावतः, यदि हम शरीर का इनकार करेंगे, तो जीवन उदास हो जाएगा। क्योंकि जीवन के सारे रस-स्रोत और सारा स्वास्थ्य और जीवन का सारा संगीत और सारी संवेदनाएं शरीर से आ रही हैं। शरीर को जो धर्म इनकार कर देगा, वह पीतवर्ण हो जाएगा, रक्तशून्य हो जाएगा। उस पर से लाली खो जाएगी। वह पीले पत्ते की तरह सूखा हुआ धर्म होगा। उस धर्म की मान्यता भी जिनके मन में गहरी बैठेगी, वे भी पीले पत्ते की तरह गिरने की तैयारी में संलग्न, मरने के लिए उत्सुक और तैयार हो जाएंगे।

कृष्ण अकेले हैं जो शरीर को उसकी समस्तता में स्वीकार कर लेते हैं, उसकी 'टोटलिटी' में। यह एक आयाम में नहीं, सभी आयाम में सच है। शायद कृष्ण को छोड़कर...कृष्ण को छोड़कर, और पूरे मनुष्यता के इतिहास में जरथुस्त्र एक दूसरा आदमी है, जिसके बाबत यह कहा जाता है कि वह जन्म लेते से हंसा। सभी बच्चे रोते हैं। एक बच्चा सिर्फ मनुष्य-जाति के इतिहास में जन्म लेकर हंसा। यह सूचक है। यह सूचक है इस बात का कि अभी हंसती हुई मनुष्यता पैदा नहीं हो पाई। और कृष्ण तो हंसती हुई मनुष्यता को ही स्वीकार हो सकते हैं। इसलिए कृष्ण का बहुत भविष्य है। फ्रायड-पूर्व धर्म की जो दुनिया थी, वह फ्रायड-पश्चात नहीं हो सकती है। एक बड़ी क्रांति घटित हो गई है, और एक बड़ी दरार पड़ गई है मनुष्य

की चेतना में। हम जहां थे फ्रायड के पहले, अब हम वहीं कभी भी नहीं हो सकेंगे। एक नया शिखर छू लिया गया है और एक नई समझ पैदा हो गई है। वह समझ समझ लेनी चाहिए।

पुराना धर्म सिखाता था आदमी को दमन और 'सप्रेशन'। काम है, क्रोध है, लोभ है, मोह है, सभी को दबाना है और नष्ट कर देना है। और तभी आत्मा उपलब्ध होगी और तभी परमात्मा उपलब्ध होगा। यह लड़ाई बहुत लंबी चली। इस लड़ाई के हजारों साल के इतिहास में भी मुश्किल से दस-पांच लोग हैं जिनको हम कह पाए कि उन्होंने परमात्मा को पा लिया। एक अर्थ में यह लड़ाई सफल नहीं हुई। क्योंकि अरबों-खरबों लोग बिना परमात्मा को पाए मरे हैं। जरूर कहीं कोई बुनियादी भूल थी। यह ऐसा ही है जैसे कि कोई माली करोड़ हजार पौधे लगाए और एक पौधे में फूल आ जाएं, और फिर भी हम उस माली के शास्त्र को मानते चले जाएं, और हम कहें कि देखो एक पौधे में फूल आए! और हम इस बात का खयाल ही भूल जाएं कि पचास करोड़ पौधे में अगर एक पौधे में फूल आते हैं, तो यह माली की वजह से न आए होंगे, यह माली से किसी तरह बच गया होगा पौधा, इसलिए आ गए हैं। क्योंकि माली का प्रमाण तो बाकी पचास करोड़ पौधे हैं जिनमें फूल नहीं आते, पत्ते नहीं लगते, सूखे ठूंठ रह जाते हैं।

एक बुद्ध, एक महावीर, एक क्राइस्ट अगर परमात्मा को उपलब्ध हो जाते हैं, द्वंद्वग्रस्त धर्मों के बावजूद भी, तो यह कोई धर्मों की सफलता का प्रमाण नहीं है। धर्मों की सफलता का प्रमाण तो तब होगा, माली तो तब सफल समझा जाएगा, जब पचास करोड़ पौधों में फूल लगें और एक में न लग पाएं, तो क्षमा योग्य है। कहा जा सकेगा कि यह पौधे की गलती हो गई। इसमें माली की गलती नहीं हो सकती। पौधा बच गया होगा माली से, इसलिए सूख गया है, इसलिए फूल नहीं आते हैं।

फ्रायड के साथ ही एक नई चेतना का जन्म हुआ और वह यह कि दमन गलत है। और दमन मनुष्य को आत्महिंसा में डाल देता है। आदमी अपने से ही लड़ने लगे तो सिर्फ नष्ट हो सकता है। अगर मैं अपने बाएं और दाएं हाथ को लड़ाऊं तो न तो बायां जीतेगा, न दायां जीतेगा, लेकिन मैं हार जाऊंगा। दोनों हाथ लड़ेंगे और मैं नष्ट हो जाऊंगा। तो दमन ने मनुष्य को आत्मघाती बना दिया, उसने अपनी ही हत्या अपने हाथों कर ली।

कृष्ण, फ्रायड के बाद जो चेतना का जन्म हुआ है, जो समझ आई है, उस समझ के लिए कृष्ण ही अकेले हैं जो सार्थक मालूम पड़ सकते हैं। क्योंकि पुराने मनुष्यजाति के इतिहास में कृष्ण अकेले हैं जो दमनवादी नहीं हैं। वे जीवन के सब रंगों को स्वीकार कर लिए हैं। वे प्रेम से भागते नहीं। वे पुरुष होकर स्त्री से पलायन नहीं करते। वे परमात्मा को अनुभव करते हुए युद्ध से विमुख नहीं होते। वे करुणा और प्रेम से भरे होते हुए भी युद्ध में लड़ने की सामर्थ्य रखते हैं। अहिंसक-चित्त है उनका, फिर भी हिंसा के ठेठ दावानल में उतर जाते हैं। अमृत की स्वीकृति है उन्हें, लेकिन जहर से कोई भय भी नहीं है। और सच तो यह है, जिसे भी अमृत का पता चल गया है उसे जहर का भय मिट जाना चाहिए। क्योंकि ऐसा अमृत ही क्या जो जहर से फिर डरता चला जाए। और जिसे अहिंसा का सूत्र मिल गया, उसे हिंसा का भय मिट जाना चाहिए। ऐसी अहिंसा ही क्या जो अभी हिंसा से भी भयभीत और घबड़ाई हुई है! और ऐसी आत्मा भी क्या जो शरीर से भी डरती हो और बचती हो! और ऐसे परमात्मा का क्या अर्थ जो सारे संसार को अपने आलिंगन में न ले सकता हो। तो कृष्ण द्वंद्व को एक-साथ स्वीकार कर लेते हैं और इसलिए द्वंद्व के अतीत हो जाते हैं। 'ट्रांसेंडेंस' जो है, अतीत जो हो जाना है, वह द्वंद्व में पड़कर कभी संभव नहीं है; दोनों को एक साथ स्वीकार कर लेने से संभव है।

तो भविष्य के लिए कृष्ण की बड़ी सार्थकता है। और भविष्य में कृष्ण का मूल्य निरंतर बढ़ता ही जाने को है। जब कि सबके मूल्य फीके पड़ जाएंगे और द्वंद्व-भरे धर्म जब कि पीछे अंधेरे में डूब जाएंगे और इतिहास की राख उन्हें दबा देगी, तब भी कृष्ण का अंगार चमकता हुआ रहेगा। और भी निखरेगा क्योंकि पहली दफे मनुष्य इस योग्य होगा कि कृष्ण को समझ पाए। कृष्ण को समझना बड़ा कठिन है। कठिन है इस बात को समझना कि एक आदमी संसार को छोड़कर चला जाए और शांत हो जाए। कठिन है इस बात को समझना कि संसार के संघर्ष में, बीच में खड़ा होकर और शांत हो। आसान है यह बात समझनी कि एक आदमी विरक्त हो जाए, आसक्ति से संबंध तोड़कर भाग जाए और उसमें एक पवित्रता का जन्म हो। कठिन है यह बात समझनी कि जीवन के सारे उपद्रव के बीच, जीवन के सारे उपद्रव में अलिप्त, जीवन के सारे

धूल-धवांस के कोहरे और आंधियों में खड़ा हुआ दिया हिलता न हो, उसकी लौ कंपती न हो—कठिन है यह समझना। इसलिए कृष्ण को समझना बहुत कठिन था। निकटतम जो कृष्ण के थे वे भी नहीं समझ सकते हैं। लेकिन पहली दफा एक महान प्रयोग हुआ है। पहली दफा आदमी ने अपनी शक्ति का पूरा परीक्षण कृष्ण में किया है। ऐसा परीक्षण कि संबंधों में रहते हुए असंग रहा जा सके, और युद्ध के क्षण पर भी करुणा न मिटे। और हिंसा की तलवार हाथ में हो, तो भी प्रेम का दिया मन से न बुझे।

इसलिए कृष्ण को जिन्होंने पूजा भी है, जिन्होंने कृष्ण की आराधना भी की है उन्होंने भी कृष्ण के टुकड़े-टुकड़े करके किया है। सूरदास के कृष्ण कभी बच्चे से बड़े नहीं हो पाते। बड़े कृष्ण के साथ खतरा है। सूरदास बर्दाश्त न कर सकेंगे। वह बाल कृष्ण को ही...। क्योंकि बाल कृष्ण अगर गांव की स्त्रियों को छेड़ देता है तो हमें बहुत कठिनाई नहीं है। लेकिन युवा-कृष्ण जब गांव की स्त्रियों को छेड़ देगा तो फिर बहुत मुश्किल हो जाएगा। फिर हमें समझना बहुत मुश्किल हो जाएगा, क्योंकि हम अपने ही तल पर तो समझ सकते हैं। हमारे अपने तल के अतिरिक्त समझने का हमारे पास कोई उपाय भी नहीं है। तो कोई है जो कृष्ण के एक रूप को चुन लेगा, कोई है जो दूसरे रूप को चुन लेगा। गीता को प्रेम करने वाले गीता की चर्चा में न पड़ेंगे, क्योंकि कहां राग-रंग और कहां रास और कहां युद्ध का मैदान! उनके बीच कोई तालमेल नहीं है। शायद कृष्ण से बड़े विरोधों को एक-साथ पी लेने वाला कोई व्यक्तित्व ही नहीं है। इसलिए कृष्ण की एक-एक शकल लोगों ने पकड़ लिया। है। जो जिसे प्रीतिकर लगी है, उसने छांट लिया है, बाकी शकल को उसने इनकार कर दिया है।

गांधी गीता को माता कहते हज, लेकिन गीता को आत्मसात नहीं कर सके। क्योंकि गांधी की अहिंसा युद्ध की संभावनाओं को कहां रखेगी? तो गांधी उपाय खोजते हैं; वह कहते हैं यह जो युद्ध है, यह सिर्फ रूपक है, यह कभी हुआ नहीं। यह मनुष्य के भीतर अच्छाई और बुराई की लड़ाई है। यह जो कुरुक्षेत्र है, यह कोई बाहर युद्ध का मैदान नहीं है, और ऐसा नहीं है कि कृष्ण ने कहीं अर्जुन को किसी बाहर के युद्ध में लड़ाया हो। यह तो भीतर के युद्ध की रूपक-कथा है। यह एक 'पैरेबल' है, यह एक कहानी है। यह एक प्रतीक है। गांधी को कठिनाई है। क्योंकि गांधी का जैसा मन है, उसमें तो अर्जुन ही ठीक मालूम पड़ेगा। अर्जुन के मन में बड़ी अहिंसा का उदय हुआ है। वह युद्ध छोड़कर भाग जाने को तैयार है। वह कहता है, अपनों को मारने से फायदा क्या? और वह कहता है, इतनी हिंसा करके धन पाकर भी, यश पाकर भी, राज्य पाकर भी मैं क्या करूंगा? इससे तो बेहतर है मैं सब छोड़कर भिखमंगा हो जाऊं। इससे तो बेहतर है कि मैं भाग जाऊं और सारे दुख वरण कर लूं, लेकिन हिंसा में न पडूं। इससे मेरा मन बड़ा कांपता है। इतनी हिंसा अशुभ है।

कृष्ण की बात गांधी की पकड़ में कैसे आ सकती है? क्योंकि कृष्ण समझाते हैं कि तू लड़। और लड़ने के लिए जो-जो तर्क देते हैं, वह ऐसा अनूठा है कि इसके पहले कभी भी नहीं दिया गया था। उसको परम अहिंसक ही दे सकता है, उस तर्क को।

कृष्ण का तर्क यह है कि जब तक तू ऐसा मानता है कि कोई मर सकता है, तब तक तू आत्मवादी नहीं है। तब तक तुझे पता नहीं है कि जो भीतर है, न वह कभी मरा है, न कभी मर सकता है। अगर तू सोचता है कि मैं मार सकूंगा, तो तू बड़ी भ्रांति में है, बड़े अज्ञान में है। क्योंकि मारने की धारणा ही भौतिकवादी की धारणा है। जो जानता है, उसके लिए कोई मरता नहीं है। तो अभिनय है—कृष्ण उससे कह रहे हैं—मरना और मारना लीला है, एक नाटक है।

इस संदर्भ में यह समझ लेना उचित होगा कि राम के जीवन को हम चरित्र कहते हैं। राम बड़े गंभीर हैं। उनका जीवन लीला नहीं है, चरित्र ही है। लेकिन कृष्ण गंभीर नहीं हैं। कृष्ण का चरित्र नहीं है वह, कृष्ण की लीला है। राम मर्यादाओं में बंधे हुए व्यक्ति हैं, मर्यादाओं के बाहर वे एक कदम न बढ़ेंगे। मर्यादा पर वे सब कुर्बान कर देंगे। कृष्ण के जीवन में मर्यादा जैसी कोई चीज ही नहीं है। अमर्याद। पूर्ण स्वतंत्र। जिसकी कोई सीमा नहीं, जो कहीं भी जा सकता है। ऐसी कोई जगह नहीं आती जहां वह रुके, ऐसी कोई जगह नहीं आती जहां भयभीत हो और कदम को ठहराए। यह अमर्यादा भी कृष्ण के आत्म-अनुभव का अंतिम फल है। तो हिंसा भी बेमानी हो गफ है वहां, क्योंकि हिंसा हो नहीं सकती। और जहां हिंसा ही बेमानी हो गई हो वहां अहिंसा भी बेमानी हो जाती है। क्योंकि जब तक हिंसा सार्थक है और हिंसा हो सकती है, तभी तक अहिंसा भी सार्थक है। असल में हिंसक अपने को मानना भौतिकवाद है, अहिंसक अपने को मानना भी उसी भौतिकवाद

का दूसरा छोर है। एक मानता है मैं मार डालूंगा, एक मानता है मैं मारूंगा नहीं, मैं मारने को राजी नहीं हूं। लेकिन दोनों मानते हैं कि मारा जा सकता है।

ऐसा अध्यात्म युद्ध को भी खेल मान लेता है। और जो जीवन की सारी दिशाओं को—राग की, प्रेम की, भोग की, काम की, योग की, ध्यान की, समस्त दिशाओं को एक साथ स्वीकार कर लेता है, उस समग्रता के दर्शन को समझने की संभावना रोज बढ़ती जा रही है, क्योंकि अब हमें कुछ बातें पता चली हैं, जो हमें कभी पता नहीं थीं। लेकिन कृष्ण को निश्चित ही पता रही हैं।

जैसे हमें आज जाकर पता चला है कि शरीर और आत्मा जैसी दो चीजें नहीं हैं। आत्मा का जो छोर दिखाई पड़ता है, वह शरीर है; और शरीर का जो छोर दिखाई पड़ता है, वह आत्मा है। परमात्मा और संसार जैसी दो चीजें नहीं हैं। परमात्मा और प्रकृति जैसा द्वंद्व नहीं है कहीं। परमात्मा का जो हिस्सा दृश्य हो गया है, वह प्रकृति है। और जो अब भी अदृश्य है, वह परमात्मा है। कहीं भी ऐसी कोई जगह नहीं है जहां प्रकृति खत्म होती है और परमात्मा शुरू होता है। बस प्रकृति ही लीन होते-होते-होते-होते परमात्मा बन जाती है। परमात्मा ही प्रगट होते-होते प्रकृति बन जाता है। अद्वैत का यही अर्थ है। और इस अद्वैत की अगर हमें धारणा स्पष्ट हो जाए, इसकी प्रतीति हो जाए, तो कृष्ण को समझा जा सकता है।

साथ ही भविष्य में और क्यों कृष्ण की सार्थकता बढ़ने को हैं और कृष्ण क्यों मनुष्य के और निकट आ जाएंगे? अब दमन संभव नहीं हो सकेगा। बड़े लंबे संघर्ष और बड़े लंबे ज्ञान की खोज के बाद ज्ञात हो सका है कि जिन शक्तियों से हम लड़ते हैं वे शक्तियां हमारी ही हैं, हम ही हैं। इसलिए उनसे लड़ने से बड़ा कोई पागलपन नहीं हो सकता। और यह भी ज्ञाता हुआ है कि जिससे हम लड़ते हैं, हम सदा के लिए उसी से घिरे रह जाते हैं। और यह भी ज्ञात हुआ है कि जिससे हम लड़ते हैं उसे हम कभी रूपांतरित नहीं कर पाते। उसका 'ट्रांसफार्मेशन' नहीं होता।

अगर कोई व्यक्ति यौन से लड़ेगा तो उसके जीवन में ब्रह्मचर्य घटित हो सकता है तो एक ही उपाय है कि वह अपनी काम की ऊर्जा को कैसे रूपांतरित करे। काम की ऊर्जा से मैत्री साधनी है। क्योंकि हम सिर्फ उसी को बदल सकते हैं जिससे हमारी मैत्री है। जिसके हम शत्रु हो गए, उसको बदलने का सवाल नहीं। जिसके हम शत्रु हो गए उसको समझने का भी उपाय नहीं है। समझ भी हम उसे ही सकते हैं जिससे हमारी मैत्री है।

तो जो हमें निकृष्टतम दिखाई पड़ रहा है वह भी श्रेष्ठतम का ही छोर है। पर्वत का जो बहुत ऊपर का शिखर है, वह, और पर्वत के पास की जो बहुत गहरी खाई है, ये दो घटनाएं नहीं हैं। ये एक ही घटना के दो हिस्से हैं। यह जो खाई बनी है, यह पर्वत के ऊपर उठने से बनी है। यह जो पर्वत ऊपर उठ सका है, यह खाई के बनने से ऊपर उठ सका है। ये दो चीजें नहीं हैं। ये पर्वत और खाई हमारी भाषा में दो हैं, अस्तित्व में एक ही चीज के दो छोर हैं।

नीत्शे का एक बहुत कीमती वचन है। नीत्शे ने कहा है कि जिस वृक्ष को आकाश की ऊंचाई छूनी हो, उसे अपनी जड़ें पाताल की गहराई तक पहुंचानी पड़ती हैं। और अगर कोई वृक्ष अपनी जड़ों को पाताल तक पहुंचाने से डरता है, तो उसे आकाश तक पहुंचने की आकांक्षा भी छोड़ देनी पड़ती है। असल में जितनी ऊंचाई, उतने ही गहरे भी जाना पड़ता है। जितना ऊंचा जाना हो उतना ही नीचे भी जाना पड़ता है। नीचाई और ऊंचाई दो चीजें नहीं हैं, एक ही चीज के दो आयाम हैं और वे सदा समानुपाती हैं, एक ही अनुपात में बढ़ते हैं।

मनुष्य के मन ने सदा चाहा कि वह चुनाव कर ले। उसने चाहा कि स्वर्ग को बचा ले और नर्क को छोड़ दे। उसे चाहा कि शांति को बचा ले, तनाव को छोड़ दे। उसने चाहा शुभ को बचा ले, अशुभ को छोड़ दे। उसने चाहा प्रकाश ही प्रकाश रहे, अंधकार न रह जाए। मनुष्य के मन ने अस्तित्व को दो हिस्सों में तोड़कर एक हिस्से का चुनाव किया और दूसरे का इनकार किया। इससे द्वंद्व पैदा हुआ, इससे द्वैत हुआ। कृष्ण दोनों को एक-साथ स्वीकार करने के प्रतीक हैं। और जो दोनों को एक-साथ स्वीकार करता है, वही पूर्ण हो सकता है। नहीं तो अपूर्ण ही रह जाएगा। जितने को चुनेगा, उतना हिस्सा रह जाएगा; और जिसको इनकार करेगा, सदा उससे बंधा रहेगा। उससे बाहर नहीं जा सकता है। जो व्यक्ति काम का दमन करेगा, उसका चित्त कामुक-से-कामुक होता चला जाएगा। इसलिए जो संस्कृति, जो धर्म काम का दमन सिखाता है, वह संस्कृति कामुमता पैदा करवाती है।

काश कृष्ण को माना जा सका होता, तो शायद दुनिया से कामुकता विदा हो गई होती। लेकिन कृष्ण को नहीं माना जा सका। बल्कि हमने न मालूम कितने-कितने रूपों में कृष्ण के उन हिस्सों का इनकार किया जो काम की स्वीकृति हैं। लेकिन अब यह संभव हो जाएगा, क्योंकि अब हमें दिखाई पड़ना शुरू हुआ है कि काम की ऊर्जा, वह जो 'सेक्स एनर्जी है, वही ऊर्ध्वगमन करके ब्रह्मचर्य के उच्चतम शिखरों को छू पाती है। जीवन में किसी से भागना नहीं है और जीवन में किसी को छोड़ना नहीं है, जीवन को पूरा ही स्वीकार करके जीना है। उसको जो समग्रता से जीता है वह जीवन की पूर्णता को उपलब्ध होता है। इसलिए मैं कहता हूं कि भविष्य के संदर्भ में कृष्ण का बहुत मूल्य है और हमारा वर्तमान रोज उस भविष्य के करीब पहुंचता है जहां कृष्ण की प्रतिमा निखरती जाएगी और एक हंसता हुआ धर्म, एक नाचता हुआ धर्म जल्दी निर्मित होगा। तो उस धर्म की बुनियादों में कृष्ण का पत्थर जरूर रहने को है।

'महाभारत युद्ध में कृष्ण एक प्रमुख भूमिका में थे। वे चाहते तो युद्ध रोक सकते थे। लेकिन वैसा नहीं हुआ। और परिणाम—एक भारी विध्वंस! स्वभावतः विध्वंस की भारी जिम्मेदारी कृष्ण पर जाती है। क्या कृष्ण के लिए यह उचित था—या उन पर लांछन लग सकता है?'

□ युद्ध और शांति के संबंध में भी बात वही है। फिर हम चाहते हैं कि शांति ही बचे, संघर्ष न बचे। फिर हम चुनाव शुरू करते हैं। और जगत जो है, वह द्वंद्वों का सम्मिलन है। और जगत जो है, वह विरोधी स्वरों का समवेत संगीत है। जगत इकसुरा नहीं हो सकता।

मैंने सुना है कि एक आदमी कोई वाद्ययंत्र बजाता था। और वह तार पर एक ही जगह उंगली रखकर घंटों उसी को रगड़ता रहता। उसके घर के लोग तो परेशान हो ही गए थे, उसके पास-पड़ोस के लोग भी परेशान हो गए थे। और अनेक लोगों ने उससे प्रार्थना की कि हमने बहुत वाद्य बजाने वाले देखे, लेकिन सभी का हाथ सरकता है, सभी के भिन्न स्वर निकलते हैं, तुमने यह क्या राग ले रखा है? तो उस आदमी ने कहा, वह अभी ठीक स्थान खोज रहे हैं, मैंने ठीक स्थान पा लिया है। तो मैं अब एक ठीक स्थान पर रुका हुआ हूं। मुझे अब कोई खोज की जरूरत नहीं है।

हमारा मन कर सकता है कि हम एक ही स्वर चुन लें जीवन का। लेकिन एक ही स्वर सिर्फ मृत्यु में हो सकता है। जीवन विरोधी स्वरों पर ही खड़ा होगा। तुमने अगर कभी किसी मकान के दरवाजे पर 'आर्च' बना देखा हो, तो उसमें विरोधी इ□टें दोनों तरफ से लाकर हम मकान के द्वार पर अड़ा देते हैं। विरोधी इ□टें एक-दूसरे के विरोध में खड़े होने की वजह से भवन को उठा लेती हैं। कोई सोच सकता है कि इ□टें एक ही दिशा में लगा दी जाएं। फिर भवन गिरेगा, फिर भवन बनेगा नहीं।

जीवन की सारी व्यवस्था विरोधी स्वरों के तनाव पर है। युद्ध भी उस तनाव का हिस्सा है। और युद्ध ने नुकसान ही पहुंचाए, ऐसा जो सोचते हैं, वह गलत सोचते हैं, वह अधूरा देखते हैं। अगर हम मनुष्यता के विकास को समझने चलें तो हमें पता चलेगा। मनुष्यता के विकास का अधिकतम हिस्सा युद्धों के माध्यम से हुआ है। आज मनुष्य के पास जो कुछ है वह सब उसने प्राथमिक रूप से युद्धों में खोजा है। अगर आज हमें दिखाई पड़ते हैं कि सारी पृथ्वी पर रास्ते फैल गए हैं, तो पहली दफे रास्ते युद्धों के लिए बने थे, फौजों को भेजने के लिए बने थे। वह दो आदमियों को मिलाने के लिए नहीं बने थे, बारात ले जाने के लिए नहीं बने थे, वह युद्ध के लिए बने थे पहली बार। जितने भी साधन हैं—अगर आज हम बड़े मकान देख रहे हैं, तो पहले बड़ा मकान नहीं बना था, बड़ा किला बना था और वह युद्ध की जरूरत थी। पहली दीवाल दुश्मन के खिलाफ लड़ने के लिए बनाई गई। फिर दीवालें बनीं, फिर अब आकाश को छूते हुए मकान हैं। आज हम सोच भी नहीं सकते कि आकाश को छूता हुआ मकान युद्ध की जरूरत है। मनुष्य के पास जितनी भी संपन्नता है और जितने भी साधन हैं और जितना भी वैज्ञानिक आविष्कार है, वह सब युद्ध के माध्यम से हुआ।

असल में युद्ध ऐसे तनाव की स्थिति पैदा कर देता है, ऐसी चुनौती कि हमारे भीतर जो सोयी शक्तियां हैं, उन सबको जागकर सक्रिय होना पड़ता है। शांति के क्षण में हम आलस्य में हो सकते हैं, तमस में हो सकते हैं, युद्ध हमारे राजस को उभारता है। हमारे भीतर सोयी हुई शक्तियों को चुनौती के मौके पर उठना ही पड़ता है। इसलिए युद्ध के क्षण में हम

साधारण नहीं रह जाते, हम असाधारण हो जाते हैं। और मनुष्य का मस्तिष्क अपनी पूरी शक्ति से काम करने लगता है। और युद्ध में एक छलांग लग जाती है मनुष्य की प्रतिभा की, जो कि शांति के कालों में, वर्षों में, सैकड़ों वर्षों में नहीं लग पाती।

अनेक लोगों का ऐसा खयाल है कि अगर कृष्ण ने महाभारत का युद्ध रोका होता तो भारत बहुत संपन्न होता। और भारत ने बड़े विकास के शिखर छू लिए होते। बात इससे बिलकुल उलटी है। अगर कृष्ण जैसे दस-पांच लोग भारत के इतिहास में हमें मिले होते और हमने एक महाभारत नहीं, दस-पांच महाभारत लड़े होते तो हम विकास के शिखरों पर होते।

महाभारत को हुए अंदाजन पांच हजार से ज्यादा वर्ष हुए होंगे। पांच हजार वर्षों में फिर हमने कोई बड़ा युद्ध नहीं किया। बाकी हमारी लड़ाइयां बहुत दिवालिया, 'बैंकरप्ट' हैं। बाकी हमारी लड़ाइयों की बड़ी कोई कीमत नहीं है। वे छोटे-मोटे झगड़े हैं। उनको युद्ध कहना भी ठीक नहीं है। पांच हजार वर्षों से हमने कोई बड़ा युद्ध नहीं लड़ा। अगर युद्ध की वजह से हानि होती है और विध्वंस होता है, तो हमें पृथ्वी पर सबसे ज्यादा संपन्न और विकासमान होना चाहिए था। लेकिन हालतें उलटी हैं। जिन मुल्कों ने युद्ध लड़े हैं, वे बहुत विकासमान हैं और बहुत संपन्न हैं। पहले महायुद्ध के बाद लोग सोच सकते थे कि जर्मनी अब सदा के लिए टूट जाएगा, लेकिन दूसरे महायुद्ध में जर्मनी पहले महायुद्ध के जर्मनी से अनंतगुना शक्तिशाली होकर प्रगट हुआ—सिर्फ बीस साल के फासले पर। कोई सोच भी नहीं सकता था कि पहले महायुद्ध के बाद दूसरा महायुद्ध जर्मनी कर सकेगा। दो-चार सौ साल तक भी कर सकेगा, इसकी भी संभावना नहीं थी। लेकिन बीस साल में जर्मनी अनंतगुना शक्तिशाली होकर बाहर आ गया। पहले महायुद्ध ने उसकी शक्तियों को जिस तीव्रता पर पहुंचा दिया, उस तीव्रता का उसने उपयोग कर लिया।

अभी पिछले दूसरे महायुद्ध में लगता था कि अब शायद युद्ध कभी होना बहुत मुश्किल हो जाएगा, और जो देश सबसे ज्यादा मिटे थे—जर्मनी और जापान—वह दोनों के दोनों फिर संपन्न होकर खड़े हो गए। आज जापान को देखकर कोई कह सकता है कि बीस साल पहले एटम बम इसी मुल्क पर गिरा था? आज जापान को देखकर कोई नहीं कह सकता। हिंदुस्तान को देखकर जरूर हम कह सकते हैं कि यहां एटम बम गिरते ही रहे होंगे। हमारी दुर्दशा देखकर लगता है कि यहां जैसे युद्ध होता ही रहा होगा।

महाभारत के कारण हिंदुस्तान का अहित नहीं हुआ। महाभारत की छाया में हिंदुस्तान में जो शिक्षक पैदा हुए, वे सब युद्ध-विरोधी थे। और उन्होंने महाभारत का शोषण किया। और कहा कि ऐसा युद्ध और ऐसी हिंसा। नहीं, अब न युद्ध करना है, न ही अब हिंसा करनी है। अब लड़ना नहीं है। महाभारत के पीछे कृष्ण की क्षमता के व्यक्तियों की शृंखला नहीं हम पैदा कर पाए। अन्यथा महाभारत में जिस ऊंचाई को हमारे देश की चेतना की लहर ने छुआ था, हम हर बार उससे ज्यादा ऊंचाई की लहर को छू सकते थे। और शायद आज हम पृथ्वी पर सबसे ज्यादा संपन्न और सबसे ज्यादा विकसित समाज होते।

यह भी सोचने जैसा है कि महाभारत जैसा युद्ध विपन्न समाजों में घटित नहीं होता। युद्ध के लिए भी संपन्न होना जरूरी है। और संपन्नता के लिए भी युद्ध का घटना जरूरी है। असल में वह चुनौती के क्षण हैं। कृष्ण ने जिस युद्ध में हमें उतारा था, वह युद्ध में अगर हम सतत उतरे होते...क्योंकि इसे हम सोचें, आज करीब-करीब पश्चिम उस जगह है जहां महाभारत के दिनों में हम पहुंच गए थे। आज जितने अस्त्रों-शस्त्रों की बात है, करीब-करीब वे सभी अस्त्र-शस्त्र किसी-न-किसी रूप में महाभारत में प्रयोग किए गए। बड़ा संपन्न, बड़ा प्रतिभाशाली और बहुत वैज्ञानिक उन्नत शिखर था। उस युद्ध से कुछ हानि नहीं हो गई। उस युद्ध के बाद यह निराशा का क्षण हमें पकड़ा। उस निराशा के क्षण का दुरुपयोग हुआ। उस निराशा के क्षण ने पश्चिम में भी पकड़ा है कुछ को। पश्चिम भी भयभीत हो गया है। और पश्चिम का अगर पतन होगा, तो वह पश्चिम में जो शांतिवादी है उसकी वजह से होगा। अगर पश्चिम ने शांतिवादी की बात मान ली, तो पश्चिम पतित हो जाएगा। वह वहीं पहुंच जाएगा, जहां महाभारत के बाद हम पहुंचे।

हिंदुस्तान ने शांतिवादी की बात मान ली। इसलिए पांच हजार वर्ष का लंबा चक्कर चला। इसे थोड़ा सोचना जरूरी है। कृष्ण युद्धवादी नहीं हैं, लेकिन युद्ध को भी जीवन के खेल का हिस्सा मानते हैं। युद्धखोर नहीं हैं, किसी को मिटाने की कोई

आकांक्षा नहीं है, किसी को दुख देने का कोई खयाल नहीं है, युद्ध न हो उसके सारे उपाय उन्होंने कर लिए थे, लेकिन, जीवन की और सत्य की और धर्म की कीमत पर युद्ध को बचाने के लिए राजी न थे। आखिर किसी भी चीज के बचाने की एक सीमा है। आखिर युद्ध को भी तो हम इसीलिए नहीं करना चाहते कि जीवन को कोई नुकसान न पहुंचे। लेकिन अगर युद्ध के न होने से ही जीवन को नुकसान पहुंचा जा रहा हो, तो फिर क्या अर्थ रह जाएगा? आखिर शांतिवादी यही तो कहता है कि युद्ध न हो, कि कहीं शांति खंडित न हो जाए। लेकिन अगर युद्ध के न होने से ही शांति खंडित हो रही हो, तो फिर एक निर्णायक युद्ध की सामर्थ्य चाहिए।

तो कृष्ण असल में युद्धखोर या युद्धवादी नहीं हैं, लेकिन, युद्ध से भयभीत और युद्ध से भागे हुए पलायनवादी भी नहीं हैं। कृष्ण कहते हैं, युद्ध न हो तो ठीक। लेकिन युद्ध होना ही हो, तो भागना ठीक नहीं है। और अगर युद्ध होना ही हो, और ऐसा क्षण आ जाए कि मनुष्य के मंगल के लिए और मनुष्य के हित के लिए युद्ध अनिवार्य हो जाए तो इस अनिवार्य युद्ध को फिर आनंद से स्वीकार करना। फिर उसे बोझ की तरह ढोना भी ठीक नहीं है। क्योंकि जो बोझ की तरह युद्ध में जाएगा फिर उसकी हार सुनिश्चित है। जो सिर्फ रक्षा के लिए युद्ध में जाएगा, उसकी हार भी सुनिश्चित है। क्योंकि रक्षा के भाव से भरा हुआ 'डिफेंसिव' जो चित्त है, वह लड़ने में सामर्थ्य और शौर्य नहीं दिखा पाता। वह सिर्फ बचाव के उपाय करता रहता है और सिकुड़ता जाता है। तो कृष्ण लड़ने को भी आनंद बनाने को कहते हैं। दूसरे को दुख पहुंचाने का सवाल नहीं है। लेकिन जिंदगी में चुनाव सदा अनुपात के हैं—शुभ फलित होगा या अशुभ? जरूरी नहीं है कि युद्ध से अशुभ ही फलित हो। कभी न युद्ध करने से अशुभ फलित हो सकता है। अब यह देश हमारा एक हजार साल तक गुलाम रहा। यह हमारे युद्ध करने की क्षमता की क्षीणता का परिणाम था। पांच हजार वर्ष से गरीब और दीन-हीन, यह हमारे शौर्य और हमारे व्यक्तित्व में जो अभय चाहिए उसकी कमी का परिणाम है। जो फैलाव चाहिए, विस्तार का जो भाव चाहिए, उसकी कमी का परिणाम है।

तो कृष्ण के कारण नुकसान नहीं हुआ, कृष्ण की श्रृंखला नहीं पैदा हो सकती, हम और कृष्ण पैदा नहीं कर सके, इसलिए नुकसान हुआ। और कृष्ण के युद्ध के बाद स्वाभाविक था कि निराशावादी स्वर प्रमुख हो। सदा होता है। और निराशावादी शिक्षक लोगों को समझाएं कि व्यर्थ है यह सब। और देखो कितनी हानि हो गई। और वह स्वर हमारे मन में बैठ गया, और पांच हजार साल से हम डरी हुई कौम हैं। और जो कौम मरने से डर जाए, युद्ध से डर जाए, वह कौम बहुत गहरे में जीने से भी डर जाती है। तो हम जीने से भी डर गए हैं। हम कंप रहे हैं—न हम जी रहे हैं, न हम मर रहे हैं। हम दोनों के बीच में एक त्रिशंकु की भांति हैं।

अब मेरी समझ यह है कि बर्ट्रेंड रसल, या गांधी, या विनोबा, इनकी बात अगर दुनिया मान लेगी तो नुकसान होगा। युद्ध से भय की कोई जरूरत नहीं है। लेकिन अब पृथ्वी युद्ध के लिए बहुत छोटी पड़ गई है, यह बात जरूर सच है। असल में युद्ध के लिए भी जगह चाहिए। हमारे पास साधन इतने बड़े हो गए हैं कि अब पृथ्वी पर युद्ध नहीं हो सकता, यह बात जरूर सच है। लेकिन यह इसलिए सच नहीं है कि शांतिवादी की बात भय के कारण मानने योग्य है, यह इसलिए सत्य है कि अब हमारे पास साधन बड़े हैं, पृथ्वी छोटी है। अब पृथ्वी पर युद्ध बिलकुल बेमानी है। अब युद्ध की शकल बदलेगी, अब युद्ध का विस्तार और बढ़ेगा। चांद-तारों पर, मंगल पर, ग्रहों-उपग्रहों पर कहीं युद्ध शुरू होंगे। वैज्ञानिकों का अंदाज है कि अंदाजन पचास करोड़ ग्रह होने चाहिए सारे जगत में, जिन पर जीवन होगा। कम-से-कम। तो आज जो भयभीत हो गया है कि हाइड्रोजन बम मत बनाओ और एटम बम मत बनाओ, अगर इसकी, भयभीत आदमी की बात को मान लिया गया, तो इस जगत के विस्तार पर जो अभियान हो सकता है, जो यात्रा हो सकती है, वह नहीं हो सकेगी। और पृथ्वी जरूर उस जगह पहुंच गई है जहां युद्ध बेमानी है। लेकिन यह इसलिए नहीं हुआ है...यह भी समझने जैसी बात है।

युद्ध आज अर्थहीन हो गया है, इसलिए नहीं कि शांतिवादी की बात समझ में आ गई, युद्ध इसलिए अर्थहीन हो गया है कि युद्ध के विज्ञान का पूरा विकास हो गया है, 'टोटल वार' का विकास हो गया है। युद्ध इतना समग्र हो गया है अब कि पृथ्वी पर लाना बिलकुल बेमानी है, क्योंकि युद्ध का तभी तक कोई अर्थ है जब कोई जीतता हो और कोई हारता हो। अब जो युद्ध है उसमें कोई जीतेगा नहीं, कोई हारेगा नहीं। उसमें दोनों एक-साथ मर जाएंगे। अब युद्ध का पृथ्वी पर कोई मतलब

नहीं है। और मैं मानता हूं कि इसी वजह से पृथ्वी अब एक हो जाएगी, अब एक 'ग्लोबल विलेज' से ज्यादा उसकी हालत नहीं है। एक छोटा-सा गांव जमीन हो गई है। शायद गांव से भी छोटी। दो गांव के बीच यात्रा में जितना समय लगता था, अब पूरी पृथ्वी का चक्कर लगाने में उतना समय नहीं लगता है। तो पृथ्वी इतनी छोटी हो गई है कि अब युद्ध पृथ्वी पर बेमानी है। और पृथ्वी पर अगर युद्ध होता है तो वह नासमझ बात होगी। इसका यह मतलब नहीं है कि युद्ध न हो, इसका यह मतलब भी नहीं है कि युद्ध अब नहीं होंगे, युद्ध तो होते रहेंगे। लेकिन अब नई भूमियों पर होंगे। नई यात्राएं होंगी उनकी, और नए अभियान होंगे। युद्ध बंद नहीं हुआ, इतने समझाने वालों के बाद भी। वह बंद नहीं हो सकता, वह जीवन का हिस्सा है।

अब यह बड़े मजे की बात है कि युद्ध से क्या-क्या पैदा हुआ। अगर हम बहुत गौर से देखें, तो हमारे सारे सहयोग की, कोआपरेशन की सारी व्यवस्था युद्ध के लिए पैदा हुई। 'कोआपरेशन फॉर कांफ्लिकट'। सारा सहयोग संघर्ष के लिए है। अगर जमीन पर युद्ध न हो तो कोई 'कोआपरेशन', कोई सहयोग भी नहीं होगा।

तो कृष्ण को समझना बहुत जरूरी है। कृष्ण शांतिवादी नहीं हैं, कृष्ण युद्धवादी नहीं हैं। असल में वाद का मतलब ही होता है कि दो में से हम एक को चुनते हैं। कृष्ण अ-वादी हैं। कृष्ण कहते हैं, शांति से शुभ फलित होता हो तो स्वागत है। युद्ध से शुभ फलित होता हो तो स्वागत है। मेरा मतलब समझाने का है—कृष्ण कहते हैं जिससे मंगल-यात्रा गतिमान होती हो, जिससे धर्म विकसित होता हो, जिससे जीवन में आनंद की संभावना बढ़ती हो, स्वागत है उसका। ऐसा स्वागत चाहिए भी।

हमारा देश अगर कृष्ण को समझा होता, तो हम इस भांति नपुंसक न हो गए होते। हमने बहुत अच्छी-अच्छी बातों के पीछे बहुत-बहुत न-मालूम कैसी कुरूपताएं छिपा रखी हैं। हमारी अहिंसा की बात के पीछे हमारी कायरता छिपकर बैठ गई है। हमारे युद्ध-विरोध के पीछे हमारे मरने का डर छिपकर बैठ गया है। लेकिन हमारे युद्ध न करने से युद्ध बंद नहीं होता, हमारे युद्ध न करने से कोई और हम पर युद्ध जारी रखता है। हम लड़ने न जाएं इससे लड़ाई बंद नहीं होती, सिर्फ हम गुलाम बनते हैं। और फिर भी हम लड़ाइयों में घसीटे जाते रहे। यह बड़े मजे की बात है। हम नहीं लड़े, कोई हम पर हावी हो गया, हमें गुलाम बना लिया और फिर हम उसकी फौजों में लड़ते ही रहे। लड़ाई तो कुछ बंद नहीं हुई। कभी हम मुगल की फौज में लड़े, कभी हम तुर्क की फौज में लड़े, कभी हम हूण की फौज में लड़े। हम खुद ही न लड़े, गुलाम भी रहे और अपनी गुलामी को बचाने के लिए लड़ते रहे। फिर हम अंग्रेज की फौज में लड़े। लड़ाई तो बंद नहीं हुई। हां, इतना ही हो गया कि हम अपनी स्वतंत्रता के लिए लड़ते, अपने जीवन के लिए लड़ते, फिर हम अपनी परतंत्रता के लिए लड़े कि हमारी परतंत्रता कैसे बनी रहे, इसके लिए भी हमारा आदमी मरता रहा। यह दुखद फलर हुआ। यह महाभारत के कारण नहीं। यह फिर से हम महाभारत की हिम्मत न जुटा पाए, उसके कारण।

इसलिए मैं कहता हूं कि कृष्ण को समझना थोड़ा मुश्किल तो है। बहुत आसान है समझ लेना एक शांतिवादी की बात, क्योंकि वह एक पहलू चुन लेता है। बहुत आसान है युद्धवादी की बात—एक हिटलर, एक मुसोलिनी, एक चंगेज, एक तैमूर, नेपोलियन, सिकंदर—युद्धखोरी की बात समझने में भी बहुत मुश्किल नहीं है क्योंकि वह कहते हैं कि युद्ध ही जीवन है। शांतिवादी हैं—रसल हैं, गांधी हैं—उनकी बात भी समझ लेनी बहुत आसान है। वह कहते हैं कि नहीं, शांति ही जीवन है। कृष्ण की बात समझनी बहुत मुश्किल है। क्योंकि वह कहते हज कि जीवन दोनों द्वारों से गुजरता है। वह शांति से भी गुजरता है, वह युद्ध से भी गुजरता है। और अगर तुम्हें शांति बनाए रखनी है तो तुम्हें युद्ध की सामर्थ्य रखनी होगी। और अगर तुम्हें युद्ध जारी रखना है तो तुम्हें शांति में तैयारी भी करनी होगी। ये दो पैर हैं जीवन के। इनमें से एक को भी काटा तो लंगड़े और पंगु हो जाते हैं। चंगेज और तैमूर और मुसोलिनी भी लंगड़े हैं और गांधी और रसल भी लंगड़े हैं। इनके एक-एक पैर हैं। इनसे गति नहीं हो सकती। और इसलिए अगर एक-एक पैर वाले आदमी रहें, तो फिर 'पीरियाडिकल फैशन' रहता है। एक पैर मुसोलिनी का और एक पैर गांधी का। दुनिया ऐसी चलती है। दो पैर तो चाहिए ही—एक पैर मुसोलिनी का चलता है, एक गांधी का चलता है। एक फैशन मुसोलिनी की होती है, फिर एक फैशन गांधी की होती है। जब मुसोलिनी अपना युद्ध कर लेता है और हिटलर और स्टेलिन अपने युद्ध को गुजार जाते हैं, तब रसल

और गांधी और बिनोबा की बात हमको एकदम अपील करने लगती है। दस-बीस साल इनकी बात अपील करती है, तब तक यह इतना लंगड़ा पैर ज्यादा देर नहीं चलता, दूसरे पैर की जरूरत पड़ जाती है, फिर कोई माओ खड़ा होगा, फिर कोई खड़ा होगा, फिर युद्ध बीच में आ जाएगा।

कृष्ण के पास दोनों पैर हैं। कृष्ण लंगड़े आदमी नहीं हैं। और मैं मानता हूं कि दोनों पैर प्रत्येक के पास होने चाहिए। जो आदमी लड़ न सके, उसमें कुछ कमी होती है। और जो आदमी लड़ न सके, वह आदमी ठीक अर्थों में शांत भी नहीं हो सकता। वह लंगड़ा हो जाता है। जो आदमी शांत न हो सके, वह विक्षिप्त हो जाता है। और जो आदमी शांत न हो सके वह लड़ेगा कैसे? लड़ने में एक निर्णायक बात तय होनी है कि सारी दुनिया को शांतिवादी बनाना है? एक तरह का मुर्दापन छा जाएगा। जो कि संभव नहीं है, कोई मानेगा नहीं। शांतिवादी अपना जुलूस निकालता रहेगा और शांति के झंडे लगाता रहेगा—कोई मानने वाला नहीं है, कोई जीवन रुकता नहीं है—युद्धखोर, अपनी युद्ध की तैयारी करता रहेगा। फैशन बदलते रहते हैं। दस-बीस साल उसका प्रभाव रहता है, दस-बीस साल इनका प्रभाव रहता है। और ये दोनों एक-दूसरे के साझे में काम चलाते हैं।

कृष्ण की बात समग्र जीवन की है, और अगर हमारी समझ में आ जाए तो न तो शांति को छोड़ने की जरूरत है, न युद्ध को छोड़ने की जरूरत है। युद्ध के तल रोज बदलते जाएंगे, निश्चित ही। क्योंकि कृष्ण कोई चंगेज नहीं हैं। किसी की हत्या करने के लिए, किसी को दुख देने के लिए उनकी कोई आतुरता नहीं है। लेकिन युद्ध के तल बदलते जाएंगे।

अब हम देखें कि युद्ध कितने प्रकार से तल बदलता है।

अगर आदमी आदमी से न लड़े, तो सब आदमी मिलकर प्रकृति से लड़ना शुरू कर देते हैं। अब यह जरा सोचने जैसी बात है कि जिन कौमों में युद्ध चलते रहे, उन्हीं कौमों में विज्ञान भी विकसित हुआ, क्योंकि लड़ने की क्षमता है उनमें। वह आदमी से भी लड़ते हैं, जब फिर वक्त मिलता है तो प्रकृति से भी लड़ लेते हैं। लेकिन हमारी कौम ने महाभारत के बाद प्रकृति से भी कोई लड़ाई नहीं लड़ी। बाढ़ से भी नहीं लड़े, आंधी से भी नहीं लड़े, पहाड़ से भी नहीं लड़े, प्रकृति के किसी तत्त्व से नहीं लड़े, इसलिए विज्ञान विकसित नहीं हो सका। क्योंकि वह तो प्रकृति से लड़ेंगे तो विकसित होगा। आदमी लड़ता रहे तो आज जमीन की प्रकृति से लड़ेगा और जमीन के राज खोल लेगा, कल वह चांद-तारों की प्रकृति से लड़ेगा; उसका अभियान रुकेगा नहीं।

इसलिए ध्यान रहे कि जो समाज युद्ध में डूबे और उबरे, वे ही समाज चांद पर भी अपने आदमी को उतार पाए हैं। हम नहीं उतार पाए, शांतिवादी नहीं उतार पाया। और चांद आज नहीं कल, युद्ध के अर्थ में बड़ा कीमती है। जिसके हाथ में चांद होगा, उसके हाथ में पृथ्वी होगी। क्योंकि आने वाले युद्ध की मिसाइल्स जिसके हाथ में चांद पर लग जाएंगी, पृथ्वी उसके हाथ में होगी। इसलिए अब झगड़ा पृथ्वी से हट गया है। अब यह तो सब जिसको कहें कि 'फिलस्फाइज़्ड' हैं—वियतनाम है, या कम्बोडिया है, या कुछ और है; हिंदुस्तान-पाकिस्तान हैं—यह सब कोई लड़ाई-झगड़े नहीं हैं, ये सिर्फ नासमझों के चित्त को उलझाए रखने की तरकीबें हैं। कि वह यहां उलझे रहेंगे। असली लड़ाई अब दूसरे तल पर शुरू हो गई है। चांद पर जाने की दौड़ का बहुत गहरा अर्थ दूसरा ही है। वह अर्थ यह है कि जिसके हाथ में कल चांद होगा, उसको पृथ्वी पर कोई चुनौती देने का उपाय नहीं रह जाएगा। उसके एटम और उसके हाइड्रोजन बम की तोपें चांद से पृथ्वी की तरफ लगी होंगी। एक-एक मुल्क के ऊपर उड़कर बम गिराने की जरूरत न रह जाएगी, मुल्क अपने-आप बम की तोप के सामने आते रहते हैं चौबीस घंटे में। वह घूमती रहती है पृथ्वी और पूरे वक्त सामने आते रहते हैं, अपने-आप। कोई अलग-अलग किसी मुल्क पर जाकर एटम को गिराने की जरूरत नहीं है। तो इसलिए इतनी दौड़ थी, और इतना खर्च करके—कोई एक अरब अस्सी करोड़ डालर खर्च हुआ एक आदमी को चांद पर उतारने में। यह कोई खेल नहीं था, इसमें कुछ कारण है पीछे। और कौन पहले उतार देता है यह जरूरी था।

यह दौड़ अब वैसी ही है जैसे एक दिन दौड़ आज से कोई तीन सौ साल पहले यूरोप से एशिया की तरफ लग गई थी और सारे जहाज एशिया की तरफ भागे जा रहे थे—पोर्तगीज भी, स्पैनिश भी और अंग्रेज भी, और सब, फ्रेंच भी और जर्मन भी, सब भागे जा रहे थे। तीन सौ साल पहले जैसे एशिया की जमीन पर कब्जा करना जरूरी हो गया था विस्तारवादी के

लिए, विकास के लिए। अब वह बेमानी हो गया, अब कोई मतलब नहीं। एशिया के लोग समझ रहे हैं कि हमारी स्वतंत्रता की लड़ाई ने हमको आजाद किया है, इसमें आधी ही सचाई है। आधी सचाई तो दूसरी है, और वह यह है कि अब एशिया की जमीन पर कब्जा करने का कोई मतलब नहीं रह गया है, अब वह बात खतम हो गई है। वह दौर खतम हो गया है। अब तो कहीं लड़ाई और दूसरी जमीन पर कब्जा करने की है। वहां दृष्टि और जगह चली गई है, अब वहां दौड़ है। कल चांद-तारों पर और दूर तक दौड़ हो जाएगी। शक्ति का एक अभियान है जीवन। उस अभियान में जो मुर्दानगी को पकड़ लेते हैं, वह धीरे-धीरे नष्ट हो जाते हैं।

हम ऐसी ही नष्ट हो गई कौम हैं। और इसलिए भी कृष्ण का संदेश बड़ा अर्थपूर्ण है—हमारे लिए ही हीं, मैं मानता हूं कि पश्चिम भी उस जगह खड़ा हो गया है जहां उसे निर्णायक लड़ाई शायद पृथ्वी पर एक बार और लड़नी पड़े। निश्चित ही पृथ्वी पर नहीं होगी, अगर पृथ्वी के प्रतियोगियों में भी लड़ाई होगी तो चांद या मंगल पर होगी। पृथ्वी पर कोई अर्थ नहीं है लड़ाई लड़ने का, क्योंकि दोनों मर जाएंगे। अगर उन दोनों को भी लड़ना है तो उन दोनों को भी किसी दूसरे ग्रह-उपग्रह पर ही लड़कर तय करना पड़ेगा कि कौन जीतता है।

इस निर्णायक लड़ाई में भी क्या होगा, शायद हालतें फिर वैसी ही खड़ी हो गई हैं जैसी महाभारत के समय। महाभारत के समय भी दो वर्ग थे। एक वर्ग था जो निपट भौतिकवादी था, जिसकी पूरी दृष्टि शरीर के अतिरिक्त किसी को स्वीकार नहीं करती थी। जिसकी दृष्टि भोग के अतिरिक्त किसी तरह के योग के लिए कोई क्षमता न रखती थी। आत्मा का होना न होने की बात थी। जिंदगी थी भोग, लूट-खसोट। जिंदगी शरीर से और शरीर की इंद्रियों के बाहर कोई अर्थ न रखती थी। एक वर्ग। उसी वर्ग के खिलाफ वह संघर्ष हुआ था। कृष्ण को उस संघर्ष को करवाना पड़ा था। जरूरी हो गया था कि शुभ की शक्तियां कमजोर और नपुंसक सिद्ध न हों, वह अशुभ की शक्तियों के सामने खड़ी हो जाएं।

आज फिर करीब-करीब हालत वैसी हो गई है और हो जाएगी बीस साल के भीतर। एक तरफ भौतिकवाद, 'मटीरियलिज्म' अपनी पूरी ताकत के साथ खड़ा हो गया जाएगा, और दूसरी तरफ फिर कमजोर ताकतें होंगी शुभ की। शुभ में एक बुनियादी कमजोरी है। वह लड़ने से हटना चाहता है। अर्जुन भला आदमी है। अर्जुन शब्द का मतलब होता है, सीधा-सादा। तिरछा-इरछा जरा-भी नहीं। अ-रिजु। बहुत सीधा-सादा आदमी है। सरल चित्त है। देखता है कि फिजूल की झंझट कौन करे, हट जाओ। अर्जुन सदा ही हटता रहा है। वह जो अ-रिजु आदमी है, जो सीधा-सादा आदमी है, वह हट जाता है। वह कहता है, मत झगड़ा करो, जगह छोड़ दो। कृष्ण अर्जुन से कहीं ज्यादा सरल हैं, लेकिन सीधे-सादे नहीं। कृष्ण की सरलता की कोई माप नहीं है। लेकिन सरलता कमजोरी नहीं है, और सरलता पलायन नहीं है। वह जम कर खड़े हो गए हैं, वे नहीं भागने देंगे। शायद फिर पृथ्वी दो हिस्सों में बंट जाएगी। सदा ऐसा होता है, कि निर्णायक, 'डिसीसिव मॉमेंट' आ जाते हैं, जब फिर लड़ने की बात होती है। उसमें गांधी और विनोबा और रसल काम नहीं पड़ेंगे। क्योंकि एक अर्थ में वे सब अर्जुन हैं। वे कहेंगे, हट जाओ; वे कहेंगे, मर जाओ लेकिन लड़ो मत।

कृष्ण जैसे व्यक्तित्व की फिर जरूरत है जो कहे कि शुभ को भी लड़ना चाहिए। शुभ को भी तलवार हाथ में लेने की हिम्मत रखनी चाहिए। निश्चित ही शुभ जब हाथ में तलवार लेता है, तो किसी का अशुभ नहीं होता। अशुभ हो नहीं सकता। क्योंकि लड़ने के लिए कोई लड़ाई नहीं है। लेनि अशुभ जीत न पाए, इसलिए लड़ाई है।

तो धीरे-धीरे दो हिस्से दुनिया के बंट जाएंगे, जल्दी ही, जहां एक हिस्सा भौतिकवादी होगा और एक हिस्सा स्वतंत्रता, लोकतंत्र, व्यक्ति और जीवन के और मूल्यों के लिए होगा। लेकिन क्या ऐसे दूसरे शुभ के वर्ग को कृष्ण मिल सकते हैं? मिल सकते हैं। क्योंकि जब भी मनुष्य की स्थितियां इस जगह आ जाती हैं जहां कि कुछ निर्णायक घटना घटने को होती है, तो हमारी स्थितियां उस चेतना को भी पुकार लेती हैं उस चेतना को भी जन्म दे देती हैं। वह व्यक्ति भी जन्म जाता है। इसलिए भी मैं कहता हूं कि कृष्ण का भविष्य के लिए बहुत अर्थ है। और जब साधारण, सीधे-सादे, अच्छे आदमियों की आवाजें बेमानी हो जाएंगी—क्योंकि बुरा आदमी अच्छे आदमी की आवाजों से न डरता है, न भय खाता है, न रुकता है। तो वह बढ़ता चला जाता है। बल्कि अच्छा आदमी जितना सिकुड़ता है, बुरे आदमी के लिए उतना ही आनंदपूर्ण हो जाता है।

महाभारत के बाद हिंदुस्तान में बहुत अच्छे आदमी हुए—बुद्ध हैं, महावीर हैं—इनकी अच्छाई की कोई कमी नहीं है। इनकी अच्छाई की कोई सीमा नहीं है। लेकिन इनकी अच्छाई के प्रभाव में मुल्क सिकुड़ गया। हमारा चित्त सिकुड़ गया। और उस सिकुड़े हुए चित्त पर सारी दुनिया के आक्रामक टूट पड़े। आक्रमण करने ही हम नहीं जाते हैं, आक्रमण को बुलाते भी हमीं हैं। और जब तुम किसी को मारते हो, तभी तुम जिम्मेवार नहीं होते, जब तुम किसी की मार खाते हो तब भी तुम जिम्मेवार होते ही हो। क्योंकि किसी के चेहरे पर चांटा मारना भी एक कृत्य है जिसमें पचास प्रतिशत तुम जिम्मेवार हो, पचास प्रतिशत वह आदमी जिम्मेवार है जिसने चांटे को निमंत्रित किया है। सहा, 'पैसीविटी' दिखाई, स्वीकार किया, बुलाया कि मारो। अगर तुम पर कोई चांटा मारता है तो पचास 'परसेंट' तुम भी जिम्मेवार होते हो, तुम बुलाते हो।

अच्छे आदमियों की एक लंबी कतार ने—निपट अच्छे आदमियों की लंबी कतार ने—इस मुल्क के मन को सिकोड़ दिया, और हमने बुलाया, आमंत्रण दिया कि आओ। हमारा आमंत्रण मानकर बहुत लोग आए। उन्होंने हमें वर्षों तक गुलाम रखा, दबाया, परेशान किया। अपनी मौज से वे चले भी गए। लेकिन हम अभी भी, हमारी मनोदशा संकोच की ही है। हम फिर किसी को बुला सकते हैं। अगर कल माओ प्रवेश कर जाए इस मुल्क में, तो उसके लिए जिम्मेदार अकेला माओ नहीं होगा। लेनिन ने बहुत वर्षों पहले एक भविष्यवाणी की थी कि मास्को से कम्यूनिज्म पेकिंग और कलकत होता हुआ लंदन पहुंचेगा। उसकी भविष्यवाणी बड़ी सही मालूम पड़ती है। पेकिंग तो पहुंच गया। कलकत्ते में उसकी पगध्वनि सुनाई पड़ने लगी है। लंदन ज्यादा दूर नहीं है। अब कलकत्ते में कम्यूनिज्म को प्रवेश करने में कोई कठिनाई नहीं है; क्योंकि भारत का का मन सिकुड़ा हुआ है। वह आ जाएगा, उसको स्वीकार करके देश और दब जाएगा।

इसलिए इस देश को तो कृष्ण पर पुनर्विचार करना ही चाहिए।

'कृष्ण यदि आज होते तो यह विश्व जो दो गुटों में बंटा है, उसमें किस गुट का पक्ष लेते?'

 असल में जब भी ऐसे संकट का क्षण होता है जब कि निर्णय करना हो कि कौन शुभ है, कौन अशुभ है, तो सदा ही कठिनाई होती है। उस दिन भी आसान नहीं थी बात। क्योंकि दुर्योधन ही नहीं था उस तरफ, उस तरफ भीष्म भी थे, उस तरफ अच्छे लोग भी थे। और कृष्ण ही नहीं थे, अर्जुन ही नहीं थे इस तरफ, इस तरफ भी बुरे लोग थे। निर्णायक क्षण में तय करना सदा ही मुश्किल होता है। लेकिन, मूल्य कुछ निर्धारण करते हैं।

दुर्योधन किसलिए लड़ता था? आदमी उसके पास अच्छे थे या बुरे, यह उतना, बड़ा मूल्यवाननहीं है, वह लड़ किसलिए रहा था? उस लड़ने के मूल्य क्या थे, 'वैल्यूज' क्या थे? कृष्ण अगर लड़ने को प्रेरित कर रहे थे अर्जुन को तो मूल्य क्या थे? एक तो बड़े-से-बड़ा जो निर्णायक मूल्य था वह था न्याय, 'जस्टिस'। न्याय क्या है? न्याययुक्त क्या था? तो आज फिर हमें निर्णय करना पड़े कि न्याययुक्त क्या है, न्याय क्या है? अब जैसे मेरी समझ में स्वतंत्रता न्याय है, परतंत्रता अन्याय है। जो 'ग्रुप', जो वर्ग, जो गुट मनुष्य को किसी तरह की परतंत्रता में ढकेलता हो, वह अन्याय का पक्ष है। उस तरफ अच्छे आदमी भी हो सकते हैं, क्योंकि अच्छे आदमी भी जरूरी नहीं है कि बहुत दूरद्रष्टा हों। 'कनफ्यूज्ड' होते हैं। उनको भी पता नहीं हो सकता है कि वह जो कर रहे हैं वह बुरे पक्ष में जा रहा है।

स्वतंत्रता बहुत ही कसौटी की बात है। मनुष्य की स्वतंत्रता जिस बात से बढ़ती हो, ऐसा समाज, ऐसा जगत चाहिए। जिस बात से स्वतंत्रता कम होती हो, ऐसा समाज और ऐसा जगत नहीं चाहिए। स्वभावतः जो लोग परतंत्रता भी लाना चाहें, वे भी परतंत्रता शब्द का उपयोग नहीं करेंगे। क्योंकि उस शब्द का तो कोई उपयोग सुनके ही हट जाएगा। वे भी ऐसे शब्द खोजेंगे जिनसे परतंत्रता आती हो, लेकिन परतंत्रता का भाव न पता चलता हो। ऐसा एक नया शब्द समानता है, 'इक्वालिटी'। यह शब्द बहुत चालाकी से भरा हुआ है। और कुछ लोग हैं जो स्वतंत्रता को एक तरफ काट कर समानता की गुहार पर हैं। वे कहते हैं, समानता चाहिए। वे यह भी कहते हैं कि समानता के बिना स्वतंत्रता कैसे हो सकती है? वे कहते हैं, प्राथमिक चीज समानता है। और वे यह भी कहते हैं, समानता के बिना स्वतंत्रता कैसे हो सकती है? और यह बात

समझ में पड़ेगी अनेकों को कि ठीक ही तो बात है, जब तक सब लोग समान नहीं हैं तो सब लोग स्वतंत्र कैसे हो सकते हैं। और तब इस समानता को लाने के लिए अगर स्वतंत्रता भी काटनी पड़ती हो तो फिर हम तैयार हो जाते हैं।

अब यह बड़ा मजेदार तर्क है। समानता इसलिए लानी है कि स्वतंत्रता आ सके, और स्वतंत्रता इसलिए काटनी पड़ती है क्योंकि समानता लानी है। और एक बार स्वतंत्रता खोने के बाद उसे लाना बहुत असंभव है। उसे कौन लाएगा? मैं तुमसे कहता हूं, यहां सब इकट्ठे हैं, मैं इन सबको कहता हूं कि तुम सबको समान करने के लिए सबको पहले जंजीर पहनानी पड़ेगी। क्योंकि जंजीर बिना पहनाए, किसी का सिर बड़ा है, किसी के हाथ लंबे हैं, किसी के पैर छोटे हैं, इन सबको काटा नहीं जा सकता। तो सबको समान करने के लिए पहले जंजीरें डाल दी जाती हैं, फिर सबके हाथ-पैर काटकर हम सबको समान कर देंगे। लेकिन जो सबको समान करेगा, वह तो असमान रह ही जाएगा। वह तो आपके बाहर रह जाएगा, उसके हाथ तो खुले होंगे, जंजीरें नहीं होंगी और उसके हाथ में तलवार होगी। और एक बार जब सबके हाथों में जंजीर रहेगी और कुछ लोगों के हाथ में तलवारें होंगी और हाथ-पैर कट चुके होंगे, तब तुम करोगे क्या?

ऐसा खयाल था मार्क्स का कि एक बार समानता लाने के लिए स्वतंत्रता खोनी पड़ेगी, व्यक्तिगत स्वतंत्रता नष्ट करनी पड़ेगी; एक अधिनायकशाही, एक 'डिक्टेटरशिप' चाहिए होगी; फिर जब पूरा हो जाएगा काम समानता का तब स्वतंत्रता दे दी जाएगी। लेकिन जिनके हाथ में इतनी ताकत होगी सबको समान करने की, वह स्वतंत्रता देंगे? लक्षण नहीं दिखाई पड़ते हैं। बल्कि जितनी ताकत उसकी बढ़ जाती है और जितना आदमी पंगु हो जाता है, उतनी ही स्वतंत्रता की बात ही खतम हो जाती है, क्योंकि तुम पूछ नहीं सकते, आवाज भी नहीं उठा सकते, बगावत नहीं कर सकते।

समानता की आड़ में स्वतंत्रता कटेगी। और स्वतंत्रता एक बार कट जाए, तो लौटना बहुत मुश्किल मामला है। क्योंकि जब स्वतंत्रता कट जाती है तो काटनेवाला स्वतंत्रता की भविष्य की संभावनाओं को भी काट देता है। और दूसरी बात यह है कि स्वतंत्रता तो एक बिलकुल ही सहज तत्व है। जो प्रत्येक को मिलना चाहिए और समानता बिलकुल असहज बात है जो मिल नहीं सकती। यह अ-मनोवैज्ञानिक है कि हम आदमी को समान करें। आदमी समान हो नहीं सकता। आदमी समान है नहीं। आदमी मूलतः असमान है, स्वतंत्रता जरूर चाहिए, और इसलिए स्वतंत्रता चाहिए कि प्रत्येक व्यक्ति जो हो सकता है वह हो सके, उसे उसका पूरा मौका चाहिए।

तो मेरी दृष्टि में स्वतंत्रता का पक्ष कृष्ण का पक्ष है, समानता का नहीं हो सकता। स्वतंत्रता हो तो धीरे-धीरे असमानता कम हो सकती है। ध्यान रहे, मैं कह रहा हूं, असमानता कम हो सकती है। यह नहीं कह रहा हूं कि समानता आ सकती है। स्वतंत्रता रहे तो असमानता धीरे-धीरे कम हो सकती है। लेकिन समानता अगर जबर्दस्ती थोप दी जाए, तो स्वतंत्रता कम होती चली जाएगी। जबर्दस्ती थोपी कोई भी चीज परतंत्रता का ही पर्याय है। तो मूल्य चुनने पड़ेंगे। व्यक्ति का मूल्य कीमती है।

सदा से ही जो अशुभ है, वह व्यक्ति को मूल्य नहीं देना चाहता, क्योंकि व्यक्ति ही विद्रोह का तत्व है। इसलिए अशुभ की शक्तियां समूह को मानती हैं, व्यक्ति को नहीं मानतीं। और यह भी जानकर तुम हैरान होओगे कि अगर तुम्हें कोई अशुभ कार्य करना हो, तो व्यक्ति से करवाना बहुत मुश्किल है, समूह से करवाना सदा आसान है। एक अकेले हिंदू से मस्जिद में आग लगवानी बहुत मुश्किल है। हिंदुओं की भीड़ से लगवानी बहुत आसान है। एक अकेले मुसलमान से एक हिंदू बच्चे की छाती में छुरा घुसवाना बहुत कठिन है, लेकिन मुसलमान की भीड़ से बहुत आसान है। असल में जितनी बड़ी भीड़ होती है, आत्मा उतनी कम हो जाती है। क्योंकि आत्मा के होने का जो तत्व है वह व्यक्तिगत दायित्व है, 'इंडिवीजुअल रिसपांसिबिलिटी' है। जब मैं तुम्हारी छाती में छुरा भोंकता हूं, तो मेरा अंतःकरण कहता है कि क्या कर रहे हो? लेकिन जब मैं सिर्फ एक भीड़ के साथ चलता हूं और आग लगती है, तो मैं सिर्फ भीड़ का एक हिस्सा होता हूं, मेरा अंतःकरण कभी भी नहीं कहता तुम क्या कर रहे हो? मैं कहता हूं, लोग कर रहे हैं। हिंदू कर रहे हैं, मैं तो सिर्फ साथ हूं। और कल मुझे कभी व्यक्तिगत रूप से जिम्मेदार नहीं ठहराया जा सकता। अशुभ जो है वह सदा ही समूह को आकर्षित करना चाहता है। अशुभ जो है वह भीड़ पर निर्भर करता है। और अशुभ चाहता है कि व्यक्ति मिट जाए, भीड़ रह जाए। शुभ व्यक्ति को

स्वीकार करता है और चाहता है भीड़ धीरे-धीरे खतम हो जाए, व्यक्ति रह जाएं। व्यक्ति रहेंगे तो संबंध रहेंगे, लेकिन वह भीड़ नहीं होगी, वह समाज होगा।

अब इसे भी थोड़ा समझ लेने जैसा है, जहां व्यक्ति हों, वहीं समाज हो सकता है। और जहां व्यक्ति की सत्ता कम हो जाए वहां सिर्फ भीड़ होती है, समाज नहीं होता। समाज और भीड़ में इतना ही फर्क है। व्यक्तियों के अंतस□बंध का नाम समाज है, लेकिन व्यक्ति होने चाहिए। मैं स्वतंत्र रूप से तुमसे, स्वतंत्र व्यक्ति के साथ जब संबंधित होता हूं, तो समाज होता है। एक जेलखाने में समाज नहीं होता, सिर्फ भीड़ होती है। कैदी भी संबंधित होते हैं, एक-दूसरे को देखकर हंसते भी हैं, एक-दूसरे को सिगरेट-बीड़ी भी भेज देते हैं, लेकिन भीड़ होती है, समाज नहीं होता। वे सब वहां इकट्ठे किए गए हैं। अपनी स्वतंत्रता का उनका चुनाव नहीं है। इसलिए स्वतंत्रता, व्यक्ति, व्यक्तित्व, आत्मा, धर्म और अदृश्य और अज्ञात की संभावना जिस पक्ष की तरफ प्रबल होगी—प्रबल कह रहा हूं, क्योंकि निर्णायक नहीं होता बहुत कि इस पक्ष के तरफ है और इसकी तरफ बिलकुल नहीं है। राम और रावण लड़ते हों, तो भी पक्का नहीं होता, बहुत साफ नहीं होता। क्योंकि रावण में भी थोड़ा राम तो होता है और राम में भी थोड़ा रावण तो होता ही है। कौरवों में भी थोड़ा पांडव तो होता है, पांडवों में भी थोड़ा कौरव होता ही है। ऐसा अच्छे से अच्छा आदमी नहीं है पृथ्वी पर जिसमें बुरा थोड़ा-सा न हो। और ऐसा बुरा आदमी भी नहीं खोजा जा सकता, जिसमें थोड़ा-सा अच्छा न हो। इसलिए सवाल सदा अनुपात का और प्रबलता का है। स्वतंत्रता, व्यक्ति, आत्मा, धर्म, ये मूल्य हैं, जिनकी तरफ शुभ की चेतना साथ होगी।

कृष्ण-स्मृति

ओशो द्वारा कृष्ण के बहु-आयामी व्यक्तित्व पर दी गई 21 वार्त्ताओं एवं नव-संन्यास पर दिए गए एक विशेष प्रवचन का अप्रतिम संकलन। यही वह प्रवचनमाला है जिसके दौरान ओशो के साक्षित्व में संन्यास ने नए शिखरों को छूने के लिए उत्प्रेरणा ली और 'नव संन्यास अंतर्राष्ट्रीय' की संन्यास-दीक्षा का सूत्रपात हुआ।

भूमिका

सुप्रसिद्ध कवि एवं लेखक

डा.दामोदर खड़से

एम.ए.,एम.एड,पीएच.डी.

कृष्ण स्मृति

हीरे जो कभी परखे ही न गए

ओशो

पूर्णता का नाम कृष्ण

जीवन एक विशाल कैनवास है, जिसमें क्षण-क्षण भावों की कूची से अनेकानेक रंग मिल-जुल कर सुख-दुख के चित्र उभारते हैं। मनुष्य सदियों से चिर आनंद की खोज में अपने पल-पल उन चित्रों की बेहतरी के लिए जुटाता है। ये चित्र हजारों वर्षो से मानव-संस्कृति के अंग बन चुके हैं। किसी एक के नाम का उच्चारण करते ही प्रतिकृति हंसती-मुस्काती उदित हो उठती है।

आदिकाल से मनुष्य किसी चित्र को अपने मन में बसाकर कभी पूजा, तो कभी आराधना, तो कभी चिंतन-मनन से गुजरता हुआ ध्यान की अवस्था तक पहुंचता रहा है। इतिहास में, पुराणों में ऐसे कई चित्र हैं, जो सदियों से मानव संस्कृति को प्रभावित करते रहे हैं। महावीर, क्राइस्ट, बुद्ध, राम ने मानव-जाति को गहरे छुआ है। इन सबकी बातें अलग-अलग हैं। कृष्ण ने इन सबके रूपों-गुणों को अपने आपमें समाहित किया है। कृष्ण एक ऐसा नाम है, जिसने जीवन को पूर्णता दी।

एक ओर नाचना-गाना, रास-लीला तो दूसरी ओर युद्ध और राजनीति, सामान्यतः परस्पर विरोधी बातों को अपने में समेटकर आनंदित हो मुरली बजाने जैसी सहज क्रियाओं से जुड़े कृष्ण सचमुच चौंकानेवाले चरित्र हैं। ऐसे चरित्र को रेखांकित करना कम चुनौतीपूर्ण नहीं है। व्याख्याएं कभी-कभी दिशाएं मोड़ देती हैं, कभी-कभी भटका भी देती है।

ओशो ने कृष्ण को अपनी दृष्टि से हमारे सामने रखा है, अपनी दार्शनिक और चिंतनशील पारदर्शी दृष्टि से हम तक इस पुस्तक के माध्यम से पहुंचाया है। व्यक्तित्व जब बड़ा हो, विशाल हो तब मूर्ति बनाना आसान नहीं। सिर्फ बाहरी छबि उभारना पर्याप्त नहीं होता। व्यक्तित्व के सभी पहलू भी उभरने चाहिए। श्रेष्ठ कलाकार वही है जो मूर्ति में ऐसी बातों को भी उभार सके जो सामान्य आंखें देख नहीं पातीं।

कृष्ण भारतीय जन-मानस के लिए नए नहीं हैं। कृष्ण की छबि, मुद्रा परिचित है। चाहे यह बाल्यकाल की छबि सूरदास की हो या महाभारत की विभिन्न मुद्राएं हों या विभिन्न कवियों के कृष्ण हों, लोककथाओं या आख्यायिकाओं के कृष्ण हों—चिर-परिचित हैं। कृष्ण का चित्र स्टील फोटोग्राफी की तरह हमारे मन में रच-बस गया है।

परंतु, ओशो ने इस पुस्तक की विचार-शृंखला में कृष्ण का मात्र फोटो नहीं खींचा है बल्कि एक सधे हुए चिंतक-कलाकार की तरह अपने विचार-रंगों से कृष्ण के जीवन के उन पहलुओं को छुआ है, आकार दिया है, जो कैमरे की आंख से नहीं देखे जा सकते। सिर्फ कूची के स्पर्श से उभारे जा सकते हैं। कैमरा सिर्फ मूर्त आकृतियों की प्रतिकृति देता है पर कलाकार की कूची अमूर्तता को रेखांकित करती है। 'कृष्ण स्मृति' ऐसी ही अनदेखी, अनजानी अमूर्त छटाओं का एक संपूर्ण संकलन है, जो ओशो की एक लंबी-प्रवचन-शृंखला से उभरा है। श्रोताओं की जिज्ञासाओं, कुतूहलों और कृष्ण व्यक्तित्व से उठनेवाले उन तमाम प्रश्नों के उत्तर में, झरने-सा कल-कल बहता हुआ, कांच की तरह पारदर्शी विचार-चिंतन इस पुस्तक में प्रवाहित हुआ है।

कृष्ण यथार्थवादी हैं। वे राग, प्रेम, भोग, काम, योग, ध्यान और आत्मा-परमात्मा जैसे विषयों को उनके यथार्थ रूप में ही स्वीकार करते हैं। दूसरी ओर युद्ध और राजनीति को भी उन्होंने वास्तविक अर्थों में स्वीकार किया है। ओशो कहते हैं कृष्ण युद्धवादी नहीं हैं। कृष्ण का व्यक्तित्व पूर्वाग्रही नहीं है। यदि युद्ध होना ही हो तो भागना ठीक नहीं है। यदि युद्ध होना ही है और मनुष्य के हित में अनिवार्य हो जाए तो युद्ध को आनंद से स्वीकार करना चाहिए। उसे बोझ की तरह ढोना उचित नहीं। क्योंकि बोझ समझकर लड़ने में हार निश्चित है।

ओशो युद्ध और शांति के द्वंद्व को समझाते हुए कृष्ण के व्यक्तित्व को अधिक सरलता से प्रस्तुत करते हैं। क्योंकि कृष्ण जीवन को युद्ध और शांति दोनों द्वारों से गुजरने देना चाहते हैं। शांति के लिए युद्ध की सामर्थ्य हो।

मनुष्य की युद्ध की मानसिकता को ओशो ने बड़ी सहजता से उजागर किया है। वे कहते हैं सतगुणों और दुर्गुणों से ही मनुष्य आकार लेता है। अनुपात कम-अधिक हो सकते हैं। ऐसा अच्छे से अच्छा आदमी नहीं है पृथ्वी पर, जिसमें बुरा थोड़ा-सा न हो। और ऐसा बुरा आदमी भी नहीं खोजा जा सकता, जिसमें थोड़ा-सा अच्छा न हो। इसलिए सवाल सदा अनुपात और प्रबलता का है। स्वतंत्रता, व्यक्ति, आत्मा, धर्म, ये मूल्य हैं जिनकी तरफ शुभ की चेतना साथ होगी। कृष्ण इसी चेतना के प्रतीक हैं।

ओशो ने कृष्ण पर बोलने का बड़ा सुंदर आधार दिया है—कृष्ण का महत्व अतीत के लिए कम और भविष्य के लिए ज्यादा है। सच ऐसा है कि कृष्ण अपने समय से कम पांच हजार वर्ष पहले पैदा हुए। सभी महत्वपूर्ण व्यक्ति अपने समय से पहले पैदा होते हैं और सभी गैर-महत्वपूर्ण व्यक्ति अपने समय के बाद पैदा होते हैं। बस महत्वपूर्ण और गैर-महत्वपूर्ण व्यक्ति में इतना ही फर्क है। और सभी साधारण व्यक्ति अपने समय के साथ पैदा होते हैं। ऐसे महत्वपूर्ण व्यक्ति को समझना आसान नहीं होता। उसका वर्तमान और अतीत उसे समझने में असमर्थता अनुभव करता है। ओशो ने कितना सुंदर कहा है कि जब हम समझने योग्य नहीं हो पाते, तब हम उसकी पूजा करना शुरू कर देते हैं। या तो हम उसका विरोध करते हैं। या तो हम गाली देते हैं या हम प्रशंसा करते हैं। दोनों पूजाएं हैं—एक शत्रु की है, एक मित्र की है।

ओशो की एक प्रखर आंखों ने कृष्ण को अपने वर्तमान के लिए देखा। दुख, निराशा, उदासी, वैराग्य, जैसी बातें कृष्ण ने पृथ्वी पर नहीं कीं। पृथ्वी पर जीनेवाले, उल्लास, उत्सव, आनंद, गीत, नृत्य, संगीत को कृष्ण ने विस्तार दिया। कृष्ण ने इस संसार की सारी चीजों को उनके वास्तविक अर्थों में ही स्वीकार किया।

कृष्ण के बहुआयामी व्यक्तित्व और रहस्यपूर्ण कृतित्व की व्याख्या ओशो ने सहजता और सरलता से की है। कृष्ण को देखने की उनकी दृष्टि सचमुच ऐसा विस्तार देती है, जो मात्र तुलना नहीं है। कृष्ण कुशलता से चोरी कर सकते हैं, महावीर एकदम बेकाम चोर साबित होंगे। कृष्ण कुशलता से युद्ध कर सकते हैं, बुद्ध न लड़ सकेंगे। जीसस की हम कल्पना ही नहीं कर सकते कि वे बांसुरी बजा सकते हैं, लेकिन कृष्ण सूली पर चढ़ सकते हैं। कृष्ण को क्राइस्ट के व्यक्तित्व में सोचा ही नहीं जा सकता।

यह पूरा सिलसिला लंबे प्रवचनों के माध्यम से प्रश्नों के उत्तरों के रूप में है। इसमें मानव मन से उठनेवाली तमाम जिज्ञासाओं और कुतूहलों की आतुरता शांत की गई है। प्रेम, नैतिकता, पत्नी, प्रेमिका, स्त्री-पुरुष, विवाह, आध्यात्मिक संभोग, राधा-कृष्ण संबंधों और हजार-हजार प्रश्नों के रेशों को इसमें कुशलता से सहेजा गया है, समाधान किया गया है। प्रतीकों और यथार्थ की तराजू पर तौलते हुए मानवीय संवेदनाओं और शरीर की जैविक आवश्यकताओं तथा मन, बुद्धि और शरीर की यात्राओं में स्त्री-पुरुष की पूर्णता का युक्तिसंगत ऊहापोह ठोस मनोवैज्ञानिक धरातल पर किया गया है। राधा और कृष्ण, कृष्ण और सोलह हजार गोपिकाएं, इनके बीच नैतिक-अनैतिक की परिभाषाएं उदाहरणों से इतनी पारदर्शी हो उठी हैं कि तर्कों की डोर बहुत शिथिल पड़ जाती है। कृष्ण की पृष्ठभूमि में विवाह, स्त्री-पुरुष संबंध, प्रेम और सामाजिक पृष्ठभूमि में ये विचार देशकाल की सीमाओं को तोड़कर व्यक्ति को एक नया अर्थ देते हैं। इन सारे संबंधों में निकटता, आकर्षण, ऊर्जा, बहाव, तृप्ति, हल्कापन और सृजन को बड़ी सुंदरता से प्रस्तुत किया है।

इन विस्तृत चर्चाओं में कृष्ण के इर्द-गिर्द जुड़े समस्त पात्रों के अलावा कृष्ण से फ्रॉयड तक की मनोवैज्ञानिक बातें और गांधी तक का दर्शन समाहित किया गया है।

कृष्ण को एक विस्तृत 'कैनवास' के रूप में उपयोग कर हमारे वर्तमान जीवन के रंग और भविष्य के चित्र बड़ी खूबसूरती से उभरे हैं। कोई भी बात बाहर से थोपी नहीं गई है। अपनी विशिष्ट शैली में ओशो ने मन तक पहुंचाई है। कृष्ण के पक्ष या विपक्ष में ले जाने का कोई आग्रह नहीं है। पर ओशो की दृष्टि में आए कृष्ण को जानने, देखने, समझने और अनुभव करने की जिज्ञासा इस पुस्तक से जहां एक ओर शांत होती है, वहीं उस अनंत व्यक्तित्व के बारे में मौलिक चिंतन की शुरुआत का एक छोर भी अनायास ही हाथ लग जाता है।

ओशो ने अपनी इस पुस्तक में कहीं भी पुजारी की भूमिका नहीं की। सिर्फ विविध छटाओं को विस्तार दिया है। जिसको जो छटा भाती है, वह उसको सोचकर आनंद को प्राप्त होता है। कृष्ण का जीवन अन्य आराध्यों-सा सपाट और आदर्श के शिखर पर विराजमान नहीं है। बल्कि अत्यंत अकल्पनीय ढंग से उतार-चढ़ाव और रहस्यों से भरपूर होते हुए भी हमारी आपकी पृथ्वी पर खड़ा है। इसकी सिर्फ पूजा नहीं इसे जीया भी जा सकता है। संसार के बंधन और मन की गांठ खुल सकती है।

यह सब बताते हुए ओशो यह भी आगाह करते हैं कि अनुकरण से सावधान रहना चाहिए। क्योंकि प्रत्येक का जीवन मौलिक होता है और अनुकरण से उसका पतन हो सकता है।

कृष्ण संपूर्णता के प्रतीक हैं। मानव-समाज के आनंद के लिए सुंदर आविष्कार के रूप में उभरते हैं, जहां किसी भी बात को पूर्वाग्रह से नकारा नहीं गया है। एक सहज, सकारात्मक, रागात्मक, प्रेमपूर्ण जीवन को उत्सव की तरह संपन्न करने वाले कृष्ण इस पुस्तक में जो चित्र उभरकर निखरता है, वह सर्वथा नया और आनंददायी है।

डां.दामोदर खड़से
8/9 चंद्रलोक नगरी,
डहाणूकर कॉलोनी र.नं.-11

कृष्ण स्मृति

कोथरूड,
पुणे-411029

हिंदी साहित्य जगत में ख्याति व मान्यता प्राप्त कवि व कथाकार डां. दामोदर खड़से बैंक ऑफ महाराष्ट्र के राजभाषा विभाग के उप-मुख्य प्रबंधक हैं। दो कहानी-संग्रह एवं दो उपन्यास प्रकाशित। भटकते कोलंबस (कहानी संग्रह) पर भारत सरकार द्वारा पुरस्कृत। मध्य प्रदेश साहित्य परिषद द्वारा आचार्य रामचंद्र शुक्ल पुरस्कार। प्रमुख हिंदी पत्र-पत्रिकाओं में जाना-माना नाम। मराठी, कन्नड़, तेलगू व अंग्रेजी में रचनाएं अनूदित। विविध भारती (बंबई); आकाशवाणी, नागपुर, दिल्ली, पूना से इनकी रचनाओं, भाषणों आदि का प्रसारण। रसायन एवं उर्वरक मंत्रालय तथा ऊर्जा मंत्रालय, भारत सरकार के हिंदी सलाहकार।

अनुक्रम

1 हंसते व जीवंत धर्म के प्रतीक कृष्ण

'कृष्ण के व्यक्तित्व में आज के युग के लिए क्या-क्या विशेषताएं हैं और उनके व्यक्तित्व का क्या महत्त्व हो सकता है? इस पर कुछ प्रकाश डालें?'

 कृष्ण का व्यक्तित्व बहुत अनूठा है। अनूठेपन की पहली बात तो यह है कि कृष्ण हुए तो अतीत में, लेकिन हैं भविष्य के। मनुष्य अभी भी इस योग्य नहीं हो पाया कि कृष्ण का समसामयिक बन सके। अभी भी कृष्ण मनुष्य की समझ से बाहर हैं। भविष्य में ही यह संभव हो पाएगा कि कृष्ण को हम समझ पाएं।

इसके कुछ कारण हैं।

सबसे बड़ा कारण तो यह है कि कृष्ण अकेले ही ऐसे व्यक्ति हैं जो धर्म की परम गहराइयों और ऊंचाइयों पर होकर भी गंभीर नहीं हैं, उदास नहीं हैं, रोते हुए नहीं हैं। साधारणतः संत का लक्षण ही रोता हुआ होना है। जिंदगी से उदास, हारा हुआ, भागा हुआ। कृष्ण अकेले ही नाचते हुए वयक्ति हैं। हंसते हुए, गीत गाते हुए। अतीत का सारा धर्म दुखवादी था। कृष्ण को छोड़ दें तो अतीत का सारा धर्म उदास, आंसुओं से भरा हुआ था। हंसता हुआ धर्म मर गया है और पुराना ईश्वर, जिसे हम अब तक ईश्वर समझते थे, जो हमारी धारणा थी ईश्वर की, वह भी मर गई है।

जीसस के संबंध में कहा जाता है कि वह कभी हंसे नहीं। शायद जीसस का यह उदास व्यक्तित्व और सूली पर लटका हुआ उनका शरीर ही हम दुखी-चित्त लोगों को बहुत आकर्षण का कारण बन गया। महावीर या बुद्ध बहुत गहरे अर्थों में इस जीवन के विरोधी हैं। कोई और जीवन है परलोक में, कोई मोक्ष है, उसके पक्षपाती हैं। समस्त धर्मों ने दो हिस्से कर रखे हैं जीवन के—एक वह जो स्वीकार योग्य है और एक वह जो इनकार के योग्य है।

कृष्ण अकेले ही इस समग्र जीवन को पूरा ही स्वीकार कर लेते हैं। जीवन की समग्रता की स्वीकृति उनके व्यक्तित्व में फलित हुई है। इसलिए, इस देश ने और सभी अवतारों को आंशिक अवतार कहा है, कृष्ण को पूर्ण अवतार कहा है। राम भी अंश ही हैं परमात्मा के, लेकिन कृष्ण पूरे ही परमात्मा हैं। और यह कहने का, यह सोचने का, ऐसा समझने का कारण है। और वह कारण यह है कि कृष्ण ने सभी कुछ आत्मसात कर लिया है।

अल्बर्ट श्वीत्ज़र ने भारतीय धर्म की आलोचना में एक बड़ी कीमत की बात कही है, और वह यह कि भारत का धर्म जीवन-निषेधक, 'लाइफ निगेटिव' है। यह बात बहुत दूर तक सच है, यदि कृष्ण को भुला दिया जाए। और यदि कृष्ण को भी विचार में लिया जाए तो यह बात एकदम ही गलत हो जाती है। और श्वीत्ज़र यदि कृष्ण को समझते तो ऐसी बात न कह पाते। लेकिन कृष्ण की कोई व्यापक छाया भी हमारे चित्त पर नहीं पड़ी है। वे अकेले दुख के एक महासागर में नाचते हुए

एक छोटे-से द्वीप हैं। या ऐसा हम समझें कि उदास और निषेध और दमन और निंदा के बड़े मरुस्थल में एक बहुत छोटे-से नाचते हुए मरूद्यान हैं। वह हमारे पूरे जीवन की धारा को नहीं प्रभावित कर पाए। हम ही इस योग्य न थे, हम उन्हें आत्मसात न कर पाए।

मनुष्य ाका मन अब तक तोड़कर सोचता रहा, द्वंद्व करके सोचता रहा। शरीर को इनकार करना है, आत्मा को स्वीकार करना है। तो आत्मा और शरीर को लड़ा देना है। परलोक को स्वीकार करना है, इहलोक को इनकार करना है। तो इहलोक और परलोक को लड़ा देना है। स्वभावतः, यदि हम शरीर का इनकार करेंगे, तो जीवन उदास हो जाएगा। क्योंकि जीवन के सारे रस-स्रोत और सारा स्वास्थ्य और जीवन का सारा संगीत और सारी संवेदनाएं शरीर से आ रही हैं। शरीर को जो धर्म इनकार कर देगा, वह पीतवर्ण हो जाएगा, रक्तशून्य हो जाएगा। उस पर से लाली खो जाएगी। वह पीले पत्ते की तरह सूखा हुआ धर्म होगा। उस धर्म की मान्यता भी जिनके मन में गहरी बैठेगी, वे भी पीले पत्ते की तरह गिरने की तैयारी में संलग्न, मरने के लिए उत्सुक और तैयार हो जाएंगे।

कृष्ण अकेले हैं जो शरीर को उसकी समस्तता में स्वीकार कर लेते हैं, उसकी 'टोटलिटी' में। यह एक आयाम में नहीं, सभी आयाम में सच है। शायद कृष्ण को छोड़कर...कृष्ण को छोड़कर, और पूरे मनुष्यता के इतिहास में जरथुस्त्र एक दूसरा आदमी है, जिसके बाबत यह कहा जाता है कि वह जन्म लेते से हंसा। सभी बच्चे रोते हैं। एक बच्चा सिर्फ मनुष्य-जाति के इतिहास में जन्म लेकर हंसा। यह सूचक है। यह सूचक है इस बात का कि अभी हंसती हुई मनुष्यता पैदा नहीं हो पाई। और कृष्ण तो हंसती हुई मनुष्यता को ही स्वीकार हो सकते हैं। इसलिए कृष्ण का बहुत भविष्य है। फ्रायड-पूर्व धर्म की जो दुनिया थी, वह फ्रायड-पश्चात नहीं हो सकती है। एक बड़ी क्रांति घटित हो गई है, और एक बड़ी दरार पड़ गई है मनुष्य की चेतना में। हम जहां थे फ्रायड के पहले, अब हम वहीं कभी भी नहीं हो सकेंगे। एक नया शिखर छू लिया गया है और एक नई समझ पैदा हो गई है। वह समझ समझ लेनी चाहिए।

पुराना धर्म सिखाता था आदमी को दमन और 'सप्रेशन'। काम है, क्रोध है, लोभ है, मोह है, सभी को दबाना है और नष्ट कर देना है। और तभी आत्मा उपलब्ध होगी और तभी परमात्मा उपलब्ध होगा। यह लड़ाई बहुत लंबी चली। इस लड़ाई के हजारों साल के इतिहास में भी मुश्किल से दस-पांच लोग हैं जिनको हम कह पाए कि उन्होंने परमात्मा को पा लिया। एक अर्थ में यह लड़ाई सफल नहीं हुई। क्योंकि अरबों-खरबों लोग बिना परमात्मा को पाए मरे हैं। जरूर कहीं कोई बुनियादी भूल थी। यह ऐसा ही है जैसे कि कोई माली करोड़ हजार पौधे लगाए और एक पौधे में फूल आ जाएं, और फिर भी हम उस माली के शास्त्र को मानते चले जाएं, और हम कहें कि देखो एक पौधे में फूल आए! और हम इस बात का खयाल ही भूल जाएं कि पचास करोड़ पौधे में अगर एक पौधे में फूल आते हैं, तो यह माली की वजह से न आए होंगे, यह माली से किसी तरह बच गया होगा पौधा, इसलिए आ गए हैं। क्योंकि माली का प्रमाण तो बाकी पचास करोड़ पौधे हैं जिनमें फूल नहीं आते, पत्ते नहीं लगते, सूखे ठूंठ रह जाते हैं।

एक बुद्ध, एक महावीर, एक क्राइस्ट अगर परमात्मा को उपलब्ध हो जाते हैं, द्वंद्वग्रस्त धर्मों के बावजूद भी, तो यह कोई धर्मों की सफलता का प्रमाण नहीं है। धर्मों की सफलता का प्रमाण तो तब होगा, माली तो तब सफल समझा जाएगा, जब पचास करोड़ पौधों में फूल लगें और एक में न लग पाएं, तो क्षमा योग्य है। कहा जा सकेगा कि यह पौधे की गलती हो गई। इसमें माली की गलती नहीं हो सकती। पौधा बच गया होगा माली से, इसलिए सूख गया है, इसलिए फूल नहीं आते हैं।

फ्रायड के साथ ही एक नई चेतना का जन्म हुआ और वह यह कि दमन गलत है। और दमन मनुष्य को आत्महिंसा में डाल देता है। आदमी अपने से ही लड़ने लगे तो सिर्फ नष्ट हो सकता है। अगर मैं अपने बाएं और दाएं हाथ को लड़ाऊं तो न तो बायां जीतेगा, न दायां जीतेगा, लेकिन मैं हार जाऊंगा। दोनों हाथ लड़ेंगे और मैं नष्ट हो जाऊंगा। तो दमन ने मनुष्य को आत्मघाती बना दिया, उसने अपनी ही हत्या अपने हाथों कर ली।

कृष्ण, फ्रायड के बाद जो चेतना का जन्म हुआ है, जो समझ आई है, उस समझ के लिए कृष्ण ही अकेले हैं जो सार्थक मालूम पड़ सकते हैं। क्योंकि पुराने मनुष्यजाति के इतिहास में कृष्ण अकेले हैं जो दमनवादी नहीं हैं। वे जीवन के सब रंगों

को स्वीकार कर लिए हैं। वे प्रेम से भागते नहीं। वे पुरुष होकर स्त्री से पलायन नहीं करते। वे परमात्मा को अनुभव करते हुए युद्ध से विमुख नहीं होते। वे करुणा और प्रेम से भरे होते हुए भी युद्ध में लड़ने की सामर्थ्य रखते हैं। अहिंसक-चित्त है उनका, फिर भी हिंसा के ठेठ दावानल में उतर जाते हैं। अमृत की स्वीकृति है उन्हें, लेकिन जहर से कोई भय भी नहीं है। और सच तो यह है, जिसे भी अमृत का पता चल गया है उसे जहर का भय मिट जाना चाहिए। क्योंकि ऐसा अमृत ही क्या जो जहर से फिर डरता चला जाए। और जिसे अहिंसा का सूत्र मिल गया, उसे हिंसा का भय मिट जाना चाहिए। ऐसी अहिंसा ही क्या जो अभी हिंसा से भी भयभीत और घबड़ाई हुई है! और ऐसी आत्मा भी क्या जो शरीर से भी डरती हो और बचती हो! और ऐसे परमात्मा का क्या अर्थ जो सारे संसार को अपने आलिंगन में न ले सकता हो। तो कृष्ण द्वंद्व को एक-साथ स्वीकार कर लेते हैं और इसलिए द्वंद्व के अतीत हो जाते हैं। 'ट्रांसेंडेंस' जो है, अतीत जो हो जाना है, वह द्वंद्व में पड़कर कभी संभव नहीं है; दोनों को एक साथ स्वीकार कर लेने से संभव है।

तो भविष्य के लिए कृष्ण की बड़ी सार्थकता है। और भविष्य में कृष्ण का मूल्य निरंतर बढ़ता ही जाने को है। जब कि सबके मूल्य फीके पड़ जाएंगे और द्वंद्व-भरे धर्म जब कि पीछे अंधेरे में डूब जाएंगे और इतिहास की राख उन्हें दबा देगी, तब भी कृष्ण का अंगार चमकता हुआ रहेगा। और भी निखरेगा क्योंकि पहली दफे मनुष्य इस योग्य होगा कि कृष्ण को समझ पाए। कृष्ण को समझना बड़ा कठिन है। कठिन है इस बात को समझना कि एक आदमी संसार को छोड़कर चला जाए और शांत हो जाए। कठिन है इस बात को समझना कि संसार के संघर्ष में, बीच में खड़ा होकर और शांत हो। आसान है यह बात समझनी कि एक आदमी विरक्त हो जाए, आसक्ति से संबंध तोड़कर भाग जाए और उसमें एक पवित्रता का जन्म हो। कठिन है यह बात समझनी कि जीवन के सारे उपद्रव के बीच, जीवन के सारे उपद्रव में अलिप्त, जीवन के सारे धूल-धवांस के कोहरे और आंधियों में खड़ा हुआ दिया हिलता न हो, उसकी लौ कंपती न हो—कठिन है यह समझना। इसलिए कृष्ण को समझना बहुत कठिन था। निकटतम जो कृष्ण के थे वे भी नहीं समझ सकते हैं। लेकिन पहली दफा एक महान प्रयोग हुआ है। पहली दफा आदमी ने अपनी शक्ति का पूरा परीक्षण कृष्ण में किया है। ऐसा परीक्षण कि संबंधों में रहते हुए असंग रहा जा सके, और युद्ध के क्षण पर भी करुणा न मिटे। और हिंसा की तलवार हाथ में हो, तो भी प्रेम का दिया मन से न बुझे।

इसलिए कृष्ण को जिन्होंने पूजा भी है, जिन्होंने कृष्ण की आराधना भी की है उन्होंने भी कृष्ण के टुकड़े-टुकड़े करके किया है। सूरदास के कृष्ण कभी बच्चे से बड़े नहीं हो पाते। बड़े कृष्ण के साथ खतरा है। सूरदास बर्दाश्त न कर सकेंगे। वह बाल कृष्ण को ही...। क्योंकि बाल कृष्ण अगर गांव की स्त्रियों को छेड़ देता है तो हमें बहुत कठिनाई नहीं है। लेकिन युवा-कृष्ण जब गांव की स्त्रियों को छेड़ देगा तो फिर बहुत मुश्किल हो जाएगा। फिर हमें समझना बहुत मुश्किल हो जाएगा, क्योंकि हम अपने ही तल पर तो समझ सकते हैं। हमारे अपने तल के अतिरिक्त समझने का हमारे पास कोई उपाय भी नहीं है। तो कोई है जो कृष्ण के एक रूप को चुन लेगा, कोई है जो दूसरे रूप को चुन लेगा। गीता को प्रेम करने वाले गीता की चर्चा में न पड़ेंगे, क्योंकि कहां राग-रंग और कहां रास और कहां युद्ध का मैदान! उनके बीच कोई तालमेल नहीं है। शायद कृष्ण से बड़े विरोधों को एक-साथ पी लेने वाला कोई व्यक्तित्व ही नहीं है। इसलिए कृष्ण की एक-एक शकल लोगों ने पकड़ लिया। है। जो जिसे प्रीतिकर लगी है, उसने छांट लिया है, बाकी शकल को उसने इनकार कर दिया है।

गांधी गीता को माता कहते हज, लेकिन गीता को आत्मसात नहीं कर सके। क्योंकि गांधी की अहिंसा युद्ध की संभावनाओं को कहां रखेगी? तो गांधी उपाय खोजते हैं; वह कहते हैं यह जो युद्ध है, यह सिर्फ रूपक है, यह कभी हुआ नहीं। यह मनुष्य के भीतर अच्छाई और बुराई की लड़ाई है। यह जो कुरुक्षेत्र है, यह कोई बाहर युद्ध का मैदान नहीं है, और ऐसा नहीं है कि कृष्ण ने कहीं अर्जुन को किसी बाहर के युद्ध में लड़ाया हो। यह तो भीतर के युद्ध की रूपक-कथा है। यह एक 'पैरेबल' है, यह एक कहानी है। यह एक प्रतीक है। गांधी को कठिनाई है। क्योंकि गांधी का जैसा मन है, उसमें तो अर्जुन ही ठीक मालूम पड़ेगा। अर्जुन के मन में बड़ी अहिंसा का उदय हुआ है। वह युद्ध छोड़कर भाग जाने को तैयार है। वह कहता है, अपनों को मारने से फायदा क्या? और वह कहता है, इतनी हिंसा करके धन पाकर भी, यश पाकर भी, राज्य

पाकर भी मैं क्या करूंगा? इससे तो बेहतर है मैं सब छोड़कर भिखमंगा हो जाऊं। इससे तो बेहतर है कि मैं भाग जाऊं और सारे दुख वरण कर लूं, लेकिन हिंसा में न पडूं। इससे मेरा मन बड़ा कांपता है। इतनी हिंसा अशुभ है।

कृष्ण की बात गांधी की पकड़ में कैसे आ सकती है? क्योंकि कृष्ण समझाते हैं कि तू लड़। और लड़ने के लिए जो-जो तर्क देते हैं, वह ऐसा अनूठा है कि इसके पहले कभी भी नहीं दिया गया था। उसको परम अहिंसक ही दे सकता है, उस तर्क को।

कृष्ण का तर्क यह है कि जब तक तू ऐसा मानता है कि कोई मर सकता है, तब तक तू आत्मवादी नहीं है। तब तक तुझे पता नहीं है कि जो भीतर है, न वह कभी मरा है, न कभी मर सकता है। अगर तू सोचता है कि मैं मार सकूंगा, तो तू बड़ी भ्रांति में है, बड़े अज्ञान में है। क्योंकि मारने की धारणा ही भौतिकवादी की धारणा है। जो जानता है, उसके लिए कोई मरता नहीं है। तो अभिनय है—कृष्ण उससे कह रहे हैं—मरना और मारना लीला है, एक नाटक है।

इस संदर्भ में यह समझ लेना उचित होगा कि राम के जीवन को हम चरित्र कहते हैं। राम बड़े गंभीर हैं। उनका जीवन लीला नहीं है, चरित्र ही है। लेकिन कृष्ण गंभीर नहीं हैं। कृष्ण का चरित्र नहीं है वह, कृष्ण की लीला है। राम मर्यादाओं में बंधे हुए व्यक्ति हैं, मर्यादाओं के बाहर वे एक कदम न बढ़ेंगे। मर्यादा पर वे सब कुर्बान कर देंगे। कृष्ण के जीवन में मर्यादा जैसी कोई चीज ही नहीं है। अमर्याद। पूर्ण स्वतंत्र। जिसकी कोई सीमा नहीं, जो कहीं भी जा सकता है। ऐसी कोई जगह नहीं आती जहां वह रुके, ऐसी कोई जगह नहीं आती जहां भयभीत हो और कदम को ठहराए। यह अमर्यादा भी कृष्ण के आत्म-अनुभव का अंतिम फल है। तो हिंसा भी बेमानी हो गफ है वहां, क्योंकि हिंसा हो नहीं सकती। और जहां हिंसा ही बेमानी हो गई हो वहां अहिंसा भी बेमानी हो जाती है। क्योंकि जब तक हिंसा सार्थक है और हिंसा हो सकती है, तभी तक अहिंसा भी सार्थक है। असल में हिंसक अपने को मानना भौतिकवाद है, अहिंसक अपने को मानना भी उसी भौतिकवाद का दूसरा छोर है। एक मानता है मैं मार डालूंगा, एक मानता है मैं मारूंगा नहीं, मैं मारने को राजी नहीं हूं। लेकिन दोनों मानते हैं कि मारा जा सकता है।

ऐसा अध्यात्म युद्ध को भी खेल मान लेता है। और जो जीवन की सारी दिशाओं को—राग की, प्रेम की, भोग की, काम की, योग की, ध्यान की, समस्त दिशाओं को एक साथ स्वीकार कर लेता है, उस समग्रता के दर्शन को समझने की संभावना रोज बढ़ती जा रही है, क्योंकि अब हमें कुछ बातें पता चली हैं, जो हमें कभी पता नहीं थीं। लेकिन कृष्ण को निश्चित ही पता रही हैं।

जैसे हमें आज जाकर पता चला है कि शरीर और आत्मा जैसी दो चीजें नहीं हैं। आत्मा का जो छोर दिखाई पड़ता है, वह शरीर है; और शरीर का जो छोर दिखाई पड़ता है, वह आत्मा है। परमात्मा और संसार जैसी दो चीजें नहीं हैं। परमात्मा और प्रकृति जैसा द्वंद्व नहीं है कहीं। परमात्मा का जो हिस्सा दृश्य हो गया है, वह प्रकृति है। और जो अब भी अदृश्य है, वह परमात्मा है। कहीं भी ऐसी कोई जगह नहीं है जहां प्रकृति खत्म होती है और परमात्मा शुरू होता है। बस प्रकृति ही लीन होते-होते-होते-होते परमात्मा बन जाती है। परमात्मा ही प्रगट होते-होते प्रकृति बन जाता है। अद्वैत का यही अर्थ है। और इस अद्वैत की अगर हमें धारणा स्पष्ट हो जाए, इसकी प्रतीति हो जाए, तो कृष्ण को समझा जा सकता है।

साथ ही भविष्य में और क्यों कृष्ण की सार्थकता बढ़ने को हैं और कृष्ण क्यों मनुष्य के और निकट आ जाएंगे? अब दमन संभव नहीं हो सकेगा। बड़े लंबे संघर्ष और बड़े लंबे ज्ञान की खोज के बाद ज्ञात हो सका है कि जिन शक्तियों से हम लड़ते हैं वे शक्तियां हमारी ही हैं, हम ही हैं। इसलिए उनसे लड़ने से बड़ा कोई पागलपन नहीं हो सकता। और यह भी ज्ञाता हुआ है कि जिससे हम लड़ते हैं, हम सदा के लिए उसी से घिरे रह जाते हैं। और यह भी ज्ञात हुआ है कि जिससे हम लड़ते हैं उसे हम कभी रूपांतरित नहीं कर पाते। उसका 'ट्रांसफार्मेशन' नहीं होता।

अगर कोई व्यक्ति यौन से लड़ेगा तो उसके जीवन में ब्रह्मचर्य घटित हो सकता है तो एक ही उपाय है कि वह अपनी काम की ऊर्जा को कैसे रूपांतरित करे। काम की ऊर्जा से मैत्री साधनी है। क्योंकि हम सिर्फ उसी को बदल सकते हैं जिससे हमारी मैत्री है। जिसके हम शत्रु हो गए, उसको बदलने का सवाल नहीं। जिसके हम शत्रु हो गए उसको समझने का भी उपाय नहीं है। समझ भी हम उसे ही सकते हैं जिससे हमारी मैत्री है।

तो जो हमें निकृष्टतम दिखाई पड़ रहा है वह भी श्रेष्ठतम का ही छोर है। पर्वत का जो बहुत ऊपर का शिखर है, वह, और पर्वत के पास की जो बहुत गहरी खाई है, ये दो घटनाएं नहीं हैं। ये एक ही घटना के दो हिस्से हैं। यह जो खाई बनी है, यह पर्वत के ऊपर उठने से बनी है। यह जो पर्वत ऊपर उठ सका है, यह खाई के बनने से ऊपर उठ सका है। ये दो चीजें नहीं हैं। ये पर्वत और खाई हमारी भाषा में दो हैं, अस्तित्व में एक ही चीज के दो छोर हैं।

नीत्शे का एक बहुत कीमती वचन है। नीत्शे ने कहा है कि जिस वृक्ष को आकाश की ऊंचाई छूनी हो, उसे अपनी जड़ें पाताल की गहराई तक पहुंचानी पड़ती हैं। और अगर कोई वृक्ष अपनी जड़ों को पाताल तक पहुंचाने से डरता है, तो उसे आकाश तक पहुंचने की आकांक्षा भी छोड़ देनी पड़ती है। असल में जितनी ऊंचाई, उतने ही गहरे भी जाना पड़ता है। जितना ऊंचा जाना हो उतना ही नीचे भी जाना पड़ता है। नीचाई और ऊंचाई दो चीजें नहीं हैं, एक ही चीज के दो आयाम हैं और वे सदा समानुपाती हैं, एक ही अनुपात में बढ़ते हैं।

मनुष्य के मन ने सदा चाहा कि वह चुनाव कर ले। उसने चाहा कि स्वर्ग को बचा ले और नर्क को छोड़ दे। उसे चाहा कि शांति को बचा ले, तनाव को छोड़ दे। उसने चाहा शुभ को बचा ले, अशुभ को छोड़ दे। उसने चाहा प्रकाश ही प्रकाश रहे, अंधकार न रह जाए। मनुष्य के मन ने अस्तित्व को दो हिस्सों में तोड़कर एक हिस्से का चुनाव किया और दूसरे का इनकार किया। इससे द्वंद्व पैदा हुआ, इससे द्वैत हुआ। कृष्ण दोनों को एक-साथ स्वीकार करने के प्रतीक हैं। और जो दोनों को एक-साथ स्वीकार करता है, वही पूर्ण हो सकता है। नहीं तो अपूर्ण ही रह जाएगा। जितने को चुनेगा, उतना हिस्सा रह जाएगा; और जिसको इनकार करेगा, सदा उससे बंधा रहेगा। उससे बाहर नहीं जा सकता है। जो व्यक्ति काम का दमन करेगा, उसका चित्त कामुक-से-कामुक होता चला जाएगा। इसलिए जो संस्कृति, जो धर्म काम का दमन सिखाता है, वह संस्कृति कामुमता पैदा करवाती है।

काश कृष्ण को माना जा सका होता, तो शायद दुनिया से कामुकता विदा हो गई होती। लेकिन कृष्ण को नहीं माना जा सका। बल्कि हमने न मालूम कितने-कितने रूपों में कृष्ण के उन हिस्सों का इनकार किया जो काम की स्वीकृति हैं। लेकिन अब यह संभव हो जाएगा, क्योंकि अब हमें दिखाई पड़ना शुरू हुआ है कि काम की ऊर्जा, वह जो 'सेक्स एनर्जी है, वही ऊर्ध्वगमन करके ब्रह्मचर्य के उच्चतम शिखरों को छू पाती है। जीवन में किसी से भागना नहीं है और जीवन में किसी को छोड़ना नहीं है, जीवन को पूरा ही स्वीकार करके जीना है। उसको जो समग्रता से जीता है वह जीवन की पूर्णता को उपलब्ध होता है। इसलिए मैं कहता हूं कि भविष्य के संदर्भ में कृष्ण का बहुत मूल्य है और हमारा वर्तमान रोज उस भविष्य के करीब पहुंचता है जहां कृष्ण की प्रतिमा निखरती जाएगी और एक हंसता हुआ धर्म, एक नाचता हुआ धर्म जल्दी निर्मित होगा। तो उस धर्म की बुनियादों में कृष्ण का पत्थर जरूर रहने को है।

'महाभारत युद्ध में कृष्ण एक प्रमुख भूमिका में थे। वे चाहते तो युद्ध रोक सकते थे। लेकिन वैसा नहीं हुआ। और परिणाम—एक भारी विध्वंस! स्वभावतः विध्वंस की भारी जिम्मेदारी कृष्ण पर जाती है। क्या कृष्ण के लिए यह उचित था—या उन पर लांछन लग सकता है?'

 युद्ध और शांति के संबंध में भी बात वही है। फिर हम चाहते हैं कि शांति ही बचे, संघर्ष न बचे। फिर हम चुनाव शुरू करते हैं। और जगत जो है, वह द्वंद्वों का सम्मिलन है। और जगत जो है, वह विरोधी स्वरों का समवेत संगीत है। जगत इकसुरा नहीं हो सकता।

मैंने सुना है कि एक आदमी कोई वाद्ययंत्र बजाता था। और वह तार पर एक ही जगह उंगली रखकर घंटों उसी को रगड़ता रहता। उसके घर के लोग तो परेशान हो ही गए थे, उसके पास-पड़ोस के लोग भी परेशान हो गए थे। और अनेक लोगों ने उससे प्रार्थना की कि हमने बहुत वाद्य बजाने वाले देखे, लेकिन सभी का हाथ सरकता है, सभी के भिन्न स्वर निकलते हैं, तुमने यह क्या राग ले रखा है? तो उस आदमी ने कहा, वह अभी ठीक स्थान खोज रहे हैं, मैंने ठीक स्थान पा लिया है। तो मैं अब एक ठीक स्थान पर रुका हुआ हूं। मुझे अब कोई खोज की जरूरत नहीं है।

हमारा मन कर सकता है कि हम एक ही स्वर चुन लें जीवन का। लेकिन एक ही स्वर सिर्फ मृत्यु में हो सकता है। जीवन विरोधी स्वरों पर ही खड़ा होगा। तुमने अगर कभी किसी मकान के दरवाजे पर 'आर्च' बना देखा हो, तो उसमें विरोधी इ□टें दोनों तरफ से लाकर हम मकान के द्वार पर अड़ा देते हैं। विरोधी इ□टें एक-दूसरे के विरोध में खड़े होने की वजह से भवन को उठा लेती हैं। कोई सोच सकता है कि इ□टें एक ही दिशा में लगा दी जाएं। फिर भवन गिरेगा, फिर भवन बनेगा नहीं।

जीवन की सारी व्यवस्था विरोधी स्वरों के तनाव पर है। युद्ध भी उस तनाव का हिस्सा है। और युद्ध ने नुकसान ही पहुंचाए, ऐसा जो सोचते हैं, वह गलत सोचते हैं, वह अधूरा देखते हैं। अगर हम मनुष्यता के विकास को समझने चलें तो हमें पता चलेगा। मनुष्यता के विकास का अधिकतम हिस्सा युद्धों के माध्यम से हुआ है। आज मनुष्य के पास जो कुछ है वह सब उसने प्राथमिक रूप से युद्धों में खोजा है। अगर आज हमें दिखाई पड़ते हैं कि सारी पृथ्वी पर रास्ते फैल गए हैं, तो पहली दफे रास्ते युद्धों के लिए बने थे, फौजों को भेजने के लिए बने थे। वह दो आदमियों को मिलाने के लिए नहीं बने थे, बारात ले जाने के लिए नहीं बने थे, वह युद्ध के लिए बने थे पहली बार। जितने भी साधन हैं—अगर आज हम बड़े मकान देख रहे हैं, तो पहले बड़ा मकान नहीं बना था, बड़ा किला बना था और वह युद्ध की जरूरत थी। पहली दीवाल दुश्मन के खिलाफ लड़ने के लिए बनाई गई। फिर दीवालें बनीं, फिर अब आकाश को छूते हुए मकान हैं। आज हम सोच भी नहीं सकते कि आकाश को छूता हुआ मकान युद्ध की जरूरत है। मनुष्य के पास जितनी भी संपन्नता है और जितने भी साधन हैं और जितना भी वैज्ञानिक आविष्कार है, वह सब युद्ध के माध्यम से हुआ।

असल में युद्ध ऐसे तनाव की स्थिति पैदा कर देता है, ऐसी चुनौती कि हमारे भीतर जो सोयी शक्तियां हैं, उन सबको जागकर सक्रिय होना पड़ता है। शांति के क्षण में हम आलस्य में हो सकते हैं, तमस में हो सकते हैं, युद्ध हमारे राजस को उभारता है। हमारे भीतर सोयी हुई शक्तियों को चुनौती के मौके पर उठना ही पड़ता है। इसलिए युद्ध के क्षण में हम साधारण नहीं रह जाते, हम असाधारण हो जाते हैं। और मनुष्य का मस्तिष्क अपनी पूरी शक्ति से काम करने लगता है। और युद्ध में एक छलांग लग जाती है मनुष्य की प्रतिभा की, जो कि शांति के कालों में, वर्षों में, सैकड़ों वर्षों में नहीं लग पाती।

अनेक लोगों का ऐसा खयाल है कि अगर कृष्ण ने महाभारत का युद्ध रोका होता तो भारत बहुत संपन्न होता। और भारत ने बड़े विकास के शिखर छू लिए होते। बात इससे बिलकुल उलटी है। अगर कृष्ण जैसे दस-पांच लोग भारत के इतिहास में हमें मिले होते और हमने एक महाभारत नहीं, दस-पांच महाभारत लड़े होते तो हम विकास के शिखरों पर होते।

महाभारत को हुए अंदाजन पांच हजार से ज्यादा वर्ष हुए होंगे। पांच हजार वर्षों में फिर हमने कोई बड़ा युद्ध नहीं किया। बाकी हमारी लड़ाइयां बहुत दिवालिया, 'बैंकरप्ट' हैं। बाकी हमारी लड़ाइयों की बड़ी कोई कीमत नहीं है। वे छोटे-मोटे झगड़े हैं। उनको युद्ध कहना भी ठीक नहीं है। पांच हजार वर्षों से हमने कोई बड़ा युद्ध नहीं लड़ा। अगर युद्ध की वजह से हानि होती है और विध्वंस होता है, तो हमें पृथ्वी पर सबसे ज्यादा संपन्न और विकासमान होना चाहिए था। लेकिन हालतें उलटी हैं। जिन मुल्कों ने युद्ध लड़े हैं, वे बहुत विकासमान हैं और बहुत संपन्न हैं। पहले महायुद्ध के बाद लोग सोच सकते थे कि जर्मनी अब सदा के लिए टूट जाएगा, लेकिन दूसरे महायुद्ध में जर्मनी पहले महायुद्ध के जर्मनी से अनंतगुना शक्तिशाली होकर प्रगट हुआ—सिर्फ बीस साल के फासले पर। कोई सोच भी नहीं सकता था कि पहले महायुद्ध के बाद दूसरा महायुद्ध जर्मनी कर सकेगा। दो-चार सौ साल तक भी कर सकेगा, इसकी भी संभावना नहीं थी। लेकिन बीस साल में जर्मनी अनंतगुना शक्तिशाली होकर बाहर आ गया। पहले महायुद्ध ने उसकी शक्तियों को जिस तीव्रता पर पहुंचा दिया, उस तीव्रता का उसने उपयोग कर लिया।

अभी पिछले दूसरे महायुद्ध में लगता था कि अब शायद युद्ध कभी होना बहुत मुश्किल हो जाएगा, और जो देश सबसे ज्यादा मिटे थे—जर्मनी और जापान—वह दोनों के दोनों फिर संपन्न होकर खड़े हो गए। आज जापान को देखकर कोई कह सकता है कि बीस साल पहले एटम बम इसी मुल्क पर गिरा था? आज जापान को देखकर कोई नहीं कह सकता। हिंदुस्तान को देखकर जरूर हम कह सकते हैं कि यहां एटम बम गिरते ही रहे होंगे। हमारी दुर्दशा देखकर लगता है कि यहां जैसे युद्ध होता ही रहा होगा।

महाभारत के कारण हिंदुस्तान का अहित नहीं हुआ। महाभारत की छाया में हिंदुस्तान में जो शिक्षक पैदा हुए, वे सब युद्ध-विरोधी थे। और उन्होंने महाभारत का शोषण किया। और कहा कि ऐसा युद्ध और ऐसी हिंसा। नहीं, अब न युद्ध करना है, न ही अब हिंसा करनी है। अब लड़ना नहीं है। महाभारत के पीछे कृष्ण की क्षमता के व्यक्तियों की शृंखला नहीं हम पैदा कर पाए। अन्यथा महाभारत में जिस ऊंचाई को हमारे देश की चेतना की लहर ने छुआ था, हम हर बार उससे ज्यादा ऊंचाई की लहर को छू सकते थे। और शायद आज हम पृथ्वी पर सबसे ज्यादा संपन्न और सबसे ज्यादा विकसित समाज होते।

यह भी सोचने जैसा है कि महाभारत जैसा युद्ध विपन्न समाजों में घटित नहीं होता। युद्ध के लिए भी संपन्न होना जरूरी है। और संपन्नता के लिए भी युद्ध का घटना जरूरी है। असल में वह चुनौती के क्षण हैं। कृष्ण ने जिस युद्ध में हमें उतारा था, वह युद्ध में अगर हम सतत उतरे होते...क्योंकि इसे हम सोचें, आज करीब-करीब पश्चिम उस जगह है जहां महाभारत के दिनों में हम पहुंच गए थे। आज जितने अस्त्रों-शस्त्रों की बात है, करीब-करीब वे सभी अस्त्र-शस्त्र किसी-न-किसी रूप में महाभारत में प्रयोग किए गए। बड़ा संपन्न, बड़ा प्रतिभाशाली और बहुत वैज्ञानिक उन्नत शिखर था। उस युद्ध से कुछ हानि नहीं हो गई। उस युद्ध के बाद यह निराशा का क्षण हमें पकड़ा। उस निराशा के क्षण का दुरुपयोग हुआ। उस निराशा के क्षण ने पश्चिम में भी पकड़ा है कुछ को। पश्चिम भी भयभीत हो गया है। और पश्चिम का अगर पतन होगा, तो वह पश्चिम में जो शांतिवादी है उसकी वजह से होगा। अगर पश्चिम ने शांतिवादी की बात मान ली, तो पश्चिम पतित हो जाएगा। वह वहीं पहुंच जाएगा, जहां महाभारत के बाद हम पहुंचे।

हिंदुस्तान ने शांतिवादी की बात मान ली। इसलिए पांच हजार वर्ष का लंबा चक्कर चला। इसे थोड़ा सोचना जरूरी है। कृष्ण युद्धवादी नहीं हैं, लेकिन युद्ध को भी जीवन के खेल का हिस्सा मानते हैं। युद्धखोर नहीं हैं, किसी को मिटाने की कोई आकांक्षा नहीं है, किसी को दुख देने का कोई खयाल नहीं है, युद्ध न हो उसके सारे उपाय उन्होंने कर लिए थे, लेकिन, जीवन की और सत्य की और धर्म की कीमत पर युद्ध को बचाने के लिए राजी न थे। आखिर किसी भी चीज के बचाने की एक सीमा है। आखिर युद्ध को भी तो हम इसीलिए नहीं करना चाहते कि जीवन को कोई नुकसान न पहुंचे। लेकिन अगर युद्ध के न होने से ही जीवन को नुकसान पहुंचा जा रहा हो, तो फिर क्या अर्थ रह जाएगा? आखिर शांतिवादी यही तो कहता है कि युद्ध न हो, कि कहीं शांति खंडित न हो जाए। लेकिन अगर युद्ध के न होने से ही शांति खंडित हो रही हो, तो फिर एक निर्णायक युद्ध की सामर्थ्य चाहिए।

तो कृष्ण असल में युद्धखोर या युद्धवादी नहीं हैं, लेकिन, युद्ध से भयभीत और युद्ध से भागे हुए पलायनवादी भी नहीं हैं। कृष्ण कहते हैं, युद्ध न हो तो ठीक। लेकिन युद्ध होना ही हो, तो भागना ठीक नहीं है। और अगर युद्ध होना ही हो, और ऐसा क्षण आ जाए कि मनुष्य के मंगल के लिए और मनुष्य के हित के लिए युद्ध अनिवार्य हो जाए तो इस अनिवार्य युद्ध को फिर आनंद से स्वीकार करना। फिर उसे बोझ की तरह ढोना भी ठीक नहीं है। क्योंकि जो बोझ की तरह युद्ध में जाएगा फिर उसकी हार सुनिश्चित है। जो सिर्फ रक्षा के लिए युद्ध में जाएगा, उसकी हार भी सुनिश्चित है। क्योंकि रक्षा के भाव से भरा हुआ 'डिफेंसिव' जो चित्त है, वह लड़ने में सामर्थ्य और शौर्य नहीं दिखा पाता। वह सिर्फ बचाव के उपाय करता रहता है और सिकुड़ता जाता है। तो कृष्ण लड़ने को भी आनंद बनाने को कहते हैं। दूसरे को दुख पहुंचाने का सवाल नहीं है। लेकिन जिंदगी में चुनाव सदा अनुपात के हैं—शुभ फलित होगा या अशुभ? जरूरी नहीं है कि युद्ध से अशुभ ही फलित हो। कभी न युद्ध करने से अशुभ फलित हो सकता है। अब यह देश हमारा एक हजार साल तक गुलाम रहा। यह हमारे युद्ध करने की क्षमता की क्षीणता का परिणाम था। पांच हजार वर्ष से गरीब और दीन-हीन, यह हमारे शौर्य और हमारे व्यक्तित्व में जो अभय चाहिए उसकी कमी का परिणाम है। जो फैलाव चाहिए, विस्तार का जो भाव चाहिए, उसकी कमी का परिणाम है।

तो कृष्ण के कारण नुकसान नहीं हुआ, कृष्ण की शृंखला नहीं पैदा हो सकती, हम और कृष्ण पैदा नहीं कर सके, इसलिए नुकसान हुआ। और कृष्ण के युद्ध के बाद स्वाभाविक था कि निराशावादी स्वर प्रमुख हो। सदा होता है। और निराशावादी शिक्षक लोगों को समझाएं कि व्यर्थ है यह सब। और देखो कितनी हानि हो गई। और वह स्वर हमारे मन में बैठ गया, और

पांच हजार साल से हम डरी हुई कौम हैं। और जो कौम मरने से डर जाए, युद्ध से डर जाए, वह कौम बहुत गहरे में जीने से भी डर जाती है। तो हम जीने से भी डर गए हैं। हम कंप रहे हैं—न हम जी रहे हैं, न हम मर रहे हैं। हम दोनों के बीच में एक त्रिशंकु की भांति हैं।

अब मेरी समझ यह है कि बर्ट्रेंड रसल, या गांधी, या विनोबा, इनकी बात अगर दुनिया मान लेगी तो नुकसान होगा। युद्ध से भय की कोई जरूरत नहीं है। लेकिन अब पृथ्वी युद्ध के लिए बहुत छोटी पड़ गई है, यह बात जरूर सच है। असल में युद्ध के लिए भी जगह चाहिए। हमारे पास साधन इतने बड़े हो गए हैं कि अब पृथ्वी पर युद्ध नहीं हो सकता, यह बात जरूर सच है। लेकिन यह इसलिए सच नहीं है कि शांतिवादी की बात भय के कारण मानने योग्य है, यह इसलिए सत्य है कि अब हमारे पास साधन बड़े हैं, पृथ्वी छोटी है। अब पृथ्वी पर युद्ध बिलकुल बेमानी है। अब युद्ध की शकल बदलेगी, अब युद्ध का विस्तार और बढ़ेगा। चांद-तारों पर, मंगल पर, ग्रहों-उपग्रहों पर कहीं युद्ध शुरू होंगे। वैज्ञानिकों का अंदाज है कि अंदाजन पचास करोड़ ग्रह होने चाहिए सारे जगत में, जिन पर जीवन होगा। कम-से-कम। तो आज जो भयभीत हो गया है कि हाइड्रोजन बम मत बनाओ और एटम बम मत बनाओ, अगर इसकी, भयभीत आदमी की बात को मान लिया गया, तो इस जगत के विस्तार पर जो अभियान हो सकता है, जो यात्रा हो सकती है, वह नहीं हो सकेगी। और पृथ्वी जरूर उस जगह पहुंच गई है जहां युद्ध बेमानी है। लेकिन यह इसलिए नहीं हुआ है...यह भी समझने जैसी बात है।

युद्ध आज अर्थहीन हो गया है, इसलिए नहीं कि शांतिवादी की बात समझ में आ गई, युद्ध इसलिए अर्थहीन हो गया है कि युद्ध के विज्ञान का पूरा विकास हो गया है, 'टोटल वार' का विकास हो गया है। युद्ध इतना समग्र हो गया है अब कि पृथ्वी पर लाना बिलकुल बेमानी है, क्योंकि युद्ध का तभी तक कोई अर्थ है जब कोई जीतता हो और कोई हारता हो। अब जो युद्ध है उसमें कोई जीतेगा नहीं, कोई हारेगा नहीं। उसमें दोनों एक-साथ मर जाएंगे। अब युद्ध का पृथ्वी पर कोई मतलब नहीं है। और मैं मानता हूं कि इसी वजह से पृथ्वी अब एक हो जाएगी, अब एक 'ग्लोबल विलेज' से ज्यादा उसकी हालत नहीं है। एक छोटा-सा गांव जमीन हो गई है। शायद गांव से भी छोटी। दो गांव के बीच यात्रा में जितना समय लगता था, अब पूरी पृथ्वी का चक्कर लगाने में उतना समय नहीं लगता है। तो पृथ्वी इतनी छोटी हो गई है कि अब युद्ध पृथ्वी पर बेमानी है। और पृथ्वी पर अगर युद्ध होता है तो वह नासमझ बात होगी। इसका यह मतलब नहीं है कि युद्ध न हो, इसका यह मतलब भी नहीं है कि युद्ध अब नहीं होंगे, युद्ध तो होते रहेंगे। लेकिन अब नई भूमियों पर होंगे। नई यात्राएं होंगी उनकी, और नए अभियान होंगे। युद्ध बंद नहीं हुआ, इतने समझाने वालों के बाद भी। वह बंद नहीं हो सकता, वह जीवन का हिस्सा है।

अब यह बड़े मजे की बात है कि युद्ध से क्या-क्या पैदा हुआ। अगर हम बहुत गौर से देखें, तो हमारे सारे सहयोग की, कोआपरेशन की सारी व्यवस्था युद्ध के लिए पैदा हुई। 'कोआपरेशन फॉर कांफ्लिकट'। सारा सहयोग संघर्ष के लिए है। अगर जमीन पर युद्ध न हो तो कोई 'कोआपरेशन', कोई सहयोग भी नहीं होगा।

तो कृष्ण को समझना बहुत जरूरी है। कृष्ण शांतिवादी नहीं हैं, कृष्ण युद्धवादी नहीं हैं। असल में वाद का मतलब ही होता है कि दो में से हम एक को चुनते हैं। कृष्ण अ-वादी हैं। कृष्ण कहते हैं, शांति से शुभ फलित होता हो तो स्वागत है। युद्ध से शुभ फलित होता हो तो स्वागत है। मेरा मतलब समझाने का है—कृष्ण कहते हैं जिससे मंगल-यात्रा गतिमान होती हो, जिससे धर्म विकसित होता हो, जिससे जीवन में आनंद की संभावना बढ़ती हो, स्वागत है उसका। ऐसा स्वागत चाहिए भी।

हमारा देश अगर कृष्ण को समझा होता, तो हम इस भांति नपुंसक न हो गए होते। हमने बहुत अच्छी-अच्छी बातों के पीछे बहुत-बहुत न-मालूम कैसी कुरूपताएं छिपा रखी हैं। हमारी अहिंसा की बात के पीछे हमारी कायरता छिपकर बैठ गई है। हमारे युद्ध-विरोध के पीछे हमारे मरने का डर छिपकर बैठ गया है। लेकिन हमारे युद्ध न करने से युद्ध बंद नहीं होता, हमारे युद्ध न करने से कोई और हम पर युद्ध जारी रखता है। हम लड़ने न जाएं इससे लड़ाई बंद नहीं होती, सिर्फ हम गुलाम बनते हैं। और फिर भी हम लड़ाइयों में घसीटे जाते रहे। यह बड़े मजे की बात है। हम नहीं लड़े, कोई हम पर हावी हो गया, हमें गुलाम बना लिया और फिर हम उसकी फौजों में लड़ते ही रहे। लड़ाई तो कुछ बंद नहीं हुई। कभी हम मुगल

की फौज में लड़े, कभी हम तुर्क की फौज में लड़े, कभी हम हूण की फौज में लड़े। हम खुद ही न लड़े, गुलाम भी रहे और अपनी गुलामी को बचाने के लिए लड़ते रहे। फिर हम अंग्रेज की फौज में लड़े। लड़ाई तो बंद नहीं हुई। हां, इतना ही हो गया कि हम अपनी स्वतंत्रता के लिए लड़ते, अपने जीवन के लिए लड़ते, फिर हम अपनी परतंत्रता के लिए लड़े कि हमारी परतंत्रता कैसे बनी रहे, इसके लिए भी हमारा आदमी मरता रहा। यह दुखद फलर हुआ। यह महाभारत के कारण नहीं। यह फिर से हम महाभारत की हिम्मत न जुटा पाए, उसके कारण।

इसलिए मैं कहता हूं कि कृष्ण को समझना थोड़ा मुश्किल तो है। बहुत आसान है समझ लेना एक शांतिवादी की बात, क्योंकि वह एक पहलू चुन लेता है। बहुत आसान है युद्धवादी की बात—एक हिटलर, एक मुसोलिनी, एक चंगेज, एक तैमूर, नेपोलियन, सिकंदर—युद्धखोरी की बात समझने में भी बहुत मुश्किल नहीं है क्योंकि वह कहते हैं कि युद्ध ही जीवन है। शांतिवादी हैं—रसल हैं, गांधी हैं—उनकी बात भी समझ लेनी बहुत आसान है। वह कहते हैं कि नहीं, शांति ही जीवन है। कृष्ण की बात समझनी बहुत मुश्किल है। क्योंकि वह कहते हज कि जीवन दोनों द्वारों से गुजरता है। वह शांति से भी गुजरता है, वह युद्ध से भी गुजरता है। और अगर तुम्हें शांति बनाए रखनी है तो तुम्हें युद्ध की सामर्थ्य रखनी होगी। और अगर तुम्हें युद्ध जारी रखना है तो तुम्हें शांति में तैयारी भी करनी होगी। ये दो पैर हैं जीवन के। इनमें से एक को भी काटा तो लंगड़े और पंगु हो जाते हैं। चंगेज और तैमूर और मुसोलिनी भी लंगड़े हैं और गांधी और रसल भी लंगड़े हैं। इनके एक-एक पैर हैं। इनसे गति नहीं हो सकती। और इसलिए अगर एक-एक पैर वाले आदमी रहें, तो फिर 'पीरियाडिकल फैशन' रहता है। एक पैर मुसोलिनी का और एक पैर गांधी का। दुनिया ऐसी चलती है। दो पैर तो चाहिए ही—एक पैर मुसोलिनी का चलता है, एक गांधी का चलता है। एक फैशन मुसोलिनी की होती है, फिर एक फैशन गांधी की होती है। जब मुसोलिनी अपना युद्ध कर लेता है और हिटलर और स्टेलिन अपने युद्ध को गुजार जाते हैं, तब रसल और गांधी और बिनोबा की बात हमको एकदम अपील करने लगती है। दस-बीस साल इनकी बात अपील करती है, तब तक यह इतना लंगड़ा पैर ज्यादा देर नहीं चलता, दूसरे पैर की जरूरत पड़ जाती है, फिर कोई माओ खड़ा होगा, फिर कोई खड़ा होगा, फिर युद्ध बीच में आ जाएगा।

कृष्ण के पास दोनों पैर हैं। कृष्ण लंगड़े आदमी नहीं हैं। और मैं मानता हूं कि दोनों पैर प्रत्येक के पास होने चाहिए। जो आदमी लड़ न सके, उसमें कुछ कमी होती है। और जो आदमी लड़ न सके, वह आदमी ठीक अर्थों में शांत भी नहीं हो सकता। वह लंगड़ा हो जाता है। जो आदमी शांत न हो सके, वह विक्षिप्त हो जाता है। और जो आदमी शांत न हो सके वह लड़ेगा कैसे? लड़ने में एक निर्णायक बात तय होनी है कि सारी दुनिया को शांतिवादी बनाना है? एक तरह का मुर्दापन छा जाएगा। जो कि संभव नहीं है, कोई मानेगा नहीं। शांतिवादी अपना जुलूस निकालता रहेगा और शांति के झंडे लगाता रहेगा—कोई मानने वाला नहीं है, कोई जीवन रुकता नहीं है—युद्धखोर, अपनी युद्ध की तैयारी करता रहेगा। फैशन बदलते रहते हैं। दस-बीस साल उसका प्रभाव रहता है, दस-बीस साल इनका प्रभाव रहता है। और ये दोनों एक-दूसरे के साझे में काम चलाते हैं।

कृष्ण की बात समग्र जीवन की है, और अगर हमारी समझ में आ जाए तो न तो शांति को छोड़ने की जरूरत है, न युद्ध को छोड़ने की जरूरत है। युद्ध के तल रोज बदलते जाएंगे, निश्चित ही। क्योंकि कृष्ण कोई चंगेज नहीं हैं। किसी की हत्या करने के लिए, किसी को दुख देने के लिए उनकी कोई आतुरता नहीं है। लेकिन युद्ध के तल बदलते जाएंगे।

अब हम देखें कि युद्ध कितने प्रकार से तल बदलता है।

अगर आदमी आदमी से न लड़े, तो सब आदमी मिलकर प्रकृति से लड़ना शुरू कर देते हैं। अब यह जरा सोचने जैसी बात है कि जिन कौमों में युद्ध चलते रहे, उन्हीं कौमों में विज्ञान भी विकसित हुआ, क्योंकि लड़ने की क्षमता है उनमें। वह आदमी से भी लड़ते हैं, जब फिर वक्त मिलता है तो प्रकृति से भी लड़ लेते हैं। लेकिन हमारी कौम ने महाभारत के बाद प्रकृति से भी कोई लड़ाई नहीं लड़ी। बाढ़ से भी नहीं लड़े, आंधी से भी नहीं लड़े, पहाड़ से भी नहीं लड़े, प्रकृति के किसी तत्त्व से नहीं लड़े, इसलिए विज्ञान विकसित नहीं हो सका। क्योंकि वह तो प्रकृति से लड़ेंगे तो विकसित होगा। आदमी

लड़ता रहे तो आज जमीन की प्रकृति से लड़ेगा और जमीन के राज खोल लेगा, कल वह चांद-तारों की प्रकृति से लड़ेगा; उसका अभियान रुकेगा नहीं।

इसलिए ध्यान रहे कि जो समाज युद्ध में डूबे और उबरे, वे ही समाज चांद पर भी अपने आदमी को उतार पाए हैं। हम नहीं उतार पाए, शांतिवादी नहीं उतार पाया। और चांद आज नहीं कल, युद्ध के अर्थ में बड़ा कीमती है। जिसके हाथ में चांद होगा, उसके हाथ में पृथ्वी होगी। क्योंकि आने वाले युद्ध की मिसाइल्स जिसके हाथ में चांद पर लग जाएंगी, पृथ्वी उसके हाथ में होगी। इसलिए अब झगड़ा पृथ्वी से हट गया है। अब यह तो सब जिसको कहें कि 'फिलस्फाइज़्ड' हैं—वियतनाम है, या कम्बोडिया है, या कुछ और है; हिंदुस्तान-पाकिस्तान हैं—यह सब कोई लड़ाई-झगड़े नहीं हैं, ये सिर्फ नासमझों के चित्त को उलझाए रखने की तरकीबें हैं। कि वह यहां उलझे रहेंगे। असली लड़ाई अब दूसरे तल पर शुरू हो गई है। चांद पर जाने की दौड़ का बहुत गहरा अर्थ दूसरा ही है। वह अर्थ यह है कि जिसके हाथ में कल चांद होगा, उसको पृथ्वी पर कोई चुनौती देने का उपाय नहीं रह जाएगा। उसके एटम और उसके हाइड्रोजन बम की तोपें चांद से पृथ्वी की तरफ लगी होंगी। एक-एक मुल्क के ऊपर उड़कर बम गिराने की जरूरत न रह जाएगी, मुल्क अपने-आप बम की तोप के सामने आते रहते हैं चौबीस घंटे में। वह घूमती रहती है पृथ्वी और पूरे वक्त सामने आते रहते हैं, अपने-आप। कोई अलग-अलग किसी मुल्क पर जाकर एटम को गिराने की जरूरत नहीं है। तो इसलिए इतनी दौड़ थी, और इतना खर्च करके—कोई एक अरब अस्सी करोड़ डालर खर्च हुआ एक आदमी को चांद पर उतारने में। यह कोई खेल नहीं था, इसमें कुछ कारण है पीछे। और कौन पहले उतार देता है यह जरूरी था।

यह दौड़ अब वैसी ही है जैसे एक दिन दौड़ आज से कोई तीन सौ साल पहले यूरोप से एशिया की तरफ लग गई थी और सारे जहाज एशिया की तरफ भागे जा रहे थे—पोर्तगीज भी, स्पैनिश भी और अंग्रेज भी, और सब, फ्रेंच भी और जर्मन भी, सब भागे जा रहे थे। तीन सौ साल पहले जैसे एशिया की जमीन पर कब्जा करना जरूरी हो गया था विस्तारवादी के लिए, विकास के लिए। अब वह बेमानी हो गया, अब कोई मतलब नहीं। एशिया के लोग समझ रहे हैं कि हमारी स्वतंत्रता की लड़ाई ने हमको आजाद किया है, इसमें आधी ही सचाई है। आधी सचाई तो दूसरी है, और वह यह है कि अब एशिया की जमीन पर कब्जा करने का कोई मतलब नहीं रह गया है, अब वह बात खतम हो गई है। वह दौर खतम हो गया है। अब तो कहीं लड़ाई और दूसरी जमीन पर कब्जा करने की है। वहां दृष्टि और जगह चली गई है, अब वहां दौड़ है। कल चांद-तारों पर और दूर तक दौड़ हो जाएगी। शक्ति का एक अभियान है जीवन। उस अभियान में जो मुर्दानगी को पकड़ लेते हैं, वह धीरे-धीरे नष्ट हो जाते हैं।

हम ऐसी ही नष्ट हो गई कौम हैं। और इसलिए भी कृष्ण का संदेश बड़ा अर्थपूर्ण है—हमारे लिए ही हीं, मैं मानता हूं कि पश्चिम भी उस जगह खड़ा हो गया है जहां उसे निर्णायक लड़ाई शायद पृथ्वी पर एक बार और लड़नी पड़े। निश्चित ही पृथ्वी पर नहीं होगी, अगर पृथ्वी के प्रतियोगियों में भी लड़ाई होगी तो चांद या मंगल पर होगी। पृथ्वी पर कोई अर्थ नहीं है लड़ाई लड़ने का, क्योंकि दोनों मर जाएंगे। अगर उन दोनों को भी लड़ना है तो उन दोनों को भी किसी दूसरे ग्रह-उपग्रह पर ही लड़कर तय करना पड़ेगा कि कौन जीतता है।

इस निर्णायक लड़ाई में भी क्या होगा, शायद हालतें फिर वैसी ही खड़ी हो गई हैं जैसी महाभारत के समय। महाभारत के समय भी दो वर्ग थे। एक वर्ग था जो निपट भौतिकवादी था, जिसकी पूरी दृष्टि शरीर के अतिरिक्त किसी को स्वीकार नहीं करती थी। जिसकी दृष्टि भोग के अतिरिक्त किसी तरह के योग के लिए कोई क्षमता न रखती थी। आत्मा का होना न होने की बात थी। जिंदगी थी भोग, लूट-खसोट। जिंदगी शरीर से और शरीर की इंद्रियों के बाहर कोई अर्थ न रखती थी। एक वर्ग। उसी वर्ग के खिलाफ वह संघर्ष हुआ था। कृष्ण को उस संघर्ष को करवाना पड़ा था। जरूरी हो गया था कि शुभ की शक्तियां कमजोर और नपुंसक सिद्ध न हों, वह अशुभ की शक्तियों के सामने खड़ी हो जाएं।

आज फिर करीब-करीब हालत वैसी हो गई है और हो जाएगी बीस साल के भीतर। एक तरफ भौतिकवाद, 'मटीरियलिज्म' अपनी पूरी ताकत के साथ खड़ा हो गया जाएगा, और दूसरी तरफ फिर कमजोर ताकतें होंगी शुभ की। शुभ में एक बुनियादी कमजोरी है। वह लड़ने से हटना चाहता है। अर्जुन भला आदमी है। अर्जुन शब्द का मतलब होता है,

सीधा-सादा। तिरछा-इरछा जरा-भी नहीं। अ-रिजु। बहुत सीधा-सादा आदमी है। सरल चित्त है। देखता है कि फिजूल की झंझट कौन करे, हट जाओ। अर्जुन सदा ही हटता रहा है। वह जो अ-रिजु आदमी है, जो सीधा-सादा आदमी है, वह हट जाता है। वह कहता है, मत झगड़ा करो, जगह छोड़ दो। कृष्ण अर्जुन से कहीं ज्यादा सरल हैं, लेकिन सीधे-सादे नहीं। कृष्ण की सरलता की कोई माप नहीं है। लेकिन सरलता कमजोरी नहीं है, और सरलता पलायन नहीं है। वह जम कर खड़े हो गए हैं, वे नहीं भागने देंगे। शायद फिर पृथ्वी दो हिस्सों में बंट जाएगी। सदा ऐसा होता है, कि निर्णायक, 'डिसीसिव मॉमेंट' आ जाते हैं, जब फिर लड़ने की बात होती है। उसमें गांधी और विनोबा और रसल काम नहीं पड़ेंगे। क्योंकि एक अर्थ में वे सब अर्जुन हैं। वे कहेंगे, हट जाओ; वे कहेंगे, मर जाओ लेकिन लड़ो मत।

कृष्ण जैसे व्यक्तित्व की फिर जरूरत है जो कहे कि शुभ को भी लड़ना चाहिए। शुभ को भी तलवार हाथ में लेने की हिम्मत रखनी चाहिए। निश्चित ही शुभ जब हाथ में तलवार लेता है, तो किसी का अशुभ नहीं होता। अशुभ हो नहीं सकता। क्योंकि लड़ने के लिए कोई लड़ाई नहीं है। लेनि अशुभ जीत न पाए, इसलिए लड़ाई है।

तो धीरे-धीरे दो हिस्से दुनिया के बंट जाएंगे, जल्दी ही, जहां एक हिस्सा भौतिकवादी होगा और एक हिस्सा स्वतंत्रता, लोकतंत्र, व्यक्ति और जीवन के और मूल्यों के लिए होगा। लेकिन क्या ऐसे दूसरे शुभ के वर्ग को कृष्ण मिल सकते हैं? मिल सकते हैं। क्योंकि जब भी मनुष्य की स्थितियां इस जगह आ जाती हैं जहां कि कुछ निर्णायक घटना घटने को होती है, तो हमारी स्थितियां उस चेतना को भी पुकार लेती हैं उस चेतना को भी जन्म दे देती हैं। वह व्यक्ति भी जन्म जाता है। इसलिए भी मैं कहता हूं कि कृष्ण का भविष्य के लिए बहुत अर्थ है। और जब साधारण, सीधे-सादे, अच्छे आदमियों की आवाजें बेमानी हो जाएंगी—क्योंकि बुरा आदमी अच्छे आदमी की आवाजों से न डरता है, न भय खाता है, न रुकता है। तो वह बढ़ता चला जाता है। बल्कि अच्छा आदमी जितना सिकुड़ता है, बुरे आदमी के लिए उतना ही आनंदपूर्ण हो जाता है।

महाभारत के बाद हिंदुस्तान में बहुत अच्छे आदमी हुए—बुद्ध हैं, महावीर हैं—इनकी अच्छाई की कोई कमी नहीं है। इनकी अच्छाई की कोई सीमा नहीं है। लेकिन इनकी अच्छाई के प्रभाव में मुल्क सिकुड़ गया। हमारा चित्त सिकुड़ गया। और उस सिकुड़े हुए चित्त पर सारी दुनिया के आक्रामक टूट पड़े। आक्रमण करने ही हम नहीं जाते हैं, आक्रमण को बुलाते भी हमीं हैं। और जब तुम किसी को मारते हो, तभी तुम जिम्मेवार नहीं होते, जब तुम किसी की मार खाते हो तब भी तुम जिम्मेवार होते ही हो। क्योंकि किसी के चेहरे पर चांटा मारना भी एक कृत्य है जिसमें पचास प्रतिशत तुम जिम्मेवार हो, पचास प्रतिशत वह आदमी जिम्मेवार है जिसने चांटे को निमंत्रित किया है। सहा, 'पैसीविटी' दिखाई, स्वीकार किया, बुलाया कि मारो। अगर तुम पर कोई चांटा मारता है तो पचास 'परसेंट' तुम भी जिम्मेवार होते हो, तुम बुलाते हो।

अच्छे आदमियों की एक लंबी कतार ने—निपट अच्छे आदमियों की लंबी कतार ने—इस मुल्क के मन को सिकोड़ दिया, और हमने बुलाया, आमंत्रण दिया कि आओ। हमारा आमंत्रण मानकर बहुत लोग आए। उन्होंने हमें वर्षों तक गुलाम रखा, दबाया, परेशान किया। अपनी मौज से वे चले भी गए। लेकिन हम अभी भी, हमारी मनोदशा संकोच की ही है। हम फिर किसी को बुला सकते हैं। अगर कल माओ प्रवेश कर जाए इस मुल्क में, तो उसके लिए जिम्मेदार अकेला माओ नहीं होगा। लेनिन ने बहुत वर्षों पहले एक भविष्यवाणी की थी कि मास्को से कम्यूनिज्म पेकिंग और कलकत होता हुआ लंदन पहुंचेगा। उसकी भविष्यवाणी बड़ी सही मालूम पड़ती है। पेकिंग तो पहुंच गया। कलकत्ते में उसकी पगध्वनि सुनाई पड़ने लगी है। लंदन ज्यादा दूर नहीं है। अब कलकत्ते में कम्यूनिज्म को प्रवेश करने में कोई कठिनाई नहीं है; क्योंकि भारत का का मन सिकुड़ा हुआ है। वह आ जाएगा, उसको स्वीकार करके देश और दब जाएगा।

इसलिए इस देश को तो कृष्ण पर पुनर्विचार करना ही चाहिए।

'कृष्ण यदि आज होते तो यह विश्व जो दो गुटों में बंटा है, उसमें किस गुट का पक्ष लेते?'

असल में जब भी ऐसे संकट का क्षण होता है जब कि निर्णय करना हो कि कौन शुभ है, कौन अशुभ है, तो सदा ही कठिनाई होती है। उस दिन भी आसान नहीं थी बात। क्योंकि दुर्योधन ही नहीं था उस तरफ, उस तरफ भीष्म भी थे, उस तरफ अच्छे लोग भी थे। और कृष्ण ही नहीं थे, अर्जुन ही नहीं थे इस तरफ, इस तरफ भी बुरे लोग थे। निर्णायक क्षण में तय करना सदा ही मुश्किल होता है। लेकिन, मूल्य कुछ निर्धारण करते हैं।

दुर्योधन किसलिए लड़ता था? आदमी उसके पास अच्छे थे या बुरे, यह उतना, बड़ा मूल्यवाननहीं है, वह लड़ किसलिए रहा था? उस लड़ने के मूल्य क्या थे, 'वैल्यूज' क्या थे? कृष्ण अगर लड़ने को प्रेरित कर रहे थे अर्जुन को तो मूल्य क्या थे? एक तो बड़े-से-बड़ा जो निर्णायक मूल्य था वह था न्याय, 'जस्टिस'। न्याय क्या है? न्याययुक्त क्या था? तो आज फिर हमें निर्णय करना पड़े कि न्याययुक्त क्या है, न्याय क्या है? अब जैसे मेरी समझ में स्वतंत्रता न्याय है, परतंत्रता अन्याय है। जो 'ग्रुप', जो वर्ग, जो गुट मनुष्य को किसी तरह की परतंत्रता में ढकेलता हो, वह अन्याय का पक्ष है। उस तरफ अच्छे आदमी भी हो सकते हैं, क्योंकि अच्छे आदमी भी जरूरी नहीं है कि बहुत दूरद्रष्टा हों। 'कनफ्यूज्ड' होते हैं। उनको भी पता नहीं हो सकता है कि वह जो कर रहे हैं वह बुरे पक्ष में जा रहा है।

स्वतंत्रता बहुत ही कसौटी की बात है। मनुष्य की स्वतंत्रता जिस बात से बढ़ती हो, ऐसा समाज, ऐसा जगत चाहिए। जिस बात से स्वतंत्रता कम होती हो, ऐसा समाज और ऐसा जगत नहीं चाहिए। स्वभावतः जो लोग परतंत्रता भी लाना चाहें, वे भी परतंत्रता शब्द का उपयोग नहीं करेंगे। क्योंकि उस शब्द का तो कोई उपयोग सुनके ही हट जाएगा। वे भी ऐसे शब्द खोजेंगे जिनसे परतंत्रता आती हो, लेकिन परतंत्रता का भाव न पता चलता हो। ऐसा एक नया शब्द समानता है, 'इक्वालिटी'। यह शब्द बहुत चालाकी से भरा हुआ है। और कुछ लोग हैं जो स्वतंत्रता को एक तरफ काट कर समानता की गुहार पर हैं। वे कहते हैं, समानता चाहिए। वे यह भी कहते हैं कि समानता के बिना स्वतंत्रता कैसे हो सकती है? वे कहते हैं, प्राथमिक चीज समानता है। और वे यह भी कहते हैं, समानता के बिना स्वतंत्रता कैसे हो सकती है? और यह बात समझ में पड़ेगी अनेकों को कि ठीक ही तो बात है, जब तक सब लोग समान नहीं हैं तो सब लोग स्वतंत्र कैसे हो सकते हैं। और तब इस समानता को लाने के लिए अगर स्वतंत्रता भी काटनी पड़ती हो तो फिर हम तैयार हो जाते हैं।

अब यह बड़ा मजेदार तर्क है। समानता इसलिए लानी है कि स्वतंत्रता आ सके, और स्वतंत्रता इसलिए काटनी पड़ती है क्योंकि समानता लानी है। और एक बार स्वतंत्रता खोने के बाद उसे लाना बहुत असंभव है। उसे कौन लाएगा? मैं तुमसे कहता हूं, यहां सब इकट्ठे हैं, मैं इन सबको कहता हूं कि तुम सबको समान करने के लिए सबको पहले जंजीर पहनानी पड़ेगी। क्योंकि जंजीर बिना पहनाए, किसी का सिर बड़ा है, किसी के हाथ लंबे हैं, किसी के पैर छोटे हैं, इन सबको काटा नहीं जा सकता। तो सबको समान करने के लिए पहले जंजीरें डाल दी जाती हैं, फिर सबके हाथ-पैर काटकर हम सबको समान कर देंगे। लेकिन जो सबको समान करेगा, वह तो असमान रह ही जाएगा। वह तो आपके बाहर रह जाएगा, उसके हाथ तो खुले होंगे, जंजीरें नहीं होंगी और उसके हाथ में तलवार होगी। और एक बार जब सबके हाथों में जंजीर रहेगी और कुछ लोगों के हाथ में तलवारें होंगी और हाथ-पैर कट चुके होंगे, तब तुम करोगे क्या?

ऐसा खयाल था मार्क्स का कि एक बार समानता लाने के लिए स्वतंत्रता खोनी पड़ेगी, व्यक्तिगत स्वतंत्रता नष्ट करनी पड़ेगी; एक अधिनायकशाही, एक 'डिक्टेटरशिप' चाहिए होगी; फिर जब पूरा हो जाएगा काम समानता का तब स्वतंत्रता दे दी जाएगी। लेकिन जिनके हाथ में इतनी ताकत होगी सबको समान करने की, वह स्वतंत्रता देंगे? लक्षण नहीं दिखाई पड़ते हैं। बल्कि जितनी ताकत उसकी बढ़ जाती है और जितना आदमी पंगु हो जाता है, उतनी ही स्वतंत्रता की बात ही खतम हो जाती है, क्योंकि तुम पूछ नहीं सकते, आवाज भी नहीं उठा सकते, बगावत नहीं कर सकते।

समानता की आड़ में स्वतंत्रता कटेगी। और स्वतंत्रता एक बार कट जाए, तो लौटना बहुत मुश्किल मामला है। क्योंकि जब स्वतंत्रता कट जाती है तो काटनेवाला स्वतंत्रता की भविष्य की संभावनाओं को भी काट देता है। और दूसरी बात यह है कि स्वतंत्रता तो एक बिलकुल ही सहज तत्व है। जो प्रत्येक को मिलना चाहिए और समानता बिलकुल असहज बात है जो मिल नहीं सकती। यह अ-मनोवैज्ञानिक है कि हम आदमी को समान करें। आदमी समान हो नहीं सकता। आदमी समान है

नहीं। आदमी मूलतः असमान है, स्वतंत्रता जरूर चाहिए, और इसलिए स्वतंत्रता चाहिए कि प्रत्येक व्यक्ति जो हो सकता है वह हो सके, उसे उसका पूरा मौका चाहिए।

तो मेरी दृष्टि में स्वतंत्रता का पक्ष कृष्ण का पक्ष है, समानता का नहीं हो सकता। स्वतंत्रता हो तो धीरे-धीरे असमानता कम हो सकती है। ध्यान रहे, मैं कह रहा हूं, असमानता कम हो सकती है। यह नहीं कह रहा हूं कि समानता आ सकती है। स्वतंत्रता रहे तो असमानता धीरे-धीरे कम हो सकती है। लेकिन समानता अगर जबर्दस्ती थोप दी जाए, तो स्वतंत्रता कम होती चली जाएगी। जबर्दस्ती थोपी कोई भी चीज परतंत्रता का ही पर्याय है। तो मूल्य चुनने पड़ेंगे। व्यक्ति का मूल्य कीमती है।

सदा से ही जो अशुभ है, वह व्यक्ति को मूल्य नहीं देना चाहता, क्योंकि व्यक्ति ही विद्रोह का तत्व है। इसलिए अशुभ की शक्तियां समूह को मानती हैं, व्यक्ति को नहीं मानतीं। और यह भी जानकर तुम हैरान होओगे कि अगर तुम्हें कोई अशुभ कार्य करना हो, तो व्यक्ति से करवाना बहुत मुश्किल है, समूह से करवाना सदा आसान है। एक अकेले हिंदू से मस्जिद में आग लगवानी बहुत मुश्किल है। हिंदुओं की भीड़ से लगवानी बहुत आसान है। एक अकेले मुसलमान से एक हिंदू बच्चे की छाती में छुरा घुसवाना बहुत कठिन है, लेकिन मुसलमान की भीड़ से बहुत आसान है। असल में जितनी बड़ी भीड़ होती है, आत्मा उतनी कम हो जाती है। क्योंकि आत्मा के होने का जो तत्व है वह व्यक्तिगत दायित्व है, 'इंडिवीजुअल रिसपांसिबिलिटी' है। जब मैं तुम्हारी छाती में छुरा भोंकता हूं, तो मेरा अंतःकरण कहता है कि क्या कर रहे हो? लेकिन जब मैं सिर्फ एक भीड़ के साथ चलता हूं और आग लगती है, तो मैं सिर्फ भीड़ का एक हिस्सा होता हूं, मेरा अंतःकरण कभी भी नहीं कहता तुम क्या कर रहे हो? मैं कहता हूं, लोग कर रहे हैं। हिंदू कर रहे हैं, मैं तो सिर्फ साथ हूं। और कल मुझे कभी व्यक्तिगत रूप से जिम्मेदार नहीं ठहराया जा सकता। अशुभ जो है वह सदा ही समूह को आकर्षित करना चाहता है। अशुभ जो है वह भीड़ पर निर्भर करता है। और अशुभ चाहता है कि व्यक्ति मिट जाए, भीड़ रह जाए। शुभ व्यक्ति को स्वीकार करता है और चाहता है भीड़ धीरे-धीरे खतम हो जाए, व्यक्ति रह जाएं। व्यक्ति रहेंगे तो संबंध रहेंगे, लेकिन वह भीड़ नहीं होगी, वह समाज होगा।

अब इसे भी थोड़ा समझ लेने जैसा है, जहां व्यक्ति हों, वहीं समाज हो सकता है। और जहां व्यक्ति की सत्ता कम हो जाए वहां सिर्फ भीड़ होती है, समाज नहीं होता। समाज और भीड़ में इतना ही फर्क है। व्यक्तियों के अंतस□बंध का नाम समाज है, लेकिन व्यक्ति होने चाहिए। मैं स्वतंत्र रूप से तुमसे, स्वतंत्र व्यक्ति के साथ जब संबंधित होता हूं, तो समाज होता है। एक जेलखाने में समाज नहीं होता, सिर्फ भीड़ होती है। कैदी भी संबंधित होते हैं, एक-दूसरे को देखकर हंसते भी हैं, एक-दूसरे को सिगरेट-बीड़ी भी भेज देते हैं, लेकिन भीड़ होती है, समाज नहीं होता। वे सब वहां इकट्ठे किए गए हैं। अपनी स्वतंत्रता का उनका चुनाव नहीं है। इसलिए स्वतंत्रता, व्यक्ति, व्यक्तित्व, आत्मा, धर्म और अदृश्य और अज्ञात की संभावना जिस पक्ष की तरफ प्रबल होगी—प्रबल कह रहा हूं, क्योंकि निर्णायक नहीं होता बहुत कि इस पक्ष के तरफ है और इसकी तरफ बिलकुल नहीं है। राम और रावण लड़ते हों, तो भी पक्का नहीं होता, बहुत साफ नहीं होता। क्योंकि रावण में भी थोड़ा राम तो होता है और राम में भी थोड़ा रावण तो होता ही है। कौरवों में भी थोड़ा पांडव तो होता है, पांडवों में भी थोड़ा कौरव होता ही है। ऐसा अच्छे से अच्छा आदमी नहीं है पृथ्वी पर जिसमें बुरा थोड़ा-सा न हो। और ऐसा बुरा आदमी भी नहीं खोजा जा सकता, जिसमें थोड़ा-सा अच्छा न हो। इसलिए सवाल सदा अनुपात का और प्रबलता का है। स्वतंत्रता, व्यक्ति, आत्मा, धर्म, ये मूल्य हैं, जिनकी तरफ शुभ की चेतना साथ होगी।

2- इहलौकिक जीवन के समग्र स्वीकार के प्रतीक कृष्ण

'भगवान श्री, आपको श्रीकृष्ण पर बोलने की प्रेरणा कैसे व क्यों हुई? इस लंवी चच
ा का मूल आधार क्या है?'

★ सोचना हो, बोलना हो, समझना हो, तो कृष्ण से ज्यादा महत्वपूर्ण व्यक्ति खोजना मुश्किल है। ऐसा नहीं कि और महत्वपूर्ण व्यक्ति हुए हैं, लेकिन कृष्ण का महत्व अतीत के लिए कम और भविष्य के लिए ज्यादा है। सच ऐसा है कि कृष्ण अपने स मय के कम से कम पांच हजार वर्ष पहले पैदा हुए। सभी महत्वपूर्ण व्यक्ति अपने स मय के पहले पैदा होते हैं, और सभी गैर-महत्वपूर्ण व्यक्ति अपने समय के बाद पैदा होते हैं। बस महत्वपूर्ण और गैर-महत्वपूर्ण व्यक्ति में इतना ही फर्क है। और सभी साधारण व्यक्ति अपने समय के साथ पैदा होते हैं।

महत्वपूर्ण व्यक्ति अपने समय के बहुत पहले पैदा हो जाता है। और कृष्ण तो अपने समय के बहुत पहले पैदा हुए हैं। शायद आनेवाले भविष्य में हम कृष्ण को समझने में योग्य हो सकेंगे। अतीत कृष्ण को समझने में योग्य नहीं हो सका।

और यह भी खयाल कर लें कि जिसे हम समझने में योग्य नहीं हो पाते, उसकी हम पूजा करना शुरू कर देते हैं। जो हमारी समझ के बाहर छूट जाता है, उसकी हम पूजा करने लगते हैं। या तो हम गाली देते हैं, या प्रशंसा करते हैं, दोनों ही पूजाएं हैं—एक शत्रु की है, एक मित्र की है। जिसे हम नहीं समझ पाते, उसे हम भगवान बना लेते हैं। असल में अपनी नासमझी को स्वीकार करना बहुत कठिन होता है। दूस रे को भगवान बना देना बहुत आसान होता है। लेकिन दोनों एक ही सिक्के के दो पहलू हैं।

जिसे हम नहीं समझ पाते उसे हम क्या कहें—उसे हम भगवान कहना शुरू कर देते हैं। भगवान कहने का मतलब है कि जैसे हम भगवान को नहीं समझ पा रहे हैं वैसे ही इस व्यक्ति को भी नहीं समझ पा रहे हैं। जैसा भगवान बेबूझ है, वैसा ही यह व यक्ति भी अबूझ है। जैसे भगवान रहस्य है, वैसा ही यह व्यक्ति भी रहस्य है। जैसे भगवान को हम नहीं छू पाते, पकड़ पाते, स्पर्श कर पाते, वैसे ही इस व्यक्ति को भी नहीं छू पाते, नहीं पकड़ पाते। जैसे भगवान सदा ही जानने को शेष रह जाता है वैसा ही यह व्यक्ति भी सदा जानने को शेष रह जाता है।

समय के पहले जो लोग पैदा हो जाते हैं, उनकी पूजा शुरू हो जाती है। लेकिन अब वह वक्त करीब आ रहा है जब कृष्ण की पूजा से अर्थ नहीं होगा, कृष्ण को जीना शुरू हो सकेगा, कृष्ण को जिया जा सकेगा। ठीक इसीलिए कृष्ण को चुना चर्चा के लिए, क्योंकि आने वाले भविष्य के संदर्भ में सबसे सार्थक व्यक्तित्व उन्हीं का मुझे मालूम पड़ता है। तो दो-तीन बातें इस संबंध में आपसे कहूं।

एक बात, कृष्ण को छोड़कर दुनिया के समस्त अदभुत व्यक्ति—चाहे महावीर, चाहे बुद्ध, चाहे क्राइस्ट, या कोई और—ये सभी परलोक के लिए जी रहे थे। आने वाले कि सी जीवन के लिए, आने वाले किसी लोक के लिए; परलोक के लिए, मोक्ष के लि ए, स्वर्ग के लिए। मनुष्य का पूरा अतीत पृथ्वी पर इतना दुखद था कि पृथ्वी पर तो जीना ही संभव नहीं था। मनुष्य का पूरा अतीत इतनी पीड़ाओं, इतनी 'सफरिंग', इतनी कठिनाइयों का था कि इस पृथ्वी के जीवन को स्वीकार करना मुश्किल था। तो अतीत के समस्त धर्म पृथ्वी को अस्वीकार करने वाले धर्म हैं, सिर्फ एक कृष्ण क

ो छोड़कर। कृष्ण इस पृथ्वी के पूरे जीवन को पूरा ही स्वीकार करते हैं। वे किसी प रलोक में जीने वाले व्यक्ति नहीं, इसी पृथ्वी पर, इसी लोक में जीने वाले व्यक्ति हैं । बुद्ध, महावीर का मोक्ष इस पृथ्वी के पार कहीं दूर है, कृष्ण का मोक्ष इसी पृथ्वी पर, यहीं और अभी है।

इस जीवन की, जिसे हम जानते हैं, इस जीवन की इतनी गहरी स्वीकृति किसी व्यक्ति ने कभी भी नहीं दी है। आने वाले भविष्य में पृथ्वी पर दुख कम हो जाएंगे, सुख बढ़ जाएंगे और पहली बार पृथ्वी पर त्यागवादी व्यक्तियों की स्वीकृति मुश्किल हो जाएगी। दुखी समाज त्याग को स्वीकार कर सकता है, सुखी समाज त्याग को स्वीकार नहीं कर सकता। दुखी समाज में त्याग, संन्यास, 'रिनंसिएशन'; क्योंकि दुखी समाज में कोई कह सकता है, सिवाय दुख के जीवन में क्या है, हम छोड़कर जाते हैं। सुखी समाज में यह नहीं कहा जा सकता कि जीवन में सिवाय दुख के क्या है। अर्थहीन हो जाएगी यह बात।

इसलिए त्यागवादी धर्म की कोई बात भविष्य के लिए सार्थक नहीं है, विज्ञान उन सारे दुखों को अलग कर देगा जो जिंदगी में दुख मालूम पड़ते थे। बुद्ध ने कहा है, जन्म दुख है, जीवन दुख है, जरा दुख है, मृत्यु दुख है, ये सब दुख हैं। दुख अब मिटाए जा सकेंगे। जन्म दुख नहीं होगा--न मां के लिए, न बेटे के लिए। जीवन दुख नहीं होगा, बीमारियां काटी जा सकेंगी। जरा नहीं होंगी और बुढ़ापे से आदमी को जल्दी ही बचा लिया जा सकेगा और जीवन को भी लंबा किया जा सकता है। इतना लंबा किया जा सकता है कि अब विचारणीय यह नहीं होगा कि आदमी क्यों मर जाता है, विचारणीय यह होगा कि आदमी इतना लंबा क्यों जीये? यह बहुत निकट भविष्य में सब हो जाने वाला है। उस दिन बुद्ध का वचन--जन्म दुख है, जरा दुख है , जीवन दुख है, मृत्यु दुख है, बहुत समझना मुश्किल हो जाएगा। उस दिन कृष्ण की बांसुरी सार्थक हो सकेगी। उस दिन कृष्ण का गीत और कृष्ण का नृत्य सार्थक हो सकेगा। उस दिन जीवन सुख है, यह चारों ओर नाच उठेगी घटना। जीवन सुख है, इसके फूल चारों ओर खिल जाएंगे। इन फूलों के बीच में नग्न खड़े हुए महावीर का संदर्भ खो जाता है। इन फूलों के बीच में जीवन के प्रति पीठ करके जानेवाले व्यक्तित्व का अर्थ खो जाता है। इन फूलों के बीच में तो जो नाच सकेगा वही सार्थक हो सकता है। भविष्य में दुख कम होता जाएगा और सुख बढ़ता जाएगा, इसलिए मैं सोचता हूं कि कृष्ण की उपयोगिता रोज-रोज बढ़ती जानेवाली है।

अभी तक हम सोच नहीं सकते कि धार्मिक आदमी के ओठों पर बांसुरी कैसे है। अभी तक हम सोच ही नहीं सकते हैं कि धार्मिक आदमी और मोर का पंख लगाकर नाच कैसे रहा है। धार्मिक आदमी प्रेम कैसे कर सकता है, गीत कैसे गा सकता है। धार्मिक आदमी का हमारे मन में खयाल ही यह है कि जो जीवन को छोड़ रहा है, त्याग रहा है, उसके ओंठों से गीत नहीं उठ सकते, उसके ओंठ से दुख की आह उठ सकती है। उसके ओंठों पर बांसुरी नहीं हो सकती है। यह असंभव है। इसलिए कृष्ण को समझना अतीत को बहुत ही असंभव हुआ। कृष्ण को समझा नहीं जा सका।

इसलिए कृष्ण बहुत ही बेमानी, अतीत के संदर्भ में बहुत 'एब्सर्ड', असंगत थे। भविष्य के संदर्भ में कृष्ण रोज संगत होते चले जाएंगे। और ऐसा धर्म पृथ्वी पर अब शीघ्र ही पैदा हो जाएगा जो नाच सकता है, गा सकता है, खुश हो सकता है। अतीत का समस्त धर्म रोता हुआ, उदास, हारा हुआ, थका हुआ, पलायनवादी, 'एस्केपिस्ट' है। भविष्य का धर्म जीवन को, जीवन के रस को स्वीकार करने वाला, आनंद से, अनुग्रह से नाचने वाला, हंसने वाला धर्म होने वाला है।

जीवन की यह जो संभावना है—जीवन की यह जो भविष्य की संभावना है, इस भविष्य की संभावनाओं को खयाल में रखकर कृष्ण पर बात करने का मैंने विचार किया है। हमें भी समझना मुश्किल पड़ेगा, क्योंकि हम भी अतीत के दुख के संस्कारों से ही भरे हुए हैं। और धर्म को हम भी आंसुओं से जोड़ते हैं, बांसुरियों से नहीं। शायद ही हमने कभी ऐसा आदमी देखा हो जो कि इसलिए संन्यासी हो गया हो कि जीवन में बहुत आनंद है। हां, किसी की पत्नी मर गई है और जीवन दुख हो गया है और वह संन्यासी हो गया। किसी का धन खो गया है, दिवालिया हो गया है, आंखें आंसुओं से भर गई हैं और वह संन्यासी हो गया। कोई उदास है, दुखी है, पीड़ित है, और संन्यासी हो गया है। दुख से संन्यास निकला है। लेकिन आनंद से? आनंद से संन्यास नहीं निकला। कृष्ण भी मेरे लिए एक ही व्यक्ति हैं जो आनंद से संन्यासी हैं।

निश्चित ही आनंद से जो संन्यासी है वह दुख वाले संन्यासी से आमूल रूप से भिन्न होगा। जैसे मैं कह रहा हूं कि भविष्य का धर्म आनंद का होगा, वैसे ही मैं यह भी कहता हूं कि भविष्य का संन्यासी आनंद से संन्यासी होगा। इसलिए नहीं कि एक परिवार दुख दे रहा था इसलिए एक व्यक्ति छोड़कर संन्यासी हो गया, बल्कि एक परिवार उसके आनंद के लिए बहुत छोटा पड़ता था। पूरी पृथ्वी को परिवार बनाने के लिए संन्यासी हो गया। इसलिए नहीं कि एक प्रेम जीवन में बंधन बन गया था, इसलिए कोई प्रेम को छोड़कर संन्यासी हो गया, बल्कि इसलिए कि एक प्रेम इतने आनंद के लिए बहुत छोटा था, सारी पृथ्वी का प्रेम जरूरी था, इसलिए कोई संन्यासी हो गया। जीवन की स्वीकृति और जीवन के आनंद और जीवन के रस से निकले हुए संन्यास को जो समझ पाएगा, वह कृष्ण को भी समझ पा सकता है।

नहीं, भविष्य में अगर कोई कहेगा कि मैं दुख के कारण संन्यासी हो गया तो हम कहेंगे कि दुख से कोई संन्यासी कैसे हो सकता है। और दुख से जो संन्यास निकलेगा वह आनंद में ले जाने वाला नहीं होगा। दुख से जो संन्यास निकलेगा वह ज्यादा-से-ज्यादा उदासी में ले जा सकता है, आनंद में नहीं ले जा सकता। क्योंकि दुख से जो संन्यास निकलेगा वह दुख को कम ही कर सकता है ज्यादा-से-ज्यादा, आनंद को पैदा नहीं कर सकता। दुख की स्थितियों को छोड़कर आप दुख को कम कर लेंगे, लेकिन आनंद को उपलब्ध नहीं हो सकते। आनंद से जिस संन्यास का जन्म होगा, जो गंगा आनंद से पैदा होगी, वही आनंद के सागर तक पहुंच सकती है। क्योंकि तब आनंद को बढ़ाना ही साधना होगी। अतीत की साधना दुख को कम करने की साधना थी। और दुख को कम करने वाला साधक दुख को कम कर लेगा, लेकिन यह 'निगे

टिव', नकारात्मक होगा, ज्यादा-से-ज्यादा उपलब्धि उसकी उदासी की होगी, जो दुख का क्षीणतम रूप है। इसलिए संन्यासी हमारा उदास, हारा हुआ, भागा हुआ है, जीता हुआ, जीवंत, आनंद से नाचता हुआ संन्यासी नहीं है।
कृष्ण मेरे लिए आनंद के संन्यासी हैं। आनंद के संन्यास की संभावना के कारण जान कर ही मैंने चुना कि उन पर बात करूं। ऐसा नहीं है कि कृष्ण पर बातें नहीं की गईं। लेकिन कृष्ण पर जिन्होंने बातें की हैं वे भी दुख से भरे हुए संन्यासी थे। इसलिए कृष्ण की आज तक की व्याख्या कृष्ण के साथ अन्याय करती रही है। करेगी ही। अगर शंकर कृष्ण की व्याख्या करेंगे तो एक उलटा ही आदमी कृष्ण की व्याख्या कर रहा है। शंकर की व्याख्या कृष्ण के साथ न्यायसंगत नहीं हो सकती। कृष्ण की व्याख्या अतीत में संगत हो ही नहीं सकी। क्योंकि जो व्याख्याकार थे, जो कृष्ण पर कह रहे थे, बोल रहे थे, वे सब दुख से आए हुए थे। वे इस जगत को माया सिद्ध करना चाहते थे, वे इस जगत को दिव्य कह रहे हैं। इसलिए कृष्ण के लिए सब स्वीकार है। अस्वीकार है ही नहीं। 'टोटल एक्सेप्टबिलिटी' का, समस्त को स्वीकार लेने का ऐसा व्यक्तित्व कभी पैदा ही नहीं हुआ है।
धीरे-धीरे रोज जब हम बात करेंगे तो बहुत-सी बातें खयाल में आ सकेंगी। लेकिन मेरे लिए कृष्ण शब्द भविष्य के लिए इंगित और बहुत सूचक है। इसलिए इस पर बात करने को तय किया है।

'आपने अभी कहा कि बुद्ध और महावीर जैसे संन्यासी दुखवादी हैं। लेकिन संन्यास उनके वैभवपूर्ण जीवन से निकला है, संन्यास उनके वैभव का अगला चरण है, इसलिए उसके आधार में आप दुख को नहीं रख सकेंगे।'

★ नहीं, मैंने महावीर और बुद्ध को दुखवादी संन्यासी नहीं कहा। अतीत का संन्यास दुखवादी था। महावीर का व्यक्तित्व भी अगर हम देखें, और बुद्ध का व्यक्तित्व अगर देखें, तो भी जीवन को छोड़ने वाला है। महावीर और बुद्ध दुखवादी हैं, ऐसा मैंने नहीं कहा, क्योंकि मैं महावीर और बुद्ध को मानता हूं कि उन्होंने पाया है। महावीर का दुख बहुत भिन्न है। महावीर का दुख सुख की ऊब है। बुद्ध का दुख सुख से ऊब जाना है। उनका दुख सुख का अभाव नहीं है, 'एब्सेंस' नहीं है। ऐसा नहीं है कि महावीर को सुख की कमी थी इसलिए वे संन्यासी हो गए। न, अति सुख हो जाए तो सुख व्यर्थ हो जाता है। लेकिन फिर भी वे सुख को छोड़कर गए। छोड़ना उन्हें अब भी सार्थक है। सुख तो निरर्थक हुआ, लेकिन छोड़ना सार्थक रहा। कृष्ण को सुख भी व्यर्थ है, छोड़ना भी व्यर्थ है। कृष्ण के लिए व्यर्थता की गहराई बहुत ज्यादा है।
समझें।
अगर मैं किसी चीज को पकड़ता हूं, तो भी मेरे लिए उसमें कुछ अर्थ है। और अगर मैं उसे छोड़ता हूं तो भी निषेधात्मक अर्थ है। नहीं छोडूंगा तो दुख पाऊंगा। इतना

अर्थ तो है ही। महावीर और बुद्ध का संन्यास दुख से निकला है, ऐसा मैं नहीं कह ता। सुख से ही निकला। सुख की ऊब से निकला। वे किसी और बड़े सुख की खोज में इस सुख को छोड़कर चले गए। कृष्ण में उनसे भेद है। कृष्ण किसी बड़े सुख की खोज में इस सुख को छोड़कर नहीं जाते, इस सुख को भी उस बड़े सुख की खोज की सीढ़ी ही बनाते हैं। इसे छोड़कर नहीं जाते। इस सुख में और उस सुख में उन्हें ि वरोध नहीं दिखाई पड़ता। वह जो बड़ा सुख है, इसी सुख का विस्तार है। वह इसी गीत की अगली कड़ी है, वह इसी नृत्य का अगला चरण है। वह जो बड़ा सुख है, वह जो आनंद है, वह इस सुख का विरोधी नहीं है। बल्कि कृष्ण के लिए इस सुख में भी उस बड़े आनंद की ही झलक है, यह इसकी ही शुरुआत है।

बुद्ध और महावीर भी सुख से ही जाते हैं, लेकिन उनकी दृष्टि छोड़ने की दृष्टि है। वह जो छोड़ने की दृष्टि है वह हम दुखवादियों को और भी महत्वपूर्ण मालूम पड़ी है । बुद्ध और महावीर सुख से ऊबकर गए हैं, लेकिन हम दुखी लोगों को ऐसा लगा है कि दुख से ही गए हैं। तो बुद्ध और महावीर की व्याख्या भी हमने जो की है वह भी दुखवादियों की व्याख्या है। जैसे कृष्ण के साथ अन्याय हुआ, उससे थोड़ा कम सही, लेकिन बुद्ध और महावीर के साथ भी अन्याय हुआ है।

हम दुखी हैं। हम जब छोड़कर जाते हैं तो दुख के कारण छोड़कर जाते हैं। बुद्ध औ र महावीर जब छोड़कर जाते हैं तो सुख के कारण छोड़कर जाते हैं। हममें और बु द्ध और महावीर में भी फर्क है। हमारे छोड़ने का मूल आधार दुख होता है, उनके छोड़ने का मूल आधार सुख होता है। हैं तो वे भी सुख से ही गए हुए संन्यासी, लेि कन कृष्ण और उनमें भी एक फर्क है और वह फर्क यह है कि वे सुख को छोड़कर गए हैं, कृष्ण छोड़कर नहीं जा रहे हैं। कृष्ण स्वीकार कर ले रहे हैं जो है। असल में सुख को छोड़ने योग्य भी नहीं पा रहे हैं। भोगने योग्य का सवाल ही नहीं है, छोड़ ने योग्य भी नहीं पा रहे हैं। जीवन जैसा है उसमें कुछ भी रद्दोबदल करने की कृष्ण की कोई इच्छा नहीं है।

एक फकीर ने कहीं कहा है अपनी एक प्रार्थना में कि हे परमात्मा, तू तो मुझे स्वीक ार है लेकिन तेरी दुनिया नहीं। सभी फकीर यही कहेंगे कि तू तो मुझे स्वीकार है, लेकिन तेरी दुनिया नहीं। ये नास्तिक से उलटे हैं। नास्तिक कहता है, तेरी दुनिया त ो स्वीकार है, तू नहीं। आस्तिक कहता है, तेरी दुनिया तो स्वीकार नहीं है, तू स्वीक ार है। ये दोनों एक ही सिक्के के दोहरे पहलू हुए। कृष्ण की आस्तिकता बहुत अदभु त है। कहना चाहिए, कृष्ण ही आस्तिक हैं। तू भी स्वीकार है, तेरी दुनिया भी स्वी कार है। और यह स्वीकृति इतनी गहरी है कि कहां तेरी दुनिया समाप्त होती है औ र कहां से तू शुरू होता है, यह तय करना मुश्किल है। असल में तेरी दुनिया भी ते रा फैला हुआ हाथ है और तू ही तेरी दुनिया का छिपा हुआ अंतर्मम है। इससे ज्याद ा कोई फर्क नहीं है।

कृष्ण समस्त को स्वीकार कर रहे हैं, इसे ध्यान में रखना जरूरी है—दुख को भी नहीं छोड़ रहे हैं, सुख को भी नहीं छोड़ रहे हैं। जो भी है उसे छोड़ ही नहीं रहे, छोड़

ने का भाव ही नहीं है। छोड़ने की बात ही नहीं है। छोड़ने से ही, अगर हम ठीक से
समझें तो व्यक्ति शुरू हो जाता है। जैसे ही हम छोड़ते हैं, मैं शुरू हो जाता हूं। ले
किन अगर हम कुछ छोड़ते ही नहीं, तो मेरे होने का उपाय ही नहीं है। इसलिए कृष्
ण से निरहंकारी व्यक्तित्व खोजना मुश्किल है। और निरहंकारी हैं इसलिए ही उन्हें
अहंकार की बात करने में भी कोई कठिनाई नहीं होती है, वह अर्जुन से कह सकते
हैं—तू सबको छोड़कर मेरी शरण में आ जा। यह बड़े मजे की बात है, यह बड़े अ
हंकार की घोषणा है। इससे ज्यादा 'इगोइस्ट' घोषणा क्या होगी कि कोई आदमी कि
सी से कहे—तू सबको छोड़कर मेरी शरण में आ जा! लेकिन हमको भी दिखाई पड़त
ा है कि यह अहंकार की घोषणा है, कृष्ण को दिखाई नहीं पड़ा होगा? इतनी अकल
तो रही ही होगी, जितनी हममें है। इतना तो कृष्ण को भी दिखाई पड़ सकता है ि
क यह अहंकार की घोषणा है, लेकिन इसे वे बड़ी सहजता से कर सके। यह वही अ
ादमी कह सकता है, जिसके पास अहंकार हो ही नहीं। यह वही आदमी कर सकता
है, आ जा मेरी शरण में, जिसको मेरे का कोई पता नहीं है। इसलिए जब वह कह
रहे हैं कि आ जा मेरी शरण में, तब वह यही कह रहे हैं कि शरण में आ जा। छ
ोड़ दे सब। अपना होना छोड़ दे और जीवन जैसा है उसे स्वीकार कर ले।

बड़े मजे की बात है, कृष्ण अर्जुन को कह रहे हैं कि तू युद्ध में लड़ जा। अगर दोन
ों की बातों को देखें तो अर्जुन ज्यादा धार्मिक मालूम पड़ता है। कृष्ण की बात बहुत
धार्मिक नहीं मालूम पड़ती। कृष्ण कहते हैं, लड़। अर्जुन कहता है, मारूंगा, दुख होगा
, पीड़ा होगी, अपने हैं, प्रियजन हैं, संबंधी हैं, मित्र हैं, गुरु हैं। इनको मारूंगा, बहुत
दुख होगा। इन सबको मारकर मैं बड़े-से-बड़ा सुख भी न चाहूंगा। इससे तो बेहतर
है कि मैं भाग जाऊं और भीख मांग लूं। आत्मघात कर लूं, वह भी सरल मालूम
पड़ता है बजाय इन सबको मारने के। कौन धार्मिक होगा जो कहेगा कि कृष्ण को ज
ो अर्जुन कह रहा है वह गलत कह रहा है। सभी धार्मिक कहेंगे, ठीक कहता है; अ
र्जुन के मन में धर्म-बुद्धि पैदा हुई है। लेकिन कृष्ण उससे कहते हैं कि तू विचलित
हो गया; तेरी धर्म-बुद्धि नष्ट हो गई है। क्योंकि कृष्ण यह कहते हैं कि तू पागल, तू
सोचता है किसी को मार सकेगा! कोई मरता है कभी! तू सोचता है कि ये जो ख.
डे हैं, तू इन्हें बचा सकेगा? कोई किसी को बचा सका है कभी? तू सोचता है, तू
युद्ध से बच सकेगा, तू अहिंसक हो सकेगा। लेकिन जहां 'मैं' है, खुद को बचाना है,
वहां अहिंसा हो सकती है कभी?

नहीं, जो आ गया है उसे स्वीकार कर, अपने को छोड़ और लड़। जो सामने है उस
में डूब। सामने युद्ध है। सामने कोई मंदिर नहीं है। सामने कोई प्रार्थना नहीं चल रह
ी है, सामने कोई भजन-कीर्तन नहीं हो रहा है कि उसमें डूब। सामने युद्ध है। लेकि
न कृष्ण कहते हैं, इसमें तू डूब। अपने को छोड़। तू कौन है! और एक बहुत मजे क
ी बात कहते हैं कि जिन्हें तू देखता है कि मरेंगे, मैं जानता हूं कि वे पहले ही मर
चुके हैं। वे सिर्फ मरने की प्रतीक्षा कर रहे हैं, तू ज्यादा-से-ज्यादा निमित्त हो सकता
है। तू अपने को ऐसा मत मान कि तू मार रहा है, क्योंकि तब तू निमित्त न रह

जाएगा, कर्ता हो जाएगा। तू ऐसा भी न मान कि अगर तू छोड़कर भागेगा तो तू स ोचेगा, कि तूने बचाया; तब भी भ्रम होगा। तेरे बचाने से ये न बचेंगे, तेरे मारने से ये न मरेंगे। तू इसमें पूरा हो, इसमें पूरा डूब। जो तुझ पर आ गया है, तू उसे पूर ा निभा। और पूरा तू तभी निभा सकता है जब तू अपनी बुद्धि को छोड़े। तू यह छो. डे कि मैं हूं, और मैं के दृष्टिकोण से देखना छोड़। इसको अगर ठीक से समझें तो इ सका मतलब क्या हुआ?

इसका मतलब यह हुआ कि अगर कोई 'मैं' के दृष्टिकोण को छोड़े तो कर्ता न रह जाएगा, अभिनेता ही रह सकता है। मैं राम हूं और मेरी सीता खो जाए तब मैं जि स भांति रोऊंगा, एक रामलीला में काम करूं और सीता खो जाए, तब भी रोऊंगा। हो सकता है रोना मेरा असली राम के रोने से ज्यादा कुशल हो। होगा ही। क्योंकि असली राम को 'रिहर्सल' का कोई मौका नहीं है। सीता एक ही बार खोती है। ज ब खो जाती है तभी पता चलता है। इसकी कोई पूर्व तैयारी भी नहीं होती है। और राम पूरे कर्ता की तरह डूब जाते हैं। चिल्लाते हैं, रोते हैं, दुखी हैं, पीड़ित हैं। इस लिए राम को इस देश ने कभी पूर्ण अवतार नहीं कहा। पूरे अभिनेता वे नहीं हैं। 'ए क्टिंग' अधूरी है। करते हैं। और चूक-चूक जाते हैं। कर्ता हो जाते हैं। इसलिए राम के व्यक्तित्व को हम 'चरित्र' कहते हैं। अभिनेता का कोई चरित्र नहीं होता। अभिने ता की लीला होती है, खेल होता है। इसलिए कृष्ण के चरित्र को हम 'लीला' कह ते हैं।

कृष्ण की है लीला, वह कृष्ण-लीला है। राम का है चरित्र, वह है चरित्र। चरित्र बड़ ी गंभीर चीज है। उसमें होना पड़ता है, चुनाव करना पड़ता है कि यह करना है औ र यह नहीं करना है, यह शुभ है और यह अशुभ है। अर्जुन चरित्रवान बनना चाहता था और कृष्ण उसको लीलावान बनाने के लिए उत्सुक हैं। अर्जुन कहता था मैं यह न करूं, यह बुरा है, और यह करूं जो अच्छा है। कृष्ण कहते हैं जो आ जाता है, तू अपने को बीच में खड़ा मत कर और जो आ जाता है उसे होने दे। यह पूर्ण स्वी कृति है। इस पूरी स्वीकृति में कुछ भी छोड़ना नहीं है। बड़ी कठिन है बात। क्योंकि पूर्ण स्वीकृति का मतलब है, न अब कुछ अशुभ है, न कुछ शुभ है। न अच्छा है, न बुरा है; न सुख है, न दुख है। पूर्ण स्वीकृति का मतलब है कि हमारी जो द्वंद्वात्मक सोचने की व्यवस्था है, वह जो हम दो में तोड़कर ही सोचते हैं, न कोई मरेगा। इस लिए तू बेफिक्री से खेल। कृष्ण यह कह रहे हैं कि वह जो तेरे द्वंद्व में सोचने की आ दत है कि यह ठीक है, यह मैं करूं और यह ठीक नहीं है, यह मैं न करूं, यह तू छोड़; इस पृथ्वी पर जो भी है वह परमात्मा है, इसलिए ठीक और गैर-ठीक का फा सला नहीं किया जा सकता।

बड़ी कठिन है यह बात।

नैतिक मन को बड़ी कठिन पड़ेगी। इसलिए कृष्ण नैतिक मन को जितने कठिन पड़े हैं, उतना अनैतिक आदमी कठिन नहीं पड़ता। अनैतिक आदमी को नैतिक आदमी ि नपट जाता है कहकर कि बुरा है। कृष्ण को क्या कहे? बुरा कहते भी नहीं बनता,

क्योंकि आदमी बुरा दिखाई पड़ता नहीं। अच्छे कहने की हिम्मत जुटाने वाले बहुत क
म लोग हैं, क्योंकि अच्छा कहो तो यह आदमी ऐसी बातों में अर्जुन को डाल रहा है
कि जो बुरी हैं।

इसलिए गांधी जी ने जब कृष्ण पर बात शुरू की तो उनको बड़ी कठिनाई हो गई।
क्योंकि सच तो यह था कि गांधी जी से मेल-जोल था अर्जुन का, कृष्ण का कोई भी
मेल-जोल नहीं हो सकता। कृष्ण युद्ध में कुदा रहे हैं, गांधी क्या करें! कृष्ण इतने
बुरे हों कि साफ-साफ तय हो जाए कि बुरे हैं, तो गांधी छुटकारा पा सकते हैं। लेि
कन वह साफ-साफ तय हो नहीं सकता, क्योंकि कृष्ण को बुरा और भला दोनों स्वी
कार हैं। वह भले भी हैं—चरम कोटि के भले हैं और चरम कोटि के बुरे हैं एक सा
थ। तो उनका भोलापन तो साफ है। उनका बुरापन भी है। उस बुरेपन को गांधी क्य
ा करें। तो गांधी को सिवाय इसके कोई उपाय नहीं रह जाता कि वह कहें यह सारा
युद्ध 'पैरेबल' है, कहानी है; 'मिथ' है, पुराण-कथा है, युद्ध कभी हुआ नहीं। क्योंि
क कृष्ण असली युद्ध में कैसे अर्जुन को उतार सकते हैं, अगर युद्ध असली में हुआ
हो तो फिर युद्ध हिंसा हो जाएगी। तो गांधी को एक ही उपाय है कि वह कहें कि
यह सारी कथा है। और यह जो युद्ध हो रहा है, यह असली युद्ध नहीं है। और गांध
ी पुराने द्वंद्व पर वापस लौट जाते हैं जिसके खिलाफ कृष्ण हैं, वह कहते हैं, यह अच
छाई और बुराई का युद्ध है। ये पांडव अच्छे हैं, और ये कौरव बुरे हैं, और वह पुरा
ना अच्छे और बुरे का द्वंद्व वापस खड़ा कर लेते हैं कि अच्छाई और बुराई का युद्ध
हो रहा है, और कृष्ण कह रहे हैं कि अच्छे की तरफ से लड़। यह रास्ता उन्हें खोज
लेना पड़ा। पूरी कथा को झूठ कहना पड़ा। पूरी कथा को काव्य कहना पड़ा। लेकिन
गांधी को...बहुत वक्त हुआ, कृष्ण और गांधी के बीच पांच हजार साल का फासला
पड़ता है, इसलिए किसी पांच हजार साल पुरानी कहानी को 'मिथ' कहना, कल्पन
ा कहना कठिन नहीं है।

जैनों को इतना फासला नहीं था। इसलिए जैन कृष्ण की कथा को कहानी नहीं कह
सके, वह घटना घटी है। जैन-चिंतन उतना ही पुराना है जितना वेद पुराने हैं। जैनों
के पहले तीर्थंकर का नाम वेद में उपलब्ध है। हिंदू और जैनों की प्राचीनता बिलकु
ल बराबर है। जैन इनकार नहीं कर सकते थे कि युद्ध नहीं हुआ, और कृष्ण ने युद्ध
नहीं करवाया। लेकिन जैन क्या करें, अगर उनको भी सुविधा होती तो जो गांधी
ने किया, जो कि बहुत गहरे मन से जैन थे—शरीर से हिंदू थे, मन से जैन थे—गांधी
तो पुराण कहकर टाल सके पर जैन नहीं टाल सकते थे, वह समसामयिक थे। उन
को कृष्ण को नर्क में डालना पड़ा। उन्हें अपने शास्त्रों में लिखना पड़ा कि कृष्ण नर्क
गए। इतनी बड़ी हिंसा करवा के आदमी नर्क न जाए, तो फिर चींटी न मारने वाले
का क्या होगा? और इतनी बड़ी हिंसा करके भी कोई नर्क न जाए, तो मुंह पर प
ट्टी बांधने वाले को स्वर्ग कैसे मिलेगा? बहुत मुश्किल हो जाएगा। कृष्ण को नर्क में
डालना ही पड़ेगा।

लेकिन यह समसामयिक लोगों का वक्तव्य है। अगर वक्त ज्यादा गुजर जाता तो कृष्ण की अच्छाई इतनी थी कि नर्क में डालना मुश्किल हो जाता। मुश्किल उनको भी पड़ा। इसलिए उनको दूसरी कहानी भी गढ़नी पड़ी। आदमी तो अदभुत था यह। युद्ध तो करवाया था, वह सच है। नाचा था स्त्रियों के साथ, वह सच है। स्त्रियों के कपड़े उघाड़कर झाड़ पर बैठ गया था, वह भी सच है। आदमी अच्छा था, काम बुरे किए थे, वह भी सच है। तो नर्क में डालकर भी तो चैन नहीं पड़ सकता न, इतने अच्छे को नर्क में डाल दें तो फिर अच्छे आदमी भी तो संदिग्ध हो जाएंगे कि इतना अच्छा आदमी नर्क में डाल दिया! अच्छे आदमियों को फिर पक्का नहीं हो सकता स्वर्ग जाने का। इसलिए जैनों को दूसरी बात भी तय करनी पड़ी कि कृष्ण आनेवाले कल्प में पहले जैन-तीर्थंकर होंगे। नर्क में डालना पड़ा, आनेवाले कल्प में पहले तीर्थंकर की जगह भी देनी पड़ी। यह 'बैलेंस', संतुलन खोजना पड़ा, क्योंकि इस आदमी को नर्क में भेजने जैसा आदमी तो नहीं है। लेकिन भेजना ही पड़ेगा, क्योंकि वह नैतिकता कहती है कि यह आदमी ठीक तो नहीं है। और इस आदमी का व्यक्तित्व कहता है कि यह आदमी तो तीर्थंकर होने योग्य है। तो यही रास्ता बन सकता था कि इसे अभी फिलहाल नर्क में डालो, भविष्य में पहला तीर्थंकर बनाओ। आनेवाले—जब सारी सृष्टि नष्ट हो जाएगी और पहली फिर से सृष्टि शुरू होगी तो पहला तीर्थंकर। यह 'कांपनसेशन' है, यह सांत्वना है अपने मन को, कृष्ण को इससे कुछ लेना-देना नहीं है! अपने मन को कि इस आदमी को नर्क में डालते हैं, इसके लिए 'कांपनसेशन' भी करना पड़ेगा। गांधी के लिए सुविधा है कि वह एक साथ निपटा दें दोनों बात। न नर्क में डालें, न पहला तीर्थंकर बनाएं, पूरी कहानी को कह दें कहानी है। युद्ध कभी हुआ नहीं सिर्फ एक प्रबोधकथा है। अच्छाई और बुराई के बीच युद्ध हो रहा है। गांधी की भी तकलीफ वही है जो जैनों की है, वह अहिंसा की तकलीफ है। अहिंसा नहीं मान सकती कि हिंसा की कोई भी जगह हो सकती है। वह वही तकलीफ है जो शुभ की तकलीफ है। शुभ कैसे माने कि अशुभ की भी कोई सुविधा हो सकती है।

लेकिन कृष्ण कहते हैं, जगत द्वंद्व का मेल है; वहां दोनों एक-साथ हैं। न ऐसा कभी हुआ कि हिंसा न हो, न ऐसा कभी हुआ कि अहिंसा न हो। इसलिए जो भी एक को चुनते हैं वह अधूरे को चुनते हैं और कभी भी तृप्त नहीं हो सकते। ऐसा कभी भी नहीं हुआ कि अंधेरा न हो, ऐसा कभी नहीं हुआ कि प्रकाश न हो। इसलिए जो एक को चुनते हैं वे अधूरे को चुनते हैं। और अधूरे को चुनने वाला तनाव में पड़ा ही रहेगा, क्योंकि वह आधा मिट सकता नहीं, वह सदा मौजूद है।

और मजा तो यह है कि जिस आधे को हम चुनते हैं वह उस बाकी आधे पर ही ठहरा होता है जिसको हम चुनते नहीं, यद्यपि इनकार करते हैं।

सारी अहिंसा हिंसा पर ही खड़ी होती है। और सारा प्रकाश अंधेरे के ही कारण होता है। सारी भलाई अशुभ की ही पृष्ठभूमि में जन्मती और जीती है। सब संत दूसरे छोर पर वे जो बुरे आदमी खड़े हैं, उनसे ही बंधे होते हैं। 'पोलेरिटीज' जो हैं वे स

भी एक-दूसरे से बंधी होती हैं, ऊपर नीचे से बंधा है, बुरा भले से बंधा है, नर्क स्वर्ग से बंधा है। ये ध्रुव हैं एक ही सत्य के और कृष्ण कहते हैं, दोनों को स्वीकार करो, क्योंकि दोनों हैं। दोनों से राजी हो जाओ, क्योंकि दोनों हैं। चुनाव ही मत करो। अगर कहें तो कृष्ण पहले आदमी हैं, जो 'च्वॉइसलेसनेस', चुनावरहितता की बात करते हैं। वह कहते हैं, चुनो ही मत। चुना कि भूल में पड़े, चुना कि भटके, चुना कि आधे का क्या होगा? वह आधा अभी है। और हमारे हाथ में नहीं है कि वह नहीं हो जाए। हमारे हाथ में कुछ भी नहीं है, वह है। हम नहीं थे तब भी था, हम नहीं होंगे तब भी होगा।

लेकिन नैतिक मन या जो अब तक धार्मिक समझा जाता रहा है, उसकी बड़ी कठिनाई है। वह द्वंद्व में जीता है, वह शुभ और अशुभ को बांटकर जीता है। उसका सारा मजा अशुभ की निंदा में है, तभी वह शुभ में मजा ले पाता है। संत का सारा मजा असंत के विरोध में है, अन्यथा वह मजा नहीं ले पाता। स्वर्ग जाने का सारा सुख नर्क में गए लोगों के दुख पर खड़ा है। अगर स्वर्ग में जो लोग हैं उनको एकदम पता चल जाए कि नर्क है ही नहीं तो स्वर्ग के लोग एकदम दुखी हो जाएंगे। अगर नर्क है ही नहीं तो बेकार सब मेहनत गई। और वे चोर और वे बदमाश, जिन्हें नर्क भेजना चाहा था वे सब स्वर्ग में ही आ गए हैं। क्योंकि वे जाएंगे कहां। स्वर्ग में जो रस है वह नर्क में दुख भोगने वाले लोगों पर खड़ा है; अमीर का जो सुख है वह गरीब की गरीबी में है, अमीर की अमीरी में नहीं है। अच्छे आदमी का जो सुख है वह बुरे आदमी के बुरे होने में है, अच्छे आदमी के अच्छे होने में नहीं। इसलिए जिस दिन सारे लोग अच्छे हो जाएंगे उस दिन साधु का मजा चला जाएगा। साधु बिलकुल अर्थहीन मालूम पड़ेगा। हो सकता है साधु कुछ लोगों को तैयार करे कि तुम असाधु हो जाओ क्योंकि मेरा क्या होगा। उसका कोई अर्थ नहीं है। इस जगत की सारी अर्थवत्ता विरोध में है, और इस जगत को जो पूरा देखेगा वह पाएगा कि जिसे हम बुरा कहते हैं वह अच्छे का ही छोर है। जिसे हम अच्छा कहते हैं, वह बुरे का छोर है।

कृष्ण चुनावरहित हैं, कृष्ण समग्र हैं, 'इंटीग्रेटेड' हैं और इसलिए पूर्ण हैं। इसलिए हमने किसी दूसरे व्यक्ति को पूर्ण होने की बात नहीं कही। क्योंकि वह अधूरा होगा ही। राम कैसे पूर्ण हो सकते हैं, वह अधूरे होंगे ही। आधे का उनका चुनाव है। जो नहीं चुनता वही पूरा हो सकता है। लेकिन जो नहीं चुनता उसे कठिनाइयों में पड़ना पड़ेगा, क्योंकि उसकी जिंदगी में वह भी कभी-कभी दिखाई पड़ेगा जो अंधेरा है और वह भी कभी-कभी दिखाई पड़ेगा जो उजेला है। उसकी जिंदगी धूप-छांवों का ताल-मेल होगी। उसकी जिंदगी सीधी और एकरस नहीं हो सकती। एकरस जिंदगी उनकी ही हो सकती है जिनका चुनाव है। एक जिंदगी के कोने को वे साफ-सुथरा कर सकते हैं, लेकिन जिस कचरे को उन्होंने हटाया है वह जिंदगी के किसी दूसरे कोने में इकट्ठा होता रहेगा। लेकिन जिसने पूरे ही मकान को स्वीकार कर लिया है और कचरे को भी स्वीकार कर लिया है और धूप को भी, और अंधेरे को भी, और...अब

उसका क्या होगा। उस आदमी के बाबत हम अपनी दृष्टि से नजर बना सकते हैं। ह मारा चुनाव ही हमारी नजर होगी। हम कह सकते हैं कि यह आदमी बुरा है, क्योंकि हम बुरा अगर देखना चाहें तो उसमें दिखाई पड़ जाएगा। हम कह सकते हैं यह आदमी भला है, क्योंकि हम भला देखना चाहें तो उसमें दिखाई पड़ जाएगा। और उसमें दोनों हैं। दोनों भी हमारी भाषा की वजह से कहना पड़ते हैं, उसमें तो एक ही है। लेकिन उस एक के ही दोनों पहलू हैं।

इसलिए, बुद्ध और महावीर को मैं मानता हूं कि उनका चुनाव है। वे शुभ हैं, पूर्ण शुभ हैं और इसलिए पूर्ण नहीं हो सकते। क्योंकि पूर्ण में वह अशुभ का क्या होगा? बुद्ध और महावीर और कृष्ण को एक साथ खड़ा करें तो हमें बुद्ध और महावीर ज्यादा जंचेंगे। ज्यादा आकर्षक मालूम होंगे, ज्यादा साफ-सुथरे और निखरे दिखाई पड़ेंगे। वहां धब्बा ही नहीं है उनकी चादर पर। चादर बिलकुल साथ-सुथरी है। एकदम शुभ्र है। उसमें काले की कोई गोट भी नहीं है। महावीर और कृष्ण अगर साथ-साथ खड़े हों तो हमें भी महावीर ही जंचेंगे। कृष्ण थोड़े-थोड़े संदेह में छोड़ जाएंगे। कृष्ण सदा ही संदेह में छोड़ गए हैं। इस आदमी में दोनों बातें एक साथ हैं। यह महावीर जैसा शुभ्र भी है, और अशुभ में किस को रखें महावीर के मुकाबले? यह चंगेज या हिटलर जैसा अशुभ भी होने की हिम्मत रखता है। अगर हम महावीर को युद्ध में तलवार लेकर खड़ा कर सकें—जो हम कर न सकेंगे—तो वैसा है यह आदमी। या अगर हम चंगेज को राजी कर लें कि वह महावीर जैसा हो जाए, सब छोड़कर नग्न खड़ा हो जाए, शांत और निर्मल हो जाए—जो हम न कर सकेंगे—तो वैसा है यह आदमी। लेकिन इस आदमी के साथ क्या करें, निर्णय क्या करें? कृष्ण के साथ सब निर्णय टूट जाते हैं जो निर्णय लेते ही नहीं। कृष्ण के साथ निर्णय लेने वाला चित्त बहुत जल्दी भाग जाएगा। क्योंकि जब उसे शुभ्र दिखाई पड़ेगा तब पैर पकड़ लेगा और जब अशुभ दिखाई पड़ेगा तब क्या करेगा?

इसलिए कृष्ण के भक्तों ने भी चुनाव किया है । अगर सूर कृष्ण की बहुत चर्चा करते हैं तो बालपन की बहुत चर्चा करते हैं। बाद का हिस्सा छोड़ देते हैं। सूर की हिम्मत के बाहर है। सूर तो बहुत कमजोर हिम्मत के आदमी हैं। आंखें फोड़ ली हैं एक स्त्री को देखने के डर से। अब जरा सोचने जैसा है कि सूरदास ने, कहीं ये आंखें किसी स्त्री के प्रेम में न डाल दें और कहीं ये आंखें किसी वासना में न ले जाएं, आंखें फोड़ ली हैं; यह आदमी, यह आदमी कृष्ण को पूरा स्वीकार कर सकेगा? बड़ा प्रेम है सूर का कृष्ण से, शायद कम ही लोगों का ऐसा प्रेम रहा है, तो फिर क्या करे यह? कृष्ण को इसे दो हिस्सों में बांटना पड़ेगा। बालपन के कृष्ण को यह पकड़ लेगा, युवा कृष्ण को यह छोड़ देगा। क्योंकि युवा कृष्ण समझ के बाहर है। क्योंकि युवा कृष्ण समझ में आ सकता था अगर आंखें फोड़ लेता। सूरदास से संगत बैठ जाती। लेकिन युवा कृष्ण की आंखें—ऐसी आंखें ही कम लोगों के पास रही होंगी। इतनी स्त्रियां आकर्षित हो जाएं ऐसी आंखें पाना बहुत मुश्किल है। बड़ा मुश्किल है। बड़ा सवाल यह नहीं है कि इतनी स्त्रियां आकर्षित हुईं, बड़ा सवाल यह है कि एक ही आ

दमी की आंखों पर। यह आकर्षण असाधारण रहा होगा। ये आंखें 'मेग्नेटिक' रही हों गी, ये आंखें बड़ा चुंबक रही होंगी। सूरदास के पास इतनी कीमती आंखें नहीं थीं। क्योंकि सूरदास ही उत्सुक थे, कोई स्त्री उत्सुक थी इसका मुझे पता नहीं है।
सूरदास कैसे चुनाव करेंगे, क्या करेंगे? तो बच्चे को पकड़ लेंगे, स्वीकार कर लेंगे कि बाल-कृष्ण। इसलिए कृष्णों पर रचे गए शास्त्र भी चुनाव के शास्त्र हैं। सूरदास किसी और कृष्ण को पकड़ते हैं, केशवदास किसी और कृष्ण को पकड़ते हैं। केशव बाल-कृष्ण में बिलकुल उत्सुक नहीं हैं। केशव का मन राग और रंग का मन है। केशव का मन युवा का मन है। वह आंख फोड़ने वाला मन नहीं है। रात भी आंख बंद करनी न पड़े ऐसा मन है। तो केशव क्या करेंगे? केशव बाल-कृष्ण की बात ही भूल जाएंगे, उससे कुछ लेना-देना नहीं है। वह उस कृष्ण को चुन लेंगे जो नाच रहा है। इसलिए नहीं कि कृष्ण के नाच को समझ रहे हैं वह, बल्कि इसलिए कि नाचनेवाला उनका मन है। इसलिए कृष्ण पर नाचना थोप देंगे। उस कृष्ण को पकड़ लेंगे जो स्त्रियों के वस्त्र लेकर वृक्ष पर चढ़ गया है नग्न छोड़कर। इसलिए नहीं कि कृष्ण जिस तरह उन स्त्रियों को नग्न छोड़ गया था, उसे केशव समझ सकते हैं, बल्कि इसलिए कि स्त्रियों को नग्न करना चाहते हैं। तो केशव का अपना चुनाव है, सूर का अपना चुनाव है। भागवत अलग कृष्ण की बात करती है, गीता अलग कृष्ण की बात करती है। ये सब चुनाव बंट गए हैं। क्योंकि यह आदमी पूरा है और इसे पूरा पचा लेने का साहस पूरे आदमी में ही हो सकता है। अधूरा आदमी इसमें से बांट लेगा, छांट लेगा, कहेगा इतने तक ठीक, इसके आगे आंख बंद कर लेते हैं, इसके आगे तुम नहीं हो। या इसके आगे होओगे भी तो वह कहानी है। या इसके आगे होओगे भी तो नर्क में फल पाओगे। और इसके आगे भी तुम थे तो हमारे काम के नहीं हो। हमारे काम के यहां तक। इसलिए कृष्ण के व्यक्तित्व पर मील के पत्थर लगा दिए गए हैं। सबने अपना-अपना हिस्सा बांट लिया है। जिसको जो प्रीतिकर लगता है वह चुन लेता है। लेकिन कृष्ण एक सागर की तरह हैं, जिसमें हम अपने घाट भला बना लें, वह घाट पूरे सागर पर नहीं बनता, वह हमारे घाट की ही जमीन पर बनता है, हम पर ही बनता है। वह सागर का बंधन नहीं है। वह हमारी समझ की सूचना है।

इसलिए मैं तो पूरे कृष्ण की बात करूंगा। इसलिए बात बहुत जगह अबूझ हो जाएगी। और बात बहुत मुश्किल में डाल देगी। और बात बहुत जगह आपकी समझ के बाहर जाने लगेगी। वहां आप समझ के बाहर चलने की भी हिम्मत करना। नहीं तो आप अपनी समझ की जगह रह जाएंगे और मील का पत्थर आ जाएगा और उसके आगे का कृष्ण आपके काम का न रह गया। और कृष्ण अगर हैं काम के तो पूरे-के-पूरे हैं। कोई भी व्यक्ति पूरा ही काम का होता है। काट-काटकर मुर्दा अंग हाथ में आते हैं, जिंदा आदमी समाप्त हो जाता है। इसलिए जिन्होंने भी कृष्ण को काटा है, किसी के हाथ में हाथ कृष्ण का, किसी का पैर है, किसी की आंख है, किसी का गला है। लेकिन पूरे कृष्ण हाथ में नहीं हो सकते। पूरे कृष्ण को हाथ में होने की त

ो एक ही संभावना है कि आप पूरे को बिना चुने समझने को राजी हो जाएं, और यह समझना बड़े आनंद की यात्रा होगी, क्योंकि इस समझने में आप भी पूरे हो सक ते हैं। इस समझने में आप का भी पूरा होना यह शुरू हो जाएगा। अगर इस समझने के लिए आप राजी हुए और चुनाव न किया, तो आप अचानक भीतर पाएंगे कि आप के भी विरोधी छोर घुलने-मिलने लगे, आप में भी धूप-छांव एक होने लगी। अ ापके भीतर भी वह जो कटा-कटा व्यक्तित्व है, वह अखंड होने लगा। आप भी योग को उपलब्ध होने लगे। कृष्ण के योग का एक ही अर्थ है, अखंड, एक हो जाना। योग की दृष्टि अखंड ही हो सकती है। योग का मतलब है, 'दि टोटल', जोड़। इसि लए कृष्ण को महायोगी कहा जा सकता। योगी तो बहुत हैं, लेकिन वे भी योगी नह ीं हैं, क्योंकि जोड़ वहां नहीं है, सब चुनाव है। 'च्वाइसलेसनेस' वहां नहीं है।

इस अखंड कृष्ण की चर्चा कठिन तो पड़ेगी, बहुत कठिन पड़ेगी, क्योंकि बुद्धि की ज ो 'कटेग्रीज़' हैं, बुद्धि के सोचने के जो मापदंड हैं, वे बंटे हुए हैं। बटखरे हैं बुद्धि के , बांट हैं। इससे बहुत फर्क नहीं पड़ता है कि किसी के पास पुराने बांट हैं और किस ी के पास नए बांट हैं। इससे फर्क नहीं पड़ता कि मीट्रिक प्रणाली के बांट हैं कि पुरा ना सेर और पुराना पाव और छटांक है, इससे कोई बहुत फर्क नहीं पड़ता। बुद्धि चा हे पुरानी हो, चाहे नई; बुद्धि चाहे अतीत की हो, चाहे आज की; चाहे 'अल्ट्रा माड र्न' हो, चाहे 'अल्ट्रा एनशिएंट' हो; चाहे कितनी ही प्राचीन बुद्धि हो—शास्त्रों की हो —और चाहे कितनी ही नई हो—विज्ञान की हो—इससे फर्क नहीं पड़ता। बुद्धि का ए क धर्म है। वह बांटकर चलती है, तोड़कर चलती है। निर्णय करती है, यह ठीक अ ौर यह गलत।

अगर आपको कृष्ण को समझना हो, तो इन दस दिनों में निर्णय ही मत करना। इन दस दिनों में सुनना, समझना, निर्णय मत करना। और जहां-जहां नासमझी की जग ह आ जाए कि अब समझ में नहीं आता, वहां-वहां फिकिर मत करना और नासमझ ी में भी जाने की हिम्मत करना। 'इर्रेशनल' बहुत जगह आ जाएगा, क्योंकि कृष्ण को 'रेशनल' नहीं बनाया जा सकता। कृष्ण को बुद्धिगत नहीं बनाया जा सकता। औ र वह जो अबुद्धि है, या बुद्धि-अतीत जो है, वह भी वहां है। वह जो बुद्धि-अतीत है, वह जो 'ट्रांसेंड' करता है, बुद्धि के पार चला जाता है, वह भी वहां है।

इसलिए कृष्ण को तर्कयुक्त ढांचों में बिठाना असंभव है। वह तर्क मानते नहीं, वह खंड मानते नहीं। वह सब खंडों में बहते चले जाते हैं। वह हमारे घाट मानते नहीं, सब घाटों को छूते हैं। इसलिए कठिनाई तो पड़ेगी। बड़ी कठिनाई यही पड़ेगी कि आ पका घाट चुकने लगेगा और कृष्ण न चुकेंगे। वह कहेंगे, मैं आगे भी हूं। तुम्हारा घा ट भी मैं छूता हूं, लेकिन और घाट भी मैं छूता हूं। मैं बुरे के घाट पर भी लहरें पहुं चाता हूं, भले के घाट पर भी लहरें पहुंचाता हूं। शांति का मेरा छोर नहीं, और यु द्ध में मैं चक्र लेकर भी खड़ा हो जाता हूं। प्रेम का मेरा अंत नहीं, लेकिन तलवार से गर्दन भी काट सकता हूं। संन्यासी मैं पूरा हूं, लेकिन गृहस्थी होने में मुझे कोई पी. डा नहीं है। परमात्मा से मेरा बड़ा लगाव है, लेकिन संसार से रत्ती भर कम नहीं है

, संसार से भी उतना ही है। न मैं संसार के लिए परमात्मा को छोड़ सकता, न मैं परमात्मा के लिए संसार को छोड़ सकता हूं। मैंने तो पूरे के लिए राजी होने की क सम ले ली है। मैं हर रंग में रहूंगा।

इसलिए कृष्ण को अभी तक पूरा भक्त नहीं मिला। अर्जुन भी नहीं था। नहीं तो इत नी मेहनत न करनी पड़ती। युद्ध के मैदान पर गीता जैसा लंबा वक्तव्य देना पड़ा ह ो, तो हम सोच सकते हैं अर्जुन कैसा शंकाशील, कैसा संदेही, कैसा तर्क उठाने वाला —सब तरह की कोशिश की होगी; युद्ध के क्षण में, रणभेरी बज चुकी हो, सेनाएं अ ामने-सामने खड़ी हो गई हों, युद्ध का घंटानाद शुरू हो गया हो और वहां इतनी लंब ी गीता समझानी पड़े। तो अर्जुन राजी नहीं हो गया होगा। उसकी बुद्धि बार-बार ज ोर मारती रही है कि आप ऐसा भी कहते हो और आप ऐसा भी कहते हो। वह बा र-बार सवाल जो उठाता है, वह 'कंट्राडिक्शन' के हैं। वह कृष्ण से कहता है कि आ पमें विरोधाभास है। आप एक तरफ ऐसा भी कहते हो और दूसरी तरफ ऐसा भी क हते हो! यह आप दोनों बातें कहते हो! उसके सारे सवाल गीता में बड़े तर्कसंगत हैं । वह यही कह रहा है कि तुम यह भी कहते हो और यह भी कहते हो? दोनों बा तें एक साथ! तो फिर मेरी समझ में नहीं आता। अब तुम मुझे फिर से समझाओ। समझा नहीं पाते। समझा नहीं पाएंगे—कृष्ण जैसा पूरा व्यक्ति भी समझा नहीं पाता। समझाने से थक जाते हैं तो फिर दूसरा उपाय करना पड़ता है। अपने को पूरा दिखा देते हैं। यह समझाने का कोई उपाय नहीं। यह आदमी मानता ही नहीं, और यह तर्क जो उठाता है ठीक ही उठाता है। कृष्ण भी समझते हैं कि यह तर्क ठीक ही है, क्योंकि एक बात इससे उलटी पड़ती है, एक बात इससे उलटी पड़ती है—दोनों 'इ नकंसिस्टेंट' हैं। तो इसको समझाओ कैसे! अर्जुन यही कहता है कि 'कंसिस्टेंसी' चाह ता हूं, संगति चाहता हूं; हे कृष्ण! संगति बताओ! तुम जो कहते हो उससे मुझे भ्रम जाल में मत डालो, उससे तुम मुझे 'कन्फ्यूज्ड' मत करो। लेकिन कृष्ण उसका 'कन् फ्यूज' किए चले जाते हैं। वह दोनों बातें, एक वक्तव्य देते नहीं कि तत्काल दूसरा देते हैं जो इसका खंडन कर जाता है। करुणा, ममता भी समझाए चले जाते हैं, हिं सा भी करवाने की बात कहे चले जाते हैं।

ऐसा जो आदमी है, उसके पास फिर एक उपाय ही रह गया। थक गया सब। थक गए बुरी तरह। वह अर्जुन मानता नहीं, और युद्ध की घड़ी बढ़ी जाती है, और युद्ध पर सब सारथी और सब योद्धा, सब तैयार हैं, लगामें खिंच गई हैं और यह आदम ी मानता नहीं। और इसी आदमी पर सब निर्भर है। यह भाग जाए तो सब गड़बड़ हो जाए। यह सारा खेल, यह सारा नाटक, यह बड़ा इतना इंतजाम, यह सब व्यर्थ हो जाए। वह उसको समझाए जाते हैं, आखिर थक जाते हैं, फिर वह उसको अपना पूरा रूप ही दिखा देते हैं। पूरे रूप को देखकर वह घबड़ा जाता है। कोई भी घबड़ा जाएगा। पूरे रूप का मतलब ही यह है, पूरे रूप का मतलब ही यह है कि वह सारे विरोधाभासों के साथ इकट्ठे मौजूद हो जाते हैं। उनके भीतर सब दिखाई देने लगता है—जन्म भी और मरण भी, एक साथ। हमें सुविधा पड़ती है, सत्तर साल पहले जन्

म होता है, सत्तर साल बाद मरना होता है। दोनों में इतना फासला होता है, कि ह
म व्यवस्था बिठा लेते हैं कि जन्म अलग चीज, मृत्यु अलग चीज। एक साथ जन्म अ
ौर मृत्यु दिखने लगते हैं उनके भीतर। एक साथ जगत बनता है और विसर्जित होत
ा दिखाई पड़ने लगता है। एक साथ बीज और वृक्ष दिखाई पड़ने लगते हैं। एक साथ
 प्रलय आती है और सृजन होने लगता है। तो वह घबड़ा जाता है। वह कहता है ि
क अब बंद करो अपना यह रूप। मैं मर जाऊंगा! मैं इसे और नहीं देख सकता, इसे
 बंद करो! लेकिन इसके बाद वह सवाल नहीं उठाता। इसके बाद एक बार उसे दि
खाई पड़ जाता है कि जिन्हें हम असंगतियां कहते हैं, विरोध कहते हैं, वे एक ही स
त्य के हिस्से हैं, तो अब वह सवाल नहीं उठाता है, वह युद्ध में चला जाता है। इस
का यह मतलब मत समझ लेना कि वह राजी होकर गया है। राजी होकर नहीं जा
पाता है। दिखाई पड़ गया उसे, लेकिन उसकी बुद्धि सवाल उठाती है। बुद्धि का का
म ही सवाल उठाना है।

तो जितने सवाल आपको मुझसे उठाने हों, उठाना, लेकिन कृष्ण को समझने में सवा
ल मत उठाना। सवाल आप उठाना, आपकी सारी बुद्धि मुझ पर लगाना, लेकिन कृष
ण बहुत जगह बुद्धि को छोड़कर निर्बुद्धि में प्रवेश करने लगेंगे, वहां बहुत धैर्य की,
बहुत साहस की—उससे बड़ा कोई साहस नहीं—वहां जरूरत पड़ेगी, वहां चलने को रा
जी होना। आपका प्रकाशित क्षेत्र खो जाएगा। अंधेरा शुरू होगा। आपके द्वार-दरवाजे
वहां दिखाई नहीं पड़ेंगे, वहां साफ-सुथरे रास्ते नहीं होंगे, वहां सब 'मिस्टीरियस' औ
र रहस्यपूर्ण हो जाएगा। वहां चीजें पुरानी शक्ल और पुरानी रूपरेखा और पुराने आ
कार में नहीं होंगी। वहां सब आकार डांवाडोल हो जाएंगे। वहां सब संगतियां गिर
जाएंगी, सब विरोध गिर जाएंगे और तभी आपको उस विराट के निकट पहुंचने का
मौका मिल सकेगा। और अगर आप राजी हुए तो कुछ ऐसा नहीं है कि अर्जुन की
कोई विशेष योग्यता थी कि उसको विराट दिखाई पड़े। ऐसी कोई विशेष योग्यता क
ा पात्र न था, सभी उतनी योग्यता के पात्र हैं, और जो सवाल अर्जुन ने उठाए थे व
ह कोई भी उठा सकता है। लेकिन अगर आप भी उस रहस्यपूर्ण में, उस 'मिस्टीरिय
स' में, वह जो बुद्धि के पार चला जाता है, चलने को राजी हुए, तो विराट की प्र
तीति आपको भी हो सकती है। वह विराट आपके सामने भी आ सकता है। उस वि
राट को ही लाने की मैं कोशिश करूंगा, उस विराट का व्यक्तिवाची नाम कृष्ण है,
कृष्ण से कुछ बहुत लेना-देना नहीं है। वह जो विराट है, समस्त का जोड़ है, उसका
 ही प्रतीकवाची नाम कृष्ण है।

इसलिए बहुत बार कृष्ण से चर्चा इधर-उधर छूट जाएगी तो उससे घबड़ा मत जाना
। मैं तो उस विराट की तरफ ही पूरे समय कोशिश करूंगा। और अगर आप राजी
हुए तो वह घटना घट सकती है। और कुरुक्षेत्र में ही घटे, ऐसा कुछ नहीं है, मनाल
ी में भी घट सकती है।

'भगवान श्री, चर्चा को आगे बढ़ाने के पहले पीछे का एक 'प्वाइंट' छूट गया था जो स्पष्ट कर लूं। बुद्ध की दुख की धारणा जीवन का तथ्य है और तथ्य को सामने र खने में क्या गलती है? जैसा सामान्य जीवन अभी है, क्या उसमें दुख नहीं है?'

★ दुख जीवन का तथ्य है; लेकिन दुख ही जीवन का तथ्य नहीं है, सुख भी जीवन का तथ्य है। और जितना बड़ा तथ्य दुख है, उससे छोटा तथ्य सुख नहीं है और जब हम दुख को ही तथ्य मानकर बैठ जाते हैं तो अतथ्य हो जाता है। 'फिक्शन' हो ज ाता है, क्योंकि सुख कहां छोड़ दिया। अगर जीवन में दुख ही होता तो बुद्ध को कि सी को समझाने की जरूरत न पड़ती। और बुद्ध इतना समझाते हैं लोगों को, फिर भी कोई भाग तो जाता नहीं। हम भी दुख में रहते हैं, लेकिन फिर भी भाग नहीं ज ाते। दुख से भिन्न भी कुछ होना चाहिए जो अटका लेता है, जो रोक लेता है। किसी को प्रेम करने में अगर सुख न हो, तो इतने दुख को झेलने को कौन राजी होगा। और कण भर सुख के लिए पहाड़ भर अगर आदमी दुख झेल लेता है, तो मानना ह ोगा कि कण भर सुख की तीव्रता पहाड़ भर दुख से ज्यादा होगी। सुख भी सत्य है। समस्त त्यागवादी सिर्फ दुख पर जोर देते हैं, इसलिए वह असत्य हो जाता है। समस्त भोगवादी सुख पर जोर देते हैं, इसलिए वह असत्य हो जाता है। भौतिकवादी सु ख पर जोर देते हैं इसलिए वह असत्य हो जाता है, क्योंकि वे कहते हैं, दुख है ही नहीं। वे कहते हैं, दुख है ही नहीं, सुख ही सत्य है। तब ध्यान रहे, आधे सत्य अस त्य हो जाते हैं। सत्य होगा तो पूरा ही होगा, आधा नहीं हो सकता। कोई कहे जन्म ही है, तो असत्य हो जाता है। क्योंकि जन्म के साथ मृत्यु है। कोई कहे, मृत्यु ही है, तो असत्य हो जाता है, क्योंकि मृत्यु के साथ जन्म है।

जीवन दुख है, ऐसा अगर अकेला ही प्रचारित हो, तो यह अतथ्य हो जाता है। हां लेकिन, जीवन सुख-दुख है, ऐसा तथ्य है। और अगर इसे और गौर से देखें, तो हर सुख के साथ दुख जुड़ा है, हर दुख के साथ सुख जुड़ा है। अगर इसे और गहरे देखें तो पता लगाना मुश्किल हो जाएगा कि दुख कब सुख हो जाता है, सुख कब दुख हो जाता है। 'ट्रांसफरेबल' है, 'कन्वर्टिबल' भी है। एक दूसरे में बदलते भी चले जा ते हैं। रोज यह होता है। असल में 'एम्फेसिस' का ही शायद फर्क है। जो चीज आज मुझे सुख मालूम पड़ती है, कल दुख मालूम पड़ने लगती है। जो कल मुझे सुख मा लूम पड़ती थी, आज दुख मालूम पड़ने लगती है। अभी मैं आपको गले लगा लूं, सु ख मालूम पड़ता है। फिर मिनट-दो मिनट न छोडूं, दुख शुरू हो जाता है। आधा घड़ ी न छोडूं तो आसपास देखते हैं कि कोई पुलिसवाला उपलब्ध होगा कि नहीं होगा। अब यह कैसे होगा छूटना? इसलिए जो जानते हैं, वे आपके छूटने के पहले छोड़ दे ते हैं। जो नहीं जानते, वे अपने सुख को दुख बना लेते हैं और कोई कठिनाई नहीं है। हाथ लिया हाथ में नहीं कि छोड़ना शुरू कर देना, अन्यथा बहुत जल्दी दुख शुरू हो जाएगा। हम सभी अपने सुख को दुख बना लेते हैं। सुख को हम छोड़ना नहीं च

ाहते, तो जोर से पकड़ते हैं, जोर से पकड़ते हैं तो दुख हो जाता है। फिर जिसको इतने जोर से पकड़ा फिर उसको छोड़ने में भी मुश्किल हो जाती है।
दुख को हम एकदम छोड़ना चाहते हैं। छोड़ना चाहते हैं, इसलिए दुख गहरा हो जा ता है। पकड़े रहें, दुख को भी तो थोड़ी देर में पाएंगे सुख हो गया। दुख का मतलब है कि शायद हम अपरिचित हैं, थोड़ी देर में परिचित हो जाएंगे। सुख का भी मत लब है, शायद हम अपरिचित हैं, और थोड़ी देर में परिचित हो जाएंगे। और परिच य सब बदल देगा।
मैंने सुना है एक आदमी के बाबत, वह एक नए गांव में गया। किसी आदमी से उस ने रुपये उधार मांगे। उस आदमी ने कहा, अजीब हैं आप भी! मैं आपको बिलकुल नहीं जानता और आप रुपये मांगते हैं। उस आदमी ने कहा, मैं अजीब हूं कि तुम! मैं अपना गांव इसलिए छोड़कर आया, क्योंकि वहां लोग कहते हैं, हम तुम्हें भली भ ांति जानते हैं, कैसे उधार दें? और तुम इस गांव में कहते हो कि जानते नहीं हैं, इ सलिए न देंगे। तो जब भलीभांति जान लोगे तब दोगे? लेकिन पुराने गांव में सब ल ोग भलीभांति जानते थे। और वहां इसलिए नहीं देते थे। अब मैं कहां जाऊं? ऐसा भी कोई गांव है, जहां मुझे भी रुपये उधार मिल सकें?
हम सब भी, हम जो तोड़कर देखते हैं उससे कठिनाई शुरू होती है। नहीं, ऐसा कोई गांव नहीं है। सब गांव एक जैसे हैं।
ऐसी कोई जगह नहीं है जहां सुख-ही-सुख है। ऐसी कोई जगह नहीं है जहां दुख-ही-दुख है। इसलिए स्वर्ग और नर्क सिर्फ कल्पनाएं हैं। वह हमारी इसी कल्पना की दौड़ है। एक जगह हमने दुख-ही-दुख इकट्ठा कर दिया है, एक जगह हमने सुख-ही-सुख इकट्ठा कर दिया है। नहीं, जिंदगी जहां भी है वहां सुख भी है, दुख भी है। नर्क में भी विश्राम के सुख होंगे और स्वर्ग में भी थक जाने से दुख होंगे।
बर्ट्रंड रसल ने कहीं एक बात कही है कि मैं स्वर्ग न जाना चाहूंगा, क्योंकि जहां सुख -ही-सुख होगा, वहां सुख कैसे मालूम पड़ेगा? जहां कोई बीमार ही न पड़ता होगा, वहां स्वास्थ्य का पता चलेगा? नहीं पता चलेगा। और जहां भी चाहिए वह मिल जा ता होगा, वहां मिलने का सुख होगा? मिलने का सुख न मिलने की लंबाई से आता है। इसलिए तो जो चीज मिल जाती है, समाप्त हो जाती है। प्रतीक्षा में ही सब सु ख होता है। जब तक नहीं मिलता, नहीं मिलता, सुख-ही-सुख होता है। मिला कि ह ाथ एकदम खाली हो जाते हैं। हम फिर पूछने लगते हैं, अब किस के लिए दुखी हों ? अर्थात अब हम किसके लिए सुख मानें प्रतीक्षा में? अब हम किसकी प्रतीक्षा करें ? अब हम क्या पाने की राह देखें, जिसमें सुख मिले?
रथ चाइल्ड नाम का एक बहुत बड़ा अरबपति मर रहा था। एक कहानी उसके बाब त प्रचलित है, पता नहीं सच है या झूठ। उसने अपने बेटे से कहा कि तूने देख ही ि लया होगा मेरी जिंदगी से कि अरबों रुपये हों, तब भी सुख नहीं मिलता। धन सुख नहीं है, संपत्ति सुख नहीं है। उसके बेटे ने कहा, देख लिया आपकी जिंदगी से, लेकि न एक बात भी देखी कि धन पास में हो तो अपने मन का दुख चुना जा सकता है।

उस बेटे ने कहा, धन पास हो, तो 'यू कैन हैव योर ओन च्वाइस आफ सफरिंग। एण्ड दि च्वाइस इज ब्लिसफुल'। उसने कहा कि वह जो चुनाव है, वह बड़ा सुख का है। इतना मैं जानता हूं कि सुखी तो आप न थे, लेकिन जो भी दुख चाहते थे, चुन लेते थे। एक गरीब आदमी जो भी दुख चाहे, नहीं चुन सकता। गरीब और अमीर के दुख में बहुत फर्क नहीं होता, चुनाव में फर्क होता है। गरीब को उसी स्त्री के सा थ दुख भोगना पड़ता है जो मिल गई। अमीर वे स्त्रियां चुन लेता है जिनके साथ दु ख भोगना हो। लेकिन यह भी कोई कम सुख है।

जिनको हम सुख-दुख कहते हैं, बहुत गहरे में जाएंगे तो वे एक ही चीज के दो रूप हैं, एक ही चीज के दो हिस्से हैं, शायद एक ही चीज की घनताएं, 'डेंसिटीज' हैं। फिर जो दुख मेरे लिए दुख है, वह आपके लिए सुख हो सकता है। मेरे पास अगर करोड़ रुपये हैं और अगर पचास लाख रुपये मैं खो दूं, तो मेरे पास पचास लाख रुप ये बचेंगे लेकिन मैं दुखी हो जाऊंगा। और आपके पास अगर पचास लाख रुपये नहीं हैं और आपको पचास लाख मिल जाएं, तो हम दोनों की स्थिति एक होगी—मेरे पा स भी पचास होंगे और मैं रोऊंगा छाती पीटकर, आपके पास भी पचास होंगे और आप नाचेंगे छाती पीटकर। हम दोनों की स्थिति एक होगी। पचास मेरे पास भी होंगे , लेकिन मैंने पचास खोए हैं। और पचास आपके पास भी होंगे, लेकिन आपने पचास पाए हैं। लेकिन ध्यान रहे, आप कितनी देर तक छाती पीटकर नाचेंगे, क्योंकि जि सके पचास लाख हो जाते हैं उसके पास पचास लाख खोने की संभावना हो जाती है । और मैं कितनी देर रोऊंगा पचास लाख खो गए उनके लिए? क्योंकि जो पचास लाख खोता है वह फिर पचास लाख पैदा करने में लग जाता है, खोजने में लग जा ता है।

नहीं, न तो मेरा सुख आपका सुख बन सकता, न मेरा दुख आपका दुख बन सकता और न ही मेरा आज का दुख मेरा कल का सुख बन सकता। न ही मेरा अभी जो सुख है वह क्षण भर बाद भी सुख होगा यह मैं कह सकता। सुख और दुख आकाश में आ गई बदलियों जैसे हैं—आते हैं, जाते हैं—लेकिन दोनों ही सत्य हैं। दोनों ही स त्य हैं, यह भी कहना पड़ता है क्योंकि हमारी सारी भाषा दो को मानकर चलती है। एक ही सत्य है, जो कभी सुख जैसा दिखाई पड़ता है, कभी दुख जैसा दिखाई पड़ ता है। सुख और दुख हमारे 'इंटरप्रेटेशंस' हैं। सुख और दुख हमारी व्याख्याएं हैं। ह म किस चीज की व्याख्या करते हैं, इस पर सब कुछ निर्भर करता है। हम क्या व्या ख्या करते हैं? सुख और दुख स्थितियां कम, व्याख्याएं ज्यादा हैं और व्याख्याएं हजा रों चीजों पर निर्भर होती हैं, वह हम पर निर्भर होती हैं हजार चीजें।

लेकिन दोनों ही एक साथ सत्य हैं अगर यह स्मरण में आ जाए, तो फिर बुद्ध का सत्य अधूरा मालूम पड़ेगा, 'एम्फेटिक' मालूम पड़ेगा। हालांकि कारगर होगा। बुद्ध क ो शिष्य मिल जाएंगे, करोड़ों, कृष्ण को नहीं मिल सकेंगे। चार्वाक को अनुयायी मिल जाएंगे, अरबों, कृष्ण को नहीं मिल सकेंगे। दोनों चुनाव करते हैं, और एक अति का चुनाव करते हैं, और साफ कह देते हैं कि चीजें ऐसी हैं। और जब हमें चीजें वै

सी दिखाई पड़ती हैं तो हम कहते हैं कि बिलकुल ठीक कहते हैं। तुम्हें भी बुद्ध हर हालत में ठीक दिखाई न पड़ेंगे। तुम्हें भी उस हालत में दिखाई पड़ेंगे जब तुम दुख में हो। अगर तुम दुख में नहीं हो तो बुद्ध ठीक दिखाई मालूम नहीं पड़ेंगे। सुखी आदमी बुद्ध की उपेक्षा कर जाएगा; जो अभी सुखी अपने को समझ रहा है। दुखी होते ही से बुद्ध के वचन सार्थक होने शुरू हो जाएंगे। इसमें बुद्ध सार्थक हो रहे हैं कि आप बुद्ध के वचन के निकट आ रहे हैं।

लेकिन कृष्ण हमेशा बेबूझ रहेंगे, आप चाहे दुख में हों तो बेबूझ रहेंगे, आप चाहे सुख में हों तो भी बेबूझ रहेंगे। कृष्ण तो आप दोनों में एक साथ, एक जैसे राजी हो जाएं, तब आपकी सूझ-बूझ में आना शुरू होंगे। जिस दिन आप कह सकें कि दुख है तो भी राजी, सुख है तो भी राजी; और जिस दिन आप कह सकें कि दुख है, यह भी आने वाला सुख है, सुख है और यह भी आने वाला दुख है; और जिस दिन आप कह सकें कि हम इन दोनों को अलग नाम ही नहीं देते, अब हमने नाम देना ही बंद कर दिया है, अब जो आ जाता है, आ जाता है, अब हम व्याख्या ही नहीं करते, उस दिन आप कहां होंगे? उस दिन आप आनंद में होंगे। उस दिन आप सुख में भी नहीं होंगे, दुख में भी नहीं होंगे—आपने व्याख्याएं बंद कर दी हैं। जिस आदमी ने व्याख्याएं बंद कर दी हैं घटनाओं की, वह आदमी आनंद में प्रविष्ट हो जाता है। और जो आनंद में है वह कृष्ण को समझ सकेगा। वही समझ सकेगा।

आनंद का मतलब यह नहीं है कि अब दुख नहीं आएंगे। आनंद का मतलब यह है कि अब आप ऐसी व्याख्या नहीं करेंगे जो उन्हें दुख बना दे। आनंद का यह मतलब नहीं है कि अब सुख-ही-सुख आए चले जाएंगे, नहीं, आनंद का इतना ही मतलब है कि अब आप वे व्याख्याएं छोड़ देंगे जो उन्हें सुख बनाती थीं, या, सुख की सतत मांग करवाती थीं। अब चीजें जैसी होंगी होंगी—धूप धूप होगी, छाया छाया होगी। कभी धूप होगी, कभी छाया होगी। और अब आप उनसे प्रभावित होना बंद हो जाएंगे, क्योंकि अब आप जानते हैं चीजें आती हैं, चीजें चली जाती हैं। और आप पर सब आता है और सब चला जाता है, फिर भी आप आप ही रह जाते हैं। और यह जो रह जाना है, यह जो 'रिमेनिंग', यह जो पीछे आपकी चेतना है, यही कृष्ण-चेतना है। जो 'कृष्ण-कांशसनेस' कहें, वह यह घड़ी है जब सुख और दुख आते हैं और जाते हैं और आप देखते रहते हैं; आप कहते हैं, सुख आया, सुख गया, और यह भी दूसरों की व्याख्या है, मेरी नहीं। यह भी दूसरे इसको सुख कहते हैं, जो आया; और दूसरे इसको दुख कहते हैं, जो आया; यह भी मेरी व्याख्या नहीं है। ऐसा हो रहा है, मुझसे गुजर रहा है। तब आप आनंदित होंगे।

कृष्ण के लिए जो सार्थक है जीवन का शब्द, वह आनंद है। दुख और सुख दोनों सार्थक नहीं हैं। वह आनंद को ही बांटकर पैदा किए गए हैं। जिस आनंद को आप स्वीकार करते हैं उसे सुख कहते हैं और जिस आनंद को स्वीकार नहीं करते उसको दुख कहते हैं। वह आनंद को दो हिस्सों में बांटकर पैदा की गई व्याख्या है। इसलिए जब तक आप उस आनंद को स्वीकार करते हैं, वह सुख है; और जब स्वीकार नहीं

करते हैं, वह दुख हो जाता है। आनंद सत्य है, पूर्ण सत्य है। इसलिए आनंद से उलटा कोई शब्द नहीं है। सुख का उलटा दुख है। प्रेम का उलटा घृणा है। बंधन का उलटा मुक्ति है। आनंद का कोई उलटा शब्द नहीं है। आनंद से उलटी कोई अवस्था ही नहीं है। आनंद से उलटी भी अगर कोई अवस्था है तो यह सुख-दुख की ही कह सकते हैं, और कोई उलटी अवस्था नहीं है। इसलिए स्वर्ग के खिलाफ नर्क है, लेकिन मोक्ष के खिलाफ कुछ भी नहीं है। क्योंकि मोक्ष आनंद की अवस्था है। उसके खिलाफ कोई जगह बनाने का उपाय नहीं है। मोक्ष का मतलब ही यही है कि अब सुख-दुख दोनों के लिए एक-सा राजीपन आ गया, एक-सी स्वीकृति का भाव आ गया। अब तुम आगे बढ़ो नहीं तो मुश्किल में पड़ेंगे।

'कृष्ण को पूर्णावतार कहने के क्या-क्या कारण हैं? कुछ और नए कारण बताएं। और चौंसठ कलाओं के संदर्भ में सविस्तार प्रकाश डालें।'

✸ नहीं, पूर्ण को कहने का और कोई कारण नहीं है। जो व्यक्ति भी शून्य हो जाता है, वह पूर्ण हो जाता है। शून्यता पूर्ण की भूमिका है। अगर ठीक से कहें तो शून्य ही एकमात्र पूर्ण है। इसलिए आप आधा शून्य नहीं खींच सकते। ज्यामेट्री में भी नहीं खींच सकते। आप अगर कहें कि मैंने आधा शून्य खींचा, तो वह शून्य नहीं रह जाएगा, आधा शून्य होता ही नहीं। शून्य सदा पूर्ण ही होता है। पूरा ही होता है। अधूरे का कोई मतलब ही नहीं होता। शून्य के दो हिस्से कैसे करियेगा? और जिसके दो हिस्से हो जाएं उसको शून्य कैसे कहियेगा? शून्य कटता नहीं, बंटता नहीं, 'इंडिविजिबल' है। विभाजन नहीं होता। जहां से विभाजन शुरू होता है, वहां से संख्या शुरू हो जाती है। इसलिए शून्य के बाद हमें एक से शुरू करना पड़ता है। एक, दो, तीन, यह फिर संख्या की दुनिया है। सब संख्याएं शून्य से निकलती और शून्य में खो जाती हैं। शून्य एक मात्र पूर्ण है।

शून्य कौन हो सकता है? वही पूर्ण हो सकता है। कृष्ण को पूर्ण कहने का अर्थ है। क्योंकि यह आदमी बिलकुल शून्य है। शून्य वह हो सकता है जिसका कोई चुनाव नहीं। जिसका चुनाव है, वह तो कुछ हो गया। उसने 'समबडीनेस' स्वीकार कर ली। उसने कहा कि मैं चोर हूं, यह कुछ हो गया। शून्य कट गया। उसने कहा मैं साधु हूं, यह कट गया, शून्य कट गया। यह आदमी कुछ हो गया। इसने कुछ होने को स्वीकार कर लिया, 'समबडीनेस' आ गई, 'नथिंगनेस' खो गई। अगर कृष्ण से कोई जाकर पूछे कि तुम कौन हो, तो कृष्ण कोई सार्थक उत्तर नहीं दे सकते हैं। चुप ही रह सकते हैं। कोई भी उत्तर देंगे तो चुनाव शुरू हो जाएगा। वह कुछ हो जाएंगे। असल में जिसको सब कुछ होना है, उसे न-कुछ होने की तैयारी चाहिए।

झेन फकीरों के बीच एक कोड है। वे कहते हैं: 'वन हू लांग्स टु बी एवरीव्हेयर, मस्ट नॉट बी ऐनीव्हेयर'। जिसे सब कहीं होना हो, उसे कहीं नहीं होना चाहिए। या न-कहीं होना चाहिए। जो सब होना चाहता है, वह कुछ नहीं हो सकता। कैसे कुछ हो

गा? कुछ और सबका क्या मेल होगा? चुनाव नहीं। 'च्वाइसलेसनेस' शून्यता ला देत ी है। फिर आप जो हैं, हैं। लेकिन, कह नहीं सकते कौन हैं, क्या हैं? इसलिए अर्जुन उनसे पूछता है कि आप बताएं आप कौन हैं? तो उत्तर नहीं देते, अपने को ही ब ता देते हैं। उसमें वे सब हैं। पूर्ण का बहुत गहरा कारण तो उनका शून्य व्यक्तित्व है। जो कुछ है, वह अड़चन में पड़ेगा। क्योंकि जिंदगी ऐसी जगह उसको ले जाएगी जहां उसका कुछ होना बंधन हो जाएगा। अगर मैंने कुछ भी होने का तय किया, तो जिंदगी उन घड़ियों को भी लाएगी जब मेरा कुछ होना ही मेरे लिए मुश्किल पड़ जाएगा।

कबीर के घर बहुत लोग रुकते थे और कबीर सबको कहते, खाना खा जाओ। और एक दिन बड़ी मुश्किल हो गई। कबीर के बेटे ने कहा, कब तक यह चलेगा? हम उधारी से दबे जाते हैं। तो कबीर ने कहा, उधारी लेते रहो । तो उसके बेटे ने कहा , चुकाएगा कौन? कबीर ने कहा, जो देता है वही चुका भी लेगा। हम क्यों फिकिर करें! लेकिन बेटे की समझ में न आया। वह गणित और हिसाब-किताब का आदमी ! उसने कहा कि इन बातों से नहीं चलेगा, यह कोई अध्यात्म नहीं है। यहां जिनसे हम लेते हैं, वे मांगते हैं। और न देंगे तो चोर हो जाएंगे, बेईमान सिद्ध होंगे। तो कबीर ने कहा, सिद्ध हो जाना। इसमें हर्ज क्या है। और अगर लोगों ने हमें बेईमान कहा तो हमारा क्या बिगड़ जाएगा। लेकिन बेटे ने कहा कि यह हमारे बर्दाश्त के बा हर है। आप कृपा करके इतने उपद्रव में न डालकर, लोगों से खाना खाएं यहां यह आग्रह करना बंद कर दें। कबीर ने कहा, होगा तो हो जाएगा।

लेकिन दूसरे दिन फिर लोग आए और कबीर ने कहा, खाना खाकर जाना, और लो गों ने खाया और उनके लड़के ने कहा कि वह नहीं हुआ। कबीर ने कहा कि मैं को ई वचन नहीं दे सकता, क्योंकि मैं कोई बंधन में नहीं पड़ सकता। हो जाएगा तो हो जाएगा। किसी दिन नहीं कहूंगा तो नहीं कहूंगा, और जब तक होता है, कहना नि कलता है, तो कहता हूं। उस लड़के ने कहा, फिर अब ज्यादा नहीं चल सकती बात । अब तो मुझे चोरी ही करनी पड़ेगी, उधार भी देने को गांव में कोई तैयार नहीं है। तो कबीर ने कहा, पागल, यह पहले ही क्यों न सोचा, उधारी की झंझट से बच जाते। लेकिन बेटा बड़ी मुश्किल में पड़ गया क्योंकि कबीर, साधु, सदा अच्छी बात कहता, यह हो क्या गया है? लेकिन बेटे ने कहा परीक्षा कर लें, कहीं यह मजाक तो नहीं है।

तो रात उसने कबीर को उठाया कि मैं चोरी को जाता हूं, आप भी साथ चलेंगे? कबीर ने कहा, जब उठा ही लिया है तो चला चलता हूं। बेटे ने सोचा, क्या सच में ही यह चोरी को राजी हो जाएंगे! लेकिन बेटा भी कबीर का था। उसने कहा कि इतनी जल्दी लौट जाना ठीक नहीं, हो सकता है मजाक ही हो। वह गया, उसने जा कर दीवाल तोड़नी शुरू की, सेंध लगाई। कबीर किनारे खड़े हैं। उसने देखा कि अभ ी भी कुछ नहीं कहते कि अब बस रुक जाओ, मजाक बंद। लेकिन वह डर रहा है। कबीर उसे कहते हैं, डरते क्यों हो? वह कहता है, डरें न और! और मजे की बात

सुनिए वह कहता है कि, चोरी कर रहे हैं और डरें न! कबीर ने कहा, डरते हो इसलिए अपने को चोर समझ रहे हो। नहीं तो और कारण ही क्या है चोर समझने का? डरो मत, और ठीक से खुदाई करो, नहीं तो घर के लोग...नाहक नींद खराब हो जाएगी। तो बेटे ने किसी तरह तो खुदाई की। उसने सोचा कि शायद मजाक यहां खतम हो जाएगी। उसने कहा, अब भीतर चलें? कबीर ने कहा, चलो। वे भीतर गए। उन्होंने गेहूं का एक...कोई धन तो चुराना न था, भोजन की ही तकलीफ थी, तो एक गेहूं का बोरा खींचकर बाहर निकाला। जब बोरा बाहर निकल आया, कबीर ने कहा कि अब तो सुबह भी होने के करीब हो गई, नींद में कोई बाधा भी न पड़ेगी, घर के लोगों को जगाकर कह आओ कि हम एक बोरा चुराए लिए जाते हैं। तो उसके बेटे ने कहा, चोरी करने आए हैं कि कोई साहूकारी करने आए हैं। कबीर ने कहा, लेकिन घर के लोगों को परेशानी होगी कि कहां गया, क्या हुआ, ढूंढ़ने की मुसीबत होगी।

कबीर की इस घटना को कबीर को मानने वाला छांट ही जाता है। क्योंकि यह तो बेबूझ हो गई बात। कबीर साधु हैं कि कबीर चोर हैं? तय करना मुश्किल है। चोर होने में कोई कमी नहीं है, चोरी की गई है। साधु होने में जरा शक नहीं, क्योंकि कहता है—डरता क्यों है? क्योंकि कहता है, जगाकर घर के लोगों को खबर कर दें, उनको परेशानी न हो, वे खोजें न कि कौन ले गया, नाहक मुसीबत में न पड़ें। लडका कहता है, घर में खबर करूंगा जाकर तो वे चोर समझेंगे। कबीर कहता है, चोरी तो की है तो चोर हैं। इसमें वे समझेंगे तो वे गलत तो न समझेंगे। तो ठीक ही समझेंगे। तो वह लड़का कहता है, गांव भर में खबर फैल जाएगी कि तुम चोर हो। कौन आएगा तुम्हारे पास? तो कबीर ने कहा, तेरी मुसीबत मिटेगी; न कोई आएगा, न मैं खाने के लिए कहूंगा। मगर वह लड़के के समझ में नहीं आता, वह सारी बात उलटी होती चली जाती है।

कृष्ण के पूरे होने का दूसरा अर्थ है कि कृष्ण के जीवन में वह सब कुछ है जो कि एक ही जीवन में होना मुश्किल है। असंभव लगता है। सब कुछ है—विरोधी, ठीक विरोधी। कृष्ण से ज्यादा असंगत, 'इनकंसिस्टेंट' व्यक्तित्व नहीं है। जीसस के व्यक्तित्व में एक संगति है, महावीर के व्यक्तित्व में एक संगति है, बुद्ध के व्यक्तित्व में एक तर्क है, एक संगतिपूर्ण व्यवस्था है, एक 'सिस्टम' है। बुद्ध का एक हिस्सा समझ लो, तो पूरे बुद्ध समझ में आ जाते हैं। रामकृष्ण ने कहा है कि एक साधु समझ लो तो सब साधु समझ में आ जाते हैं। यह कृष्ण की बाबत न लगेगा। रामकृष्ण ने कहा कि समुद्र की एक बूंद समझ लो तो पूरा समुद्र समझ में आ जाता है। यह कृष्ण की बाबत न लगेगा। समुद्र एकरस है, एक बूंद चखो तो खारी है, दूसरी बूंद चखो तो खारी है—सब नमक ही है। लेकिन कृष्ण में शक्कर भी मिल सकती है; और पक्का नहीं है कि पड़ोस की बूंद में शक्कर हो। कृष्ण का व्यक्तित्व जो है, सब-रस है।

ठीक ऐसा ही उनके व्यक्तित्व में सारी कलाएं हैं। कृष्ण कलाकार नहीं हैं, क्योंकि क लाकार में एक ही कला होती है। कृष्ण कला ही हैं। तब सब पूरा हो जाता है। औ र इसलिए जिन्होंने उनको देखा, जाना, पहचाना, उनको सब तरह की अतिशयोक्ति करनी पड़ी। हम सब के बाबत 'एक्जजरेशन' से बच सकते हैं या एक ही दिशा में 'एक्जजरेट' कर सकते हैं, कृष्ण के साथ कठिनाई खड़ी हो जाती है। क्योंकि हमारे पास जो अति आखिरी शब्द हैं वे हमें उपयोग करने पड़ेंगे। और कठिनाई और बढ़ जाती है कि इससे विपरीत अति का शब्द भी उपयोग करना पड़ेगा। वे ठंडे और ग र्म एक साथ हैं। ऐसे पानी भी ठंडा और गर्म एक साथ ही होता है। हमारी व्याख्या से कठिनाई खड़ी हो जाती है। हम ठंडे और गर्म को अलग-अलग कर देते हैं। हम बांट देते हैं दो हिस्सों में। लेकिन अगर हम पानी से पूछें कि तुम ठंडे हो या गर्म? तो पानी क्या कहेगा? पानी कहेगा कि अपना हाथ डालकर देखिए तो आपको पता चल सकता है। क्योंकि असली सवाल मेरे ठंडे और गर्म होने का नहीं है, असली स वाल आप ठंडे हैं कि गर्म, इसका है।

अगर आप गर्म हैं तो पानी ठंडा मालूम पड़ सकता है, आप ठंडे हैं तो पानी गर्म मा लूम पड़ सकता है। पानी का गर्म और ठंडा होना आपके प्रति 'रिलेटिव' है, आपके प्रति सापेक्ष है। इसलिए अगर आप एक हाथ सिगड़ी पर रखकर गर्म कर लें और ए क बर्फ पर रखकर ठंडा कर लें और फिर एक ही बालटी में डाल दें तो आप उसी मुश्किल में पड़ जाएंगे जो कृष्ण के साथ खड़ी होती है। तब पानी ठंडा-गरम दोनों म ालूम पड़ेगा। एक हाथ कहेगा ठंडा है, एक हाथ कहेगा गर्म है। तब आप सिर पीट लेंगे, आप कहेंगे मेरे हाथ बड़ी गड़बड़ खबर देते हैं। हाथ ठीक खबर दे रहे हैं। हाथ ने सदा ही ठीक खबर दी है। हाथ असल में जो भी खबर देता है वह अपनी अपेक्ष ा में, अपनी सापेक्षता में, अपनी 'रिलेटीविटी' में देता है। वह यह कहता है कि मेरे और पानी के बीच क्या संबंध है।

तो अगर आप किसी कृष्ण को प्रेम करने वाली राधा से पूछेंगे तो वह कुछ और ख बर देगी कि कृष्ण कौन हैं। वह इसे पूर्ण भगवान शायद न भी कहे। या शायद कहे भी। उस पर निर्भर होगा। कृष्ण पर निर्भर नहीं होगा। राधा पर ही निर्भर होगा, व ह 'रिलेटिव' है। अगर राधा ने किसी और स्त्री के साथ कृष्ण को नाचते देख लिया तो भगवान कहना उसे बहुत मुश्किल पड़ेगा। अब यह पानी बिलकुल ठंडा मालूम प. डेगा। पानी भी न मालूम पड़े, यह भी हो सकता है। लेकिन अगर कृष्ण राधा के सा थ नाचे हैं तो वह इतना पूरा नाचते हैं उसके साथ भी कि उसे लगता है कि पूरे ही उसके हैं। तब वह उन्हें भगवान भी कह सकती है। सभी राधाएं, जब कोई उनके साथ पूरा नाचता है तो उसे भगवान कह देती हैं, लेकिन क्षण भर में वह आदमी शै तान भी हो सकता है। लेकिन ये सारे वक्तव्य सापेक्ष वक्तव्य हैं। अर्जुन से पूछियेगा, पांडवों से पूछियेगा, तो कृष्ण भगवान मालूम होंगे, कौरवों से पूछियेगा तो यह आ दमी भगवान कैसे मालूम होगा। इस आदमी से ज्यादा शैतान और कौन होगा; यही तो उनकी पराजय बनता है, यही तो उनकी मृत्यु बनता है।

कृष्ण कौन हैं, ये हजार वक्तव्य हो सकते हैं। लेकिन बुद्ध कौन हैं, इसके बाबत वक
तव्य हजार नहीं होंगे। क्योंकि बुद्ध जो हैं वह सब सापेक्ष संबंधों में अपने को अलग
कर लेते हैं, इसलिए वह एकरस हैं। उन्हें कहीं से भी चखो, वे खारे ही हैं। इसलिए
बुद्ध के बाबत हमारे 'स्टेटमेंट' का, वक्तव्य का क्या अर्थ हो सकता है। कृष्ण हमा
रे 'स्टेटमेंट' को धोखा दे जाएंगे। और चूंकि उन्होंने सभी वक्तव्यों को धोखा दिया,
इसलिए मैं कहता हूं कि वह पूर्ण हैं। कोई वक्तव्य उनको पूरा नहीं घेर पाता, बाकी
रह जाता है और उलटे वक्तव्य से घेरना पड़ता है। और सभी वक्तव्य मिलकर ही
उनको घेर पाते हैं, विरोधी हो जाते हैं।

कृष्ण की पूर्णता का अर्थ सिर्फ इतना ही है कि कृष्ण के पास अपने जैसा कोई व्यकि
तत्व नहीं है। वह खाली अस्तित्व हैं, 'एक्जिस्टेंस' हैं। अस्तित्व हैं, बस, खाली हैं,
कहें कि दर्पण की तरह हैं। जो उनके सामने आ जाता है, वही उसमें दिखाई पड़ता
है। 'ही जस्ट मिरर्स'। जो भी दिखाई पड़ जाता है वही दिखाई पड़ता है। जब आप
को अपनी शक्ल उसमें दिखाई पड़ती है तो आप सोचते हैं, मेरे जैसे हैं। और आप
हटे नहीं कि वह शक्ल गई नहीं, और कृष्ण फिर खाली हैं। और जो भी सामने आत
ा है, वह अपने जैसा बता देता है। ये सभी खबर देते हैं कि कृष्ण मेरे जैसे हैं। गीत
ा में जिसने भी झांका उसने कह दिया कि गीता मेरी जैसी है, इसलिए हजार टीका
एं हो गईं। बुद्ध के वचनों की इतनी टीकाएं नहीं हैं। उसका कारण है। जीसस के व
चनों की इतनी टीकाएं नहीं हैं। दस-पांच टीकाएं हैं, तो भी उनमें फासले बहुत कम
हैं। असल में हजार अर्थ कृष्ण पर ही थोपे जा सकते हैं, बुद्ध पर थोपे नहीं जा स
कते। बुद्ध जो कहते हैं, 'डेफिनिट' है, सुनिश्चित है। वक्तव्य पूरा-का-पूरा है, साफ
है, सुथरा है, तर्कयुक्त है। वह जो कहते हैं उसमें थोड़े-बहुत फर्क हो सकते हैं हमार
ी बुद्धि के अनुसार, लेकिन बहुत फर्क नहीं हो सकते। अब महावीर पर अगर कोई
बहुत झगड़ा भी हुआ है, तो केवल दो पंथ बन सके। उनमें भी बहुत ज्यादा झगड़ा
नहीं है, बहुत छोटी बातों पर झगड़ा है—कि महावीर नग्न थे या नहीं थे, इस पर झ
गड़ा है, महावीर के वक्तव्य पर झगड़ा नहीं है। श्वेतांबरों दिगंबरों में महावीर के व
क्तव्य पर कोई झगड़ा नहीं है। महावीर का वक्तव्य साफ है। महावीर पर पंथ नहीं
खड़े किए जा सकते, लेकिन कृष्ण पर भी पंथ खड़े नहीं किए जा सकते, लेकिन का
रण बिलकुल उलटा है। कृष्ण पर पंथ खड़े करो तो लाख खड़े हो जाएं। और फिर
भी कृष्ण पीछे बाकी बच जाएंगे कि नए पंथ बनाना चाहे कोई तो नई भूमि उपलब्ध
हो जाएगी।

इसलिए कृष्ण पर पंथ तो खड़े नहीं हुए, व्याख्याएं खड़ी हो गईं। बहुत अनूठी घटना
घटी कृष्ण पर। जीसस पर पंथ खड़े हो गए, व्याख्याएं हो गईं, दो या तीन व्याख्या
एं हो गईं, दो या तीन पंथ हो गए। कृष्ण पर पंथ खड़ा नहीं हो सका इस अर्थ में,
व्याख्याएं खड़ी हुईं। गीता की हजार व्याख्याएं हैं, और एक व्याख्या दूसरी व्याख्या
की बिलकुल दुश्मन हो सकती है। रामानुज जो व्याख्या करेंगे, शंकर को कह सकते
हैं तुम बिलकुल ही मूढ़ हो, तुम कुछ जानते ही नहीं, तुम्हें कृष्ण का कुछ पता ही

नहीं। शंकर जो व्याख्या करेंगे, उसमें रामानुज को कह सकते हैं बिलकुल नासमझ ह
ो, तुम्हें कुछ पता ही नहीं। और दोनों सही हो सकते हैं। कोई कठिनाई नहीं है। लेि
कन, कारण सिर्फ इतना है कि कृष्ण का व्यक्तित्व सुनिश्चित नहीं है, अनिश्चित है।
उसकी रूपरेखा नहीं है, निराकार है। इस अर्थों में भी पूर्ण हैं, क्योंकि सिर्फ पूर्ण ही
निराकार हो सकता है।

और जो भी व्याख्याएं हैं, इसलिए मैं कहता हूं कि गीता की कोई भी व्याख्या कृष्ण
की व्याख्या नहीं है। जिन्होंने व्याख्या की है, उनकी ही व्याख्याएं हैं। शंकर जो जान
ते हैं उसकी व्याख्या गीता में खोज लेते हैं, मिल जाती है। वह शंकर खोज लेते हैं
कि जगत माया है। रामानुज खोज लेते हैं कि भक्ति मार्ग है। तिलक खोज लेते हैं ि
क कर्म द्वार है। गांधी गीता में भी खोज लेते हैं कि अहिंसा सत्य है। इसमें कोई अ.
डचन नहीं आती किसी को भी। कृष्ण किसी को बाधा नहीं देते, सबका स्वागत है।
दर्पण की तरह हैं, अपनी शक्ल देखो और हट जाओ। बाकी वहां कोई दर्पण की अप
नी कोई 'फिक्स्ड इमेज' नहीं है। फोटो-फिल्म की तरह नहीं है। फोटो-फिल्म भी 'मि
रर' का काम करती है, दर्पण का काम, लेकिन सिर्फ एक बार। फिर 'फिक्सड' हो
जाती है। एक दफा आपकी तस्वीर उसमें झलकती है, फिर खत्म हो जाती है। फिल
म खत्म हो जाती है, तस्वीर पकड़ जाती है। इसलिए हम फोटो की यह फिल्म को
कह सकते हैं, यह किसकी फिल्म है, यह किसकी फोटो है? लेकिन दर्पण किसका है
? जो झांकता है उसका ही है। और जब कोई नहीं झांकता तब दर्पण किसका? तब
दर्पण खालीपन को ही 'मिरर' करता रहता है। खालीपन को ही दर्शाता रहता है।
खालीपन को ही दिखाता रहता है, खाली कमरा ही झलकता रहता है। कमरा नहीं
होगा, कुछ और होगा, वह झलकता रहेगा। शून्य होगा, शून्य झलकेगा। जो होगा
वह झलकता रहेगा। इन अर्थों में कृष्ण को पूर्ण कहता हूं।

लेकिन और बहुत अर्थों में धीरे-धीरे रोज-रोज खयाल आएगा कि और बहुत-बहुत
अर्थों में वह पूर्ण हैं। और पूर्ण बहुत अर्थों में ही होंगे, क्योंकि अगर एकाध अर्थों में
ही पूर्ण हैं तो अपूर्ण हो जाएंगे। क्योंकि एक अर्थ में जो पूर्ण है, उस अर्थ में तो महा
वीर भी पूर्ण हैं, एक अर्थ है। जीसस भी पूर्ण हैं, एक अर्थ है। एक व्यक्तित्व की पू
र्णता तो जीसस हैं ही। यानी, शायद उस तरह के व्यक्तित्व में कुछ बचा नहीं है ज
ो कि जीसस में नहीं है। जैसे गुलाब पूर्ण है। चमेली की तरह नहीं, गुलाब की तरह।
चमेली की तरह गुलाब कैसे पूर्ण हो सकता है? चमेली की तरह चमेली ही पूर्ण ह
ोती है। लेकिन चमेली गुलाब की तरह पूर्ण नहीं हो सकती।

बुद्ध पूर्ण हैं, महावीर पूर्ण हैं, क्राइस्ट पूर्ण हैं बहुत और अर्थों में, बहुत अपूर्ण अर्थों
में। एक व्यक्तित्व की दिशा को उन्होंने पूरा छू डाला है। उस दिशा में कुछ बाकी न
हीं छोड़ा। लेकिन कृष्ण की पूर्णता बहुत भिन्न है। वह 'वन-डायमेंशनल' नहीं है, ए
क-आयामी नहीं है। 'मल्टी-डायमेंशनल' है। वह बहु-आयामी हैं। वह सभी दिशाओं
में प्रवेश कर जाते हैं। वह चोर हैं तो पूरे चोर हैं आर साधु हैं तो पूरे साधु हैं। या
द करते हैं, तो पूरा याद करते हैं, भूलते हैं तो पूरा ही भूल जाते हैं। इसलिए जब

छोड़कर चले गए एक जगह को, तो उस जगह को भूल गए हैं। अब उस जगह के लोग परेशान हैं, रो रहे हैं, चिल्ला रहे हैं और कृष्ण को बहुत कठोर ठहरा रहे हैं। बाकी वह बेचारा कठोर जरा-भी नहीं है। या, पूर्ण है कठोरता में। जरा भी नहीं है इन अर्थों में कि जो पूरा याद करता है, वह आदमी पूरा भूल जाता है। जो आधा-आधा याद करता है, वह आधा-आधा याद भी रखता है। दर्पण आपको पूरा झलका देता है, मामला खतम हो गया, बात निपट गई, आप चले गए, खाली हो गया। कृष्ण जहां पहुंच गए हैं, वहां दर्पण बन रहा है बन रहा है। अब जो उसको दिखाई पड़ रहा है, वह दिखाई पड़ रहा है; जिसको प्रेम करना पड़ रहा है उसको वह प्रेम कर रहे हैं और जिससे लड़ना पड़ रहा है उससे लड़ रहे हैं। जो उनके सामने है, व ह है। पर यह 'मल्टी-डायमेंशनल' है।

तो पूर्णता कृष्ण की बहु-आयामी है। और एक आयाम में पूर्ण होना ही बहुत कठिन है, 'आरडुअस' है। एक आयाम में पूर्ण होना आसान मामला नहीं है। और बहु-आया म में पूर्ण होना तो, कठिन कहना भी उचित नहीं है, कहना चाहिए असंभव है। लेि कन असंभव भी घटित होता है, और तभी चमत्कार हो जाता है। जब असंभव घटि त होता है तो 'मिरेकल' हो जाता है। कृष्ण का व्यक्तित्व बिलकुल चमत्कार है। व ह बिलकुल 'मिरेकल' है।

हम सब तरह के व्यक्तियों की तुलना खोज सकते हैं। महावीर और बुद्ध के व्यक्तित व बड़े निकट हैं—सन्निकट हैं, बड़े पड़ोसी व्यक्तित्व हैं। हेर-फेर बड़े छोटे हैं। अगर महावीर और बुद्ध के व्यक्तित्व में हम फर्क खोजने जाएं तो बहुत थोड़े फर्क हैं। न के बराबर हैं। जो फर्क हैं, वह भी कहना चाहिए कि बाह्य व्यक्तित्व के फर्क हैं। भी तरी अंतरात्मा बड़ी एक। एक-जैसी। लेकिन कृष्ण की तुलना हम खोजने जाएं तो मु श्किल में पड़ जाएंगे। इस पृथ्वी पर अब तक नहीं हो सकी।

स्वभावतः इस तरह के असंभव व्यक्तित्व के कुछ फायदे होंगे, कुछ नुकसान होंगे। ज ो व्यक्ति सभी आयामों में पूर्ण होगा, वह किसी भी एक आयाम में पूर्ण व्यक्तित्व के सामने उस आयाम में फीका पड़ जाएगा। स्वभावतः। क्योंकि महावीर की सारी शि क्त एक आयाम में लगती है। अगर उस आयाम में कृष्ण महावीर के साथ खड़े होंगे , फीके पड़ जाएंगे। क्योंकि उनकी शक्ति बहु-आयामी है, वह सब में फैली हुई है। इसलिए अगर एक-एक के सामने कृष्ण को हम खड़ा करें, तो कृष्ण जीत न पाएंगे। क्राइस्ट के साथ हार जाएंगे, एक-साथ अगर खड़ा करें। अगर उसी आयाम में खड़ा करें तो कृष्ण जीत नहीं सकते। लेकिन अगर हम समग्र व्यक्तित्व को सोचें, तो ब. डी कठिनाई हो जाएगी। महावीर, बुद्ध और क्राइस्ट जीत नहीं सकते। बहु-आयामी व यक्तित्व हैं। एक ऐसे फूल की हम कल्पना करें जो जुही भी हो जाता है कभी, जो कमल भी हो जाता है कभी, कभी गुलाब भी हो जाता है; कभी घास का फूल भी हो जाता है और कभी आकाश-कुसुम भी हो जाता है, सब हो जाता है, जब भी ह म जाते हैं तब पाते हैं कि वह कुछ और हो गया। इस फूल के मुकाबले किसी फूल को हम रखेंगे तो वह जीत जाएगा, क्योंकि गुलाब गुलाब ही है। उसे गुलाब होने

का...उसकी सारी शक्ति, सारी ऊर्जा गुलाब होने में लग गई है। इसको कभी चमेली भी होना पड़ता है, इसको कभी जुही भी होना पड़ता है। इसके प्राण इतने फैले हुए हैं, इतने विस्तीर्ण हैं कि सघन नहीं हो सकते। तो कृष्ण के व्यक्तित्व में एक विस्तार है, एक 'एक्सटैंशन' है, इसलिए 'डेंसिटी' उतनी नहीं हो सकती, जितनी महावीर या बुद्ध के व्यक्तित्व में है। घनत्व नहीं हो सकता। फैलाव है, अंतहीन फैलाव है। इसलिए कृष्ण की पूर्णता का अर्थ अनंतता है। महावीर की पूर्णता का अर्थ एक दिशा को पूरा उपलब्ध कर लेना है। उस दिशा में उन्होंने कुछ भी नहीं छोड़ा है। अब कोई भी साधु इस जगत में कुछ भी पा सकता है, तो उतना ही पा सकता है जितना महावीर ने पा लिया है, उससे ज्यादा नहीं पा सकता।

लेकिन, इसलिए कृष्ण को पूर्ण अनंतता के अर्थ में, विस्तार के अर्थ में, फैलाव के अर्थ में समझेंगे, 'मल्टी-डायमेंशनल के अर्थ में। फिर जो व्यक्ति एक 'डायमेंशन' में पूर्ण होगा, स्वभावतः दूसरे 'डायमेंशन' में बिलकुल अपरिचित हो जाएगा। दूसरे आयाम में उसकी कोई गति नहीं होगी। कृष्ण कुशलता से चोरी भी कर सकते हैं। महावीर एकदम बेकाम चोर साबित होंगे। पकड़े ही जाने वाले हैं। कृष्ण कुशलता से युद्ध भी लड़ सकते हैं, बुद्ध न लड़ सकेंगे। जीसस की हम कल्पना ही कर सकते हैं कि बांसुरी बजा सकते हैं, लेकिन कृष्ण सूली पर चढ़ सकते हैं। कृष्ण को सूली पर चढ़ने में दिक्कत न आएगी। बिलकुल मजे से चढ़ जाएंगे। इसकी कल्पना करने में कोई आंतरिक कठिनाई न पड़ेगी कि कृष्ण को सूली लग जाए। इसमें कोई 'इनहेरेंट', कोई 'इंट्रिंसिक', कोई भीतरी तकलीफ नहीं मालूम होगी। लेकिन क्राइस्ट बांसुरी बजाएं, इसमें बड़ा मुश्किल है। कृष्ण क्राइस्ट के व्यक्तित्व में सोचा ही नहीं जा सकता। ईसाई तो कहते हैं कि 'जीसस नेवर लाफ्ड', जीसस कभी हंसे ही नहीं। हंसे ही नहीं, तो बांसुरी बजाना तो बहुत...और पैर पर पैर रखकर और ओंठ पर बांसुरी रखकर, मोर-मुकुट बांधकर खड़े हो जाना, क्राइस्ट कहेंगे कि इससे सूली बेहतर! यह सूली से कठिन पड़ेगा। सूली बिलकुल 'ऐट ईज' है। जीसस सूली पर बड़े मजे से चढ़ गए। सूली पर लटककर वे जितने खुश थे, मैं समझता हूं जिंदगी में कभी नहीं थे। सूली पर लटककर वह कह सके, इन सबको माफ कर देना। सूली पर लटककर वह बड़ी शांति से गुजर सके। यह आयाम उनका आयाम है, इस आयाम में उन्हें कोई अड़चन न आई। यह सिर्फ पूरा हो रहा है। जो घटना होने ही वाली थी, जिस दिशा में वे यात्रा कर रहे थे, वह पूरी होने वाली है। वह एक बगावती हैं, एक 'रिबेलियस' आदमी हैं, क्रांतिकारी आदमी हैं। 'रिबेलियन' का यह अंत हो सकता था। जीसस कह भी सकते थे कि सूली लगेगी, और न लगती तो जरा ऐसे ही लगता कि असफल हुए। सूली लगेगी ही।

कृष्ण का मामला बहुत मुश्किल है। कृष्ण के मामले में 'प्रिडिक्शन' नहीं हो सकता कि क्या होगा। कुछ भी नहीं कहा जा सकता। यह आदमी सूली पर मरेगा, कि यह आदमी फूल-हारों में मरेगा, कि यह आदमी बड़ी भीड़ में मरेगा, क्या होगा?...मरे तो वह एक ऐसी जगह कि चुपचाप एक वृक्ष के नीचे लेटे थे। कुछ बात ही न थी

मरने की। और किसी ने समझा कि हिरण दिखाई पड़ रहा है, उनका पैर, और किसी ने तीर मार दिया, और वह मर गए। इतनी 'एक्सिडेंटल' मौत किसी की भी नहीं है। सबकी मौत में भी एक निश्चय है, कृष्ण की मौत बिलकुल अनिश्चित है। और ऐसे मरते हैं वह, बेकाम ढंग से, कि जिसकी कोई 'यूटिलिटी' नहीं मालूम होती, कोई उपयोगिता नहीं मालूम होती। और आदमी की पूरी जिंदगी भी इसकी उपयोगिताहीन थीं, 'नॉन-युटिलिटेरियन' थी, मौत भी। जीसस की मौत काम आई है। सच तो यह है कि अगर जीसस को सूली न लगी होती, तो दुनिया में 'क्रिस्चिएनटी' होती ही नहीं। जीसस की वजह से नहीं है, 'क्रास' की वजह से है। इस आदमी को कौन जानता है, इसको कोई खयाल में भी नहीं था यह आदमी। सूली महत्वपूर्ण बनी। इसलिए 'क्रास' प्रतीक बन गया ईसाइयत का। क्योंकि वही है घटना, जिसने ईसाइयत को जन्म दिया। आज जीसस दुनिया में हैं तो उसका मतलब है, वह 'क्रूसीफिकसन' की वजह से हैं।

लेकिन कृष्ण की मौत तो बड़ी बेमानी है, बड़ी अजीब-सी है। यह भी कोई मरने का ढंग है। ऐसे भी कोई आदमी मरते हैं! आप लेटे हैं वृक्ष के नीचे, यह भी कोई...मरना चुनना चाहिए ऐसा कि कोई तीर मार दे, बिना कुछ खबर सुने, बिना कुछ बात हुए, अकारण। कोई ऐतिहासिक घटना नहीं बनती मौत से कृष्ण की। बस, ऐसे ही आते हैं और चले जाते हैं जैसे फूल खिलते हैं और मुर्झा जाते हैं। कब गिर जाते हैं सांझ, कुछ पता नहीं चलता; कौन-सी हवा का झोंका गिरा जाता, उस पर कोई सील नहीं होती। 'मल्टी-डायमेंशनल' होने के कारण, बहु-आयामी होने के कारण, कुछ कहा नहीं जा सकता कि क्या हो जाएगा, कृष्ण के व्यक्तित्व में कौन-कौन से फूल खिलेंगे, नहीं कहा जा सकता।

इसको आखिरी बात इस तरह सोचें कि अगर महावीर और पचास साल जिंदा रहें तो हम कह सकते हैं कि जिंदगी कैसी होगी। अगर जीसस और पचास साल जिंदा रहते, तो क्या होने वाला है वह हम कह सकते हैं। 'प्रेडिक्टबिल' है, ज्योतिषी की पकड़ के भीतर है। अगर दस साल महावीर को और मौका दिया जाए जिंदा रहने का तो कठिनाई न होगी कि हम कहानी लिख दें कि वह क्या-क्या करेंगे। कब सुबह उठेंगे, कब सांझ सो जाएंगे, वह भी तय किया जा सकता है। क्या खाएंगे, क्या पिएंगे, उनका 'मेनू' तय हो सकता है। क्या बोलेंगे, क्या नहीं बोलेंगे, वह साफ जाहिर है। दस साल भी वह जो करेंगे, वह पिछले दस साल की ही पुनरुक्ति होने वाली है। एकरस जो हैं, समुद्र के खारे पानी की तरह जो हैं। लेकिन कृष्ण को अगर दस दिन भी मिल जाएं—दस साल बहुत हैं—तो इस दस दिन में क्या-क्या होगा इस दुनिया में, बिलकुल नहीं कहा जा सकता। क्योंकि पिछली कोई पुनरुक्ति होने वाली नहीं है। यह आदमी किसी हिसाब से जी ही नहीं रहा है, गैर-हिसाब से जी रहा है। जो हो जाएगा वह हो जाएगा। इन अर्थों में भी एक 'इनफिनिटी' है। कहीं चीजें पूरी होती नहीं मालूम पड़तीं।

अब यह आखिरी अर्थ मैं देता हूं, पूर्ण सिर्फ वही जो पूरा होता मालूम नहीं पड़ता। जो पूरा हो जाता है, वह किसी अर्थ में समाप्त हो जाता है। अब यह बहुत उलटा लगेगा। क्योंकि हमारा आमतौर से खयाल यह होता है कि पूर्ण का मतलब यह है कि जो समाप्त हो जाता है। जिसके आगे कुछ बचता नहीं। अगर आपका ऐसा अर्थ है पूर्ण का, तो आपमें 'वन-डायमेंशनल परफेक्शन' का खयाल है आपको। आपको एक आयाम में पूर्णता का खयाल है। कृष्ण की पूर्णता ऐसी नहीं है जो समाप्त हो जाती है। कृष्ण की पूर्णता का मतलब यह है कि कितना ही यह आदमी जिए और चले और रहे, यह समाप्त नहीं होने वाला है। यह सदा शेष रह जाएगा। इसलिए उपनिषदों ने पूर्ण की जो व्याख्या की है, वही ठीक है। उपनिषद कहते हैं, पूर्ण से पूर्ण को भी निकाल लो तो भी पीछे पूर्ण शेष रह जाता है। अगर हम कृष्ण से हजार कृष्णों को निकालते चले जाएं तो भी वह आदमी पीछे शेष रह जाएगा और फिर कृष्णों को निकाल सकता है। इसमें कोई कठिनाई नहीं पड़ेगी। उसे कोई अड़चन न आएगी, क्योंकि वह कुछ भी हो सकता है।

महावीर को हम आज पैदा नहीं कर सकते। आज पैदा करना मुश्किल हो जाएगा महावीर को। क्योंकि महावीर एक 'सिचुएशन' में, एक विशेष परिस्थिति में, एक आयाम में पूर्ण हुए हैं। वह आयाम उसी स्थिति में पूर्ण हो सकता है। जीसस को आज पैदा नहीं किया जा सकता। अगर आज जीसस को हम पैदा करें, कोई सूली ही नहीं लगाएगा, पहली बात। वह कितना ही शोरगुल मचाएं, लोग कहेंगे, 'निगलेक्स हिम'। क्योंकि पहले गलती की सूली लगाकर तो 'क्रिश्चिएनिटी', आज एक अरब आदमी ईसाई हो गए हैं, अब आज कोई यहूदी सूली नहीं लगाएगा जीसस को। वह कहेगा, अब झंझट में मत पड़ो इस आदमी के। इसको जो कहना है कहने दो, इसको जो करना है करने दो। क्योंकि जीसस जिंदा रहकर बहुत थोड़े लोगों को उत्सुक कर पाए। मरकर उन्होंने उत्सुकता बहुत पैदा की। जीसस के वक्त में जिस दिन एक लाख आदमी सूली लगाने जीसस को इकट्ठे हुए, तो सिर्फ आठ-दस आदमी ऐसे थे जो उनको प्रेम करने वाले थे—एक लाख आदमियों में। वे आठ-दस भी इतने हिम्मतवर नहीं थे कि अगर उनसे कोई पूछता कि तुम जीसस के साथी हो तो वे कहते कि हम साथी हैं! वे कहते कि नहीं, हम जानते ही नहीं। जीसस को सूली लग जाने के बाद जिसने उनकी लाश नीचे उतारी वह कोई सज्जन, अच्छे घर की महिला नहीं थी, क्योंकि अच्छे घर तक जीसस का प्रभाव पहुंचना मुश्किल था। वह एक वेश्या थी। वह हिम्मत जुटा सकी कि अब मेरा और क्या कोई बिगाड़ेगा। तो इसलिए जीसस की लाश तो एक वेश्या ने उतारी। किसी भले घर की औरत को यह मौका नहीं था।

अभी भी! मैं सोचता हूं भले घर की औरत जीसस को अभी भी नहीं उतारेगी। जीसस को आज 'निगलेक्ट' किया जा सकता है, क्योंकि उनके वक्तव्य बड़े 'इनोसेंट' हैं। और दूसरा खतरा है कि अगर 'निगलेक्ट' न किया जाए, तो दूसरा खतरा है कि हम उनको पागल समझ लें। क्योंकि जिन बातों पर झगड़ा हुआ है वह यह था कि

क जीसस कहते हैं, मैं ईश्वर हूं। हम कहेंगे, कहने दो, बिगड़ता क्या है, इसमें हर्ज क्या है? कहो ईश्वर हो। जीसस को होने के लिए वही 'मॉमेंट' चुनना पड़े जो था। इसलिए जीसस 'हिस्टारिक' हैं। इसलिए आप ध्यान रखें कि सिर्फ जीसस को मानने वाले लोगों ने 'हिस्ट्री' पैदा की दुनिया में। बाकी लोग 'हिस्ट्री' पैदा नहीं कर सके। इतिहास जीसस से शुरू होता है। इसलिए आकस्मिक नहीं है कि सन् और सदी जीस स से चलती है। आकस्मिक नहीं है। जीसस एक 'हिस्टारिक' घटना हैं और एक खा स 'हिस्टारिक मॉमेंट' में ही हो सकते हैं।

कृष्ण की हमने कोई कहानी नहीं लिखी। कोई पक्का पता नहीं है कि यह आदमी ि कस तारीख में हुआ और किस तारीख में मरा। इसका पता रखना बेकार है। यह ि कसी भी तारीख में हो सकता है। इसकी कोई पक्की तारीख रखना बेकार है। यह कभी भी हो सकता है। यह किसी भी स्थिति में काम आ जाएगा। क्योंकि इसको को ई झंझट ही नहीं है अपने होने की। किसी भी स्थिति में वही हो जाएगा। इसका अप ना कोई आग्रह नहीं है कि मैं ऐसा होऊंगा। अगर आपका आग्रह है कि आप ऐसे हों गे तो आपको एक विशेष स्थिति की जरूरत पड़ेगी। अगर आपका कोई आग्रह नहीं है, आप कहते हैं कि चलेगा—महावीर तो नग्न होने का आग्रह करेंगे। कृष्ण जो हैं व ह पतली मोहरी का फुलपैंट भी पहन सकते हैं; कोई अड़चन न आएगी, बल्कि वह कहेंगे कि यह पहले क्यों नहीं बनाया, उसी वक्त? हम उसी वक्त पहने सकते थे। इतना होने की संभावना अनंत है। उन्हें अड़चन न आएगी। उन्हें कोई युग अड़चन न हीं दे सकता। वे किसी भी युग में खड़े हो जाएंगे और राजी हो जाएंगे, उसी युग के हो जाएंगे। और उसी युग में उनका फूल खिल सकता है।

इसलिए मैं कहता हूं कि सभी—महावीर, बुद्ध या जीसस 'हिस्टारिक पर्सनेलिटी', ऐि तहासिक व्यक्तित्व हैं। इसका मतलब यह नहीं है कि वह हुए हैं और कृष्ण नहीं हुए । हुए तो कृष्ण भी हैं। लेकिन कृष्ण इस अर्थ में 'हिस्टॉरिक' नहीं हैं, इस अर्थ में ऐ तिहासिक नहीं हैं। कृष्ण पुराण-पुरुष हैं, कथा-पुरुष हैं, अभिनेता हैं। वे कभी भी हो सकते हैं, उनका चरित्र का कोई मोह नहीं है। वह विशेष राधा को न मांगेंगे, कोई भी राधा कारगर हो सकती है। विशेष समय न मांगेंगे, कोई भी समय उनके लिए अर्थपूर्ण हो सकता है। जरूरी नहीं कि वह बांसुरी ही बजाएं, किसी भी युग का वाद्य उन्हें काम दे जाएगा।

इस अर्थ में पूर्ण हैं कि हम उनमें से कितना ही निकाल लें, वह व्यक्ति फिर शेष र ह जाता है, वह फिर हो सकता है।

और प्रश्न होंगे तो कल।

आज दोपहर भी तीन से चार तो प्रश्न होंगे। आपके मन में जो भी प्रश्न हों वे लिख कर दें।

3 सहज शून्यता के प्रतीक कृष्ण

'सारी गीता में कृष्ण परम अहंकारी मालूम पड़ते हैं। लेकिन आपने सुबह के प्रवचन में कहा कि निरहंकारी होने से ही कृष्ण कह सके कि सब छोड़कर मेरी शरण में आ , मैं ही सब कुछ हूं, आदि। लेकिन बुद्ध और महावीर ऐसा नहीं कहते हैं। क्या इन की निरहंकारिता भिन्न-भिन्न है? उनका मौलिक अंतर क्या है?'

* निरहंकारिता दो ढंग से उपलब्ध हो सकती है। एक तो इस ढंग से उपलब्ध हो स कती है कि कोई अपने को मिटाता चला जाए, अपने को समाप्त करता चला जाए, अपने को काटता चला जाए और ऐसी घड़ी आ जाए कि फिर काटने को कुछ न बचे। तो निरहंकारिता उपलब्ध होती है। लेकिन यह निरहंकारिता 'निगेटिव' है, नक ारात्मक है। और इसमें एक अहंकार बहुत गहरे में शेष रह ही जाएगा कि मैंने अप ने अहंकार को काट दिया है।
एक और ढंग से भी निरहंकारिता उपलब्ध होती है कि कोई अपने को फैलाता चला जाए और इतना बड़ा करता चला जाए कि उसके अलावा फिर कुछ शेष ही न रह जाए, वही शेष रह जाए, सब उसमें समा जाए, तब भी निरहंकारिता, तब भी 'इ गोलेसनेस' उपलब्ध होती है। लेकिन तब पीछे कहने को इतना भी नहीं रह जाता ि क मैं निरहंकारी हो गया हूं।
जो लोग अहंकार को काटकर चलेंगे, वे लोग अंततः आत्मा को उपलब्ध होंगे। आत् मा का अर्थ होगा, उनका अंतिम अहंकार शेष रह जाएगा कि मैं हूं। मैं की और सा री चीजें नष्ट हो जाएंगी, शुद्ध 'मैं' ही शेष रह जाएगा। लेकिन जो व्यक्ति अहंकार को काटकर चलेगा, वह कभी परमात्मा को उपलब्ध नहीं होगा। जो व्यक्ति अहंकार को भी विस्तीर्ण करता चला जाएगा, इतना विस्तीर्ण कि सब उसमें समा जाए, उ स दिन आत्मा का बोध नहीं रह जाएगा, परमात्मा का ही बोध रह जाएगा।
कृष्ण का जो व्यक्तित्व है, यह 'पाजिटिव' है। वह विधायक है, वह निषेधात्मक नह ीं है। वे जीवन में किसी भी चीज का निषेध नहीं करते। वे अहंकार का निषेध भी करते नहीं। वे तो कहते हैं, अहंकार को इतना बड़ा कर लो कि सभी उसमें समा ज ाए। तू बचे ही न, तो फिर स्वयं को मैं कहने का कोई उपाय न रह जाए। हम अप ने को 'मैं' तभी तक कह सकते हैं जब तक 'तू' बाहर अलग खड़ा है। तू के विरो ध में ही मैं की आवाज है। तू गिर जाए, तू न बचे, तो मैं भी बचेगा नहीं। मैं इत ना बड़ा हो जाए—इसलिए उपनिषद के ऋषि कह सके : 'अहं ब्रह्मास्मि'। वह यह क ह सके, मैं ही ब्रह्म हूं। इसका यह मतलब नहीं है कि तू ब्रह्म नहीं है। इसका मतल ब यह है कि तू तो है ही ब्रह्म, मैं ही हूं। हवाओं में जो लहरा रहा है वह भी मैं ही हूं और जो वृक्षों में लहर खा रहा है, वह भी मैं हूं। वह जो जन्मा है वह भी मैं ह ी हूं, जो मरेगा वह भी मैं ही हूं। वह जो पृथ्वी है वह भी मैं ही हूं, जो आकाश है वह भी मैं ही हूं। मेरे अतिरिक्त कोई भी नहीं है। इसलिए अब मैं के बचने की भी कोई जगह नहीं बची। मैं किससे कहूं कि मैं हूं? किसके विरोध में कहूं कि मैं हूं? तो कृष्ण का पूरा का पूरा व्यक्तित्व विराट के साथ फैलाव का है, विस्तार का है।

इसलिए कृष्ण कह सकते हैं, मैं ब्रह्म हूं। इसमें कोई अहंकार नहीं है। यह भाषा में ही मैं का प्रयोग है, मैं जैसा कोई पीछे बचा नहीं है।

एक दूसरा रास्ता, जो मैंने कहा निषेध का है, नकार का है, इनकार का है, तोड़ने का है, त्याग का है—छोड़ते जाएं। धन 'मैं' को मजबूत करता है, धन को छोड़ दें। अमीर का अहंकार होता है, लेकिन गरीब का नहीं होता है, इस भूल में मत पड़ जाना। गरीब का भी अहंकार होता है। वह गरीब होता है, 'पुअर इगो' होता है। धन का दावा नहीं कर सकता। गृहस्थी का अहंकार होता है, लेकिन संन्यासी का नहीं होता है ऐसा मत सोचना। संन्यासी का भी अहंकार होता है। अगर मैं छोड़ता चला जाऊं तो जिन-जिन चीजों से अहंकार बढ़ता है, मजबूत होता है, वह सब छोड़ दूं—धन छोड़ दूं, मकान छोड़ दूं, पत्नी छोड़ दूं, बच्चे छोड़ दूं, घर-द्वार छोड़ दूं, तो मेरे अहंकार को टिकने की कोई जगह न रह जाएगी, कोई खूंटी न रह जाएगी जहां मैं अहंकार को टांग सकूं और कह सकूं कि मैं धनी हूं, कह सकूं कि मैं ज्ञानी हूं, कह सकूं कि मैं त्यागी हूं, ऐसी कोई जगह न रह जाएगी, लेकिन इससे मैं मिट नहीं जाऊंगा। और जब मेरे मैं को टिकने के लिए कोई खूंटी नहीं रहेगी, तो मैं फिर बहुत सूक्ष्म में मुझसे ही टिका रह जाएगा। फिर आखिर में मैं ही रह जाऊंगा।

यह जो मैं का सूक्ष्मतम अनुभव है, यह निषेध से उपलब्ध होगा। बहुत लोग इसमें अटके रह जा सकते हैं, बहुत से लोग अटक कर रह जाते हैं, क्योंकि यह दिखाई भी नहीं पड़ता, यह बहुत सूक्ष्म है। धनी का अहंकार दिखाई पड़ता है, त्यागी का कैसे दिखाई पड़ेगा। लेकिन धनी का अहंकार क्या है—कि मेरे पास धन है। त्यागी का अहंकार क्या है—कि मैंने त्याग किया है, मैंने धन छोड़ा है। गृहस्थी का अहंकार दिखाई पड़ता है—कि यह रहा उसका घर, यह रही उसकी सीमा, संन्यासी का अहंकार दिखाई नहीं पड़ता। लेकिन उसकी भी सीमाएं हैं। वह हिंदू है, मुसलमान है, ईसाई है, जैन है। उसके भी आश्रम हैं, उसकी भी सीमाएं हैं, उसके भी बंधन हैं, वह भी अटका है। लेकिन वह दिखाई नहीं पड़ता। यह जो घड़ी है निषेध की, इसमें कोई अटक सकता है। अगर अटक जाए, तो लगेगा बिलकुल निरहंकारी क्योंकि वह मैं शब्द का भी उपयोग न करेगा, मैं भी छोड़ देगा, लेकिन उससे कोई फर्क नहीं पड़ता। इसके भी पार जाना पड़ेगा।

महावीर और बुद्ध इसके पार तो चले जाते हैं, लेकिन यह पार जाना, उस आखिरी सूक्ष्म मैं के पार जाना उन्हें बहुत ही कठिन पड़ता है। वही असली तपश्चर्या है उनकी। बड़ी तपश्चर्या की बात हो जाती है। क्योंकि जो मेरे पास था, जो मेरा था, उसको तो छोड़ दिया गया है, अब मैं ही बचा हूं, अब इसको कैसे छोडूंगा? इसको कैसे छोड़ियेगा? इसलिए निषेध की प्रक्रिया से अगर हजार लोग चलेंगे तो एक ही आदमी निरहंकारिता तक पहुंचता है, नौ सौ निन्यानबे आदमी सूक्ष्म मैं पर खड़े हो कर रह जाते हैं। महावीर तो निकल जाएंगे, लेकिन महावीर के पीछे चलने वाला संन्यासी अटक जाएगा। अति दुरूह है यह बात। सहारे तोड़ देना तो बहुत आसान है

। जिन-जिन सहारों से मेरा मैं मजबूत होता है, मैं उनको गिरा दूं, लेकिन फिर मैं बच रहूंगा, उसको कैसे गिराऊंगा?
तो निषेध से चलने वाले व्यक्ति की जो तकलीफ है वह आखिरी क्षण में है और विधेय से चलने वाले की जो तकलीफ है, वह पहले क्षण में है। पहले 'स्टेज' पर विधेय से चलने वाले की बड़ी कठिनाई आती है कि तू को कैसे इनकार कर दूं? तू है, दिखाई पड़ रहा है, उसको कैसे इनकार करें? कृष्ण की साधना की पहली तकलीफ पहले चरण पर है--असली तकलीफ आखिरी चरण पर है। पहले बहुत आसान है मामला। आखिरी क्षण में जब कि मैं के सब सहारे टूट जाएंगे और शुद्ध मैं बच रहेगा, 'प्योरीफाइड इगो' रह जाएगी, उसको कैसे छोड़ियेगा। उसको छोड़ने का क्या करियेगा आप?
पहले चरण पर जो करना पड़ेगा विधायक-साधक को, वही अंतिम चरण पर निषेध के साधक को करना पड़ेगा। पहले चरण पर विधेय का साधक क्या करेगा? वह तू में भी मैं को खोजने की कोशिश करेगा। निषेध का साधक अंतिम चरण पर क्या करेगा? मैं में भी तू को खोजने की कोशिश करेगा। अगर उसे मैं में भी तू मिल जाए, तब तो ठीक। बहुत कठिनाई हो जाएगी। लेकिन तू में मैं को देखना बहुत आसान है, मैं में तू को देखना बहुत कठिन है। और शुद्ध मैं में तो और कठिन हो जाता है, क्योंकि बहुत सूक्ष्म मैं का भाव बचता है। वह इतना बारीक हो जाता है कि उसमें तू को कहां समायें। बुद्ध और महावीर की कठिनाई आती है आखिरी चरण में। इसलिए बुद्ध या महावीर की साधना में आखिरी चरण के पहले से भी गिरना संभव है। आखिरी कदम के पहले भी कोई लौट सकता है, रुक सकता है, अटक सकता है। आखिरी छलांग...और जब पूरी जिंदगी इस मैं को बचाया पूरी साधना में, तो आखिरी क्षण में एकदम से छोड़ना बहुत मुश्किल हो जाएगा।
छोड़ा जा सकता है। एक ही रास्ता है कि इस मैं के बिंदु में तू दिखाई पड़ जाए। इसलिए महावीर या बुद्ध की जो आखिरी साधना की कड़ी है, उसका नाम है--केवल ज्ञान। ज्ञानी न रह जाए, सिर्फ ज्ञान रह जाए। जानने वाला न रह जाए, सिर्फ जानना रह जाए, तो उस जानने में झलक मिल सकती है एकता की। आखिरी मुक्ति मैं से मुक्ति है। मैं को मुक्त नहीं होना है, मैं से मुक्त होना है। लेकिन जो पीछे आता है, उसको कठिनाई हो जाती है। वह यही पूछता रहता है कि मुझे मोक्ष कैसे होगा? 'मुझे' कभी मोक्ष हुआ ही नहीं। जब भी मोक्ष हुआ है तो 'मुझ' से हुआ है। इसलिए महावीर की साधना-परंपरा में जो लोग पीछे आएंगे, उनके अहंकार के पोषण की बड़ी सुविधा है। महावीर की साधना में चलने वाला साधक अति अहंकारी हो जाए तो आश्चर्य नहीं। त्याग, तपश्चर्या उसके अहंकार को मजबूत करते चलेंगे। कठोर होता जाएगा, सख्त होता जाएगा। आखिर में सब छूट जाएगा और एक मैं की गांठ बच जाएगी। उसको तोड़ना बहुत मुश्किल पड़ेगा। वह टूट सकती है, टूटी है। महावीर को टूटी है। उस क्षण के अलग प्रयोग हैं कि वह मैं की गांठ कैसे छूट जाए।

कृष्ण की साधना में, कृष्ण के व्यक्तित्व में मैं की गांठ को पहले ही तोड़ देना है। जिस बीमारी को आखिरी में गिराना पड़े, उसे इतनी देर तक ढोना भी उचित नहीं है। इतनी देर में वह संक्रामक भी बनेगी, और 'क्रॉनिक' भी हो जाएगी। उसे पहले ही तोड़ देना है। इसलिए जिसको महावीर 'केवल ज्ञान' कहेंगे, वह अंतिम घड़ी में आ जाएगा। जिसको कृष्ण साक्षीभाव कहेंगे, वह पहली ही घड़ी में आ जाएगा। पहले ही क्षण से इस सत्य को जानना है कि मैं अलग नहीं हूं। लेकिन अगर मैं अलग नहीं हूं तो फिर त्याग बेमानी हो जाएगा। छोड़ेंगे किसको? मैं ही हूं। छोड़ेगा कौन? जिसे छोड़कर जा रहा हूं, वह भी मैं ही हूं। भागूंगा कहां से? जहां से भाग रहा हूं वह भी मैं ही हूं। भागूंगा कहां? जहां भागना है, वह भी मैं ही हूं।

रवीन्द्रनाथ ने एक बहुत गहरी मजाक यशोधरा से करवाई है, बुद्ध के लिए। बुद्ध जब ज्ञान लेकर वापस लौटे हैं, तो यशोधरा उनसे पूछती है कि मुझे सिर्फ एक सवाल पूछना था, आप आ गए हैं तो पूछ लूं। मैं तुमसे यह पूछना चाहती हूं कि जो तुमने जंगल जाकर पाया, वह क्या इस घर में मौजूद नहीं था? और बुद्ध बड़ी मुश्किल में पड़ गए हैं। क्योंकि अगर वह यह कहें कि वह इस घर में मौजूद था—था तो ही, क्योंकि जो जंगल में मिलता है वह घर में भी मिल सकता है—अगर वह यह कहें कि वह यहां भी मौजूद था, तो यशोधरा कहेगी कि मैंने कहा था कि मत जाओ। निश्चित ही उसने कहा था। रात जब गए थे तो उसे बिना बताए ही जाना पड़ा था। और अगर वह यह कहें कि वह यहां भी था जो जंगल में था, तो यशोधरा कहेगी, पागलपन किया इतने दिन? जो यहीं था, उसे खोजने वहां गए? अगर वे यह कहें कि वह यहां नहीं था, जंगल में ही है, तो गलत होगा, क्योंकि बुद्ध अब जानते हैं कि वह यहां भी है जो जंगल में मिला है।

कृष्ण कहीं छोड़कर नहीं जा रहे हैं। बुद्ध को जो आखिरी घड़ी में दिखाई पड़ता है, वह कृष्ण को पहली घड़ी से ही दिखाई पड़ रहा है। बुद्ध जो आखिरी क्षण में जान पाते हैं कि वही है सब जगह, वह कृष्ण पहले से जान रहे हैं कि वही है सब जगह। मैंने एक फकीर के संबंध में सुना है कि वह एक गांव के किनारे पड़ा रहा जीवन भर। और जब भी कोई उससे पूछता कि तुम कुछ साधना नहीं कर रहे हो, तो वह कहता, किसे साधूं? जिसे साधूंगा, वह साधा ही हुआ है। कोई उससे पूछता है कि तुम कहीं जाते दिखाई नहीं पड़ते। वह कहता, मैं कहां जाऊं? जहां पहुंचना था वहां मैं पहुंचा ही हुआ हूं। कोई उससे पूछता, तुम्हें कुछ पाना नहीं है? तो वह कहता, जिसे पाना है, वह सद से प्राप्त है। यह फकीर क्या साधना करे?

इसलिए कृष्ण की साधना विकसित नहीं हो पाई। कृष्ण का साधक कहीं भी न मिलेगा जो साधना कर रहा हो। साधना किसकी करनी है? साधना उसकी की जा सकती है जो नहीं मिला है और मिल सकेगा। साधना उसकी की जा सकती है जो नहीं पाया है, और पाया जा सकता है। साधना संभावना की है। साधना उपलब्धि की कभी नहीं होती। जो है ही, उसको कैसे पाइएगा? बुद्ध को भी आखिरी क्षण में जब ज्ञान हुआ और किसी ने पूछा कि आपको क्या मिला, हमें बताएं? बुद्ध ने कहा, मि

ला कुछ भी नहीं; जो मिला ही हुआ था, उसका पता भर चला है। जो था ही मेरे पास, लेकिन मुझे पता नहीं था, अब मैंने जाना कि यह तो मेरे पास ही था। मिला कुछ भी नहीं है, जो था ही उसका पता चला है। जब नहीं था पता, तब भी वह इ तना ही, कमी कुछ भी न थी। लेकिन बुद्ध यह आखिरी क्षण में कहते हैं।
कृष्ण यह पहले क्षण में कहेंगे। कृष्ण कहेंगे, कहां जा रहे हो? क्योंकि जहां जाना चा हते हो वहां तो तुम खड़े हो। जिसे तुम मंजिल कह रहे हो वह तो तुम्हारा मुकाम ही है, जहां तुम खड़े ही हो। किस तरफ दौड़ रहे हो? क्योंकि जहां तुम दौड़कर पहुं चोगे, वहां तो तुम पहुंचे ही हुए हो।
इसलिए बुद्ध और महावीर के जीवन में साधना का काल है, फिर सिद्धि की अवस्था है। कृष्ण सदा ही सिद्ध हैं, उनके जीवन में साधना का कोई काल नहीं है। कृष्ण ने कब साधा सत्य को, पता है आपको? कौन-सा ध्यान किया? कौन-सा योग किया? किस जंगल में गए? कौन-सी तपश्चर्या की? कौन-से उपवास किए? कौन-सा आस न, कौन-से व्यायाम? कृष्ण के जीवन में साधना जैसी कोई चीज ही नहीं दिखाई पड़ ती। साधना है ही नहीं।
बुद्ध और महावीर आखिरी क्षण में सिद्ध होते हैं, कृष्ण जैसे सिद्ध हैं ही। तब साधन ा कैसी, साधना किसकी? ये बुनियादी फर्क हैं। और कृष्ण को जो दिखाई पड़ रहा है, उसमें अहंकार का कोई उपाय नहीं है क्योंकि तू है ही नहीं कहीं। कबीर की बा त सुबह मैं कर रहा था। कबीर ने एक दिन अपने बेटे को जंगल में भेजा है घास काट लाने को। जैसे यहां पौधे हवा में नाच रहे हैं, ऐसे ही वह जंगल में गया है, हं सया लेकर घास काट रहा है, सुबह से सांझ होने लगी है और वह नहीं लौट रहा है । कबीर परेशान हो गए और सबने कहा कि कुछ पता लगाओ, घास काटने में इत नी देर की कोई जरूरत न थी, दोपहर तक आ जाना था। फिर सांझ भी हो गई। अब अंधेरा भी घिर जाएगा थोड़ी देर में। लोगों ने कहा तो कबीर और सारे लोग खोजने निकले कि वह कहां गया है? देखा जाकर घास में, गले-गले घास में वह ख. डा है। खड़ा कहना गलत है। हवाएं नाच रही हैं, वह भी नाच रहा है। जैसे वृक्ष ना च रहे हैं, पौधे नाच रहे हैं, घास के पत्ते नाच रहे हैं, वह भी नाच रहा है। उसे हि लाया, उसने आंख खोली। उन सबने कहा, तुम यह क्या कर रहे हो? घास काटी न हीं? उसने कहा, अच्छी याद दिलाई! हंसिया उठाया। उसने कहा, अब तो सांझ भी हो गई है, लोगों ने कहा अब वापिस चलो। लेकिन तुम दिन भर क्या किए? उस ल. डके ने कहा, मैं घास हो गया था। मैं भूल ही गया कि मैं भी हूं। मैं भूल ही गया ि क वह घास है और उसको काटना है। इतनी आनंद की थी सुबह, सब इतना नाचत ा हुआ था कि मैं पागल नहीं था कि नाचते हुए समय और काटने में लग जाऊं, मैं नाचने लगा। और फिर तो मुझे याद ही न रही कि कौन घास है और कौन कमाल है जो काटने आया है। यह तो आप आए तो आपने मुझे खयाल दिला दिया।
कृष्ण इतने नाचने में मगन हो गए इस जगत में। कबीर का बेटा तो घास के साथ नाचा, कृष्ण इस पूरे जगत के साथ नाचे। इसके चांद-तारों के साथ नाचे, इसके स्त्री

-पुरुषों के साथ नाचे, इसके फूलों के साथ नाचे, इसके कांटों के साथ नाचे। वह इस जगत के साथ नाचने में ऐसे लीन हो गए कि कौन है मैं, कौन है तू, इसकी कोई जगह न रही। इस क्षण जो निरहंकार उपलब्ध हुआ, वह महावीर और बुद्ध को अत यंत तपश्चर्या, 'आरडुअस' लंबी यात्रा के अंतिम पड़ाव पर उपलब्ध होता है। वे बहु त दौड़कर उस जगह आते हैं, जहां से कृष्ण कभी दौड़े ही नहीं। वे बहुत यात्रा कर के उस जगह का पता लगा पाते हैं, जहां से उन्होंने यात्रा शुरू की थी।

इसलिए कृष्ण साधक नहीं हैं। कृष्ण को साधक कहना ही मुश्किल है। कृष्ण सिद्ध हैं और इस सिद्ध अवस्था में, इस चित्त की दशा में जो भी उन्होंने कहा है, उसमें ह में अहंकार दिखाई पड़ सकता है। क्योंकि वह जो शब्द हम उपयोग करते हैं मैं का, वह वह भी कर रहे हैं, लेकिन हमारे और उनके मैं की अभिव्यक्ति और अर्थ में बड़ा फर्क है, 'कनोटेशन' में बड़ा फर्क है। जब हम कहते हैं मैं, तो मतलब होता है , इस शरीर के भीतर जो कैद है, वह। और जब कृष्ण कहते हैं मैं, तो वह कहते हैं, जो सब जगह फैला है, वह। इसलिए हिम्मत से कह सकते हैं अर्जुन को कि सब छोड़ और मेरी शरण में आ। यह अगर शरीर के भीतर घिरा हुआ मैं होता, तो इ तनी हिम्मत से नहीं कही जा सकती ऐसी बात। और अगर यह शरीर के भीतर बंद मैं होता तो अर्जुन भी कहता कि आप कैसी बात कर रहे हैं? मैं आपकी शरण में क्यों आऊं? फिर तो अर्जुन के मैं को भी चोट लगती। क्योंकि जब भी एक तरह से मैं बोलता है तो दूसरी तरफ से मैं में प्रतिध्वनि पैदा होती है। अगर आप मैं की भाषा बोलते हैं तो दूसरा आदमी तत्काल मैं की भाषा बोलना शुरू कर देता है। मैं एक-दूसरे की भाषा बड़े ढंग से पहचानते हैं और तत्काल प्रतिक्रिया में सन्नद्ध हो जा ते हैं। लेकिन कृष्ण कह सके कि तू मेरी शरण में आ। क्योंकि इस शरण का अर्थ है , समस्त की शरण। इसका अर्थ है कि यह सब जो फैला हुआ है, इसकी शरण में चला जा, तू अपने को छोड़।

निरहंकार महावीर और बुद्ध को भी आता है, लेकिन लंबी यात्रा के बाद। और महा वीर और बुद्ध की यात्रा पर चलने वाले बहुत से साधकों को कभी नहीं आएगा, क्य ोंकि वह आखिरी बात है जो वह कर पाएं, न कर पाएं। लेकिन कृष्ण की धारा में जो बहेगा, वह तो पहली ही बात है; न कर पाएं तो उस धारा में बह ही नहीं सक ते। महावीर के साथ बहुत दूर तक चल सकते हैं अपने मैं को बचाकर। कृष्ण के स ाथ तो पहले कदम पर ही नहीं चल सकते। चलना ही है तो मैं छोड़कर ही चलना होगा। नहीं तो चल ही न पाएंगे। महावीर के साथ बहुत दूर तक ताल-मेल बैठ सक ता है हमारे मैं का, कृष्ण के साथ नहीं बैठ सकता। पहले क्षण में ही यह जानना हो गा। 'द फर्स्ट इज़ द लास्ट', कृष्ण के लिए। महावीर और बुद्ध' के लिए, 'द लास्ट इज़ द फर्स्ट'। वह जो आखिरी है, वह पहला है। और कृष्ण के लिए जो पहला है व ही आखिरी है। यह फर्क खयाल में आ जाए—बड़ा फर्क है, बहुत बुनियादी फर्क है— खयाल में आ जाए तो सारी स्थिति और होगी।

कृष्ण के साथ साधना क्या करियेगा? नाच सकते हैं, गीत गा सकते हैं, डूब सकते
हैं। साधना क्या करियेगा? या इसको ही साधना कहें तो बात और है। इसलिए कृष
ण किसी से और कोई अपेक्षा नहीं करते। जब पहला ही चरण निरहंकारिता का है
तब और अपेक्षा नहीं की जा सकती। महावीर और बुद्ध के पास जाकर आप कहेंगे
कि मैं अहंकारी हूं, मैं क्या करूं? तो वह आपको बता सकते हैं। वह कहेंगे, पहले
यह छोड़ो, पहले वह छोड़ो, अहंकार को पीछे देख लेंगे। कृष्ण के पास जाकर आप
कहेंगे कि मैं अहंकारी हूं, तो वह कहेंगे, कोई रास्ता ही न रहा। क्योंकि अहंकार ही
जाए, वही तो शुरुआत है। इसलिए कृष्ण कोई साधकों का संघ नहीं बना सके। बहु
त मुश्किल थी बात। साधक तो वही कहेगा, बस ठीक है, यही पहली बात; अहंकार
तो छूटता नहीं, धन छोड़ सकता हूं। कृष्ण कहेंगे कि धन छोड़ने से क्या होगा। धन
छोड़कर भी बीमारी तो वही रहेगी।

एक आदमी आया है, वह कहता है कि केंसर है मुझे, केंसर तो नहीं छोड़ सकता, ि
सर घुटवा सकता हूं। घुटवा लें, इससे कोई अंतर नहीं, इससे कोई संगति नहीं। केंस
र अपनी जगह रहेगा। सिर घुटवाने के बाद भी फिर केंसर को ही ठीक करना पड़ेगा
। वह आदमी कहता है, मैं कपड़े भी छोड़ सकता हूं। कृष्ण कहेंगे, कपड़े छोड़ने से
कुछ लेना-देना नहीं है। महावीर और बुद्ध उसको लौटा नहीं देंगे। महावीर और बुद्ध
के द्वार पर सभी को प्रवेश हो जाएगा। वह सभी के लिए तैयार हैं, कि ठीक है, ज
ो तुम कर सकते हो वह करो, आखिरी बात आखिरी में देखेंगे। लेकिन कृष्ण कहते
हैं, आखिरी बात करो तो ही मेरे मकान में प्रवेश है। इसलिए कृष्ण का मकान करी
ब-करीब खाली रह गया। उसमें प्रवेश बहुत मुश्किल हुआ। इसलिए 'आर्डर्स' खड़े न
हीं हो सके। महावीर के साथ पचास हजार संन्यासी चलते थे। संभव था यह। कृष्ण
के साथ मुश्किल है। पचास हजार निरहंकारी आदमी पहले दिन कैसे खोजियेगा?

महावीर और बुद्ध को अगर हम ठीक से कहें तो 'ग्रेजुअल एनलाइटेनमेंट' की बात
है वह, क्रमिक। क्रम की बात हमें समझ में आती है। एक रुपये से दो रुपये हो सक
ते हैं, तीन रुपये हो सकते हैं, चार रुपये हो सकते हैं, हमारी समझ में आता है। ले
किन गरीब एकदम अमीर हो सकता है, यह हमारी समझ में नहीं आता। कृष्ण जो
बात कर रहे हैं, वह 'सडन एनलाइटेनमेंट' की है। वह कहते हैं, नाहक इतनी परेश
ानी क्यों करते हो? एक रुपया है तब भी तुम गरीब हो, एक रुपये वाले गरीब हो;
दो रुपया है तब भी तुम गरीब हो, दो रुपये वाले गरीब हो; तीन रुपया है तब भी
तुम गरीब हो, तीन रुपये वाले गरीब हो। करोड़ हैं तो भी तुम गरीब हो, करोड़
रुपये वाले गरीब हो। कृष्ण कहते हैं, हम तुम्हें सम्राट बनाते हैं, रुपये का तुम हिसा
ब-किताब छोड़ो। रुपये से भी छूट सकता है, दो से भी छूट सकता है, तीन से भी
छूट सकता है, करोड़ से भी छूट सकता है। हम तुम्हें सम्राट ही बनाए देते हैं—बना
क्या देते हैं, हम तुम्हें याद दिलाना चाहते हैं कि तुम सम्राट हो। इसलिए महावीर
और बुद्ध की पद्धति साधना है, कृष्ण की पद्धति सिर्फ 'रिमेंबरिंग' है, स्मरण है। स्
मरण करो कि तुम कौन हो, बस मामला पूरा हुआ जाता है। 'जस्ट रिमेंबर'।

एक कहानी मैंने सुनी है, वह मैं आपसे कहूं।

मैंने सुना है कि एक सम्राट ने अपने बेटे को निकाल बाहर किया, नाराज था। एक ही बेटा था। निकाल बाहर कर दिया तो बेटा कुछ भी न जानता था—सम्राट के बेटे क्या जान सकते हैं! न वह पढ़ा-लिखा था, वह कुछ भी नहीं कर सकता था। हां, कभी शौक में कुछ गीत गाना और कुछ नाचना सीखा था, तो सड़कों पर भीख मां गने लगा और नाचने लगा। और नाच-नाचकर भीख मांगने लगा। लेकिन बाप ने उ से देश के बाहर निकालने की आज्ञा दे दी थी, तो अपने देश में तो नहीं कर सकता , देश छोड़ देना पड़ा।

फिर बाप बूढ़ा हुआ। इस बात को वर्षों बीत गए और वह लड़का भूल गया कि मैं सम्राट था। दस साल जो भीख मांगे, उसको याद ही कैसे रहे कि वह सम्राट है। था तो वह सम्राट ही। और दस साल जब उसने भीख मांगी थी, तो वह रोज सम्राट हो ने का ज्यादा अधिकारी होता चला गया था। क्योंकि उसका बाप बूढ़ा होता चला ग या था। एक ही बेटा था। उसके जूते फट गए हैं और धूप है तेज और एक रेगिस्ता नी मुल्क में भटक रहा है और वह एक होटल के सामने जहां साधारण-सी, गंदी-सी होटल वहां भीख मांग रहा है और लोगों के सामने बर्तन फैला रहा है, कह रहा है कुछ पैसे दे दें, क्योंकि जूते की जरूरत है, धूप बढ़ती जाती है, पैर पर फफोले पड़ गए हैं। सम्राट बूढ़ा हुआ। उसने अपने वजीरों को खोजने भेजा कि उस बेटे को वापस लौटा लाओ। क्योंकि यह अब राज्य कौन संभालेगा? न किसी के संभालने से तो बेहतर है कि वह जो नासमझ है वही संभाले।

सम्राट के वजीर उसे खोजने गए। बड़ी मुश्किल से सम्राट का प्रधान वजीर उस गांव में पहुंच गया जहां वह भीख मांग रहा है। रथ सामने आकर रुका तब वह अपने टूटे हुए टीन के बर्तन में भीख मांग रहा था, बजा रहा था और कह रहा था—कुछ पैसे मिल जाएं तो मैं जूते खरीद लूं! रथ रुका, वजीर नीचे उतरा। चेहरा पहचाना हुआ था। कपड़े वही थे जो दस साल पहले पहने निकला था। फट गए थे, चीथड़े हो गए थे। नंगे पैर था, चेहरा सांवला और काला पड़ गया था। वजीर नीचे उतरा, वजीर ने उसके पैर छुए और कहा कि पिता ने क्षमा कर दिया है और वापिस बुलाया है। एक क्षण, एक का भी हजारवां हिस्सा, और वह जो हाथ में टीन का ठीकरा था वह फिंक गया! उस युवक की आंखें एकदम बदल गईं। वह भिखारी नहीं रहा, सम्राट हो गया। उसने वजीर को कहा, जाओ, शीघ्र जूते खरीदो, अच्छे कपड़े लाओ, स्नान का इंतजाम करो। वह रथ पर बैठ गया। वह जिनसे भीख मांगता था, जो न कुछ थे उस होटल में, वह सब भीड़ लगाकर खड़े हो गए और उन्होंने देखा यह आदमी दूसरा है, वह उनकी तरफ देख भी नहीं रहा है। वह उनको पहचानता भी नहीं है। उन्होंने कहा, अरे, हमें भूल गए! उसने कहा, तुम्हें तभी तक याद रख सकता था, जब तक अपने को भूले हुए था। जब अपनी याद आ गई, अब भूल जाओ उस आदमी को जो भीख मांगता था। उन्होंने कहा, अभी क्षण भर पहले! और उसने कहा कि मुझे याद आ गई।

कृष्ण की प्रक्रिया इतनी ही है कि आदमी को सिर्फ इतनी याद दिलाने की बात है ि क तुम कौन हो। यह साधने की बात नहीं है, स्मरण की है। और उस याद के साथ ही एक क्षण में सब बदल जाता है, टीन का ठीकरा बाहर फिंक जाता है। जिनसे हम भीख मांग रहे थे, अचानक हाथ खींच लेते हैं, हम खुद ही सम्राट हो जाते हैं। लेकिन यह सम्राट होना 'सडन' है। और ध्यान रहे, सम्राट कोई आदमी 'सडन' ही होता है। भिखारी 'ग्रेजुअल' होता है। सम्राट होने के लिए भी कोई सीढ़ियां हों तो आखिरी सीढ़ी पर खड़े होकर आप थोड़े अच्छे ढंग के भिखारी होंगे, और कोई खास फर्क नहीं पड़ने वाला। पैसे वाला भिखारी होंगे, और कोई खास फर्क नहीं पड़ने वा ला। लेकिन भीख जारी रहेगी। और एक दिन आपको छलांग लगानी पड़ेगी, वहां ज हां आप 'ग्रेजुअली' चढ़-चढ़कर पहुंचे हैं, वहां से कूद जाना पड़ेगा। लेकिन यह घड़ी महावीर और बुद्ध की साधना में आखिरी क्षण आती है, जिस दिन छलांग लगानी पड़ती है। कृष्ण के मामले में पहले ही आ जाती है। कहते हैं, छलांग लगाओ आगे, फिर दूसरी बात। फिर दूसरी बात ही करने की कोई जरूरत नहीं होती, छलांग ल गाने की बात है।

गीता में पूरे वक्त अर्जुन को वह कुछ खास नहीं समझा रहे हैं, सिर्फ याद दिला रहे हैं कि तू कौन है। वह कोई उपदेश नहीं दे रहे हैं, वह सिर्फ चोटें दे रहे हैं कि तू कौन है। वह किसी को समझा नहीं रहे, किसी को जगा रहे हैं। वह सिर्फ हिला रहे हैं, झकझोर रहे हैं कि तू उठकर देख कि तू कौन है! तू भी कहां छोटी-छोटी बातों में पड़ा है कि यह मर जाएगा, वह मर जाएगा! तू जागकर देख, कोई कभी मरा ही नहीं है। तू कब मरा! मगर वह नींद में है, और अपने सपने में है, वह यही पूछे जा रहा है कि यह मेरा भाई है, यह मेरा रिश्तेदार है, यह मेरा गुरु है, इनको मैं कैसे मारूं! वह सपने में ही है। कृष्ण उसको समझा नहीं रहे हैं, उसको धक्के दे र हे हैं कि तू नींद खोल, जरा आंख खोलकर देख, क्या सपना देख रहा है। या तो स भी सबके हैं, या कोई किसी का नहीं है। दोनों हालत में मतलब एक है। या तो स भी लोग मर ही जाते हैं, तब मारने न मारने से कोई फर्क नहीं पड़ता; या मरते ही नहीं है, तब भी मारने न मारने से कोई फर्क नहीं पड़ता है।

कृष्ण की जीवन-चिंतना स्मरण की है। इसलिए साधना नहीं है वह। वह सीधे सिद्ध होने में छलांग है। हम उतनी हिम्मत नहीं जुटा पाते हैं, इसलिए हम कहते हैं यह अपना काम नहीं। हम तो कहीं जाएं जहां धीरे-धीरे, एक-एक कदम हम चलेंगे। लेि कन हर कदम पर आप अपने को बचाते हुए चलेंगे, ध्यान रखना। इसीलिए तो छल ांग नहीं लगाते, छलांग लगाने में बच नहीं सकते। बचने में खतरा है। आप कहते हैं , हम तो एक-एक कदम चलेंगे जिसमें अपने को बचाकर चलें। लेकिन जिसको आप बचा रहे हैं, वह आखिरी कदम में भी बचा रहेगा। और वह फिर भी कहेगा कि अपने को बचाकर किसी तरह निकल जाओ मोक्ष। अपने को बचाकर कोई मोक्ष में प्रवेश नहीं कर सकता। अपने को खोकर ही प्रवेश कर सकता है। यह आखिरी क्षण में वही दिक्कत आएगी। और मैं मानता हूं कि जो दिक्कत आखिरी क्षण में आनी ह

ो, वह पहले क्षण में ही आ जाए। क्योंकि इतना समय क्यों व्यय करना है, इतना स मय क्यों व्यर्थ खोना।

आखिरी क्षण में महावीर और बुद्ध का जो स्मरण आता है, वह स्मरण है, वह साध ना का फल नहीं है। लेकिन हमने साधना देखी है। एक आदमी गांव में बीस चक्कर लगाता है, फिर उसे स्मरण आता है कि मैं कौन हूं। एक आदमी एक ही चक्कर लगाता है, उसे स्मरण आता है कि मैं कौन हूं। कोई-कोई चक्कर नहीं लगता है, उ से स्मरण आता है। लेकिन हम जो देखने वाले हैं, हम कहेंगे, इस आदमी को बीस चक्कर लगाने से कोई 'काज़-इफेक्ट' का संबंध नहीं है, यह बात जरा आपको ठीक से समझ लेनी चाहिए।

महावीर ने क्या किया और महावीर को क्या हुआ, इसमें कोई 'काज़ल लिंक' नहीं है। इसमें कोई कार्य-कारण का संबंध नहीं है कि महावीर ने ऐसा किया, इसलिए ऐ सा हुआ। अगर ऐसा है तो फिर जीसस को नहीं हो सकेगा, क्योंकि जीसस ने वह कुछ भी नहीं किया जो महावीर ने किया। फिर बुद्ध को नहीं हो सकेगा, क्योंकि बु द्ध ने वह कुछ भी नहीं किया जो महावीर ने किया। अगर सौ डिग्री पानी गर्म होने से ही भाप बनता है, तो तिब्बत में बनाया जाए, हिंदुस्तान में बनाया जाए, चीन में बनाया जाए, अमरीका में बनाया जाए, वह सौ डिग्री पर ही भाप बनेगा। उसका सौ डिग्री पर भाप बनना 'कॉज़ल' है, उसमें कार्य-कारण है।

आध्यात्मिक जीवन 'कॉज़ल' नहीं है। उसमें कार्य-कारण नहीं है। इसलिए तो आध्याि त्मक जीवन मुक्त हो सकता है। कार्य-कारण की श्रृंखला में मुक्ति कभी भी नहीं हो सकती। कार्य-कारण का मतलब ही बंधन है। हर चीज पिछली चीज से बंधी है। अ ौर जो चीज पिछली चीज से बंधी है, वह अगली चीज से बंधी होगी। उसमें 'चेन स ीरीज़' है, सब चीजें बंधी हैं। अगर पानी भाप बनेगा तो अभी तक पानी के नियमों से बंधा था, अब भाप के नियमों में बंध जाएगा। अगर पानी बर्फ बन जाएगा तो अ भी तक पानी के नियमों से बंधा था, अब बर्फ के नियमों से बंध जाएगा। आगे, पी छे, दोनों तरफ बंधन होंगे। जिसको मुक्ति कहते हैं, वह 'नॉन-कॉज़ल' है, उसके पी छे कोई कारण नहीं है, कि इस कारण से फलां आदमी मुक्त हुआ, यह-यह कारण से मुक्त हुआ, क्योंकि इसने इतना उपवास किया इसलिए मुक्त हुआ है। तब तो को ई भी आदमी उतना उपवास करे तो मुक्त होना चाहिए। लेकिन यह नहीं होता।

सौ डिग्री पर कोई भी पानी गर्म होता है, भाप बनता है। लेकिन कोई भी आदमी उ पवास करे तो मुक्त नहीं होता है। महावीर करते हैं तो होते हैं। कोई भी आदमी न ग्न खड़ा हो जाए तो मुक्त हो जाएगा? नहीं होता। बहुत लोग ऐसे ही नग्न हैं, कप. डे ही नहीं है। लेकिन महावीर खड़े हो जाते हैं और मुक्त हो जाते हैं। तो नग्नता से मुक्ति का कोई 'कॉज़ल-रिलेशनशिप' है, कोई कार्य-कारण-संबंध है? अगर संबंध है तो फिर सबको करना ही पड़ेगा। नहीं, संबंध नहीं है। असल में मुक्ति का अर्थ ह ी कार्य-कारण की श्रृंखला के बाहर हो जाना है। वह जो कार्य-कारण की श्रृंखला है कि ऐसा करने से ऐसा होता है, ऐसा न करने ऐसा नहीं होता, इस सबके बाहर हो

जाना ही मुक्ति का अर्थ है। असल में कार्य-कारण की सीमा में जो बंधा है, उसी का नाम पदार्थ है और कार्य-कारण की सीमा के जो बाहर है, उसी का नाम परमात्मा है।

लेकिन, किस जगह इसके बाहर होंगे आप? हम प्रत्येक घड़ी को कार्य-कारण से जोड़ते हैं। अभी मैं एक कहानी कह रहा था—

एक आदमी एक ट्रेन में सवार हुआ है, पहली दफा। उसके गांव के लोगों ने उसकी जन्म-जयंती मनाई है। पचहत्तर साल का हो गया है, बूढ़ा है और गांव गरीब है, उसको क्या भेंट दें! तो उन्होंने सोचा कि हमारे गांव में कभी कोई ट्रेन पर सवार नहीं हुआ है—पहली दफा ट्रेन चली—तो हम सब गांव के लोग चंदा करके इसको ट्रेन पर भेज दें। तो उसको ट्रेन पर भेजा। साथ में एक मित्र और उसके ट्रेन पर गया है। वे दोनों सवार हुए। पहली दफा गाड़ी में बैठे। बड़े आनंदित हैं और तभी गाड़ी में चीजें बिकने आ गईं। कुछ उन्होंने पाकिट-खर्च भी उनको दिया था कि कुछ खरीद भी करना आते-जाते। आनंद लेना। एक सोडा बेचने वाला, एक आदमी सोडा बेच रहा है। उन्होंने कहा, पता नहीं क्या खतरनाक चीज है, लेकिन पहले कोई पीता हो तो अपन देख लें। एक आदमी ने लेकर पिआ तो उन्होंने कहा, ठीक है, पिआ तो जा सकता है। पर उन्होंने कहा, एक ही लें पहले। आधा तुम पी लो, आधा मैं पी लूं। क्योंकि जंचे भी, न जंचे। तो उन्होंने एक सोडे की बॉटल ली। एक आदमी ने आधी बोतल पी। पहले दफे पी थी, और जैसे ही उसने बोतल पी वैसे ही ट्रेन एक 'टनल' में, एक बोगदे में प्रवेश की। वह आधे के आगे पीता चला गया तो दूसरे ने रोका, उसने कहा कि तुम आधे के आगे जा रहे हो। उसने बोतल नीचे की, आंखें खोलीं, घनघोर अंधेरा था। तो उसने दूसरे आदमी को कहा कि, 'डोंट टच दिस स्टफ, आई हैव बीन स्ट्रक ब्लाइंड'। इसको छूना ही मत, मैं अंधा हो गया हूं। भूलकर मत पीना, अब जो हो गया मेरे साथ, हो गया।

स्वभावतः वह जो अंधेरा घटित हुआ था, वह उसके लिए 'कॉज़ल लिंक में ही सोच सकता है—सोडा पीने से आंखें एकदम अंधी हो गईं। हम जिंदगी में इसी भाषा में सोचते हैं। इससे बड़ी भ्रांतियां पैदा होती हैं। मुक्ति का जो अनुभव है, वह 'बियांड द कॉज़ल लिंक' है। वह हमारे सब कार्य-कारण के बाहर है। बुद्ध ने जो किया है उसके कारण वह उसको उपलब्ध नहीं हुए, उसके करने के बावजूद उपलब्ध हुए, 'इन स्पाइट आफ दैट'। महावीर ने जो किया है उसके कारण उपलब्ध नहीं हुए, उसको करने के बावजूद उपलब्ध हुए हैं। इसलिए कोई अगर महावीर की पूरी नकल भी कर ले तो उपलब्ध नहीं होगा। पूरी नकल कर ले, 'टोटल', कि उसमें एक अंक भी कम देने की गुंजाइश न रह जाए, उसको सौ परसेंट आंकड़े देने पड़ें कि अब इसमें कोई कमी नहीं रह गई, फिर भी नहीं होगा। उसका कोई संबंध नहीं है।

मुक्ति 'एक्सप्लोजन' है, एक विस्फोट है, कार्य-कारण की शृंखला के बाहर।

कृष्ण यह कहते हैं कि अगर यह खयाल में आ जाए तो वह अभी हो सकता है। पात्र-अपात्र का सवाल नहीं है, सभी पात्र हैं। साधना का उतना सवाल नहीं है। लेकिन

कुछ लोग थोड़ा चक्कर खाएंगे। उनको अगर अपने घर भी आना हो तो वह पूरी बस्ती में घूमे बिना नहीं आ सकते। उनके लिए जरूरी होगा कि पूरा गांव घूम आएं। कुछ लोग, अपने पास भी उनको आना है तो 'वाया दि अदर', वह दूसरे के बिना अपने पास भी नहीं आ सकते। उनका रास्ता ही वह है। फिर हमारे अपने-अपने चक्कर हैं। वह चक्कर हम पूरा करेंगे। लेकिन कृपा करके अपना ही चक्कर पूरा करें, तब भी ठीक है। दूसरे ने जो चक्कर पूरा किया है, उसको करने निकल जाते हैं आप, तब बहुत मुश्किल में पड़ जाएंगे। वह आपका चक्कर ही नहीं है। कोई दूसरा उस चक्कर से अपने तक आया था, लेकिन आप वह नहीं हैं, आप दूसरे आदमी हैं। आप उस चक्कर से नहीं आ सकते हैं अपने तक।

पहली बार जब उपनिषद पश्चिमी भाषाओं में अनुवादित हुए, तो वहां जिन लोगों ने पढ़ा उनकी पहली जो तकलीफ हुई वह यही थी, कि इनमें कोई साधना तो बताई नहीं है। क्या करना, क्या नहीं करना; क्या खाना, क्या नहीं पीना; क्या पहनना, क्या नहीं पहनना; क्या बुरा है, क्या भला है; यह सब इसमें कुछ बताया हुआ नहीं है। ये किस तरह के धर्मग्रंथ हैं। क्योंकि बाइबिल में सब बहुत साफ है। क्या करो, क्या न करो, यह बहुत साफ है। 'कमांडमेंट' जाहिर है; यह कहना है और यह नहीं करना है। यह तो धर्मग्रंथ है। यह उपनिषद किस तरह का धर्मग्रंथ है, जिसमें कोई चर्चा ही नहीं; जिसमें कोई साधना की प्रक्रिया नहीं, आचरण की कोई व्यवस्था नहीं। कठिन है समझना कि बाइबिल में जो उपदेश है, वह धर्म से उसका कोई लेना-देना नहीं है, वह सिर्फ 'रिमेंबरिंग' की बात है। वे यह कह रहे हैं कि तुम स्मरण करो। जिसे तुम भूल गए हो, जो तुम हो, जो तुम इसी वक्त हो, उसे स्मरण करो। इसे कहीं पाने नहीं जाना है, अभी और यहीं हो ही तुम। सिर्फ स्मरण करो। यह सिर्फ विस्मृति है।

कृष्ण की दृष्टि में, जो हमें पाना है वह सिर्फ विस्मृत हुआ है, खोया नहीं है। जो हमें पाना है, वह हम भूल गए हैं, बस इससे ज्यादा नहीं है। वह हमें याद नहीं रहा है। इसलिए पहले ही चरण में उसको याद करो और कूद जाओ। इसलिए जो साधनाएं और जो नैतिकताएं और जो व्यवस्थाएं धर्म देगा, वह कृष्ण नहीं दे रहे हैं। कृष्ण का अहंकार, पहले ही क्षण में नहीं है। और जो आदमी भी आंख खोलकर देखेगा, उसका अहंकार नहीं रह जाएगा। आंख बंद करके हम जीते हैं, इसलिए अहंकार रह जाता है। ऐसा नहीं है कि आप कहेंगे, कृष्ण को हुआ, मुझे क्यों नहीं होता है? आप आंख बंद करके जीते हैं। आपने कभी अपने जन्म के संबंध में सोचा कि किसने आपको पैदा किया? आपने पैदा किया? कम-से-कम इतना तो तय है कि आपने पैदा नहीं किया। आप जैसे हैं, ऐसा आपको आपने नहीं बनाया, इतना तो तय है। लेकिन हमें भी वहम पैदा हो जाता है। हमारे बीच में भी कई 'सेल्फ-मेड' पागल होते हैं, वह सोचते हैं, मैंने अपने को बनाया। वह भगवान तक को तकलीफ नहीं देते उनको बनाने की, वह खुद ही पर अपना सब थोप लेते हैं। तो मैंने अपने को बनाया—'सेल्फ-मेड'। न हम अपने को बनाते, हमारा होना भी हमारे हाथ में तो नहीं है। ऐसे

सीधे-से सत्य भी हमें दिखाई नहीं पड़ते कि मेरा होना भी मेरे हाथ में कहां है! मैं हूं, इसके लिए मेरी जिम्मेवारी कहां है! मैं नहीं होता, तो मैं किससे शिकायत करने जाता? जो नहीं हैं वहां शिकायत कर रहे हैं? नहीं होता तो नहीं होता, हूं तो हूं। मैं ऐसा हूं तो ठीक, और ऐसा नहीं होता, और-जैसा होता तो क्या करता!
अगर हम जीवन के तथ्यों में थोड़ी आंख डालकर देखें तो हमें दिखाई पड़ेगा, न जन्म हमारे हाथ, न मृत्यु हमारे हाथ, हमारे भी हमारे हाथ में नहीं हैं। जरा अपने हाथ से अपने ही हाथ को पकड़ने की कोशिश करें तो पता चलेगा। कुछ भी हमारे हाथ में नहीं हैं। जहां कुछ भी हमारे हाथ में नहीं है, वहां 'मैं' कहने का अर्थ क्या है, प्रयोजन क्या है? जहां सभी कुछ संघट है, जहां सभी कुछ एक-साथ घट रहा है—कहा नहीं जा सकता कि आज बगीचे में जो फूल खिले हैं, अगर वह आज नहीं खिलते तो जरूरी था कि मैं फिर भी यहां होता। कोई नहीं कह सकता। आमतौर से हम कहेंगे, इससे क्या संबंध है; बगीचे में फूल नहीं होते, तो भी मैं यहां हो सकता था। जरूरी नहीं है। वह जो बगीचे में एक फूल खिला है, उसकी मौजूदगी और मेरा होना एक ही होने के दो छोर हैं।
अभी सूरज शांत हो जाए तो हम सब यहीं शांत हो जाएंगे। सूरज बहुत दूर है। करोड़ों मील दूर है। उसके होने पर हम निर्भर हैं; और सूरज भी किन्हीं महासूर्यों के होने पर निर्भर है, और वे महासूर्य भी और किन्हीं महासूर्यों के होने पर निर्भर हैं—सब निर्भर है। यहां जीवन 'इंटरडिपेंडेंट' हैं, हम छोटे-छोटे द्वीप नहीं हैं, हम महासागर हैं, यहां सब इकट्ठा है। इसको जरा ही आंख खोलकर देख लें तो कोई याद दिलाना पड़ेगा कि मैं और तू हमारे मानवीय आविष्कार हैं, और बड़े गलत आविष्कार हैं! वह दिखाई पड़ जाए तो उसका स्मरण आ जाए जो है। वह दिखाई न पड़े तो उसका स्मरण मुश्किल होगा। तब तक हम अपने को मैं माने चले जाएंगे, दूसरे को तू माने चले जाएंगे और एक कल्पना में, एक पुराण में जी लेंगे; एक 'मिथ' में जी लेंगे।
कृष्ण पहले ही चरण में कहते हैं स्मरण करो, और कुछ मत करो। बस स्मरण करो। कौन हो, क्या हो, कहां हो, इसका स्मरण करो और सब प्रगट हो जाएगा।

'भगवान श्री, पूर्णता के संबंध में एक प्रश्न था। आपने सुबह कहा कि पूर्णता का मूल लक्षण आप शून्यता मानते हैं। बुद्ध भी तो परम शून्य थे। क्या उन्हें पूर्ण नहीं कहा जा सकता? और इसी के साथ क्या शून्यता स्वयं में बहु-आयामी नहीं है?

* दो-तीन बातें।
एक तो, बुद्ध शून्यता पर पहुंचे, जैसा मैं अभी कह रहा था। बुद्ध शून्यता पर पहुंचे। वह उनका 'अचीवमेंट' है। वह उन्होंने पाया। वे शून्य हुए। जो शून्यता पाई जाएगी, वह 'वन डायमेंशनल' हो जाती है। उसकी एक दिशा हो जाती है। वह पाने वाले पर निर्भर हो जाती है।

इसको ऐसा समझें। असल में मैं अपने भीतर से जिस चीज को शून्य कर दूंगा, जिस चीज को काट डालूंगा, अलग कर दूंगा, वह समाप्त हो जाएगी, मेरे भीतर से हट जाएगी। एक तरह का शून्य उपलब्ध होगा। लेकिन वह शून्यता किसी चीज का अभाव होकर आएगी। एक और शून्यता है, जो हम लाते नहीं, जो हमारे होने के बोध में ही जनमती है। हम हैं ही शून्य, हम होते नहीं शून्य। शून्यता हमारा स्वभाव है। ऐसे हम हैं ही। जिस दिन शून्यता हमारा स्वभाव होती है, साधन नहीं, अभ्यास नहीं, उपलब्धि नहीं, उस दिन शून्यता बहु-आयामी, 'मल्टी-डायमेंशनल' हो जाती है। हमने किसी चीज को खाली करके अपने को शून्य नहीं किया है। हम शून्य हैं ही, इसको स्मरण किया है।

तो बुद्ध की जो शून्यता हमें दिखाई पड़ती है, वह शून्यता लाई हुई है। और जो शून्यता लाई हुई है, वही हमें दिखाई पड़ती है। कृष्ण में हमें शून्यता कभी नहीं दिखाई पड़ी। कृष्ण को तो लोग कहेंगे, बहुत भरे-पूरे आदमी हैं, बहुत 'ऑकुपाइड' आदमी हैं। कृष्ण की 'प्रेजेंस' तो अनुभव होती है, कृष्ण में 'एब्सेंश' अनुभव नहीं होती। कृष्ण में कुछ मौजूद है, यह तो पता चलता है, कृष्ण खाली हैं, यह पता नहीं चलता। पता हमें चलता है कि बुद्ध खाली हैं। उसका कारण है कि जो हम में भरा है, उसको बुद्ध ने निकाल दिया है, इसलिए बुद्ध खाली लगते हैं। अगर हम में क्रोध है, तो बुद्ध ने उसे निकल दिया; अगर हम में हिंसा है, तो बुद्ध ने उसे निकाल दिया; अगर हम में राग है, तो बुद्ध ने उसे निकाल दिया; अगर हम में मोह है, तो बुद्ध ने उसे निकाल दिया; जिससे हम भरे हैं, बुद्ध उससे खाली हैं। इसलिए हमें लगता है कि वह शून्यता है। बुद्ध शून्य हुए। असल में जिससे हम भरे हैं, वह उनमें नहीं है। हम उनकी शून्यता को पहचान लेते हैं। कृष्ण की शून्यता हमें पहचान में नहीं आती। क्योंकि इस आदमी में अगर लोभ नहीं है, तो भी यह आदमी जुआ खेलने बैठ सकता है। अगर इस आदमी में क्रोध नहीं है, तो यह आदमी हाथ में चक्र लेकर कैसे उतर जाता है युद्ध में! अगर इस आदमी में हिंसा नहीं है, तो अर्जुन को क्यों उकसाता है हिंसा के लिए? अगर इसमें राग नहीं है, तो यह प्रेम क्यों करता है? जिससे हम भरे हैं, वह हमें कृष्ण में दिखाई पड़ता है, कृष्ण की शून्यता हमारी पकड़ में नहीं आ सकती।

बुद्ध की शून्यता को अगर ठीक से समझें, तो वह किसी चीज की 'एब्सेंश' है, जो हम में मौजूद है। तो हम पहचान लेते हैं। असल में जिस-जिस को हम मनुष्यता की बीमारियां कहते हैं, बुद्ध में उनका अभाव है। जहां तक मनुष्य के बीमार होने का संबंध है, बुद्ध बिलकुल शून्य हैं। आदमी की कोई बीमारियां उनमें नहीं हैं। बस यहीं तक बुद्ध हमें दिखाई पड़ते हैं। इसके बाद बुद्ध एक और छलांग लेते हैं, वह हमें कभी दिखाई नहीं पड़ती। वह छलांग जो बुद्ध इस शून्यता के बाद लेते हैं, वह हमें कभी दिखाई नहीं पड़ती। वह छलांग जो बुद्ध इस शून्यता के बाद लेते हैं, वह हमें कभी दिखाई नहीं पड़ती। बुद्ध मर रहे हैं और आखिरी क्षण में भी उनके शिष्य उनसे पूछते हैं कि जब आप मर जाएंगे तो आप कहां जाएंगे? कहीं तो होंगे आप! मो

क्ष में होंगे? निर्वाण में होंगे? कैसे होंगे? बुद्ध कहते हैं, मैं कहीं नहीं होऊंगा, मैं हो ऊंगा ही नहीं। यह उनके पकड़ में नहीं आता। क्योंकि वह मानते हैं, जिसने लोभ छ ोड़ा, क्रोध छोड़ा, मोह छोड़ा, उसे कहीं होना चाहिए? हां, जमीन पर नहीं, मोक्ष में होना चाहिए, लेकिन कहीं होना चाहिए! बुद्ध कहते हैं, मैं कहीं भी नहीं होऊंगा। मैं ऐसे ही मिट जाऊंगा जैसे पानी पर खींची गई रेखा मिट जाती है। जब हम पानी पर रेखा खींचते हैं तब वह होती है, और जब मिट जाती है तब बुद्ध पूछते हैं—व ह कहां जाती है? कहीं चली जाती? कहीं रहती? बस मैं पानी पर खींची गई रेखा की तरह मिट जाऊंगा। मैं कहीं भी नहीं होऊंगा। बुद्ध की यह बात उनके शिष्यों की समझ में नहीं आती। कृष्ण इस पानी पर खींची गई रेखा की तरह जिंदगी भर जीते हैं, इसलिए कोई शिष्य भी नहीं खोज पाते, तो किसी को भी समझ में नहीं अ ाते।

बुद्ध और महावीर आखिरी क्षण में उस छलांग को भी पूरा करते हैं, जो एक 'डाय मेंशनल नथिंगनेस' से, एक-आयामी शून्यता से परम शून्य में छलांग हो जाती है, ले किन उस शून्य को पकड़ नहीं पाते हम, उसको हम देख नहीं पाते। और कृष्ण के साथ हमारी कठिनाई और ज्यादा हो जाती है क्योंकि वह शून्य में जीते ही हैं। वह रेखा किसी दिन मिटेगी, नहीं, ऐसा नहीं, वह प्रतिपल खींचते हैं और मिट जाती है। न केवल खींचते हैं और मिट जाती है, बल्कि उससे विपरीत रेखा भी खींच देते हैं। रेखाएं-रेखाएं हो जाती हैं, सब मिटता है, सब होता रहता है। बुद्ध शून्यता को ि कसी दिन उपलब्ध होते हैं, कृष्ण शून्य ही हैं। और इसलिए कृष्ण की शून्यता को प कड़ना मुश्किल होता है।

जिस दिन बुद्ध शून्य होते हैं, उस दिन जहां तक बुद्ध के भीतर जो कैद थी चेतना, जो अस्तित्व, वह मुक्त होकर विराट के साथ एक हो जाता है। लेकिन उस दिन व ह बुद्ध नहीं रह जाते—उस दिन वह जो गौतम सिद्धार्थ पैदा हुआ था; उससे कोई सं बंध नहीं है। वह जो भीतर एक शून्य था अस्तित्व का, वह विराट अस्तित्व के साथ एक हो गया। इसलिए उस विराट अस्तित्व के साथ एक हो गए उस शून्य की कोई कथा नहीं है हमारे पास। लेकिन कृष्ण पूरे जीवन ऐसे जीते हैं कि उस शून्य की ह मारे पास एक कथा है, कि अगर बुद्ध भी उस शून्य के बाद जगत में जिएं, तो कैसे जिएंगे। वह तो हमें मौका नहीं मिलता, वह मौका हमें कृष्ण में मिलता है।

बुद्ध का शून्य होना और समाप्त हो जाना एक साथ घटित होते हैं, कृष्ण का शून्य होना और होना एक साथ चलते हैं। अगर बुद्ध पूर्ण निर्वाण को, महानिर्वाण को पा कर वापस लौट आएं, तो वह कृष्ण-जैसे होंगे। फिर वह चुनाव नहीं करेंगे—फिर वह यह नहीं कहेंगे, यह बुरा है और यह भला है। फिर वह छोड़ेंगे-पकड़ेंगे नहीं। फिर वे कुछ भी नहीं करेंगे, फिर वे जिएंगे। कृष्ण वैसे जीते ही हैं। जो बुद्ध की परम उप लब्धि है, कृष्ण का वह सहज जीवन है। और इसलिए बहुत कठिनाई है। परम उपल ब्ध लोग तो समाप्त हो जाते हैं, उपलब्ध होते-होते खो जाते हैं, इसलिए हमें बहुत परेशानी में नहीं डालते। जब तक वे होते हैं, हमारी नैतिक धारणाओं की परिपुष्टि

उनसे होती मालूम पड़ती है। लेकिन, यह आदमी होता ही शून्य है और इसलिए हम ारी किसी नैतिक मान्यता को इससे पुष्टि नहीं मिलती। यह हमारा सारा-का-सारा अस्तव्यस्त कर जाता है। यह आदमी हमें बड़े भ्रम में छोड़ जाता है। हम समझ ही नहीं पाते कि अब क्या करें और क्या न करें? असल में बुद्ध और महावीर से करने के सूत्र निकलते हैं; कृष्ण से होने का सूत्र निकलता है। बुद्ध और महावीर से 'डूइं ग' के लिए रास्ता मिलता है, कृष्ण से सिर्फ 'बीइंग' के लिए रास्ता मिलता है। कृष ण सिर्फ 'हैं'।

एक झेन फकीर से किसी आदमी ने जाकर पूछा है कि मुझे ध्यान सिखाएं। तो उस फकीर ने कहा कि तुम मुझे देखो और सीख लो। वह आदमी बहुत मुश्किल में पड़ गया, क्योंकि वह फकीर अपने बगीचे में गड्ढे खोद रहा है। उसने थोड़ी देर तो देखा, उसने कहा कि गड्ढा खोदना मैं बहुत देख चुका हूं, मैंने बहुत खोदे हैं, आप कृपा करके ध्यान सिखाएं। तो उस फकीर ने कहा कि अगर तुम मुझे देखकर नहीं सीख सकते, तो मैं और कैसे सिखा सकता हूं; मैं ध्यान हूं! मैं जो भी कर रहा हूं, वह ध यान है। मेरे गड्ढे खोदने को ठीक से देखो। उस आदमी ने कहा, मुझे तो लोगों ने भे जा था कि बड़े ज्ञानी के पास भेज रहे हैं, मैं भी कहां आ गया। गड्ढा खोदना ही मु झे देखना होता तो मैं कहीं भी देख लेता। उस फकीर ने कहा, एक-दो दिन रुक जा ओ।

कभी वह फकीर खाना खाने बैठता, कभी वह सो जाता, कभी वह स्नान करता, क भी वह गड्ढा खोदता, कभी बीज बोता, दो दिन में वह आदमी घबड़ा गया, उसने क हा, मैं ध्यान सीखने आया हूं, इन सब बातों में मुझे कोई मतलब नहीं है। तो उस फकीर ने कहा, लेकिन मैं करना नहीं सिखाता, मैं होना सिखाता हूं। अगर तुम मुझे गड्ढा खोदते देखो तो समझो कि ध्यान कैसे गड्ढा खोदता है। अगर तुम मुझे खाना खाते देखते हो, तो देखो कि ध्यान कैसे खाना खाता है? मैं ध्यान करता नहीं, मैं ध यान हूं। उस आदमी ने कहा, मैं भी किस पागल के पास आ गया! मैंने सदा यही सु ना था कि ध्यान किया जाता है, अब तक मैंने सुना नहीं कि कोई ध्यान होता है। उस फकीर ने कहा, यह तो बहुत मुश्किल सवाल है कि पागल हम दोनों में से कौन है। और हम दोनों तो इसको तय कर ही न सकेंगे।

हम सबने प्रेम किया है, हम कभी प्रेम नहीं हुए हैं, इसलिए अगर कोई आदमी हमा रे बीच आ जाए जो प्रेम है, तो मुश्किल में डाल देगा। क्योंकि हम तो प्रेम करते हैं । 'लव एज़ एक ऐक्ट' हमारे लिए आता है। 'लव एज़ बीइंग' हमारे लिए कभी नह ीं है। इसको प्रेम करते, उसको प्रेम करते, कभी करते, कभी नहीं करते, वह हमारा कामधाम है। लेकिन एक आदमी जो प्रेम है, वह हमें मुश्किल में डाल देता। उसका होना प्रेम है। वह जो भी करता है वह प्रेम है। वह जो नहीं करता, वह भी प्रेम है । वह लड़ता है तो प्रेम है, वह गले लगता है तो प्रेम है—वह जो भी करता है। वह आदमी हमें मुश्किल में डाल देगा। हम उससे बहुत कहेंगे कि भाई, हमें प्रेम करो; वह कहेगा प्रेम मैं कैसे करूं, मैं प्रेम हूं; प्रेम तो वे कर सकते हैं जो प्रेम न हों।

कृष्ण की यही कठिनाई है। कृष्ण का अस्तित्व शून्य है, शून्य हुए नहीं है वह। उन्होंने कुछ खाली नहीं किया, उन्होंने कुछ हटाकर जगह रिक्त नहीं बनाई, उन्होंने तो जो है, उसको स्वीकार कर लिया, स्वीकार कर लिया इसलिए शून्य हो गए। इस शून्यता में और बुद्ध और महावीर की शून्यता में आखिरी क्षण के एक क्षण पहले तक फर्क रहेगा। बुद्ध और महावीर आखिरी क्षण तक होंगे कुछ। आखिरी छलांग में न-कुछ हो जाएंगे। लेकिन कृष्ण पूरे जीवन न-कुछ हैं। यह शून्यता, जिसको कहें 'लिविंग नथिंगनेस', जीवंत शून्यता है। बुद्ध और महावीर की शून्यता जीवंत नहीं है। जीने के आखिरी क्षण तक तो वे उस शून्यता से भरे रहते हैं जो शून्यता हम पहचान लेते हैं कि यह-यह खाली किया है, आखिरी क्षण में छलांग लेते हैं। इसलिए महावीर और बुद्ध, दोनों कहेंगे, लौटना नहीं है। लौटना नहीं है। लेकिन कृष्ण राधा से कह सकता है कि हम बहुत बार पहले भी आए और नाचे, और बहुत बार फिर भी आएंगे और नाचेंगे।

बुद्ध और महावीर के लिए शून्यता महामृत्यु है। उसके बाद कोई लौटना नहीं है, खो जाना है। वह आवागमन का बंद हो जाना है। कृष्ण कह सकता है कि आवागमन से मुझे क्या डर है? मैं शून्य हूं ही। मुझे मोक्ष में और ज्यादा क्या मिलेगा। मैं जहां हूं वहां मोक्ष है ही। मैं आता रहूंगा। इसलिए वह बड़ी अदभुत बात कहते हैं। वह अर्जुन से कहते हैं कि जब भी मुसीबत हो, मैं आ सकता हूं। जब भी धर्म की ग्लानि हो, मैं आ जाऊंगा। ऐसा बुद्ध और महावीर नहीं कह सकते। ऐसा उनका कोई वक्तव्य नहीं है कि दुनिया में मुसीबत हो, अंधेरा हो, बीमारी हो, तकलीफ हो, अधर्म हो, तो मैं आ जाऊंगा। क्योंकि वह कहेंगे, मैं आऊंगा कैसे, मैं तो मुक्त हो चुका होऊंगा। लेकिन कृष्ण कहते हैं, तुम फिक्र मत करना, कोई मुसीबत हो तो मैं आ सकता हूं। आ सकने का यह मतलब नहीं है कि आ जाएंगे। आ सकने का कुछ मतलब यह है कि इस आदमी को आने-जाने में कोई फर्क नहीं है, इससे कोई बाधा नहीं पड़ती। यह शून्य है ही, इसलिए आने से क्या बिगड़ेगा; कुछ भी नहीं बिगड़ेगा। शून्यता का यह फर्क है।

और महावीर और बुद्ध शून्यता को मुक्ति के अर्थों में ही ले पाएंगे, क्योंकि उनके जीवन भर मुक्ति की आकांक्षा ही उनकी साधना है। इसलिए जब शून्यता आएगी तो वे कहेंगे, हम मुक्त हुए, विश्राम में गए। अब लौटते नहीं हैं। 'प्वाइंट आफ नो रिटर्न', अब इससे लौटना नहीं है। अब लौटने का कोई सवाल नहीं है। क्योंकि लौटने का उनके लिए एक ही मतलब साफ होगा कि वही क्रोध, वही लोभ, वही मोह, वही जंजाल, वही संसार, वही उपद्रव, वही मुसीबत। अब लौटना नहीं है। अब हम सबके बाहर हुए। इसलिए शून्य की घटना जब उनके चित्त में घटेगी तो वह डूब जाएंगे उसमें, खो जाएंगे विराट में। वह नहीं लौटने की बात कर सकते। लेकिन कृष्ण के लिए कोई फर्क नहीं पड़ता। वह क्रोध में भी वही हैं, प्रेम में भी वही हैं, राग में भी वही हैं, सब में भी वही हैं। इसलिए वह कहेंगे, अगर लौटना है तो मजे से लौट आएंगे। उसमें कोई तकलीफ नहीं है। इधर कोई बेचैनी, कोई कठिनाई नहीं होती। आ

ना-जाना हो सकता है। इसमें बाधा नहीं है। इसलिए वह कह सकते हैं। उनका शून्य जीवंत है।

लेकिन अनुभूति में कोई फर्क नहीं पड़ेगा। चाहे महावीर और बुद्ध का शून्य आपको मिल जाए तो भी आप आनंद को उपलब्ध हो जाएंगे। चाहे कृष्ण का शून्य आपको मिल जाए तो भी आप आनंद को उपलब्ध हो जाएंगे। लेकिन महावीर और बुद्ध का आनंद जो है, वह विश्राम में ले जाएगा। कृष्ण का जो आनंद है, वह हो सकता है विराट सक्रियता में ले जाए। तो अगर हम ऐसा शब्द बना सकें, 'एक्टिव वॉयड', सक्रिय शून्य, तो कृष्ण पर लागू होगा। अगर हम ऐसा कोई बना सकें, निष्क्रिय शून्य, 'नॉनएक्टिव वॉयड', तो वह महावीर और बुद्ध पर लागू होगा। अनुभूति तो आनंद की ही होगी, लेकिन एक आनंद सृजनात्मक हो जाएगा और एक आनंद लीन हो जाएगा। वह फर्क है। एकाध सवाल और पूछ लें तो फिर हम बैठें।

'बुद्ध पूर्णता अर्थात महाशून्यता के बाद भी तो चालीस-बयालीस साल जीते हैं?'

* बुद्ध जीते हैं। महावीर भी चालीस साल जीते हैं, बुद्ध भी चालीस साल, बयालीस साल जीते हैं। लेकिन बुद्ध कहते हैं मरने के पहले कि वह जो निर्वाण मुझे हुआ था चालीस साल पहले, वह निर्वाण था, अब जो हो रहा है, वह महानिर्वाण है। पहले निर्वाण में बुद्ध ने वही शून्य पाया था जो हमें दिखाई पड़ता है। दूसरे महानिर्वाण में बुद्ध उस शून्य को पाते हैं जो हमें दिखाई नहीं पड़ता, जो कृष्ण को दिखाई पड़ सकता है। तो बुद्ध तीस-चालीस साल जीते हैं। उस जीने में भी परम शून्य नहीं हैं। उस जीने में भी एक छोटी-सी बाधा तो है ही। उस जीने में भी अभी कष्ट है। अभी होना चल रहा है। इसलिए बुद्ध अगर गांव-गांव जा भी रहे हैं, तो वह करुणावश जा रहे हैं, आनंदवश नहीं। अगर वह दूसरे को समझा रहे हैं तो करुणा के कारण, कि जो मुझे मिला है मैं आपको भी कह दूं कि शायद आपको मिल जाए। लेकिन कृष्ण अगर दूसरे को कुछ कह रहे हैं, तो आनंद के कारण, वह कोई करुणा के कारण नहीं। कृष्ण में करुणा को न खोज पाओगे तुम।

बुद्ध का व्यक्तित्व 'कम्पैसन' है। चालीस साल करुणावश वह जा रहे हैं, आ रहे हैं, लेकिन, वह आखिरी क्षण की प्रतीक्षा है जब यह आना-जाना भी छूट जाएगा। इससे भी मुक्ति होगी। इसलिए बुद्ध कहते हैं, दो तरह के निर्वाण हैं। एक निर्वाण वह है, जो समाधि से मिलता है। और एक महानिर्वाण है, जब कि शरीर भी खो जाता है—मन ही नहीं खोता है, शरीर भी खोता है। वही परम निर्वाण है। परम शून्य उससे ही मिलेगा।

कृष्ण के लिए ऐसा नहीं है। कृष्ण के लिए निर्वाण और महानिर्वाण दो नहीं हैं, एक ही हैं।

...सवाल तो सुबह अब होंगे, इसलिए हवा आनंद ही देगी।

4 स्वधर्म-निष्ठा के आत्यंतिक प्रतीक कृष्ण

'भगवान श्री, कृष्ण का जन्म आज से कितने वर्ष पहले हुआ था? इस संबंध में आ
ज तक क्या शोध हुई है? आपका अपना निर्णय क्या है? और क्या समाधिस्थ व्यकि
त इसका ठीक उत्तर नहीं दे सकता है?'

* कृष्ण कब जन्मे, कब मरे, इसका कोई हिसाब नहीं रखा गया है। न रखने का क
ारण है।
जिन्हें हम सोचते हैं कि जो कभी जन्मते नहीं और कभी मरते नहीं, उनका हिसाब
रखना हमने उचित नहीं माना। हिसाब उनका रखना है, जो कभी जन्मते हैं और म
रते हैं। उनका हिसाब रखने का क्या अर्थ है, जो कभी जन्मते ही नहीं और मरते ह
ी नहीं। ऐसा नहीं है कि हिसाब हम नहीं रख सकते थे। इसमें कोई कठिनाई न थी।
लेकिन वैसा हिसाब कृष्ण के व्यक्तित्व के बिलकुल ही खिलाफ पड़ता है। हमने को
ई तिथि-वार का हिसाब कभी नहीं रखा।
पूरब के मुल्कों ने अपने महापुरुषों के जन्म और मृत्यु का कोई हिसाब रखने की को
शिश नहीं की, पश्चिम के मुल्कों ने ही कोशिश की है। उसका कारण है। और जब
से पश्चिम का प्रभाव पूरब पर पड़ा है, तब से हमने भी फिकिर की है। उसका भी
कारण है। पश्चिम की एक 'धारणा' है, सभी उन धर्मों की जो यहूदी-परंपरा में पैदा
हुए—चाहे ईसाइयत, चाहे इस्लाम—उनकी धारणा है एक की जन्म की। एक जन्म
और मृत्यु के बीच में सब समाप्त हो जाता है। न उसके पीछे कुछ, न उसके आगे
कुछ। फिर कोई जन्म नहीं है।
स्वभावतः, जिनकी ऐसी धारणा हो कि एक जन्म-तिथि और मृत्यु-तिथि के बीच जी
वन पूरा हो जाता है, न उसके पीछे, न उसके आगे जीवन की कोई यात्रा है, उन्हें
जन्म और मृत्यु की तिथि को अगर रखने का बहुत मोह रहा हो तो आकस्मिक नह
ीं है। लेकिन जिन्होंने ऐसे जाना हो कि जन्म बहुत बार होता है, बहुत बार आता है
और जाता है, अनंत बार आना होता है, अनंत बार जाना होता है, वह हिसाब भ
ी रखें तो कितना हिसाब रखें? कैसे हिसाब रखें? उनका हिसाब रखना उनके अपने
ही विचार को झुठलाना होगा। इसलिए उन्होंने हिसाब नहीं रखा।
जानकर ही यह हुआ है, सोचकर यह हुआ है, समझ कर यह हुआ है। हिसाब नहीं
रख सकते थे, ऐसी कोई कमी के कारण नहीं हुआ है। संवत-सन् नहीं थे हमारे पास
, ऐसा नहीं हैं। दुनिया में सबसे पुराना संवत हमने ही पैदा किया है। लेकिन जानक
र हमने यह बात छोड़ दी।
दूसरी बात पूछी है कि क्या समाधिस्थ व्यक्ति यह नहीं बता सकता कि ठीक तारीख
क्या है, जब कृष्ण पैदा हुए?
गैर-समाधिस्थ बता भी दे, समाधिस्थ बिलकुल नहीं बता सकता। क्योंकि समाधि का
समय से कोई संबंध नहीं है। समाधि जहां शुरू होती है वहां समय समाप्त हो जात
ा है। समाधि 'नॉनटेंपोरल' है, समय का उससे कोई वास्ता नहीं है। वह कालातीत

है। समाधि का अर्थ ही है, समय के बाहर हो जाना। जहां घड़ी-पल मिट जाते हैं, जहां परिवर्तन खो जाता है। जहां वही रह जाता है जो सदा से है। जहां अतीत नहीं होता, जहां भविष्य नहीं होता, जहां सिर्फ वर्तमान रह जाता है। जहां घड़ी के कांटे एकदम ठहर जाते हैं और नहीं चलते। समाधि क्षण में घटित नहीं होती, क्षण के बाहर घटित होती है।

तो समाधिस्थ तो बिलकुल नहीं बता सकेगा। कृष्ण कब पैदा हुए और मरे, यह तो बता नहीं सकेगा, समाधिस्थ यह भी बता नहीं सकेगा कि मैं कब पैदा हुआ और क ब समाप्त हो जाऊंगा। समाधिस्थ इतना ही कह सकेगा, कैसा पैदा होना, कैसा मरन ा। न मैं कभी पैदा हुआ, न मैं कभी मरूंगा। अगर समाधिस्थ से हम पूछें कि यह जो समय की धारा बह रही है, यह जो क्षण आते हैं और जाते हैं, यह कुछ आता है, व्यतीत हो जाता है; कुछ आता है, आर रहा है; कुछ अतीत हो गया है, कुछ भि वष्य है; इसके संबंध में क्या खयाल है? समाधिस्थ कहेगा, न कुछ आता है, न कुछ जाता है। जो यहां है, वहीं है। सब वहीं ठहरा है। जाने और आने का खयाल, सम य की धारणा, गैर-समाधिस्थ मन की धारणा है--'टाइम एज़ सच'। समय मन की ह ी उत्पत्ति है। जैसे ही हम मन के बाहर गए, वहां कोई समय नहीं है। इसे दो-तीन बातों में समझने की कोशिश करें--

समय मन की उत्पत्ति है जब हम कहते हैं, तो बहुत कारणों से कहते हैं। पहला का रण तो यह है कि अगर आप सुख में हैं तो समय सिकुड़ जाता है। अगर आप दुख में हैं तो समय फैल जाता है। अगर आप किसी प्रियजन से मिल रहे हैं तो घड़ियां जल्दी भागती मालूम पड़ती हैं, और किसी शत्रु से मिलते हैं तो बड़ी मुश्किल से गु जरती मालूम पड़ती हैं। घड़ी अपने ढंग से कांटे घुमाए चली जाती है, लेकिन मन! अगर रात घर में कोई मर रहा है, मरणशैया पर पड़ा है, तो रात कटती हुई मालू म नहीं होती। रात बहुत लंबी हो जाती है। ऐसा लगता है कि अब यह रात शुरू हु ई तो समाप्त होगी कि नहीं होगी। घड़ी अपने ढंग से घूमती है। लेकिन ऐसा लगता है, आज घड़ी घूम रही है या नहीं घूम रही है? कांटे धीमे चल रहे हैं? लेकिन क ोई प्रियजन आ गया है, रात ऐसे बीत जाती है जैसे क्षण में बीत गई। और डर लग ता है कि अब बीती, अब बीती, जल्दी बीत रही है, घड़ी जल्दी क्यों चल रही है? घड़ी जल्दी नहीं चलती है, घड़ी अपने ढंग से चलती रहती है, लेकिन मन की स्थि तियों पर समय का माप निर्भर करता है।

आइंस्टीन से लोग पूछा करते थे कि तुम्हारी यह 'रिलेटिविटी' की, तुम्हारी यह जो सापेक्षता की धारणा है, यह हमें समझाओ। तो आइंस्टीन कहता था, यह बड़ा कठि न है। और शायद जमीन पर दस-बारह आदमी हैं जिनसे मैं बात कर सकता हूं इस संबंध में, सभी से बात नहीं कर सकता। लेकिन फिर भी तुम्हारे समझ में आ सके , ऐसा मैं तुम्हें उदाहरण देता हूं...आइंस्टीन इसे समझाने को एक छोटा-सा उदाहरण दिया करता करता था। वह कहता था, अगर किसी आदमी को गर्म स्टोव के पास बिठा दिया जाए, तो समय और तरह से बीतता है। उसे अपनी प्रेयसी के पास बि

ठा दिया जाए तो समय और तरह से बीतता है। हमारा सुख, हमारा दुख हमारे स
मय की लंबाई को तय करता है।
समाधि सुख और दुख के बाहर है। समाधि आनंद की अवस्था है। वहां कोई लंबाई
ही नहीं रह जाती। वहां समय बचता ही नहीं। समाधि के क्षण में तो कोई नहीं कह
सकता है कि कृष्ण कब पैदा हुए, कब विदा हुए, समाधि के क्षण में तो कोई कहे
गा कि कृष्ण हैं ही। उनका होना शाश्वत है। और कृष्ण का होना ही शाश्वत नहीं है
, होना तो हमारा भी शाश्वत है। सब होना शाश्वत है।
रात आप स्वप्न देखते हैं, शायद कभी खयाल न किया हो कि स्वप्न में समय की स्थि
थति बिलकुल बदल जाती है जागने से। एक आदमी ने झपकी ली है क्षण-भर की
और वह सपना देखता है इतना बड़ा जिसे देखने में वर्ष-भर लग जाए। वह देखता
है उसका विवाह हो गया, उसके बच्चे हो गए, वह बच्चों की शादियां कर रहा है—
वर्षों लग जाएं। क्षण-भर झपकी लगी है और आंख खुली है, वह हमें कहता है, इत
ना लंबा सपना देखा। हम उससे कहेंगे, पागल हो गए हो? इतना लंबा सपना क्षण-
भर में कैसे देखोगे? अभी तो तुम जागते थे, अभी तुम जरा-सी झपकी लिए, आंख
लगी ही थी और खुल गई, इस पलक झपने में तुम इतना लंबा सपना देख कैसे स
कोगे? वह कहेगा, देख कैसे सकूंगा नहीं, मैंने देखा।
स्वप्न में मन बदल जाता है इसलिए समय की धारणा बदल जाती है। गहरी नींद में
, सुषुप्ति में समय नहीं रह जाता। इसलिए आप जब बताते हैं कि रात बहुत गहरी
नींद आई, तब भी आप जो समय का पता लगाते हैं वह समय का पता गहरी नीं
द से नहीं लगता, वह कब आप सोए, और कब आप जागे, इन दो छोरों के बीच
में जो गुजर गया उसका हिसाब आप रख लेते हैं। लेकिन अगर आपसे कोई पूछे कि
आपको बताया न जाए कि कब आप सोए कब आप जागे, तो आप कितनी देर सो
ए? आप बता न सकेंगे। मैं एक स्त्री को देखने गया, वह नौ महीनों से बेहोश है, अ
ौर चिकित्सक कहते हैं वह तीन साल तक बेहोश रहेगी, और शायद बेहोशी में ही
मरेगी। संभावना कम है कि उसका होश वापस आए। अगर तीन साल बाद वह स्त्री
होश में आई, तो क्या बता सकेगी कि वह तीन साल तक बेहोश थी? इधर घड़ी
हजारों बार घूम गई होगी, इधर कैलेंडर हजारों बार कट गया होगा, लेकिन वह स्त्र
ी कुछ न बता सकेगी कि वह तीन साल बेहोश थी।
सुषुप्ति में चित्त सो जाता है, इसलिए वहां भी समय का कोई बोध नहीं रह जाता।
समाधि में चित्त खो जाता है, समाप्त हो जाता है, रहता ही नहीं। समाधि अ-चित्त
, 'नो माइंड' की अवस्था है।
समाधि से कोई पता नहीं चलेगा कि कृष्ण कब हुए और कब नहीं हुए।
एक झेन फकीर हुआ है, रिंझाई। उसने एक दिन सुबह अपने वक्तव्य में कहा कि पा
गलो, कौन कहता है कि बुद्ध हुए? तो उसके सुननेवालों ने कहा, आपका दिमाग त
ो ठीक है न? आप और कहते हैं, कौन कहता है बुद्ध हुए? बुद्ध के ही मंदिर में र
हता है वह फकीर। बुद्ध की ही मूर्ति पर चढ़ाता है फूल! बुद्ध की मूर्ति के सामने

नाच लेता है। बुद्ध का प्रेमी है। और एक दिन सुबह कहता है, कौन कहता है कि बुद्ध हुए? तो लोगों ने कहा, आप पागल तो नहीं हो गए? और उस रिंझाई ने कहा, पागल मैं था। क्योंकि हो तो वही सकता है जो एक दिन न भी हो जाए। लेकिन जो सदा है, उसके होने का क्या अर्थ! आज मैं तुमसे कहता हूं, बुद्ध कभी नहीं हुए, ये सब झूठी कहानियां हैं। लोगों ने कहा, शास्त्र कहते हैं कि हुए, चले इस पृथ्वी पर, उठे-बैठे, बोले, गवाहियां हैं इस बात की, चश्मदीद गवाह हैं। और उस फकीर ने कहा, छाया चली होगी, छाया उठी होगी, छाया रही होगी। बुद्ध कभी उठते, कभी बैठते, कभी चलते! 'दि शैडो'।

जो पैदा होता है, जो मरता है, वह हमारी छाया से ज्यादा नहीं है, वह हम नहीं हैं। इसलिए जानकर हिसाब नहीं रखा गया, सोचकर हिसाब नहीं रखा गया। धर्म इतिहास नहीं है। इतिहास होता है उसका जो आता है, जाता है—इति वृत्त—शुरू होता है, समाप्त होता है; आदि होता है, अंत होता है। धर्म इतिहास नहीं है। धर्म सनातन है। सनातन का अर्थ होता है, जो सदा है। उसमें कोई तिथियों का हिसाब नहीं रखा गया। इसलिए कोई समाधिस्थ व्यक्ति न कह सकेगा कब पैदा हुए, कब न हुए। कहने की कोई जरूरत भी नहीं है। कहने का कोई अर्थ भी नहीं है। कहना सिर्फ नासमझी से निकलता है। हम ही कब हुए हैं और कब नहीं हो जाएंगे! सदा से हैं, 'इटर्निटी', शाश्वतता है।

लेकिन हमें तो समय का हिसाब है पूरे वक्त। सुबह होती है, सांझ होती है; घड़ियां बीतती हैं, गुजरती हैं; हमें समय का खयाल है। हम समय से ही सब नापते चलते हैं। हमारे पास एक गज है समय का, हम उससे ही नापते हैं। हमारा नापना स्वाभाविक है, सत्य नहीं। हमारी समझ जैसी है वैसा हमारा नाप है। हमारा नाप वैसा ही है जैसे कुएं के मेढक ने सागर से आए मेढक से कहा था कि तेरा सागर कितना बड़ा है? कुएं में छलांग लगाई—आधे कुएं में—और कहा, इतना बड़ा? सागर से आए मेढक ने कहा, माफ कर, तेरे कुएं से कोई हिसाब न बैठेगा! तो उसने कहा, और क्या बड़ा होगा! उसने पूरी छलांग लगाई, कुएं के एक कोने से दूसरे कोने तक पूरी छलांग लगाई, कहा, इतना बड़ा? लेकिन जब सागर के मेढक की आंखों में फिर भी संदेह देखा तो उस कुएं के मेढक ने कहा, तेरा दिमाग खराब मालूम होता है, कुएं से बड़ी कोई जगह है! एक और रास्ता है, उसने कहा, आखिरी माप तुझे बताए देता हूं। उसने कुएं का पूरा गोल चक्कर लगाया और उसने कहा, इतना बड़ा? सागर के मेढक ने कहा कि भाई, तेरे कुएं से हम सागर को नापेंगे तो बहुत मुश्किल में पड़ जाएंगे। यह कोई इकाई ही नहीं बनती। कुएं के मेढक ने कहा, बाहर हो जाओ कुएं के! कुएं से बड़ी कोई चीज कभी देखी है? आकाश भी कुएं बराबर ही देखा है। जब भी उस कुएं के मेढक ने ऊपर देखा तो आकाश भी कुएं के बराबर ही दिखाई पड़ा था। उसने कहा, आकाश, जो सबसे बड़ी चीज है, वह भी कुएं से बड़ी नहीं है। सागर क्या तुम्हारा आकाश से भी बड़ा हो जाएगा।

हम समय के कुएं में जीते हैं। सब चीजें आती हैं, जाती हैं। सब चीजें बंटी हैं। कुछ है जो अतीत हो गया, कुछ है जो भविष्य है, और बड़ा छोटा-सा क्षण वर्तमान का है—जो आता भी नहीं कि चला जाता है। हम पूछते हैं कि किस क्षण में कौन हुआ ? हम किसी भी क्षण में अपने को अनुभव करते हैं, किसी कुएं में कैद, इसलिए ह म पूछते हैं कि वे किस कुएं में थे? किस क्षण की सीमा में थे?
नहीं, न जीसस, न बुद्ध, न महावीर, न कृष्ण, कोई समय की सीमा में नहीं बांधे ज ा सकते। हम बांधते हैं, वह हमारी सीमाओं का आग्रह है। जिस दिन पश्चिम की स मझ और थोड़ी बढ़ेगी, उस दिन वह क्राइस्ट के जन्म-दिन और मृत्यु-दिन को भूल जाएगा, छोड़ देगा। पूरब की समझ इस मामले में बहुत गहरी रही है। इसके कारण कई अजीब घटनाएं घट गई हैं। इसलिए हमारे जो सोचने के ढंग हैं और कहने के ढंग हैं, वह दुनिया नहीं समझ पाती।
अगर हम तीर्थंकरों की उम्र की बात पूछने जाएं तो कोई लाखों वर्षों जीता है, कोई करोड़ों वर्ष जीता है। अब यह कोई कैसे मानेगा! यह नहीं हो सकता है! यह कोई मानेगा नहीं। मानने की बात भी नहीं है। समझने की बात है। अगर कुएं के बराब र होगा; और क्या कहेगा! लाख कुएं के बराबर होगा, करोड़ कुएं के बराबर होगा। कोई संख्या तो होनी ही चाहिए, कुएं से ही नापा जाना चाहिए सागर। तो जो अन ादि हैं, जो सनातन हैं, उनको हम कहेंगे, करोड़ वर्ष है उनकी उम्र। लेकिन वर्ष तो मौजूद रहेगा ही, उससे ही हम नापेंगे। जिनका ओर-छोर नहीं, तो हम कहेंगे, जमी न पर उनके पैर होते हैं, सिर आकाश को छूता है, लेकिन फिर भी गज और फीट से नाप चलेगा। जो जानते थे, उन्होंने ये सब नाप, सब मापदंड तोड़ दिए। उन्होंने कहा, हम यह हिसाब ही छोड़ दें। हम यह हिसाब रखते ही नहीं। बिना हिसाब के कृष्ण हैं। समाधिस्थ इस संबंध में इतना ही कहेगा, वे सदा हैं।

'भगवान श्री, क्राइस्ट का हिसाब रखा जा सका, वह 1970 साल पहले हुए, तो क्या कृष्ण का हिसाब नहीं रखा जा सकता?'

* रखा जा सकता था। आसपास जो लोग थे उन पर निर्भर करती है यह बात। जी सस के आसपास जो लोग थे, उन पर निर्भर हुआ। जीसस ने नहीं रखा है हिसाब। क्योंकि जीसस के अगर वचन देखो तो समझोगे। जीसस का एक वचन है—अब्राहम एक पैगंबर हुआ, जीसस के सैकड़ों वर्ष पहले—जीसस से किसी ने पूछा कि अब्राहम तो आपके पहले हुए, तो जीसस ने कहा, 'नो, बिफोर अब्राहम वाज़, आइ वाज़'। इ सके पहले कि अब्राहम था, मैं था। इसका क्या मतलब हुआ? जीसस ने तो 'टाइम' तोड़ दिया, जीसस ने तो समय तोड़ दिया। अब्राहम तो सैकड़ों-हजारों साल पहले हुआ। लेकिन जीसस कहता है, अब्राहम होने के पहले मैं था। लेकिन जो लोग थे, उ नके पास समय की एक धारणा थी; उन्होंने कोई सागर नहीं देखा था, उन्होंने कुएं देखे थे। उनको यह बात बड़ी 'मिस्टीरियस' लगी और उन्होंने कहा, ठीक है, कहते

हैं, कुछ रहस्य की बात होगी, लेकिन वे समझे नहीं कि वह समय की धारणा तोड़ने की बात है।

जीसस को कोई पूछता है कि तुम्हारे प्रभु के राज्य में खास बात क्या होगी? तो जीसस कहते हैं, 'देअर शैल बी टाइम नो लांगर'। एक खास बात होगी कि वहां समय नहीं होगा। लेकिन जो लोग आसपास थे। रेकॉर्ड जीसस थोड़े ही इकट्ठा करते हैं; रेकॉर्ड कृष्ण थोड़े ही रखते हैं, रेकॉर्ड आसपास के लोग रखते हैं। कृष्ण के आसपास जो लोग थे वैसे लोग जीसस को नहीं मिले। इस मामले में, इस जमीन पर जो लोग पैदा हुए उनका सौभाग्य बहुत और है। कृष्ण के आसपास जो लोग थे वैसे लोग जीसस को नहीं मिले। जीसस के आसपास क, ख, ग, की कक्षा के लोग थे। इसलिए तो उन्होंने उनको सूली पर लटका दिया, क्योंकि वह आदमी इतना बेबूझ हो गया कि सिवाय मारने के कोई उपाय न रहा। हम कृष्ण को, महावीर को या बुद्ध को सूली नहीं दिए, इसका कारण यह नहीं है कि जीसस से कुछ कम खतरनाक लोग थे ये, इसका कुल कारण इतना ही है कि हम, एक लंबी यात्रा है इस देश की जिसमें हमने बहुत खतरनाक लोगों को सहा है। जिनमें हमने बहुत खतरनाक लोग देखे, जिनमें हमने बहुत अलौकिक, अदभुत आदमी देखे। हम धीरे-धीरे राजी हो गए और हमारे पास कुछ समझ पैदा हो गई, जिसका हम उपयोग कर सके। इसका उपयोग जीसस के वक्त में नहीं हो सका। इसका उपयोग मुहम्मद के वक्त में नहीं हो सका। मुहम्मद के पास वे लोग न थे जो महावीर के पास थे। जीसस के पास वे लोग न थे जो कृष्ण के पास थे। इसलिए फर्क पड़ा। इसलिए ही फर्क पड़ा, और कोई कारण नहीं है।

यह समझ लेना चाहिए ठीक से कि न तो कृष्ण ने कुछ लिखा है, न क्राइस्ट ने लिखा है, जिन्होंने सुना है उन्होंने लिखा है।

क्राइस्ट एक गांव में ठहरे हुए हैं। भीड़ लगी है लोगों की उन्हें देखने, और तभी भीड़ में आवाज आती है कि रास्ता दो। जीसस की मां मिलने आ रही है। तो क्राइस्ट हंसते हैं, और वह कहते हैं कि मेरी कैसी मां! क्योंकि मैं पैदा कब हुआ! लेकिन रेकॉर्ड रखने वालों ने तारीख तय रखी। उन्होंने लिख लिया कि वह कब पैदा हुए। अब यह आदमी कहता है, कैसी मेरी मां, कौन मेरी मां? मैं कब पैदा हुआ? मैं सदा से हूं। रेकॉर्ड लिखने वालों ने यह भी लिख दिया कि उन्होंने ऐसा कहा और यह भी लिख दिया कि वह कब पैदा हुए।

कृष्ण को जो रेकॉर्ड लिखने वाले लोग मिले, वह ज्यादा समझदार थे। उन्होंने कहा, जो आदमी कहता है मैं सदा से हूं; जो अर्जुन से कहता है कि यह मैं तुम को ही नहीं समझा रहा, इसके पहले मैंने फलाने को समझाया था, इसके और पहले मैंने फलाने को समझाया था; और ऐसा नहीं है कि तुम को समझा कर ही सब चुक जाएगा, मैं आता रहूंगा और समझाता रहूंगा; और यह जो सामने लोग खड़े हैं, तुम सोचते हो मर जाएंगे तो तुम पागल हो, नासमझ हो, यह पहले भी हुए और मर गए हैं

, और उसके पहले भी हुए थे, अभी मरेंगे और फिर होते रहेंगे; इस आदमी की जन्म-तिथि लिखना ठीक न थी, अन्यायपूर्ण था। नहीं लिखी गई।

इतिहास खोज करेगा तो मुश्किल में पड़ेगा। क्योंकि हमने जानकर रेकॉर्ड गंवाए। हमने सब उपाय किए हैं कि रेकॉर्ड बचाए न जा सकें। हमने सब उपाय किए हैं कि तिथि का कोई पता ही न रहे। उपनिषद किसने लिखे, वेद किसने लिखे, लेखक का नाम जानकर गंवाया गया है। क्योंकि वह जो कह रहा था, वह कह रहा यह मैं नहीं कह रहा हूं, यह परमात्मा बोल रहा है, कोई जरूरत नहीं है, मुझे छोड़ा जा सकता है। मेरे बिना काम चल सकता है। पश्चिम में रेकॉर्ड रखे हैं। जीसस जगह-जगह कहते हैं, यह मैं नहीं बोल रहा हूं, वह परम पिता जो आकाश में है वही बोल रहा है। 'नाट आई, बट माई फादर स्पीक्स'। लेकिन लिखने वाला तो लिखेगा कि जीसस के वचन हैं।

इस वजह से यह कोई कमी नहीं है इस देश की कि इस देश के पास कोई 'हिस्टॉरिक सेन्स' नहीं है। ऐसा नहीं है कि इतिहास का कोई बोध नहीं है हमारे पास। लेकिन इतिहास के बोध को हमने जानकर झुठलाया है, क्योंकि हमारे पास इतिहास के कुएं से भी बड़ा एक बोध है, 'इटर्निटी' का, शाश्वतता का बोध है। हमें घटनाओं का उतना मूल्य नहीं है जितना घटनाओं के भीतर छिपी हुई आत्मा का मूल्य है। हमने इस बात की फिकिन नहीं कह कि कृष्ण ने क्या खाया और क्या पिआ, हमने इस बात की फिकिर की कि वह कौन था कृष्ण के भीतर जो खाने को भी देखता था, पीने को भी देखता था। हमने इसकी फिकिर नहीं की कि वह कब पैदा हुए और कब मरे, हमने इसकी फिकिर की कि वह कौन था जो पैदा होने में आया और मौत में विदा हुआ। वह कौन था जो भीतर था। हमने उस 'इनरमोस्ट स्पिरिट' की, उस भीतरी अंतरात्मा की चिंता की। उसके लिए कोई तारीखें अर्थपूर्ण नहीं हैं।

'भगवान श्री, यह तो ठीक है कि कृष्ण या क्राइस्ट जैसे लोगों को आत्मिक व्यक्तित्व 'इटरनल' है, लेकिन वर्णित-शरीर तो आता है और जाता है, हम कृष्ण के वर्णित-शरीर की काल-गणना जानना चाहते हैं। कृष्ण-लीलाएं कब हुईं, महाभारत कब हुआ? ये स्थूल घटनाएं तो जानी जा सकती हैं। इसकी कुछ जानकारी हो।'

* शरीर का जिनके लिए मूल्य है, उनके लिए स्थूल घटनाओं का भी मूल्य है। शरीर को जो छाया समझते हैं, उनके लिए कोई मूल्य नहीं रह जाता। कृष्ण कहते ही नहीं कि यह जो शरीर दिखाई पड़ रहा है, यह मैं हूं। जीसस भी नहीं कहते कि यह शरीर जो दिखाई पड़ रहा है यह मैं हूं। वे खुद ही इनकार कर जाते हैं कि इस पर खयाल मत करना, क्योंकि यह मैं नहीं हूं, अगर इसका तूने हिसाब रखा तो वह मेरा हिसाब नहीं होगा। बुद्ध के मरने के बाद पांच सौ वर्षों तक बुद्ध की कोई प्रतिमा नहीं बनाई गई, क्योंकि बुद्ध ने कहा था कि तुम मेरी प्रतिमा बनाना, इस शरीर की मत बनाना। मगर अब कैसे हम बुद्ध की प्रतिमा बनाएं। तो पांच सौ वर्ष तक

बुद्ध के मरने के बाद, बुद्ध जिस वृक्ष के नीचे बैठते थे, बोधिवृक्ष—जहां वह घटना घ टी जिससे वे बुद्ध हुए—उस वृक्ष का ही चित्र बनाकर जगह नीचे खाली छोड़ देते थे। स्थूल-देह छाया से ज्यादा नहीं है। उसके हिसाब रखने का कोई प्रयोजन भी नहीं है। जिन्होंने भी उसका हिसाब रखा है, उन्होंने इसीलिए हिसाब रखा है कि उन्हें सूक्ष्म का कोई पता नहीं है, जिन्हें भी सूक्ष्म का पता है, उनके लिए स्थूल व्यर्थ हो जाता है। आप अपने सपनों का कोई हिसाब रखते हैं? कौन-से सपने आपने देखे और कब देखे? सपने देखते हैं और भूल जाते हैं। क्यों हिसाब नहीं रखते? क्योंकि उन्हें सप ना समझ लेते हैं। कृष्ण की जो जिंदगी हमें दिखाई पड़ती है, वह सपने से ज्यादा न हीं है। जीसस ने कौन-से सपने देखे, हमने हिसाब रखा है? वह हिसाब हमने नहीं र खा। हो सकता है कभी वह जमाना आए कि आदमी पूछने लगे कि तुम्हारे कृष्ण हुए तो उन्होंने कोई सपने देखे थे या नहीं देखे थे? हुए होंगे तो सपने तो जरूर देखे ह ोंगे। और अगर सपने देखे ही नहीं तो होने में भी शक हो जाता है। यह बात हो स कती है कभी, अगर सपने बहुत महत्वपूर्ण बन जाएं और कोई कौम सपनों का बहुत हिसाब रखने लगे, तो ठीक है, उनका हिसाब भी महत्वपूर्ण हो जाएगा। और जिस आदमी के सपनों का हमें कोई पता न होगा, उस आदमी के होने का भी संदेह हो जाएगा। जिस जिंदगी को हम स्थूल कहते हैं, कृष्ण या क्राइस्ट या महावीर या बुद्ध उस जिंदगी को सपना समझते हैं। और अगर उनके आसपास के लोगों को भी यह समझ में आ गया हो कि वह सपना है तो हिसाब नहीं रखा जाएगा। हिसाब नहीं रखा गया। हिसाब न रखा जाना बहुत सूचक है। हिसाब रखा गया होता तो समझा जाता कि लोगों ने कृष्ण को नहीं समझा और इसलिए हिसाब रख लिया।

मैं कह रहा था कि पांच सौ वर्ष तक बुद्ध की प्रतिमा नहीं बनी। कोई चित्र नहीं ब ना। अगर काई चित्र भी बनाता था तो वह बोधिवृक्ष का चित्र बनाता था और नीचे जगह खाली छोड़ देता था, जहां बुद्ध होने चाहिए। खाली जगह! बुद्ध एक खाली जगह ही थे। पांच सौ साल बाद चित्र और मूर्तियां बनाई गईं क्योंकि पांच सौ साल में वे लोग खो गए जिन्होंने समझा था कि बुद्ध की स्थूल जिंदगी तो सिर्फ सपना है। और पांच सौ साल में लोग प्रमुख हो गए जिन्होंने कहा, हिसाब तो रखना पड़ेगा—बुद्ध पैदा कब हुए, बुद्ध मरे कब, बुद्ध ने कहा क्या? उनकी शक्ल कैसी थी? उनक ा शरीर कैसा था। वह सब हिसाब बहुत बाद में रखा गया। ज्ञानियों ने हिसाब नहीं रखा, जब ज्ञानी खो गए तो अज्ञानियों ने हिसाब रखा। स्थूल शरीर का हिसाब अज्ञा न से ही जन्मता है।

और फिर इससे क्या फर्क पड़ता है कि कृष्ण न भी हुए हों। कोई फर्क नहीं पड़ता। कृष्ण के होने से आपको क्या फर्क पड़ सकता है? कोई फर्क नहीं पड़ता। नहीं, लेकि न हम कहेंगे कि नहीं, अगर कृष्ण न हुए हों तो हमें फर्क पड़ जाएगा। क्या फर्क प. ड जाएगा? कृष्ण हुए या न हुए, इससे कोई फर्क न पड़ेगा। कृष्ण के होने की जो सं भावना है आंतरिक, वह हो सकती है या नहीं हो सकती है, यह सवाल है। यह सव ाल नहीं है कि कृष्ण हुए या नहीं, सवाल यह है कि ऐसा व्यक्ति हो सकता है या न

हीं हो सकता। हो जाने से कोई फर्क नहीं पड़ता है। हो सकता है, या नहीं हो सक ता। अगर हो सकता है, तो हुए तो भी कोई फर्क नहीं पड़ता, और अगर नहीं हो सकता है, तो भी हुए हों तो कोई फर्क नहीं पड़ता। समाधिस्थ-चित्त को तो इससे कोई प्रयोजन नहीं है। अगर मुझसे कोई आकर कहे कि वह हुए ही नहीं क्योंकि को ई रेकॉर्ड नहीं है, तो मैं कहूंगा कि मानो कि नहीं हुए। हर्ज क्या है। सवाल यह है ही नहीं। महत्वपूर्ण सवाल यह है कि ऐसा आदमी संभव है? ऐसे आदमी की 'पासिबिलिटी' है? अगर आपके मन को यह समझ में आ जाए कि ऐसा आदमी संभव है, तो आदमी जिंदगी बदल सकती है। यह भी पक्का हो जाए, पत्थर मिल जाएं लिखे हुए कि वह हुए हैं, सारी कहानी मिल जाए और आपका मन इस बात को मानने को राजी न हो कि ऐसा व्यक्ति हो सकता है, तो आप कहेंगे कि नहीं, लिखा है पत्थरों पर, लिखा है किताबों में, लेकिन कहानी होगी, यह आदमी हो नहीं सकता, क योंकि इसकी संभावना नहीं है।

कृष्ण के होने की संभावना है। इसलिए हुए, इसलिए हो सकते हैं, इसलिए हैं भी। लेकिन आंतरिक व्यक्तित्व को ध्यान में लेने की जरूरत है।

हमें तो शरीर दिखाई पड़ता है, वह जो आंतरिक है वह दिखाई नहीं पड़ता। तो हम बहुत उत्सुक होते हैं उस शरीर में। बुद्ध मर रहे हैं और कोई उनसे पूछता है कि आप मरने के बाद कहां होंगे? तो बुद्ध उससे कहते हैं, कहीं भी नहीं, क्योंकि पहले भी मैं कहीं नहीं था। और जो तुम्हें दिखाई पड़ रहा है वह मैं नहीं हूं, और जो मुझे दिखाई पड़ रहा है वह मैं हूं। इसलिए बाहर की जिंदगी सिर्फ देखी गई एक कहानी और एक नाटक हो जाती है। उसका कोई मूल्य नहीं है।

उसका मूल्य नहीं है, इस बात को जोर से कहने के लिए हमने कोई हिसाब नहीं रखा है। और हम की आगे भी उसका कोई हिसाब देने वाले नहीं हैं।

लेकिन इस मुल्क का मन कमजोर पड़ा है और वह भयभीत भी हुआ है। उसे डर पैदा हो गया है कि क्राइस्ट तो 'हिस्टॉरिक' मालूम पड़ते हैं, ऐतिहासिक मालूम पड़ते हैं, हमारे कृष्ण की कहानी मालूम पड़ते हैं। यह कृष्ण और क्राइस्ट के मुकाबले हमारे पास कोई प्रमाण नहीं है। क्राइस्ट के लिए तो प्रमाण है। मुल्क का मन कमजोर हुआ है। हमारा चित्त भी उन्हीं धारणाओं से प्रभावित हुआ है, जिन धारणाओं ने क्राइस्ट की जिंदगी को बचाकर रखने की कोशिश की है। तो हम भी पूछते हैं, उन्हीं बातों को, जो बेमानी हैं। अच्छा तो होगा जिस दिन हमारी हिम्मत फिर बढ़ सके तो हम उनसे कह सकेंगे, तुम भी पागल हो, क्राइस्ट जैसा आदमी हुआ और तुम मरने और जीने की तारीखों का हिसाब रखते रहे। तुमने समय गंवाया। इतने कीमती आदमी की बाबत इतनी गैर-कीमती जानकारी रखने की कोई जरूरत नहीं है।

इसलिए मैं कहता हूं, उसकी चिंता ही न करें। उसकी चिंता आपके मन की खबर देती है कि आपके लिए महत्वपूर्ण क्या है। जन्म और मरण? शरीर का होना? घटनाएं? यह बाहर की परिधि है जीवन की। या वह महत्वपूर्ण है जो इन सबके बीच खड़ा है, इन सबके भीतर खड़ा है--अलिप्त, असंग? वह सब जो इनके भीतर साक्षी

की भांति खड़ा है, वह महत्वपूर्ण है? अगर आप भी मरने के क्षण में लौट कर दे खेंगे तो आपको पूरी जिंदगी जो बीत गई, सपने में और आपकी जिंदगी में फर्क क्य ा रह जाएगा? आज भी आप लौटकर देखें अपनी पिछली जिंदगी को तो वह आप ि जए थे सच में, या सपना देखा था, इन दोनों में फर्क कैसे कर पाएंगे? आप कैसे त य कर पाएंगे कि सच में ही मैं यह जीआ था जो मुझे याद आता है, या मैंने सपना देखा था?

च्वांग्त्से ने एक बहुत गहरी मजाक की है। च्वांग्त्से एक दिन सुबह उठा और उसने कहा कि मैं बड़ी मुश्किल में पड़ गया हूं, सब इकट्ठे हो जाओ, मेरी मुश्किल को हल करो। उसके आश्रम के सारे लोग इकट्ठे हो गए। बड़े हैरान हुए, क्योंकि उन सबकी मुश्किलें च्वांग्त्से हमेशा हल करता था, वह भी मुश्किल में पड़ सकता है यह उन्हों ने सोचा भी नहीं था। उन्होंने पूछा, तुम और मुश्किल में! हम तो सोचते थे, तुम मु श्किल के पार चले गए। च्वांग्त्से ने कहा, मुश्किल ऐसी ही है, जिसको पार की मुश्‍ि कल कह सकते हो। तो उन्होंने कहा, क्या है सवाल तुम्हारा? च्वांग्त्से ने कहा, रात मैंने एक सपना देखा कि मैं तितली हो गया हूं और फूलों पर उड़ रहा हूं। तो उन्ह ोंने कहा, इसमें क्या मुश्किल है? हम सभी सपने देखते हैं। च्वांग्त्से ने कहा, मामला खतम नहीं होता। सुबह मैं उठा और मैंने देखा कि मैं फिर च्वांग्त्से हो गया हूं। अ ब सवाल यह है कि कहीं ऐसा तो नहीं है कि तितली सो गई हो और सपना देख र ही हो कि च्वांग्त्से हो गई है। अगर आदमी सोकर सपना देख सकता है, अगर आद मी सपने में तितली हो सकता है, तो तितली सपने में आदमी हो सकती है। तो मैं तुमसे यह पूछता हूं कि असली क्या है? रात मैंने जो सपना देखा तितली होने का, वह च्वांग्त्से सपना देख रहा था? या, अब तितली सपना देख रही है? अब मैं बड़ी मुश्किल में पड़ गया हूं।

उस आश्रम के लोगों ने कहा, यह हमसे हल न हो सकेगा। आपने तो हमें भी मुश्कि ल में डाल दिया। अभी तक तो हम निश्चिंत हैं कि रात जो देखते हैं वह सपना है, और दिन में जो देखते हैं वह असलियत है। लेकिन च्वांग्त्से ने कहा, पागलो, जब रात तुम जो देखते हो तो दिन में जो देखा था वह भूल जाता है; उसी तरह, जैसे दिन में जब तुम जागते हो तो वह भूल जाता है जो सपना था। बल्कि एक और म जे की बात है, दिन में जागकर रात का सपना तो थोड़ा याद भी रह जाता है, लेि कन रात में सपने में सोते वक्त दिन का जागा हुआ बिलकुल याद नहीं रह जाता है । अगर याददाश्त निर्णायक है, तो रात का सपना ज्यादा असलियत होगा दिन के स पने से। और अगर एक आदमी सोया रहे, सोया रहे और न जागे, तो कैसे सिद्ध क र पाएगा कि जो वह देख रहा है वह सपना है। सपने में तो सपना सत्य ही मालूम होता है। सपने में तो सपना सपना नहीं मालूम होता।

असल में जिसे हम जिंदगी कहते हैं, जिसे हम स्थूल कहते हैं, वह कृष्ण जैसे व्यक्ति त्व के लिए सपने से ज्यादा नहीं है। जो उनके पास थे उनकी भी समझ में आ गया है कि वह सपना है। इसलिए कोई हिसाब नहीं रखा गया। यह जानकर हुआ है, य

ह होशपूर्वक छोड़ा गया 'रेकॉर्ड' है। इसके छोड़ने में सूचना है, इंगित है कुछ, कि इ सका हिसाब तुम भी मत रखना। इस हिसाब में पड़ना ही मत। इसमें पड़ जाओगे त ो शायद उसका पता न चल सके जो हिसाब के बाहर खड़ा हंस रहा है।

'भगवान श्री, हम पूर्णतया सहमत हैं, कृष्ण के संबंध में हमें जानने की कोई आवश्य कता नहीं है कि वह कब पैदा हुए, कब उनका मरण हुआ। हमारा मतलब इससे है कि कृष्ण कैसे जिए, उन्होंने क्या कहा, उनके जीवन की कथा का क्या रहस्य है? अभी-अभी थोड़ा पहले आपने कहा कि धर्म इतिहास नहीं है, धर्म सनातन है। फिर जब कृष्ण गीता के अध्याय तीन और श्लोक पैंतीस में कहते हैं कि दूसरे के धर्म से अपना गुणरहित धर्म भी अति उत्तम है; अपने धर्म में मरना भी कल्याणकारक है, दूसरे का धर्म भयावह है, तो कृष्ण का आशय किस धर्म से है? उस धर्म से जो रूि ढगत है, जो व्यक्तिगत है; अथवा, उस धर्म से जो शाश्वत है, और सनातन है और सबका है? धर्म को अच्छा और बुरा, अपना और पराया कहने की क्या जरूरत थी कृष्ण को?'

* बहुत जरूरत थी। कृष्ण जब कहते हैं कि स्वयं के धर्म में मर जाना भी श्रेयस्कर है—'स्वधर्मे निधनम् श्रेयः', और दूसरे के धर्म में मरना बहुत भयावह है, तो दो-तीन बातें समझ लेनी जरूरी हैं।

एक तो यह कि यहां धर्म से अर्थ हिंदू, ईसाई, मुसलमान, जैन का नहीं है। यहां जो धर्म का फासला वे कर रहे हैं, वह 'स्व' और 'पर' का है। वह स्व कौन है, हिंदू है, मुसलमान है, ईसाई है, इससे कोई प्रयोजन नहीं है। यहां जो सवाल है वह 'निज ता' और 'परता' का है। यहां वे यह कह रहे हैं कि तुम नकल में मत पड़ना, तुम किसी और के रास्ते पर मत चलने लगना। तुम किसी और को 'इमीटेट' मत करने लगना, तुम किसी और का अनुकरण मत करने लगना। तुम किसी और के अनुया यी मत हो जाना। तुम किसी को गुरु मत बना देना। तुम अपने गुरु रहना। तुम अप नी निजता को किसी से आच्छादित मत हो जाने देना। तुम किसी के पीछे मत चल पड़ना। क्योंकि कोई कहीं जा रहा है, हो सकता है वह उसकी निजता हो और तुम् हारे लिए परतंत्रता बन जाए—और बनेगी ही। महावीर के लिए जो निजता है, वह किसी दूसरे के लिए निजता नहीं हो सकती। क्राइस्ट के लिए जो मार्ग है, वह किसी दूसरे के लिए मार्ग नहीं हो सकता।

उसके कारण हैं।

हम कहीं भी जाएंगे तो हम स्वयं होकर ही जा सकते हैं। पहुंचकर खो जाएगा स्व, लेकिन अभी है। और जिस दिन स्व खो जाएगा, उस दिन पर भी खो जाएगा। उस ि दन जो धर्म उपलब्ध होगा, वह धर्म शाश्वत है, सनातन है। लेकिन अभी हम सागर की तरह नहीं हैं, नदियों की तरह हैं। अभी हर नदी को अपने रास्ते से जाना होग ा सागर तक। सागर में पहुंचकर नदियां भी खो जाएंगी, रास्ते भी खो जाएंगे। लेकि

न यह बात नदियों से की जा रही है। कृष्ण नदी से कहते हैं, अपना मार्ग छोड़कर दूसरी नदी के मार्ग पर मत पड़ जाना। दूसरी नदी का अपना मार्ग है, अपनी गति है, अपनी दिशा है। वह अपने मार्ग, अपनी गति, अपनी दिशा से सागर तक पहुंचेगी। और तू भी नदी है। तू अपना मार्ग, अपनी गति, अपना रास्ता बनाना और सागर तक पहुंच जाना। नदी है तो सागर तक पहुंच ही जाएगी। कोई नदी बंधे-बंधाए रास्तों पर नहीं चलती। कोई जीवन बंधे-बंधाए रास्तों पर नहीं चल सकता। और जब भी हम दूसरे का अनुकरण करेंगे तब हमारे लिए बंधा-बंधाया रास्ता 'रेडीमेड' मिल जाता है। तब हम आत्मघाती होने शुरू हो जाते हैं। तब हम अपने को मारने लगते हैं और दूसरे को ओढ़ने लगते हैं। अगर कोई मेरे पीछे चलेगा, तो वह अपने को मारेगा। उसे ध्यान मुझ पर रखना पड़ेगा। जो मैं करता हूं, वैसा वह करे। जैसा मैं जीता हूं, वैसा वह जिए। जैसा मैं उठता हूं, वैसा वह उठे। वह अपने को मारेगा, मुझे ओढ़ेगा। और मुझे कितना ही ओढ़ ले, तो भी मैं उसके लिए वस्त्र से ज्यादा नहीं हो सकता। मैं वस्त्र ही रहूंगा। गहरे-गहरे में तो वह वही रहेगा जो है। गहरे में तो वह वही रहेगा जिसने ओढ़ा है। वह वह नहीं हो सकता जो ओढ़ा गया है। वह ओढ़ने वाला तो भीतर अलग ही खड़ा रहेगा।

तो कृष्ण जब कहते हैं—'स्वधर्मे निधनम् श्रेयः', तो वह यह कहते हैं कि अपने ढंग से मर जाना भी श्रेयस्कर है, दूसरे के ढंग से जीना भी श्रेयस्कर नहीं। क्योंकि दूसरे के ढंग से जीने का मतलब ही जिये हुए मरना है। अपने ढंग से मरने का अर्थ भी नए जीवन को खोज लेना है। अगर मैं अपने ढंग से मर सकता हूं, और मरने में भी निजता रख सकता हूं, तो मेरी मौत भी 'ऑथेंटिक' हो जाएगी, प्रामाणिक हो जाएगी। मेरी मौत है। मैं मर रहा हूं। लेकिन हमने अपनी जिंदगी को भी उधार और 'बारोड' कर लिया है, वह भी 'ऑथेंटिक' नहीं है। तो कृष्ण कहते हैं, जीवन में तो प्रामाणिक होना। और प्रामाणिक होने का एक ही अर्थ है कि निजता को बचाना। चारों तरफ से हमले होंगे, चारों तरफ से लोग होंगे जो चाहेंगे कि आओ, मेरे पीछे आ जाओ। असल में अगर कोई और मेरे पीछे चले तो मेरे अहंकार को बड़ी तृप्ति मिलती है। अगर एक चले तो, दो चलें तो, दस चलें तो, लाख चलें तो बड़ी तृप्ति मिलती है। तब मुझे लगता है कि मैं कुछ ऐसा हूं जिसके पीछे चलना पड़ता है। मैं कुछ हूं। और जो भी मेरे पीछे चलेगा, उसे मैं गुलाम बनाना चाहूंगा। उसे मैं पूरी तरह गुलाम बनाना चाहूंगा। उस पर मैं अपनी आज्ञा, अपना अनुशासन पूरा थोप देना चाहूंगा। मैं उसकी स्वतंत्रता जरा-सी भी बचने न देना चाहूंगा। क्योंकि उसकी स्वतंत्रता मेरे अहंकार को चुनौती होगी। तो मैं चाहूंगा वह मिट जाए। मैं ही उस पर आरोपित हो जाऊं। सभी गुरु यही करेंगे।

और जब कृष्ण यह कह रहे हैं तब बहुत अदभुत बात कह रहे हैं, जो कि गुरु कहने की हिम्मत नहीं कर सकता, सिर्फ मित्र कर सकता है। इसलिए ध्यान रहे, कृष्ण अर्जुन के गुरु नहीं हैं। सिर्फ सखा हैं। और कभी भी गुरु की जगह खड़े नहीं होते, सिर्फ मित्र की जगह खड़े होते हैं। गुरु सारथी बनकर नहीं बैठ सकता था। गुरु कहत

ा मैं बैठूंगा रथ में, तू सारथी बन। गुरु कहता मैं और लगाम पकडूं! और घोड़ा चल
ाऊं! मैं बैठूंगा रथ में, तू घोड़ा बन, तू लगाम बन। कृष्ण बैठ सके सारथी बनकर,
यह बहुत अदभुत घटना है। घटना यह कहती है कि नाता मित्रता का है। मित्रता में
नीचे और ऊपर कोई नहीं होता। जब कृष्ण अर्जुन से यह कह रहे हैं कि तू स्व को
खोज, तू निजता को खोज, वह जो तेरी 'इंडिविजुॲलिटी' है, वह जो तेरा होना है
, उसको प्रामाणिक रूप से पहचान और वही तू बन, तू उससे भिन्न मत करना, कि
स कारण से उस क्षण उन्हें यह कहना पड़ा?
अर्जुन की पूरी अंतरात्मा क्षत्रिय की है। वह एक लड़ाके की, एक 'फाइटर' की है।
उसका रोआं-रोआं लड़नेवाले का है। वह एक सैनिक है। बातें वह संन्यासी की कर
रहा है। बातें वह कर रहा है संन्यासी की। बातें वह भगोड़े की कर रहा है, योद्धा
की नहीं। है वह लड़ने वाला। अगर वह जंगल में भी संन्यास लेकर बैठ जाएगा और
उसे सिंह दिखाई पड़ेगा, तो भजन नहीं करेगा, जूझ जाएगा। वह आदमी न तो ब्रा
ह्मण है, न वह आदमी वैश्य है, न वह आदमी शूद्र है। न वह श्रम करके आनंद पा
सकता है, न वह ज्ञान की चर्चा करके आनंद पा सकता है, न वह धन कमा कर
आनंद पा सकता है। उसका आनंद चुनौती में है। उसका आनंद कहीं जूझ जाने में है
। वह किसी अभियान में ही अपने को पा सकता है, किसी 'एडवेंचर' में ही अपने
को पा सकता है। लेकिन बातें वह दूसरी कर रहा है। वह 'स्वधर्म' से च्युत हो रहा
है। तो कृष्ण उससे कहते हैं कि तू लड़ाका है, तू 'एस्केपिस्ट' नहीं है, तू भगोड़ा न
हीं है, तू बातें पलायनवादी की कर रहा है। तू कहता है कि ये मर जाएंगे, कि मैं
मर जाऊंगा, कि मर जाने से बड़ा बुरा हो जाएगा, यह क्षत्रिय ने मरने-मारने की ब
ात कब की है। तू कहीं किसी और को तो नहीं ओढ़ रहा है? कहीं तूने सुनी-सुनाई
बातें तो नहीं अपने ऊपर ओढ़ लीं? क्योंकि सुनी-सुनाई बातें ओढ़कर तू कुछ कर
न पाएगा, तू भटक जाएगा। तू जो है, उसकी खोज कर। अगर तू ब्राह्मण ही है तो
कृष्ण न कहेंगे उसको कि तू लड़। कृष्ण कहेंगे, अगर तू ब्राह्मण ही है तो जा।
वह अर्जुन भी कहने की हिम्मत नहीं जुटा सकता कि वह ब्राह्मण है। वह ब्राह्मण है
ही नहीं। उसके सारे व्यक्तित्व की जो धार है, वह तलवार की है। उसके हाथ में त
लवार हो तो ही वह निखरेगा। युद्ध के गहरे क्षण में ही वह अपनी आत्मा को खोज
पाएगा। उसे अपनी आत्मा और कहीं मिलनेवाली नहीं है। इसलिए वह उससे कहते
हैं कि अपने धर्म में मर जाना भी बेहतर है। तू क्षत्रिय होकर मर जा। अगर तुझे
मारना भी न जंचता हो, तो मरना तो जंच ही सकता है। तू लड़ और मर जा, लेि
कन लड़ने से मत भाग। क्योंकि उससे भागकर तू जियेगा जरूर, लेकिन वह मरा हु
आ जीना होगा, वह 'डेड लाइफ' होगी। और 'डेड लाइफ' से 'लिविंग डेथ' बेहतर
है।
धर्म से वहां प्रयोजन हिंदू, मुसलमान, ईसाई से नहीं है। धर्म से वहां प्रयोजन निजता
ओं से है। और इस मुल्क ने निजताओं को चार बड़े विभागों में बांटा है। जिनको ह
म वर्ण कहते रहे हैं, वह मोटे विभाजन हैं निजताओं के। ऐसा नहीं है कि दो ब्राह्मण

एक-जैसे होते हैं, या दो क्षत्रिय एक-जैसे होते हैं। नहीं, दो क्षत्रिय भी दो-जैसे होते हैं। लेकिन फिर भी क्षत्रिय होने की एक समानता, एक 'सिमिलेरिटी' उनमें होती है। और मनुष्य को बहुत खोज-बीन करके चार हिस्सों में बांटा है। कोई है, जो सेवा किए बिना रस न पा सकेगा। ऐसा नहीं है कि वह नीचा है। वहां भूल हो गई। वहां जिन्होंने जाना था, वह उनके ऊपर जो नहीं जानते थे उन्होंने नियम ठहरा दिए। जिन्होंने जाना था, उनका कहना कुल इतना था कि कोई है जो सेवा करके ही कुछ आनंद पा सकेगा। उससे उसकी सेवा छीन ली जाए, वह आनंदरिक्त हो जाएगा, उसकी आत्मा खो जाएगी। अब कोई स्त्री मेरे पास आती है, वह कहती है, दो क्षण मुझे पैर दाब लेने दें। न मैंने उससे कहा, न मैंने उससे आग्रह किया, न इस पैर दाबने से उसे कुछ मिलेगा, लेकिन उसे क्या हो रहा है? वह पैर दाबकर जरूर कुछ पाएगी। मुझसे कुछ मिलेगा नहीं, अपनी आत्मा पाएगी। मुझसे कुछ नहीं मिल सकता। लेकिन अगर सेवा उसका रस है तो वह अपनी आत्मा पाएगी, वह अपनी निजता पाएगी।

कोई है, जो सब धन छोड़ सकता है ज्ञान के लिए। भूखा मर सकता, भीख मांग सकता, घर-द्वार छोड़ सकता है। हमें बड़ी हैरानी होगी। एक वैज्ञानिक है, वह एक जहर को अपनी जीभ पर रख सकता है इस बात का पता लगाने के लिए कि आदमी इससे मर जाता है? मरेगा, लेकिन ब्राह्मण है वह, ज्ञान की उसकी खोज है। वह अपनी आत्मा को पा लेगा, जहर को जीभ पर रख कर जान लेगा कि हां, इससे आदमी मर जाता है। इसको शायद कहने को भी न बचे वह, या हो सकता है कह पाए किसी तरह। या कुछ जहर तो ऐसे हैं, जिनको वह कह न पाएगा, लेकिन उसका मर जाना ही कह देगा। इससे भी वह तृप्त होगा। इससे भी वह अपनी आत्मा को पा लेगा। हमें बड़ी हैरानी होगी कि पागल है यह आदमी! हजार सुख थे इस दुनिया में, उन्हें छोड़कर जहर की जांच करने गया! कोई और रास्ता न था? कुछ और जांच नहीं कर सकता था? जांच ही कर लेनी थी तो कुछ और कर लेता! इसे क्या हो गया? इसके चित्त की जो धारा है, वह जानने की है। इसे सेवा से कोई रस न मिलेगा। इसे कोई कितना ही कहे कि पैर दबाने से किसी के मुझे बहुत रस आता है, यह कहता है कि अगर तुम्हें आता हो, तुम मेरे पैर दबा दो। बाकी मैं तो नहीं दबाता। मुझे कुछ नहीं आता। इसकी समझ के बाहर पड़ेगा।

कोई है जो किसी युद्ध के क्षण में—वह युद्ध चाहे किसी भांति का हो—उस युद्ध के क्षण में ही वह अपनी पूरी चमक को पा लेता है। उसकी पूरी चमक युद्ध के क्षण में ही निखरती है। वह एक क्षण को उस जगह पहुंच जाए जहां सब दांव पर लग जाता है! वह जुआरी है, वह बिना दांव पर लगाए नहीं जी सकता। छोटे-मोटे दांव से उसका काम नहीं होगा कि वह रुपये दांव पर लगा दे। इससे उसे कोई तृप्ति न मिलेगी। वह जब तक अपने पूरे जीवन को दांव पर न लगा दे, जहां कि पल-पल तय करना मुश्किल हो जाए कि जिंदगी कि मौत, उस क्षण में ही उसके भीतर जो छिपा है वह प्रगट होगा और फूल बन जाएगा। वह क्षत्रिय है।

कोई है—कोई राकफेलर, कोई मार्गन—और बड़े मजे की बात है कि मार्गन से किसी दिन मजाक में एक सेक्रेटरी ने कहा कि जब मैं आपको नहीं जानता था, तब तो मैं सोचता , सपने देखता था कि कभी मैं भी मार्गन हो जाऊं, लेकिन जब आपके निकट आया और निजी सेक्रेटरी की तरह रहा, तो अब मैं आपसे कहना चाहता हूं कि अगर भगवान मुझे फिर से मौका दे, तो मैं मार्गन तो कभी न होना चाहूंगा। मार्गन से तो मार्गन का सेक्रेटरी ही बेहतर है, सेक्रेटरी ने कहा। मार्गन ने कहा, तुम्हें मुझमें ऐसी क्या तकलीफ दिखाई पड़ती है? तो उस सेक्रेटरी ने कहा, मैं बड़ा हैरान हूं, आपके दफ्तर के चपरासी साढ़े नौ बजे दफ्तर पहुंचते हैं; दस बजे क्लर्क पहुंचते हैं, साढ़े दस बजे सेक्रेटरीज पहुंचते हैं, बारह बजे डाइरेक्टर्स पहुंचते हैं; तीन बजे डाइरेक्टर्स चले जाते हैं, चार बजे सेक्रेटरीज चले जाते हैं, पांच बजे क्लर्क चले जाते हैं, साढ़े पांच बजे चपरासी चले जाते हैं, आप दफ्तर सुबह सात बजे पहुंच जाते हैं और शाम को सात बजे जाते हैं! तो मैं तो आपका चपरासी भी होऊं तो भी ठीक है। आप यह क्या कर रहे हैं?

मार्गन को वह आदमी न समझ सकेगा। मार्गन के पास वैश्य का चित्त है। वह तृप्त हो रहा है, वह अपनी आत्मा को खोज रहा है। वह हंसता है, वह कहता है, चपरासी होकर साढ़े नौ बजे आने में कहां वह आनंद है, जो मालिक होकर सुबह सात बजे आने में है। माना कि डाइरेक्टर तीन बजे चले जाते हैं, लेकिन डाइरेक्टर ही हैं बेचारे, चले ही जाएंगे। मैं मालिक हूं। अब यह व्यक्ति किसी गहरी मालकियत में ही तृप्त हो सकता है।

इस मुल्क ने हजारों-लाखों व्यक्तियों का हजारों साल के अध्ययन के बाद यह तय किया था कि आदमी चार मोटे विभाजन में बांटे जा सकते हैं। इस विभाजन में कोई नीचे-ऊपर न था, कोई 'हायरेरिकी' न थी। लेकिन बहुत जल्दी, जो नहीं जानते थे उन्होंने 'हायरेरिकी' तय कर दी कि कौन नीचे, कौन ऊपर। उससे कष्ट खड़ा हो गया। वर्ण की तो अपनी वैज्ञानिकता है, लेकिन वर्ण-व्यवस्था का अपना दंश है। वर्ण को व्यवस्था बनाने की जरूरत नहीं है। वह एक 'इनसाइट' है, एक अंतर्दृष्टि है मनुष्य के व्यक्तित्वों में। और व्यक्तित्व ऐसे हैं।

तो कृष्ण अर्जुन से यह कह रहे हैं कि तू ठीक से पहचान ले तू है कौन! और तू जो है, उसी में मर। और तू जो नहीं है, उसमें जीने का पागलपन मत कर। और इस स्व के होने में वर्ण ही पर्याप्त नहीं है, क्योंकि वर्ण बहुत मोटे विभाजन हैं। दो व्यक्ति भी एक-जैसे नहीं हैं, एक-एक व्यक्ति अपने ही जैसा है, 'युनीक' है, बेजोड़ है। असल में परमात्मा कोई 'मेकेनिक', कोई यंत्रविद नहीं है, एक 'क्रिएटर' है, एक स्रष्टा है। अगर रवींद्रनाथ से कोई कहे कि एक कविता जो आपने लिखी थी वैसी ही दूसरी लिख दो, तो रवींद्रनाथ कहेंगे, तुमने क्या मुझे चुका हुआ समझा है? खत्म हुआ समझा है? क्या मैं मर गया? जो कविता मैंने एक दफा लिख दी, लिख दी, बात खत्म हो गई। अब दुबारा मैं वही लिखूं तो मतलब हुआ कि मेरा कवि मर चुका

। अब मैं दूसरी कविता लिख सकता हूं। कोई चित्रकार दुबारा वही चित्र नहीं बना सकता है।
एक दफे बहुत मजे की घटना घटी। पिकासो का एक चित्र तीन या चार लाख रुपये में बिका। जिसने खरीदा था वह पिकासो के पास दिखाने लाया और उसने कहा, य ह 'ऑथेंटिक' तो है न, प्रामाणिक तो है न? आपका ही है न बनाया हुआ? कोई न कल तो नहीं है? पिकासो ने कहा, 'ऑथेंटिक' नहीं है, नकल है। तूने मुफ्त पैसा ख राब किया। उस आदमी ने कहा, क्या कह रहे हैं आप? लेकिन आपकी पत्नी ने गव ाही दी है कि आपने ही बनाया है। पिकासो की पत्नी आ गई और उसने कहा, यह बात तो आप गलत कह रहे हैं। यह चित्र तो आपका बनाया हुआ है, मैंने आपको बनाते देखा है, ये दस्तखत आपके हैं, यह नकल नहीं है। पिकासो ने कहा, यह मैंने कब कहा कि मैंने नहीं बनाया, यह मैंने नहीं कहा। इसका पिकासो से क्या लेना-देना है! इसको कोई दूसरा चित्रकार भी उतार सकता था। इसको बनाते वक्त मैं 'क्रिए टर' नहीं था। इसको बनाते वक्त मैं सिर्फ 'इमीटेटर' था। बस 'इमीटेट' कर दिया हूं। तो मैं यह नहीं कह सकता कि यह प्रामाणिक है। पिकासो का बनाया हुआ मैं न हीं कह सकता। पिकासो का उतारा हुआ! किसी पिछले पिकासो की नकल है यह। वह जो पहला चित्र था, 'ऑथेंटिक' था, वह मैंने बनाया था, वह मैंने उतारा नहीं था।
परमात्मा सृजन कर रहा है। वह एक-सा दूसरा पत्ता नहीं बनाता, एक-सा दूसरा फू ल नहीं बनाता; एक-सा दूसरा कंकड़ नहीं बनाता, एक-सा दूसरा आदमी नहीं बनात ा। और चुक नहीं गया है। जिस दिन चुक जाएगा उस दिन वह 'रिपीट' करना शुरू कर देगा। वह 'नान-ऑथेंटिक' आदमी बनाने लगेगा। अभी वह महावीर एक दफे बनाता है, कृष्ण एक दफे बनाता है, बुद्ध एक दफा, आपको भी एक ही दफा बनात ा है। आपको भी दुबारा नहीं दोहराया था। यह बड़ी गरिमा की बात है, बड़े गौरव की। आप एक दफे ही बनाए गए हैं—न पहले, न पीछे, न आगे। अब आप नहीं दोह राए जाएंगे।
तो जो आप हैं, उसकी निजता को आप नकल में मत गंवा देना, क्योंकि परमात्मा तक ने नकल नहीं की, उसने आपको नया बनाया। और आप कहीं उसको नकली म त कर देना। इसलिए कृष्ण कहते हैं—'स्वधर्मे निधनम् श्रेयः'... अपने ही धर्म में मर जाना बेहतर है... 'परधर्मो भयावहः'... दूसरे का धर्म बहुत भय का है। उससे बचना , उससे सावधान रहना। उससे भयभीत रहना। भूलकर भी दूसरे के रास्ते मत जाना , भूलकर भी दूसरा बनने की कोशिश मत करना। स्वयं बनने की चेष्टा ही धर्म है— नदी के लिए। सागर के लिए तो न कोई स्वयं है, न कोई पर है। लेकिन वह सिद्धि की बात है। वह आखिरी जगह है जहां हम पहुंचते हैं। जहां से हम चलते हैं, वह वह जगह नहीं है। जहां से हम चलते हैं वहां से हमें व्यक्ति की तरह चलना होगा। जहां हम पहुंचते हैं वहां हम अव्यक्ति हो जाते हैं। वहां न कोई स्व है, न कोई पर

है। लेकिन उस जगह पहुंचेंगे आप स्व की तरह, पर की तरह वहां आप कभी न पहुंचेंगे। उसको ध्यान में रखकर वह बात कही गई है।

'भगवान श्री, मुझे लगता है, 'स्वधर्मे निधनम् श्रेयः' समझाते हुए कृष्ण ने अर्जुन को दबाया। वह अपने क्षत्रियत्व को लांघ कर शायद ब्राह्मण बनना चाहता था। जब उसे विषाद हुआ, कारुण्य हुआ, तब वह स्वधर्म में जाता था, कृष्ण ने रोककर उसको फिर क्षत्रियत्व में लाने का प्रयास किया।
और दूसरी बात यह भी है कि आपने कहा कृष्ण अर्जुन को स्वतंत्र करते हैं, दबाते नहीं। किंतु, गीता का जब प्रारंभ होता है तब अर्जुन शिष्य बनकर कृष्ण को कहता है—'शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम्'। बाद में गीता की सारी धारा गुजरती है और उसकी पूर्णाहुति पर अर्जुन का ऐसा वचन मिलता है—'करिष्ये वचनं तव'। क्या इससे यह भनक नहीं आती कि कृष्ण ने अर्जुन पर 'गुरुडम' स्थापित की, जिसके प्रभाव या दबाव में ही अर्जुन को कहना पड़ा—'करिष्ये वचनं तव'?'

* इसमें दो-तीन बातें समझनी चाहिए।
एक, कि अर्जुन के व्यक्तित्व को थोड़ा भी समझेंगे, तो यह नहीं कहा जा सकता कि क्षत्रिय होना उसकी निजता नहीं है। वह क्षत्रिय ही है। और जब विषाद उसे पकड़ता है, तब वह विषाद क्षण-भर को आई हुई घटना है। अर्जुन को विषाद पकड़ने का कारण भी कोई मर जाएगा, यह नहीं है, अर्जुन को विषाद पकड़ने का कारण है—अपने लोग मर जाएंगे। अगर अर्जुन के सामने युद्ध के मैदान में सगे-संबंधी न होते तो अर्जुन बिलकुल मूलियों की तरह उन्हें काट सकता था।
अर्जुन को विषाद हिंसा के कारण नहीं पकड़ रहा है, ममत्व के कारण पकड़ रहा है। अर्जुन को ऐसा नहीं लग रहा है कि मारना बुरा है यह तो फिर वह 'रेशनलाइजेशंस' खोज रहा है। असली बुनियादी विषाद तो यह है कि अपने ही प्रियजन हैं। कोई सगे बंधु हैं, कोई रिश्तेदार हैं। गुरु सामने खड़े हैं, जिनसे सब सीखा, वह द्रोण हैं। पितामह भीष्म हैं। कौरव भी सब भाई हैं, जिनके साथ बचपन में खेले और बड़े हुए। जिनको कभी सोचा नहीं कि मारना पड़ेगा। विषाद का कारण अगर हिंसा होती, अर्जुन अगर यह कहता कि मारना बुरा है, मुझे विषाद पकड़ता है मारने से—तो मारता तो वह बहुत पहले से रहा था, यह कोई मारने से कोई भय उसे न लगता था। भय लग रहा है अपनों को मारने में। एक ममत्व उसे पकड़ रहा है। इसलिए ब्राह्मण होने की बात नहीं है, क्योंकि ब्राह्मण होने का मतलब ही है कि ममत्व छूटे। सच तो यह है कि कृष्ण जो कह रहे हैं वह ममत्व छोड़ने को कह रहे हैं। अगर अर्जुन यह कहता कि मारना ही मेरे मन में नहीं उठता, तो कृष्ण ने ये बातें न कही होतीं जो कही हैं। कृष्ण महावीर को नहीं समझा सकते थे। ऐसे महावीर भी क्षत्रिय के घर में जन्मे थे। व्यवस्था से क्षत्रिय थे। जैनियों के चौबीस तीर्थंकर ही क्षत्रिय हैं। उनमें से कोई एक भी दूसरे वर्ण में नहीं जन्मा है। बुद्ध भी क्षत्रिय हैं। बड़े आश्च

र्य की बात है कि दुनिया में अहिंसा का विचार क्षत्रियों से पैदा हुआ। कारण है उस का। जहां हिंसा सघन थी, वहीं अहिंसा का खयाल भी पैदा हो सकता था। जहां चौबीस घंटे हिंसा-ही-हिंसा थी, वहीं अहिंसा का खयाल भी पैदा हो सकता था। इसलिए क्षत्रियों से अहिंसा का खयाल जन्मा। महावीर को कृष्ण न समझा सकते थे। क्योंकि महावीर यह नहीं कह रहे थे कि ये मेरे हैं। वे यह नहीं कह रहे थे। उनका विषाद यह नहीं था कि मेरों को कैसे मारूं, मेरों को तो वह बिलकुल बिना विषाद के छोड़कर चले आए थे। मेरों को तो कोई सवाल न था। नहीं, उनका प्रश्न ही और था। वह प्रश्न यह था कि मारना ही क्यों? मारने का प्रयोजन ही क्या? मारने का अर्थ ही क्या? मारने में धर्म ही नहीं है, यह उनका सवाल होता। और अगर कृष्ण उन से कहते कि 'स्वधर्मे निधनम् श्रेयः', तो वह कहते, मेरा स्वधर्म यह है कि मैं न मारूं और मर जाऊं। वह कृष्ण से कहते कि तुम अपनी बात मुझे मत कहो। वह पर-धर्म हो जाएगा।

अगर ठीक यही गीता महावीर से कही होती, तो महावीर रथ से उतरते, नमस्कार करते और जंगल चले जाते। उन्हें कोई फर्क नहीं पड़ने वाला था। अर्जुन को ये बातें जंच गईं। जंच गईं, उसका कारण यह नहीं है कि कृष्ण जंचा सके। जंच गईं इसलिए कि था तो वह क्षत्रिय, 'टेंप्रेरी फेज़' आ गई थी उसमें इन बातों की, कि ये मर जाएंगे, ये मेरे हैं, ये फलां हैं, ढिकां हैं। ये सारी-की-सारी बातें 'टेंप्रेरी' थीं, इसलिए कि कृष्ण हटा सके। यह आकाश न था उसके मन का, आ गई बादल थे, जो हटाए जा सकते थे। अगर यह उसके मन का आकाश होता तो कृष्ण के हटाने का सवाल न उठता, और न हटाने की वे कोशिश करते। न हटाने के लिए वह समझाते। हटाने की बात ही नहीं उठती थी। गीता घटती ही नहीं, अगर यह कृष्ण के खयाल में होता कि यह आकाश है इसके मन का। लेकिन आकाश अचानक नहीं आता। उसकी पूरी जिंदगी अर्जुन की कहती है कि उसका आकाश तो क्षत्रिय का है। उसका पूरा जीवन कहता है। उसका आकाश नहीं है।

इसलिए कृष्ण जिसे हटाते हैं, वह 'टेंप्रेरी फेज' है। और मैं मानता हूं कि अगर वह स्वधर्म होता, तो अर्जुन को हटाने की जरूरत क्या है? कृष्ण यही तो कह रहे हैं कि अपने स्वधर्म में मर जाना बेहतर है। अर्जुन कहता कि मेरा स्वधर्म है कि मैं मर जाऊं, अब आप मुझे क्षमा करें, अब मैं जाता हूं। बात खतम हो गई है। क्योंकि मेरा स्वधर्म है कि मैं मर जाऊं, अब आप मुझे क्षमा करें, अब मैं जाता हूं। बात खतम हो गई है। क्योंकि कृष्ण यह कहां कह रहे हैं कि तू परायी बात मान ले, वह यही तो कह रहे हैं कि जो तेरा स्वधर्म है उसे पहचान। सारी चेष्टा, पूरी गीता में, अर्जुन का जो स्व है उसे अर्जुन पहचाने, इसके लिए है। अर्जुन के ऊपर कोई चीज थोपने की आकांक्षा नहीं है।

दूसरी बात आप कहते हैं, वह भी सोचने जैसी है।

मैंने यह कहा कि कृष्ण गुरु नहीं हैं, सखा हैं। मैंने यह नहीं कहा कि अर्जुन शिष्य नहीं हैं। यह मैंने कहा नहीं। अर्जुन शिष्य हो सकता है, वह अर्जुन की तरफ से संबंध

है। वह संबंध कृष्ण की तरफ से नहीं है। और अर्जुन शिष्य है। वह सीखना चाहता है। सीखना चाहता है, इसलिए पूछता है। प्रश्न शिष्य करते हैं, सीखना चाहते हैं इसलिए पूछते हैं। अर्जुन पूछता है, पूछने का अपना अनुशासन है। पूछना हो तो नीचे बैठना पड़ता है। वह पूछने का हिस्सा है। पूछना हो तो हाथ फैलाने पड़ते हैं। पूछना हो तो समझने की उत्सुकता दिखानी पड़ती है। पूछना हो तो विनम्रता से समझना प. डता है। इसमें कृष्ण नहीं कह रहे हैं उसको कि वह विनम्र हो, इसमें वह यह नहीं कह रहे कि वह नीचे बैठे। वह गुरु नहीं हैं, उनकी तरफ से वह मित्र हैं। मित्र हैं इसलिए समझा रहे हैं। उनकी तरफ से मित्रता की ही बात है। इसलिए इतना ज्यादा समझा पाए। अगर गुरु होते तो बहुत जल्दी नाराज हो गए होते। कहते कि बस, अब बहुत हुआ। जो मैं कहता हूं, मान! संदेह करना ठीक नहीं, शक करना उचित नहीं, गुरु पर श्रद्धा रख! जब मैं कहता हूं लड़, तो लड़! समझाने की क्या जरूरत है! नहीं, इतनी लंबी गीता कृष्ण की तरफ से इस बात की सूचना है कि समझाने के लिए वह निरंतर तत्पर है। इसमें कहीं भी वे जल्दबाजी में नहीं हैं। अर्जुन बार-बार वही सवाल उठाता है। सवाल नए नहीं हैं। गीता में सब सवाल घूम-फिर कर फिर वहीं हैं। लेकिन कृष्ण उससे एक बार भी नहीं कहते कि तू फिर वही पूछ लेता है। तू फिर वही पूछ लेता है! (अब क्रियानंद पूछ रहे हैं, वह बार-बार वही पूछ रहे हैं...श्रोताओं का हास्य...लेकिन इससे कोई फर्क नहीं पड़ता। इससे कोई फर्क नहीं प. डता।)

गुरु होगा तो नाराज होगा, कहेगा कि बस, तुम यह पूछे चुके, हम कह चुके, अब समझो और मानो। नहीं, यह कोई सवाल नहीं है। आप बार-बार पूछते हो, उसका मतलब यह है कि नहीं समझ में आया, फिर समझाने की कोशिश जारी रहेगी। तो इतनी लंबी गीता संभव हो पाई। यह गीता कृष्ण का दान नहीं है, अर्जुन की कृपा है। अर्जुन पूछे चला जा रहा है। अर्जुन पूछे चला जा रहा है। इसलिए कृष्ण को कहते जाना पड़ता है। और बाद में, जो हमें ऐसा लगता है कि कृष्ण ने करवा लिया— जो हमें ऐसा लगता है कि कृष्ण ने करवा लिया, अर्जुन तो भाग रहा था, इतना समझाकर कृष्ण ने युद्ध में अर्जुन को डाल दिया, यह हमें लग सकता है। यह हमें इसलिए लग सकता है कि अर्जुन भाग रहा था, फिर भागा नहीं। युद्ध किया। लेकिन कृष्ण पूरे समय अर्जुन को मुक्त ही कर रहे हैं, और वह जो हो सकता है, जो होने की उसकी क्षमता है, उसे प्रगट कर रहे हैं। उसे जाहिर कर रहे हैं। और अगर पूरी गीता सुनकर भी अर्जुन कहता है कि सुना सब, लेकिन मैं जाता हूं, तो कृष्ण उसे हाथ पकड़कर रोकनेवाले नहीं थे। कोई रोकने वाला नहीं था।

बड़े मजे की बात है कि कृष्ण ने युद्ध में भाग न लेने का निर्णय लिया था। खुद वह युद्ध में लड़ने वाले नहीं थे। युद्ध में लड़ने वाला अर्जुन को समझा रहा है कि युद्ध में लड़। खुद वह युद्ध के बाहर खड़े हैं। युद्ध में लड़ने वाला नहीं है। जरूर बड़ी महत्व की बात है। अर्जुन को भी अगर यह खयाल आ जाए कि कृष्ण अपने को मेरे ऊपर थोप रहे हैं...तो उचित तो यही होता कि कृष्ण समझाते कि भाग जा, क्योंकि

मैं खुद ही लड़ नहीं रहा हूं। कृष्ण का एक नाम आपको पता है? वह है, रणछोड़दा स--युद्ध से जो भाग खड़े हुए! यह रणछोड़दास समझा रहे हैं कि लड़। अगर अपने को ही थोपना हो कृष्ण को, तो कहना चाहिए बिलकुल ठीक, तू मेरा शिष्य हुआ, चलो हम दोनों भाग जाएं। नहीं, अपने को थोपने की बात जरा-भी नहीं दिखाई पड़ती है। क्योंकि कृष्ण सिर्फ इतना ही कह रहे हैं कि ऐसा मैं समझता हूं कि तू क्षत्रिय है। ऐसा मैं तुझे जानता हूं बहुत निकट से कि तू क्षत्रिय है। जितने निकट से तू भी अपने को नहीं जानता उतने निकट से मैं तुझे पहचानता हूं कि तू क्षत्रिय है। तुझे इतना खयाल दिला रहा हूं। यह पूरी गीता में इतना ही खयाल दिलाने की बात है कि तू कौन है। और फिर जब तुझे खयाल आ जाए, तुझे जो भला लगे तू कर। होता है वही जो कृष्ण समझा रहे हैं, इसलिए हमें यह खयाल आ सकता है कि उन्होंने वही करवा लिया जो वे चाहते थे।

लेकिन कृष्ण कुछ भी नहीं चाह रहे हैं। इस अचाह के कई अदभुत कारण हैं। कृष्ण खुद अकेले लड़ रहे हैं अर्जुन की तरफ से, उनकी सारी फौजें लड़ रही हैं दूसरी तरफ से। लड़ने वालों के ये ढंग नहीं हैं। कि खुद की फौजें दुश्मन की तरफ से लड़ें। कृष्ण लड़ रहे हैं पांडवों की तरफ से और कृष्ण की सारी फौजें--अकेले कृष्ण को छोड़कर--लड़ रही हैं कौरवों की तरफ से। लड़ने वालों के ये ढंग कभी सुने नहीं गए! अगर ये ढंग हैं लड़ने वालों के तो सब लड़ने वाले गलत हैं, यही आदमी लड़ने वाला ठीक है। हिटलर राजी हो सकता है कि फौजें लड़ें दुश्मन की तरफ से? राजी नहीं हो सकता। फौजें होती इसलिए हैं कि अपनी तरफ से लड़ें। लड़ने वाले का चित्त लड़ने का पूरा इंतजाम करता है। यह बड़ी अजीब लड़ाई चल रही है। इसमें एक आदमी है जो लड़ रहा है इस तरफ से, उसकी सारी फौजें लड़ रही हैं दुश्मन की तरफ से। यह आदमी कोई लड़ने में बहुत रसवाला नहीं है। लड़ने से इसे बहुत प्रयोजन नहीं है। लेकिन स्थिति लड़ने की है। और इसलिए अपने को भी दो हिस्सों में बांटा है उसने, कि बाद में आप उसको दोषारोपित न कर सकें, दोषारोपण न कर सकें। कृष्ण की स्थिति बहुत ही अदभुत है। उनके सारे व्यक्तित्व की बनावट बहुत अदभुत है। और यह लड़ाई भी बड़े मजे की है! सांझ हो जाती है, युद्ध बंद हो जाता है, और सब एक-दूसरे के खेमों में गपशप करने चले जाते हैं। और एक-दूसरे से जाकर पूछने लगते हैं, आज कौन मर गया और कौन क्या हो गया? संवेदना भी प्रगट करने जाते हैं। सांझ को गपशप जमती है। बड़ी अजीब लड़ाई है! यह लड़ाई ऐसी नहीं लगती है कि दुश्मनों की है। दुश्मनी जैसे नाटक है, जैसे खेल है, जैसे अपरिहार्यता है। एक 'इनइवीटेबिलिटी' है जो ऊपर आ गिर पड़ी है लेकिन कोई दुश्मनी नहीं मालूम पड़ती है। सांझ हो जाती है, बिगुल बज जाते हैं, युद्ध बंद हो गया है, और पता लगाना मुश्किल है कि कौन कहां है। सब एक-दूसरे के खेमों में चले गए हैं। और एक-दूसरे के खेमों में चर्चा चल रही है। दुख-संवेदना भी है कि कौन मर गया। अकेले कृष्ण का ही मामला ऐसा नहीं है, बहुत-से मामले ऐसे हैं कि कोई उस तरफ से लड़ रहा है, उसका कोई साथी इस तरफ से लड़ रहा है। और कैसे मजे की बा

त है कि युद्ध समाप्त हो जाता है और कृष्ण ही सलाह देते हैं पांडवों को कि वे भी ष्म से जाकर शांति का पाठ ले लें। भीष्म से! जो उस तरफ से युद्ध का अग्रणी है। उस तरफ से युद्ध का सेनापति है। युद्ध का जो सेनापति है दुश्मन की तरफ से, उस से शांति का पाठ लेने के लिए है, शिष्य की तरह बैठ जाते हैं लोग जाकर। भीष्म का जो संदेश है वह 'शांति पर्व' है। बहुत अजीब बात है! बड़ी 'मिरेकुलस' है। दुश् मन से कभी कोई शांति का पाठ लेने गया है! दुश्मन से अशांति के पाठ लिए जाते हैं। और उसके पास जाने की जरूरत नहीं होती।

मरते हुए भीष्म से शांति का पाठ लिया जा रहा है! धर्म का राज समझा जा रहा है! युद्ध साधारण युद्ध नहीं है। युद्ध बहुत असाधारण है। और इस युद्ध के मैदान प र खड़े हो गए योद्धा साधारण लड़ाई में गए हुए सैनिक नहीं हैं। इसलिए इसे गीता धर्मयुद्ध कह पाती है। इस युद्ध को धर्मयुद्ध कहने का कारण है।

कृष्ण समझा-बुझाकर युद्ध नहीं करवा लेते हैं। कृष्ण समझा-बुझाकर अर्जुन के क्षत्रिय होने को प्रगट कर देते हैं। एक मूर्तिकार का मुझे स्मरण आता है। एक मूर्तिकार ए क पत्थर में मूर्ति खोद रहा है। कोई आदमी देखने आया है उसके मूर्ति बनाने को। पत्थर छिदते जाते हैं, छेनी पत्थर काटती चली जाती है। फिर मूर्ति उघड़ने लगती है। फिर पूरी मूर्ति उघड़ जाती है। और फिर वह जो देखने आया है, वह कहता है, तुम अदभुत कारीगर हो। तुमने जैसी मूर्ति को बनाई ऐसी मैंने किसी को बनाते न हीं देखा। वह कहता है, माफ करना, तुम कुछ गलत समझे। मैं मूर्ति को बनाने वा ला नहीं हूं, सिर्फ उघाड़ने वाला हूं। इधर से निकलता था, इस पत्थर में मुझे मूर्ति ि दखाई पड़ी, तो जो गैरजरूरी पत्थर थे वे भर मैंने अलग किए हैं। इधर से गुजरता था, मूर्ति मुझे दिखाई पड़ी इस पत्थर में कि अरे, इस पत्थर में एक मूर्ति छिपी है। मैंने सिर्फ गैरजरूरी पत्थर अलग कर दिए हैं और मूर्ति जो छिपी थी वह प्रगट हो गई है। मैं बनाने वाला नहीं हूं, सिर्फ उघाड़ने वाला हूं।

अर्जुन को कृष्ण सिर्फ उघाड़ते हैं, बनाते नहीं। वह जो था वह उघाड़ देते हैं। उनकी छेनी सिर्फ गैरजरूरी पत्थर अलग कर देती है। बाद में जो अर्जुन होता है, वह अर्जु न का होना है, उसकी निजता है। ऐसा वह आदमी था। पर हमें तो लगेगा कि मूर्ति बनाई है। यह आदमी क्या कह रहा है कि बनाई नहीं है? हमने बनाते देखी है। ह मने छेनी से पत्थर काटते देखा है। लेकिन यह एक मूर्तिकार का कहना नहीं है, बहु त मूर्तिकारों का कहना है कि उन्हें मूर्तियां पत्थरों में पहले दिखाई पड़ती हैं, फिर वे उन्हें उघाड़ते हैं; पत्थर बोलते हैं मूर्तिकार से कि आओ इधर, इधर कुछ छिपा है , इसे उघाड़ दो। सभी पत्थर काम नहीं आते, सभी पत्थर बेमानी हैं। किसी पत्थर में जहां छिपा होता है, उस निजता को उघाड़ा है। इसलिए पूरी गीता एक उघाड़ने की प्रक्रिया है। उसमें अर्जुन जैसा हो सकता था, वैसा प्रगट हुआ है।

(हां, क्रियानंद पूछो!...अब सब पूछने लगोगे तो मुश्किल हो जाएगी...हां, बोलो...हां, एक मिनिट...)

'आप एक शब्द बहुत इस्तेमाल करते हैं, और वह शब्द है—'अदभुत'। वही शब्द मैं आप पर निरूपित करता हूं, और मैं आपसे यह पूछता हूं—क्या आप अदभुत नहीं हैं! ...और अक्सर मुझे लगता है कि मैं भी अदभुत हूं।'

* (गहन आत्मीय हास्य...)। इसे बाद में लेंगे।

'आपने कहा कि कृष्ण अर्जुन के गुरु नहीं मित्र हैं, और इसलिए वे अर्जुन की लंबी शंकाओं का धैर्यपूर्वक स्वागत करते हैं। लेकिन, गीता में ही वे अन्यत्र अर्जुन को कह ते हैं—'संशयात्मा विनश्यति'। ऐसा वे अर्जुन के मन में बार-बार उठते संशय को दे खकर ही कहते थे। लेकिन संशयात्मा अर्जुन नष्ट नहीं हुआ, उलटे कौरव नष्ट हो ग ए। कृपया इसे समझाएं।'

* संशयात्मा विनष्ट हो जाते हैं, यह बड़ा सत्य है। लेकिन संशय के अर्थ समझने में भूल हो जाती है। संशय का अर्थ संदेह नहीं है। संशय का अर्थ 'डाउट' नहीं है। सं शय का अर्थ 'इनडिसीसिवनेस' है। संशय का अर्थ है, अनिर्णय की स्थिति।
संदेह तो बड़े निर्णय की स्थिति है, संदेह अनिर्णय नहीं है। संदेह भी निर्णय है, श्रद्धा भी निर्णय है। संदेह नकारात्मक निर्णय है, श्रद्धा विधायक निर्णय है। एक आदमी कहता है, ईश्वर है, ऐसी मेरी श्रद्धा है। यह एक निर्णय है, एक 'डिसीजन' है। एक आदमी कहता है, ईश्वर नहीं है, ऐसा मेरा संदेह है। यह भी एक निर्णय है। यह 'ि नगेटिव डिसीजन' है। एक आदमी कहता है कि पता नहीं ईश्वर है, पता नहीं ईश्वर नहीं है। यह 'इनडिसीसिवनेस' है। यह संशय है। संशय विनाश कर देता है, क्योंकि वह अनिर्णय में छोड़ देता है।
अर्जुन को जब कृष्ण कहते हैं कि तू संशय में मत पड़, निर्णायक हो, निश्चयात्मक हो, 'डिसीसिव' हो; निश्चयात्मक बुद्धि को उपलब्ध हो, तू निश्चय कर कि तू कौन है, तू संशय में मत पड़ कि मैं क्षत्रिय हूं कि मैं ब्राह्मण हूं कि संन्यास लेने को हूं, तू निर्णय कर; तू स्पष्ट निर्णय को उपलब्ध हो अन्यथा तू विनष्ट हो जाएगा। 'इनडि सीजन' विनाश कर देगा, तू भटक जाएगा, तू खंड-खंड हो जाएगा। तू अपने ही भी तर विभाजित हो जाएगा और लड़ जाएगा और टूटकर नष्ट हो जाएगा। 'डिसइंटिग्रे टेड' हो जाएगा।
संशय को अक्सर ही संदेह समझा गया है और वहां भूल हो गई है। मैं संदेह का प क्षपाती हूं और संशय का पक्षपाती मैं भी नहीं हूं। मैं भी कहता हूं, संदेह बहुत उचि त है और संदेह के लिए कृष्ण जरा-भी इनकार नहीं करते। संदेह के लिए तो वह ि बलकुल राजी हैं कि तू पूछ! पूछ का मतलब ही संदेह है। तू और पूछ। पूछने का म तलब ही संदेह है। लेकिन वह यह कहते हैं कि तू भीतर संशय से मत भर जाना। ' कन्फ्यूज्ड' मत हो जाना। संभ्रम से मत भर जाना। ऐसा न हो कि तू तय करने में

असमर्थ हो जाए कि क्या करणीय है, क्या न-करणीय है; क्या करूं, क्या न करूं! 'ईदर-ऑर' में मत पड़ जाना। या यह या वह, ऐसे मत पड़ जाना।

एक विचारक हुआ है, सोरेन कीर्कगार्द। उसने एक किताब लिखी—'ईदर ऑर'। किताब का नाम है—'यह या वह?' किताब ही लिखी होती, ऐसा नहीं था, उसका व्यक्तित्व भी ऐसा ही था—यह या वह? उसके गांव में, कोपनहेगन में उसका नाम ही लोग भूल गए और 'ईदर-ऑर' उसका नाम हो गया। और जब वह गलियों से निकलता, तो लोग चिल्लाते, 'ईदर ऑर' जा रहा है। क्योंकि वह चौरस्तों पर भी खड़ा होकर सोचता है कि इस रास्ते जाऊं कि उस रास्ते से! ताले में चाबी डालकर सोचता है—इस तरफ घुमाऊं कि उस तरफ! एक स्त्री को प्रेम करता था, रोजीना को। फिर उस स्त्री ने विवाह का निवेदन किया तो जीवन-भर निर्णय न कर पाया—करूं, कि न करूं! यह 'डाउट' नहीं है, यह 'इनडिसीसिवनेस' है।

तो कृष्ण जो अर्जुन से कहते हैं, वह कहते हैं तू संशय में पड़ेगा तो नष्ट हो जाएगा। संशय में जो भी पड़े वे नष्ट हो गए, क्योंकि संशय खंडित कर देगा। तू ही विरोधी हिस्सों में बंट जाएगा। खंड-खंड होकर टूटेगा, तुझे अखंड होना चाहिए। और निर्णय से आदमी अखंड हो जाता है। अगर आपने जिंदगी में कभी भी कोई 'डिसीजन' लिया है, कभी भी कोई निर्णय किया है, तो उस निर्णय में आप कम-से-कम क्षण-भर को तो तत्काल अखंड हो जाते हैं। जितना बड़ा निर्णय, उतनी बड़ी अखंडता आती है। अगर कोई समग्ररूपेण एक निर्णय कर ले जीवन में तो उसके भीतर 'विल', संकल्प पैदा हो जाता है। वह एक हो जाता है, एकजुट, योग को उपलब्ध हो जाता है।

तो कृष्ण की पूरी चेष्टा संशय मिटाने की—संदेह मिटाने की नहीं, क्योंकि संदेह तो तू पूरा कर, संशय को मिटा। और, मैं संदेह का पक्षपाती हूं। मैं कहता हूं, संदेह जरूर करें। संदेह करने का मतलब है, उस समय तक संदेह की छेनी का उपयोग करें, जब तक श्रद्धा की मूर्ति निखर न आए। तो तोड़ते जाएं, तोड़ते जाएं, आखिर तक लड़ें, संदेह करें, किसी को मान न लें। तोड़ते जाएं, लड़ते जाएं, तोड़ते जाएं, एक दिन वह घड़ी आ जाएगी कि मूर्ति निखर आएगी; तोड़ने को कुछ बचेगा नहीं। अब तोड़ना अपने को ही तोड़ना होगा। अब कुछ तोड़ने को न बचा। मूर्ति पूरी प्रगट हो गई है, अब व्यर्थ पत्थर अलग हो गए हैं, अब श्रद्धा उत्पन्न होगी।

संदेह की अंतिम उपलब्धि श्रद्धा है और संशय की अंतिम उपलब्धि विक्षिप्तता है। पागल हो जाएगा आदमी, कहीं का न रह जाएगा, सब खो जाएगा। उस अर्थ में समझेंगे तो खयाल में बात आ सकती है।

(...ऐसा एक-दो दिन रख लेंगे जब सब पूछ सकेंगे)।

5 'अकारण' के आत्यंतिक प्रतीक कृष्ण

'भगवान श्री, श्रीकृष्ण के जन्म के समय क्या सामाजिक, राजनैतिक और धार्मिक स्थितियां थीं, जिनके कारण कृष्ण जैसी आत्मा के अवतरण होने का आधार बना? कृपया इस पर प्रकाश डालें।'

* कृष्ण जैसी चेतना के जन्म के लिए सभी समय, सभी काल, सभी परिस्थितियां काम की हो सकती हैं। कोई काल, कोई परिस्थिति कृष्ण जैसी चेतना के पैदा होने का कारण नहीं होती है। यह दूसरी बात है कि किसी विशेष परिस्थिति में वैसी चेतना को विशेष व्यवहार करना पड़े। लेकिन ऐसी चेतनाएं काल-निर्भर नहीं होतीं। सिर्फ सोए हुए लोगों के अतिरिक्त काल पर कोई भी निर्भर नहीं होता। जागा हुआ कोई भी व्यक्ति अपने समय से पैदा नहीं होता। बल्कि बात बिलकुल उलटी है—जागा हुआ व्यक्ति अपने समय को अपने अनुकूल ढाल लेता है। सोए हुए व्यक्ति समय के अनुकूल पैदा होते हैं।

लेकिन हम सदा ऐसा सोचते रहे हैं कि कृष्ण शायद इसलिए पैदा होते हैं कि युग बहुत बुरा है, इसलिए पैदा होते हैं कि बहुत दुर्दिन हैं। इस समझ में बुनियादी भूल है। इसका मतलब यह हुआ कि कृष्ण जैसे व्यक्ति एक 'कॉज़ल चेन' में पैदा होते हैं, एक कार्य-कारण की शृंखला में पैदा होते हैं। इसका मतलब हुआ कि हमने कृष्ण के जन्म को भी 'युटिलिटेरियन' कर लिया, हमने उपयोगिता में ढाल दिया। इसका यह भी मतलब हुआ कि कृष्ण जैसे व्यक्ति को भी हम अपनी सेवा के अर्थों में ही देख सकते हैं, और किसी अर्थों में नहीं देख सकते।

अगर रास्ते के किनारे फूल खिलें, तो राह से गुजरने वाला सोच सकता है कि मेरे लिए खिल रहा है। मेरे लिए सुगंध दे रहा है। हो सकता है अपनी डायरी में लिखे कि मैं जिस रास्ते से गुजरता हूं, मेरे कारण मेरे लिए फूल खिल जाते हैं। लेकिन फूल निर्जन रास्तों पर भी खिलते हैं। फूल किसी के लिए नहीं खिलते, फूल अपने लिए खिलते हैं। किसी दूसरे को सुगंध मिल जाती है, यह बात दूसरी है।

कृष्ण जैसे व्यक्ति किसी के लिए पैदा नहीं होते। अपने आनंद से ही जन्मते हैं। दूसरों को सुगंध मिल जाती है, यह बात दूसरी है। और ऐसा कौन-सा युग है, जिस में कृष्ण जैसा व्यक्ति पैदा हो तो हम उससे कोई उपयोग न लें सकेंगे? सभी युगों में ले लेंगे। सभी युगों में जरूरत है। सभी युग पीड़ित हैं, सभी युग दुखी हैं। तो कृष्ण जैसा व्यक्ति तो किसी भी क्षण में उपयोगी हो जाएगा। सुगंध ही चाह किस को नहीं है! किस के नासापुट सुगंध के लिए आतुर नहीं हैं! फूल किसी भी रास्ते पर खिले, और कोई भी गुजरे तो सुगंध ले लेगा। मैं आपसे यह कहना चाहता हूं कि कृष्ण जैसे व्यक्तियों को 'युटिलिटेरियन', उपयोगिता की भाषा में सोचना ही गलत है।

लेकिन हमारी मजबूरी है। हम हर चीज को उपयोग में सोचते हैं, किस उपयोग में आएगी? निरुपयोगी का हमारे लिए कोई मूल्य ही नहीं है, 'परपजलेस' का हमारे लिए कोई अर्थ नहीं है। आकाश में बादल चलते हैं तो सोचते हैं कि शायद हमारे खेतों में वर्षा करने के लिए चलते हैं। अगर घड़ियां आपके हाथों पर बंधी सोच सकें, तो वे शायद यही सोचेंगी कि हम बंध सकें, इसलिए यह आदमी पैदा हुआ है। निश्चित ही चश्मे अगर सोच सकें, तो वे सोचेंगे कि हम लग सकें, इसलिए ये आंखें पैदा हुई हैं। लेकिन वे सोच नहीं सकते, इसलिए मजबूरी है। आदमी सोच सकता है तो वह हर चीज को 'इगोसेंट्रिक' कर लेता है। वह अपने अहंकार को केंद्र पर लेता है। वह कहता है, सब मेरे लिए है। कृष्ण जन्मते हैं तो मेरे लिए, बुद्ध जन्मते हैं तो मेरे लिए, फूल खिलते हैं तो मेरे लिए, चांद-तारे चलते हैं तो मेरे लिए। आदमी के लिए सब चल रहा है। आकाश में चांद-तारे चलते हैं वे भी हमारे लिए, सूरज निकलता है वह भी हमारे लिए है। यह दूसरी बात है कि सूरज के निकलने से हम रोशनी ले लेते हैं, लेकिन हमें रोशनी देने को सूरज नहीं निकलता है।

जिंदगी की धारा उपयोगिता की धारा नहीं है। उपयोगिता की भाषा में ही सोचना गलत है। जिंदगी में सब हो रहा है, किसी के लिए नहीं, होने के लिए ही। फूल खिल रहे हैं अपने आनंद में, नदियां बह रही हैं अपने आनंद में, बादल चल रहे हैं अपने आनंद में, चांद-तारे चल रहे हैं अपने आनंद में। आप किस के लिए पैदा हुए हैं? आप किस कारण पैदा हुए हैं? आप अपने आनंद में ही जी रहे हैं। और कृष्ण जैसा व्यक्ति तो पूरी तरह अपने आनंद में जी रहा है। ऐसा व्यक्ति कभी भी पैदा हो जाए तो हम जरूर उसका कुछ उपयोग करेंगे। सूरज कभी भी निकले तो हम उसकी रोशनी अपने घरों में ले जाएंगे। और बादल कभी भी बरसें, हम फसल पैदा करेंगे। और फूल कभी भी खिलें, हम उनकी मालाएं बनाएंगे। लेकिन इस सब के लिए यह नहीं हो रहा है।

लेकिन निरंतर हम इसी भाषा में सोचते हैं—महावीर क्यों पैदा हुए? कौन-सी राजनैतिक स्थिति थी जिससे महावीर पैदा हुए? बुद्ध क्यों पैदा हुए? कौन-सी सामाजिक स्थिति थी जिससे बुद्ध पैदा हुए? ध्यान रहे, इसमें एक और खतरनाक बात है, और

वह यह है कि व्यक्ति की चेतना सामाजिक परिस्थितियों से पैदा होती है, ऐसा मार्क्स का सोचना था। मार्क्स कहता था कि चेतना परिस्थितियां नहीं बनाती, परिस्थितियों से चेतना जन्मती है। लेकिन जो नहीं हैं कम्यूनिस्ट, वह भी इसी तरह सोचते हैं। उन्हें पता नहीं होगा कि जिन लोगों ने भी कभी यह कहा है कि इस कारण से महावीर पैदा हुए, इस कारण से कृष्ण पैदा हुए, वे यह कह रहे हैं कि समाज की परिस्थितियां उनके जन्म का कारण हैं। नहीं, समाज की परिस्थितियां उनके जन्म का कारण नहीं हैं। और समाज की ऐसी कोई भी परिस्थिति नहीं है जो कृष्ण जैसी चेतना को जन्म दे दे। समाज तो बहुत पीछे होता है कृष्ण जब पैदा होते हैं। समाज तो बहुत पीछे होता है, कृष्ण जैसी चेतना को जन्म देने की क्षमता उसकी नहीं है। बल्कि कृष्ण ही पैदा करके उस समाज को नई दिशाएं अनजाने में दे जाते हैं। नए मार्ग दे जाते हैं, नई शक्ल, नई रूपरेखा दे जाते हैं।

मैं परिस्थितियों को बहुत मूल्य नहीं देता। मैं मूल्य चेतना को 'कांशसनेस' को ज्यादा देता हूं। और आपसे यह कहना चाहूंगा कि जीवन उपयोगितावादी नहीं है, जीवन खेल जैसा है, लीला जैसा है। एक आदमी जा रहा है रास्ते पर। उसे कहीं पहुंचना है। उसे कोई मंजिल, कोई मुकाम, उसे किसी काम के लिए जाना है। यह आदमी भी चलता है रास्ते पर। एक आदमी सुबह घूमने निकला है। उसे कहीं पहुंचना नहीं है, कहीं जाना नहीं है, कोई लक्ष्य नहीं है, सिर्फ घूमने निकला है। लेकिन कभी आपने खयाल किया है कि वही रास्ता, जब आप काम करने के लिए निकलते हैं, तो बोझिल हो जाता है और वही रास्ता जब आप घूमने के लिए निकलते हैं, तो आनंदपूर्ण हो जाता है। वे ही पैर, जब काम करने को जाते हैं तो भारी हो जाते हैं। वे ही पैर, जब फिर घूमने को जाते हैं तो पर लग जाते हैं, हलके हो जाते हैं। वही आदमी जब काम करने जाता है तो उसके सिर पर मनों बोझ होता है; और उसी रास्ते पर, उन्हीं कदमों से, उतनी ही दूरी पूरी करता है—सिर्फ घूमने के लिए—तब कोई हिसाब नहीं उसके आनंद का, कोई बोझ नहीं होता है।

कृष्ण जैसे व्यक्ति किसी काम के लिए नहीं जीते। उनकी जिंदगी घूमने जैसी है, कहीं जाने जैसी नहीं। उनकी जिंदगी एक खेल है। निश्चित ही जिस रास्ते वे गुजरते हैं, उस रास्ते पर अगर कांटे पड़े हों, तो उसे हटा देते हैं। यह बिलकुल दूसरी बात है। यह भी उनके आनंद का हिस्सा है। लेकिन कृष्ण उस रास्ते से कांटों को हटाने के लिए नहीं निकले थे। निकले थे और कांटे पड़े थे तो वे हटा दिए हैं। और उस रास्ते पर अगर कोई आदमी यह न सोचे कि वह कोई 'ट्रैफिक' के, पुलिस के आदमी हैं कि उसके लिए खड़े थे वहां, रास्ता बताने को। वह वहां से निकले थे, आपने पूछा है, उन्होंने बता दिया। यह सब 'नान-कॉज़ल' है। इसके कार्य-कारण की कोई श्रृंखला नहीं है। इसलिए मैं कृष्ण को या बुद्ध को, या क्राइस्ट को, या महावीर को हमारी श्रृंखला में सोचने के लिए तैयार नहीं हूं। वे घटित होते हैं अकारण। या कहें कि उनके कारण उनके आंतरिक हैं, हमारे सामाजिक और बाह्य कारण नहीं हैं।

व्यक्ति की आत्मा और व्यक्ति की चेतना का अर्थ ही यही है कि व्यक्ति की चेतना भीतर परम स्वतंत्र है। उसे कोई बांधता नहीं। उसे कोई बांध नहीं सकता।

एक बहुत बड़े ज्योतिषी के संबंध में मैंने सुना है कि उसके गांव के लोग उस ज्योतिषी से बहुत परेशान हो गए थे। वह जो भी कहता था, वह ठीक निकल जाता था। तब उस गांव के दो युवकों ने सोचा कि कभी तो एक बार इस ज्योतिषी को गलत करना जरूरी है। सर्दी के दिन थे, वे अपने बड़े 'ओवर कोट' के भीतर एक कबूतर को छिपाकर उस ज्योतिषी के पास पहुंचे और उस ज्योतिषी से उन्होंने कहा कि इस कोट के भीतर हमने एक कबूतर छिपा रखा है, हम आपसे पूछने आए हैं कि वह जिंदा है या मरा हुआ है? वे यह तय करके आए थे कि अगर वह कहे जिंदा है, तो भीतर उसकी गर्दन मरोड़ देनी है। मरा हुआ कबूतर बाहर निकालना है। अगर वह कहे मरा हुआ है, तो कबूतर को जिंदा ही बाहर निकाल दें। एक दफा तो मौका होना ही चाहिए कि ज्योतिषी गलत हो जाए। उस बूढ़े ज्योतिषी ने नीचे से ऊपर देखा, और उसने जो वक्तव्य दिया वह बहुत अदभुत था। उसने कहा, 'इट इज इन योर हैंड'। उसने कहा, न कबूतर जिंदा है, न मरा है, तुम्हारे हाथ में है। तुम्हारी जैसी मर्जी। उन युवकों ने कहा, बड़ा धोखा दे दिया आपने!

जिंदगी हमारे हाथों में है। और कृष्ण जैसे लोगों के तो बिलकुल हाथों में है। वे जैसे जीना चाहते हैं, वैसा ही जीते हैं। न कोई समाज, न कोई परिस्थिति, न कोई बाहरी दबाव उसमें कोई फर्क ला पाता है। उनका होना अपना होना है। निश्चित ही कुछ फर्क हमें दिखाई पड़ते हैं, वे दिखाई पड़ेंगे। क्योंकि हमारे बीच जीते हैं, बहुत-सी घटनाएं घटती हैं, जो हमारे बीच घटती हैं जो कि नहीं घटी

होतीं अगर किसी और समय में वे होते। लेकिन वे गौण हैं, 'इर्रेलेवेंट' हैं, असंगत हैं, उनसे कृष्ण के आंतरिक जीवन को कोई लेना-देना नहीं है।

इसलिए कृपा करके, कृष्ण किसी समाज के लिए पैदा नहीं होते, न किसी राजनैतिक स्थिति के लिए पैदा होते हैं। न किसी के बचाने के लिए पैदा होते हैं। हां, बहुत लोग बच जाते हैं, यह बिलकुल दूसरी बात है। बहुत लोगों को रास्ता मिल जाता है, यह बिलकुल दूसरी बात है। कृष्ण तो अपने आनंद में खिलते हैं; और यह खिलना वैसे ही अकारण है जैसे आकाश में बादलों का चलना, जमीन पर फूलों का खिलना, हवाओं का बहना। यह उतना ही अकारण है। लेकिन हम इतने अकारण नहीं हैं, इसलिए कठिनाई होती है समझने में। हम तो कारण से जीते हैं। हम तो किसी को प्रेम भी करते हैं तो भी कारण से करते हैं। प्रेम भी हम कारण से कहते हैं, प्रेम का फूल भी अकारण नहीं खिल पाता। हम बिना कारण के तो कुछ भी कर ही नहीं सकते। और ध्यान रहे, जब तक आपकी जिंदगी में बिना कारण के किसी करने का जन्म न हो, तब तक आपकी जिंदगी में धर्म का भी जन्म नहीं होगा। जिस दिन आपकी जिंदगी में कुछ अकारण भी होने लगे, कि आप बिना कारण करते हैं, 'अनकंडीशनल', कोई वजह नहीं थी करने की, करने का आनंद ही एकमात्र वजह थी।

'आपने कहा कि कृष्ण का जन्म अकारण है। लेकिन गीता में कृष्ण ही कहते हैं कि जब-जब धर्म की हानि होती है, तब-तब मुझे आना पड़ता है। कृपया इसे स्पष्ट करें।'

* हां, कृष्ण कहते हैं कि जब-जब धर्म की हानि होती है, तब-तब मुझे आना पड़ता है।

इसका क्या मतलब होगा फिर?

यह वही व्यक्ति कह सकता है, जो परम स्वतंत्र हो। आप तो नहीं कह सकते कि जब-जब ऐसा होगा, मैं आऊंगा। आप यह भी नहीं कह सकते कि अगर ऐसा नहीं होगा तो मैं नहीं आऊंगा। हमारा आना बंधा हुआ आना है। लंबे कर्मों का बंधन है हमारा, 'कॉज़ल चेन' है। हम ऐसा वायदा नहीं कर सकते; हम ऐसी 'प्रॉमिस' नहीं दे सकते। हम हिम्मत भी नहीं कर सकते ऐसा वायदा करने की। कृष्ण यह भी हिम्मत कर रहे हैं। इस हिम्मत का भी कारण वही है कि वे किसी कारण से नहीं जीते हैं बंधकर, उनकी मौज है, इस मौज से कुछ भी निकल सकता है। यह वायदा स्वतंत्र चेतना से ही संभव है। अगर कृष्ण कहते हैं मैं आ जाऊंगा ऐसी स्थिति अगर हुई, तो स्थिति के कारण नहीं कृष्ण आ जाएंगे, अपनी स्वतंत्रता के कारण आ जाएंगे। स्थिति के कारण नहीं। कृष्ण यह नहीं कहते हैं कि अगर ऐसी स्थिति हुई, तो मजबूरी है। ऐसा नहीं है। यह 'प्रॉमिस' है, यह वचन है। आ जाऊंगा, ऐसी स्थिति हुई। लेकिन यह वचन कौन दे सकता है?

एक बहुत अदभुत घटना महाभारत में है। सुबह है एक दिन, भीम और युधिष्ठिर अपने घर के बाहर बैठे हैं, और एक भिखारी भीख मांगने आ गया, और युधिष्ठिर ने उससे कहा कि तुम कल आ जाना। अभी थोड़ा काम में हूं, अच्छा हो कि कल आ जाओ।

भिखारी चला गया। भीम बैठकर यह सुनता था। उसने पास में पड़ा हुआ ढोल उठा लिया और बजाता हुआ और गांव की तरफ भागा। युधिष्ठिर ने कहा, यह क्या कर रहे हो? तो उसने कहा, समय न चूक जाए मैं गांव में खबर कर दूं कि मेरे भाई ने कल के लिए वचन दिया है, मेरा भाई समय का मालिक हो गया। मुझे पता नहीं था कि तुम समय के मालिक हो गए हो। तुम कल बचोगे, पक्का है? कल यह भिखारी बचेगा, पक्का है? कल तुम दोनों मिल सकोगे, यह पक्का है? तुमने समय को जीत लिया, मैं जाऊं गांव में खबर कर दूं। क्योंकि मुझे कुछ भरोसा नहीं कि अगर घड़ी-दो घड़ी चूका तो मैं बचूंगा कि नहीं। इसलिए मैं ढोल लेकर दौड़ता हूं। युधिष्ठिर ने कहा ठहरो, मुझसे भूल हो गई। यह वचन तो केवल वे ही दे सकते हैं जो परम स्वतंत्र हैं, भिखारी को वापिस बुला लो। जो मुझे देना है, आज ही दे दूं, कल का कोई भरोसा नहीं है।

लेकिन कृष्ण कल का वायदा नहीं कर रहे हैं, बड़ा लंबा वायदा है। वायदा यह है कि जब भी, तब मैं आ जाऊंगा। यह कोई कैदी नहीं कर सकता वायदा। एक कारागृह में हम किसी कैदी को डाल दें, वह वायदा नहीं कर सकता। यह वायदा तो परम

स्वतंत्रता ही कर सकती है कि मैं आ जाऊंगा। कोई जंजीरें नहीं हैं। लेकिन ध्यान रहे यह परिस्थितियों के कारण नहीं आना है, यह स्वतंत्र चेतना के कारण यह वायदा है।

इस फर्क को ठीक से समझ लेना।

इस वायदे में भी कृष्ण की सिर्फ इतनी ही सूचना है कि समय से, परिस्थितियों से मेरा कोई बंधन नहीं है। मैं स्वतंत्र हूं। यह स्वतंत्रता की ही घोषणा है। लेकिन कई बार घोषणाएं बड़ी उलटी होती हैं; तब हम बड़ी कठिनाई में पड़ जाते हैं। हम सोचते हैं, कृष्ण को भी आना पड़ेगा। जैसे पानी को गर्म करते हैं तो सौ डिग्री पर उसे भाप बनना पड़ता है। अगर पानी किसी दिन मुझसे कहे, मत घबड़ाओ, अगर गर्मी कम होगी तो नब्बे डिग्री पर भी भाप बन जाऊंगा, तो उस दिन समझना कि पानी स्वतंत्र हो गया, अब कोई सौ डिग्री का बंधन न रहा। ऐसे आश्वासन परिपूर्ण स्वतंत्रता के बोध से निकलते हैं। जहां परतंत्रता बिलकुल गिर गई है, वहां से ऐसे फूल खिल जाते हैं स्वतंत्रता के, आश्वासन के; अन्यथा नहीं खिलते।

नहीं, कोई कृष्ण जैसा व्यक्ति आपके कारण नहीं आता है, अपने कारण आता है। हम सब बंधे हुए चलते हैं।

'भगवान श्री, एक 'कंडीशन' उन्होंने रखी है—'परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्...'; उसका क्या अर्थ है?'

* 'साधुओं की रक्षा के लिए और दुष्टों के अंत के लिए मैं आऊंगा।' ठीक है।

दोनों का एक ही मतलब है। दुष्टों के अंत के लिए का भी वही मतलब है। दुष्ट का अंत कब होता है, यह थोड़ा समझने जैसा है।

दुष्ट का अंत कब होता है? मार डालने से? मार डालने से दुष्ट का अंत नहीं होता। क्योंकि कृष्ण भलीभांति जानते हैं कि मारने से कुछ मरता नहीं। दुष्ट का अंत तभी होता है जब उसे साधु बनाया जा सके, और कोई उपाय नहीं। मारने से दुष्ट का अंत नहीं होता। इससे सिर्फ दुष्ट का शरीर बदल जाएगा, और कोई फर्क नहीं पड़ने वाला। दुष्ट का अंत एक ही स्थिति में होता है, जब वह साधु हो जाए। और बड़े मजे की बात है कि दूसरी बात उन्होंने कही कि साधुओं की रक्षा के लिए। साधुओं की रक्षा की जरूरत तभी पड़ती है जब वे दिखावटी साधु रह जाएं, अन्यथा नहीं पड़ती। एक साधु की रक्षा की क्या जरूरत होगी? साधु को भी रक्षा की जरूरत पड़ेगी तो फिर तो बहुत मुश्किल हो जाएगा। साधुओं की रक्षा के लिए आऊंगा, इसका मतलब है, जिस दिन साधु झूठे साधु होंगे, असाधु होंगे, उस दिन मैं आऊंगा। सिर्फ असाधु के लिए ही रक्षा की जरूरत पड़ सकती है, जो दिखाई पड़ता हो साधु हो। अन्यथा साधु को क्या रक्षा की जरूरत हो सकती है? और कृष्ण आएंगे भी तो साधु कहेंगे, आप नाहक मेहनत न करें, हम अपनी असुरक्षा में भी सुरक्षित हैं। साधु का मतलब ही यह होता, 'सिक्योर इन हिज इनसिक्योरिटी'। अपनी असुरक्षा में जो सुरक्षित है, उसी का नाम साधु है। अपने खतरे में भी जो 'एट ईज' है, उसी का नाम साधु है। साधु का मतलब ही यही है कि जिसके लिए अब कोई असुरक्षा न रही, जिसके लिए कोई 'इनसिक्योरिटी' न रही। कृष्ण को क्या जरूरत होगी उसको बचाने की?

यह वचन बहुत मजेदार है, इसमें कृष्ण यह कहते हैं कि साधुओं को बचाने आना पड़ेगा। जिस दिन साधु साधु नहीं होगा, असाधु ही साधु दिखाई पड़ेंगे, उस दिन बचाने आना पड़ेगा और उसी दिन दुष्टों को भी बदलने की जरूरत पड़ेगी। नहीं तो यह काम तो साधु भी कर ले सकते हैं, इसके लिए कृष्ण की क्या जरूरत है? कृष्ण की जरूरत उसी दिन पड़ सकती है। दुष्ट को मारने का काम तो कोई भी कर ले सकता है। हम सभी करते हैं, अदालतें करती हैं, दंड करता है, कानून करता है, यह सब दुष्टों को मारने का काम है; दुष्टों को बदलने का काम, 'ट्रांसफार्मेशन' का काम नहीं है। दुष्ट साधु बनाए जा सकें। लेकिन जिस दुनिया में साधु भी असाधु होगा, उस दुनिया में दुष्ट की क्या स्थिति होगी?

लेकिन इस वाक्य को भी बड़ा अजीब समझा गया है। साधु समझते हैं, हमारी रक्षा के लिए आएंगे। और जिसको अभी रक्षा की जरूरत है, वह साधु नहीं है। और दुष्ट समझते हैं कि हमें मारने के लिए आएंगे। दुष्टों का समझना ठीक है क्योंकि दुष्ट दूसरे को मारने को उत्सुक और आतुर रहते हैं, उनको एक ही खयाल आ सकता है कि हमें मारने को। लेकिन कोई मारा तो जा नहीं सकता, वह वापिस लौटकर वही हो जाता है। वह नासमझी कृष्ण नहीं कर सकते।

'दुष्टों के विनाश के लिए'। दुष्ट का विनाश ऐसा होता है साधुता से। 'साधुओं की रक्षा के लिए'। साधुओं की रक्षा की जरूरत पड़ती है जब साधु सिर्फ 'एपियरेंस', दिखावा रह जाता है। भीतर उसकी कोई आत्मा साधुता की नहीं रह जाती। यह वचन बहुत अदभुत है।

लेकिन साधुजन बैठकर अपने मठों में इस पर विचार करते रहते हैं कि बड़ी अपने ऊपर कृपा है! जब दिक्कत आएगी तो जरूर आएंगे। दिक्कत, तो! और साधु अपने मन में इससे भी तृप्ति पाता है कि जो-जो हमें सता रहे हैं वे दुष्ट हैं। साधु की दुष्ट की यही परिभाषा होती है, कि जो-जो साधु को सता रहा है, वह दुष्ट है। जबकि साधु की आंतरिक व्यवस्था यह है कि जो उसे सताए, वह भी उसे मित्र मालूम होना चाहिए, दुष्ट नहीं मालूम होना चाहिए। अगर सताने वाला शत्रु मालूम पड़ने लगे, दुष्ट मालूम पड़ने लगे, तो यह जो सताया गया है साधु नहीं है। साधु का तो मतलब यह है कि जिसे अब शत्रु दिखाई नहीं पड़ता। उसे सताओ तो भी दिखाई नहीं पड़ता। तो साधु बैठकर सोचते रहते हैं—अर्थात असाधु बैठकर सोचते रहते हैं—कि हमारी रक्षा के लिए, और ये जो दुष्ट हमें सता रहे हैं इनके नाश के लिए वे आएंगे। इसलिए गीता के इस वचन का बड़ा पाठ चलता है। इस वचन पर बड़े मन से, भाव से लोग लगे रहते हैं।

लेकिन उन्हें पता नहीं कि यह वचन साधुओं के लिए बड़ी मजाक है। इस वचन में बड़ा व्यंग्य है। व्यंग्य गहरा है और ऊपर से एकदम दिखाई नहीं पड़ता है। कृष्ण जैसे लोग जब मजाक करते हैं तो गहरी ही करते हैं! कोई साधारण मजाक नहीं करेंगे, सदियां लग जाती हैं मजाक को समझने में। कहावत है कि अगर कोई मजाक कही जाए तो सुनने वाले लोग तीन किश्तों में हंसते हैं। पहले तो वे लोग हंसते हैं जो उसी वक्त समझ जाते हैं, दूसरे लोग इन हंसते हुए लोगों को देखकर हंसते हैं कि कुछ मामला हो गया। तीसरे लोग कुछ भी नहीं समझते। वे सिर्फ यह सोचकर कि कहीं हम नासमझ न समझे जाएं, सब हंस रहे हैं तो हमें हंस देना चाहिए। मजाक को समझने में भी वक्त लग जाता है। और कृष्ण जैसे लोग जब मजाक करते हैं तब तो बहुत वक्त लग जाता है। अब इस वचन में बड़ा व्यंग्य है, बड़ी मजाक है। गहरी मजाक है साधु के ऊपर। और वह मजाक यह है कि एक वक्त आएगा कि साधु को भी रक्षा की जरूरत पड़ेगी।

'भगवान श्री, पुराण-कथाओं के आधार पर पता चलता है कि कृष्ण ही राम का रूप लेकर आते हैं और राम ही कृष्ण का रूप लेकर आते हैं। ये दोनों व्यक्ति क्या एक ही हैं? इस संबंध में आप प्रकाश डालें।'

* इस संबंध को दो-तीन बातें समझने से समझा जा सकता है।

जगत की सृजन की जो प्रक्रिया है, उस प्रक्रिया में सदा से ही जिन्होंने खोज की है उन्होंने पाया कि वह प्रक्रिया तीन चीजों पर निर्भर है। वह 'थ्री फोल्ड' है। अभी विज्ञान ने भी जब खोज किया अणु की, तो उसने पाया कि अणु भी गहरे में तोड़ने पर तीन चीजों में टूट जाता है। वह जो अंतिम हमारी उपलब्धि है विज्ञान की, वह भी कहती है, 'इलेक्ट्रॉन', 'प्रोटॉन', और न्यूट्रॉन' में अणु टूट जाता है। जिन लोगों ने धर्म के जगत में बड़ी गहरी अंतर्दृष्टि पाई थी, उन्होंने भी जगत को तीन हिस्सों में तोड़कर देखा था। विष्णु उन्हीं तीन के एक हिस्से हैं।

ब्रह्मा, विष्णु, महेश, ये तीन शब्द धर्म के द्वारा जगत की सृजन-प्रक्रिया के तीन हिस्सों के नाम हैं। और इन तीनों के तीन अर्थ हैं। इसमें ब्रह्मा जन्मदाता, स्रष्टा, बनानेवाला, 'क्रिएटिव फोर्स' है। इसमें शंकर, शिव—महेश—विध्वंस, प्रलय, विनाश, अंत की शक्ति है। विष्णु इन दोनों के बीच में है—संस्थापक, चलानेवाला। मृत्यु है, जन्म है और बीच में फैला हुआ जीवन है। जिसकी शुरुआत हुई है, उसका अंत होगा। और शुरुआत और अंत के बीच में फैला हुआ जीवन है। जिसकी शुरुआत शिव के बीच की यात्रा हैं। ब्रह्मा की एक दफे जरूरत पड़ेगी सृजन के क्षण में। और शिव की एक बार जरूरत पड़ेगी विध्वंस के क्षण में। और विष्णु की जरूरत दोनों बिंदुओं के मध्य में। सृजन और विध्वंस, और दोनों के बीच में जीवन। जन्म और मृत्यु, और दोनों के बीच जीवन।

ये तीन जो नाम हैं, ब्रह्मा, विष्णु, महेश के, ये व्यक्तियों के नाम नहीं हैं। ये कोई व्यक्ति नहीं हैं, ये सिर्फ शक्तियों के नाम हैं। और जैसा मैंने कहा, सृजन की तो एक दिन जरूरत पड़ती है, फिर विध्वंस की एक दिन जरूरत पड़ती है, लेकिन बीच में जीवन

की जो जरूरत है, वह जीवन की जो ऊर्जा है, 'लाइफ एनर्जी', या जिसको बर्गसन ने 'एलान वाइटल' कहा है, वही विष्णु है। इसलिए इस देश के सभी अवतार विष्णु के अवतार हैं। असल में सभी अवतार विष्णु के ही होंगे। आप भी अवतार विष्णु के ही हैं। अवतरण ही विष्णु का होगा। जीवन का नाम विष्णु है। ऐसा न समझ लेना कि जो व्यक्ति राम था, वही व्यक्ति कृष्ण है। नहीं, जो ऊर्जा, जो 'एनर्जी', जो 'एलान वाइटल' राम में प्रगट हुआ था, वही कृष्ण में प्रगट है—और वही आप में भी प्रगट हो रहा है। और ऐसा नहीं है कि जो राम में प्रगट हुआ था वही रावण में प्रगट नहीं हो रहा है। हो तो वही प्रगट हो रहा है। वह जरा भटके हुए विष्णु हैं, और कोई बात नहीं है। वह जरा रास्ते से उतर गई जीवन-ऊर्जा है, और कोई बात नहीं है।

समस्त जीवन का नाम विष्णु है। समस्त अवतरण विष्णु का है। लेकिन भूल होती रही है, क्योंकि हम विष्णु को ही व्यक्ति बना लिए। राम एक व्यक्ति नहीं हैं। कृष्ण एक व्यक्ति हैं, विष्णु व्यक्ति नहीं हैं। विष्णु केवल शक्ति का नाम है।

लेकिन पुरानी सारी अंतर्दृष्टियां काव्य में प्रगट हुइ। इसलिए स्वभावतः काव्य प्रत्येक शक्ति को व्यक्तिवाची बना लेता है। बनाएगा ही अन्यथा बात नहीं हो सकती, और उससे बड़ी पहेलियां पैदा हो जाती हैं।

मैंने सुना है, एक आदमी मर रहा है। वह मरणशैया पर पड़ा है। वह ईसाई है और चर्च का पादरी उसे आखिरी प्रायश्चित्त कराने आया है, 'रिपेंटेंस' कराने आया है। नियमानुसार उस मरते हुए आदमी से उस पुरोहित ने पूछा, 'डू यू बिलीव इन गॉड दि फादर?' वह आदमी चुप रहा। फिर दुबारा उससे पूछा कि 'डू यू बिलीव इन गॉड दि सन?' वह आदमी फिर भी चुप रहा। फिर उस पुरोहित ने पूछा कि 'एंड डू यू बिलीव इन गॉड दि होली घोस्ट?' ये ईसाइयों के तीन नाम हैं। गॉड, सन, होली घोस्ट। परमात्मा, पुत्र और पवित्र आत्मा। ये उनके तीन नाम हैं। तो उसने पूछा कि क्या तुम पितारूपी परमात्मा में विश्वास करते हो? क्या तुम पुत्ररूपी परमात्मा में विश्वास करते हो? क्या तुम पवित्र आत्मारूपी परमात्मा में विश्वास करते हो? उस मरते हुए आदमी ने अपने आसपास खड़े हुए लोगों से कहा, 'लुक, हियर आय एक डाइंग एंड दिस फेलो इज आस्किंग मी पर्ज़ल्स!' इधर तो मैं मर रहा हूं, और यह सज्जन पहेलियां पूछ रहे हैं! स्वभावतः, उस मरते हुए आदमी को ये पहेलियां थीं। मरते हुए आदमी को ही पहेलियां नहीं हैं, हम जीवित आदमियों को भी बड़ी-से-बड़ी पहेली जीवन की पहेली है।

क्या है यह जीवन? कैसे जन्मता, कैसे चलता, कैसे समाप्त होता? क्या है इसकी ऊर्जा? जो इसे फैलाती, चलाती, सिकोड़ती, विदा करवा देती। विज्ञान वैज्ञानिक ढंग के नाम देता है। वह कहता है, 'इलेक्ट्रॉन' हैं, 'प्रोटॉन' हैं, 'न्यूट्रॉन' हैं। ये तीन भी बड़े मजे के शब्द हैं। इनमें एक विधायक शक्ति का नाम है, 'प्रोट्रॉन'। 'पॉजिटिव इलेक्ट्रॉन', विधायक विद्युत। कहना चाहिए ब्रह्मा। दूसरा शब्द है, 'इलेक्ट्रॉन'। वह 'निगेटिव इलेक्ट्रिसिटी', निषेधात्मक विद्युत। कहना चाहिए, शिव, शंकर। और तीसरा है 'न्यूट्रॉन' जो दोनों के बीच डोलता और जोड़ता है। कहना चाहिए, विष्णु। वह सिर्फ भाषा एक विज्ञान की है, एक धर्म की है, उससे ज्यादा फर्क नहीं है। सारा जीवन विष्णु का अवतरण है। फूल खिलते हैं तो विष्णु खिलते हैं, हवाएं बहती हैं तो विष्णु बहते हैं। नदियां दौड़ती हैं तो विष्णु दौड़ते हैं। वृक्ष बड़े होते हैं तो विष्णु बड़े होते हैं। आदमी जन्मता है, बढ़ता है, जीता है, तो विष्णु। सब घड़ियां मृत्यु की शंकर की हैं। जब आदमी मरता है, तब विष्णु 'चार्ज' सौंप देते हैं, तत्काल। वह शंकर के हाथ में चला जाता है मामला। इसीलिए तो शंकर को कोई अपनी लड़की देने को राजी नहीं होता था। मृत्यु के हाथों में कौन लड़की को दे! विध्वंस के हाथों में कौन स्त्री को दे, जो कि मूलतः सृजन की धारा है।

विष्णु के अवतार का मतलब यह नहीं है कि विष्णु नाम के व्यक्ति राम में हुए, फिर कृष्ण में हुए, फिर किसी और में हुए। नहीं, विष्णु नाम की ऊर्जा राम में उतरी, कृष्ण में उतरी, सब में उतरती है, उतरती रहेगी। शंकर नाम की ऊर्जा है, उसे विदा देती रहेगी। इस तरह समझेंगे तो बात सीधी और साफ समझ में आ सकती है। फिर पहेली नहीं रह जाती, फिर पहेली नहीं है।

जीवन में कोई भी चीज निर्माण करनी हो तो जो न्यूनतम संख्या है, वह तीन है। इससे न्यून संख्या से काम नहीं चलेगा। दो से काम नहीं चलेगा। एक से तो चल ही नहीं सकता। एक तो बिलकुल एकरूप हो जाएगा सब। एक रंग, एकरस हो जाएगा। सब वैविध्य खो जाएगा। दो भी काफी नहीं है क्योंकि दो को जोड़ने के लिए सदा तीसरे की जरूरत पड़ेगी। अन्यथा वे अजुड़े रह जाएंगे, अनजुड़े रह जाएंगे, अलग-अलग रह जाएंगे। न्यूनतम जो संभावना है जगत की, विकास की, वह तीन से शुरू होती है। तीन से ज्यादा हो सकता है, तीन से कम करना मुश्किल पड़ेगा। लेकिन वे तीन भी एक की ही शक्लें हैं। इसलिए हमने त्रिमूर्ति बनाई। इसलिए हमने इन देवताओं को अलग-अलग नहीं रखा। क्योंकि अलग-अलग रखने से भूल हो जाती है। क्योंकि अगर ये तीन

देवता अलग हों, तो फिर इनको जोड़ने की जरूरत पड़ जाएगी, और यह अंतहीन, 'इनफिनिट रिग्रेस' हो जाएगी। इसमें कोई हिसाब लगाना मुश्किल हो जाएगा कि कहां रुकें। इसलिए ये तीन चेहरे एक ही ऊर्जा के, एक ही 'एलान वाइटल' के, एक ही जीवन-शक्ति के तीन चेहरे हैं। वही जन्म लेता, वही चलाता, वही विदा करता है। लेकिन, 'ऑफिशियली' तीन हिस्सों में हम बांटते हैं। वे तीन हिस्से जो हैं, 'ऑफिशियल डिवीजन' हैं। वह सिर्फ काम का बंटवारा है, 'डिवीजन आफ लेबर' है। जीवन-ऊर्जा तीन हिस्सों में बंटकर सारे जगत का विस्तार करती है।

'श्रीकृष्ण की लीलाएं अनुकरणीय हैं या चिंतनीय? जो अनुकरण करने जाएगा, वह पतित नहीं होगा?'

* डरे हुए आदमियों को कृष्ण से जरा दूर रहना चाहिए!...(सब तरफ हास्य)...ठीक सवाल पूछते हैं।

अनुकरणीय कृष्ण तो क्या, कोई भी नहीं है। और ऐसा नहीं है कि कृष्ण का अनुकरण करने जाएगा, तो पतित होगा। किसी का भी अनुकरण करने जाएगा तो पतित होगा। अनुकरण ही पतन है। कृष्ण के संबंध में लेकिन हम विशेष रूप से पूछते हैं। महावीर के संबंध में नहीं पूछेंगे ऐसा, बुद्ध के संबंध में नहीं पूछेंगे, राम के संबंध में नहीं पूछेंगे ऐसा। कोई नहीं कह सकेगा कि राम का अनुकरण करने जाएंगे तो पतन हो जाएगा। अकेले कृष्ण पर यह सवाल क्यों उठता है? राम का तो हम अपने बच्चों को समझाएंगे कि अनुकरण करो। कृष्ण के मामले में कहेंगे, जरा सावधानी से चलना। इसीलिए तो, हमारा डरा हुआ मन!

लेकिन मैं आपसे कहता हूं, अनुकरण ही पतन है, किसी का भी अनुकरण पतन है। अनुकरण किया कि आप गए, आप खो गए। न तो कृष्ण अनुकरणीय हैं, न कोई और। वे सब चिंतनीय हैं, सब विचार करने योग्य हैं। बुद्ध भी, महावीर भी, क्राइस्ट भी, कृष्ण भी। और मजे की बात यह है कि बुद्ध पर विचार करने में इतनी कठिनाई न होगी। और न क्राइस्ट पर विचार करने में इतनी कठिनाई होगी। असली कठिनाई कृष्ण पर ही विचार करने में पैदा होगी। क्योंकि महावीर, बुद्ध या क्राइस्ट का जीवन विचार की पद्धतियों में समाया जा सकता है। उनके जीवन का ढंग मर्यादा है। उनके जीवन का ढंग सीमा है। कृष्ण का जीवन विचार में पूरा समा नहीं सकता। उनके जीवन का ढंग अमर्याद है, असीम है, उसको कहीं सीमा नहीं है। हमारी तो सीमा आ जाएगी, और वह हमसे कहेंगे, और आगे; वह हमसे कहेंगे, और आगे। हमारी तो जगह आ जाएगी जहां से आगे जाने में खतरा है, वह कहेंगे, और आगे।

लेकिन कृष्ण ही चिंतनीय बन जाते हैं इसलिए और भी ज्यादा। क्योंकि मेरी दृष्टि में वही चिंतनीय है जो अंततः चिंतन के पार ले जाए। चिंतन अंतिम बात नहीं है, चिंतन प्राथमिक चरण है। एक क्षण आना चाहिए जब चिंतन के ऊपर भी उठा जा सके। लेकिन चिंतन के ऊपर वही उठ आएगा जो चिंतन को डगमगा दे। और चिंतन के ऊपर वही उठ आएगा जो चिंतन को घबड़ा दे। और चिंतन के ऊपर वही उठ आएगा जो चिंतन में न समाए और चिंतन के बाहर चला जाए।

सभी चिंतनीय हैं। सभी सोचने योग्य हैं। अनुकरणीय तो सिर्फ आप ही हैं अपने लिए, और कोई नहीं। अपना अनुकरण करें, समझें सबको; अपने पीछे जाएंगे, किसी के पीछे न जाएं। समझें सबको, जाएं पीछे अपने।

लेकिन भय क्या है? कृष्ण के साथ सवाल क्यों उठता है? भय है। और भय यही है कि हमने अपनी जिंदगी को दमन की, 'सप्रेशन' की जिंदगी बना रखा है। हमारी जिंदगी जिंदगी कम, दबाव ज्यादा है। हमारी जिंदगी खालीपन नहीं है, 'फ्लावरिंग' नहीं है, कुंठा है। इसलिए डर लगता है कि अगर कृष्ण को हमने सोचा भी, तो कहीं ऐसा न हो कि जो हमने अपने में दबाया है, वह कहीं फूटकर बहने लगे। कहीं ऐसा न हो कि जो हमने अपने में रोका है, उसके रोकने के लिए जो हमने तर्क दिए हैं, वे टूट जाएं और गिर जाएं। कहीं ऐसा न हो कि हमने अपने भीतर ही अपनी बहुत-सी वृत्तियों को जो कारागृह में डाला है, वे बाहर निकल आएं, और वे कहें कि हमें बाहर आने दो। डर भीतर है। घबराहट भीतर है। लेकिन इसके लिए कृष्ण जिम्मेदार नहीं हैं। इसके लिए हम जिम्मेदार हैं। हमने अपने साथ यह दुर्व्यवहार किया है। हमने अपने साथ ही यह अनाचार किया है। हमने अपने पूरे व्यक्तित्व को कभी न जाना, न स्वीकार, न जिआ। हमने उसमें बहुत कुछ दबाया है। और थोड़ा-बहुत जीने की कोशिश की है।

हम ऐसे लोग हैं, जैसे कि सभी लोग होते हैं साधारणतः, अगर किसी के घर में जाएं तो वह अपने बैठकखाने को साज-संवारकर, ठीक करके रख देता है। यह ड्राइंग रूम की दुनिया अलग है। लेकिन किसी के ड्राइंग रूम को देखकर यह मत

समझ लेना कि यह उसका घर है। यह उसका घर है ही नहीं। न वह वहां खाना खाता, न वह वहां सोता, यहां वह सिर्फ मेहमानों का स्वागत करता है। यह सिर्फ चेहरा है जिसको वह दूसरों को दिखाता है। ड्राइंग रूम घर का हिस्सा नहीं है। ड्राइंग रूम घर से अलग बात है। इसलिए किसी का ड्राइंग रूम देखकर उसके घर का खयाल मत करना। उसका घर तो वहां है, जहां वह सोता है, लड़ता है, झगड़ता है, खाता है, पीता है, वहां उसका घर है। ड्राइंग रूम किसी का भी घर नहीं है। ड्राइंग रूम चेहरा है, 'मास्क' है, जो हम दूसरों को दिखाने के लिए बनाए हुए हैं। इसलिए ड्राइंग रूम जिंदगी की बात नहीं है। ऐसे ही हमने जिंदगी के साथ भी किया है। जिंदगी में हमने ड्राइंग रूम बनाए हैं, हमने चेहरे बनाए हैं, जो दूसरों को दिखाने के लिए हैं। वह हमारी असलियतें नहीं हैं, हमारा असली घर भीतर है—अंधेरे में डूबा हुआ, अचेतन में दबा हुआ। उसका हमें कोई पता भी नहीं है। हमने भी उसका पता लेना छोड़ दिया है। हम खुद भी डर गए हैं। यानी हम ऐसे आदमी हैं जो खुद भी अपने घर से डर गया है और वह ड्राइंग रूम में ही रहने लगा है। और खुद भी भीतर जाने में घबराता है। तो जिंदगी उथली हो ही जाएगी।

इससे कृष्ण से डर लगता है, क्योंकि कृष्ण पूरे घर में रहते हैं। और उन्होंने पूरे घर को बैठकखाना बना दिया है, और वह हर कोने से अतिथि का स्वागत करते हैं। जहां से भी आओ, वह कहते हैं, चलो यहीं बैठो। उनके पास बैठकखाना अलग नहीं है। उनकी पूरी जिंदगी खुली हुई है। उसमें जो है, वह है। उसका कोई इनकार नहीं, उसका कोई विरोध नहीं। उसको उन्होंने स्वीकार किया है। हम डरेंगे, हम हैं 'सप्रेसिव', हम हैं दमनकारी। हमने अपनी जिंदगी के निन्नयानबे प्रतिशत हिस्से को तो अंधेरे में ढकेल दिया है। और एक प्रतिशत को जी रहे हैं। वह निन्नयानबे प्रतिशत पूरे वक्त धक्के मार रहा है कि मुझे मौका दो जीने का। वह लड़ रहा है, वह संघर्ष कर रहा है, सपनों में टूट रहा है। जागने में भी टूट पड़ता है। रोज-रोज टूटता है, हम फिर उसे धक्का देकर पीछे कर आते हैं। जिंदगी भर इसी संघर्ष में बीत जाती है, उसको धकाते हैं, पीछे करते हैं। अपने से ही लड़ने में आदमी हार जाता है और समाप्त हो जाता है। इससे डर है कि अगर कृष्ण को समझा—यह बिना बैठकखाने का आदमी, यह बिना चेहरे का आदमी, इसकी पूरी जिंदगी एक जैसी है, सब तरफ से द्वार खोल रखे हैं इसने, कहीं से भी आओ स्वागत है, कुछ दबाया नहीं, अंधेरे को भी स्वीकार करता है, उजाले को भी स्वीकार करता है, कहीं इसे देखकर हमारी आत्मा बगावत न कर दे हमारे दमन से। कहीं हम ही अपने खिलाफ बगावत न कर दें। वह जो हमने इंतजाम किया है कहीं टूट न जाए, इसलिए डर है।

लेकिन यह डर भी विचारना।

यह डर कृष्ण के कारण नहीं है, यह हम जिस ढंग से जी रहे हैं उसके कारण है। अगर सीधा-साफ आदमी है और जिंदगी को सरलता से जीआ है, वह कृष्ण से नहीं डरेगा। डरने का कोई कारण नहीं है। जिंदगी में अगर कुछ भी नहीं दबाया है, कृष्ण से नहीं डरेगा। डरने का कोई कारण नहीं है। हमारे डर को भी हमें समझना चाहिए कि हम क्यों डर रहे हैं? और अगर हम डर रहे हैं, तो यह हमारी रुग्ण-अवस्था है, यह हम बीमार हैं। यह हम विक्षिप्त हैं और हमें इस स्थिति को बदलने की कोशिश करनी चाहिए। इसलिए कृष्ण तो बहुत विचारणीय हैं। लेकिन हम कहेंगे कि हम तो अच्छी-अच्छी बातों पर विचार करते हैं। क्योंकि अच्छी-अच्छी बातें हमें अपने को दबाने में सहयोगी बनती हैं। हम तो बुद्ध का वचन पढ़ते हैं जिसमें कहा है कि क्रोध मत करना। हम तो जीसस का वचन पढ़ते हैं जिसमें कहा है, शत्रु को भी प्रेम करना। हम कृष्ण से तो डरते हैं। यह डर! इस डर का तीर किस तरफ है? कृष्ण की तरफ कि अपनी तरफ?

और अगर कृष्ण से डर लगता है तब तो बड़ा अच्छा है। कृष्ण आपके काम पड़ सकते हैं। आपको खोलने में, उघाड़ने में, आपको नग्न करने में, आपको स्पष्ट-सीधा करने में काम पड़ सकते हैं। उनका उपयोग कर लें—उनको आने दें, उनको विचारें, बचें मत, भागें मत। उनके आमने-सामने खड़े हो जाएं। 'एनकाउंटर' होने दें। यह मुठभेड़ अच्छी होगी। इसमें अनुकरण नहीं करना है उनका। इसमें समझना ही है उनको। उनको समझने में ही आप अपने को समझने में बड़े सफल हो जाएंगे। उनको समझते-समझते ही आप अपने को भी समझ पाएंगे। उनको समझते-ही-समझते हो सकता है आप खुद अपने को समझने में अदभुत साक्षात्कार को उपलब्ध हो जाएं और जान पाएं कि यह तो मैं भी हूं, यही तो मैं हूं।

एक मित्र मेरे पास आए, और उन्होंने कहा, कृष्ण की सोलह हजार स्त्रियां थीं, क्या आप इसमें भरोसा करते हैं? मैंने कहा कि छोड़ो इसे, मैं तुमसे पूछता हूं कि तुम्हारे मन में सोलह हजार से कम स्त्रियां तृप्ति दे सकती हैं? उन्होंने कहा, क्या कहते हैं आप? मैंने कहा, यह कृष्ण की सोलह हजार स्त्रियां थीं या नहीं, सवाल बड़ा नहीं है, कोई पुरुष सोलह हजार स्त्रियों से कम पर

राजी नहीं है। कृष्ण की सोलह हजार स्त्रियां थीं अगर ऐसा पक्का हो जाए तो वह हमारे भीतर का जो पुरुष है वह घोषणा करेगा, तो फिर देर क्यों कर रहे हो? उससे हमें डर है। वह भीतर बैठा हुआ पुरुष हमें डरा रहा है। लेकिन उससे डरकर, भागकर, बचकर कुछ भी हो नहीं सकता है। उसका सामना करना पड़ेगा, समझना पड़ेगा।

इस संबंध में और भी बात कल कर सकेंगे।

...वर्षा आती है तो ध्यान में आनंद आएगा।

6 जीवन के बृहत् जोड़ के प्रतीक कृष्ण

'श्रीकृष्ण के गर्भाधान व जन्म की विशेषताओं व रहस्यों पर सविस्तार प्रकाश डालने की कृपा करें। और क्राइस्ट की जन्म-स्थितियों से साम्य हो तो उसे भी स्पष्ट करें।'

* कृष्ण का जन्म हो, या किसी और का जन्म हो, जन्म की स्थिति में भेद नहीं है। इसे थोड़ा समझना जरूरी है। लेकिन सदा से हम भेद देखते आए हैं। वह कुछ प्रतीकों को न समझने के कारण।

कृष्ण का जन्म होता है अंधेरी रात में, अमावस में। सभी का जन्म अंधेरी रात में होता है और अमावस में होता है। जन्म तो अंधेरे में ही होता है। असल में जगत की कोई भी चीज उजाले में नहीं जन्मती, सब कुछ जन्म अंधेरे में ही होता है। एक बीज भी फूटता है तो जमीन के अंधेरे में जन्मता है। फूल खिलते हैं प्रकाश में, जन्म अंधेरे में होता है।

असल में जन्म की प्रक्रिया इतनी रहस्यपूर्ण है कि अंधेरे में ही हो सकती है। आपके भीतर भी जिन चीजों का जन्म होता है वे सब गहरे अंधकार में जन्मती है। बहुत 'अनकांशस डार्कनेस' में पैदा होती है। एक चित्र का जन्म होता है, तो मन की बहुत अतल गहराइयों में जहां कोई रोशनी नहीं पहुंचती जगत की, वहां होता है। समाधि का जन्म होता है, ध्यान का जन्म होता है, तो सब गहन अंधकार में। गहन अंधकार से अर्थ है, जहां बुद्धि का प्रकाश जरा भी नहीं पहुंचता। जहां सोच-समझ में कुछ भी नहीं आता, हाथ को हाथ नहीं सूझता है।

कृष्ण का जन्म जिस रात में हुआ, कहानी कहती है कि हाथ को हाथ नहीं सूझता था, इतना गहन अंधकार था। लेकिन कब कोई चीज जन्मती है जो अंधकार में न जन्मती हो! इसमें विशेषता खोजने की जरूरत नहीं है। यह जन्म की सामान्य प्रक्रिया है।

दूसरी बात कृष्ण के जन्म के साथ जुड़ी है—बंधन में जन्म होता है; कारागृह में। किस का जन्म है जो बंधन और कारागृह में नहीं होता है? हम सभी कारागृह में जन्मते हैं। हो सकता है कि मरते वक्त तक हम कारागृह से मुक्त हो जाएं, जरूरी नहीं है। हो सकता है हम मरें भी कारागृह में। जन्म एक बंधन में लाता है, सीमा में लाता है। शरीर में आना ही बड़े बंधन में आ जाना है, बड़े कारागृह में आ जाना है। जब भी कोई आत्मा जन्म लेती है तो कारागृह में जन्म लेती है।

लेकिन इस प्रतीक को ठीक से नहीं समझा गया। इस बहुत काव्यात्मक बात को ऐतिहासिक घटना समझकर बड़ी भूल हो गई। सभी जन्म कारागृह में होते हैं; सभी मृत्युएं कारागृह में नहीं होतीं। कुछ मृत्युएं मुक्ति में होती हैं। कुछ; अधिक कारागृह में होती हैं। जन्म तो बंधन में होगा, मरते क्षण तक अगर हम बंधन से छूट जाएं, टूट जाएं सारे कारागृह, तो जीवन की यात्रा सफल हो गई।

कृष्ण के जन्म के साथ एक और तीसरी बात जुड़ी है और वह यह है कि जन्म के साथ ही उनके मरने का डर है। उन्हें मारे जाने की धमकी है। किस को नहीं है? जन्म के साथ ही मरने की घटना संभावी हो जाती है। जन्म के बाद—एक पल बाद भी मृत्यु घटित हो सकती है। जन्म के बाद प्रतिपल मृत्यु संभावी है। किसी भी क्षण मौत घट सकती है। मौत के लिए एक ही शर्त जरूरी है, वह जन्म है। और कोई शर्त जरूरी नहीं है। जन्म के बाद एक पल जिआ हुआ बालक भी मरने के लिए उतना ही योग्य हो जाता है जितना सत्तर साल जिआ हुआ आदमी होता है। मरने के लिए और कोई योग्यता नहीं चाहिए, जन्म भर चाहिए। कृष्ण के जन्म के साथ ही मौत की धमकी है, मरने का भय है। सबके जन्म के साथ वही है। जन्म के बाद हम मरने के अतिरिक्त और करते ही क्या हैं? जन्म के बाद हम रोज-रोज मरते ही तो हैं। जिसे हम जीवन कहते हैं, वह मरने की लंबी यात्रा ही तो है। जन्म से शुरू होती है, मौत पर पूरी हो जाती है।

लेकिन कृष्ण के जन्म के साथ एक चौथी बात भी जुड़ी है कि मरने की बहुत तरह की घटनाएं आती हैं, लेकिन वे सबसे बचकर निकल जाते हैं। जो भी उन्हें मारने आता है वही मर जाता है। कहें कि मौत ही उनके लिए मर जाती है। मौत सब उपाय करती है और बेकार हो जाती है। उसका भी बड़ा मतलब है। हमारे साथ ऐसा नहीं होता। मौत पहले ही हमले में हमें ले जाएगी। हम पहले हमले से ही न बच पाएंगे। क्योंकि सच तो यह है कि करीब-करीब मरे हुए लोग हैं, जरा-सा धक्का और मर जाएंगे। जिंदगी का हमें कोई पता भी तो नहीं है। उस जीवन का हमें कोई पता ही नहीं है जिसके दरवाजे पर मौत सदा हार जाती है।

कृष्ण ऐसी जिंदगी हैं जिस दरवाजे पर मौत बहुत रूपों में आती है और हारकर लौट जाती है। बहुत रूपों में। वे सब रूपों की कथाएं हमें पता हैं कि कितने रूपों में मौत घेरती है और हार जाती है। लेकिन कभी हमें खयाल नहीं आया कि इन कथाओं को हम गहरे में समझने की कोशिश करें। सत्य सिर्फ उन कथाओं में एक है, और वह यह है कि कृष्ण जीवन की तरफ रोज जीतते चले जाते हैं और मौत रोज हारती चली जाती है। मौत की धमकी एक दिन समाप्त हो जाती है। जिन-जिन ने चाहा है, जिस-जिस ढंग से चाहा है कृष्ण मर जाएं, वे-वे ढंग असफल हो जाते हैं और कृष्ण जिए ही चले जाते हैं। इसका मतलब है। इसका मतलब है, मौत पर जीवन की जीत। लेकिन ये बातें इतनी सीधी, जैसा मैं कह रहा हूं, कही नहीं गई हैं। इतने सीधे कहने का पुराने आदमी के पास उपाय नहीं था। इसे भी थोड़ा समझ लेना जरूरी है।

जितना पुरानी दुनिया में हम वापस लौटेंगे, उतना ही चिंतन का जो ढंग है वह 'पिक्टोरिअल' होता है, चित्रात्मक होता है, शब्दात्मक नहीं होता। अभी भी रात आप सपना देखते हैं, कभी आपने खयाल किया कि सपनों में शब्दों का उपयोग करते हैं कि चित्रों का? सपनों में शब्दों का उपयोग नहीं होता, चित्रों का उपयोग होता है। क्योंकि सपने हमारे आदिम भाषा हैं, 'प्रिमिटिव लैंग्वेज' हैं। सपने के मामले में हममें और आज से दस हजार साल पहले के आदमी में कोई फर्क नहीं पड़ा है। सपने अभी भी पुराने हैं, 'प्रिमिटिव' हैं, अभी भी सपना आधुनिक नहीं हो पाया। अभी भी कोई आदमी आधुनिक सपना नहीं देखता है। अभी भी सपने तो वही हैं जो दस हजार साल, दस लाख साल पुराने थे। गुहा-मानव ने गुफा में सोकर रात में जो सपने देखे होंगे, वही 'एयरकंडीशंड' मकान में भी देखे जाते हैं। बस, कोई और फर्क नहीं पड़ा है। सपने की खूबी है कि उसकी सारी अभिव्यक्ति चित्रों में है।

अगर एक आदमी बहुत महत्वाकांक्षी है तो सपने में महत्वाकांक्षा को वह क्या करेगा? चित्र बनाएगा। हो सकता है उसके पंख लग जाएं और वह आकाश में उड़ जाए। सभी महत्वाकांक्षी लोग उड़ने का सपना देखेंगे, 'एम्बीशस माइंड' उड़ने का सपना देखेगा। उड़ने का मतलब है सब के ऊपर हो जाना। उड़ने का मतलब है कि कोई सीमा न रही ऊपर उठने की। जितना चाहो, उठ सकते हो। पहाड़ नीचे छूट जाते हैं, आदमी नीचे छूट जाते हैं, चांद-तारे नीचे छूट जाते हैं और आदमी ऊपर उठता चला जाता है। महत्वाकांक्षा शब्द का उपयोग सपने में नहीं होगा। उड़ने के चित्र का उपयोग होगा। इसलिए तो हम अपने सपने समझने में असमर्थ हो गए हैं। क्योंकि दिन में हम जो भाषा बोलते हैं, वह शब्दों की है, रात जो सपना देखते हैं, वह चित्रों का है। दिन में जो भाषा बोलते हैं वह बीसवीं सदी की है, रात जो सपना देखते हैं, वह आदिम है। इन दोनों के बीच लाखों साल का फासला है। इसलिए सपना क्या कहता है, यह हम नहीं समझ पाते।

जितना पुरानी दुनिया में हम लौटेंगे—और कृष्ण बहुत पुराने हैं, इस अर्थों में पुराने हैं कि आदमी जब चिंतन शुरू कर रहा है, आदमी जब सोच रहा है जगत और जीवन के बाबत, अभी जब शब्द नहीं बने हैं और जब प्रतीकों में, चित्रों में सारा-का-सारा कहा जाता है और समझा जाता है, तब कृष्ण के जीवन की घटनाएं लिखी गई हैं। उन घटनाओं को 'डिकोड' करना पड़ता है। उन घटनाओं को चित्रों से तोड़कर शब्दों में लाना पड़ता है। इसलिए ध्यान रहे कि क्राइस्ट का जीवन भी करीब-करीब कृष्ण जैसा ही शुरू होता है। उसमें बहुत फर्क नहीं है। इसलिए बहुत लोगों को यहां तक भ्रम पैदा हो गया था—अभी भी कुछ लोगों को है—कि क्राइस्ट हुए ही नहीं, यह कृष्ण की ही कथा है जो यात्रा करके और जेरूसलम तक पहुंच गई है। क्योंकि जन्म की कथा में बड़ा साम्य है। अंधेरी रात में, मृत्यु के भय से घिरे हुए, जीसस का जन्म होता है। यहां कंस धमकी दे रहा है कृष्ण की मृत्यु की। वहां हिरोद सम्राट जीसस को हत्या की धमकी दे रहा है। यहां कंस ने बच्चे कटवा डाले हैं कि उसका मानने वाला पैदा न हो जाए, वहां हिरोद ने बच्चे कटवा डाले हैं कि उसका मारने वाला पैदा न हो जाए।

नहीं, लेकिन कृष्ण की कहानी क्राइस्ट की कहानी नहीं है। जीसस अलग ही व्यक्ति हैं, अलग ही उनकी यात्रा है। लेकिन प्रतीक दोनों समान हैं। और प्रतीक इसलिए दोनों समान हैं कि 'प्रिमिटिव माइंड' एकदम समान होता है। यह आपसे कहने जैसी बात है कि चाहे अंग्रेज सपना देखे और चाहे चीनी सपना देखे और चाहे जापानी सपना देखे, सपने की भाषा एक है। हमारी बोलने की भाषाएं अलग हैं। 'मिथ', पुराण की भाषा एक है। तो जो प्रतीक पुराने मन में उठे थे कृष्ण के जन्म के साथ जुड़ गए, वे ही प्रतीक जीसस के जन्म के साथ जुड़ गए। लेकिन यह एक व्यक्ति होने का भ्रम और एक कारण से पैदा हुआ कि जीसस का नाम तो जीसस है, लेकिन बाद में उनके साथ जुड़ गया क्राइस्ट। 'क्राइस्ट' शब्द को कृष्ण शब्द का रूपांतर माना जा सकता है। मैं एक आदमी को जानता हूं, जिनका नाम क्रिष्टो बाबू है। मैंने उनसे पूछा कि यह कैसा नाम है? उन्होंने कहा, नाम तो मेरा कृष्ण है, लेकिन अंग्रेजी में लिखते-लिखते धीरे-धीरे क्रिष्टो हो गया। मैंने कहा, हद हो गई बात। मैंने उनसे कहा क्या आपको पता है कि कुछ लोगों का यह खयाल है कि कृष्ण शब्द ही 'क्राइस्ट' हो गया है? इसकी संभावना है।

जीसस तो अलग व्यक्ति हैं। लेकिन इस बात की संभावना है कि कृष्ण शब्द यात्रा करते-करते 'क्राइस्ट' हो गया हो। क्योंकि जीसस की 'क्राइस्ट' एक पदवी है, जैसे कि वर्द्धमान की पदवी महावीर है। वर्द्धमान घर का नाम है। बाद में जब वे ज्ञान को उपलब्ध हो गए तो महावीर नाम हो गया। बुद्ध घर का नाम नहीं है, गौतम सिद्धार्थ घर का नाम है। जब वे ज्ञान को उपलब्ध हुए तो बुद्ध हो गए। जीसस घर का नाम है। जब वे ज्ञान को उपलब्ध हुए तो क्राइस्ट हो गए। अब यह क्राइस्ट शब्द हो सकता है कि कृष्ण से ही गया हो, इसमें बहुत कठिनाई नहीं है। यह कहा जा सकता है। लेकिन, जीसस का व्यक्तित्व अलग व्यक्तित्व है। जन्म की घटनाओं में जरूर तालमेल है। दो व्यक्ति हैं, वे एक नहीं हैं। जन्म की घटनाओं का तालमेल एक ही व्यक्ति के जन्म के कारण नहीं है। जन्म की घटनाओं का तालमेल एक ही तरह के अचेतन मन में पैदा हुए प्रतीकों का है।

कार्ल गुस्ताव जुंग ने मनुष्य के मन के संबंध में एक बहुत अदभुत खोज की है, जिस खोज को वह 'आर्च टाइप' कहते हैं। वह कहते हैं, मनुष्य के गहरे मन में कुछ 'आर्च टाइप' हैं, कुछ मनुष्य के गहरे मन में बुनियादी प्रतीक हैं, जो सारी दुनिया में समान हैं। वे दोहराते रहते हैं। क्राइस्ट और कृष्ण की जन्म-कथा में वे ही प्रतीक दोहरे हैं। और मैंने जैसा कहा, इस जन्म को, इस जन्म की घटना को ठीक से समझें तो यह सभी के जन्म की घटना है।

और कृष्ण शब्द को भी थोड़ा समझना जरूरी है।

कृष्ण शब्द का अर्थ होता है, केंद्र। कृष्ण शब्द का अर्थ होता है, जो आकृष्ट करे, जो आकर्षित करे; 'सेंटर आफ ग्रेविटेशन', कशिश का केंद्र। कृष्ण शब्द का अर्थ होता है जिस पर सारी चीजें खिंचती हों। जो चुंबक का काम करे। प्रत्येक व्यक्ति का जन्म एक अर्थ में कृष्ण का जन्म है, क्योंकि हमारे भीतर जो आत्मा है, वह कशिश का केंद्र है। वह 'सेंटर आफ ग्रेविटेशन' है जिस पर सब चीजें खिंचती हैं और आकृष्ट होती हैं। शरीर खिंचकर उसके आसपास निर्मित होता है, परिवार खिंचकर उसके आसपास निर्मित होता है, समाज खिंचकर उसके आसपास निर्मित होता है, जगत खिंचकर उसके आसपास निर्मित होता है। वह जो हमारे भीतर कृष्ण का केंद्र है, आकर्षण का जो गहरा बिंदु है, उसके आसपास सब घटित होता है। तो जब भी कोई व्यक्ति जन्मता है, एक अर्थ में कृष्ण ही जन्मता है। वह जो बिंदु है आत्मा का, आकर्षण का, वह जन्मता है, और उसके बाद सब चीजें उसके आसपास निर्मित होनी शुरू होती हैं। उस कृष्ण-बिंदु के आसपास 'क्रिस्टलाइजेशन' शुरू होता है और व्यक्तित्व निर्मित होते हैं। इसलिए कृष्ण का जन्म एक व्यक्ति-विशेष का जन्मपात्र नहीं है, बल्कि व्यक्तिमात्र का जन्म है।

अंधेरे का, कारागृह का, मृत्यु के भय का अर्थ है। लेकिन, हमने कृष्ण के साथ उसे क्यों जोड़ा होगा? मैं यह नहीं कह रहा हूं कि जो कृष्ण की जिंदगी में घटना घटी होगी कारागृह में वह नहीं घटी है। मैं यह भी नहीं कह रहा हूं कि वह बंधन में पैदा हुए होंगे, वे नहीं हुए हैं। मैं इतना ही कह रहा हूं कि वे बंधन में पैदा हुए हों या न हुए हों, वे कारागृह में जन्मे हों या न जन्मे हों, लेकिन कृष्ण जैसा व्यक्ति जब हमें उपलब्ध हो गया तो हमने कृष्ण के व्यक्तित्व के साथ वह सब समाहित कर दिया है जो कि प्रत्येक आत्मा के जन्म के साथ समाहित है।

ध्यान रहे, महापुरुषों की कथाएं जन्म की हमसे उल्टी चलती हैं। साधारण आदमी के जीवन की कथा जन्म से शुरू होती है और मृत्यु पर पूरी होती है। उसकी कथा में एक 'सिक्वेंस' होता है, जन्म से लेकर मृत्यु तक। महापुरुषों की कथाएं फिर से 'रिट्रास्पेक्टिवली' लिखी जाती हैं। महापुरुष पहचान में आते हैं बाद में। और उनकी जन्म की कथाएं फिर बाद में लिखी जाती हैं।

कृष्ण जैसा आदमी जब हमें दिखाई पड़ता है तब तो पैदा होने के बहुत बाद दिखाई पड़ता है। वर्षों बीत गए होते हैं उसे पैदा हुए। जब वह हमें दिखाई पड़ता है तब वह कोई चालीस-पचास साल की यात्रा कर चुका होता है। फिर इस महिमावान, इस अदभुत व्यक्ति के आसपास कथा निर्मित होती है। फिर हम चुनाव करते हैं इसकी जिंदगी का, फिर हम 'रीइंटरप्रीट' करते हैं, फिर से व्याख्याएं शुरू होती हैं। फिर से हम इसके पिछले जीवन में से घटनाएं चुनते हैं, घटनाओं का अर्थ देते हैं। इसलिए मैं आप से कहूं कि महापुरुषों की जिंदगी कभी भी ऐतिहासिक नहीं हो पाती है, सदा काव्यात्मक हो जाती है। पीछे लौटकर निर्मित होती है। पीछे लौटकर जब हम देखते हज तो हर चीज प्रतीक हो जाती है और दूसरे अर्थ ले लेती है। जो अर्थ घटित हुए क्षण में कभी भी न रहे होंगे। और फिर कृष्ण जैसे व्यक्तियों की जिंदगी एक बार नहीं लिखी जाती, हर सदी बार-बार लिखती है। हजारों लोग लिखते हैं। जब हजारों लोग लिखते हैं तो हजार व्याख्याएं होती चली जाती हैं। फिर धीरे-धीरे कृष्ण की जिंदगी किसी व्यक्ति की जिंदगी नहीं रह जाती। कृष्ण एक संस्था हो जाते हैं, एक 'इंस्टीटयूशन' हो जाते हैं। फिर वे समस्त जन्मों के सारभूत हो जाते हैं। फिर मनुष्य मात्र के जन्म की कथा उनके जन्म की कथा हो जाती है। इसलिए व्यक्तिवाची अर्थों में मैं कोई मूल्य नहीं मानता हूं। कृष्ण जैसे व्यक्ति व्यक्ति रह ही नहीं जाते। वे हमारे मानस के, हमारे चित्त के, हमारे 'कलेक्टिव माइंड' के प्रतीक हो जाते हैं। और हमारे चित्त ने जितने भी जन्म देखे हैं वे सब उनमें समाहित हो जाते हैं।
इसे ऐसा समझें—
एक बहुत बड़े चित्रकार ने एक स्त्री का चित्र बनाया—एक बहुत सुंदर स्त्री का चित्र। लोगों ने उससे पूछा कि यह कौन स्त्री है, जिसके आधार पर इस चित्र को बनाया है? उस चित्रकार ने कहा, यह किसी स्त्री का चित्र नहीं है। यह लाखों स्त्रियां जो मैंने देखी हैं, सब का सारभूत है। इसमें आंख किसी की है, नाक किसी की है, इसमें ओंठ किसी के हैं, इसमें रंग किसी का है, इसमें बाल किसी के हैं, ऐसी स्त्री खोजने से नहीं मिलेगी, ऐसी स्त्री सिर्फ चित्रकार देख पाता है। और इसलिए चित्रकार की स्त्री पर बहुत भरोसा मत करना, उसको खोजने मत निकल जाना, क्योंकि जो मिलेगी वह नहीं मिलेगी, साधारण स्त्री मिलेगी। इसलिए दुनिया बहुत कठिनाई में पड़ जाती है क्योंकि हम जिन स्त्रियों को खोजने जाते हैं वे कहीं हैं नहीं, वे चित्रकारों की स्त्रियां हैं, कवियों की स्त्रियां हैं, वे हजारों स्त्रियों का सारभूत हैं। वे इत्र हैं हजारों स्त्रियों का। वे कहीं मिलने वाली नहीं हैं। वे हजारों स्त्रियां मिल-जुल कर एक हो गई हैं। वह हजारों स्त्रियों के बीच में से खोजी गई धुन है।
तो जब कृष्ण जैसा व्यक्ति पैदा होता है, तो लाखों जन्मों में जो पाया गया है, उस सबका सारभूत उसमें समा जाता है। इसलिए उसे व्यक्तिवाची मत मानना। वह व्यक्तिवाची है भी नहीं। इसलिए अगर उसे कोई इतिहास में खोज करने जाएगा तो शायद कहीं भी न पाए। कृष्ण मनुष्य मात्र के जन्म के प्रतीक बन जाते हैं—एक विशेष मनुष्यता के, जो इस देश में पैदा हुई; इस देश की मनुष्यता ने जो अनुभव किया है वह उनमें समा जाता है। जीसस में समा जाता है किसी और देश का अनुभव, वह सब समाहित हो जाता है। हम अपने जन्म के साथ जन्मते हैं और अपनी मृत्यु के साथ मर जाते हैं। कृष्ण के प्रतीक में तो जुड़ता ही चला जाता है। अनंत काल तक जुड़ता चला जाता है। उस जोड़ में कभी कोई बाधा नहीं आती। हर युग उसमें जोड़ेगा, हर युग उसमें समृद्धि करेगा, क्योंकि और अनुभव इकट्ठे हो गए होंगे। और वह उस 'कलेक्टिव आर्च टाइप' में जुड़ते चले जाएंगे।
लेकिन मेरे लिए जो मतलब दिखाई पड़ता है, वह मैंने आपसे कहा। ये घटनाएं घट भी सकती हैं, ये घटनाएं न भी घटी हों। मेरे लिए घटनाओं का कोई मूल्य नहीं है। मेरे लिए मूल्य कृष्ण को समझने का है कि इस आदमी में ये घटनाएं कैसे हमने देखीं। और अगर इनको हम ठीक से देख सकें तो ये घटनाएं हमें अपने जन्म में भी दिखाई पड़ सकती हैं। और जिस व्यक्ति को अपने जन्म में कृष्ण के जन्म का तालमेल मिल जाए, हो सकता है वह अपनी मृत्यु तक पहुंचते-पहुंचते अपनी मृत्यु में भी कृष्ण की मृत्यु के तालमेल को उपलब्ध हो सके।

'भगवान, कल आपने कहा कि 'सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज', और कि ' मैं युग-युग में जन्म लेता हूं धर्म की संस्थापना के लिए, साधुओं के परित्राण और दुष्टों के विनाश के लिए', कृष्ण ने एक मजाक किया। मुझे ऐसा लगता है कि गीता का कृष्ण तो मजाक नहीं करता था। भागवत का कृष्ण शायद मजाक करता है। और हमने एक अजीब तरह का 'अनक्रिटिकल एटीच्यूड' अपनाकर गीता के कृष्ण व भागवत के कृष्ण को मिला लिया और उनको एक ही व्यक्ति मान

लिया—कि गीता वाले ने भी मजाक कर दिया। तो सोचना पड़ेगा कि गीता के कृष्ण के संबंध में हम कुछ कहें तो यह व्यक्ति एक है, जो हजार-दो हजार साल पहले एक व्यक्ति की कल्पना का कृष्ण है। भागवत का कृष्ण कोई और है। और उन दोनों को एक करके अगर हम तालमेल बिठाना चाहें तो कहीं-कहीं बात उल्टी पड़ेगी। गीता स्वयं भी इस तरह है कि शंकर उसमें कुछ और देख रहे हैं, लोकमान्य तिलक कुछ और देख रहे हैं, आप कुछ और अर्थ देख रहे हैं। तो सोचना यह होगा कि क्या गीता कृष्ण के जीवनदर्शन का प्रामाणिक संकलन है?'

* पहली बात तो यह, कि कल मैंने कहा कि साधुओं के परित्राण के लिए, और दुष्टों के विनाश के लिए, मैं आता रहूंगा, इसमें कृष्ण ने गहरी मजाक की है। इस संबंध में तो जो मैंने कहा था, कल मैंने आपसे कहा। लेकिन मैंने यह नहीं कहा कि 'सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज', इसमें कृष्ण ने मजाक की है, यह मैंने नहीं कहा। तो थोड़ा-सा इस संबंध में समझ लें, फिर और प्रश्न के आगे बढ़ें।

कृष्ण जब कहते हैं, सब धर्मों को छोड़कर तू मुझ एक की शरण में आ—सब धर्मों को छोड़कर। जगत में धर्म तो एक ही हो सकता है। लेकिन जो धर्मों को बहुत देख रहा है, वह बड़ी भ्रांति में पड़ेगा। सब धर्मों को छोड़कर, इसका अर्थ ही यही है कि विशेषणवाची जो भी धर्म हों उसे छोड़कर। अनेक को छोड़कर, तू मुझ एक की शरण में आ। कृष्ण यह भी कह सकते थे कि तू मेरी शरण में आ। लेकिन जो शब्द है, वह बहुत अदभुत; वह है, 'मामेकं शरणं व्रज'। मुझ एक की शरण में! माम् एकम्। यहां कृष्ण व्यक्ति की हैसियत से बोल ही नहीं रहे हैं, यहां तो धर्म की हैसियत से बोल रहे हैं। यहां तो वे धर्म ही हैं। सब धर्मों को छोड़कर धर्म की शरण में आ। अनेक को छोड़कर एक की शरण में आ। एक बात।

दूसरी बात, यहां वह यह बोल रहे हैं, मुझ एक की शरण में आ। अगर इसे बहुत गहरे में हम समझें, तो यह बहुत मजेदार बात है। मैं की शरण में आ, लेकिन जब मैं बोलता हूं मैं, तो मेरा मैं होता है। वह आपके लिए तू हो जाएगा, मैं नहीं रह जाएगा। आपके लिए मैं तो आपका ही मैं होगा, मेरा मैं नहीं हो सकता। अगर कृष्ण का यह अर्थ हो कि तू कृष्ण की शरण में आ, तो यह तो तू की शरण हो जाएगी, यह मैं की शरण न होगी। लेकिन कृष्ण का अगर यही अर्थ हो कि तू मेरी शरण में आ, तो अर्जुन का मैं कृष्ण नहीं है। अर्जुन का मैं, अर्जुन का मैं है। वह उसकी शरण में जाएगा। वह पूरा स्वधर्म की शरण में चला जाएगा।

यह कृष्ण ने मजाक में नहीं कहा है। वह वक्तव्य बहुत अदभुत है और गहरा है। और इसकी गहराइयों का कोई हिसाब नहीं है। मनुष्यों ने जितने भी वक्तव्य दिए हैं इस पृथ्वी पर, शायद ही कोई वक्तव्य इसकी गहराई को छूता हो। अनेक को छोड़कर एक की, तू को छोड़कर मैं की, विशेषणवाची धर्मों को छोड़कर धर्म की शरण में आ।

लेकिन इसमें और गहराइयां हैं।

अगर अर्जुन कहे कि मैं अपने ही मैं की शरण में जाऊंगा तब भी वह कृष्ण को नहीं समझा। क्योंकि शरण में जाने वाले को मैं छोड़ देना पड़ता है। शरण का अर्थ ही है कि मैं छूट जाए, समर्पण का अर्थ ही है कि मैं न बचे। अगर अर्जुन कहे कि मत्त अपने ही मैं की शरण में जाता हूं, तो भी नहीं समझ पाया बात को। शरण का अर्थ ही है कि जहां मैं न हो। शरण का अर्थ ही है कि मैं को छोड़कर आ। यह भी बड़ी कठिन बात और जटिल बात हो गई। अपनी ही शरण में आ, अपने को छोड़कर। धर्म की शरण में आ, धर्मों को छोड़कर। एक की शरण में आ, अनेक को छोड़कर। लेकिन जिसके पास एक भी बच रहेगा, उसके पास अनेक भी बच रहेगा। एक की हम कल्पना ही नहीं कर सकते अनेक के बिना। इसलिए जिसे एक की शरण में आना है, उसे एक को भी छोड़ देना पड़ेगा। संख्या ही छोड़ देनी पड़ेगी।

इसलिए बाद में जब यह खयाल में आया है कि एक शब्द भ्रांति पैदा कर सकता है, अनेक के खिलाफ एक शब्द भ्रांति पैदा कर सकता है, जब बाद में यह खयाल में आया, तो 'एक-वाद', हमने नहीं बनाया, फिर हम 'अद्वैत' की बात करने लगे। हमने कहा, एक की नहीं, दो की शरण में मत आ, दो से बच। फिर एक कहने में भी संकोच हुआ, क्योंकि डर हुआ कि एक पकड़ा जा सकता है। इसलिए एक नया शब्द गढ़ना पड़ा जो 'निगेटिव' है, नकारात्मक है—एक नहीं, 'अद्वैत'; दो नहीं, इतना ही ध्यान रखना कि दो न हों। और स्मरण रहे, अगर एक भी बचा तो दूसरा रहेगा, क्योंकि एक को जानना दूसरे के परिप्रेक्ष्य में ही, दूसरे के 'पर्सपेक्टिव' में ही संभव है। अगर मैं जान रहा हूं कि मैं हूं तो तू के बिना नहीं जान सकता हूं। नहीं तो मैं कहां शुरू होऊंगा

और कहां खत्म होऊंगा। तो जो भी जान रहा है मैं हूं, वह तू के विरोध में ही जान सकता है। तू रहेगा ही। तो ही मैं हो सकता हूं। अगर कोई कह रहा है, एक ही है सत्य, तो भी अभी उसका जोड़ बता रहा है कि उसे दूसरा दिखाई पड़ रहा है, जिसको वह इनकार कर रहा है। इसलिए इस वक्तव्य की बड़ी गहराइयां हैं।

पहला तो स्मरण रखें कि यह कृष्ण की शरण के लिए नहीं कहा गया है। यह अर्जुन को आत्मशरण होने के लिए कहा गया है। दूसरी बात खयाल रखें, यह अर्जुन के अहंकार की शरण के लिए नहीं कहा गया है। यह निरहंकार स्वभाव की शरण के लिए कहा गया है। तीसरी बात खयाल रखें कि यह धर्मों के त्याग के लिए कहा गया है और धर्मों के त्याग में कोई विशेष धर्म नहीं बचता है। सभी धर्मों के त्याग के लिए कहा गया है—सर्वधर्मान्। ऐसा नहीं कि हिंदू को बचा लेना, और बाकी को छोड़ देना। सबको छोड़ देना है। क्योंकि जब तक कोई किसी धर्म को पकड़े है, तब तक धर्म को उपलब्ध न हो सकेगा। जब तक कि कोई किसी धर्म को पकड़े हुए है तब तक उस निर्विशेष धर्म को कैसे उपलब्ध होगा जो किसी विशेषण में नहीं बंधता है। धर्म को छोड़ देना, धर्मों को छोड़ देना, विशेषण को छोड़ देना, कृष्ण को छोड़ देना, संख्या को छोड़ देना, मैं को छोड़ देना, अहंकार को छोड़ देना, फिर जो शेष रह जाए, वही धर्म है। यह मजाक में नहीं कहा गया है।

और दूसरी बात जो पूछी कि हम फर्क करें गीता के कृष्ण का और भागवत के कृष्ण का। जिन मित्र ने पूछी है, वे थोड़े बाद में आए; जो मैं पहले कहा हूं, उनके खयाल में नहीं है, थोड़ी-सी बात कहूं।

हमारा मन चाहेगा कि हम भेद करें। क्योंकि भागवत के कृष्ण में और गीता के कृष्ण में तालमेल बिठाना हमारी बुद्धि में नहीं पड़ सकेगा। वे बड़े अलग आदमी मालूम पड़ते हैं, अलग ही नहीं, विरोधी आदमी मालूम पड़ते हैं। गीता के कृष्ण बड़े गंभीर, भागवत के कृष्ण एकदम गैर-गंभीर। उनके बीच हम तालमेल नहीं बिठा सकेंगे। तो हम तो तोड़ना चाहेंगे कि ये दो आदमी हैं। या तो हम चाहेंगे कि ये दो आदमी हैं, या फिर कृष्ण 'सिजोफ्रेनिक' हैं—इसमें दो आदमी हैं इस आदमी के भीतर कि कभी यह एक तरह की बात करने लगता है, कभी दूसरी तरह की। तो उनके फिर 'पीरियड्स' होते हैं—छः महीने वे शांत होते हैं, छः महीने अशांत होते हैं। कि छः महीने वे आनंदित होते हैं, छः महीने वे बड़े उदास हो जाते हैं। कि सुबह ठीक होते हैं, सांझ और कुछ हो जाते हैं। या तो हम समझें कि कृष्ण 'मल्टी-साइकिक' हैं, बहुत चित्त हैं कृष्ण के, बहुचित्तवान हैं, बहुत आदमी हैं कृष्ण के भीतर। एक रास्ता तो यह है समझने का। इसका मतलब हुआ कि कृष्ण जो हैं, वह भीतर खंड-खंड में बंटे हैं—विरोधी खंडों में।

दूसरा रास्ता यह है—यह मनोवैज्ञानिक का रास्ता होगा—अगर कृष्ण को मनोवैज्ञानिक समझने जाए, अगर फ्रायड को हम कहें कि कृष्ण का तुम विश्लेषण करो, तो फ्रायड कहेगा, 'सिजोफ्रेनिक'। यह आदमी अनेक चित्तों में बंटा हुआ आदमी है। अगर हम इतिहासज्ञ से कहें, तो वह कहेगा कि यह दो कालों में घटे हुए दो आदमी होने चाहिए, एक आदमी नहीं हो सकता। यह इतिहासज्ञ की व्याख्या होगी, क्योंकि उसकी कल्पना के बाहर है कि एक आदमी और इतने आदमियों जैसा हो सके। तो वह कहेगा, भागवत के कृष्ण कोई और हैं, गीता के कृष्ण कोई और हैं। तो वह कहेगा कि यह कृष्ण, वह कृष्ण; वह दस-पच्चीस कृष्णों को निर्मित करेगा कि ये अलग-अलग हैं। ये एक नहीं हो सकते।

लेकिन, मैं आपसे कहना चाहता हूं कि न मैं फ्रायड की सलाह मानूंगा....मनोवैज्ञानिक की सलाह मैं मानने को राजी नहीं हूं। नहीं हूं इसलिए कि 'सिजोफ्रेनिक', खंडित व्यक्तित्व कृष्ण जैसे आनंद को उपलब्ध नहीं होता है। न ही मैं इतिहासज्ञ की बात मानने को तैयार हूं, क्योंकि उसकी तकलीफ भी उसी बात से उठ रही है। उसकी तकलीफ यह है कि हम कैसे मानें कि एक आदमी और यह सब कर सकेगा। यह बहुत आदमी होने चाहिए अलग-अलग काल में, या एक ही काल में, लेकिन होने चाहिए अलग-अलग आदमी। जो मनोवैज्ञानिक एक ही आदमी के भीतर करता है वह इतिहासज्ञ समय के भीतर अलग-अलग व्यक्तियों को बांटकर करेगा।

मेरी तो अपनी दृष्टि यह है कि एक कृष्ण यह हैं और यही कृष्ण की महत्ता है। इसको अगर हम काट देते हैं तो कृष्ण बेमानी हो जाते हैं। उनका मूल्य ही खत्म हो जाता है। कृष्ण का महत्व ही यही है कि वे एकसाथ सब कुछ हैं। उनका महत्व ही यह है कि वे एकसाथ विरोधी हैं और उन विरोधों में एक 'हार्मनी' है। उन विरोधों में एक संगीत है। जो कृष्ण बांसुरी बजाकर नाच सकता, वह कृष्ण चक्र लेकर लड़ सकता। इन दो कृष्णों में कोई विरोध नहीं है। जो कृष्ण मटकी फोड़ सकता, वह कृष्ण गीता जैसा

गंभीर उद्‌घोष कर सकता। जो कृष्ण चोर हो सकता, वह गीता का परम योगी हो सकता। ये सब एकसाथ एक व्यक्ति है, यही कृष्ण की महत्ता है। यही कृष्ण के व्यक्तित्व की निजता है। जो क्राइस्ट में उपलब्ध नहीं होगी, बुद्ध में उपलब्ध नहीं होगी, महावीर में उपलब्ध नहीं होगी, राम में उपलब्ध नहीं होगी।

कृष्ण विरोधों के बीच समागम हैं—समस्त विरोधों का समागम। और मैं इसे इसलिए भी कह पाता हूं कि मैं देखता हूं कि इन विरोधों को विरोधी होने की कोई वजह नहीं है। समस्त जीवन का सत्य ही विरोधों का समागम है। सारा जीवन ही विरोधों पर खड़ा है। और उन विरोधों में कोई 'डिस्कार्डेन्स' नहीं है। उनमें कोई विसंगितता नहीं है, उसमें संगीत है। जो आदमी बच्चा होता है, वही आदमी बूढ़ा हो जाता है। इसमें कोई विरोध नहीं है। अगर मैं आपसे पूछूं कि किस दिन आप बच्चे थे और किस दिन जवान हुए, तो बताना बहुत मुश्किल हो जाएगा। अगर मैं आपसे पूछूं कि अप जवान थे, अब बूढ़े हो गए, किस दिन आप बूढ़े हुए? तो बहुत मुश्किल हो जाएगी। उनको बांटना मुश्किल होगा। शब्दों में जवानी और बुढ़ापा विरोधी मालूम पड़ते हैं—शब्दों में। जवानी और बुढ़ापा विरोधी मालूम पड़ते हैं, लेकिन किस दिन जवानी समाप्त होती है और बुढ़ापा शुरू होता है? किसी भी दिन ऐसा नहीं होता। जवानी रोज बुढ़ापा बनती चली जाती है। हम जवान को कह सकते हैं कि यह होने वाला बूढ़ा है। हम बूढ़े को कह सकते हैं, यह हो गया जवान है। और कोई फर्क नहीं कर सकते।

हम शांति और अशांति को दो चीजें मानते हैं, लेकिन कभी आपने खयाल किया कि वह कौन-सी जगह है जहां शांति अलग होती और अशांति शुरू होती है। शब्दों में विरोधी हैं, 'डिक्शनरी' में खोजने जाएंगे तो शांति और अशांति का विपरीत अर्थ है। शब्दकोश में खोजेंगे तो सुख और दुख विरोधी हैं, लेकिन जिंदगी में देखने जाएंगे तो पाएंगे कि सुख दुख बन जाता है, दुख सुख बन जाते हैं। शांति अशांति हो जाती है, अशांति शांति बन जाती है। जन्म मृत्यु हो जाती है, मृत्यु जन्म हो जाती है। सुबह सांझ हो जाती है, दिन अंधेरा हो जाता है। प्रकाश अंधकार बन जाता है, अंधकार प्रकाश बन जाता है। जीवन समस्त विरोधों का समागम है। यहां ऋण और धन विपरीत नहीं हैं, एक ही शक्ति के खेल हैं।

जीवन की अगर इस अर्थवत्ता को हम देखें, इस शाश्वत 'हार्मनी' को, संगीत को हम देखें, तो फिर कृष्ण हमें समझ में आ सकेंगे। इसलिए कृष्ण को हम पूर्ण अवतार कह सके। वे जीवन के पूरे प्रतीक हैं। बुद्ध नहीं जीवन के पूरे प्रतीक हैं। बुद्ध जीवन में जो शुभ है, जो सुबह है, जो प्रभात है, जो प्रकाश है, उसके ही प्रतीक हैं। सांझ का क्या होगा? रात के अंधेरे का क्या होगा? पूर्णिमा तो आप सम्हाल लेंगे, अमावस का क्या होगा? अमृत तो आप ले लेंगे, जहर का क्या होगा? इसलिए बुद्ध साफ-सुथरे हैं। इसलिए कोई नहीं कहेगा कि फलां किताब के बुद्ध अलग हैं और फलां किताब के बुद्ध अलग हैं। कोई कारण नहीं कहने का। सब किताबों के बुद्ध एक हैं। कोई नहीं कहेगा कि बुद्ध का 'सिजोफ्रेनिक' है, इसमें कई खंड हैं, नहीं कोई कहेगा। एक, अखंड है। एकरस है। लेकिन कृष्ण में यह सवाल उठेगा।

और हम बजाय अपने मन को समझाने के लिए, अपनी 'कैटेग्रीज' को बचाने के लिए कृष्ण को कई व्यक्तियों में बांटें, इससे अच्छा होगा अपनी 'कैटेग्रीज' छोड़ें और अपने इस चित्त को एक तरफ फेंकें और कृष्ण को पूरा देखें। मैं नहीं कहता अलग हुए भी हों तो मुझे फिकिर नहीं है। मुझे इसकी चिंता नहीं है। हो सकता है कि ऐतिहासिक सिद्ध करें कि फासला है दो हजार साल का भागवत के कृष्ण में और गीत के कृष्ण में। मैं फिक्र न करूंगा, मैं कहूंगा, मुझे फासला नहीं है। मेरे लिए तो कृष्ण का अर्थ ही तभी है जब यह एक व्यक्ति है। अगर यह एक व्यक्ति नहीं है, तो व्यर्थ हो गया, इसका कोई अर्थ न रहा। हुए हों, न हुए हों, इससे मुझे प्रयोजन नहीं है। मैं मानता हूं कि जीवन की पूर्णता जब भी किसी व्यक्ति में फलित होगी, तो उसमें अनेक व्यक्ति एकसाथ फलित होंगे। जीवन की पूर्णता जब भी किसी व्यक्ति में फलित होगी, तो उसकी असंगतियों में एक संगति होगी। उसके विरोधों में एक अविरोध होगा। उसके व्यक्तित्व में विरोधी छोर होंगे, लेकिन जुड़े होंगे। हो सकता है धागे हमें दिखाई न पड़ें, हमारी आंखें कमजोर हैं बहुत।

ऐसा ही समझें कि अगर मैं एक मकान की सीढ़ियों पर चढ़ रहा हूं, तो नीचे की सीढ़ी मुझ दिखाई पड़ती हो और बीच की सीढ़ियां दिखाई न पड़ें और आखिरी सीढ़ी दिखाई पड़ती हो, तो क्या मैं कभी भी सोच सकूंगा कि पहली सीढ़ी और आखिरी सीढ़ी में कोई जोड़ है? कभी भी न सोच सकूंगा। बीच की सीढ़ियां भी दिखाई पड़ जाएं तो मैं कह सकूंगा, पहली और आखिरी सीढ़ी दो सीढ़ियां नहीं हैं, एक ही सीढ़ी के दो हिस्से हैं। पहली सीढ़ी पर शुरू होती है यात्रा, आखिरी सीढ़ी पर पूरी होती है। यह

एक ही चीज का विस्तार है। कृष्ण के व्यक्तित्व की जो बीच की सीढ़ियां हैं वह हमें दिखाई नहीं पड़तीं, क्योंकि हमारे ही व्यक्तित्व की बीच की सीढ़ियां हमें दिखाई नहीं पड़ीं। वे जो 'लिंक्स' हैं, वे हमें दिखाई नहीं पड़ते। आपने अपनी अशांति भी देखी, शांति भी देखी। दोनों के बीच का क्षण देखा? वह नहीं देखा है। आपने प्रेम भी देखा और घृणा भी देखी। लेकिन दोनों के बीच की यात्रा देखी है कि प्रेम किस भांति घृणा बनता है? घृणा किस भांति प्रेम बनती है? आपने मित्रता भी साधी, शत्रुता भी साधी, लेकिन कभी यह देखा कि मित्रता किस कीमिया से, किस 'केमिकल' प्रक्रिया से शत्रुता बन जाती है? और शत्रुता किस कीमिया से मित्रता बन जाती है?

केमिस्ट हुए—अलकेमिस्ट—जो इस कोशिश में लगे थे कि लोहा सोने में कैसे बदल जाए। लेकिन लोग उनको समझ न पाए। लोग समझे कि सच में ही वे लोहे को सोना बनाने में लगे हैं। वे सिर्फ यह कह रहे थे कि अगर लोहा है तो कहीं-न-कहीं सोने से जुड़ा होगा। यह हो नहीं सकता कि लोहा और सोना जुड़ा न हो। कहीं-न-कहीं कोई 'लिंक', कहीं-न-कहीं कोई बीच की कड़ी होगी जो हमें दिखाई नहीं पड़ रही है। यह हो नहीं सकता कि जगत 'अनलिंक्ड' हो। अगर वहां फूल खिला रहा है और यहां मैं बैठा हूं तो कहीं-न-कहीं कोई 'लिंक' होगा। और अगर मैं प्रसन्न हूं तो उस प्रसन्नता में फूल की प्रसन्नता कहीं भागीदार होगी। हो सकता है, कड़ी हमें दिखाई न पड़ती हो। और वहां फूल कुम्हला जाए और मैं उदास हो जाऊं और कड़ी दिखाई न पड़े। जीवन जोड़ है, इसमें सब जुड़ा है।

'अलकेमिस्ट' कहते थे कि लोहा है और सोना है, तो कहीं जोड़ होगा। हम कोई रास्ता खोज ही लेंगे जिसमें सोना लोहा बन जाए और लोहा सोना बन जाए। इस खोज में थे। लेकिन इतनी ही खोज न थी, वे यह कह रहे थे कि जिसको हम नीचा कहते हैं वह ऊंचे से जुड़ा होगा। 'द बेसर मस्ट बी लिंक्ड विद हायर'। नहीं तो हो नहीं सकता। कहीं-न-कहीं सेक्स परमात्मा से जुड़ा होगा। जुड़ा होना चाहिये। कहीं-न-कहीं जमीन आकाश से जुड़ी होगी। जुड़ी होनी चाहिये। कहीं-न-कहीं जन्म मृत्यु से जुड़ा होगा। जुड़ा होना चाहिये। बिना जुड़े हो कैसे सकता है? संभव नहीं रह जायेगा। जड़ कहीं-न-कहीं चेतना से जुड़ा होगा। पत्थर कहीं-न-कहीं आत्मा से जुड़ा होगा। जुड़ा होना चाहिये। अन्यथा हो कैसे सकता है? इस बड़े जोड़ के प्रतीक की तरह कृष्ण हैं।

मैं तो कहता हूं, यह व्यक्ति हुआ, ऐसा ही हुआ। इतिहास दलीलें जुटाए, मैं उठाकर कचरे में फेंक दूंगा। मनोवैज्ञानिक बताए, मैं कहूंगा तुम्हारा दिमाग खराब है। तुम अभी समझ न पाओगे। क्योंकि तुमने खंडों का साफ-सुथरापन समझा है, तुमने सभी खंडों का जोड़ अभी नहीं समझा है। फ्रायड बहुत खोज करता है। जितना वह आदमी जानता है क्रोध के संबंध में, शायद कम आदमी जानते होंगे। लेकिन कोई जरा धक्का मार दे, तो क्रोध उसे भी आ जाता है। तो यह जानकारी बड़ी बाहरी हो गई। पर बहुत खोज करता है। फ्रायड जितना पागलपन के संबंध में जानता है शायद कोई जानता हो। लेकिन फ्रायड खुद पागल हो सकता है, कभी भी 'पोटेंशियल' है। किसी भी क्षण पागल हो सकता है। मौके आ जाते हैं जब वह पागलपन करता है।

मनोवैज्ञानिक क्या कहता है, इसका बहुत मूल्य मेरे लिए नहीं है, क्योंकि कृष्ण मन के बाहर गए व्यक्ति हैं, मन के पार गए व्यक्ति हैं। कृष्ण मन के पार गए व्यक्ति हैं। और एक और तरह की अखंडता है, जो आत्मा की अखंडता है, जो एक ही साथ सबमें हो सकती है, सब मनों में हो सकती है, सब तरह के मनों में हो सकती है। इसलिए मैं एक ही व्यक्ति मानकर बात करूंगा।

'गीता आप प्रामाणिक वचन मानेंगे कृष्ण के?'

* पूछते हैं, गीता को प्रामाणिक वचन मानेंगे कृष्ण के?

कृष्ण जैसा व्यक्ति हुआ हो तो गीता जैसा वचन प्रामाणिक ही होगा। यह सवाल नहीं है कि कृष्ण ऐसा बोला कि नहीं बोला। सवाल यह है कि कृष्ण बोलेगा तो ऐसा ही बोल सकता है। और अगर कृष्ण ने न बोला हो और व्यास ने ही गीता लिखी हो, तो कोई बहुत फर्क नहीं पड़ता, क्योंकि व्यास लिख नहीं सकता अगर कृष्ण जैसा व्यक्ति न हो। व्यास को भी कहना पड़े—व्यास लिखे, कोई फर्क नहीं पड़ता है—लेकिन व्यास भी तो गीता बोलेगा न! इससे क्या फर्क पड़ता है? इससे कोई फर्क नहीं पड़ता। अगर कृष्ण बोले, व्यास बोले, कोई अ, ब, स कोई और बोले, लेकिन गीता बोलने के लिए एक भीतर कोई चाहिए न! यह

गीता आसमान से पैदा नहीं होती। कहीं से पैदा होती है। नाम से क्या फर्क पड़ता है! उस आदमी का नाम व्यास है, कि कृष्ण है, कि क्या है, इससे कोई फर्क नहीं पड़ता।
इसलिए मैं उल्टी तरह से सोचता हूं। मैं यह नहीं कहता कि गीता का वचन प्रामाणिक वचन है कृष्ण का। गीता-वचन प्रामाणिक है या नहीं; मैं यह कहता हूं, गीता है, यह प्रमाण है, कृष्ण की खबर है। इस तरह ही देखता हूं, गीता है, यह बोली गई, यह कही गई, यह लिखी गई, यह अस्तित्व में है। यह बिना कृष्ण के अस्तित्व में नहीं हो सकती। एक आदमी तो चाहिए न जो यह बोले, जो यह लिखे! वह कौन था, इससे क्या फर्क पड़ता है? उसका नाम क्या था, इससे क्या फर्क पड़ता है? लेकिन एक चेतना तो चाहिए न जिससे इसका जन्म हो। गंगोत्री प्रमाण नहीं है गंगा के लिए, गंगा प्रमाण है गंगोत्री के लिए। गंगा है तो हम कह सकते हैं कि गंगोत्री होगी। चाहे हो न हो; चाहे मिले, चाहे न मिले; चाहे खोज पाएं या न खोज पाएं, लेकिन गंगा है तो गंगोत्री होगी। गीता है तो कृष्ण होंगे। गीता से कृष्ण की तरफ चलना मुझे उचित मालूम पड़ता है, क्योंकि गीता अभी है। कृष्ण की तरफ से गीता की तरफ चलेंगे तो झंझटें पड़ेंगी। क्योंकि उसमें डर हो सकता है कि कृष्ण न हों, और तब फिर गीता संदिग्ध हो जाए, और फिर गीता को हमें कोई और आदमी खोजना पड़े। लेकिन, हम बड़े पागलपन का काम करते हैं।

'श्रीमद्‌भागवत में वस्त्रहरण-लीला के प्रसंग में कृष्ण का नैसर्गिक 'इरोटिक गेस्चर' सुस्पष्ट है। वर्णन है कि गोपिकाओं की अक्षत योनियां देखकर कृष्ण प्रसन्न हुए। और वस्त्र लेने के लिए लज्जावश गोपिकाएं गुह्यांग हाथ से ढांककर बाहर आती हैं, तब कृष्ण कहते हैं कि तुमने जल देवता का नग्न नहाकर अपराध किया है, इसलिए पापशमन हेतु मस्तक पर दोनों हाथ जोड़ उन्हें नमस्कार कर वस्त्र ले जाओ। बाद में भागवतकार लिखते हैं कृष्ण ने कुमारिकाओं को ठगकर लज्जा त्याग करवाया। इस संदर्भ में निरावरणता के सर्वप्रथम पुरस्कर्ता कृष्ण के आप समर्थ अनुगामी हैं, मगर आपके खयाल और जर्मनी आदि देशों के 'न्यूडिस्ट क्लब' के खयाल में क्या बुनियादी फर्क है? वस्त्र सभ्यता का प्रतीक है, संस्कृति चमड़ी है। इस त्वचा का आवरण अलग करने से जो अस्थि-पंजर दिखाई पड़ेगा, इससे हम प्राकृतिक रूप में दिखाई पड़ेंगे, मगर बर्बर भी दिखाई पड़ेंगे। यह खयाल 'बैक टु प्रिमिटिज्म, बैक टु जंगल' नहीं होगा? घड़ी के कांटे को पीछे घुमाने की विधि को आप आप बाद में 'प्रोग्रेस' कह सकोगे?'

* पहली बात, सिग्मंड फ्रायड का 'लिबिडो' का खयाल बहुत कीमती है। 'लिबिडो' को अगर हम ठीक शब्द दें, तो उसका अर्थ होगा, काम-ऊर्जा, 'सेक्स-एनर्जी'। मनुष्य के जीवन में ही नहीं, सारी सृष्टि के जीवन में, सृजन में काम-ऊर्जा गुह्यतम छिपी है। पुराण कहते हैं, ब्रह्मा ने जगत बनाया तो काम से पीड़ित होकर। सृजन होगा ही नहीं कामना के बिना। समस्त सृजन कामना से ही आविर्भूत होता है। जो भी है, वह काम का ही विस्तार है। जीवन की समस्त लीला, जीवन की सारी अभिव्यक्ति—चाहे फूल खिलते हों, चाहे पक्षी गीत गाते हों—काम-ऊर्जा का ही खेल हो। ऐसा समझें, जैसे काम-ऊर्जा का एक सागर है और उसमें अनंत-अनंत लहरें उठती हैं, अनंत-अनंत रूपों में। स्वयं परमात्मा ही बहुत गहरे में काम-ऊर्जा का केंद्र है।
कृष्ण के जीवन में काम-ऊर्जा की सहज, निश्छल स्वीकृति है। सहज स्वभाव का अंगीकार है। न कहीं कोई निषेध है, न कहीं कोई दमन है। जैसा है जीवन, वैसा अनुग्रहपूर्वक, अनुग्रहभाव से उसे जीने की सहजता है। इसलिए कृष्ण की घटनाओं को जो लोग दबाने, बदलने, शक्ल देने की कोशिश करते हैं, वे केवल अपनी अपराध-वृत्तियों, अपने दमित काम, अपने चित्त के रोगों की खबर देते हैं। निश्चित ही यह कोशिश की जाती रही है कि जिस कृष्ण ने गोपियों के वस्त्र लिए और वृक्ष पर चढ़ गए, वह बहुत छोटे थे। हमें बड़ी राहत मिलेगी अगर वे बहुत छोटे हों। उससे हम उनको स्वीकार करने में सुलभता पाएंगे। लेकिन छोटे बच्चे भी एक-दूसरे को नग्न देखना चाहते हैं। बहुत छोटा बच्चा भी उत्सुक है जानने को—लड़की भी, लड़का भी। और यह जिज्ञासा अत्यंत स्वाभाविक है। जैसे ही एक बच्चे को—वह चाहे लड़की हो, चाहे लड़का—जैसे ही अपने शरीर का बोध शुरू होता है, वैसे ही उसे यह भी बोध शुरू होता है कि लड़की भी है घर में, बहन भी है उसकी, जिसके शरीर में कुछ फर्क है। लड़की को भी बोध होता है कि लड़का है, उसके शरीर में कुछ फर्क है। यह बोध इतना कठिन न हो, अगर लड़के और लड़कियां सहज ही घर में नग्न भी होते हों। लेकिन बड़े-बूढ़े इतने कामग्रसित हैं, इने 'आब्सेस्ड' हैं कि छोटे-छोटे बच्चों को भी

जल्दी वस्त्र पहनाने के लिए आतुर होते हैं। यह उनकी आतुरता इतनी ज्यादा है कि छोटे बच्चे एक-दूसरे को नग्न सहजता से नहीं देख पाते। तो कृष्ण ने ही कोई, अगर यह भी मान लें कि उनकी उम्र छोटी रही हो, तो नहाती हुई लड़कियों के वस्त्र लेकर वे वृक्ष पर चले गए हों, तो इसमें कुछ बहुत नया नहीं है। सभी छोटे बच्चे लड़कियों को नग्न देखना चाहते हैं। न नदी उपलब्ध है अब, न वृक्ष उपलब्ध हैं अब, न नदी पर नहाती हुई लड़कियां उपलब्ध हैं। तो बच्चों को नए-नए रास्ते खोजने पड़ते हैं।

फ्रायड ने एक खेल का उल्लेख किया है, डाक्टर के खेल का। छोटे बच्चे लड़कियों को बीमार करके लिटाकर डाक्टर का खेल शुरू करेंगे और उनको नग्न देखना चाहेंगे। यह बड़ी सहज जिज्ञासा है, इसमें कुछ बुरा नहीं है। यह बहुत स्वाभाविक है कि हम एक-दूसरे से परिचित होना चाहें। यह हमारे शरीर-परिचय की बिलकुल प्राथमिक कड़ी है। तो अगर कृष्ण छोटे भी रहे हों, तब भी संभव है। लेकिन उम्र ज्यादा भी रही हो, तब भी असंभव नहीं है। हमारे लिए असंभव हो जाएगा, कृष्ण के लिए असंभव नहीं है। क्योंकि कृष्ण जीवन को सहज जीते हैं, जैसा है उसे स्वीकार करते हैं। और जिस संस्कृति में वह पैदा हुए होंगे, वह संस्कृति भी बहुत सहजता को स्वीकार करती होगी। अगर कृष्ण हमारे समाज में पैदा हुए होते, तो हमने इस उल्लेख को ही काट दिया होता। हम इस उल्लेख को कभी लिखते ही नहीं। जिन लोगों ने इस उल्लेख को सहजता से लिखा है, उनके मन में कोई भी ऐसा भाव न रहा होगा कि कुछ गलत हुआ है। नहीं तो गलत को हम छांट देते। हजारों साल तक यह सवाल किसी ने नहीं उठाया कि कृष्ण कैसा आदमी है। यह अभी हमने उठाना शुरू किया है। यह सवाल नहीं उठाता है। जिस संस्कृति में कृष्ण की यह घटना घटी होगी, वह संस्कृति इसको सहज स्वीकार कर ली होगी। यह कोई कृष्ण ही कपड़े चुराकर अगर चले गए होते, तो अनूठी घटना अगर होती, तो इसकी निंदा भी होती। यह और भी कृष्ण यह करते रहे होंगे, ये और लड़के भी यह करते रहे होंगे, ये और बालगोपाल भी यह करते रहे होंगे।

लड़कियां भी बहुत कम उम्र की रही होंगी, यह नहीं माना जा सकता। इतनी उम्र की तो रही होंगी जहां से लड़कियों को लड़कियां होने का बोध शुरू हो जाता है। जहां से शर्म शुरू हो जाती है। जहां से वे काम के मामले में, 'सेक्स' के मामले में, यौन के मामले में भिन्न हैं; उनके पास कुछ छिपाने को है; जहां से उन्हें छिपाने का बोध शुरू होता है, वह वही बोध है जहां से कोई दूसरा उन्हें जानने और देखने को उत्सुक होता है। ये दोनों एक ही घड़ी, एक ही उम्र की बात है। तो कृष्ण जिस उम्र के रहे होंगे उससे बहुत भिन्न उम्र की लड़कियां नहीं रही होंगी। कृष्ण देखने को उत्सुक हैं उन्हें नग्न, ये लड़कियां कृष्ण न देख पाएं, इसके लिए आतुर हैं।

इस मामले में एक बात बहुत समझ लेनी जरूरी है कि पुरुष-चित्त और स्त्री-चित्त में जो बहुत से फर्क हैं, उनमें एक फर्क यह भी है। पुरुष स्त्री को नग्न देखना चाहता है, वह 'वोयूर' है। स्त्री पुरुष को नग्न नहीं देखना चाहती है, इतनी उसकी उत्सुकता नहीं है। वह 'वोयूर' नहीं है। इसलिए बड़े मजे की बात है। लेकिन पुरुष स्त्री को नग्न देखना चाहता है। इसीलिए दुनिया में इतनी नग्न स्त्रियों की प्रतिमाएं हैं। पुरुषों की नहीं हैं। और अगर कहीं पुरुषों की नग्न प्रतिमाएं हैं, तो वे उन संस्कृतियों में पैदा हुइ, जो कि 'होमोसेक्सुअल' थीं। जैसे, यूनान में पैदा हुइ। सुकरात और प्लेटो के वक्त में पैदा हुइ, जो कि 'होमोसेक्सुअल' वक्त है। जिसमें कि पुरुष पुरुषों को भी काम-विषय बनाते थे, 'सेक्स आब्जेक्ट' बनाते थे, तो वह भी पुरुषों ने ही बनाई हैं वे मूर्तियां नग्न पुरुषों की। स्त्रियां नग्न पुरुषों में बिलकुल उत्सुक नहीं हैं। इसलिए ऐसी कोई पत्रिका नहीं निकलती जिसमें नग्न पुरुषों की तस्वीरें देखकर स्त्रियां प्रसन्न होती हों, वे बिलकुल प्रसन्न नहीं होतीं। लेकिन ऐसी बहुत पत्रिकाएं निकलती हैं जिनमें नग्न स्त्रियों की तस्वीरें देखकर पुरुष बड़े प्रसन्न होते हैं। स्त्रियों को समझ में नहीं आता कि पुरुषों को यह क्या पागलपन है।

कभी आपने शायद खयाल न किया हो कि प्रेम के गहरे-से-गहरे क्षण में पुरुष जरूर स्त्री को नग्न करना चाहेगा। स्त्री उनकी उत्सुक नहीं होगी। बल्कि पुरुष नग्न भी हो, तो प्रेम के गहरे क्षण में पुरुष की आंख खुली रहेगी, स्त्री की आंख बंद हो जाएगी। अगर स्त्री का चुंबन भी लिया जा रहा हो तो वह आंख बंद कर लेगी। देखने में उसका बहुत रस नहीं है। 'एब्ज़ार्व' कर लेने में, पी लेने में, हो जाने में उसका रस है, देखने में उसका रस नहीं है। पुरुष देखने में बहुत रसपूर्ण है। और पुरुष की यह देखने की उत्सुकता है, यह स्त्री को छिपने की उत्सुकता का जन्म बन जाती है। वह अपने को छिपाना शुरू कर देती है। इसलिए स्त्री छिपाए जा रही है। लेकिन स्त्री की बड़ी मुश्किल है। अगर वह बहुत ज्यादा छिपा ले, तो पुरुष के लिए अनाकर्षक हो जाती है। इसलिए स्त्री को दोहरा काम करना पड़ता है। छिपाना भी पड़ता है और उघाड़ना भी पड़ता है। उसकी दोहरी मुसीबत है। उसको

एक ही चीज से दोहरे काम करने पड़ते हैं। उन्हीं कपड़ों से छिपाना पड़ता है खुद को, उन्हीं कपड़ों से उघाड़ना पड़ता है खुद को। तो जिन कपड़ों से स्त्री अपने को छिपाती है, उन्हीं से उघाड़ने का भी काम लेती है। क्योंकि, छिपाना तो वह पुरुष की जो जिज्ञासा की जो 'क्यूरिआसिटी' है, उससे वह भयभीत है। वह उसकी समझ के बाहर है। तो अपने को छिपाती है। लेकिन इस पुरुष के लिए उसे आकर्षक भी होना है, क्योंकि इस पुरुष के लिए अगर वह आकर्षक नहीं है तो बेमानी है। तो उसे उघाड़ना भी है। तो स्त्रियां एक बड़ी जिच में पड़ी रहती हैं, सदा—उघाड़ो भी, ढांको भी। इधर से ढांको, उधर से उघाड़ो। यह अंग ढांको, वह अंग उघाड़ो। उनको पूरे वक्त इन दोनों के बीच एक तालमेल और एक संतुलन और एक 'बैलेंस' बनाए रखना पड़ता है।

तो वे स्त्रियां अगर पानी से अपने गुह्य अंगों को ढांककर निकली हों, तो बिलकुल स्वाभाविक है। यह घटना बड़ी सहज है। और कृष्ण ने अगर उनसे कहा हो कि हाथ जोड़कर देवता को नमस्कार करो, तो यह भी बिलकुल स्वाभाविक है। इसमें कुछ कठिनाई नहीं है। यह पुरुष-चित्त है। और कृष्ण सीधे, सहज पुरुष-चित्त हैं—कहना चाहिए, पूरे पुरुष-चित्त हैं। और इसके बाबत न कोई दमन है, न कोई विरोध है। और जिन्होंने ये कथाएं लिखीं, वे भी बड़े सहज लोग रहे होंगे, उन्होंने सीधी-सीधी बातें लिख दी हैं, जैसी थीं। उनके मन में अभी तक कोई ऐसा मामला नहीं आया था, न कोई ऐसे सिद्धांत आ गए थे जो कहते कि यह क्या लिख रहे हो? और कृष्ण जिसे तुम भगवान बना रहे हो, उसके बाबत ऐसी बात लिखकर तुम दिक्कत डाल रहे हो। बाद के लोगों को बड़ी कठिनाई होगी कि यह भगवान कैसा था! भगवान ही ऐसा हो सकता है। इतना सरल और सहज, इतना 'स्पांटेनियस' भगवान ही हो सकता है, आदमी नहीं हो सकता। आदमी तो 'स्पांटनियस' हो ही नहीं सकता, वह तो 'प्रीप्लांड' है। इतना जरूर मैं कहूंगा कि कृष्ण ने यह 'प्लानिंग' न की होगी। इतना मैं कहूंगा। इसका कोई 'ब्लू प्रिंट' नहीं रहा होगा, कि लड़कियां अपने अंग छिपा लेंगी तो मैं उनसे कहूंगा कि हाथ जोड़ो। बस यह हुआ होगा कि लड़कियों ने अंग छिपाए होंगे, कृष्ण ने कहा होगा कि हाथ जोड़ो नदी के देवता को, क्या करती हो? नाराज कर दिया नदी के देवता को! पर यह 'स्पांटेनियस', सहज। और इस सहजता को इसी तरह वर्णित किया जिन लोगों ने, वे अदभुत रहे होंगे। सरल रहे होंगे, सीधे रहे होंगे। घटनाओं में काट-छांट नहीं की है। 'इम्प्रूवमेंट' नहीं किया है कोई घटनाओं पर। चीजों को छोड़ दिया है जैसी वे थीं। पीछे हमको कठिनाई होती चली गई है। पीछे हम मुश्किल में पड़ते चले गए। ऐसी बहुत घटनाएं हैं जो हमें पीछे दिक्कत में सालती हैं। क्योंकि पीछे हमारे नए सिद्धांत और नई धारणाएं और नई नैतिकताएं नए खयाल दे देती हैं और वह हमको पीछे की तरफ लौटकर उनको हमें लागू करना पड़ता है। फिर कठिनाई खड़ी हो जाती है।

तो मैं तो मानता हूं कि काम-ऊर्जा की जो सहजतम अभिव्यक्ति हो सकती है, वह कृष्ण में हुई है। उसमें उन्होंने कोई बाधा नहीं मानी है। वह सहज जिए हैं। और उनके समाज में, जिसमें वह थे, उसने सहज स्वीकार कर लिया था। वह समाज भी सहज होगा।

दूसरी बात पूछी है, कि मैं भी पुरस्कर्ता हूं। एक अर्थ में हूं। ऐसा नहीं कि वस्त्रों का विरोधी हूं। अगर वस्त्रों का विरोधी हूं, तो मैं घड़ी के कांटों को पीछे की तरफ घुमाता हूं। वस्त्रों की उपादेयता है, वस्त्रों का अर्थ है, वस्त्रों का प्रयोजन है। लेकिन वस्त्रों की कोई नैतिकता नहीं है, वस्त्रों की कोई 'मॉरलिटी' नहीं है। प्रयोजन है। सर्दी है और वस्त्र जरूरी हैं। गर्मी है और और तरह के वस्त्र जरूरी हैं। और आप रास्ते पर जाने के लिए हैं, तो भी वस्त्र जरूरी हैं, क्योंकि कोई आपको नग्न न देखना चाहे तो आपको दिखाने का हक नहीं है, वह 'ट्रेसपास' है। लेकिन इसका मतलब यह नहीं है कि कोई हमें नग्न देखने को राजी नहीं है तो हम अपने घर पर भी नग्न होने को स्वतंत्र न रह जाएं, या किन्हीं घड़ियों में हम नग्न न हो सकें। नहीं, नग्नता और वस्त्र ऐसे ही होने चाहिए जैसे जूते हैं। घर पर हम जूता नहीं पहनकर घूम रहे हैं, उतार देते हैं, बाहर पहनकर चले जाते हैं। लेकिन घर में जूता उतारकर कोई नहीं कहता कि तुम नंगे हो गए। हो तो गए हैं, पैर तो नंगे हो ही गए।

कपड़े सहजता से लिए जाएं, उनका दंश न रह जाए। और सहजता से वे तभी लिए जाएं, उनका दंश न रह जाए। और सहजता से वे तभी लिए जा सकते हैं जब नग्नता भी सहजता से ली जाए, नहीं तो नहीं लिए जा सकते हैं। तब कपड़े एक नैतिक अर्थ ले लेते हैं, जो उनमें बिलकुल नहीं है। मनुष्य ने बहुत कपड़े ओढ़ डाले। इतने कपड़े ओढ़ डाले कि उन कपड़ों की वजह से उसे कपड़े उघाड़ने के हजार तरह के प्रयत्न करने पड़ते हैं। उससे अनैतिकता पैदा होती है।

मैं मानता हूं कि अगर हम नग्नता को सहज स्वीकार कर लें, जैसा कि हम नग्न पैदा होते हैं। कपड़ों के भीतर भी नग्न ही रहते हैं, नग्न ही मरते हैं। परमात्मा ने हमें नग्न ही पैदा किया है। वह सहजता है। इसका यह मतलब नहीं है कि हम नंगे ही रहें। परमात्मा ने हमें जैसा पैदा किया है उसमें हम बहुत फर्क करते हैं। परमात्मा धूप डाल रहा है, हम छाता लगाए हुए हैं। इसमें हम कोई परमात्मा का विरोध नहीं कर रहे हैं। क्योंकि छाता लगाने से जो छाया आती है वह भी परमात्मा के नियम का हिस्सा है। उसमें कोई विरोध नहीं है। सिर्फ हम हमारे लिए जो मौज का है वह हम कर रहे हैं, और इतनी स्वतंत्रता हमें है कि हम धूप में बैठें कि छाया में। लेकिन अगर किसी दिन कोई आदमी छाया में बैठने को नैतिकता बना ले और धूप में जाने को पाप बना दे, तो फिर छाया में बैठना बड़ा बोझिल हो जाएगा। और फिर धूप में जाना अपराध हो जाएगा—और लोग चोरी से धूप में जाने लगेंगे, जो कि बड़ी सहज बात है। जिसमें चोरी से जाने का कोई कारण न था, अब अकारण हम चोरी पैदा कर रहे हैं, अकारण हम अनैतिकता पैदा करवा रह हैं। अकारण 'कंडेमनेशन' पैदा कर रहे हैं, अकारण लोगों को अपराधी सिद्ध करवा रहे हैं और उनको 'गिल्ट' दे रहे हैं, जिसको देने की कोई जरूरत न थी।

तो मैं मानता हूं कि नग्नता एक सत्य है जीवन का, उसे सरलता से स्वीकार करने की बात है। उससे भागने की कोई जरूरत नहीं है। भागने के कारण पच्चीस उपाय कर रहे हैं। सड़क-सड़क पर नंगे पोस्टर लगे हैं, वे बिलकुल न लगेंगे। अगर हम सहज नग्नता को स्वीकार कर लें, अगर घर में कभी लोग नग्न भी बैठते हों, कभी नदी के किनारे नग्न नहाते भी हों, कभी मित्रों के बीच नग्न गपशप भी करते हों, कभी नग्न बैठकर धूप भी लेते हों—ऐसा नहीं कि कपड़े छोड़कर भाग जाएं; कपड़े छोड़कर भागेंगे तो घड़ी का कांटा पीछे लौटेगा। और अगर कपड़े छोड़कर भागते नहीं हैं, नग्नता को भी स्वीकार करते हैं, तो जो लोग नग्न थे उनको कपड़ों का जो फायदा नहीं था, वह हमें होगा; और जो लोग सिर्फ कपड़ा पहने हुए हैं और कपड़ों से जो परेशानी में पड़ गए हैं, उस परेशानी में हम न होंगे। और इसलिए इसे मैं विकास कहूंगा। यह आगे जाना होगा। यह अकेले नंगे लोगों से भी आगे जाना होगा, अकेले कपड़े ढंके लोगों से भी आगे जाना होगा।

'न्यूडिस्ट-क्लब' बगावत हैं। 'न्यूडिस्ट-क्लब' एक प्रतिक्रिया हैं उस समाज की जिन्होंने कपड़े बहुत थोप दिए हैं। मैं 'न्यूडिस्ट-क्लब' के पक्ष का नहीं हूं। यानी इसका मतलब यह हुआ कि एक तरफ पूरा समाज बीमार होता है और एक तरफ अस्पताल बनाते हैं। मैं कहता हूं, बीमार ही क्यों हों! 'न्यूडिस्ट-क्लब' की जरूरत जो है, वह यह जो 'आब्सेस्ड' लोग हैं कपड़े से, इनकी वजह से पैदा होती है। अगर हम 'आब्सेसन' अलग कर लें, तो 'न्यूडिस्ट-क्लब' की कोई जरूरत नहीं रह जाती। अगर हम सहजता से घर में बाप बेटे के साथ नग्न नहा सके, मां बेटे के साथ नग्न नहा सके तो हैरान होंगे आप इस बात को जानकर कि अगर घर में मां अपने बेटे के साथ नग्न नहा सके तो यह बेटा किसी लड़की को रास्ते पर धक्का देने में असमर्थ हो जाएगा। इसका कोई अर्थ नहीं रह जाएगा। यह बिलकुल बेमानी बात हो जाएगी। स्त्री और पुरुष के बीच का फासला इतना कम हो जाएगा कि धक्का मारकर फासला कम करने की कोई जरूरत नहीं है। धक्का मारकर भी फासला ही कम किया जा रहा है, और कुछ किया नहीं जा रहा है। और चूंकि आहिस्ता से हाथ रखने कोई उपाय नहीं है, इसलिए धक्का मारा जा रहा है। अगर कोई स्त्री मुझे अच्छी लगे और उसका हाथ मैं हाथ में लेकर कहूं कि मुझे हाथ बहुत प्यारा लगता है, एक क्षण हाथ में ले सकता हूं, और समाज इतना सहज हो कि वह कहे कि ठीक है, यह हाथ आपको प्यारा लगा, धन्यवाद—मेरे हाथ को इतना प्यारा लगने का भी तो धन्यवाद होना चाहिए—तो फिर धक्का मारना मुश्किल हो जाएगा। लेकिन वह नहीं संभव हुआ है। हम फूलों को धक्के नहीं मारते; हम खड़े होकर देख लेते हैं, रास्ते से गुजर जाते हैं। अगर कल फूल कोई कानून बना लें, और फूल भी पुलिस के आदमी खड़े कर लें और कहें कि कोई देखेगा तो ठीक नहीं होगा, तो फिर फूलों के साथ ज्यादती शुरू हो जाएगी। फिर अनैतिकता शुरू हो जाएगी।

असल में अति नैतिकता का आग्रह अनैतिकता का जन्म बन जाता है, 'टू मच मॉरैलिटी क्रिएट्स इम्मॉरैलिटी'। ज्यादा नैतिक हुए कि आप अनैतिक होंगे फिर। तो बहुत कपड़े पहन लिए तो 'न्यूडिस्ट-क्लब' है। मैं कोई 'न्यूडिस्ट-क्लब' के पक्ष में नहीं, क्योंकि मैं बहुत कपड़े वालों के पक्ष में नहीं। मैं कहता हूं, सहजता से जिंदगी जैसी है उसे स्वीकार कर लेना चाहिए। और कृष्ण बड़े अदभुत प्रतीक हैं। वह सहज जीवन में जो है, उसकी सहज स्वीकृति है।

'भगवान श्री, आपने इसकी ओर यथार्थ इंगित किया कि आप किसी पक्ष में नहीं हैं। पर जैसा कि आपने अभी कहा कि किसी का हाथ प्यारा लगे तो उस हाथ को सहज समाज में आप ले सकें, वह एक 'नार्मल सिचुएशन' हो सकती है। मगर तक तो आपसे यही प्रश्न पूछना मुनासिब होगा कि आप 'इम्मॉरैलिटी' की व्याख्या क्या करते हैं? क्योंकि आप हाथ कहेंगे, ऐसे दूसरा कोई और अंगों की मांग करेगा। क्या उससे व्यक्ति के जीवन में 'कान्फ्लिक्ट' नहीं पैदा हो जाएगी? क्या कोई पति दिक्कत में नहीं पड़ जाएगा?

साथ दूसरा भी एक प्रश्न है कि जो कृष्ण वस्त्रहरण कर सके, वही कौरव-सभा में द्रौपदी का चीर पूरा भी कर सके। ये कृष्ण के व्यक्तित्व के दो छोर हुए। द्रौपदी का वस्त्र पूर्ण करते कृष्ण अलौकिक हैं, लोकोत्तर हैं, चमत्कारिक हैं। क्या यह केवल अदभुत दृष्टांत नहीं हो सकता? द्रौपदी के वस्त्र को पूर्ण करने वाले कृष्ण काले थे। श्रीमद्भागवत में उनके रंग के वर्णन के लिए तीन विशेषण दिए गए हैं—शुक्ल, पीत और कृष्ण। कवियों ने बहुत-बहुत कल्पनाएं कीं कि कृष्ण क्यों काले हैं फिर भी मतवाले हैं, इत्यादि। आप भी कुछ कहें।'

* जहां तक सहजता का संबंध है, शरीर के किसी अंग में और हाथ में कोई फर्क नहीं है। फर्क हमें दिखाई पड़ता है, क्योंकि फर्क हमने पैदा कर लिया है। फर्क निर्मित है। फर्क है नहीं। शरीर के सभी अंग एक जैसे हैं। हाथ में और किसी अंग में कोई फर्क नहीं है। हमें फर्क दिखाई पड़ता है, क्योंकि हमने शरीर में भी खंड कर लिए हैं। शरीर का कोई हिस्सा है जो बैठकखाने जैसा है, जिसको सब देख सकते हैं। शरीर का कोई हिस्सा है जो गोडाऊन जैसा है, जिसके लिए 'लाइसेंस' चाहिए। हमने शरीर को कई हिस्सों में बांटा हुआ है। ऐसे शरीर अखंड और इकट्ठा है। इसमें कोई हिस्से का कोई फर्क नहीं है। और जिस दिन मनुष्य सच में पूरा स्वस्थ होगा और सहज होगा, उस दिन कोई फर्क नहीं होगा।

लेकिन आपका यह कहना ठीक है कि इसे किस सीमा तक? अगर कोई व्यक्ति किसी का हाथ हाथ में ले लेता है, तो सोचा जा सकता है कि ठीक है। लेकिन, दो बातें विचारणीय हैं। जिस सहज समाज की मैं बात करता हूं, या जिस सहज संभावना की बात करता हूं, दूसरे व्यक्ति का हाथ लेते वक्त जैसे किसी दूसरे व्यक्ति को व्यर्थ ही, अकारण बाधा डालना ठीक नहीं है, वैसे ही दूसरे व्यक्ति का हाथ लेते वक्त व्यर्थ ही, अकारण ही दूसरे व्यक्ति को कष्ट न हो, वह भी सहजता का हिस्सा है। क्योंकि जब मैं किसी व्यक्ति का हाथ लेता हूं तो किसी व्यक्ति का हाथ ले रहा हूं, और मेरे लिए आनंदपूर्ण हो सकता है उसका हाथ लेना, लेकिन अगर उसको दुखपूर्ण है, तो उसको भी स्वतंत्रता तो है ही। मैं अपना आनंद लेने के लिए हकदार हूं तो दूसरा भी अपने आनंद का ध्यान रखने के लिए हकदार है। अगर मुझे अच्छा लग रहा है किसी का हाथ हाथ में लेना तो यह भी जानना जरूरी है कि उसे अच्छा लग रहा है या नहीं लग रहा है। मैं अपने सुख के लिए स्वतंत्र हूं तो वह भी अपने सुख के लिए स्वतंत्र है। जहां से यह दूसरा व्यक्ति शुरू होता है वहां से ही हमारी स्वतंत्रता पर दूसरे की स्वतंत्रता की जिम्मेदारी भी शुरू हो जाती है। वह बिलकुल सहज है, स्वाभाविक। क्योंकि आप आएं और मुझे गले से लगा लें, लेकिन मुझे इससे सिर्फ घबड़ाहट होती हो, तो आप आप आनंद लेने के हकदार हैं, लेकिन मैं भी तो अपनी घबड़ाहट से बचने का हकदार हूं। इसलिए सहज समाज निवेदन करेगा। ये निवेदन ही हो सकते हैं। और इनकी स्वीकृति अनिवार्य नहीं है; क्योंकि दूसरा व्यक्ति शुरू हो गया तत्काल।

मैं किस बात को नैतिकता कहता हूं, आपने पूछा, मैं किस बात को 'मॉरैलिटी' कहता हूं? मैं इस बात को नैतिकता कहता हूं। मैं इस बात को नैतिकता कहता हूं कि दूसरे व्यक्तित्व का सम्मान, दूसरे व्यक्ति का उतना ही सम्मान जितना मेरा सम्मान मेरी दृष्टि में है, इसको मैं नैतिकता कहता हूं। इसके अतिरिक्त मेरे लिए कोई नैतिकता नहीं है। और मैं मानता हूं कि और जितनी नैतिकताएं हैं वे सब इसके नीचे अपने-आप फलित होती हैं। दूसरे व्यक्ति का मेरे ही जितना सम्मान नैतिकता का मूल है। जिस दिन मैं अपने को दूसरे व्यक्ति के ऊपर रखता हूं उसी दिन मैं अनैतिक हो जाता हूं। जिस दिन मैं दूसरे व्यक्ति का साधन की तरह उपयोग करता हूं और मैं साध्य हो जाता हूं, उस दिन मैं अनैतिक हो जाता हूं। प्रत्येक व्यक्ति अपने-आप में साध्य है, 'एंड' है। जब तक मैं इसका स्मरण रखता हूं, तब तक मैं नैतिक होता हूं।

आपने पूछा है कि एक पति को तो बुरा लगता है। लग सकता है। असल में पति एक प्रकार की अनैतिकता है। एक तरह की 'इम्मॉरैलिटी' है। असल में पति इस बात की घोषणा है कि उसने एक पत्नी को सदा के लिए अपना साधन बना लिया है। पति

इस बात की घोषणा है कि उसने एक व्यक्ति को खरीद लिया है। पति इस बात की घोषणा है कि वह एक व्यक्ति का मालिक हो गया है, 'ओनरशिप' हो गई है। व्यक्तियों की मालकियत नहीं हो सकती। मालकियत सिर्फ वस्तुओं की हो सकती है। और व्यक्तियों की मालकियत अनैतिक है।

तो मेरे हिसाब में तो विवाह एक अनैतिकता है। प्रेम एक नैतिकता है, विवाह एक अनैतिकता है। और जिस दिन दुनिया अच्छी होगी, उस दिन दो व्यक्ति जीवन भर साथ रह सकते हैं, लेकिन वह साथ रहना कोई 'कांट्रेक्ट' नहीं होगा। यह साथ रहना कोई सौदा नहीं होगा, यह साथ रहना कोई संस्था नहीं होगी, यह साथ रहना उनके प्रेम का प्रतिफल होगा। यह उनका प्रेम है कि वे साथ रह रहे हैं। जिस दिन प्रेम कानून बनता है, उस दिन प्रेम की हत्या हो जाती है।

जिस दिन मैं किसी स्त्री से कह सकता हूं कि मैं हकदार हूं तुमसे प्रेम मांगने का, क्योंकि तुम मेरी पत्नी हो, उस दिन प्रेम कानून बन गया। उस दिन पत्नी अगर कहे कि आज तो मैं प्रेम के क्षण में नहीं हूं—और प्रेम के 'मूड' होते हैं, प्रेम के क्षण होते हैं। इस योग्य बहुत कम लोग हैं जो चौबीस घंटे प्रेम में हैं। चौबीस घंटे प्रेम में वही हो सकता है जो प्रेम हो गया है। साधारणजन तो किसी क्षण में प्रेम में होता है, चौबीस घंटे प्रेम में नहीं होता। लेकिन कानून तो क्षण नहीं देखेगा। मैं अपनी पत्नी से कह सकता हूं कि मैं इस वक्त प्रेम चाहता हूं। प्रेम मांगा जा सकता है, क्योंकि तुम मेरी पत्नी हो। और उसे प्रेम देना पड़ेगा। और जब प्रेम देना पड़ता है तब वह प्रेम नहीं रह जाता। लेकिन पत्नी अगर कहे कि आज तो प्रेम का क्षण ही नहीं है, इस क्षण तो आप मेरे कोई भी नहीं हैं—क्योंकि नाता तो सिर्फ प्रेम का ही है, इस वक्त प्रेम ही नहीं है—इस वक्त आप ऐसे ही पराए हैं जैसे कोई और पराया है, तो कठिनाई खड़ी होगी कानून में।

लेकिन हम यह भी समझें कि क्या यह संभव है जो हमने बनाया है नीति के नाम पर? हमने नीति के नाम पर बहुत-सी असंभावनाएं थोप दी हैं और उन असंभावनाओं की वजह से बहुत अनैतिकता पैदा हुई है। मैं आज एक व्यक्ति को प्रेम करता हूं, क्या मैं पक्का वायदा कर सकता हूं कि कल मैं किसी दूसरे व्यक्ति को प्रेम नहीं करूंगा? कैसे कर सकता हूं? यह बिलकुल असंभव है। अभी कल आया नहीं, अभी वह व्यक्ति भी मुझे नहीं मिला जिससे कि मेरा प्रेम हो सकता है, मैं वायदा कैसे कर सकता हूं? और अगर मैंने वायदा किया, तो कल उपद्रव यह होगा कि कल वह व्यक्ति तो आ जाएगा—वह मेरे वायदे को देखता नहीं—कल वह चित्त की घड़ी भी आ जाएगी—वह भी मेरे वायदे को नहीं देखती—कल एक घटना घट सकती है जब मैं किसी के प्रति प्रेमपूर्ण हो जाऊं, लेकिन तब मेरा वायदा बीच में खड़ा हो जाएगा। तब दोहरी कठिनाई होगी। या तो मैं चोरी से किसी के प्रेम में हो जाऊं, जो कि अनैतिकता होगी। क्योंकि जिस दिन दुनिया में प्रेम को भी चोरी से किसी के प्रेम में हो जाऊं, जो कि अनैतिकता होगी। क्योंकि जिस दिन दुनिया में प्रेम को भी चोरी से करना पड़े, उस दुनिया में और क्या है जिसको हम ईमानदारी से कर सकेंगे? एक तरफ यह होगा कि मैं चोरी से प्रेम करूं और दूसरी तरफ यह होगा कि जिससे मैंने प्रेम का वायदा किया है उसके साथ मैं प्रेम का अभिनय करूं। क्योंकि अब उसके साथ प्रेम कैसे हो सकेगा! और जिस दुनिया में प्रेम का भी अभिनय करना पड़ता हो, वहां किस चीज का आचरण किया जा सकेगा?

तो मैं पति को, विवाह को अनैतिकताएं मानता हूं, जो एक अनैतिक समाज ने ईजाद की हैं। और उनके साथ ही हजार तरह की अनैतिकताएं पैदा होती हैं। जब हम पति को, पत्नी को बहुत जोर से कस देते हैं, वेश्या पैदा हो जाती हैं। फौरन पैदा हो जाती हैं। वेश्या जो है, वह सती-सावित्रियों की रक्षा है। सती-सावित्री बचानी है तो वेश्या पैदा करनी पड़ेगी। लेकिन स्त्रियां भी पसंद करेंगी कि उनका पति एक वेश्या के पास चला जाए, बजाए पड़ोसी की पत्नी से प्रेम में पड़ जाए। क्योंकि प्रेम में 'इनवॉल्वमेंट' है, खतरा है। पड़ोसी की पत्नी के प्रेम में अगर पति पड़ जाए, तो पत्नी को खतरा है। वेश्या के पास चला जाए तो कोई खतरा नहीं है। वह वापस सुबह लौट आएगा। और यह पैसे का सौदा है, इसमें कोई खतरा नहीं है। इसलिए पत्नियां वेश्याओं के लिए राजी हो गइं, प्रेम के लिए राजी नहीं हुइं।

अब जब इस सब को मैं ऐसा कहता हूं, तो आप जो कहते हज ठीक कहते हैं कि 'टैबूज़' से भरा हुआ आदमी, हजार तरह के संस्थान, हजार तरह के संस्कार, हजार तरह की आदतें, हजार तरह की नैतिकताओं में पला हुआ आदमी, वह बड़ी मुश्किल में पड़ जाएगा। मैं आपसे कहता हूं, वह बड़ी मुश्किल में पड़ा ही हुआ है। मैं जो कह रहा हूं, उससे वह मुश्किल के बाहर जा सकता है। वह मुश्किल में पड़ा ही हुआ है। कहां है वह आदमी, जो मुश्किल में नहीं है? सब आदमी मुश्किल में पड़े हैं।

लेकिन, अगर मुश्किल पुरानी है, तो हमें दिखाई नहीं पड़ती। अगर मुश्किल आदतन हो गई, तो दिखाई नहीं पड़ती। अगर बीमारी स्थायी है, तो हम उसे भूल जाते हैं। मैं जो कह रहा हूं वह नई मुश्किल होगी। नई मुश्किल इसलिए नहीं है कि मैं जो कह रहा हूं उससे आदमी की जिंदगी में मुश्किलें आएंगी, मैं जो कह रहा हूं उससे एक मुश्किल होगी कि पुरानी मुश्किल आदतें छोड़नी पड़ेंगी। पुरानी मुश्किल के संस्कार छोड़ने पड़ेंगे। और अगर किसी दिन पृथ्वी इस बात के लिए राजी हो सकी कि हम जीवन को सहज कर लें, और जीवन पर असंभावनाएं न थोपें, तो कृष्ण जैसे लाखों व्यक्तित्व पैदा हो सकते हैं। कोई एक ही कृष्ण पैदा हो, यह जरूरी नहीं है। सारी पृथ्वी कृष्णों से भर सकती है।

आखिरी प्रश्न उन्होंने पूछा है कि कृष्ण के बहुत रंगों की बात हुई है। बहुत रंगों के आदमी थे! रंगीन आदमी थे! एक रंग में उनको नहीं बताया जा सकता। इसी कारण। बहुत रंग के आदमी थे। कई रंग एकसाथ थे उस आदमी में। शरीर तो एक ही रंग का रहा होगा, लेकिन आदमी कई रंग का था। फिर देखने वाली आंखों पर बहुत कुछ निर्भर करता है कि कौन-सा रंग दिखाई पड़ता है। तो जिनने जिस आंख से देखा होगा, उन्हें वे रंग दिखाई पड़ गए होंगे। हां, एक आदमी भी तीन हालातों में तीन रंग देख सकता है। क्योंकि एक ही आदमी तीन हालातों में एक ही आदमी कहां रहता है? कभी जब मैं प्रेम में होता हूं तब आपको दूसरा रंग दिखाई पड़ता है। और जब मैं क्रोध में होता हूं तब दूसरा रंग दिखाई पड़ता है। और कभी आप मेरे प्रति प्रेम में होते हैं तब दूसरा रंग दिखाई पड़ता है। और कभी जब आप मेरे प्रति क्रोध में होते हैं तो दूसरा रंग दिखाई पड़ता है। और वे रंग रोज बदलते रहते हैं। रंग प्रतिपल बदलते रहते हैं। सब बदलता रहता है। यहां थिर कुछ भी नहीं है। इस जगत में थिरता जैसी बात ही झूठ है। यहां सब बदल रहा है। लेकिन, अधिक लोगों ने उनमें सांवला रंग ही देखा। उसके कुछ कारण हैं।

ऐसा लगता है कि सांवला रंग उनकी थिरता का स्थायित्व गुण रहा होगा। यानी वे सांवले रंग में ही अथिर होते रहे होंगे। वह चंचल रहे होंगे, सांवले रंग में ही। इस मुल्क के मन में सांवले रंग के लिए कुछ आग्रह हैं। असल में गोरा रंग उतना सुंदर कभी भी नहीं होता, जितना सांवला रंग सुंदर होता है। उसके कई कारण हैं। लेकिन आमतौर से हमें गोरा रंग सुंदर दिखाई पड़ता है, क्योंकि गोरे रंग की चमक में बहुत-सी असुंदरताएं छिप जाती हैं। और काले रंग में कुछ भी नहीं छिपता, इसलिए काला आदमी मुश्किल से कभी सुंदर होता है। गोरे आदमी बहुत सुंदर होते हैं क्योंकि काला रंग कुछ छिपाता नहीं है, सीधा प्रगट कर देता है। सफेदी की चमक में बहुत-सी चीजें छिप जाती हैं। इसलिए गोरे रंग के बहुत-से आदमी सुंदर दिखाई पड़ेंगे, काले रंग का कभी-कभी कोई आदमी सुंदर होता है। लेकिन जब काले रंग का कोई सुंदर होता है, तो गोरे रंग का सुंदर आदमी एकदम फीका पड़ जाता है। इसलिए हमने राम को भी सांवला, कृष्ण को भी सांवला—हमने जिनको भी सुंदर देखा उनको हमने सांवले रंग में देखा। सांवले रंग का सौंदर्य 'रेअरिटी' है। वह बहुत 'रेअर' है। सफेद रंग के सुंदर बहुत लोग होते हैं। वह कोई 'रेअरिटी' नहीं है। वह कोई बहुत विशेषता नहीं है। सफेद रंग का सुंदर होना बड़ी साधारण बात है, सांवले रंग का सुंदर होना बड़ी असाधारण बात है।

कुछ और भी कारण हैं। सफेद रंग में गहराई नहीं होती, 'डेप्थ' नहीं होती, फैलाव होता है। इसलिए सफेद शक्ल 'फ्लैट' होती है, 'डीप' नहीं होती। नदी देखी है, जब गहरी हो जाती है तब सांवली हो जाती है। सांवले रंग में एक 'डेप्थ' है। फैलाव नहीं है, एक 'इनटेंसिटी' है। सांवला चेहरा चेहरे पर ही समाप्त नहीं होता, उसमें भीतर कुछ 'ट्रांसपेरेंट' भी होता है। उसमें पर्तें होती हैं। सांवले आदमी के चेहरे के भीतर चेहरे, चेहरे के भीतर चेहरों की पर्तें होती हैं। हां, गोरा आदमी 'फ्लैट' होता है, उसका चेहरा साफ, जो है सामने होता है। इसलिए गोरे रंग से बहुत जल्दी ऊब पैदा हो जाती है। सांवले रंग से ऊब पैदा नहीं होती। उसमें नए रंग दिखाई ही पड़ते चले जाते हैं। और कृष्ण जैसा आदमी ऐसा आदमी है कि उससे ऊब पैदा हो नहीं सकती।

अभी आप जानकर हैरान होंगे कि पश्चिम की सारी सुंदरियां सांवला होने के लिए बड़ी दीवानी हैं। सागर के तट पर लेटी हैं। किसी तरह धूप थोड़ी सांवली कर दे। क्या पागलपन आ गया है? असल में जब भी कोई संस्कृति अपने शिखर पर पहुंचती है, तब फैलाव कम मूल्य का रह जाता है, गहराई ज्यादा मूल्य की हो जाती है। हमको पश्चिम का आदमी सुंदर दिखाई पड़ता है, पश्चिम का आदमी जानता है कि अब सौंदर्य गहराई में खोजना है, हो चुकी वह बात। अब पश्चिम की सुंदर स्त्री सांवला होने की कोशिश में लगी है। इसलिए पश्चिम का सुंदरतम आदमी भी 'ट्रांसपेरेंट' नहीं होता। उसका चेहरा बोथला हो जाता है। वह सफेद रंग की खराबी है।

वह सफेद रंग की खूबियां हैं, कि बहुत लोग सुंदर हो सकते हैं सफेद रंग में। सफेद रंग की खराबी है, कि उसमें बहुत गहरा सौंदर्य नहीं हो सकता। इसलिए सांवले रंग पर हमने देखा। मैं नहीं मानता कि कृष्ण सांवले रहे ही होंगे यह कोई जरूरी नहीं है। हमने सांवला देखा। इतना प्यारा आदमी था कि हम उसको गोरा नहीं सोच सके। हमने उनको सांवला सोचा। वे सांवले हो भी सकते हैं, वह मेरे लिए गौण है।

मेरे लिए तथ्य बहुत गौण हैं। मेरे लिए काव्य बहुत महत्वपूर्ण हैं। हम न सोच सके इस आदमी को गोरा, क्योंकि यह इतने रंग का आदमी था, इतना गहरा आदमी था, और इसके चेहरे में झांकते जाने, झांकते जाने का मन होता था, डूबते जाने का मन होता था। इसमें और गहराइयां थीं, जो उघड़ती चली जाती थीं। इसलिए बहुत रंग में एक व्यक्ति ने भी देखा और बहुत लोगों ने भी देखा, पर एक स्थायी रंग में हमने सोचा है, वह है सांवला रंग। श्याम नाम ही उनको इसलिए दे दिया। श्याम का मतलब है, काले। कृष्ण का मतलब भी है, काला। न केवल हमने सोचा, बल्कि हमने नाम भी जो उन्हें दिए उसमें सांवलापन था। श्याम कहा, कृष्ण कहा, वे सब काले रंग के ही प्रतीक हैं।

और एक बात उन्होंने पूछी है कि एक तरफ उघाड़ते हैं वस्त्रों को कृष्ण, दूसरी तरफ उघड़ती हुई द्रौपदी पर वस्त्र फेंकते हैं। असल में जिसने कभी उघाड़ा नहीं, वह जिंदगी भर उघाड़ता ही रहता है। लेकिन जिसने उघाड़कर देख लिया, अब वह वस्त्र ढांक सकता है।

ढांकने और उघाड़ने में एक और बड़ा फर्क है।

प्रेम तो उघाड़ने की आज्ञा दे सकता है। प्रेम उघाड़ना चाहता है। लेकिन द्रौपदी प्रेम से नहीं उघाड़ी जा रही थी। द्रौपदी बड़ी घृणा से उघाड़ी जा रही थी। द्रौपदी को देखने वाली आंखें प्रेम की जिज्ञासा से भरी हुई आंखें न थीं। जो घटना है, उस घटना का मेरे लिए मूल्य नहीं—जैसा मैं निरंतर कहता हूं, मेरे लिए तथ्यों का कोई मूल्य नहीं। कोई चमत्कार ऐसा घटा हो कि दूर से कोई कृष्ण ढांकते रहे हों, मैं मानता हूं कि ये सब प्रतीक हैं। कृष्ण ने किसी-न-किसी तरह उस दिन द्रौपदी को उघाड़ने से रोका होगा, इतना ही मैं मानता हूं। किसी-न-किसी तरह कृष्ण उस दिन द्रौपदी के उघड़ने में बाधा बन गए होंगे, इतना ही मैं मानता हूं। लेकिन कवि जब इसको लिखेगा तो कविता बन जाएगी। और जब कविता बनेगी, और बाद में जब हम कविता को तथ्य बनाते हैं, तब 'मिकरेल' मालूम होने लगते हैं। बाकी कविता ही एकमात्र 'मिकरेल' है और कोई मामला नहीं है। कृष्ण किसी-न-किसी तरह उस दरबार में नग्न की जाती द्रौपदी के लिए बाधा बन गए होंगे। वह बाधा अनिवार्य हो गई होगी।

और यह बड़े मजे की बात है कि कृष्ण का नाम है कृष्ण, द्रौपदी का एक नाम कृष्णा है। सच तो यह है कि कृष्ण जैसा शानदार आदमी नहीं हुआ और कृष्णा जैसी शानदार स्त्री नहीं हुई। द्रौपदी का कोई मुकाबला नहीं है। हमने बहुत सीता और दूसरों की चर्चा की है, द्रौपदी की जरा कम की है। क्योंकि हमें बड़ी तकलीफ है द्रौपदी के साथ। वह पांच पतियों की पत्नी है, वह हमें भारी पड़ गई। लेकिन ध्यान रखें, एक ही पति की पत्नी होना भी बड़ी मुश्किल बात है। पांच पतियों की पत्नी होना असाधारण स्त्री का काम हो सकता है।

कृष्ण का बड़ा प्रेम है कृष्णा से। गहरे-से-गहरे उनकी प्रेयसियों में से वह है। इसलिए प्रेम इस क्षण में काम न आए तो कब काम आए। पर वह बात अलग है। वह तो कभी द्रौपदी पर चर्चा करेंगे, तब।

'भागवत में उल्लेख है...जो कृष्ण पर अहमदाबाद में हमने बात की थी और आपने बताया था कि शुक्र का विनियोग होते हुए भी वसुदेव और देवकी का जो संभोग हुआ था, वह आध्यात्मिक संभोग था, जिसकी वजह से कृष्ण मिले...मगर कृष्ण के सोलह हजार रानियों या आठ प्रतिभावान पटरानियों के साथ संबंध होने पर भी कृष्ण या राम, दोनों के पुत्र उतने प्रतिभावान नहीं हुए। इससे क्या यह नतीजा निकल सकता है कि राम या कृष्ण ने आध्यात्मिक संभोग अपनी पत्नियों के साथ किया ही नहीं?'

* इसमें दो बातें समझ लेनी उचित होंगी।

एक तो आध्यात्मिक संभोग का यह अर्थ नहीं है कि मैं शारीरिक संभोग की कोई निंदा कर रहा हूं। आध्यात्मिक संभोग से मेरा सिर्फ इतना ही अर्थ है कि दो व्यक्तियों के शरीर नहीं मिले हैं, आत्मा भी मिली है। शरीर के मिलन से पैदा होता है, वह उन

ऊंचाइयों को उपलब्ध नहीं हो सकता, जो आत्मा के मिलन से पैदा होता है और ऊंचाइयों को उपलब्ध होता है। कृष्ण का जन्म मैं आध्यात्मिक संभोग का फल मानता हूं। क्राइस्ट का जन्म भी आध्यात्मिक संभोग का फल मानता हूं। इसीलिए क्राइस्ट के जानने वाले लोग यह कह सके कि क्राइस्ट का जन्म भी हो गया लेकिन 'मेरी' वर्जिन बनी रही, क्वांरी बनी रही। क्योंकि शरीर के तल पर कोई वासना और कोई गहरी कामना न थी। आत्मा के तल पर मिलन हुआ था, शरीर छाया की तरह उसके पीछे गया था। इसलिए छाया पर उसकी कोई जिम्मेदारी नहीं है।

लेकिन यह सवाल निश्चित ही महत्वपूर्ण है कि फिर कृष्ण के बच्चे हैं, राम के बच्चे हैं, इनका क्या हुआ?

इसके और कारण हैं। पहला कारण तो यह है कि कृष्ण से बड़ा बेटा तो पैदा होना असंभव है। वसुदेव से बड़ा बेटा पैदा हो सकता है। वसुदेव साधारणजन हैं। कृष्ण तो ऊंचाई हैं, आखिरी से आखिरी जो हो सकती है। कृष्ण जैसे पिता से जो भी बेटा होगा, वह इतिहास में सदा भुला दिया जाएगा। वह सदा कृष्ण जैसे व्यक्ति की छाया में पड़ जाता है। जैसे विंध्याचल में जो पहाड़ की ऊंचाई बड़ी ऊंचाई हो सकती है, वही ऊंचाई एवरेस्ट के पास आकर बड़ी मुश्किल में पड़ जाएगी। चीजें तो दिखाई पड़ती हैं न! कृष्ण के पीछे कोई भी नहीं दिखाई पड़ सकता। इसलिए जो लोग 'पीक' को छूते हैं जीवन की, आखिरी ऊंचाई को छूते हैं, उनसे बहुत अच्छे बेटे नहीं उपलब्ध हो पाते। कभी नहीं हो सके हैं। न बुद्ध से हो सका, न कृष्ण से हो सका, न राम से हो सका, न महावीर से हो सका, किसी से नहीं हो सका।

इसका कारण सिर्फ इतना है कि इतनी बड़ी ऊंचाई पर ये खड़े हैं कि लव-कुश कितने ही ऊंचे हों, राम की छाया में ही खो जाएंगे। ये लव-कुश किसी और के घर पैदा हुए होते, तो ये भी इतिहास में नाम छोड़ जाते। साधारणजन न थे। लेकिन नाम छोड़ जाना तो सदा 'रिलेटिव' और 'कंपेरेटिव' है। राम के साथ नाम नहीं छोड़ सकते। साधारण बेटे न थे ये दोनों। राम को साधारण बेटा हो भी नहीं सकता। लेकिन सवाल तो राम से तुलना का पड़ेगा इतिहास में। दशरथ बहुत साधारण पिता हैं। दशरथ को कोई जानता भी नहीं अगर रात पैदा न होते। दशरथ का कोई अर्थ भी न होता। राम हुए हैं इसलिए दशरथ का कोई नाम है। छोटे बाप के घर बड़ा बेटा पैदा हो जाता है, तो बाप भी बड़ा हो जाता है और बड़े बाप के घर बड़ा बेटा भी पैदा हो जाता है, तो छोटा हो जाता है।

संभोग तो आध्यात्मिक ही था। जो पैदा हुए हैं आध्यात्मिक से ही पैदा हुए हैं। लेकिन हमारी तौल तो 'रिलेटिव' होगी सदा, 'कंपेरेटिव' होगी, तुलना होगी।

वह कहानी हम सबको पता है कि अकबर ने एक लकीर खींची और दरबार के लोगों से कहा कि बिना छुए इसे छोटा कर दो। और कोई उसे छोटा न कर पाया, और बीरबल ने एक बड़ी लकीर उसके पास खींच दी। उस लकीर को छुआ नहीं और वह लकीर छोटी हो गई। लकीर उतनी ही रही।

लव-कुश जो हैं, हैं, लेकिन राम की लकीर बहुत बड़ी है। उसके नीचे वे एकदम खो जाते हैं। राम की लकीर न होती, तो लव-कुश भी दिखाई पड़ते। इतिहास उनके भी चरण-चिह्नों का स्मरण रखता। लेकिन उनकी जरूरत न रही। राम के पीछे आकर उनका कोई अर्थ नहीं।

'लिबिडो', काम-ऊर्जा का उल्लेख, आया है। आध्यात्मिक संभोग की बात भी आई है। इसी कड़ी में एक बड़ा ही नाजुक और स्पष्ट प्रश्न है। बांसुरी कृष्ण की है, संगीत के मधुर सुर राधा के हैं। गीत कृष्ण के अधरों के हैं, उस गीत की काव्य-माधुरी राधा की है। नृत्य कृष्ण का है, किंतु उनके चरणों में गति और झंकार राधा की है। ऐसा अभिन्न व्यक्तित्व है कृष्ण का और राधा का। तभी तो हम राधाकृष्ण तो कहते हैं, लेकिन विवाहित होते हुए भी रुक्मिणी-कृष्ण कोई नहीं कहता। राधा को कृष्ण से अलग कर दिया जाए तो कृष्ण का जीवन भी औरों की तरह ही उदास-उदास और अधूरा-अधूरा-सा लगने लगेगा। और मजे की बात यह है कि कृष्ण की अनंत लीलाओं के आधारग्रंथ भागवत में राधा का कहीं नाम नहीं आया है। कोई बात नहीं। लेकिन कृष्ण के जीवन की समग्रता में शक्ति और प्रेमरूप राधा का क्या भावात्मक या 'सेक्सुअल' संबंध है, इस पर प्रकाश डालने का एकमात्र अधिकारी है, भगवान श्री, आप-जैसा कृष्ण!'

* जो लोग शास्त्रों में खोजते हैं, उनके लिए बड़ी कठिनाई रही है इस बात से कि राधा का कोई उल्लेख ही नहीं है। और तब कुछ ने तो यह भी कहना शुरू कर दिया कि राधा जैसा कोई व्यक्तित्व कभी हुआ भी नहीं। राधा बाद के युगों के कवियों की कल्पना है। स्वभावतः जो इतिहास में जीते हैं, तथ्यों में जीते हैं, उनके लिए कठिनाई है। राधा का उल्लेख बहुत बाद के ग्रंथों में शुरू होता है। किसी प्राचीन ग्रंथ में राधा का कोई उल्लेख नहीं होता।

मेरी हालत बिलकुल उल्टी है। मैं मानता हूं कि राधा का उल्लेख न होने का कुल कारण इतना है कि राधा कृष्ण से इतनी एक और लीन हो गई कि अलग उल्लेख की कोई जरूरत नहीं। जो अलग थे, उनका उल्लेख है। जो अलग न थी और छाया की तरह थी, उसके उल्लेख की कोई जरूरत नहीं। उल्लेख करने के लिए भी तो किसी का अलग होना जरूरी है। रुक्मिणी अलग है। वह कृष्ण को प्रेम करती हो सकती है, कृष्णमय नहीं है। कृष्ण से उसके संबंध हो सकते हैं, कृष्ण में आत्मसात नहीं है। संबंध तो उनके ही होते हैं, जो अलग हैं। राधा का कोई संबंध नहीं है कृष्ण से। राधा कृष्ण ही है। इसलिए अगर उसका उल्लेख न किया गया हो, तो मैं मानता हूं न्याययुक्त है, उल्लेख नहीं किया जाना चाहिए।

तो एक तो यह बात खयाल लें, उसके उल्लेख न होने का कारण है। वह छाया की तरह अदृश्य है। इतनी भी अलग नहीं, इतनी भी भिन्न नहीं कि उसे कोई जाने और पहचाने। इतनी भी अलग नहीं, इतनी भी भिन्न नहीं कि कोई उसे नाम भी दे, कोई जगह भी दे। इस कारण।

दूसरी बात, यह भी सच है कि राधा के बिना कृष्ण का व्यक्तित्व एकदम अधूरा रह जाएगा। अधूरा इसलिए रह जाएगा कि मैंने कहा कि कृष्ण पूरे पुरुष हैं। इसको थोड़ा समझना पड़ेगा। ऐसे पुरुष बहुत कम हैं जगत में, जो पूरे पुरुष हों। प्रत्येक पुरुष के भीतर उसका भी स्त्री-अंग होता है, और प्रत्येक स्त्री के भीतर उसका भी पुरुष-अंग होता है। मनस को जानने वाले लोग कहते हैं कि प्रत्येक स्त्री के भीतर पुरुष है, प्रत्येक पुरुष के भीतर स्त्री है। जो फर्क है वह सिर्फ 'डिग्रीज' का, क्रमों का है। जिसे हम पुरुष कहते हैं, वह साठ फीसदी पुरुष है, चालीस प्रतिशत स्त्री है। इसलिए ऐसे भी पुरुष हैं जो स्त्रैण मालूम पड़ते हैं, और ऐसी भी स्त्रियां हैं जो पुरुष मालूम पड़ती हैं। अगर मात्रा बहुत ज्यादा है भीतर स्त्री की, तो पुरुष पर हावी हो जाएगी। अगर पुरुष की मात्रा बहुत ज्यादा है, तो स्त्री पर हावी हो जाएगी। लेकिन इस अर्थों में भी कृष्ण पूर्ण हैं, जो मैं कह रहा था। वे पूर्ण पुरुष हैं। उनके भीतर स्त्री का कोई तत्व ही नहीं है। या जैसे मीरा को मैं कहूंगा, वह पूरी स्त्री है। उसके भीतर पुरुष का कोई तत्व ही नहीं है। और जब भी कोई पूर्ण पुरुष होगा, तब एक अर्थ में अधूरा पड़ जाएगा, उसको पूरी स्त्री जरूरी है। अन्यथा वह अधूरा पड़ जाएगा। हां, अधूरा पुरुष जी सकता है बिना स्त्री के। उसके भीतर अपनी स्त्री भी है, जिससे काम चलता है। लेकिन कृष्ण जैसा पुरुष, अनिवार्य रूप से उसकी राधा उसके साथ खड़ी हो जाएगी। और उसे पूर्ण स्त्री चाहिए।

अब यह भी बड़े मजे की बात है कि पूर्ण स्त्री और पूर्ण पुरुष का थोड़ा अर्थ भी हम समझें। और भी उसके अर्थ हैं।

पुरुष की जो गहरी-से-गहरी गहराई है, वह आक्रामक है, 'एग्रेसिव' है। स्त्री की गहरी-से-गहरी गहराई है, वह समर्पण की है, 'सरेंडर' की है। कोई भी स्त्री पूरी स्त्री न होने से कभी पूरा समर्पण नहीं कर पाती। कोई भी पुरुष पूरा पुरुष न होने से कभी पूरा आक्रामक नहीं हो पाता। इसलिए दो अधूरे स्त्री और पुरुष जब मिलते हैं, तो निरंतर कलह और संघर्ष चलता है। चलेगा। क्योंकि स्त्री के भीतर कुछ है, जो आक्रामक भी है। वह आक्रमण भी करती है। कुछ है जो सम्पर्क भी है, वह समर्पण भी करती है। किसी क्षण में वह पुरुष के हाथ भी दाबती है, पैर भी दाबती है, उसके पैर पर सिर भी रखती है। और किसी क्षण में वह बिलकुल ही विकराल हो जाती है और पुरुष की गर्दन दबाने को उत्सुक हो जाती है। ये दोनों रूप उससे निकलते हैं। पुरुष किसी क्षण बड़ा आक्रामक होता है, बिलकुल दबा डालना चाहता है। और किसी क्षण वह बिलकुल दब्बू हो जाता है और स्त्री के पीछे घूमने लगता है। वे दोनों उसके भीतर हैं।

रुक्मिणी का कृष्ण के साथ बहुत गहरा मेल नहीं हो सकता, उसके भीतर पुरुष है। राधा पूरी डूब सकी, वह अकेली निपट स्त्री है, वह समर्पण पूरा हो गया। वह समर्पण पूरा हो सका। कृष्ण का किसी ऐसी स्त्री से बहुत गहरा मेल नहीं बन सकता जिसके भीतर थोड़ा भी पुरुष है। अगर कृष्ण के भीतर थोड़ी-सी स्त्री हो तो उससे मेल बन सकता था। लेकिन कृष्ण के भीतर स्त्री है ही नहीं। वह पूरे ही पुरुष हैं। पूरा समर्पण ही उनसे मिलन बन सकता है। इससे कम वह न मांगेंगे, इससे कम में काम न चलेगा। वह पूरा ही मांग लेंगे। हालांकि पूरा मांगने का मतलब यह नहीं है कि वह कुछ न देंगे, पूरा मांगकर वह पूरा ही दे देंगे। इसलिए

हुआ ऐसा पीछे कि रुक्मिणी छूट गई, जिसका उल्लेख था शास्त्रों में, जो दावेदार थी। और भी दावेदार थीं, वे छूटती चली गइ। और जो बिलकुल गैर-दावेदार था, जिसका कोई दावा ही नहीं था, जिसे कृष्ण अपनी है ऐसा भी नहीं कह सकते थे—राधा तो पराई थी, रुक्मिणी अपनी थी। रुक्मिणी से संबंध संस्थागत था, विवाह का था। राधा से संबंध प्रेम का था, संस्थागत नहीं था—जिसके ऊपर कोई दावा नहीं किया जा सकता था, जिसके पक्ष में कोई 'कोर्ट' निर्णय न देती कि यह तुम्हारी है, आखिर में ऐसा हुआ कि वे जो अदालत से जिनके लिए दावा मिल सकता था, जो कृष्ण से 'मेंटिनेंस' मांग सकती थीं, वे खो गइ, और यह स्त्री धीरे-धीरे प्रगाढ़ होती चली गई, और वक्त आया कि रुक्मिणी भूल गई, और कृष्ण के साथ राधा का नाम ही रह गया।

और मजे की बात है कि राधा ने सब छोड़ा कृष्ण के लिए, लेकिन नाम पीछे न जुड़ा, नाम आगे जुड़ गया। कृष्ण-राधा कोई नहीं कहता, राधा-कृष्ण हम कहते हैं, जो सब समर्पण करता है, वह सब पा लेता है। जो बिलकुल पीछे खड़ा हो जाता है, वह बिलकुल आगे हो जाता है।

नहीं, राधा के बिना कृष्ण को हम न सोच पाएंगे। राधा उनकी सारी कमनीयता है। राधा उनका सारा-का-सारा जो भी नाजुक है, वह सब है, जो 'डेलीकेट' है, वह है। राधा उनके गीत भी, उनके नृत्य का घुंघरू भी, राधा उनके भीतर जो भी स्त्रैण है वह सब है। क्योंकि कृष्ण निपट पुरुष हैं, और इसलिए अकेले कृष्ण का नाम लेना अर्थपूर्ण नहीं है। इसलिए वह इकट्ठे हो गए, राधाकृष्ण हो गए। राधाकृष्ण होकर इस जीवन के दोनों विरोध इकट्ठे मिल गए हैं। इसलिए भी मैं कहता हूं कि यह भी कृष्ण की पूर्णताओं की एक पूर्णता है।

महावीर को किसी स्त्री के साथ खड़ा करके नहीं सोचा जा सकता। स्त्री असंगत है। महावीर का व्यक्तित्व स्त्री के बिना है। महावीर की शादी हुई, विवाह हुआ, बच्ची हुई; लेकिन महावीर का एक पंथ दिगंबरों का मानता है कि नहीं, उनका विवाह नहीं हुआ, न उनकी कोई बच्ची हुई। मैं मानता हूं कि शायद ऐतिहासिक तथ्य यही है कि उनका विवाह हुआ हो, बच्ची हुई हो, लेकिन मनोवैज्ञानिक तथ्य दिगंबर जो कहते हैं वही ठीक है कि महावीर जैसे आदमी के साथ स्त्री को जोड़ना ही बेमानी है। हुआ भी हो तो नहीं माना जा सकता। महावीर कैसे किसी स्त्री को प्रेम करेंगे। असंभव। महावीर के पूरे व्यक्तित्व में कहीं कोई वह छाया भी नहीं है। बुद्ध के साथ स्त्री थी, लेकिन छोड़कर चले गए। क्राइस्ट के साथ भी स्त्री को जोड़ना मुश्किल है। वे निपट क्वांरे हैं। 'बैचलर' होने में उनकी अर्थवत्ता है। इस अर्थ में भी वह सब अधूरे हैं। इस जगत की व्यवस्था में जैसे धन विद्युत अधूरी है ऋण विद्युत के बिना, जैसे विधेय अधूरा है निषेध के बिना, ऐसे स्त्री और पुरुष का एक परम मिलन भी है। स्त्री और पुरुष का न कहें, स्त्रैणता और पौरुषता का; आक्रामकता का और समर्पण का; जीतने का और हारने का।

अगर हम कृष्ण और राधा के लिए कोई प्रतीक खोजने निकलें, तो सारी पृथ्वी पर चीन भर में एक प्रतीक है जिसे वह 'यिन' और 'यांग' कहते हैं। बस एक प्रतीक है, चीनी भाषा में, क्योंकि चीनी भाषा तो 'पिक्टोरियल' है, चित्रों की है, उसके पास एक प्रतीक है, जिसे वे जगत का प्रतीक कहते हैं। उसमें एक गोल वर्तुल है और वर्तुल में दो मछलियां एक-दूसरे को मिलती हुई—आधा सफेद, आधा काला। काली मछली में सफेद गोल एक घेरा, सफेद मछली में काला एक घेरा और पूर्ण एक वर्तुल। दो मछलियां पूरी तरह मिलकर एक गोल घेरा बना रही हैं। एक मछली की पूंछ दूसरे के मुंह से मिल रही है, दूसरी मछली का मुंह पहली की पूंछ से मिल रहा है। और दोनों मछलियां मिलकर पूरा गोल घेरा बन गई हैं। 'यिन एंड यांग'। एक का नाम 'यिन', एक का नाम 'यांग' है। एक ऋण, एक धन। वे दोनों मिलकर इस जगत का पूरा वर्तुल हैं।

राधा और कृष्ण पूरा वर्तुल हैं। इस अर्थ में भी वे पूर्ण हैं। अधूरा नहीं सोचा जा सकता कृष्ण को। अलग नहीं सोचा जा सकता। अलग सोचकर वे एकदम खाली हो जाते हैं। सब रंग खो जाते हैं। पृष्ठभूमि खो जाती है, जिससे वे उभरते हैं। जैसे हम रात के तारों को नहीं सोच सकते रात के अंधेरे के बिना। अमावस में तारे बहुत उज्जवल होकर दिखाई पड़ने लगते हैं, बहुत शुभ्र हो जाते हैं, बहुत चमकदार हो जाते हैं। दिन में भी तारे तो होते हैं, आप यह मत सोचना कि दिन में तारे खो जाते हैं। खोएंगे भी बेचारे तो कहां खोएंगे! दिन में भी तारे होते हैं—आकाश तारों से भरा है अभी भी—लेकिन सूरज की रोशनी में तारे दिखाई नहीं पड़ सकते। अगर आप किसी गहरे कुएं में चले जाएं, तो दो-तीन सौ फीट गहरा कुआं हो तो आपको उस गहरे कुएं से तारे दिन

में भी दिखाई पड़ सकते हैं। क्योंकि बीच में अंधेरे की पर्त आ जाती है; फिर तारे दिखाई पड़ सकते हैं। रात में तारे आते नहीं सिर्फ दिखाई पड़ते हैं, क्योंकि अंधेरे की चादर फैल जाती है। और अंधेरे की चादर में तारे चमकने लगते हैं।
कृष्ण का सारा व्यक्तित्व चमकता है राधा की चादर पर। चारों तरफ से राधा की चादर उन्हें घेरे है। वह उसमें ही पूरे-के-पूरे खिल उठते हैं। कृष्ण अगर फूल हैं तो राधा जड़ है। वह पूरा-का-पूरा इकट्ठा है। इसलिए उनको अलग नहीं कर सकते। वह युगल पूरा है। इसलिए राधाकृष्ण पूरा नाम है, कृष्ण अधूरा नाम है।

7 जीवन में महोत्सव के प्रतीक कृष्ण

'आपने कहा कि आप विवाह को अनैतिक कहते हैं। और सर्वाधिक विवाह कृष्ण कर ते हैं। क्या वे विवाह रूपी अनैतिकता को प्रोत्साहित करते हैं?'

* विवाह को अनैतिक कहा मैंने, विवाह करने को नहीं। जो लोग प्रेम करेंगे, वे भी साथ रहना चाहेंगे। इसलिए प्रेम से जो विवाह निकलेगा, वह अनैतिक नहीं रह जा एगा। लेकिन हम उल्टा काम कर रहे हैं। हम विवाह से प्रेम निकालने की कोशिश कर रहे हैं, जो कि नहीं हो सकता। विवाह तो एक बंधन है और प्रेम एक मुक्ति है । लेकिन जिनके जीवन में प्रेम आया है, वे भी साथ जीना चाहें, स्वाभाविक है। लेकिन साथ जीना उनके प्रेम की छाया ही हो। जिस दिन विवाह की संस्था नहीं होगी, उस दिन स्त्री और पुरुष साथ नहीं रहेंगे, ऐसा मैं नहीं कह रहा हूं। सच तो मैं ऐसा कह रहा हूं कि उस दिन ही वे ठीक से साथ रह सकेंगे। अभी साथ दिखाई पड़ते हैं, साथ रहते नहीं। साथ होना ही संग होना नहीं है। पास-पास होना ही निकट होना नहीं है। जुड़े होना ही एक होना नहीं है।
विवाह की संस्था को मैं अनैतिक कह रहा हूं। और विवाह की संस्था चाहेगी कि प्रेम दुनिया में न बचे। कोई भी संस्था सहज उदभावनाओं के विपरीत होती है। क्योंकि तब संस्थाएं नहीं टिक सकतीं। दो व्यक्ति जब प्रेम करते हैं, तब वह प्रेम अनूठा ही होता है। वैसा प्रेम किन्हीं दो व्यक्तियों ने कहीं किया होता है। लेकिन दो व्यक्ति जब विवाह करते हैं तब वह अनूठा नहीं होता। तब वैसा विवाह करोड़ों लोगों ने किया है। विवाह एक पुनरुक्ति है, प्रेम एक मौलिक घटना है। जितना विवाह प्रभावी होगा, उतना ही प्रेम का गला घुटता चला जाएगा। लेकिन, जिस दिन हम प्रेम को प्राथमिकता दे सकेंगे जीवन में और दो व्यक्तियों का साथ रहना एक समझौता नहीं होगा, उनके प्रेम का सहज फल होगा, उस दिन विवाह नहीं होगा इस अर्थ में जिस तरह आज है। न इस तरह तलाक होगा, जैसा आज है। दो व्यक्ति साथ रहना चाहें, यह उनका आनंद है। इसमें समाज को कोई बाधा नहीं है।
मैंने विवाह संस्था की तरह अनैतिक है, ऐसा कहा। विवाह प्रेम की छाया की तरह बिलकुल स्वाभाविक है। उसमें कोई अनैतिकता नहीं है।

'भगवान श्री, विवाह के संबंध में आपने अभी-अभी जो चर्चा की, उसे ध्यान में रख यह भी दर्शाने की कृपा करें कि जिस दिन हम प्रेम का आधार बनाएंगे, उस दिन

बच्चों का क्या होगा? वे किसके कहलाएंगे? और, क्या ये 'सोशल प्रॉब्लम' नहीं बन जाएंगे?'

* बहुत-सी कठिनाइयां दिखाई पड़ेंगी। लेकिन वे कठिनाइयां इसलिए दिखाई पड़ती हैं कि हम पुरानी धारणाओं को आधार बनाकर ही सोचते हैं। जैसे, सच तो यह है कि जिस दिन हम प्रेम को परम मूल्य दे सकें, उस दिन बच्चे व्यक्तियों के हैं, ऐसा मानने की बात ही बेमानी है। बच्चे हैं भी नहीं व्यक्तियों के। सदा थे भी नहीं। एक युग था जब पिता का तो कोई पता नहीं चलता था, मां का ही पता होता था। मातृसत्ता का युग था। इसलिए जानकर आपको हैरानी होगी कि पिता शब्द बहुत पुराना नहीं है। काका, 'अंकल' शब्द ज्यादा पुराना है। मां बहुत पुराना शब्द है और पिता बहुत नया शब्द है। पिता तो आया तब, जब हमने विवाह की व्यक्तिगत व्यवस्था सुनिश्चित कर दी, अन्यथा पिता का तो कोई पता न चलता था। कबीले के सभी लोग पितातुल्य थे। मां का पता चलता था। पूरा कबीला बच्चों के प्रति प्रेमपूर्ण भाव रखता था। और बच्चे चूंकि किसी के भी नहीं थे, इसलिए सभी के थे। किसी के हैं, इससे फायदा पहुंचा है, ऐसा नहीं है। बच्चे सभी के होंगे, फायदा और बड़ा पहुंच सकता है।

जिस दिन हम प्रेम को आधार बनाएंगे, उस दिन बच्चों का क्या होगा? सवाल उठता है, क्या वह 'सोशल प्रॉब्लम' बन जाएंगे? नहीं, अभी बच्चे सामाजिक समस्या हैं, क्योंकि अभी हमने बच्चों को व्यक्तियों के ऊपर छोड़ दिया है। और फिर भविष्य में जो नित-नवीन बहुत कुछ संभव होता जा रहा है, उसे देखते हुए समझ लेना चाहिए कि हमने जो पीछे आधार बनाए थे वे कोई टिकने वाले नहीं हैं।

जैसे, पुरानी दुनिया में बच्चों के पैदा होने के लिए कम-से-कम बाप का जिंदा होना तो जरूरी था। भविष्य में नहीं रहेगा। आज भी नहीं है। अगर मैं मर जाऊं तो भी मेरे वीर्यकण संरक्षित रखे जा सकते हैं हजार साल तक, दस हजार साल तक। मैं तो नहीं रहूंगा, मेरा बच्चा दस हजार साल बाद पैदा हो सकता है। मां अब तक अनिवार्य रही है, लेकिन भविष्य में अनिवार्य नहीं रह जाएगी। जिस दिन भी हम व्यवस्था, खोज ही लिए हैं करीब-करीब, उस दिन हम मां को नौ महीने पेट में बच्चे को ढोने का व्यर्थ बोझ नहीं देंगे। उस दिन बच्चे को हम, जो मां के पेट में सुविधा उपलब्ध हो सकती है वह यंत्र में भी सुविधा उपलब्ध हो सकती है और ज्यादा व्यवस्थित उपलब्ध है। उस दिन तो कौन मां है, कौन पिता है, कहना मुश्किल हो जाएगा। हमें पूरा ढांचा बदलना पड़ेगा। पूरी समाज की स्त्रियां मां हैं और पूरे समाज के पुरुष पिता हैं। और उन बच्चों को सबका होकर बड़ा होना पड़ेगा। निश्चित ही सब बदलेगा।

जो मैं कह रहा हूं, वह वैज्ञानिक ढंग से भी जो काम दुनिया में चल रहा है, उसकी वजह से भी जरूरी हो जाएगा। अभी हमें खयाल में नहीं आता, क्योंकि हम पुराने ढंग से सोचते चले जाते हैं। आपके घर बच्चा पैदा होता है, तो आप डाक्टर की दव

ाई लाते हैं, सबसे अच्छे डाक्टर की। आप यह नहीं सोचते कि मैं इसका पिता हूं तो मैं खुद ही दवाइयां बनाकर इसको पिला दूं। आप कपड़ा बनवाते हैं, सबसे अच्छे द र्जी से, यह नहीं सोचते कि मैं इसका पिता हूं तो मैं ही कपड़ा बनाकर पहनाऊं। अ गर समझ थोड़ी और गहरी बढ़ेगी तो आप यह भी न चाहेंगे कि आपका बच्चा आप के वीर्यकण से ही पैदा हो, अगर इससे अच्छा वीर्यकण समाज में उपलब्ध हो सकता है। अच्छा है कि आपका बच्चा लंगड़ा-लूला पैदा न हो, अच्छा है कम बुद्धि का पैद ा न हो। अच्छा है कि श्रेष्ठतम बीज उसे उपलब्ध हो सके। मां भी न चाहेगी कि मां होने के लिए वह नौ महीने बच्चे को पेट में घसीटे, जब कि उससे बेहतर सुविधाएं उपलब्ध हो गई हैं, बच्चा ज्यादा स्वस्थ पैदा हो सकता हो, ज्यादा बुद्धिमान पैदा हो सकता हो। तो मां और पिता का अब तक जो 'फंक्शन' रहा है, वह भविष्य में र हने वाला नहीं है। और जिस दिन मां और पिता का 'फंक्शन' विदा हो जाएगा, उ स दिन आपके विवाह का क्या वजूद रह जाता है, विवाह का क्या आधार रह जाता है। उसका कोई मतलब नहीं रह जाता। उस दिन प्रेम ही आधार रह जाता है। टेक नॉलॉजी भी मनुष्य को उस जगह ला रही है, मनुष्य के मन की समझ भी उस जग ह ला रही है, जहां व्यक्तिगत दावेदारी समाप्त हो जाती है।

इसका यह मतलब नहीं है कि सारी समस्याएं समाप्त हो जाती हैं। हर नए प्रयोग के साथ नई समस्याएं होती हैं। बड़ा सवाल यह नहीं है कि समस्याएं रोज बेहतर होत ी जाएं। कल की समस्याओं से आज की समस्याएं बेहतर हों। ऐसा नहीं है कि हम ि ववाह को हटा देंगे तो मनुष्य और मनुष्य के बीच के सारे संघर्ष विदा हो जाएंगे। न हीं लेकिन वे संघर्ष विदा हो जाएंगे जो विवाह के कारण ही पैदा होते हैं और वे का फी बड़ी मात्रा में हैं। कुछ नई बातें पैदा होंगी, कुछ नई समस्याएं पैदा होंगी। पृथ्वी पर रहने के लिए समस्याएं जरूरी हैं। उनको हम हल करेंगे, उन्हीं में हमारा विकास है। उनसे हम लड़ेंगे और आगे बढ़ेंगे।

एक बात जरूर ध्यान में ले लेने जैसी है, और कठिनाई उसी से आती है। कठिनाई इससे आती है कि जिस ढांचे में हम रहने के आदी हो गए हैं, उस ढांचे की समस्या ओं को भी हम सहने के आदी हो गए हैं। अगर उससे बेहतर व्यवस्था भी मिल सक ती हो, तो उस बेहतर व्यवस्था के साथ नई समस्याएं मिलेंगी जिनके हम आदी नहीं हैं। और उससे कठिनाई होती है। लेकिन बुद्धि का काम यही है कि वह उन समस्य ाओं को समझे, हल करे, और सोचे कि पुरानी समस्याओं से अगर बेहतर समस्या एं मिलती हों, तो हम परिवर्तन करें। ऐसा मेरा मानना यह है कि मनुष्य के जीवन में जब तक प्रेम का फूल पूरी तरह न खिले, तब तक उसके व्यक्तित्व में रौनक, त ब तक उसके व्यक्तित्व में जिसको हम कहें नमक, वह नहीं उत्पन्न होता। उसका ज ीवन फीका-फीका हो जाता है। और मैं मानता हूं कि फीके व्यक्तित्व के बजाय समस् याओं से भरे हुए तेज और चमकदार व्यक्तित्व का मूल्य है। एक छोटी-सी कहानी, फिर हम दूसरा सवाल लें—

मैंने सुना है कि एक बगीचे में एक छोटा-सा फूल—घास का फूल—दीवाल की ओट में ईंटों में दबा हुआ जीता था। तूफान आते थे, उस पर चोट नहीं हो पाती थी। ईंटों की आड़ थी। सूरज निकलता था, उस फूल को नहीं सता पाता था, उस पर ईंटों की आड़ थी। बरसा होती थी, बरसा उसे गिरा नहीं पाती थी, क्योंकि वह जमीन प र पहले ही से लगा हुआ था। पास में ही उसके गुलाब के फूल थे।
एक रात उस घास के फूल ने परमात्मा से प्रार्थना की कि मैं कब तक घास का फू ल बना रहूंगा। अगर तेरी जरा भी मुझ पर कृपा है तो मुझे गुलाब का फूल बना दे । परमात्मा ने उसे बहुत समझाया कि तू इस झंझट में मत पड़, गुलाब के फूल की बड़ी तकलीफें हैं। जब तूफान आते हैं, तब गुलाब की जड़ें भी उखड़ी-उखड़ी हो ज ाती हैं। और जब गुलाब में फूल खिलता है, तो खिल भी नहीं पाता है कि कोई तो. ड लेता है। और जब बरसा आती है तो गुलाब की पंखुड़ियां बिखर कर जमीन पर गिर जाती है। तू इस झंझट में मत पड़, तू बड़ा सुरक्षित है। उस घास के फूल ने कहा कि बहुत दिन सुरक्षा में रह लिया, अब मुझे कुछ झंझट लेने का मन होता है। आप तो मुझे बस गुलाब का फूल बना दें। सिर्फ एक दिन के लिए सही, चौबीस घं टे के लिए सही। पास-पड़ोस के घास के फूलों ने समझाया, इस पागलपन में मत पड़ , हमने सुनी हैं कहानियां कि पहले भी हमारे कुछ पूर्वज इस पागलपन में पड़ चुके हैं, फिर बड़ी मुसीबत आती है। हमारा जातिगत अनुभव यह कहता है कि हम जहां हैं, बड़े मजे में हैं। पर उसने कहा कि मैं कभी सूरज से बात नहीं कर पाता, मैं क भी तूफानों से लड़ नहीं पाता, मैं कभी बरसा को झेल नहीं पाता। उन पास के फूलों ने कहा, पागल, जरूरत क्या है? हम ईंट की आड़ में आराम से जीते हैं। न धूप हमें सताती, न बरसा हमें सताती, न तूफान हमें छू सकता।
लेकिन वह नहीं माना और परमात्मा ने उसे वरदान दे दिया और वह सुबह गुलाब का फूल हो गया। और सुबह से ही मुसीबतें शुरू हो गईं। जोर की आंधियां चलीं, प्र ाण का रोआं-रोआं उसका कांप गया, जड़ें उखड़ने लगीं। नीचे दबे हुए उसके जाति के फूल कहने लगे, देखा पागल को, अब मुसीबत में पड़ा। दोपहर होते-होते सूरज तेज हुआ। फूल तो खिले थे, लेकिन कुम्हलाने लगे। बरसा आई, पंखुड़ियां नीचे गिर ने लगीं। फिर तो इतने जोर की बरसा आई कि सांझ होते-होते जड़ें उखड़ गईं और वह वृक्ष फूलों का पौधा जमीन पर गिर पड़ा। जब वह जमीन पर गिर पड़ा तब व ह अपने फूलों के करीब आ गया। उन फूलों ने उससे कहा, पागल, हमने पहले ही कहा था। व्यर्थ अपनी जिंदगी गंवाई। मुश्किलें ले लीं नई अपने हाथ से। हमारी पुरा नी सुविधा थी, माना कि पुरानी मुश्किलें थीं, लेकिन सब आदी था, परिचित था, स ाथ-साथ जीते थे, सब ठीक थे। उस मरते हुए गुलाब के फूल ने कहा, नासमझो, मैं तुमसे भी यही कहूंगा कि जिंदगी भर ईंट की आड़ में छिपे हुए एक घास का फूल होने से चौबीस घंटे के लिए गुलाब का फूल हो जाना बहुत आनंदपूर्ण है। मैंने अपनी आत्मा पा ली, मैं तूफानों से लड़ लिया, मैंने सूरज से मुलाकात ले ली, मैं हवाओं

से जूझ लिया, मैं ऐसे ही नहीं मर रहा हूं, मैं जीकर मर रहा हूं। तुम मरे हुए जी रहे हो।

निश्चित ही जिंदगी को अगर हमें जिंदा बनाना है, तो बहुत-सी जिंदा समस्याएं खड़ी हो जाएंगी। लेकिन होनी चाहिए। अगर हमें जिंदगी को मुर्दा बनाना है, तो हो सकता है हम सारी समस्याओं को खत्म कर दें, लेकिन तब आदमी मरा-मरा जीता है। तो मैं मानता हूं कि नई समस्याएं तो होंगी ही, होनी ही चाहिए, और मनुष्य को इतना भरोसा और आत्मविश्वास होना चाहिए कि वह नई समस्याओं से जूझ सकेगा। कोई कारण नहीं है। अभी हमने जो व्यवस्था बनाई है, वह सारी-की-सारी व्यवस्था भय पर खड़ी है। सब तरह के भय, सब तरह के 'फियर'। उसका उद्गम ही 'फियर ओरियेंटेशन' है। वह उसी में से जन्मती है कि ऐसा हो जाएगा, ऐसा हो जाएगा, ऐसा हो जाएगा, इसका क्या होगा, उसका क्या होगा। यह सब भय सोचकर हम घर में रुके रह जाते हैं। और हम कभी यह नहीं सोचते कि हमको हो क्या रहा है? क्या होगा, इस डर से नया कदम नहीं उठाते और जो हो रहा है उसको देखते नहीं, क्योंकि उसे देखेंगे तो नया कदम उठाना पड़ेगा। और फिर पता नहीं क्या हो जाए। इसलिए जैसा है उसे हम बोझ की तरह ढोए चले जाते हैं।

मैंने शायद ही, इधर मुझे लाखों लोगों से मिलने का मौका आया है, बहुत निकट से उनकी आंखों में, उनके हृदय में झांकने का मौका आया, मैंने ऐसा पुरुष नहीं देखा जो विवाह से तृप्त हो। मैंने ऐसी स्त्री नहीं देखी जो विवाह में आनंदित हो। लेकिन अगर उनसे भी कहा जाए तो वे कहेंगे कि ये-ये समस्याएं उठ जाएंगी। लेकिन बड़ा मजा यह है कि तुम यहां समस्या के बिना जी रहे हो, वहां की समस्याओं का तुम्हें पता है, खयाल है; सिर्फ चौबीस घंटे उनमें गुजरते हो, इसलिए पता नहीं चलता। आदी हो गए हो। वह तो हम पिंजड़े के पंछी को भी अगर कहें कि खुले आकाश में उड़, तो वह कहेगा, बहुत दिक्कतें आएंगी, यहां सब सुरक्षा है। दिक्कतें आएंगी भी। और पिंजड़े के पंछी को और भी आ जाएंगी क्योंकि उसे खुले आकाश में उड़ने का अनुभव भी नहीं रहा है। लेकिन, माना कि पिंजड़े में बड़ी सुरक्षा है, लेकिन कहां खुले आकाश का आनंद, कहां पिंजड़े की सुरक्षा। तो कब्र में भी बहुत सुरक्षा है।

'स्वामी सहजानंद का आरोप है कि कृष्ण की रसिक-पद्धति से लोग तरे हैं कम, मरे हैं ज्यादा। उसके दो कारण हैं। एक तो कृष्ण की गोपी बनकर ही भक्ति करने की पद्धति, जैसे गुजरात में 'महाराज लायबल केस' बना। और दूसरा जीवन को उत्सव मानने में मनुष्य की भोगवृत्ति को मिलता हुआ प्रोत्साहन।

दूसरा सवाल कि रामभक्त हनुमान में जो ब्रह्मचर्य, शौर्य, प्रेरणा और वैराग्य-विवेक के गुण मिलते हैं और उनमें जितनी प्रवृत्तिवादी 'एक्टिविटी' है, उतनी कृष्णभक्त मीरा, नरसी और सूरदास में नहीं है। मतलब यह कि कृष्ण-पूजक अंतर्मुखी प्रवृत्ति के ज्यादा हैं और सामाजिक कार्य की दिशा में उनका योगदान नहीं-जैसा है। आपके विचार?

तीसरा सवाल कि कृष्ण, राम, महावीर तथा बुद्ध किसी को चित्रकारों ने और पुरा णकारों ने दाढ़ी-मूंछ नहीं बतलाई, सिर्फ क्राइस्ट को है। इसका क्या मतलब है?'

* पहली बात, जीवन एक काम है या उत्सव? अगर जीवन एक काम है, तो बोझ हो जाएगा। अगर जीवन एक काम है, तो कर्तव्य हो जाएगा। अगर जीवन एक का म है, तो हम उसे ढोएंगे और किसी तरह निपटा देंगे। कृष्ण जीवन को काम की त रह नहीं, उत्सव की तरह, एक 'फेस्टिविटी' की तरह लेते हैं। महोत्सव है एक। जी वन एक आनंद का उत्सव है, काम नहीं है। ऐसा नहीं है कि उत्सव की तरह लेते हैं तो काम नहीं करते हैं। काम तो करते हैं। लेकिन काम उत्सव के रंग में रंग जा ता है। काम नृत्य-संगीत में डूब जाता है। निश्चित ही, बहुत काम न हो पाएगा इस भांति, थोड़ा ही हो पाएगा। 'क्वांटिटी' ज्यादा नहीं होगी, लेकिन 'क्वालिटी' का क ोई हिसाब नहीं है! परिणाम तो कम होगा, मात्रा कम होगी, लेकिन गुण बहुत गहर ा हो जाएगा।
कभी आपने सोचा कि काम वाले लोगों ने, जो हर चीज को काम में बदल देते हैं, जिंदगी को कैसा तनाव से भर दिया है। जिंदगी की सारी 'एंग्जाइटी', सारी चिंता, यह अति कामवादी लोगों की उपज है। वे कहते हैं, करो, एकदम करते रहो, करो या मरो। उनका नारा यह है—'डू ऑर डाय'। जिंदा हो तो करो कुछ, अन्यथा मरो । कोई एक काम करो। और उनके पास कोई और दृष्टि नहीं है, लेकिन किसलिए करो? आदमी करता किसलिए है? आदमी करता इसलिए है कि थोड़ी देर जी सके । और जीने का क्या मतलब होगा फिर? फिर जीने का मतलब उत्सव होगा। हम काम भी इसलिए कर सकते हैं कि किसी क्षण में हम नाच सकें। लेकिन काम इतने जोर से पकड़ लेता है कि फिर नाचने का तो मौका ही नहीं आता, गीत गाने का मौका ही नहीं आता; बांसुरी बजाने के लिए फुर्सत कहां रह जाती है, दफ्तर से घर हैं, घर से दफ्तर हैं; घर दफ्तर आ जाता है दिमाग में बैठकर, दिमाग में बैठकर दफ्तर घर पहुंच जाता है, सब गड्डमड्ड हो जाता है, सब उलझ जाता है; फिर जिंदग ी भर दौड़ते रहते हैं इस आशा में कि किसी दिन वह क्षण आएगा, जिस दिन विश्रा म करेंगे और आनंद ले लेंगे। वह क्षण कभी नहीं आता। वह आएगा ही नहीं। काम वृत्ति वाले आदमी को वह क्षण कभी नहीं आता है।
कृष्ण जीवन को देखते हैं उत्सव की तरह, महोत्सव की तरह, एक खेल की तरह, एक क्रीड़ा की तरह। जैसा कि फूल देखते हैं, जैसा कि पक्षी देखते हैं, जैसा कि आ काश के बादल देखते हैं, जैसा कि मनुष्य को छोड़कर सारा जगत देखता है। उत्सव की तरह। कोई पूछे इन फूलों से कि खिलते किसलिए हो, काम क्या है? बेकाम ि खले हुए हो? तारों से कोई पूछे कि चमकते किसलिए हो? काम क्या है? पूछे कोई हवाओं से, बहती क्यों हो? काम क्या है?
मनुष्य को छोड़कर जगत में काम कहीं भी नहीं है। मनुष्य को छोड़कर जगत में मह ोत्सव है। उत्सव चल रहा है प्रतिपल। कृष्ण इस जगत के उत्सव को मनुष्य के जीव

न में भी ले आते हैं। वे कहते हैं, मनुष्य का जीवन भी इस उत्सव के साथ एक हो जाए। ऐसा नहीं है कि उत्सव में काम नहीं होगा। ऐसा नहीं है कि हवाएं नहीं दौड़ रही हैं। दौड़ रही हैं। ऐसा नहीं है कि चांद-तारे नहीं चल रहे हैं। ऐसा नहीं है कि फूलों को खिलने के लिए कुछ नहीं करना पड़ता है, बहुत कुछ करना पड़ता है। लेकिन करना गौण हो जाता है, होना महत्वपूर्ण हो जाता है। 'डूइंग' पीछे हो जाती है, 'बीइंग' पहले हो जाता है। उत्सव पहले हो जाता है, काम पीछे हो जाता है। काम सिर्फ उत्सव की तैयारी होती है। दुनिया की सारी आदिम जातियों के पास अगर हम जाएं तो वह दिन भर काम करते हैं, ताकि रात नाच सकें; रात ढोल बजे और गीत हो। लेकिन सभ्य आदमी के पास जाएं तो वह दिन भर काम करता है, रात भर काम करता है। और उससे कोई पूछे कि वह काम किसलिए कर रहा है? तो वह कहता है, कल विश्राम कर सकें। विश्राम को 'पोस्टपोन' करता है, काम को करता चला जाता है, फिर वह कल कभी नहीं आता। तो मैं कृष्ण के इस महोत्सववादी रुख से राजी हूं। फिर मेरा देखना यह है कि इतना काम करके भी आदमी ने कर क्या लिया? अगर काम करना अपने में ही लक्ष्य है, तब तो बात दूसरी है। लेकिन इतना काम करके हमने कर क्या लिया है?

सिसीफस की कहानी है कि देवताओं ने उसे श्राप दिया है कि वह एक पत्थर की चट्टान को पहाड़ पर चढ़ाकर ले जाए और जब वह 'पीक' पर, चोटी पर पहुंचेगा तो पत्थर फिर खिसक कर नीचे चला जाएगा। सिसीफस फिर नीचे जाए, फिर पहाड़ तक खींचे तो वह फिर नीचे चला जाएगा। सिसीफस फिर नीचे जाएगा। वह सिसीफस नीचे से ऊपर तक खींचता है, बड़े काम में लगा रहता है, पहाड़ पर पहुंचता है, फिर पत्थर नीचे खिसक जाता है, फिर वह नीचे आता है, फिर वह पत्थर को ऊपर चढ़ाने लगाता है। काम वाले आदमी की जिंदगी सिसीफस की जिंदगी हो जाती है। चढ़ाता रहता है पत्थरों को, पत्थर गिरते रहते हैं, वह चढ़ाता रहता है। कभी चढ़ाने में लगा रहता है, कभी नीचे गए पत्थर को दौड़कर पकड़ने में लगा रहता है। लेकिन पूरी जिंदगी में वह क्षण नहीं आता जब विराम हो, विश्राम हो, उत्सव हो। वह हो नहीं सकता।

इन काम करने वाले लोगों ने सारी दुनिया को 'मैड हाउस' बना दिया है, बिलकुल पागलखाना कर दिया है। और एक-एक आदमी पागल हो गया है। सब दौड़े जा रहे हैं कि कहीं पहुंचना है, यह मत पूछो...मैंने सुना है एक आदमी के बाबत कि वह तेजी से टैक्सी में सवार हुआ और उसने कहा, जल्दी चलो। टैक्सी वाले ने जल्दी टैक्सी चला दी। थोड़ी देर बाद उसने पूछा, लेकिन चलना कहां है? उसने कहा, यह सवाल नहीं है, सवाल जल्दी चलने का है।

हम सब जिंदगी में ऐसे ही सवार हैं। जल्दी चलो। कहां जा रहे हैं आप? सब चिल्ला रहे हैं, 'हरी अप'। लेकिन कहां? जोर से करो जो भी कर रहे हो। लेकिन क्यों? क्या होगा इसका फल? क्या पाने की इच्छा है? उसका कुछ पता नहीं। लेकिन इतना समय भी नहीं कि इसको सोचें। इतने में देरी हो जाएगी, पड़ोसी आगे निकल ज

।एगा। हम सब भागे जा रहे हैं। काम करने वाले लोगों ने, ये अति कामवादी, जिन को दिखाई पड़ता है कि काम ही सब कुछ है, उन्होंने भारी नुकसान पहुंचाए हैं। एक नुकसान तो इन्होंने पहुंचाया है कि जिंदगी से उत्सव के क्षण छीन लिए हैं। दुनिया में उत्सव कम होते जा रहे हैं। रोज कम होते जा रहे हैं। उत्सव की जगह मनोरंजन आता जा रहा है, जो कि बहुत भिन्न बात है। उत्सव की जगह मनोरंजन आ रहा है, जो बिलकुल भिन्न बात है। उत्सव में स्वयं सम्मिलित होना पड़ता है, मनोरंजन में दूसरे को सिर्फ देखना पड़ता है। मनोरंजन 'पैसिव' है, उत्सव बहुत 'एक्टिव' है। उत्सव का मतलब है, हम नाच रहे हैं। मनोरंजन का मतलब है, कोई नाच रहा है, हमने चार आने दिए और देख रहे हैं। लेकिन कहां नाचने का आनंद और कहां नाच देखने का आनंद। इतना काम हमने कर लिया है कि शाम थक जाते हैं, तो किसी को नाचते हुए देखना चाहते हैं।

कहीं, कामू ने कहीं एक बात लिखी है कि जल्दी वह वक्त आ जाएगा कि आदमी प्रेम भी अपने नौकरों से करवा लिया करेंगे। उसके लिए फुर्सत भी तो चाहिए। काम से फुर्सत कहां है? एक नौकर रख लेंगे घर में कि तू प्रेम का काम कर दिया कर, क्योंकि मुझे तो फुर्सत नहीं होती। इतना काम में लगा हुआ हूं कि यह प्रेम का गोरखधंधा...प्रेम तो उत्सव है। प्रेम से कुछ फल तो निकलता नहीं आगे। अपने में ही जो है, है। तो इसको कौन करेगा? काम वाले लोग नहीं करेंगे। इसके लिए तो सेक्रेटरी रखा जा सकता है, जो इसको निपटा लेगा। काम की अति दौड़ ने उत्सव के क्षण गंवा दिए हैं और उत्सव से जो पुलक आती थी जीवन में, जो थिरक आती थी, वह खो गई है। इसलिए कोई आदमी प्रसन्न नहीं है, प्रमुदित नहीं है, खिला हुआ नहीं है।

इसका 'सब्स्टीच्यूट' हमें खोजना पड़ा मनोरंजन। क्योंकि कोई तो क्षण चाहिए जब हम कुछ न करें, विश्राम में हों। लेकिन हम जो मनोरंजन खोजे हैं, वह उधार उत्सव है। दूसरा कर रहा है और हम देख रहे हैं। वह ऐसे है जैसे दूसरा प्रेम कर रहा है, हम देख रहे हैं। फिल्म में आप क्या करते हैं? कोई प्रेम कर रहा है, आप देख रहे हैं। कृपा करें, आप भी प्रेम करें, यह 'सब्स्टीच्यूट' काम न करेगा। यह बिलकुल झूठा है, कागजी है, इससे कोई हल होने वाला नहीं है। इससे आप खयाल में होंगे कि काम हो गया, लेकिन आपकी वह जो प्रेम की आकांक्षा थी, वह नहीं तृप्त होगी। वह और भूखी हो जाएगी, और प्यासी हो जाएगी।

कृष्ण उत्सववादी हैं, वह जीवन को एक महालीला, एक महा उत्सव की तरह लेते हैं। इन काम करने वालों ने जगत को कोई फायदा पहुंचाया हो, ऐसा तो नहीं दिखाई पड़ता, जगत को उलझाया बुरी तरह। जटिल बहुत कर दिया। और इतना जटिल हो गया वह कि आदमी उसमें जी सके ठीक से, यह भी कठिनाई मालूम होने लगी है।

यह भी ठीक है कि अगर हम राम के भक्त को देखें—हनुमान को देखें, तो वह बड़े कर्मठ, निष्ठावान, ब्रह्मचारी, शक्तिशाली, वह सब दिखाई पड़ते हैं। कृष्ण का भक्त

वैसा नहीं दिखाई पड़ता। मीरा है—नाचती है, गाती है, लेकिन वह बात नहीं दिखाई पड़ती। वह दिखाई नहीं पड़ेगी। क्योंकि राम जिंदगी को काम की तरह देखते हैं। कृष्ण जिंदगी को उत्सव की तरह देखते हैं। उत्सव की तरह देखना बात ही और है। लेकिन, अगर आपको चुनाव करना पड़े कि हनुमान के साथ चौबीस घंटे रहना कि मीरा के साथ, सोचना पड़ेगा। थोड़ा सोचना पड़ेगा। तब आपको पता चलेगा कि हनुमान से अगर छुट्टी रहे तो ठीक। इनका करियेगा क्या? इनके साथ चौबीस घंटे गुजारना एक कमरे में मुश्किल हो जाएगा। मीरा के साथ चौबीस जिंदगी भी गुजारी जा सकती है। यह भी सच है कि कृष्ण भक्त, कृष्ण को प्रेम करने वाला, वह जो 'आउटर एक्टिविटी' है, वह जो 'एक्स्ट्रोवर्शन' है, वह जो बहिर्मुखता है, उससे धीरे-धीरे हटता जाता है। वह किसी भीतरी गहरे रस में डूबता जाता है। डूबेगा। क्योंकि उसे दिखाई पड़ता है कि तुम बड़ा अदभुत खो रहे हो, ना-कुछ के लिए।

और जिस दिन दुनिया में मीराएं बढ़ जाएं उस दिन दुनिया में बड़ी शांति होगी, हनुमान बढ़ जाएं तो बड़ा उपद्रव होगा। गांव-गांव अखाड़े खुल जाएंगे और जगह-जगह उपद्रव होने लगेगा। तो एकाध हनुमान चल सकते हैं एकाध गांव में, ज्यादा नहीं चल सकते। मीरा, मीरा का तारतम्य, मीरा का संबंध जीवन के बहुत गहरे तलों से है। हनुमान बेचारे काम करने वाले एक सेवक हैं, एक 'वालंटियर' हैं। 'वालंटियर' को जैसा होना चाहिए, वैसे वे हैं। वे किसी के लिए जी रहे हैं—काम में लगे हैं, धुन के पक्के हैं, सेवक हैं, वह सब ठीक है। लेकिन, मीरा के आनंद की धुन 'बीइंग' की धुन है, 'डूइंग' की नहीं। वह कुछ करने का मजा नहीं है, होने के क्षण का मजा है। होना ही आनंदपूर्ण है। और अगर गीत वह गा रही है तो गीत गाना काम नहीं है, उसके होने के आनंद से निकली हुई अभिव्यक्ति है। वह इतने आनंद में है कि उससे गीत ही निकल सकता है।

तो मैं चाहूंगा कि जगत धीरे-धीरे संगीत से भरे, गीत से भरे, नृत्य से भरे, उत्सव से भरे। और जिसको हम बाहर का जगत कहते हैं, काम की जो दुनिया है, इस काम की दुनिया का इतना ही उपयोग है कि हम इसमें इतने दूर तक हों जितने दूर तक भीतर जाने के लिए जरूरी हो। इससे ज्यादा होने की जरूरत नहीं है। और रोटी कमानी पड़ेगी, लेकिन रोटी कमाना जिंदगी नहीं है। रोटी कमानी ही इसलिए पड़ती है कि कमा लिया और फिर जिएं। लेकिन कुछ लोग रोटी पर रोटी का ढेर लगाते चले जाते हैं। वे खाना भूल जाते हैं। जब तक रोटियां इकट्ठी हो पाती हैं तब तक भूख भी मर चुकी होती है, क्योंकि इतने दिन खाया नहीं। तब वे अचानक खड़े रह जाते हैं कि क्या करें?

सिकंदर हिंदुस्तान आता था तो वह डायोजनीज से मिला था। डायोजनीज ने उससे पूछा था कि तुम कहां जा रहे हो? यह क्या कर रहे हो? सिकंदर ने कहा कि पहले मुझे एशिया माइनर जीतना है। डायोजनीज ने कहा कि समझा। फिर क्या इरादा है? उसने कहा, हिंदुस्तान जीतना है। फिर? उसने कहा, सारी दुनिया जीतना है। डायोजनीज ने पूछा, फिर?...वह ऐसा रेत पर लेटा था, सुबह धूप निकली थी, नग्न रे

त पर पड़ा था...उसने कहा, फिर? सिकंदर ने कहा कि फिर तो विश्राम का इरादा है। डायोजनीज खूब खिलखिलाकर हंसने लगा, और पीछे मांद में उसका कुत्ता, जो इसका साथी था उसे आवाज दी कि सुन, इधर आ। यह पागल सिकंदर को देख। ह म अभी आराम कर रहे हैं, यह इतना उपद्रव करके आराम करेंगे। और सिकंदर से डायोजनीज ने कहा, अगर आखिर में आराम ही करना है, आओ, लेट जाओ, नदी के तट पर। जगह यहां काफी है। हम दोनों समा जाएंगे। और मैं आराम कर ही र हा हूं, सिकंदर। इतना करके आराम ही करने का इरादा है न? तो आराम तो अभ ी किया जा सकता है। सिकंदर ने कहा, बात तो तुम्हारी जंचती है, लेकिन अभी न हीं कर सकता हूं, पहले सब जीत लूं। तो डायोजनीज ने कहा, जीत से और विश्राम का क्या संबंध है? क्योंकि हम बिना जीते कर रहे हैं। सिकंदर ने कहा, बात तो जंचती है, लेकिन अब तो मैं निकल चुका यात्रा पर। आधा नहीं लौट सकता हूं। तो डायोजनीज ने कहा, आधे ही लौटोगे, किसकी यात्रा कब पूरी होती है। और यह हु आ, हिंदुस्तान से लौटकर सिकंदर वापस यूनान नहीं पहुंच पाया, बीच में ही मर ग या।

सब सिकंदर मर जाते हैं। आधी यात्रा पर मर जाते हैं। रोटियां इकट्ठी हो जाती हैं, खाने का वक्त नहीं आता। साज-सामान इकट्ठा हो जाता है, बजाने का वक्त नहीं आता। साज ठोंक-पीटकर ठीक कर लिया जाता है। लेकिन जब तक ठोंक-पीट पूरी होती है तब तक हाथ शून्य हो चुके होते हैं, फिर कुछ करने को नहीं बचता।

नहीं, जीवन को तो लेना पड़ेगा उत्सव से ही, वही जीवन की धुनें हैं। आपसे कोई पूछे—गहरे में आप ही अपने से पूछें—कि आप जो कर रहे हैं, वह जीने के लिए कर रहे हैं कि करने के लिए जी रहे हैं? तो आपको उत्तर साफ हो सकेगा। और तब आपको कृष्ण बहुत निकट मालूम पड़ेंगे। आप जीने के लिए कर रहे हैं सब कुछ, क रने के लिए नहीं जी रहे हैं। और अगर जीने के लिए कर रहे हैं सब कुछ, तो फिर ठीक है, इतना ही करना काफी है जितने से जिया जा सके। ज्यादा क्यों करना? उसका कोई अर्थ नहीं है।

स्वभावतः, अगर यह वृत्ति फैल जाए तो बहुत से उपद्रव बंद हो जाएंगे। क्योंकि बहु त से उपद्रव हमारे अत्यधिक करने से पैदा हो रहे हैं। दुनिया ज्यादा शांत, ज्यादा अ ानंदमय, ज्यादा प्रफुल्लित, ज्यादा प्रमुदित होगी। निश्चित ही कुछ बातें चली जाएंगी —चिंताएं चली जाएंगी, तनाव चले जाएंगे, पागलखाने चले जाएंगे, हजारों मानसिक बीमारियां चली जाएंगी, यह जरूर नुकसान होगा। इतनी चीजें चली जाएंगी।

इसलिए मैं तो कहूंगा कि मैं कृष्ण के उत्सववादी चित्त के साथ राजी हूं।

इस देश में न राम को, न कृष्ण को, न बुद्ध को, न महावीर को—जैनों के चौबीस तीर्थंकर में किसी को भी नहीं—दाढ़ी-मूंछ नहीं है उनकी प्रतिमाओं में, न ही उनके ि चत्रों में।

क्या कारण होंगे इसके पीछे?

ऐसा मैं नहीं मानता हूं कि इन सबको दाढ़ी-मूंछ नहीं रही होगी। एकाध को हो सकता है न रही हो, सबको न रही होगी, ऐसा मैं नहीं मान सकता। तथ्यगत वह नहीं है। लेकिन फिर भी, हमने नहीं दी है। तो कुछ कारण होंगे। कई कारण हैं।

बड़ा कारण। पहला कारण तो दाढ़ी-मूंछ आने के पहले व्यक्ति की जो वय है, वह सबसे ज्यादा 'फ्रेश' और ताजी है। उसके बाद फिर सब ढलने लगता है। वह ताजगी का, 'फ्रेशनेस' का आखिरी क्षण है। उसके बाद चीजें उतरनी शुरू हो जाती हैं। हमने इन लोगों का ताजगी का अनंत सागर अनुभव किया है। इन्हें हमने कभी उतरते नहीं देखा जिंदगी में, इन्हें हमने सदा ताजे देखा है। ऐसा नहीं कि ये बूढ़े नहीं हुए, ऐसा नहीं कि इनका शरीर नहीं ढला। ऐसा नहीं कि इनके जीवन में वार्द्धक्य के क्षण नहीं आए। वह सब आए, लेकिन इनकी चेतना को हमने सदा किशोर देखा है। 'इटर्नल यंग'। उन्हें हमने कभी भी—उनकी चेतना की जो हमारी समझ है वह हमने पाई है कि वह सदा ही किशोर है। वे उतने ही ताजे हैं, उनकी ताजगी में, उनकी चेतना की ताजगी में कभी कोई फर्क नहीं पड़ा है। और ये सारी मूर्तियां और सारे चित्र व्यक्तियों के चित्र नहीं हैं, व्यक्तियों की मूर्तियां नहीं हैं। उन व्यक्तियों के भीतर हमने जो झांका है, उसके चित्र हैं। 'कांस्टेंट फ्रेशनेस', एक युवापन, जो सदा उनके साथ है। कृष्ण को बूढ़ा हम सोच भी नहीं सकते। कोई उपाय नहीं है। ऐसा नहीं है कि वे बूढ़े नहीं हुए। वे बूढ़े हुए लेकिन हम सोच नहीं सकते इस आदमी को, यह बूढ़ा कैसे होगा! और कुछ ऐसे बच्चे भी होते हैं जिनको हम सोच भी नहीं सकते कि ये बच्चे हैं, वे पहले से ही बूढ़े होते हैं।

अभी एक गांव में मैं गया और एक लड़की ने मुझसे कहा—उसकी उम्र कोई तेरह-चौदह साल थी—उसने मुझे कहा कि मुझे तो मुक्ति चाहिए। अब यह लड़की बूढ़ी हो गई। मैंने उससे कहा कि तू बूढ़ी हो गई? मुक्ति की बात! अभी जीया भी नहीं। अभी बंधन में पड़ी भी नहीं, अभी खुलने की बात। लेकिन पर उसने कहा कि मेरे घर में तो, बड़ा धार्मिक घर है, वह मुझे अपने घर ले गई, धार्मिक घर जैसा होता है—उदास, मरा हुआ, मां भी मरी हुई, सारा घर उपवास की छाया में दबा हुआ। स्वभावतः। तो यह लड़की बूढ़ी हो गई। अगर इस लड़की का चित्र बनाना पड़े, तो उसको चौदह साल की उम्र देना 'अनआथेंटिक' होगा, अप्रामाणिक होगा। इस लड़की का चित्र बनाना पड़े, तो कैमरा तो चित्र उसका लेगा उसमें चौदह साल आएंगे, लेकिन अगर कोई चित्रकार इसका चित्र बनाए तो अस्सी साल की उम्र बनानी चाहिए। इसके चित्त की उम्र वह हो गई।

बुद्ध, महावीर, कृष्ण, राम, ये सदा 'यंग' हैं। लेकिन, हम पच्चीस साल का भी बना सकते थे उनका चेहरा, तब उन पर दाढ़ी-मूंछ होती। वह तेरह-चौदह साल वाला चेहरा, जिसकी दाढ़ी-मूंछ नहीं है, वह हमने क्यों बनाया? उसके पीछे कारण हैं। जो चीज शुरू हो गई, फिर उसका अंत आता है। अगर दाढ़ी-मूंछ हो गई शुरू, अब वह जाएगी भी, गिरेगी भी, बुढ़ापा आएगा भी। तो इसलिए हमने उस जगह से, जहां

से वह शुरू ही नहीं हुई है, उसको हमने 'लास्ट प्वाइंट' समझ लिया। उसके बाद ह
मने उनका चित्रण नहीं किया। एक कारण।

दूसरा कारण, पुरुष के मन में सौंदर्य का जो खयाल है, वह स्त्रैण है। पुरुष के मन में सौंदर्य की जो प्रतिमा है, वह स्त्री की है। पुरुष के मन में सौंदर्य की प्रतिमा पुरुष की नहीं है। और ये सारे कवि, और ये सारे चित्रकार, और ये सारे शास्त्रकार पुरु
ष हैं। अगर कृष्ण को सुंदर बनाना है—और सुंदर बनाना ही है, क्योंकि कृष्ण से ज्या
दा सुंदर क्या हो सकता है—तो जो चेहरे की शक्ल होगी, वह स्त्रैण होगी। इसलिए बुद्ध की, कृष्ण की, सबके चेहरे की शक्ल स्त्रैण है। चेहरे पर जो बिंब है, वह स्त्री का है। पुरुष का नहीं है। पुरुष की समझ सौंदर्य की स्त्रैण है। इसलिए सारी दुनिया में जैसे हमारी समझ बढ़ती चली गई, पुरुष ने अपनी दाढ़ी-मूंछ काटकर अलग कर दी। कारण वही है। पहले उसने राम, बुद्ध की साफ की, बाद में अपनी साफ कर द
ी। उसके मन में खयाल है कि चेहरा तो स्त्री का सुंदर है। तो स्त्री के चेहरे जैसा कै
से उसका चेहरा हो जाए, इसकी चेष्टा में सतत लगा हुआ है।

हालांकि यह बात स्त्री की तरफ से सच नहीं है। यह बात स्त्री की तरफ से सच नह
ीं है। स्त्री के मन में जो सौंदर्य का अर्थ है, वह सदा पुरुष जैसा है। स्त्री के मन में दूसरी स्त्री बहुत सुंदर नहीं मालूम हो सकती। स्वभावतः, स्त्री के मन में जो सौंदर्य का बिंब है, वह पुरुष के चिह्न का है। अगर स्त्रियां राम, कृष्ण और बुद्ध की मूर्तिय
ां और चित्र बनातीं, तो मेरी अपनी समझ है कि उसमें दाढ़ी-मूंछ अनिवार्य होती। क
योंकि स्त्रियों को वह जंचता ही नहीं, वह स्त्रैण मालूम पड़ते हैं। और मैं आज भी न
हीं मानने को राजी हूं यह कि दाढ़ी-मूंछ अलग करने के बाद स्त्री को कोई चेहरा ब
हुत प्रीतिकर लगता है। नहीं लग सकता। क्योंकि जिस चेहरे से दाढ़ी-मूंछ विदा हो गई, उस चेहरे से पुरुष का कुछ हिस्सा विदा हो जाता है। हो जाता है। आप जरा उल्टा करके सोचें, कि स्त्रियां दाढ़ी-मूंछ लगा लें, तब आपको कितनी प्रीतिकर लगेंग
ी? आप भी दाढ़ी-मूंछ काटकर उतने ही प्रीतिकर लगते होंगे। स्त्रियां चाहे कहें, चा
हे न कहें, क्योंकि स्त्रियों को कहने की स्वतंत्रता भी नहीं रह गई है। उनके सोचने के ढंग भी पुरुष ने तय कर दिए हैं। इसलिए वे कभी 'असर्ट' भी नहीं कर सकती हैं। लेकिन आप ध्यान रखें कि जब भी किसी युग में पुरुष-सौंदर्य प्रगट होता है, तो दाढ़ी-मूंछ लौट आती है। दाढ़ी-मूंछ की रौनक वापिस लौट आती है। लेकिन, कभी भी, कहीं भी, जब भी कहीं ऐसा होता है कि पुरुष-सौंदर्य स्थापित होता है, तो दाढ़
ी-मूंछ वापिस लौट आती है। लेकिन वह स्त्री को देख-देखकर अगर हम अपना चेहर
ा निर्धारित करेंगे, तो उसमें दाढ़ी-मूंछ चली जाएगी।

स्त्रियां भी पुरुष जैसे होने की बड़ी कोशिश में लगी रहती हैं। सारी दुनिया में चल रही है दौड़। स्त्रियां पुरुष जैसे कपड़े पहना चाहेंगी, क्योंकि उनके मन में सौंदर्य का अर्थ पुरुष है। पुरुष जैसी घड़ियां बांधना चाहेंगी, क्योंकि उनके मन में सौंदर्य का अ
र्थ पुरुष है। पुरुष जैसे काम करना चाहेंगी क्योंकि उनके मन में सौंदर्य का प्रतीक पु
रुष है। अगर स्त्रियों का समाज किसी दिन जीत गया—जिसका कि डर रोज-रोज पैद

ा होता जा रहा है—क्योंकि पुरुष काफी दिन मालकियत कर लिया, अब पलड़ा बदले गा। बहुत दिन हो गई, आप स्त्री के ऊपर बैठे-बैठे, अब स्त्री आपके ऊपर आएगी। जिस दिन स्त्री आपके ऊपर आएगी, कुछ आश्चर्य न होगा कि स्त्री दाढ़ी-मूंछ लगाने की कोशिश करे। कोई आश्चर्य न होगा। आज हमें आश्चर्य लगता है, क्योंकि वह घटना हमारे खयाल में नहीं आती। वैसे वह और तरह से दाढ़ी-मूंछ लगाने की कोशिश में लगी हुई है। वह ठीक पुरुष जैसे होने की कोशिश में लगी हुई है—सब भांति वह पुरुष के बगल में खड़ी हो जाए, पुरुष की दूसरी 'कॉपी' बनकर। पुरुष भी उस कोशिश में लगा रहा है। यह 'एब्सर्ड' कोशिश है। इसका कोई मतलब नहीं है। जिन चित्रकारों ने, जिन मूर्तिकारों ने कृष्ण, राम और बुद्ध की मूर्तियां अंकित की हैं, वे पुरुष हैं और स्त्रैण सौंदर्य उनके मन में है, इसलिए ये कोई चित्र और प्रतिमाएं 'आथेंटिक' नहीं हैं, प्रामाणिक नहीं हैं। अगर आप जैनों के चौबीस तीर्थंकरों की प्रतिमाएं देखें तो आपको पता चल जाएगा कि वे बिलकुल एक जैसे हैं। अगर उनके नीचे बने हुए चिह्न अलग कर दिए जाएं तो उनमें कोई फर्क नहीं है। अगर बुद्ध और महावीर की प्रतिमाओं पर से सिर्फ कपड़े का भेद अलग कर दिया जाए तो वे बिलकुल एक जैसी हैं, उनमें कोई फर्क नहीं रह जाता। क्या ये सब शक्लें एक जैसी रही होंगी? नहीं, ये शक्लें एक जैसी नहीं हो सकतीं। एक जैसी शक्लें कब होती हैं! लेकिन बनाने वाले चित्रकार के पास एक जैसे प्रतीक हैं। वह बुद्ध को बनाने वाला चित्रकार भी बुद्ध की मूर्ति को सुंदरतम बनाने की कोशिश कर रहा है। महावीर का चित्रकार भी महावीर की मूर्ति को सुंदरतम बनाने की कोशिश कर रहा है। और तब वह सुंदरतम बनाने की कोशिश में वे शक्लें एक जैसी हो जाने वाली हैं। वे करीब-करीब एक-जैसी हो गई हैं।

'कर्म उतना ही करना काफी है जितने से जिआ जा सके, ज्यादा क्यों करना, अगर यह वृत्ति रह जाए और कर्म करने वाले न हों तो मीरा के हाथ में तंबूरा भी नहीं आए और हम जो 'टेप' कर रहे हैं भगवान श्री का प्रवचन, वह 'टेपरिकार्डर' और 'लाउड-स्पीकर' भी नहीं हो। वह भी कर्म की ईज़ाद है, वही प्रश्न रह जाता है। कृपया इसे समझाएं? और जीवन को उत्सव मनाने वालों से गरीबी कैसे दूर होगी?'

* हां, यह भी सोचने जैसा है कि मीरा के हाथ में जो तंबूरा आया, वह कर्म करने वाले लोगों की वजह से आया कि उत्सव मनाने वाले लोगों की वजह से आया? तंबूरा कर्म करने वाले पैदा नहीं करते। कुदाली बनाते हैं, तंबूरा नहीं बनाते। तंबूरे का कर्म से कोई लेना-देना नहीं है। कुदाली बनाते हैं, कुल्हाड़ी बनाते हैं, तलवार बनाते हैं, तंबूरा बनाने से कर्म करने वाले का क्या लेना-देना! तंबूरा तो बनाते ही वे लोग हैं जो जिंदगी को खेल की तरह ले रहे हैं। जिंदगी में जो भी श्रेष्ठ आया है, चाहे तंबूरा हो, चाहे ताजमहल हो, वह उन लोगों के मन से आता है, उन लोगों के सपनों से आता है, जो जिंदगी को एक उत्सव बना रहे हैं। स्वभावतः, ये उत्सव मन

ाने वाले लोगों भी उन लोगों का उपयोग करेंगे, जो जिंदगी को काम समझे हुए हैं। लेकिन जो लोग उसे काम समझकर कर रहे हैं, वे भी चाहते तो उत्सव समझकर कर सकते थे। मैं मानता हूं कि आप ताजमहल को देखकर जितने आनंदित होते हैं, उतना ताजमहल की ईंट रखने वाले मजदूर आनंदित नहीं हुए, वे काम कर रहे थे। जिन्होंने ताजमहल बनाया था वे उतने आनंदित नहीं थे, उनके लिए वह काम था। लेकिन, क्या वजह है, क्या ईंट उत्सव की तरह नहीं रखी जा सकती? मैं एक कहानी निरंतर कहता हूं—

एक मंदिर बन रहा है और एक आदमी वहां से गुजरा है और उसने पत्थर तोड़ते एक आदमी से, मजदूर से पूछा है कि तुम क्या कर रहे हो? तो उस आदमी ने उसकी तरफ देखा भी नहीं और क्रोध से कहा कि अंधे तो नहीं हो? देखते नहीं कि पत्थर तोड़ रहा हूं? आंखें हैं कि नहीं? वह आदमी आगे बढ़ा। और उसने दूसरे मजदूर से पूछा—हजारों मजदूर पत्थर तोड़ रहे हैं—उसने दूसरे से पूछा कि मेरे मित्र, क्या कर रहे हो? उस आदमी ने उदासी से अपनी छैनी-हथौड़ी नीचे रख दी, उस आदमी की तरफ देखा और कहा कि दिखाई तो यही पड़ रहा है कि पत्थर तोड़ रहा हूं, ऐसे रोटी कमा रहा हूं। बच्चों के लिए, बेटों के लिए, पत्नी के लिए रोटी कमा रहा हूं। उसने फिर अपना तोड़ना शुरू कर दिया। वह आदमी तीसरे आदमी के पास पहुंचा जो मंदिर की सीढ़ियों के पास पत्थर तोड़ रहा था और गीत भी गा रहा था। उसने उससे पूछा कि क्या कर रहे हो? उसने कहा, क्या कर रहा हूं? भगवान का मंदिर बना रहा हूं। उसने फिर पत्थर तोड़ना शुरू कर दिया और गीत गाना शुरू कर दिया। ये तीनों आदमी एक ही काम कर रहे हैं, तीनों पत्थर तोड़ रहे हैं। लेकिन इन तीनों का सोचने का ढंग पत्थर तोड़ने के बाबत भिन्न है। वह जो तीसरा आदमी है, उसने पत्थर तोड़ने को उत्सव बना लिया है।

मैं नहीं कहता हूं कि लोग गरीबी न मिटाएं, मैं नहीं कहा हूं कि लोग यंत्र न बनाएं, मैं नहीं कहता हूं कि लोग समृद्धि पैदा न करें, लेकिन इस सबको भी उत्सव की तरह ही, इस सबको भी काम की तरह नहीं। गरीबी अगर काम की तरह मिटाई गई, तो हो सकता है गरीबी तो मिट जाए, लेकिन गरीब आदमी दुनिया से नहीं मिटेगा। लेकिन अगर गरीबी उत्सव की तरह मिटाई गई, तो हो सकता है गरीबी उतनी जल्दी शायद न भी मिटे, लेकिन गरीब आदमी मिट सकता है।

हम जो कह रहे हैं, उसके प्रति हमारा 'ऐटिट्यूड' क्या है, वह सवाल है। और जब इस 'ऐटिट्यूड' का, इस भाव का परिवर्तन होता है, तो हमारी सारी गतिविधि बदल जाती है। एक माली भी सुबह आकर इस बगीचे में काम करता है, लेकिन इसे उत्सव की तरह नहीं ले पाता। कौन उसे रोक रहा है कि उत्सव की तरह न ले? माना कि वह रोटी कमा रहा है, रोटी बराबर कमा रहा है, कमाए, लेकिन यह खिलते हुए फूलों को उत्सव की तरह न ले, यह कौन रोक रहा है? और इनको उत्सव की तरह न लेकर वह कौन-सा ज्यादा कमा ले रहा है। मैं तो मानता हूं कि अगर वह इसको आनंद की तरह ले, इसको...काम तो है ही, रोटी कमा ही रहा है, व

ह गौण है...लेकिन उसके चित्त में प्रमुख अगर यह फूलों का आनंद और इनके खिल ने की खुशी हो जाए, तो वह माली, सिर्फ नौकर नहीं रह जाएगा, वह बहुत गहरे अर्थों में इन फूलों का मालिक भी हो जाएगा, बिना मालिक बने। और जब फूल खि लेंगे तब उसे एक आनंद भी मिलेगा, जो अकेले काम से कभी नहीं मिल सकता है।
गरीबी भी मिटानी है, दुख भी मिटाना है, लेकिन वह काम की भांति नहीं; वह भ ी जीवन के उत्सव में सब लोग सम्मिलित हो सकें, इसलिए।
जब मैं कहा हूं कि गरीबी मिटानी है, तो मेरा मतलब बहुत ज्यादा यह नहीं होता ि क गरीब वहुत तकलीफ में है इसलिए मिटानी है। मेरा मतलब इतना ही होता है ि क गरीब रहते हुए जीवन के महोत्सव में भागीदार होना बहुत मुश्किल है, इसलिए मिटानी है। मैं जब गरीबी मिटाना चाहता हूं, तो मेरे लिए मतलब इतना ही नहीं है कि उसका पेट खाली है, वह भर दिया जाए किसी तरह। न, मेरे मन में खयाल य ह है कि उसकी आत्मा को भरना मुश्किल पड़ेगा, जब तक पेट नहीं भर जाता। औ र उसकी आत्मा तो उत्सव से भरेगी, पेट काम से भरेगा।
और आत्मा की तरफ अगर ध्यान हो तो हम जीवन के सब कामों को उत्सव बना ले सकते हैं। उस खेत में हम गड्ढे भी खोद सकते हैं और गीत भी गा सकते हैं। स दा से ऐसा था ही। आज फैक्ट्री उतनी आनंदपूर्ण नहीं रह गई। लेकिन आज नहीं क ल, मैं आपसे कहता हूं, फैक्ट्री में गीत वापस लौटेगा। किसान अपने खेत पर काम कर रहा था, वह काम तो था ही, लेकिन वह गीत भी गा रहा था। उसके गीत की वजह से काम में बाधा नहीं पड़ती थी, काम में सिर्फ गति आती थी। लेकिन फैक्ट्री में तो गीत गाने की सुविधा नहीं है। वहां सिर्फ काम रह गया है, सात घंटे। आदम ी थका हुआ लौट आता है, टूटा हुआ आता है। आज नहीं कल, और जिन मुल्कों में इस पर काम चलता है, खोज होती है, वह मुल्क इसके करीब आते जा रहे हैं कि फैक्ट्री में जो आदमी काम कर रहा है, अगर अकेला काम ही रहेगा, तो खतरा है बहुत। इसके काम को आनंद में रूपांतरित करना होगा। बहुत दिन दूर नहीं, जबि क फैक्ट्री में भी गीत गाया जा सके। और उत्सव के लिए क्षण खोजे जा सकें। खोज ने ही पड़ेंगे, अन्यथा आदमी उदास और रिक्त होता चला जाएगा।
एक स्त्री घर में खाना बना रही है। वह खाना ऐसे भी बना सकती है जैसा होटल में रसोइया बनाता है। तब काम हो जाएगा। वह खाना ऐसे भी बना सकती है जब क ोई अपने प्रेमी की प्रतीक्षा करता है और खाना बनाता है। तब काम उत्सव हो जाए गा। और दोनों हालत में काम होता है।
इसलिए मैंने ऐसा कहा।

'आपने कहा कि कृष्ण चित्त की भूमिका से ऊपर उठ गए हैं। और यह भी कहा कि चित्त की सहज प्रेरणाओं से प्रेरित होकर उन्होंने गोपियों के वस्त्रों का अपहरण कि या। जो व्यक्ति चित्त के ही ऊपर उठ गया, क्या वह भी चित्त की सहज प्रेरणा से प्रेरित होगा? और अगर होगा तो पशु भी इस प्रकार उसके ही समान हो गया?'

* मैंने कहा कि कृष्ण चित्त के पार हो गए थे। इसका मतलब यह नहीं कि कृष्ण क
ा चित्त नहीं रह गया था।
चित्त के पार होने का मतलब इतना ही है कि चित्त के पार जो है, कृष्ण उसे भी जान गए, पहचान गए थे। चित्त तो था ही। समाहित था। कृष्ण का व्यक्तित्व चित्त से बड़ा व्यक्तित्व हो गया था, उसमें चित्त की भी जगह थी।
चित्त के पार हो जाने के दो अर्थ हो सकते हैं। चित्त की दुश्मनी में पार हो गए हों, तो चित्त कटकर अलग टूट जाता है। लेकिन अगर चित्त की मैत्री में पार हुए हैं, तो चित्त सम्मिलित होता है, समाहित होता है। इस बड़ी घटना में जो चित्त के पार घट रही है, चित्त भी अपना हिस्सा रखता है, वह भी अपनी जगह होता है। जब मैं कहता हूं कि मैं शरीर के पार हो गया, तो इसका मतलब यह नहीं कि मैं शरीर नहीं रह गया। इसका केवल इतना ही मतलब है कि मैं सिर्फ शरीर नहीं रह गया। शरीर तो हूं ही, और भी कुछ हूं, 'समथिंग एडेड', 'समथिंग प्लस'। शरीर कट न
हीं गया, कुछ और भी जुड़ गया। कल तक मैं सोचता था, शरीर ही हूं, अब मैं जा
नता हूं कि और भी कुछ हूं। शरीर तो हूं ही, वह जो और कुछ है उसने शरीर के होने को मिटा नहीं डाला, और 'रिच' और समृद्ध कर दिया। आत्मा भी हूं। और जब कोई व्यक्ति जानता है परमात्मा को भी, तो ऐसा नहीं है कि आत्मा मिट जात
ी है, तब यह जानता है कि परमात्मा भी हूं। और आत्मा और चित्त, सब उस बड़े विराट में समाहित होते चले जाते हैं। कुछ खोता नहीं, जुड़ता जाता है।
तो कृष्ण को जब मैं कहता हूं चित्त के पार हो गए थे, तो मेरा मतलब यह है कि उन्होंने उसे भी जान लिया था जो चित्त के पार फैला है। लेकिन चित्त तो वे थे ही। वह दुश्मन नहीं हैं चित्त के। वह चित्त के शत्रु नहीं हैं, उससे लड़कर पार नहीं हो गए थे, उसको जीकर पार हो गए थे। और इसलिए जब मैं कहता हूं कि उनके सह
ज चित्त से जो उठा था वह हुआ था, तो मेरा मतलब यही है कि अब उनके भीतर सब सहज ही हो सकता है।
चित्त में, असहज तभी तक होता है जब तक चित्त के भीतर हमारी लड़ाई होती है
। एक हिस्सा कहता है करो, एक कहता है मत करो। लड़ाई होती है। तब चीजें अ
सहज हो जाती हैं। जब पूरा चित्त इकट्ठा होता है, तो जो होना होता है, वह हो जा
ता है, जो नहीं होना होता, वह नहीं होता है। तब सहज होता है। लेकिन यह बात बहुत अच्छी पूछी है कि फिर पशुओं में और उनमें फर्क क्या रह जाएगा?
एक हिसाब से बिलकुल नहीं, एक हिसाब से बहुत ज्यादा। एक हिसाब से बिलकुल नहीं। पशु भी सहज हैं, लेकिन बिना जानते हुए, बेहोशी में। कृष्ण भी सहज हैं, ले
किन जानते हुए, होश में। सहजता समान है, बोध भिन्न है। पशु भी सहज है, जो हो रहा है हो रहा है। लेकिन इसका पशुओं को कोई बोध नहीं है कि जो हो रहा है, वह हो रहा है। इसकी कोई 'अवेयरनेस', इसकी कोई प्रज्ञा नहीं है। यंत्रवत हो रहा

है। कृष्ण को जो हो रहा है, इसका साक्षी भी पीछे खड़ा है, जो देख रहा है कि ऐसा हो रहा है। पशु के पास साक्षी नहीं है।

कृष्ण चित्त के पार चले गए हैं, पशु अभी चित्त के पहले हैं। कृष्ण चित्त के 'बियांड', पशु चित्त के 'बिलो'। अभी पशु के पास चित्त भी नहीं है, अभी पशु के पास शरीर ही है। 'इंस्टिंक्ट' हैं, अभी वृत्तियां हैं, और ये यंत्रवत काम करा रही हैं और वह काम कर रहा है। अभी पशु के पास चित्त भी नहीं है। इसलिए चित्त के पार जो गया है उसमें और चित्त के नीचे जो है, एक तारतम्य होगा।

बहुत पुरानी, फकीरों में एक कहावत है कि जब कोई परम ज्ञान को उपलब्ध होता है तो परम अज्ञानी जैसा हो जाता है। उसमें थोड़ी सचाई है। क्योंकि परम अज्ञानी में...जैसा हम जड़भरत को जानते हैं। अब जड़भरत नाम दिया है, उस परम ज्ञानी को! लेकिन हो गया वह जड़ जैसा। एक अर्थ में जो पूर्ण ज्ञान है, वह उस पूर्ण अज्ञान जैसा मालूम पड़ेगा। कम-से-कम पूर्णता तो समान है, एक बात वह दोनों में है। ज्ञान में भी कोई बेचैनी नहीं रह गई, क्योंकि सब जान लिया गया। अज्ञान में कोई बेचैनी नहीं है क्योंकि अभी कुछ जाना ही नहीं गया है। बेचैनी होने के लिए कुछ तो जाना जाना चाहिए! पशु, जो हो रहा है, इसको उसे कोई बोध नहीं है। कृष्ण, जो हो रहा है, हो रहा है, बोध पूरा है। यह अबोध में नहीं हो रहा है। इसलिए हम कहते हैं, जब संत अपने पूरे व्यक्तित्व को उपलब्ध होता है तो वह बच्चों जैसा हो जाता है।

जीसस से कोई पूछता है कि आपके प्रभु के राज्य में क्या होगा? या जो आदमी प्रभु को उपलब्ध हो जाएगा वह कैसा होगा? तो जीसस कहते हैं, वह व्यक्ति जो प्रभु को उपलब्ध हो जाएगा, बच्चों जैसा होगा। लेकिन जीसस यह नहीं कहते कि बच्चे उसे उपलब्ध हो गए हैं। नहीं तो सभी बच्चे उपलब्ध हो गए हों। न, वह कहते हैं, बच्चों जैसा, बच्चा नहीं। बच्चों जैसा, 'जस्ट लाइक चिल्ड्रन'। अगर वह कहें कि बच्चा हो जाएगा, तो फिर बच्चे तो बच्चे हैं ही, फिर इसमें और उपद्रव की क्या जरूरत है। नहीं, बच्चा अभी नीचे है। 'बिलो' है; वह 'बियांड' होगा। बच्चे को अभी तनाव में जाना पड़ेगा, वह तनाव में जाकर निकल चुका है। बच्चा अभी 'पोटेंशियली' सब बीमारियां लिए हुए है, वह सारी बीमारियों के पार हो गया है। अभी पशु को उन सारी बीमारियों से गुजरना पड़ेगा जो आदमी की हैं, और कृष्ण उन सारी बीमारियों के पार गुजर गए हैं। इतना फर्क है और इतनी समानता भी है।

'भगवान श्री, आपने स्वधर्म और निजधर्म की चर्चा की, उसमें जो श्लोक का पहला भाग है वह यह कहता है कि स्वधर्म विगुण भी श्रेष्ठ है। स्वधर्म अगर निजता है, तो वह विगुण, गुणरहित कैसे हो सकता है? क्या कोई निजता गुणरहित भी होती है?'

* इसे आखिरी सवाल समझें, फिर हम ध्यान के लिए बैठेंगे। पूछते हैं कि स्वधर्म विगुण होगा, गुणरहित होगा, ऐसा कैसे हो सकता है? निजता विगुण कैसे हो सकती है?

इसमें दो बातें खयाल में लेनी जैसी हैं। एक तो, चीजें अपने मूल में सदा ही निर्गुण, विगुण होती हैं। सिर्फ अभिव्यक्ति में गुण उपलब्ध होता है। जैसा अभी एक बीज है। अभी यह विगुण है, अभी इसमें कोई गुण नहीं है। सिर्फ बीज होने का गुण है। सिर्फ 'पोटेंशियलिटी' है। इसमें लाल फूल खिलेंगे, अभी खिले नहीं हैं। कल यह फूल बन जाएगा। तब लाल फूल खिलेंगे। फूल गुणवान हो जाएगा। उसकी सुगंध होगी खास, उसका रंग होगा खास, उसका व्यक्तित्व होगा खास, लेकिन बीज में चीजें गुणशून्य हैं। अभिव्यक्ति में प्रगट होकर गुण को उपलब्ध होंगी।

जगत गुण है, परमात्मा निर्गुण है। परमात्मा बीज-रूप है। जब प्रगट होता है तब गुण दिखाई पड़ते हैं, जब अप्रगट हो जाता है तो गुण खो जाते हैं। एक आदमी अच्छा है, एक आदमी बुरा है; एक आदमी चोर है, एक आदमी साधु है; दोनों सो गए, दोनों विगुण हो गए। सुषुप्ति में कोई गुण नहीं रह जाता—साधु साधु नहीं रह जाता, चोर चोर नहीं रह जाता। और सुषुप्ति में निजता के बहुत करीब होते हैं, एकदम करीब होते हैं, वहां कोई गुण नहीं रह जाता। सुषुप्ति में चोर चोर नहीं है, साधु साधु नहीं है। हां, जागेंगे तो चोर चोर हो जाएगा, साधु साधु हो जाएगा। जागते ही गुण आएंगे, सोते ही गुण सो जाएंगे। सुषुप्ति में हम अपनी निजता के बहुत करीब होते हैं, समाधि में तो हम निजता में ही पहुंच जाते हैं। तो ठीक निजता का जो अनुभव है, स्वभाव का जो अनुभव है, वह निर्गुण होगा। लेकिन स्वभाव की जो अभिव्यक्ति है, 'मेनीफेस्टेशन' है, वह सगुण होगी। सगुण और निर्गुण दो चीजें नहीं हैं। सगुण और निर्गुण विरोधी चीजें नहीं हैं। सगुण निर्गुण की अभिव्यक्ति का नाम है। और निर्गुण सगुण के अप्रगट अवस्था का नाम है।

तो स्वभाव की दो स्थितियां होंगी, निजता की दो स्थितियां होंगी। एक तो वह निजता, जो अप्रगट है, बीज-रूप है, गर्भ में है; अभी प्रगट नहीं हो गई, अभी सोई है, अपने में डूबी है। लीन है। और एक वह निजता, जो प्रगट हो गई। और जब प्रगट होती है निजता तो आकार ले लेती है, गुण ले लेती है। असल में कोई अभिव्यक्ति निराकार नहीं हो सकती, और कोई अभिव्यक्ति निर्गुण नहीं हो सकती। जैसे ही कोई चीज प्रगट होगी, उसका रूप, रंग, आकार प्रगट होगा। प्रगट होने का मतलब ही यह है कि उसे रूप, रंग में होना पड़ेगा।

एक छोटी-सी कहानी याद आती है। एक झेन कहानी है। एक झेन साधु अपने शिष्यों को चित्र बनाना सिखाता है। चित्रों से ध्यान के मार्ग पर ले जाता है। कहीं से भी जाया जा सकता है। जगत में जो भी कोई जगह है, वहीं से ध्यान तक जाया जा सकता है। उसके दस शिष्य एक दिन सुबह इकट्ठे हुए हैं और उसने कहा कि तुम जाओ और एक चित्र की मैं तुम्हें रूपरेखा देता हूं। वह रूपरेखा यह है कि एक गाय,

घास से भरे मैदान में, घास चर रही है। तुम यह चित्र बना लाओ। लेकिन ध्यान र हे चित्र निर्गुण हो।

वे दसों चित्रकार गए और बहुत मुश्किल में पड़ गए। फकीर का काम ही यह है कि किसी को मुश्किल में डाले। और कोई काम नहीं है। क्योंकि मुश्किल में डाले तो शायद स्वयं का खयाल भी आ जाए। वे बड़ी मुश्किल में पड़ गए कि निर्गुण कैसे हो गा यह? रंग का तो उपयोग करना पड़ेगा। कम-से-कम गाय को आकार तो देना प. डेगा, घास भी बनानी तो पड़ेगी।

नौ चित्रकार बनाकर लाए। उन्होंने ऐसा बनाया कि बहुत साफ-साफ न दिखाई पड़े, लेकिन फिर भी गाय तो थी ही। घास भी ऐसा बनाया, ठीक 'एब्सट्रेक्ट आर्ट' का उ पयोग किया होगा कि चीजें साफ-सुथरी नहीं हैं। लेकिन फिर भी रंग का उपयोग क रना पड़ा। एक-दूसरे के चित्र देख कर वे पूछने लगे, गाय कहां है? तो एक चित्रका र ने यह भी कहा कि जब मैं बना रहा था तब तो मुझे पक्का पता था, अब मुझे जरा शक है। क्योंकि निर्गुण बनाने की कोशिश की है, तो अब मैं पक्का नहीं कह स कता, किस जगह है? लेकिन उस गुरु ने नौ के ही चित्र फेंक दिए और कहा कि नि र्गुण में रंग कैसा? गाय कैसी? दसवां आदमी खाली कोरा कागज लेकर आ गया। उ सने कहा, यह रहा। तो उन बाकी नौ चित्रकारों ने पूछा कि गाय कहां है? उसने क हा, गाय ने चर लिया। चीजें लौट गईं। यह निर्गुण चित्र है। गाय घर चर रही है, लेकिन चर चुकी है। घास समाप्त हो गई, कोरा कागज रह गया।

निर्गुण निजता की जो बहुत गहराई है, वहां तो सब निराकार है, निर्गुण है; विगुण, गुणरहित है। अभिव्यक्ति जब गाय घास चरती है तब प्रगट होती है। फिर घास भी आती है, फिर गाय भी आती है, फिर सब खेल होता है। फिर सब विदा हो जाता है।

यह जगत का इतना बड़ा विस्तार कभी विगुण में था। कभी यह सब शून्य में जन्मा, कभी यह फिर शून्य में समाहित हो जाएगा। सब जन्मता है, सब समाहित हो जात ा है। जहां से जन्मता है, वहीं लौट जाता है। और वह जो शून्य की अवस्था है उसमें पूर्ण छिपा है, अपने पूर्ण गुणों को लेकर, लेकिन विगुण है, निर्गुण है, अभी उसमें गुण नहीं आया, अभी आएगा।

इस अर्थ में निजता के दो रूप हुए—सभी चीजों के दो रूप हैं—'मैनिफेस्टेड', 'अनमैनि फेस्टेड'; प्रगट, अप्रगट। प्रगट में गुण दिखाई पड़ते हैं, अप्रगट में निर्गुण रह जाता है। इसलिए कृष्ण को भी दो तरफ से देखना है—एक तो उनका जो दिखाई पड़ता है व्य क्तित्व, और एक वह जो दिखाई पड़ता है। जो अश्रद्धालु है, वह सिर्फ उसी को देख पाएगा जो दिखाई पड़ता है। और जिसके जीवन में श्रद्धा भी जन्मी है, वह उसको भी देख पाएगा जो नहीं दिखाई पड़ता है। तर्क, चिंतन, मनन, विचार, 'मैनिफेस्टेड' से आगे नहीं जाएगा, प्रगट के आगे नहीं जाएगा, गुण के आगे नहीं जाएगा। ध्यान, प्रार्थना, श्रद्धा, 'अनमैनिफेस्टेड' में प्रवेश कर जाएगी। वह जो नहीं दिखाई पड़ता है

, जो अदृश्य है, उसमें प्रवेश कर जाएगा। लेकिन जो अभी 'मैनिफेस्टेड' को भी नहीं पकड़ पाते वे 'अनमैनिफेस्टेड' को नहीं पकड़ पाएंगे।

इसलिए तर्क का, विचार का एक काम है कि वह वहां तक पहुंचा दे, उस सीमांत तक, जहां अभिव्यक्त समाप्त होता है और अनभिव्यक्त शुरू होता है। फिर वहां छलांग लगानी पड़ेगी। फिर वहां अपनी बुद्धि से कूद जाना पड़ेगा। फिर अपने ही चित्त के आगे चले जाना होगा। फिर 'बियांड वनसेल्फ' फिर खुद को ही पार कर जाना होगा। फिर खुद को ही 'ट्रांसेंड' कर जाना होगा। लेकिन उसका यह मतलब नहीं है कि जो जाएगा, फिर ज्ञान में जो दिखाई पड़ेगा, उसमें जो पहले जाना था वह कट जाएगा। नहीं, वह उसमें समाहित हो जाएगा। और जिस दिन 'मैनिफेस्टेड' और 'अनमैनिफेस्टेड', प्रगट और अप्रगट दोनों इकट्ठे हो जाते हैं, उस दिन एब्सोल्यूट, जिसको हम पूर्ण सत्य कहें, उसका साक्षात्कार है।

अब दो-तीन बातें ध्यान के संबंध में समझ लें। एक तो, जो प्रयोग हमने पहले दिन किया था, दस मिनिट शांत खड़े रहना थोड़े से ही मित्रों को संभव हो पाता है, कोई बीस प्रतिशत लोगों को। अस्सी प्रतिशत लोगों को, पुराना जो आजोल या नारगोल में ध्यान का प्रयोग चलता था, वही ठीक पड़ जाता है। इसलिए आज से हम आजोल में किए गए प्रयोग को ही जारी रखेंगे। और दोनों तरह के प्रयोग जारी रखें तो मेरे सुझाव में कठिनाई होगी और आपको कनफ्यूजन होता है, वह कठिनाई खड़ी हो जाती है। इसलिए इस प्रयोग को, कुछ नए मित्र होंगे, वे समझ लें।

सबसे पहले तो संकल्प करना है, चालीस मिनट आंख बंद रखने का। कुछ भी हो जाए, आंख नहीं खोलनी है। बहुत मन होगा कि खोलें। लेकिन अगर भीतर देखना हो तो बाहर देखना थोड़ी देर के लिए छोड़ देना जरूरी है। और इस संकल्प का भी बड़ा फायदा है। अगर चालीस मिनट भी आंख सतत बंद रखी जा सकी, तो आपकी विल, आपके संकल्प को जागृति होती है।

तो जब मैं कहूं कि चालीस मिनट आंख बंद रहेगी, तो जब तक मैं न कहूं, तब तक आपको नहीं खोलनी है। कभी किसी की भूल से खुल जाती है—खोलता नहीं, अचानक खुल जाती है—तो उसे तत्काल बंद कर लेनी है। उसके लिए कोई परेशान नहीं होना है।

दूसरी बात, संकल्प हम करेंगे हाथ जोड़कर परमात्मा के समक्ष कि हम अपनी पूरी शक्ति लगाएंगे। एक बार हमें साफ होना चाहिए कि हमें पूरी शक्ति लगानी है। यह पक्का खयाल होना चाहिए कि पूरी शक्ति लगानी है। क्योंकि कई बार ऐसा होता है कि कुछ पानी अट्ठानबे डिग्री से वापस लौट आते हैं और भाप नहीं बन पाते, दो ही डिग्री का फासला था, थोड़ी और ताकत लगाते तो पार हो जाते—लेकिन दो इंच पहले लौट आए। और कुछ पता नहीं है कि वह सीमा कहां आती है जहां से पार होते हैं। इसलिए आप अपनी तरफ से पूरी शक्ति ही लगाएं।

पहले चरण में दस मिनट तक गहरी श्वास लेनी है। जिनको श्वास की कोई तकलीफ हो, वे धीमे लें, लेकिन गहरी लें। और जिनको कोई तकलीफ न हो, वे श्वास क

ो गहरे होने की फिक्र न करें—फास्ट होने की फिक्र करें, तेजी की फिक्र करें। जिनको श्वास की कोई तकलीफ है, वे आहिस्ता से गहरी ले जाएं, जितनी गहरी जा सके। और गहरी बाहर निकाल दें धीरे से, गहराई की फिक्र कर लें। जिनको श्वास की कोई तकलीफ नहीं है और जिन मित्रों ने आजोल में प्रयोग किया है, वे फास्ट ब्रीदिंग करें, तेजी से भीतर ले जाएं, तेजी से बाहर फेंकें, जैसे धौंकनी चलती है लुहार की। पूरा खाली कर देना है सारी श्वास और नई ताजी हवाएं भीतर ले जानी हैं। पांच मिनट के प्रयोग के बाद ही आपके शरीर के भीतर विद्युत का संचार शुरू हो जाएगा, 'इलेक्ट्रिफाइड' आप होने लगेंगे। और शरीर में कंपन शुरू होंगे तो उनको होने देना है। अगर शरीर नाचने भी लगे इस बीच तो फिकर नहीं करनी, नाचने देना है। दस मिनट तक गहरी श्वास, तेज श्वास पर प्रयोग करेंगे।

दस मिनट के बाद मैं कहूंगा कि अब आप अपने शरीर को सहयोग करें। तो शरीर नाचता हो तो नाचें, रोता हो तो रोएं, हंसता हो तो हंसें, चिल्लाता हो तो चिल्लाएं। इन दस मिनट में शरीर जो भी करता हो उसको को-आपरेट करें, उसे पूरा सहयोग दें। अगर हाथ थोड़ा सा हिल रहा है तो आप पूरी तरह उसको हिला डालें। अगर थोड़े से नाच रहे हैं तो पूरी तरह नाच हो जाएं।

कुछ मित्र कहते हैं कि उन्हें कुछ भी नहीं होता।

हमारे दमन की परतें गहरी हैं। तो जैसे आप गहरी श्वास ले रहे हैं वह भी आप कर रहे हैं। अपने आप वह भी नहीं हो रहा है। वैसे ही जो भी आपको सुविधापूर्ण लगता हो वह आप करना शुरू कर दें, होने की भी प्रतीक्षा मत करें। एक-दो दिन करेंगे, फिर वह होना शुरू हो जाएगा। धारा टूट जाएगी। नाचना है तो नाचने लगें। चिल्लाना है, चिल्लाने लगें। कुछ तो करें! उस दस मिनट में जो भी करना चाहें करें, लेकिन करें पूरी ताकत से। उसमें फिर संकोच न लें।

और तीसरे दस मिनट में नाचना जारी रहेगा, अपने मन के भीतर पूछना है, मैं कौन हूं? इतने जोर से पूछना है कि बस मैं कौन हूं? मैं कौन हूं? यही धुन रह जाए। दो मैं कौन हूं के बीच में जगह न छूटे। हो सकता है कि आप जोर से पूछें तो बाहर आवाज निकलने लगे, तो कोई डर की जरूरत नहीं, बाहर भी निकलने दें। नाचना जारी रखें, कूदना जारी रखें और मैं कौन हूं? यह पूछें।

तीस मिनट पूरे होने पर फिर दस मिनट के लिए हम विश्राम में चले जाएंगे। ये पूरे पहाड़ विश्राम में हैं, ये पूरे पौधे विश्राम में हैं, हम इनके साथ एक हो जाएंगे। यहां जो लोग देखने के लिए इकट्ठे हो गए हैं, उनसे मेरी प्रार्थना है कि वे बिलकुल चुपचाप खड़े होकर देखते रहेंगे, जरा बात नहीं करेंगे। देखें मजे से, आराम से बैठ जाएं, लेकिन बात बिलकुल नहीं करें ताकि यहां बाधा न पड़े।

अब आप लोग अपनी-अपनी जगह खड़े हो जाएं, थोड़े फैल जाएं।

बातचीत न करें। वातावरण को खराब न करें। चुपचाप खड़े हो जाएं। आपके खड़े होने से बातचीत का क्या संबंध? चुपचाप अपनी-अपनी जगह खोज लें, थोड़ा फासला कर लें। क्योंकि लोग कूदेंगे, नाचेंगे, तो उनको जगह रहे। और जिनको जोर से ते

जी से कूदना है, वे थोड़ा भीड़ के बाहर खड़े हों। किसी को भी बीच में कपड़े अलग करने का खयाल आ जाए तो संकोच की जरूरत नहीं है, चुपचाप अलग कर दें। पहले ही किसी को खयाल हो कि उसे सुविधा होती है कपड़ा अलग करने में, वह पहले ही अलग कर दे सकता है। बीच में भी खयाल आ जाए, चुपचाप कपड़े उतार कर रख दें, उसकी चिंता न करें।

ठीक है, मैं मान लूं कि आपने अपनी जगह देख ली, आपके आस-पास जगह थोड़ी है ऐसा खयाल रख कर खड़े हों। क्योंकि यह प्रयोग तो बहुत तीव्र है। और बहुत तीव्रता से परिणाम होंगे। इसलिए जगह बना कर खड़े हों।

देखें, यहां पीछे जो लोग खड़े हैं बातचीत नहीं चलेगी। देखें, जो लोग देखने आ गए हैं, वे मजे से देखें। अपनी जगह पर खड़े रहें या बैठ जाएं, लेकिन बातचीत बिलकुल न करें, जिससे ध्यान करने वालों को कोई बाधा न हो। इतनी भर कृपा करें।

आंख बंद कर लें। आंख बंद कर लें। यह आंख चालीस मिनट के लिए बंद होती है। अब चालीस मिनट तक आंख नहीं खोलनी है। संकल्पपूर्वक आंख बंद रखनी है। जब तक मैं न कहूं तब तक आंख नहीं खोलनी है।

दोनों हाथ जोड़ लें। परमात्मा को साक्षी रख कर संकल्प कर लें। चारों तरफ वह मौजूद है। संकल्प करें। मैं प्रभु को साक्षी रख कर संकल्प करता हूं कि ध्यान में अपनी पूरी शक्ति लगाऊंगा। मैं प्रभु को साक्षी रख कर संकल्प करता हूं कि ध्यान में अपनी पूरी शक्ति लगाऊंगा। मैं प्रभु को साक्षी रख कर संकल्प करता हूं कि ध्यान में अपनी पूरी शक्ति लगाऊंगा।

अब शुरू करें। तीव्र और गहरी श्वास शुरू करें।

जोर से, जोर से, जोर से, गहरी और तेज।...जोर से, जोर से, पूरी ताकत लगानी है। फेफड़ों को खाली कर देना है, सारी श्वास बाहर-भीतर, बाहर-भीतर, जैसे लुहार की धौंकनी चलती है, ऐसी ताकत से पूरी तरह खाली कर डालें। शरीर की शक्ति जागनी शुरू हो जाएगी, भीतर विद्युत फैलने लगेगी। शरीर डोलने-नाचने लगेगा, नाचने दें। आप पूरी ताकत श्वास पर लगाएं। जो भी हो रहा है होने दें, आप श्वास पर पूरी ताकत लगाएं। देखें, चूकें न, पूरी ताकत से फेफड़ों को ताजा कर लें। सब बाहर फेंक दें। सब कचरा बाहर कर दें।....

जोर से, जोर से, जोर से, गहरी श्वास, तेज श्वास।...जोर से, जोर से, गहरी श्वास, गहरी श्वास, पूरी शक्ति लगा दें।...

पांच मिनट बचे हैं, पूरी शक्ति लगाएं। अपने को बिलकुल बदल डालें। पूरी शक्ति जागेगी, उसे जागने दें। देखें, पीछे न रहें। कोई पीछे न रह जाए। अपनी तरफ खयाल करें, पूरी शक्ति लगाएं। गहरी, गहरी, गहरी, डोलने दें शरीर को, नाचने दें शरीर को। गहरी, गहरी और गहरी श्वास। गहरी श्वास, गहरी श्वास, गहरी श्वास, तेज और गहरी।...

जोर से, जोर से, दो मिनट बचे हैं, पूरी शक्ति लगाएं, फिर हम दूसरे चरण में प्रवेश करेंगे। जो पूरी शक्ति लगाएगा वही दूसरे में जा भी सकेगा। दो मिनट के लिए

अपने को पूरा दांव पर लगा दें। श्वास, श्वास, श्वास ही श्वास रह जाए। इस श्वास के अतिरिक्त कुछ भी नहीं है जगत में बस, बाहर-भीतर, बाहर-भीतर, श्वास ही श्वास। शक्ति जागेगी, शरीर डोलेगा, कांपेगा, नाचेगा, उसकी फिक्र न करें, रोकें न। गहरी श्वास, गहरी श्वास, गहरी श्वास, गहरी श्वास।...गहरी श्वास, जोर से, जोर से।...

एक मिनट बचा है, मैं जब कहूं एक, दो, तीन, तो पूरी ताकत लगा देनी है। एक, लगाएं, पूरी ताकत लगाएं।...दो, पूरी ताकत लगाएं।...तीन, एक मिनट के लिए अब पूरी ताकत लगा दें।...

बिलकुल ठीक, बिलकुल ठीक, थोड़ा और—लगाएं, पूरी ताकत लगाएं। कुछ सेकेंड हैं, पूरी ताकत लगाएं, फिर हम दूसरे चरण में प्रवेश करेंगे।...बिलकुल ठीक, कुछ सेकेंड और—पूरी ताकत।...

अब दूसरे चरण में प्रवेश करें, शरीर को जो होता है होने दें। अब दूसरे चरण में प्रवेश करें, नाचें, डोलें, चिल्लाएं, रोएं, हंसें, जो भी करना है पूरी ताकत से करें। शुरू करें, दस मिनट के लिए नाचें, दिल खोल कर नाचें।...

जोर से, जोर से, नाचें—पूरी ताकत लगाएं; हंसें, जोर से हंसें; चिल्लाना है, जोर से चिल्लाएं, शरीर को को-आपरेट करें, पूरा साथ दें। नाचें, नाचें, नाचें, हंसें, रोएं, चिल्लाएं।...

नाचें, नाचें, नाचें। जोर से, आनंद से नाचें, पूरे आनंद भाव से नाचें। हंसें, रोएं, चिल्लाएं, जो भी हो रहा है पूरे आनंद भाव से करें। कमी न करें, कंजूसी न करें, पूरी ताकत से करें। आनंद से, आनंद से, नाचें, नाचें, नाचें।...

जोर से, जोर से, जोर से, पांच मिनट बचे हैं, पूरी ताकत लगा कर नाच लें, सब गिर जाने दें, मन में जो भी है। पूरी ताकत से नाचें। हंसें, रोएं, चिल्लाएं, तीव्रता से और शरीर को जो भी हो रहा है पूरी ताकत से करें। नाचें, नाचें, नाचें, जोर से। कोई खड़ा न रह जाए, पूरी ताकत लगाएं, अपनी जगह पर ही लेकिन—दूसरी जगह पर न जाएं। पूरे जोर से।...

जोर से, जोर से, बिलकुल थका डालें, बिलकुल थका डालें। अब दो ही मिनट बचे हैं, पूरी ताकत लगाएं, फिर हम तीसरे चरण में प्रवेश करेंगे। नाचें, दिल खोल कर रोएं, हंसें, चिल्लाएं।...

जोर से, जोर से; चिल्लाना है, जोर से चिल्लाएं; हंसना है, जोर से हंसें; नाचना है, जोर से नाचें। जोर से, जोर से, दिल खोल कर पूरा खाली कर लें, जो भी हो रहा है होने दें। बिलकुल ठीक, बिलकुल ठीक, और जोर से, और जोर से, नाचें, नाचें, नाचें।...

जोर से, जोर से, पूरी घाटी गूंज जाए। नाचें, चिल्लाएं, जोर से। कुछ सेकेंड बचे हैं, पूरी ताकत लगाएं, पूरी ताकत लगा दें। नाचें, हंसें, चिल्लाएं, पूरी ताकत लगा दें। ...बहुत ठीक, बहुत ठीक, कुछ सेकेंड और हैं, पूरी ताकत लगाएं।...

अब तीसरे चरण में प्रवेश करें, नाचना जारी रखें, भीतर पूछें, मैं कौन हूं? नाचना जारी रखें, भीतर पूछें, मैं कौन हूं? मैं कौन हूं? मैं कौन हूं? दस मिनट में मन को थका डालना है। पूछें, मैं कौन हूं? मैं कौन हूं? मैं कौन हूं?...

मैं कौन हूं? मैं कौन हूं? मैं कौन हूं? तूफान उठा दें। भीतर बिलकुल तूफान उठा दें। नाचें, पूछें, मैं कौन हूं? मैं कौन हूं? मैं कौन हूं? एक ही सवाल भीतर, नाचें, और पूछें, मैं कौन हूं? मैं कौन हूं? मैं कौन हूं? मैं कौन हूं? पूछें, पूछें, भीतर और गहरे और गहरे और गहरे, मैं कौन हूं? मैं कौन हूं? मैं कौन हूं?...

मैं कौन हूं? मैं कौन हूं? मैं कौन हूं? पूछें। पांच मिनट बचे हैं, पूरी ताकत लगाएं, मैं कौन हूं? मैं कौन हूं?...

नाचें, नाचें, पूछें, मैं कौन हूं? मैं कौन हूं? मैं कौन हूं? यह पूरी घाटी गूंजने लगे एक ही सवाल से, मैं कौन हूं? मैं कौन हूं? कोई फिकर नहीं, बाहर आवाज निकल जाए निकल जाने दें। पूछें, मैं कौन हूं?...

पूछें, पूछें, मैं कौन हूं? मैं कौन हूं? मैं कौन हूं? नाचते रहें, नाचते रहें, कूदते रहें, पूछें, मैं कौन हूं? बाहर आवाज निकल जाए कोई फिकर नहीं।...

मैं कौन हूं? मैं कौन हूं? पूछें, थोड़ा ही समय और बचा है। तीन मिनट बचे हैं, पूरी ताकत लगाएं, फिर हम विश्राम में चले जाएंगे। थका डालें अपने को, पूरी तरह थका डालें। नाचें, चिल्लाएं, पूछें, मैं कौन हूं?...

मैं कौन हूं? मैं कौन हूं? मैं कौन हूं? दो मिनट बचे हैं—पूरी ताकत लगाएं। मैं जब कहूं एक, दो, तीन तब पूरी शक्ति से कूद पड़ें। मैं कौन हूं? नाचें, नाचें, नाचें, मैं कौन हूं? चिल्लाएं, पूछें, मैं कौन हूं? नाचें, पूछें, मैं कौन हूं?...

मैं कौन हूं? मैं कौन हूं? एक मिनट बचा है, पूछें, जोर से पूछें, नाचें और पूछें, मैं कौन हूं? एक, पूरी ताकत लगा दें। दो, पूरी ताकत लगा दें। तीन, पूरी ताकत लगा दें। दिल खोल कर चिल्लाएं और पूछें, मैं कौन हूं?...

नाचें, कुछ सेकेंड जोर से नाचें और चिल्लाएं, मैं कौन हूं?...

नाचें, नाचें और पूछें, मैं कौन हूं? जोर से पूछें, मैं कौन हूं?...

बस! अब रुक जाएं। ठहर जाएं। अब सब छोड़ दें, नाचना छोड़ दें, पूछना छोड़ दें। अब बिलकुल दस मिनट के लिए विश्राम में पड़ जाएं। दस मिनट के लिए अब सब छोड़ दें—नाचें भी नहीं, पूछें भी नहीं, शांत पड़े रहें—दस मिनट के लिए मौन में डूब जाएं। जैसे बूंद सागर में खो जाती है ऐसे खो जाएं। चारों ओर वही परमात्मा है, उसके साथ एक हो जाएं। जैसे मिट गए, जैसे मर गए, जैसे समाप्त हो गए। अब वही बचा, परमात्मा के सिवाय और कुछ भी नहीं है। हम तो नहीं हैं।...

परमात्मा ही परमात्मा है। चारों ओर वही है, स्मरण करें, बाहर भी वही भीतर भी वही, आती श्वास भी उसकी जाती श्वास भी उसकी। चारों ओर परमात्मा के सिवाय और कुछ भी नहीं है। स्मरण करें, स्मरण करें, प्रकाश ही प्रकाश शेष रह गया है, आनंद ही आनंद शेष रह गया है, रोआं-रोआं आनंद से भर गया है। भीतर प्रकाश ही प्रकाश भर गया है। अमृत की वर्षा हो रही है, डूब जाएं, नहा लें, परमात्मा

के सिवाय और कोई नहीं है। स्मरण करें, स्मरण करें, पहचानें, हम तो मिट ही गए परमात्मा ही शेष रह गया।...

आनंद ही आनंद, प्रकाश ही प्रकाश, अमृत ही अमृत। खो गई बूंद सागर में, खो गई बूंद सागर में, वही रह गया, वही है, परमात्मा के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है। पहचानें, पहचानें, स्मरण करें, परमात्मा ही परमात्मा, चारों ओर वही है। वृक्षों में वही, आकाश में वही, भीतर वही, बाहर वही। स्मरण करें, स्मरण करें, स्मरण करें।...

आनंद ही आनंद, प्रकाश ही प्रकाश, डूब जाएं, डूब जाएं, खो जाएं, खो जाएं, बिलकुल खो जाएं, बूंद सागर में गिर गई।...

परमात्मा के अतिरिक्त और कोई नहीं है। वही है, चारों ओर वही है, सब कुछ वही है, स्मरण करें, स्मरण करें, पहचानें। आनंद ही आनंद, प्रकाश ही प्रकाश।...

सब शांत हो गया, भीतर आनंद के झरने फूट रहे हैं। सब अंधकार मिट गया, भीतर प्रकाश ही प्रकाश शेष रह गया। सब आकार मिट गए, निराकार ही मौजूद रह गया। पहचानें, पहचानें, सब रूप खो गया, अरूप ही शेष रह गया। स्मरण करें, स्मरण करें।...

अब दोनों हाथ जोड़ लें, परमात्मा को धन्यवाद दे दें। दोनों हाथ जोड़ लें, सिर झुका लें, उसके अज्ञात चरणों में गिर जाएं, समर्पित हो जाएं। धन्यवाद दे दें।

उसकी अनुकंपा अपार है। प्रभु की अनुकंपा अपार है। प्रभु की अनुकंपा अपार है। जोड़े रहें हाथ। झुकाए रहें सिर। उसकी अनुकंपा अपार है। प्रभु की अनुकंपा अपार है। देखें, देखने वाले चुपचाप खड़े रहें, बातचीत न करें।

उसकी अनुकंपा अपार है। प्रभु की अनुकंपा अपार है। अब दोनों हाथ नीचे गिरा लें। धीरे-धीरे आंख खोलें। आंख न खुलती हो तो दोनों हाथ आंख पर रख लें, फिर धीरे-धीरे आंख खोलें। उठते न बने तो दो-चार गहरी श्वास लें, फिर धीरे-धीरे उठ आएं।

जो पड़े रह जाएं और पड़े रहना चाहें थोड़ी देर, उन्हें कोई दूसरा न उठाए। और जो लोग कैम्पस में उठ गए हैं ध्यान के बाहर, वे धीरे-धीरे चले जाएंगे। किसी को बैठे रहना है, पड़े रहना है, वह पड़ा रहे। छह बजे उन्हें उठा दिया जाएगा। बाकी जो लोग उठ गए हैं, धीरे-धीरे जाएं।

ध्यान की हमारी बैठक पूरी हो गई।

8 क्षण-क्षण जीने के महाप्रतीक कृष्ण

'भगवान श्री, कृष्ण के बाल्यकाल की तथा अन्य इतनी कथाएं हैं—जैसे चाणूर तथा मुष्टिक नाम के पहलवानों को पछाड़ना; कंस-वध; कालिया-मर्दन; कीर्ति, अघ, बक, घोटक, पूतना आदि असुरों का नाश; दावानल को पी जाना; इत्यादि-इत्यादि। तो, क्या ये सब सत्य कथाएं हैं, या प्रतीक हैं? और इनमें से कौन-कौन सी लक्षणाएं

और प्रतीक हैं। साथ ही, गीता के वचन 'विनाशाय च दुष्कृताम्' से आप अर्थ लेते हैं कि दुष्टों का परिवर्तन करते हैं, उनका सुधार करते हैं। लेकिन कृष्ण ने उपरोक्त दुष्टों का वध क्यों किया और कराया?'

* इस संबंध में एक बात तो सबसे पहले यह समझनी जरूरी है, जो कि सदा से ही लोगों को उलझन में डालती रही है; छोटा-सा बच्चा है कृष्ण, इतने शक्तिशाली लोगों को हरा कैसे सकेगा? लोगों के पास एक ही उपाय था इस पहेली को हल करने का। और वह उपाय यह था कि वह कृष्ण को भगवान मान लें, परम शक्तिवान मान लें। फिर सारी पहेलियां हल हो जाती हैं। लेकिन इसका भी मतलब गहरे में यही हुआ कि छोटी शक्ति पर बड़ी शक्ति विजय पा जाती है। कोई राक्षस है, कोई शक्तशाली पहलवान है, कृष्ण दिखाई पड़ते हैं छोटे, लेकिन वे महाशक्तिवान हैं। लेकिन मेरा मानना है कि इस तरह की व्याख्या ने कृष्ण के व्यक्तित्व को समझा ही नहीं। इस तरह की जो व्याख्या है, वह मूलतः गलत, भ्रांत है। क्योंकि उसमें जो आधार में बात है, वह यही है कि बड़ी शक्ति छोटी पर जीत जाती है। मैं कुछ और कहना चाहूंगा, उसे समझना जरूरी होगा।

इस जगत में जो जीतना नहीं चाहता, वह जीत जाता है और जो जीतना चाहता है, वह हार जाता है। इन सारी कथाओं में मेरे लिए अर्थ ऐसा है—जो जीतना नहीं चाहता, वह जीत जाता है, जो जीतना चाहता है, वह हार जाता है। असल में जीतने की चाह में ही बहुत गहरे में हार छिपी है। और जो जीतना नहीं चाहता, इस भाव में ही वह जीता ही हुआ है यह भाव छिपा है। इसे ऐसा समझें अगर कि जो आदमी जीतना चाहता है, वह गहरे में 'इनफीरिऑरिटी कांप्लेक्स' से पीड़ित है। जो आदमी जीतना चाहता है, वह हीनभाव से पीड़ित है। वह जानता तो है कि हीन है, जीतकर सिद्ध करना चाहता है कि हीन नहीं है। जो आदमी जीतने के लिए आतुर ही नहीं है, वह अपनी श्रेष्ठता में प्रतिष्ठित है। उसे कहीं कोई हीनता ही नहीं है जिसे असिद्ध करने के लिए जीत अनिवार्य हो।

इसे अगर हम 'ताओ' से समझेंगे तो बहुत आसानी हो जाएगी।

लाओत्से ने एक दिन अपने मित्रों को कहा है कि मुझे जिंदगी में कोई हरा नहीं सका। तो एक व्यक्ति ने उससे खड़े होकर पूछा कि वह राज हमें भी बताओ, वह 'सीक्रेट', क्योंकि जीतना तो हम भी चाहते हैं और हम भी चाहते हैं कि कोई हमें हरा न सके। लाओत्से हंसने लगा, उसने कहा कि फिर तुम न समझ सकोगे उस राज को। क्योंकि तुमने पूरी बात भी न सुनी और बीच में ही पूछ बैठे। मैंने कहा था, मुझे जिंदगी में कोई हरा न सका...पूरा वाक्य तो कर लेने दो। लाओत्से ने पूरा वाक्य किया, उसने कहा, मुझे जिंदगी में कोई हरा न सका, क्योंकि मैं हारा ही हुआ था। मैं पहले से ही हारा हुआ था। मुझे जीतना मुश्किल था, क्योंकि मैंने जीतना ही नहीं चाहा था। तो उसने उन लोगों से कहा कि तुम अगर सोचते हो कि तुम मरे राज को समझ जाओगे, तो गलती में हो। तुम जीतने की आकांक्षा करते हो, वही तुम्हा

री हार बन जाएगी। सफलता की आकांक्षा ही अंत में असफलता बनती है, और जी
वन की अति आकांक्षा ही अंत में मृत्यु बन जाती है, स्वस्थ होने का पागलपन ही ब
ीमारी में ले जाता है। जिंदगी बहुत अदभुत है। यहां हम जिस चीज को बहुत जोर
से मांगते हैं, उसी को खो देते हैं। जिस चीज को हम मांगते नहीं, वह मिल जाती
है। असल में हम मांगते नहीं, इसका मतलब ही यही है कि वह मिली ही हुई है।
कृष्ण बड़े शक्तिशाली हैं इसलिए जीत जाते हैं, ऐसा मैं न कहूंगा, क्योंकि यह तो ि
फर वही शक्ति का पुराना कानून हुआ कि छोटी मछली को बड़ी मछली खा जाती
है, इसमें कृष्ण की कोई विशेषता न होगी। अगर राक्षस बड़े शक्तिशाली होते तो वे
जीत जाते। यह तो फिर गणित हुआ शक्ति का। यह तो गणित हुआ तराजू पर व
जन का कि जहां वजन ज्यादा था, वहां नीचे बैठ जाएगा। इसमें कृष्ण की कोई बड़ी
जीत नहीं है। लेकिन जिन लोगों ने भी आज तक कृष्ण की जीत की व्याख्या की है
, वह इसी तरह सोच सके। क्योंकि उनके पास एक ही गणित है।

जीसस का एक वचन है, 'ब्लेसेड आर द मीक, बिकाज़ दे शैल इनहेरिट द अर्थ'। ध
न्य हैं विनम्र, क्योंकि पृथ्वी का राज्य उन्हीं का होगा। बड़ी उलटी बात है। धन्य हैं ि
वनम्र क्योंकि पृथ्वी के मालिक वे ही होंगे। कृष्ण जीतने को बिलकुल आतुर ही नहीं
हैं। बच्चे जीतने को आतुर होते भी नहीं, सिर्फ खेलने को आतुर होते हैं। जीत बड़े
बाद में आती है, जब चित्त बड़े बीमार हो जाते हैं, रुग्ण हो जाते हैं। कृष्ण तो खे
ल रहे हैं। वह बड़े राक्षसों से लड़ रहे हैं, तब भी खेल में हैं। राक्षस जीतने के लिए
आतुर हैं, और एक विनम्र बच्चे से, जिसे जीतने का कोई खयाल ही नहीं। जो अ
भी खेल रहा है। जो एकदम मासूम और नाजुक है। उससे वे राक्षस हार जाते हैं। ह
ार जाएंगे।

जापान में एक कला है, जिसका नाम है, जूडो। या दूसरा है, जिजुत्सू। इस कला के
संबंध में दो-तीन बातें खयाल में ले लें तो बड़ा अच्छा होगा। जूडो कुश्ती की कला
है, लेकिन उसका राज बड़ा उलटा है। जूडो की कला जो सीखता है लड़ने के लिए
, उसके नियम हमारी लड़ाई के नियम से बिलकुल उलटे हैं। अगर मैं आपसे लड़ूं,
तो मैं आप पर चोट करूंगा। आप चोट का बचाव करेंगे। आप मुझ पर चोट करेंगे,
मैं चोट का बचाव करूंगा। यह साधारण लड़ने का नियम है। जूडो का नियम उलटा
है। जूडो का नियम यह है कि मैं आप पर हमला कभी न करूं, जिसने हमला किय
ा है वह हार जाएगा; क्योंकि हमले में शक्ति व्यय होती है। मैं हमले को उकसाऊं,
दूसरे को प्रेरित करूं कि वह हमला करे। और मैं बिलकुल 'एट ईज़', अपने में रहूं,
मैं जरा भी हिलूं-डुलूं भी नहीं। मैं कुछ करूं ही नहीं, मैं सिर्फ दूसरे को उकसाऊं ि
क वह हमला करे। मैं उसे क्रोधित करूं, मैं उसे भड़काऊं, मैं उसे जलाऊं और मैं श
ांत रहूं। और जब वह हमला करे तो मैं 'रेज़िस्ट' न करूं। जब वह मेरे ऊपर चोट
करे, घूंसा मारे, तो मैं उसके घूंसे के विरोध में अपने शरीर को अकड़ाऊं न। शरीर
को ढीला और 'रिलेक्स' छोड़ दूं कि उसको घूंसा मेरा शरीर पी जाए।

कभी आपको खयाल है कि एक शराबी के साथ बैठ जाएं एक बैलगाड़ी में और बैल गाड़ी उलट जाए रास्ते में, तो आपको चोट लगेगी, शराबी को नहीं लगेगी। कभी स ोचा कि राज क्या है? शराबी ज्यादा ताकतवर है, इसलिए चोट नहीं लगी? आप क मजोर हैं, इसलिए चोट लग गई? नहीं, जब गाड़ी उलटी तो आप होश में हैं। गाड़ी के उलटते ही आपको लगा कि अब चोट लगेगी, अब मैं बचूं। और आप सख्त हो गए, 'स्ट्रेन्ड' हो गए; आपकी नसें, आपकी हड्डियां सब मजबूती से जमीन के खिलाफ खड़ी हो गईं बचाव के लिए। आप कड़े हो गए। शराबी को पता ही नहीं है कि गा. डी उलट गई। या गाड़ी पहले से ही उलटी हुई थी उनके लिए, उसमें कोई खास फ र्क नहीं है। वह गिर गए, वह गिरने के साथ 'को-ऑपरेट' किए। उन्होंने गिरने के साथ सहयोग किया—वह जमीन के खिलाफ अकड़े नहीं, जमीन के साथ एक हो गए। तो शराबी जब गिरता है तो वह बोरे की तरह गिरता है। इसलिए शराबी रोज रा त गिरते हैं, चोटें नहीं खाते। आप उतने गिरें तो पता चल जाए। बच्चे रोज गिरते हैं, हड्डियां नहीं टूटती हैं। आप उतने गिरें तो एक ही दिन में सब नष्ट हो जाए। क या बात है? बच्चे की ताकत ज्यादा है कि बच्चा गिरता है, हड्डी नहीं टूटती? नहीं, बच्चा गिरने के साथ भी एक हो जाता है। विरोध नहीं करता गिरने का। गिरने में भी साथ देता है। गिरते वक्त भी राजी होता है। 'एक्सेप्टिबिलिटी' है गिरते वक्त। तो जूडो की कला कहती है कि जब तुम्हें कोई मारे, तब तुम राजी हो जाओ पिटने को, और जरा भी कहीं भीतर से विरोध न करना। बड़ी कठिन कला है। राजी हो जाना, पी जाना उसके घूंसे को। तो एक तो खुद हमला मत करना, क्योंकि हमले में शक्ति व्यय होती है। और जब कोई दूसरा घूंसा मारे, तो उसके घूंसे को भी पी जाना, तो उसकी शक्ति भी तुम्हें मिल जाती है। और इसलिए जूडो में बड़ा पहलवा न हार सकता है और कमजोर आदमी जीत सकता है। जीत जाता है।

मैं ऐसा नहीं कह रहा हूं कि कृष्ण जूडो जानते थे। सभी बच्चे जूडो जानते ही हैं। व ही उनकी जिंदगी का राज है, बच्चे की जिंदगी का। कृष्ण जीत सके अगर—सभी क थाएं ऐतिहासिक हैं, यह मैं नहीं कह रहा हूं; मैं तो उसके भीतर जो मनोवैज्ञानिक सत्य है उसकी बात कर रहा हूं—कृष्ण अगर जीत सके, तो खेल था उनके लिए, अ भिनय था। मौज थी, मजा था। हमलेवर वे न थे, जीतने किसी को निकले न थे। क ोई दूसरा जीतने आया था। और मैं मानता हूं कि कृष्ण जैसे बच्चे पर अगर किसी पहलवान ने हमला किया, तो हम कह सकते हैं कि यह पहलवान हार जाएगा। क्यों कि जो बच्चे पर हमला करने गया है, वह भीतर से बड़ा हारा हुआ आदमी होना चाहिए। बहुत, उसके भीतर बहुत 'कांफिडेंस' होना नहीं चाहिए। उसके भीतर आत मविश्वास बिलकुल नहीं है। एक छोटे-से बच्चे पर इतना बड़ा पहलवान हमला करने गया है, यही इस बात की सूचना है कि यह हारेगा। यह हार ही चुका है। इसको लड़ने की कोई जरूरत नहीं थी। इसको पहले ही मान लेना था कि हार चुका है। ह म सदा हमला जब करते हैं किसी पर, हमला करने को उत्सुक होते हैं जब किसी पर, तब बहुत गहरे में हमने उससे अपनी हीनता स्वीकार कर ली। असल में जो श्रे

ष्ठ हैं वे किसी पर हमला करते ही नहीं, क्योंकि ऐसा कोई आदमी नहीं दिखाई पड़ता जिससे वे हीन हैं और हमला करें। हमले की कोई जरूरत नहीं होती। भीतर की हीनता का कीड़ा हमला करवा देता है।

कृष्ण का कमजोर होना, बालक होना, कृष्ण का लड़ने के लिए आतुर न होना, कृष्ण का किसी पर जीतने के लिए आकांक्षी न होना ही राज है। घटनाएं ऐतिहासिक हैं या नहीं, यह मुझे मतलब नहीं, लेकिन जूडो की पूरी-की-पूरी 'फिलासफी', जुजुत्सू की पूरी-की-पूरी कला कृष्ण की जिंदगी में शुरू होती है। मैं तो कहूंगा कि कृष्ण जो हैं वह जुजुत्सू के पहले मास्टर हैं। न तो किसी को जापान में पता है, न किसी को चीन में पता है, न किसी को हिंदुस्तान में पता है कि इस आदमी के सारी विजय का राज क्या है। इस आदमी के विजय का राज ही यही है कि यह विजय करना ही नहीं चाहता, इसे खेल है सब। उस खेल में यह तल्लीन हो जाता है। दूसरा तनावग्रस्त है, दूसरा चिंतित है, जीने को आतुर है, परेशान है, वह अपने भीतर बंटा और कटा हुआ है, टूट रहा है, अपने-आप हार जाएगा। बच्चे को हराना मुश्किल है, यही अर्थ है।

'भगवान श्री, यशोदा को मुख में ब्रह्मांड का दर्शन कराना और अर्जुन को युद्ध में विश्वरूप का दर्शन कराना, इन दोनों घटना विशेष का आप तात्पर्य बतलाएं और यह भी बताएं कि क्या दिव्य-दृष्टि देकर वापस भी ली जा सकती है, जैसा कि कृष्ण ने अर्जुन को देकर वापस ले ली थी?'

* आंखें नहीं हैं हमारे पास, अन्यथा सब जगह हमें विराट का दर्शन हो जाए। आंखें नहीं हैं हमारे पास, अन्यथा सभी जगह ब्रह्मांड है। कृष्ण तो सिर्फ निमित्त हैं। यशोदा को दिखाई पड़ सहता है ब्रह्मांड उनके मुख में। ऐसे भी किस मां को अपने बेटे के मुख में ब्रह्मांड नहीं दिखाई पड़ता है! ऐसे भी किस मां को अपने बेटे में ब्रह्म नहीं दिखाई पड़ता! खो जाता है धीरे-धीरे, यह बात दूसरी। लेकिन, पहले तो दिखाई प.डता है! यशोदा को दिखाई पड़ सका कृष्ण के मुंह में विराट, ब्रह्म, ब्रह्मांड, सभी मां को दिखाई पड़ता है। लेकिन यशोदा पूरे अर्थों में मां थी, इसलिए पूरी तरह दिखाई पड़ सका है। और, कृष्ण पूरे अर्थों में बेटा था, इसलिए निमित्त बन सका। इसमें कुछ 'मिकरेल' नहीं है। इसमें कोई चमत्कार नहीं है। अगर आप प्रेम से मुझे भी देख सकें, तो ब्रह्मांड दिखाई पड़ सकता है। देखने वाली आंखें चाहिए, एक। और योग्य निमित्त चाहिए। एक छोटे-से फूल में दिख सकता है सारा जगत। है भी छिपा। यहां अणु-अणु में विराट छिपा है। एक छोटी-सी बूंद में पूरा सागर छिपा है। एक बूंद को कोई पूरा देख ले तो पूरा सागर दिख जाएगा।

अर्जुन को भी दिखाई पड़ सका, वह भी कुछ कम प्रेम में न था कृष्ण के। ऐसी मैत्री कम घटित होती है पृथ्वी पर, जैसी वह मैत्री थी। उस मैत्री के क्षण में अगर कृष्ण निमित्त बन गए और अर्जुन को दिखाई पड़ सका, तो कुछ आश्चर्य नहीं है, न को

ई चमत्कार है। और ऐसा नहीं है कि एक ही बार ऐसा हुआ है, ऐसा हजारों बार हुआ है। उल्लेख नहीं होता है, यह बात दूसरी है; संगृहीत नहीं होता है, यह बात दूसरी है।

यह जरूर समझने जैसा है कि क्या दी गई दिव्य-दृष्टि वापस ली जा सकती है?

न तो दिव्य-दृष्टि दी जा सकती है, और न वापस ली जा सकती है। किसी क्षण में दिव्य-दृष्टि घटित होती है और खो सकती है। दिव्य-दृष्टि एक 'हैपेनिंग' है। किसी क्षण में आप अपनी चेतना के उस शिखर को छू लेते हैं, जहां से सब साफ दिखाई पड़ता है। लेकिन उस शिखर पर जीना बड़ा कठिन है। जन्म-जन्म लग जाते हैं उस शिखर पर जीने के लिए। उस शिखर से वापिस लौट जाना पड़ता है। जैसे जमीन से आप छलांग लगाएं, तो एक क्षण को जमीन के 'ग्रेवीटेशन' के बाहर हो जाते हैं। खुले आकाश में, मुक्त पक्षियों की तरह हो जाते हैं। एक क्षण के लिए। लेकिन बीत ा नहीं क्षण कि आप जमीन पर वापिस हैं। एक क्षण को पक्षी होना आपने जाना। ठी क ऐसे ही चेतना का 'ग्रेवीटेशन' है, चेतना की अपनी कशिश है, चेतना के अपने चुंबकीय तत्त्व हैं जो उसे नीचे पकड़े हुए हैं। किसी क्षण में, किसी अवसर में, किसी 'सिचुएशन' में आप इतनी छलांग ले पाते हैं कि आपको विराट दिखाई पड़ जाता है—एक क्षण को। जैसे बिजली कौंध गई हो। फिर आप वापिस जमीन पर आ जाते हैं। निश्चित ही अब आप वही नहीं होते जो इस दर्शन के पहले थे। हो भी नहीं सक ते। क्योंकि एक क्षण को भी अगर इस विराट को देख लिया, तो अब आप वही नह ीं हो सकते जो पहले थे। आप दूसरे हो गए। लेकिन वह जो दिखा था, वह खो गया ।

जैसे रात अंधेरी है और बिजली कौंध जाए। एक क्षण को फूल दिखाई पड़ें, पहाड़ ि दखाई पड़ें और खो जाएं, फिर घना अंधकार हो जाए। लेकिन अब मैं वही नहीं हूं, जो पहले अंधकार में था। पहले तो मुझे पता भी नहीं था कि पहाड़ भी हैं, वृक्ष भी हैं, फूल भी हैं। अब मुझे पता है। अंधकार घना है। लेकिन अब उन फूलों को अंध कार मुझसे छीन नहीं सकता। अब उन पहाड़ों को अंधकार मुझसे छीन नहीं सकता। वे मैंने जान लिए, अब वे मेरे हिस्से हो गए हैं। अब मैं जानता हूं, चाहे देखूं और चाहे न देखूं; चाहे पता चले, चाहे पता न चले; लेकिन बहुत गहरे में मैं जानता हूं, चाहे देखूं और चाहे न देखूं; चाहे पता चले, चाहे पता न चले; लेकिन बहुत गहरे में मैं जानता हूं कि पहाड़ हैं, वृक्ष हैं, फूल हैं। उनकी अज्ञात सुगंधें मुझे छुएंगी, उन की अज्ञात हवाओं में मुझे संदेश मिलेगा। अंधकार उन्हें छिपा सकता है, अब लेकिन मुझसे मिटा नहीं सकता।

दिव्य-दृष्टि कोई देता नहीं। लेकिन कृष्ण कहते मालूम पड़ते हैं कि मैं तुझे दिव्य-दृषि ट देता हूं। इससे कठिनाई पैदा होती है। असल में आदमी की भाषा बड़ी उलझन से भरी है। यहां हमें ऐसे शब्दों के प्रयोग करने पड़ते हैं जो कि वस्तुतः जीवंत नहीं हैं । यहां हमें देने-लेने की बात बोलनी पड़ती है। हम अक्सर कहते हैं कि मैं फलां व्यि क्त को प्रेम देता हूं। लेकिन प्रेम दिया जा सकता है? प्रेम कोई वस्तु है, जो दे देगा

? प्रेम घटित होता है, दिया नहीं जाता। लेकिन भाषा ऐसा कहती है कि मैं प्रेम दे ता हूं। मां कहती है, मैं बेटे को प्रेम देती हूं। किसी मां ने बेटे को कभी प्रेम दिया है? प्रेम हुआ है। 'इट हैज़ हैपेंड', वह घटित हुआ है, दिया नहीं गया। ठीक उसी त रह भाषा की बात है, और ज्यादा बात नहीं है। न कोई प्रेम देता है, न कोई लेता है। प्रेम घटता है। घट भी सकता है, खो भी सकता है। ऊंचाइयां घटती हैं और खो जाती हैं। ऊंचाइयों पर रहना मुश्किल है। हिलेरी और तेनसिंग एवरेस्ट पर गए। झं डा गाड़ा, वापिस लौट आए। एवरेस्ट पर रहना मुश्किल है। ऊंचाइयों पर रहना मुश्कि कल है। लेकिन एवरेस्ट पर किसी दिन रहा जा सकेगा, हम इंतजाम कर लेंगे—लौट ना नहीं होगा, रुक भी सकेंगे, चेतना की ऊंचाइयों पर रुकना तो बहुत मुश्किल हो ता है। बहुत मुश्किल हो जाता है चेतना की ऊंचाइयों पर रुकना।

लेकिन, रुका जाता है। कृष्ण जैसे व्यक्ति रुकते हैं। अर्जुन जैसे व्यक्ति छलांग लगाते हैं, देखते हैं, वापिस लौट आते हैं। यह घटना घटती है, यह लेना-देना नहीं है। लेकिन हमारी भाषा लेने-देने में सोचती है। इससे बहुत कठिनाई होती है। हम कहते हैं, हमने फलां व्यक्ति को सहानुभूति दी। सहानुभूति कोई देता है? बस घटती है। जो ठीक शब्द है, वह यह है कि कृष्ण और अर्जुन के बीच उस क्षण में दिव्य-दृष्टि घटी। उसमें कृष्ण निमित्त बने, अर्जुन छलांग लगाने वाला बना। लेकिन भाषा में इसे कैसे कहेंगे? भाषा में इसे ऐसे ही कहेंगे कि दिव्य-दृष्टि दी। जैसा मैंने कहा कि मैं यहां बैठा हूं और अगर मुझे पूरे प्रेम से कोई खुली आंख से देख सके तो कुछ घट सकता है। लेकिन जब आपको घटेगा तो आप भी कहेंगे कि आपने दिया। लेकिन मैं कहां देने वाला हूं! शायद भाषा में कहना पड़े तो मैं भी कहूं कि मुझसे आपको मिला। लेकिन मुझसे क्या मिल सकता है!

'केमिस्ट्री' में शब्द है, उसे समझना चाहिए। वह है, 'केटेलेटिक एजेंट'। 'केटेलेटिक एजेंट' उस चीज को कहते हैं जिसकी मौजूदगी में कोई चीज घट जाती है। लेकिन वह कोई भी भाग नहीं लेता। जैसे कि, उदाहरण के लिए, हाइड्रोजन और आक्सीजन को अगर हमें मिलाना हो और पानी बनाना हो, तो बीच में विद्युत की मौजूदगी चाहिए। अगर बीच में विद्युत मौजूद न हो, तो हाइड्रोजन आक्सीजन अलग-अलग रहेंगे, मिल न सकेंगे। आकाश में भी जो बिजली चमकती है वह इसीलिए चमकती है, अन्यथा आकाश के हाइड्रोजन और आक्सीजन पानी नहीं बन सकेंगे। वह बिजली की चमक की वजह से पानी बन जाता है बादल। लेकिन बड़ी खोज करके भी यह पता नहीं चलता है कि बिजली का कोई 'कंट्रीब्यूशन' है। कोई 'कंट्रीब्यूशन' नहीं है। बिजली कुछ करती नहीं। आक्सीजन और हाइड्रोजन को मिलाने के लिए बिजली कुछ भी नहीं करती। बिजली से कुछ भी नहीं जाता, लेकिन सिर्फ मौजूदगी, 'जस्ट प्रेजेंस', उसकी मौजूदगी भर जरूरी है। उसकी बिना मौजूदगी के नहीं होगा। उसकी मौजूदगी में हो जाएगा। ऐसे 'केमिस्ट्री' में बहुत 'केटेलेटिक एजेंट' हैं जिनकी मौजूदगी जरूरी है। लेकिन सब तरफ की नाप-जोख से पता चलता है कि उनसे कुछ जाता नहीं, उनसे कुछ खोता नहीं, उनसे कुछ होता नहीं।

कृष्ण जो हैं, वह 'केटेलेटिक एजेंट' हैं। और जिनको हम अब तक गुरु समझते रहे हैं वह बड़ी भ्रांति है। दुनिया में कोई गुरु नहीं हैं, सिर्फ 'केटेलेटिक एजेंट' हैं। चेतना में भी घटनाएं घट सकती हैं किसी की मौजूदगी में, जो कि बिना मौजूदगी में शाय द न घटें। कृष्ण की मौजूदगी में घटना घटती है। अर्जुन बेचारा निश्चित ही कहेगा कि आपने मुझे दी। रामकृष्ण की मौजूदगी में विवेकानंद को कुछ घटित होता है। विवेकानंद जरूर ही कहेंगे कि आपने मुझे दिया। और रामकृष्ण अगर भाषा में, बहुत झंझट में न पड़ना चाहते हों तो वह भी कहेंगे, ठीक है। भाषा की झंझट में कभी लोग पड़ना भी नहीं चाहते...मेरे जैसे लोगों को छोड़कर। लेने-देने से काम चल जाता है। लेकिन वह शब्द उचित नहीं है, 'एप्रोपिएट' नहीं है। ठीक जगह पर नहीं है। और आदमी के पास दूसरा कोई शब्द भी नहीं है।
एक चित्रकार से पूछें, वानगाग से पूछें। पूछें कि तुमने यह जो चित्र बनाया...तो वानगाग कहेगा, मैंने बनाया नहीं है, यह मुझसे बना। मगर हम कहेंगे, इससे क्या फर्क पड़ता है? फर्क बहुत पड़ता है। और हो सकता है इस झंझट में वानगाग भी न पड़े और वह कहे कि हां, मैंने बनाया है। क्योंकि सारी दुनिया ने देखा उसे बनाते हुए। यह कोई झूठी बात नहीं है। गवाह मिल जाएंगे कि यह आदमी बना रहा था। लेकिन वानगाग की अंतरात्मा तो कहती है कि मैंने बनाया नहीं, मुझसे बना। यह घटना घटी। यह एक 'हैपेनिंग' है, यह 'डूइंग' नहीं है। यह मेरे भीतर से हुआ। यह मैंने नहीं बनाया, यह मुझसे बनवा लिया गया। मैं सिर्फ मौजूद था, मैं सिर्फ गवाह था।
तो दिव्य-दृष्टि की जो घटना घटी है कृष्ण- अर्जुन के बीच, वह एक बार नहीं, बहुत बार घटी है। कभी बुद्ध- मौगल्लान के बीच घटी है, कभी बुद्ध-सारिपुत्त के बीच घटी है, कभी महावीर-गौतम के बीच घटी है, कभी जीसस और ल्यूक के बीच घटी है, कभी रामकृष्ण-विवेकानंद के बीच घटी है, हजारों-लाखों दफे घटी है। वह चमत्कार नहीं है। इस जगत में चमत्कार होते ही नहीं। अज्ञान नहीं समझ पाता और चमत्कार समझ लेता है। सब चमत्कार अज्ञान से पैदा होते हैं। चमत्कार हो ही नहीं सकते। जो भी हो रहा है, सब सत्य है, सब तथ्य है। इस जगत में सब तथ्य है, सब सत्य है। लेकिन जब हम नहीं समझ पाते तो चमत्कार हो जाता है।

'क्या दिव्य-दृष्टि घबराने वाली होती है, जैसी अर्जुन को हुई है?'

* पूछा जाता है कि क्या दिव्य-दृष्टि घबड़ाने वाली होती है? जैसा अर्जुन घबड़ा गया था। घबड़ाने वाली हो सकती है। अगर पूर्व तैयारी न हो, तो अचानक पड़ा हुआ सुख भी घबड़ा जाता है। लाटरी मिल जाए तो पता चलता है। गरीबी बहुत कम लोगों की जान ले पाती है, अमीरी एकदम से टूट पड़े तो आदमी मर ही जाए।
मैं एक कहानी निरंतर कहता रहता हूं कि एक आदमी को लाटरी मिल गई। उसकी पत्नी बहुत घबड़ाई, क्योंकि एकदम पांच लाख रुपये मिल गए थे। वह बहुत डरी और उसने सोचा कि पति तो अभी दफ्तर गया है—वह किसी दफ्तर में क्लर्क है—व

ह लौटेगा, पांच रुपये भी मुश्किल से मिलते हैं, पांच लाख! पता नहीं झेल पाएगा कि नहीं झेल पाएगा। तो पास में चर्च था, वहां गई और पादरी से कहा कि मैं बड़ी मुश्किल में पड़ गई हूं, पति लौटते होंगे और आते से ही एक बड़ी खतरनाक खबर देनी है कि पांच लाख की लाटरी मिल गई है। कहीं ऐसा न हो कि उनके हृदय पर आघात ज्यादा पड़ जाए। उस पादरी ने कहा, घबड़ाओ मत, मैं आ जाता हूं।
पादरी आकर बैठ गया। उसकी पत्नी ने कहा कि करेंगे क्या? उसने कहा कि इस सुख को 'इंस्टालमेंट' में देना पड़ेगा, टुकड़ों में देना पड़ेगा। आने दो पति को। मैंने योजना बना रखी है। पति आया तो उसने कहा कि तुम्हें पता है, पचास हजार रुपये तुम्हें लाटरी में मिले हैं? सोचा कि पहले पचास हजार। जब पचास हजार सह लेगा तो कहेंगे, नहीं, लाख। जब लाख भी सह जाएगा, देखेंगे नहीं मरता है, तो डेढ़ लाख, ऐसा बढ़ेंगे। लेकिन उस क्लर्क ने कहा कि पचास हजार मिल गए हैं! सच कहते हैं? अगर पचास हजार मिल गए हैं तो पच्चीस हजार तुम्हें चर्च को देता हूं। हार्ट फेल हो गया पादरी का। पच्चीस हजार, उसने कहा! क्या कह रहे हो? पच्चीस हजार इकट्ठे पड़ गए उस पर।
अर्जुन पर जो घटना घटी, वह बहुत आकस्मिक थी। सारिपुत्त या मौगल्लान पर जो घटना घटी, वह आकस्मिक नहीं थी। उसकी बड़ी पूर्व तैयारियां थीं। जो लोग ध्यान की दिशा में यात्रा कर रहे हैं, उनके लिए दिव्यता का अनुभव कभी भी घबड़ाने वाला नहीं होगा। लेकिन जिन लोगों ने ध्यान की दिशा में कोई यात्रा नहीं की है, उनके लिए दिव्यता का प्राथमिक अनुभव बहुत घबड़ाने वाला, बहुत 'शैटरिंग'। क्योंकि इतना आकस्मिक है और इतना आनंदपूर्ण है कि दोनों बातों को ही सहना मुश्किल हो जाता है। इतना आकस्मिक है, इतना आनंदपूर्ण है कि हृदय की धड़कन रुक सकती है, ठहर सकती है, प्राण अकुला जा सकते हैं। दुख कभी इतना नहीं घबड़ाता, क्योंकि दुख की हमारी आदत होती है, सदा तैयारी होती है। दुख तो रोज ही हम भोगते हैं। सुबह से सांझ तक दुख में ही जीते हैं। दुख ही दुख में पलते हैं और बड़े होते हैं। दुख हमारा ढंग है जीने का। इसलिए बड़े-से-बड़े दुख आ जाएं तो भी हम दो-चार दिन में निपट जाते हैं, फिर अपनी जगह लौट आते हैं। लेकिन सुख हमारे जीवन का ढंग नहीं है। अगर छोटा-सा भी सुख आ जाए, तो रात की नींद हराम हो जाती है। चैन खो जाती है। और अर्जुन पर जो सुख उतरा, वह साधारण सुख न था, वह आनंद था। और एक क्षण में उतर आया था, उसकी 'इंटेंसिटी' बहुत थी। वह घबड़ा गया और चिल्लाने लगा कि बंद करो, वापिस लो। मेरी सामर्थ्य के बाहर है यह देखना। स्वाभाविक था यह, यह बिलकुल स्वाभाविक है। बहुत मजे की बात है, लेकिन ऐसा ही है।
दुनिया में इतने शक्तिशाली लोग तो बहुत हैं जो बड़े-से-बड़े दुख को झेल लें, इतने शक्तिशाली लोग बहुत कम हैं जो बड़े सुख को झेल लें। प्रार्थनाएं हम सुख के लिए करते हैं, लेकिन अगर एकदम से मिल जाए तो पता चले, कि हम चिल्लाएं कि बस बंद करो, यह नहीं सहा जा सकेगा, इसे वापिस लौटा लो। इसलिए भगवान भी '

इंस्टालमेंट' में सुख देता है। क्षण-क्षण, धीरे-धीरे, मुश्किल-मुश्किल से; बहुत रोओ, बहुत चिल्लाओ, बहुत मांगो, धीरे-धीरे। और जब कभी आकस्मिक घट जाती है घट ना, बड़ी तीव्रता के किसी क्षण में, तो घबराने वाली होती है।

'भगवान श्री, पहले प्रश्न का दूसरा हिस्सा रह गया था—'विनाशाय च दुष्कृताम्' से आप अर्थ लेते हैं, दुष्टों का नाश नहीं, परिवर्तन। लेकिन कृष्ण ने बहुत से दुष्टों का वध क्यों किया, उन्हें परिवर्तित क्यों नहीं किया?'

* यह भी समझना चाहिए।
हमें जो वध दिखाई पड़ता है, कृष्ण के लिए वह वध नहीं है। जो भी गीता को सम झते हैं, समझ सकेंगे। हमें जो वध मालूम पड़ता है, वह कृष्ण के लिए वध नहीं है, एक। कृष्ण की तरफ से न कोई मारा जाता है, न कोई मारा जा सकता है। फिर कृष्ण क्या कर रहे हैं? लेकिन हमें तो दिखाई पड़ता है कि उन्होंने किसी राक्षस को, किसी पूतना को, किसी को मार डाला।
इसको समझने के लिए थोड़े गहरे जाना पड़ेगा और समझ के बाहर के कुछ सूत्र भी खयाल में लेने पड़ेंगे। अगर इसे ठीक से धर्म के पूरे विज्ञान की भाषा में समझें, तो इसका मतलब केवल इतना हुआ कि एक विशेष राक्षस या एक विशेष दुष्ट के संस्थान को नष्ट कर दिया। एक विशेष दुष्ट के संस्कारों के जाल को, शरीर को, चित्त को पूरी तरह नष्ट कर दिया। और उसके भीतर की आत्मा को पुरानी आदतों के जाल और संस्कारों से मुक्त कर दिया। धर्म के अर्थों में इतना ही होगा। और अगर कृष्ण को ऐसा दिखाई पड़ता है कि यह आदमी इस शरीर के साथ रूपांतरित नहीं हो सकता, तो इसके लिए नए शरीर की यात्रा पर भेज देना सहयोगी होता है। अग र यह शरीर उतनी जड़ता को उपलब्ध हो गया है कि अब इसमें परिवर्तन असंभव है, इसे नया शरीर मिल जाए तो आसान होगा। जैसे एक बूढ़े आदमी को अगर स्कू ल भेजना हो, एक सत्तर साल के आदमी को अगर प्राइमरी स्कूल में भर्ती कराना ह ो, तो जिस दिन विज्ञान के पास सुविधा हो जाएगी, हम भी वही करेंगे जो कृष्ण ने किया। विज्ञान के पास धीरे-धीरे सुविधा होती जा रही है। तब हम इस बूढ़े आदमी को प्रौढ़-शिक्षा में भर्ती न करेंगे। बल्कि इस बूढ़े आदमी को नया बच्चे का शरीर देना चाहेंगे। क्योंकि प्रौढ़ को शिक्षित करना बहुत मुश्किल है, क्योंकि वह इतना शि क्षत हो चुका होता है, उसकी स्लेट पर इतना लिखा जा चुका होता है कि अब उस पर नए अक्षर की रेखाएं खींचनी बड़ी कठिन हो जाती हैं, और खिंच भी जाएं तो दिखाई भी नहीं पड़तीं। और आदतों का जाल इतना घना हो जाता है कि उन आ दतों के जाल से छूटना मुश्किल हो जाता है। समझ में आ जाए तो भी आदतों का जाल पीछा करता है। खयाल में भी आ जाए तो भी आदतों का ताल पीछा करता है।

इसलिए यह बड़े मजे की बात है कि रावण राम के हाथों से मरकर धन्यवाद दे पा
ता है। कृष्ण के हाथों से जो मरे हैं, वे भी धन्यवाद दे पाते हैं। बहुत गहरी अंतरात
मा में उनके धन्यवाद उठता है। एक जाल टूटा। एक जाल नष्ट हुआ। और एक नई
यात्रा क, ख, ग से शुरू हो सकती है। लेकिन हमें तो यही दिखाई पड़ेगा कि मार
डाला उस आदमी को। अगर मेरी तरफ से समझें तो मैं कहूंगा, नई जिंदगी दी उस
आदमी को। नई शुरुआत दी उस आदमी को। उसकी यात्रा को फिर क, ख, ग से
शुरू किया। सफेद, 'क्लीन' स्लेट दी, साफ-सुथरी उसे स्लेट दे दी।
कृष्ण के हिसाब में, या मेरे हिसाब में, कोई मरता नहीं। मरने का कोई उपाय नहीं
है। इसका मतलब यह नहीं है कि आप हिंसा करने निकल जाएं और किसी को भी
मारने लगें। हां, उस दिन आपको मारने की आज्ञा दी जा सकती है जिस दिन आप
को यह पता चल जाए कि कोई मरता नहीं। लेकिन ध्यान रहे उस दिन मरने की भ
ी खुद की तैयारी इतनी ही होनी चाहिए, तभी पता चला समझा जाएगा। तो कृष्ण
वह तैयारी पूरी दिखाते हैं। मौत के मुंह में वह जगह-जगह उतर जाते हैं। वही कस
ौटी है। छोटा-सा बच्चा, भयंकर सर्प से जूझ जाता है। छोटा-सा बच्चा है, महाशक्ति
शाली राक्षसों से उलझ जाता है। क्या खबर क्या दे रहा है? वह खबर केवल इतनी
दे रहा है कि मरता कोई नहीं। मौत एकमात्र असत्य है। 'द ओनली इलूज़न'। एक
मात्र भ्रम है। एकमात्र माया है, जो है नहीं और दिखाई पड़ती है। मृत्यु यदि असत्य
है, तो फिर हम शरीर को बदलने की भी जरूरत अनुभव कर सकते हैं।
ऐसा समझें। आपकी एक 'किडनी' खराब हो गई है और डाक्टर उसे अलग करके दू
सरी 'किडनी' लगा देता है। तो हमें कोई तकलीफ नहीं होती। लेकिन एक अर्थ में
आपका शरीर बदल दिया गया है। आपका हृदय खराब हो गया है और आपको दूस
रा फेफड़ा प्लास्टिक का लगा दिया जाता है। एक अर्थ में आपका शरीर बदल दिया
गया। अभी हम पार्ट्स में बदल पा रहे हैं, लेकिन आज नहीं कल, हम पूरे शरीर क
ो बदल पाएंगे, इसमें कठिनाई नहीं है। अभी तक प्रकृति शरीर को बदलती थी, कृष
ण के जमाने तक में विज्ञान इतना विकसित न था कि वह वैज्ञानिक को कहते कि
इस राक्षस के शरीर को बदल दो। प्रकृति को ही सौंपना पड़ता, गर्दन काटकर प्रकृ
ति को सौंप देते कि बदलो। भविष्य में इस बात की संभावना हो जोगी कि अगर ह
म किसी अपराधी को, किसी 'क्रानिक क्रिमिनल' को, किसी ऐसे आदमी को कि जि
सको किसी तरह नहीं बदला जा सकता—सजा नहीं देंगे, उसके पूरे शरीर को रूपांति
रत कर देंगे। यह आदमी की विज्ञानशाला में भी कल हो सकेगा। तभी हम कृष्ण क
ो पूरा समझ पाएंगे, उसके पहले समझना बहुत मुश्किल है, क्योंकि अभी हमारे पास
बहुत साफ तथ्य नहीं हैं।
इसलिए मैं नहीं मानता हूं कि दुष्टों को नष्ट किया; मैं मानता हूं, दुष्टों को रूपांतरि
त किया। सिर्फ रूपांतरण की यात्रा पर वे भेज दिए गए हैं। वे प्रकृति की प्रयोगशाल
ा में वापिस लौटा दिए गए हैं। प्रकृति की 'वर्कशाप' में वापिस भेज दिए गए हैं कि

कृपा करके इनको फिर से शरीर दो, फिर से आंखें दों, फिर से मन दो, ताकि इन की फिर से नई यात्रा शुरू हो सके।

'इस प्रकार नया शरीर मिलने भर से अतीत के संस्कारों व मन वाला सूक्ष्म शरीर भी बदल जाता है क्या?'

* वह अपने-आप नहीं बदल जाता, लेकिन कृष्ण जैसे आदमी के हाथ से मरने का मौका मिले तो उसमें बहुत फर्क पड़ता है। सभी को नहीं मिलता, बहुत पुण्य कर्मों के फल से मिलता है।
साधारणतः नहीं बदल जाता। अगर एक आदमी मरता है, तो शरीर ही बदलता है, उसके भीतर का और कुछ भी नहीं बदलता। लेकिन कृष्ण जैसे आदमी के हाथ से मरना बड़ी भारी घटना है, क्योंकि 'एजेंट' मौजूद है। उस आदमी की मौजूदगी में य ह घटना घट रही है तुम्हारे मरने की, और तुम्हारे शरीर के छूटते ही उस आदमी के व्यक्तित्व से जो सूक्ष्मतम किरणों का जाल फैलता है, वह तुममें 'एब्जार्व' हो जा एगा, उसे तुम पकड़ पाओगे, वह तुम पी जाओगे। जो तुम्हारा शरीर बाधा दे रहा था कृष्ण से मिलने से, वह बीच से हट जाएगा तो कृष्ण से मिलना आसान हो जाए गा। उस मिलने में बहुत कुछ होगा। वह मिलन अर्जुन के लिए ऐसे ही हो पाता है क्योंकि अर्जुन इस शरीर के बाहर छलांग लगा पाता है। हम प्रेम में शरीर के बाहर छलांग लगा लेते हैं। शत्रुता में हम शरीर के बाहर नहीं छलांग लगाते, शरीर के भीतर शरीर को दुर्ग की तरह बनाकर बैठ जाते हैं।
प्रेम और घृणा का वही फर्क है। अगर मेरा आपसे प्रेम है, आपका मुझसे प्रेम है, तो प्रेम की घड़ी में हम एक-दूसरे के शरीर के बाहर छलांग लगा जाते हैं, और वहां मिल जाते हैं जहां शरीर नहीं मिलते। लेकिन अगर मेरी आपसे घृणा है, तो हम दो नों अपने-अपने शरीरों को दुर्ग बनाकर, किले बनाकर भीतर बैठ जाते हैं। शरीर के बाहर बिलकुल नहीं निकलते। आपका शरीर मुझे दिखाई पड़ता है, आपको मेरा श रीर दिखाई पड़ता है, हमारा मिलन ज्यादा-से-ज्यादा शरीर के तल पर हो सकता है , और कहीं नहीं हो सकता। लेकिन प्रेम में शरीर के बाहर छलांग लगा जाते हैं।
अर्जुन को मारने की जरूरत नहीं पड़ती बदलने के लिए, क्योंकि वह प्रेम से भरा है। किसी को मारने की जरूरत पड़ती है बदलने के लिए, क्योंकि वह घृणा से भरा है, उसके दुर्ग को ढहा देना होगा। तब वह शरीर के बाहर आ जाएगा। और घड़ी वही पैदा हो जाएगी जो अर्जुन के साथ बिना मारे होती है। वह किसी दुष्ट के साथ मा रकर पैदा होती है। लेकिन कृष्ण की अनुकंपा दोनों पर बराबर है। उसमें कोई फर्क नहीं है। लेकिन मैंने कहा कि यह समझ के थोड़ा बाहर हो जाएगा। इसलिए इसे स मझने की कोशिश मत करना, सुनना, और भूल जाना।

'भगवान श्री, मार्शल मैकलूहान का सूत्र है : 'मीडियम इज मेसेज', माध्यम ही संदे
श है। किसी आलोचक ने 'मेसेज' की जगह 'मसाज' शब्द रख लिया और अभिनव
अर्थ प्रदान किया। वैसे ही हम कृष्ण की मुरली को जीवात्मा की परमात्मा को प्रेम-
पुकार कहें तो क्या बाधा है?
महाभारत के समय कृष्ण का पांचजन्य शंख बजाना, तथा बांसुरी के साथ सुदर्शन च
क्र का होना, क्या ये कोई प्रतीकात्मक अर्थ रखते हैं?
रासक्रीड़ा के अंतर्गत भागवत में एक श्लोक है, जिसमें ब्रज-सुंदरियों के साथ खेलते
कृष्ण का वर्णन—'यथा अर्भक स्व प्रतिबिंब विभ्रमः', यह 'इमेज', यह भाव-कल्पना क
या अर्थ रखता है? और एक रहस्यवादी कहते हैं कि जीवात्मा का अहंकार परमात्म
ा का भोजन है। क्या इसी विधान के अनुलक्ष्य में रासलीला करते कृष्ण गोपिकाओं
के अहंकार-मर्दन के लिए अचानक अदृश्य हो गए थे?'

* मार्शल मेकलूहान अदभुत विचारक हैं। उनका वक्तव्य 'मीडियम इज मेसेज'—माध
यम ही संदेश है—बड़ा कीमती है। ऐसा सदा से नहीं समझा जाता रहा। समझा ऐसा
जाता रहा है कि संदेश अलग बात है, माध्यम अलग बात है। संदेश माध्यम के द्वा
रा प्रगट होता है, लेकिन संदेश ही माध्यम नहीं है और माध्यम ही संदेश नहीं है। द्वै
तवादी दृष्टि सदा ही इस तरह के फासले तोड़ती है। वह 'डुआलिस्ट माइंड' सब ची
जों को दो हिस्सों में तोड़ लेता है। वह कहता है, शरीर अलग है, आत्मा अलग है।
शरीर माध्यम है, आत्मा संदेश है। वह कहता है, गति अलग है, गतिवान अलग है
। वह कहता है, प्रकाश अलग है, प्रकाशवान अलग है। वह कहता है, जगत अलग
है, परमात्मा अलग है।
ठीक यह जो द्वैतवादी दृष्टि है, वही अभिव्यक्ति के माध्यम और अभिव्यक्ति के संदे
श में चलती रही है। मार्शल मेकलूहान को मैं अद्वैतवादी कहता हूं। उसे पता है या
नहीं, यह मैं नहीं जानता, मैं उसे अद्वैतवादी कहता हूं। उसने माध्यम और संदेश के
संबंध में पहली दफा अद्वैत की घोषणा की है। वह यह कह रहा है कि जो आप क
हते हैं वह, और जिस ढंग से आप कहते हैं और जिस मार्ग से और विधि से और
माध्यम से आप कहते हैं, ये दो चीजें नहीं हैं, ये एक ही चीज हैं। इसे समझने के ि
लए थोड़ी-सी बातें समझनी जरूरी होंगी।
एक मूर्तिकार एक मूर्ति बनाता है। लेकिन मूर्तिकार अलग होता है, मूर्ति अलग होत
ी है। इसे हम देख सकते हैं साफ। मूर्ति बनती जाती है, और मूर्तिकार बनाता जाता
है, फिर मूर्ति बन जाती है, मूर्तिकार अलग खड़ा हो जाता है, मूर्ति अलग खड़ी हो
जाती है। बड़ा ही गहरा अद्वैतवादी चाहिए, जो कह सके कि मूर्तिकार और मूर्ति
एक हैं। बड़ी कठिनाई पड़ेगी। हमारी आंखें गवाही न देंगी। हमारे हाथ स्वीकार न क
रेंगे। हमारा मन, हमारी बुद्धि कहेगी, क्या पागलपन की बातें कर रहे हो? मूर्तिकार
और मूर्ति अलग हैं। कल मूर्तिकार मर जाएगा और मूर्ति रहेगी। बहुत गहरी आंखें
चाहिए जो कहें कि अब मूर्तिकार मर कैसे सकेगा जब तक मूर्ति रहेगी! बहुत गह

री आंखें चाहिए, जो देख सकें कि अब मूर्तिकार कितना ही दूर चला जाए लेकिन दूर जा कैसे सकेगा! अब 'स्पेस' का संबंध न रहा। अब इन दोनों के बीच एक आत्मिक एकता है, एक तादात्म्य है, जो अब अनंत तक रहेगा, जो नहीं मिट सकता। लेकिन, मूर्तिकार के साथ देखने में हमें बहुत कठिनाई पड़ेगी, इसलिए इस उदाहरण को छोड़ दें, नृत्यकार को लें, और कृष्ण के ज्यादा निकट पड़ेगा वह।

नाच रहा है एक नर्तक। नर्तक और नृत्य दो हैं या एक? यहां बहुत आसानी पड़ेगी। नर्तक को अलग कर लें तो नृत्य खो जाता है, नृत्य को अलग कर लें तो नर्तक नर्तक नहीं रह जाता, साधारण आदमी हो जाता है। नर्तक और नृत्य एक हैं। बांसुरी और बांसुरीवादक एक हैं। गीत और गायक एक हैं, प्रकृति और परमात्मा एक हैं। कहा जाने वाला और जिस माध्यम से कहा गया, वह एक है। लेकिन बहुत-सी चीजों में देखने में आसानी पड़ेगी, क्योंकि हमारी स्थूल आंखें भी पहचान सकेंगी कि बात ठीक है कि नर्तक और नृत्य एक हैं। लेकिन, अगर बहुत द्वैतवादी दृष्टि हो, तो यहां भी हम दो में तोड़ सकते हैं। बिलकुल तोड़ सकते हैं। क्योंकि नृत्य तो बाहर होने वाली प्रगट एक क्रिया है और नर्तक भीतर छिपा एक प्राण है। प्राण नहीं नाच रहा, प्राण तो नाच के बीच खड़ा है। नाच बाहर चल रहा है। द्वैतवादी कह सकता है कि नर्तक चाहे तो अपने नृत्य को देख सकता है, साक्षी हो सकता है। तब वह दो हो जाएंगे। जो हमें दो दिखाई पड़ते हैं वह भी एक हो सकते हैं गहरी दृष्टि से, जो हमें एक दिखाई पड़ता है, उथली दृष्टि से वह भी दो हो सकता है।

लेकिन, बांसुरी बजाई जा रही है। कहां है वह जगह, जहां से बांसुरी बजाने वाले अोंठ और बांसुरी अलग होते हैं? और अगर वे सच ही अलग हैं तो ओंठ बांसुरी बजा कैसे सकते हैं? फिर तो बीच में 'गैप' पड़ जाएगा, बीच में जगह छूट जाएगी। ओंठ अलग हो जाएंगे, बांसुरी अलग हो जाएगी। जुड़ेंगे कैसे, एक कैसे होंगे? स्वर ओंठों पर पैदा होंगे, बांसुरी तक पहुंचेंगे कैसे? नहीं, बांसुरी और ओंठ अलग-अलग दिखाई भर पड़ते हैं। अगर ठीक से समझें तो बांसुरी ओंठों का बढ़ा हुआ रूप है। 'इंस्ट्रूमेंटल' रूप है, बढ़ गया आगे, फैल गया आगे।

ऐसा और तरह से समझें—जैसा मार्शल मैकलूहान को पसंद पड़े, वैसा समझें। एक दूरबीन है, हम आंख पर लगाकर देखते हैं आकाश की तरफ। जो तारे हमें नहीं दिखाई पड़ते थे खुली आंख से, वे दूरबीन से दिखाई पड़ने लगेंगे। दूरबीन और आंख अलग हैं, या कि ऐसा कहें कि दूरबीन आंख का बढ़ा हुआ रूप है? विज्ञान ने आंख को बढ़ा दिया। दूरबीन को जोड़कर आंख बड़ी हो गई। जब मैं अपने हाथ से आपको छूता हूं, तो मैं छूता हूं या मेरा हाथ छूता है? दिखता तो मेरा हाथ छूता हुआ है। लेकिन मेरे हाथ और मुझमें कहीं फासला है, कहीं फर्क है, कहीं कोई अंतराल है, कहीं कोई जगह है, जहां मैं खत्म होता हूं, मेरा हाथ शुरू होता है? नहीं, मेरा हाथ मेरा 'एक्सटेंशन' है, मेरा बढ़ाव है। और समझ लें कि हाथ में मैं एक लकड़ी ले लूं और फिर लकड़ी से आपको छूऊं, तब आप शायद कहेंगे अब आप नहीं छू रहे हैं। लेकिन अब भी मैं ही छू रहा हूं, लकड़ी मेरे हाथ का और भी बढ़ाव है। जब टेल

ीफोन से मैं आपसे बात कर रहा हूं तब भी मेरे ओंठ ही बात कर रहे हैं। टेलीफोन सिर्फ मेरे ओंठों का वैज्ञानिक बढ़ाव है। अगर हम इस भांति देखें, तो दूरबीन से मैं तारों को देख सकता हूं, इसका मतलब ही यही है कि तारों और मेरी आंख के ब ीच कोई आंतरिक संबंध होना चाहिए, अन्यथा देख कैसे सकूंगा? कान से तो मैं ता रों को नहीं देख पाता, आंख से मैं संगीत को नहीं सुन पाता। आंख और तारों के बीच कोई तालमेल, कोई जोड़, कोई 'हार्मनी' चाहिए। कोई अंतर्संबंध चाहिए, कोई 'इंटिमेसी' चाहिए। तो दूरबीन ही नहीं है मेरा बढ़ाव, तारे भी मेरी आंख के बढ़ाव हैं। या उलटी तरफ से सोचें, तो तारों का बढ़ाव मेरी आंख है। तब हमें अद्वैत दि खाई पड़ेगा। तब चीजें हमें एक दिखाई पड़ेंगी। तब चीजों में हमें एक अंतर्फैलाव दि खाई पड़ेगा। और तब सब एक हो जाएगा। 'देन मीडियम इज द मेसेज'। तब फिर माध्यम ही संदेश है और संदेश ही माध्यम है।
ठीक पूछते हैं कि कृष्ण की यह बांसुरी और ये बांसुरी पर बजाए गए स्वर परमात्मा की तरफ की गई प्रार्थनाएं नहीं हैं? प्रार्थना मैं न कहूंगा। क्योंकि कृष्ण जैसा आदम ी प्रार्थना नहीं करता। प्रार्थना किससे करेगा? प्रार्थना में थोड़ा फासला हो जाता है। प्रार्थना में थोड़ा भेद हो जाता है। प्रार्थना में प्रार्थी अलग हो जाता है उससे, जिससे प्रार्थना करता है। प्रार्थना द्वैत है। इसे थोड़ा समझना अच्छा होगा।
प्रार्थना द्वैत है। नहीं, कृष्ण बांसुरी बजाते वक्त प्रार्थना में नहीं, ध्यान में हैं। ध्यान अ द्वैत है। और प्रार्थना और ध्यान शब्द में यही फर्क है। प्रार्थना द्वैतवादी की खोज है। वह कहता है, इधर मैं हूं, उधर परमात्मा है, निवेदन करता हूं। ध्यान अद्वैतवादी क ी स्थिति है। वह कहता है; वहां कोई परमात्मा नहीं, यहां मैं नहीं, बीच में दोनों के सब हैं। कृष्ण की बांसुरी प्रार्थना का उठा हुआ गीत नहीं, ध्यान से उठा हुआ स्वर है। यह किसी परमात्मा से की गई प्रार्थना नहीं, यह स्वयं को दिया गया धन्यवाद है । 'सेल्फ कांग्रेचुलेशन' है, स्वयं को दिया गया धन्यवाद है। स्वयं के प्रति प्रगट गई अनुगृहीत भावना। यह अनुग्रह-भाव है, यह 'ग्रेटीट्यूड' है, 'प्रेयर' नहीं। यह अनुग्रह-बोध है, यह अहोभाव है, क्योंकि प्रार्थना में पैर उतने मुक्त नहीं हो सकते जितने अ होभाव में होते हैं। प्रार्थना में संकोच और डर तो बना ही रहता है। प्रार्थना में भय और आकांक्षा तो बनी ही रहती है। प्रार्थना सुनी जाएगी, नहीं सुनी जाएगी, इसका संशय तो बना ही रहता है। कोई प्रार्थना सुनने वाला है या नहीं, इसका संदेह तो खड़ा ही रहता है।
अनुग्रह में कोई सवाल नहीं रह जाता। कोई सुनता है या नहीं सुनता है, यह सवाल ही नहीं है। कोई गुनता है, नहीं गुनता है, यह सवाल ही नहीं है। कोई मानेगा, न हीं मानेगा, यह सवाल ही नहीं है। यह किसी के लिए 'एड्रेस्ड' नहीं है। ध्यान जो है , 'अनएड्रेस्ड' है। इस पर किसी का कोई पता ही नहीं है। सीधा अनुग्रह का भाव है , जो समस्त के प्रति निवेदित है। आकाश सुने तो सुने, फूल सुने तो सुने, बादल सु ने तो सुने, हवाएं ले जाएं तो ले जाएं न ले जाएं तो न ले जाएं। इसके पीछे कोई आकांक्षा नहीं है। 'देअर इज नो एंड टु इट'। यह अपने-आप में पूरी है बात। बांसुरी

बज गई है, बात खत्म हो गई है। कृष्ण ने अपने हृदय को निवेदन कर दिया, 'अ नएड्रेस्ड'। यह किसी के प्रति नहीं है निवेदन। यह निपट निवेदन है। इसीलिए कृष्ण आनंद से बजा सके इस बांसुरी को। मीरा उतने आनंद से नहीं नाच सकी। मीरा ध्य ान में नहीं है, प्रार्थना में है। मीरा के लिए कृष्ण वहां पराए की तरह खड़े हैं। कित ने ही निकट हों, पर पराए हैं। कितने ही पास हों, पर फिर भी दूर हैं। और कितने ही हों, फिर भी एक नहीं हो गए हैं।

इसलिए मीरा के नाचने में वह स्वतंत्रता नहीं है, जो कृष्ण के नाचने में है। मीरा के घुंघरुओं में परतंत्रता का तो थोड़ा-सा स्वर है। मीरा के भजन में दुख है, पीड़ा है। कृष्ण की बांसुरी में सिवाय आनंद के और कुछ भी नहीं है। मीरा के भजन में आं सू भी हैं—'एड्रेस्ड' है न भजन, किसी का पता लिखा है; पहुंचेगा नहीं, सुनेगा नहीं; पता नहीं आएगा, नहीं आएगा; सेज उसने तैयार कर रखी है, निवेदन भेज दिया है , प्रतीक्षा जारी है। मीरा के भजन के पीछे कोई लक्ष्य है। मीरा के भजन के पीछे क ोई आकांक्षा है, अभीप्सा है, इसलिए मीरा की आंख में आंसू भी हैं, मीरा के मन में प्रतीक्षा भी है, पूरी होगी कि नहीं होगी आकांक्षा, इसका भय भी है। इसका कंपन भी है। कृष्ण के मन में कोई कंपन नहीं है। ये ध्यान से उठे हुए स्वर हैं, किसी परम ात्मा के प्रति प्रेरित नहीं, बल्कि किसी परमात्मा से ही उठे हुए हैं। अनंत के प्रति ि वस्तीर्ण, 'अनएड्रेस्ड', कोई पता-ठिकाना नहीं है। कृष्ण किसीलिए बांसुरी नहीं बजा रहे हैं, अकारण बजा रहे हैं। या इसीलिए बजा रहे हैं कि अब और करने का कोई कारण नहीं रहा, अब बांसुरी ही बजाई जा सकती है।

आमतौर से हम बांसुरी को चैन से जोड़ते हैं। हम कहते हैं, फलां आदमी चैन की ब ांसुरी बजा रहा है। असल में बांसुरी का मतलब ही यह है कि कोई आदमी चैन में है। कोई आदमी 'एट ईज' हो गया, अब बांसुरी बजाने के सिवाय कोई बचा नहीं कुछ करने को। नाहक का काम है, बेकार काम है, कुछ फल तो होता नहीं। कुछ आता तो नहीं, कुछ मिलता तो नहीं। लेकिन कुछ मिल गया है, कुछ पा लिया गया है, वह फूट-फूटकर बह जाता है।

'भगवान श्री, आप बहुधा कहा करते हैं कि 'प्रेयर इज ए स्टेट आफ कांशसनेस'। अ ौर कभी-कभी यह भी कहा करते हैं कि 'प्रेयर इज ए स्टेट आफ ग्रेटीट्यूड'। तब फि र 'प्रेयर' अद्वैत क्यों न होगा?'

* नहीं, ऐसा मैं कभी नहीं कहता। मैं ऐसा कभी नहीं कहता कि 'प्रेयर इज ए स्टेट आफ माइंड'। मैं कहता हूं, 'प्रेयरफुलनेस इज ए स्टेट आफ माइंड'। 'प्रेयरफुलनेस'। प्रार्थना नहीं, प्रार्थनामयता। प्रार्थना नहीं, प्रार्थनापूर्ण होना।

एक आदमी सुबह प्रार्थना कर रहा है, यह और बात है। एक आदमी उठता है, बैठ ता है, चलता है और प्रार्थनापूर्ण है। वह जूता भी पहनता है तो प्रार्थनापूर्ण है। वह जूते को भी उठाकर रखता है तो ऐसे ही रखता है जैसे भगवान की मूर्ति को रखत

ा हो। वह आदमी प्रार्थनापूर्ण है। वह रास्ते के किनारे एक फूल के पास खड़ा होता है तो भी वैसे ही खड़ा होता है जैसे स्वयं परमात्मा उसके सामने खड़ा हो तो खड़ा होगा। यह आदमी प्रार्थनापूर्ण है, यह कभी प्रार्थना कर नहीं रहा है। इसने प्रार्थना क भी की नहीं। 'प्रेयर' को नहीं कहता हूं मैं कभी कि वह चेतना है। 'प्रेयरफुलनेस', प्रार्थनापूर्ण हृदय। यह बड़ी और बात है। प्रार्थनापूर्ण हृदय का मतलब फिर ध्यान हो जाता है, फिर कोई फर्क नहीं रहता।

प्रार्थना तो करते ही वे हैं, जो प्रार्थनापूर्ण नहीं हैं। प्रार्थनापूर्ण प्रार्थना करेगा कैसे? व ह तो प्रार्थना को जीता है, वह तो प्रार्थना होता है। वह कुछ और करता ही नहीं, और कर ही नहीं सकता। प्रार्थना तो वही करेगा जो और कुछ भी करता रहता है। दुकान भी करता है, घृणा भी करता है, क्रोध भी करता है, बाजार भी करता है, कुछ और भी करता है, उसी में प्रार्थना भी उसकी बड़े कामों की 'लिस्ट' में एक चीज है, एक 'आइटम' है। उसको भी करता है। लेकिन प्रार्थनापूर्ण तो वह है कि दु कान भी करता है तो प्रार्थना करता है।

अब कबीर है, कबीर कपड़ा भी बुन रहा है, तो कोई उससे कहता है कि तुम अब क्यों कपड़ा बुनने में लगे हो? तो वह कहता है, यह मेरी प्रार्थना है। वह कहता है, मैं चलता हूं तो वह मेरा ध्यान है, मैं उठता हूं तो वह मेरा ध्यान है, मैं खाता हूं तो वह मेरा ध्यान है, मैं कपड़ा बुनता हूं तो वह मेरा ध्यान है। वह कहता है—साधो , सहज समाधि भली। जो करते हो, वही समाधि है; वही मेरा ध्यान है, वही मेरी प्रार्थना है। वह बाजार बेचने जा रहा है कबीर अपने कपड़ों को, तो नाचता हुआ च ला जा रहा है। वह बाजार में ग्राहक उससे कपड़ा खरीदने आए हैं तो वह उनसे क हता है कि राम, ऐसी बढ़िया चीज मैंने पहले कभी बनाई नहीं, इसमें प्रार्थना को भ ी इसके धागे-धागे में मैंने बुन दिया है। राम कहता है उसे कबीर, जो खरीदने आया है। अब इसके लिए न कोई खरीददार है, न कोई बेचनेवाला है। इधर राम ही बना ने वाला है, राम ही पहनने वाला है। इधर राम ही बुनने वाला है, राम ही बुना जा रहा है। यह स्थिति प्रार्थनापूर्ण है, यह 'प्रेयरफुल' है। इसलिए कबीर को कभी किस ी ने प्रार्थना करते नहीं देखा कि वह मस्जिद में चला गया हो और चिल्ला रहा हो, अजान कर रहा हो। कि कभी मंदिर में चला गया हो और कह रहा हो, हे भगवान ! बल्कि वह निरंतर कह रहा है कि क्या तुम्हारा भगवान बहरा है, जो तुम इतने जोर से चिल्ला रहे हो? ऐ मुल्ला, तू इतनी जोर से क्यों चिल्लाता है, क्या तेरा भ गवान बहरा है? क्योंकि हम तो बिना चिल्लाए ही पाते हैं कि वह सुन लेता है। हम तो बिना कहे पाते हैं कि वह समझ लेता है। तू इतने जोर से क्यों चिल्ला रहा है ? क्या तेरा भगवान बहरा हो गया है? तो कबीर मजाक करते हैं बहुत उन सबकी जो प्रार्थना कर रहे हैं। और यह आदमी प्रार्थनापूर्ण है, इसलिए मजाक कर सकता है। अन्यथा मजाक नहीं कर सकता। तो प्रार्थनापूर्ण होने को तो मैं कहता हूं, प्रार्थना के लिए नहीं कहता हूं।

'वह चक्र-सुदर्शन और पांचजन्य के बारे में प्रश्न था, तथा रासक्रीड़ा के संबंध में—'य था अर्भक स्व प्रतिबिंब विभ्रमः'?'

* कृष्ण के व्यक्तित्व से जुड़ी हुई सारी बातों के बड़े प्रतीक अर्थ हैं। होने ही चाहिए। कृष्ण जैसे व्यक्ति के साथ जो भी जुड़ा है, वह निर्मूल्य नहीं हो सकता। अमूल्य हो सकता है। लेकिन हम उसका मूल्य भी समझ पाएं तो बहुत है, अमूल्य को समझना तो थोड़ी कठिनाई की बात है।
कृष्ण का पांचजन्य, उनका शंख बड़े प्रतीक अर्थ रखता है। आदमी की पांच इंद्रियां हैं, आदमी के पांच द्वार हैं, आदमी अपने पांच द्वारों के माध्यम से उद्‌घोष करता है। उसके जीवन का सारा उद्‌घोष पांच द्वारों के किया गया उद्‌घोष है—उसकी आंख से, उसकी नाक से, उसके कान से, उसके मुंह से। पांच इंद्रियां पांच द्वार हैं जगत से हमारे संबंध के। और जब कथाकार कहते हैं कि कृष्ण ने पांचजन्य बजाया, उसका कुल मतलब इतना है कि युद्ध में वे अपनी पांचों इंद्रियों सहित समग्र रूप से मौजूद हुए। इससे ज्यादा कोई मतलब नहीं है। युद्ध उनके लिए कोई एक काम न था, उनके लिए कोई चीज काम न थी। कबीर जैसा कपड़ा बेचने बाजार चला गया था, पूरा-का-पूरा, ऐसे ही कृष्ण पांचजन्य बजाकर उद्‌घोष करते हैं कि मैं पूरा-का-पूरा युद्ध में आ गया हूं। कुछ पीछे छोड़ आया नहीं। वह पीछे छोड़कर चलते ही नहीं। वह पूरे-के-पूरे, जहां होते हैं पूरे होते हैं। इसलिए पांच इंद्रियों के प्रतीक पांचजन्य को वह बजाते हैं और वह कहते हैं कि मेरी समस्त इंद्रियों सहित मैं यहां मौजूद हूं। मेरी मौजूदगी की घोषणा है। वह सारे शंख अपनी-अपनी मौजूदगी की घोषणा करते हैं। सबके शंखों के अलग-अलग नाम हैं। और प्रत्येक अपना-अपना शंख बजाता है, वह उसकी घोषणा है। प्रत्येक शंख का अलग-अलग स्वर है। और प्रत्येक शंख का प्रत्येक व्यक्ति के आंतरिक व्यक्तित्व से संबंध है। लेकिन कृष्ण के शंख का मुकाबला कोई भी नहीं है। समग्र रूप से वहां कोई भी उपस्थित नहीं है, समग्र रूप से वह अकेले ही उपस्थित हैं। और मजे की बात है कि वही वहां युद्ध करने को उपस्थित नहीं है। वह आदमी वहां लड़ने आया ही नहीं, 'नानकमीटेड', वहां खड़ा है।
सच बात यह है कि पूरा वही खड़ा हो सकता है जिसका कोई 'कमिटमेंट' नहीं है। अगर 'कमिटमेंट' है तो अधूरे ही खड़े होंगे आप। 'कमिटमेंट' में कुछ-न-कुछ पीछे छूट ही जाता है, कुछ बाकी रह जाता है। कम-से-कम वह तो छूट ही जाता है जो 'कमिट' करता है। वह पीछे छूट जाता है। 'वन कैन बी टोटल ओनली व्हेन वन इज अनकमीटेड'। जब कोई भी 'कमिटमेंट' नहीं हैं तब तो कोई बात ही नहीं है। हम पूरे ही होते हैं, कोई वजह ही नहीं है। इसलिए कृष्ण वहां युद्ध करने को आए नहीं, लेकिन पूरे युद्ध में हैं। और पांचजन्य इनकी घोषणा देता है कि यह आदमी पूरा यहां मौजूद है। 'टोटल प्रेजेंस' की खबर वह पांच इंद्रियों के प्रतीक पांचजन्य से होगी। यह आदमी युद्ध में मौजूद है। युद्ध करने को मौजूद नहीं। इसका केवल मतलब इतना है कि यह तय करके आया नहीं। युद्ध करने का कोई भी निर्णय इसके मन

में नहीं है। युद्ध से इसे कोई प्रयोजन भी नहीं है, इसे कुछ मिलने-जाने वाला भी न
हीं है, इसका युद्ध से कोई संबंध भी नहीं है। 'नो-पार्टी ' है यह आदमी। कौन जीत
ता है, कौन हारता है, इससे इसे कुछ बनता-बिगड़ता नहीं। इसका अपना कोई हित
, कोई स्वार्थ नहीं है। लेकिन फिर भी यह आदमी एक क्षण आता है युद्ध का और
युद्ध में उतर जाता है और सुदर्शन चक्र को हाथ में ले लेता है—वह उनके चक्र का
नाम है।

वह नाम भी बड़ा प्रतीकात्मक है।

असल में जिन लोगों ने काव्य लिखे उन्होंने शब्दों के साथ बड़ी मेहनत की है। काव्य
का तो प्राण ही शब्द है। और शब्दों के साथ बड़ी उन्होंने छेनी-हथौड़ी लेकर सैकड़ों
वर्ष तक मेहनत की है।

अब कृष्ण का जो चक्र है, उसको नाम दिया है सुदर्शन का। मृत्यु का वह वाहक है
और नाम सुदर्शन का है। मृत्यु देखने में सुंदर नहीं होती, न सुदर्शन होती है, लेकिन
कृष्ण के हाथ में मृत्यु भी सुदर्शन बन जाती है। उतना ही अर्थ है। हम एटम बम
को सुदर्शन चक्र का नाम नहीं दे सके। एटम जैसा ही संघातक है वह। अचूक है उस
की चोट। मौत उसकी निश्चित है उससे। वह छूटता है तो बस मारकर ही लौटता
है। मृत्यु जहां बिलकुल निश्चित हो, वहां भी हम उस मृत्यु के शस्त्र को सुदर्शन कहें
गे? लेकिन कहा तो है। असल में कृष्ण जैसे आदमी के हाथ में मृत्यु भी सुदर्शन हो
जाती है। हिटलर जैसे आदमी के हाथ में फूल भी सुदर्शन नहीं रह जाता है। सवा
ल यह नहीं है कि क्या है आपके हाथ में, सवाल सदा यही है कि हाथ किसका है।
कृष्ण के हाथ से मरना भी आनंदपूर्ण हो सकता है। और उस युद्ध के स्थल पर खड़े
हुए मित्र और विपक्षी भी इस बात को स्वीकार करते हैं कि उनके हाथ से मरना
आनंदपूर्ण हो सकता है। वह भी सौभाग्य का क्षण हो सकता है। इसलिए उनके शस्त्र
को भी नाम जो देते हैं हम, वह सुदर्शन का नाम दिया है।

एक क्षण आता है युद्ध का, वह सुदर्शन हाथ में लेकर युद्ध में कूद पड़ते हैं। यह उ
नके 'स्पांटेनियस', सहज होने का प्रतीक है। ऐसा आदमी क्षण में जीता है, 'मॉमेंट
टु मॉमेंट'। ऐसा आदमी पिछले क्षण से बंधा हुआ नहीं होता है। अगर ठीक से समझें
तो ऐसे आदमी की कोई 'प्रॉमिस' नहीं होती। संभवतः जेसपर्स ने आदमी की परिभ
ाषा की है—बहुत परिभाषाएं आदमी की की जा सकती हैं, कोई कहता है, 'मैन इज
ए रेशनल बीइंग', मनुष्य बुद्धिमान प्राणी है। जेसपर्स ने जो परिभाषा की है वह है,
'मैन इज ए प्रॉमिसिंग एनिमल'। आदमी जो है, वह वचन देने वाला प्राणी है। कृष
ण आदमी नहीं हैं। वह वचन देता नहीं। हां, गांधी उनमें आएंगे, वचन देन वाले प्रा
णियों में आएंगे। कृष्ण वचन देनेवाला प्राणी नहीं है। क्षण में जीने वाला आदमी है।
जो क्षण ले आएगा, वैसा जिएगा। अगर क्षण ने ऐसी स्थिति पैदा कर दी तो यह अ
पने को रोकेगा नहीं। क्षण अगर युद्ध ले आया, तो युद्ध में उतर जाएगा। क्षण-क्षण
जीवन का जो अर्थ होता है—और निश्चित ही केवल क्षण-क्षण जीने वाला आदमी ही
मुक्त जी सकता है। क्योंकि जिसने वचन दिए हैं, वह अतीत से बंध जाता है। जो

पीछे से बंध जाता है, जो पीछे से बंधकर जीने लगता है, उसकी भविष्य की स्वतंत्र ता रोज संकीर्ण होती चली जाती है। और अतीत भविष्य पर बोझिल होने लगता है ।

तो कृष्ण लड़ने में उतर जाते हैं। आए नहीं थे लड़ने को, युद्ध करने का कोई खया ल न था, कोई बात न थी, उतर जाते हैं युद्ध में। यह बड़ी कठिनाई की बात रही है। जो लोग कृष्ण पर सोचते रहे हैं, उन्हें बड़ी मुश्किल की बात रही है कि वह यु द्ध में क्यों उतर गए? कारण सिर्फ इतना ही है कि वैसा आदमी भरोसे का आदमी नहीं है। 'ही कैन नाट बी रिलाइड अपॉन।' ऐसे आदमी पर बिलकुल पक्का भरोसा नहीं किया जा सकता। ऐसा आदमी जो स्थिति होगी वैसा जिएगा। और आप उससे यह नहीं कह सकते कि कल तो आप ऐसे थे, आज आप ऐसे? वह कहेगा, कल अ ब नहीं है। गंगा का पानी बहुत बह चुका। अब गंगा जहां है, वहां है। आज मैं ऐसा हूं; और कल मैं कैसा होऊंगा, कुछ भी नहीं कहा जा सकता। कल आएगा, तभी हम जानेंगे। इस तरह के आदमी की भविष्यवाणी नहीं बताई जा सकती। ज्योतिषी ऐसे आदमी के साथ हार जाते हैं। ज्योतिषी ऐसे आदमी के साथ कभी नहीं जीत पा ते। क्योंकि ज्योतिषी बताता है भविष्य को। वह आज के आदमी को देखकर कहता जाएगा। क्योंकि कृष्ण कल क्या करेंगे, यह बिलकुल नहीं कहा जा सकता। आज के कृष्ण से कुछ निकलता ही नहीं कल के कृष्ण के लिए। कल का कृष्ण कल पैदा होग ा, आज का कृष्ण आज पैदा हुआ है।

इसे थोड़ा ठीक से देख लें।

दो तरह की जिंदगियां होती हैं। एक जिंदगी होती है, शृंखलाबद्ध। और एक जिंदगी होती है, 'एटॉमिक'। एक जिंदगी होती है 'सीरीज़' की तरह, और एक जिंदगी हो ती है अणुओं की तरह। जो आदमी शृंखला में जीता है, उसके कल और आज के ब ीच सेतु होता है। उसका आज उसके कल से निकलता है। उसकी जिंदगी उसके मरे हुए हिस्सों से निकलती है। उसका ज्ञान उसकी स्मृति से निकलता है। उसका आज का होना उसके कल की राख से निकलता है, उसकी जिंदगी का फूल उसकी कब्र प र खिलता है।

लेकिन एक दूसरा जीवन है। यह जीवन शृंखला का जीवन नहीं है, आणविक जीवन है। उसमें आज का होना कल से नहीं निकलता, आज से ही निकलता है। यह आ ज का जो सारा अस्तित्व है, इससे ही निःसृत होता है। मेरे कल का जो शृंखलाबद्ध स्मृति का अस्तित्व है, मेरा जो संस्कार का अस्तित्व है, मेरी जो 'कंडीशनिंग' है, उससे नहीं निकलता है मेरा आज का होना। आज के इस विराट अस्तित्व से, आज के 'एक्ज़िस्टेंस' से, आज के अस्तित्व से निःसृत होता है। 'एक्ज़िस्टेंसियल' है। आज के क्षण से निकलता है, आने वाले क्षण में फिर उस क्षण से निकलता है, फिर आने वाले क्षण में उस क्षण से निकलता है। शृंखला ऐसे जीवन में भी होती है, लेकिन सेतुबद्ध नहीं होती। रोज-रोज प्रतिपल निकलता है। ऐसा आदमी हर क्षण को जीता है और हर क्षण को मर जाता है। आज जीता है, आज मर जाता है। आज रात

सोता है, आज के लिए मर जाता है। कल सुबह फिर जीता है, फिर जगता है। प्रतिपल जीना और प्रतिपल मर जाना—'डाइंग टु एवरी मॉमेंट', तभी वह प्रतिपल नया होकर जन्म लेता है। तो प्रतिपल नया है और कभी पुराना नहीं पड़ता। वैसा आदमी सदा जवान है। ऐसा आदमी सदा युवा है, ऐसा आदमी सदा ताजा है। और उसका जो होना निकलता है वह समग्र अस्तित्व से निकलता है, इसलिए उसका होना भागवत है।

हम भगवान का जो अर्थ करें, मैं जो करूं भगवान का अर्थ, वह यही है। भगवान का जीवन 'एटामिक' है, आणविक है, 'एक्ज़िस्टेंसियल' है, अस्तित्व से निकलता है, सत से निकलता है, रोज-रोज प्रतिपल, पल-पल निकलता है, होता है। उसका न कोई अतीत है, न कोई भविष्य है, सिर्फ वर्तमान है। कृष्ण को अगर भगवान कहा जा सका, भागवत चेतना कहा जा सका, 'डिवाइन कांशसनेस' कहा जा सका, उसका और कोई अर्थ नहीं है। उसका यह मतलब नहीं है कि कहीं कोई भगवान बैठा है और वह इस आदमी में उतर आया है। इसका इतना ही मतलब है कि भगवान अर्थात समग्र, 'दि टोटल', इस आदमी का होना समग्र से ही निकलता चला जाता है। इसलिए इस आदमी में अगर हम कभी 'कंसिस्टेंसी' खोजने जाएं तो थोड़ी दिक्कत में पड़ेंगे। ऐसे आदमी में अगर हम संगति खोजने जाएं, शृंखला खोजने जाएं, तो हमें बहुत-सी चीजों को 'इगनोर' करना पड़ेगा। या बहुत-सी चीजों को जबर्दस्ती समझाना पड़ेगा। या बहुत-सी चीजों को किसी तरह तालमेल बिठाना पड़ेगा। या कहना पड़ेगा लीला है। जब हमारी समझ में नहीं पड़ेगा तो कहना पड़ेगा समझ में नहीं पड़ता है, लीला है। लेकिन कठिनाई और अड़चन जो आ रही है वह 'सीरियल एक्ज़िस्टेंस' और 'स्पांटेनियस एक्ज़िस्टेंस'—शृंखलाबद्ध अस्तित्व और सहज अस्तित्व, इनको न समझने से आती है।

'भगवान श्री, राम का जीवन तो वाल्मीकि ने राम के होने के पहले लिख दिया था। वे भी भगवान थे। तो उनका जीवन शृंखलाबद्ध कैसे हुआ?'

* यह सवाल बहुत अच्छा पूछा है। यह पूछा है कि राम का जीवन तो वाल्मीकि ने राम के होने के पहले लिख दिया था।

लिखा जा सकता है। राम का जीवन लिखा जा सकता है। वह मर्यादा के आदमी थे। यह मजाक छिपी है उसमें कि वाल्मीकि ने जो पहले लिखा राम का जीवन, उसका मतलब कुल इतना है कि राम आदमी ऐसे हैं कि उनका जीवन पहले ही से लिखा जा सकता है कि वह क्या करेंगे। वह चरित्र है। क्या करेंगे, क्या नहीं करेंगे, इसके बाबत पहले से पक्का हुआ जा सकता है। ऐसा नहीं है कि वाल्मीकि ने लिख दिया था। इस घटना में बड़ा मजाक छिपा हुआ है, और इस मुल्क ने बड़े गहरे मजाक किए हैं जो कि हम पकड़न नहीं पाते। इस घटना में यह छिपा है, कि इतना बंधा हुआ जीवन है राम का कि राम के जीने के पहले ही वाल्मीकि कवि लिख सकता है।

इतना 'सीरियल एक्ज़िस्टेंस' है। राम के बाबत पक्का हुआ जा सकता है कि तुम क
या करोगे? राम पैदा न हों, उसके पहले कहा जा सकता है कि यह आदमी पैदा हो
कर क्या करेगा? ऐसा नहीं है कि वाल्मीकि ने पहले लिख दिया। लिखा तो पीछे ही
गया, लेकिन राम का जीवन 'सीरियल' होने की वजह से यह मजाक प्रचलित हो
गया उन वर्गों में, जो मजाक का मतलब समझते हैं। यह मजाक प्रचलित हो गया ि
क राम की भी कोई जिंदगी है, यह तो एक चरित्र है, जैसे कि एक फिल्म लिखी
जाती है। पहले लिख दी जाती है, फिर खेली जाती है। यह तो पहले लिख दी गई
है, इसकी 'स्क्रिप्ट' पहले लिखी जा सकती है। राम का मामला सब सुनिश्चित है, '
सर्टेन' है, उसके बाबत कहा जा सकता है कि सीता चोरी जाएगी तो राम क्या करें
गे। यह भी कहा जा सकता है कि सीता को लंका से ले आएंगे तो अग्नि-परीक्षा ज
रूर लेंगे। यह सब कहा जा सकता है। और इतने के बावजूद भी, अग्नि-परीक्षा हो
जाए फिर भी एक धोबी कह देगा कि हमें संदेह है, तो निकाल बाहर करेंगे। यह स
ब मामला, बिलकुल पक्का है। कृष्ण के मामले में पक्का कुछ भी नहीं कहा जा सक
ता।

'भगवान श्री, आप मार्टिन बूबर की भाषा में कृष्ण को 'इंटरप्रीट' करते हैं?'

* नहीं, मार्टिन बूबर घूम-फिर कर द्वैतवादी है। मार्टिन बूबर अद्वैतवादी नहीं है। अ
सल में मार्टिन बूबर की जो जड़ें हैं, वे हिब्रू और ज्यू विचार में हैं। तो मार्टिन बूबर
जो कहता है वह ज्यादा-से-ज्यादा मैं और तू के बीच गहरी-से-गहरी आंतरिकता पै
दा हो, संबंध पैदा हो, इसके लिए तो आतुर है। मैं और तू—'आई' और 'यू' के बी
च एक बड़ा आंतरिक भाव पैदा हो—इतना भाव हो कि मैं तू तक बह जाए, तू मैं
तक आ जाए, लेकिन मैं और तू को मिटाने की तैयारी मार्टिन बूबर की नहीं है। अ
सल में मार्टिन बूबर जिस परंपरा से आता है, उस परंपरा में ही द्वैत को मिटाने की
तैयारी नहीं है। जीसस को यहूदियों ने सूली इस वजह से दी कि जीसस ने ऐसे वक
तव्य दे दिए जो अद्वैतवादी थे। जीसस ने कह दिया—'आई एंड माइ फादर आर वन'
। यह खतरनाक हो गया। यहूदी विचार इसको न समझ सका। यहूदियों ने कहा, य
ह बर्दाश्त के बाहर है। तुम कितना ही कुछ कहो, परमात्मा ऊपर है और तुम चर
णों में हो। तुम यह घोषणा नहीं कर सकते कि तुम परमात्मा हो। मुसलमानों ने सू
फियों को सताया और सूलियां दीं। इसका कारण वही यहूदी विचार की परंपरा है।
जब मंसूर ने कहा, अनलहक—मैं ही ईश्वर हूं—तो फिर बर्दाश्त के बाहर हो गया। क
हा कि तुम कितने ही ऊपर उठो, लेकिन तुम ईश्वर नहीं हो सकते। मुहम्मद को भी
ईश्वर होने का दर्जा नहीं दे सका मुसलमान। मुहम्मद को भी कहा, संदेशवाहक है,
पैगंबर है, अवतार नहीं है। क्योंकि ईश्वर अलग है और हम अलग हैं। हम उसके
चरणों में हो सकते हैं। ऊंची-से-ऊंची ऊंचाई जो है, वह उसके चरणों में है।

'सुपरमैन' हो गया न वह? मैं ही ब्रह्म हो जाता हूं का क्या तात्पर्य?'

* 'सुपरमैन' कहना मुश्किल है। जब हम कहते हैं कि मैं ब्रह्म हो जाता है, तो 'मैन ' बचता ही नहीं। आदमी बचता ही नहीं। जब मैं ब्रह्म हो जाता है तो ब्रह्म ही ब चता है। आदमी नहीं बचता। वह 'शियर ट्रांसेडेंस' है, उसके बाद कुछ बचता नहीं। बस, अतिक्रमण है।
राम के बाबत संभव है। मजाक गहरा है। लेकिन हम बहुत गंभीर लोग हैं, और जो लोग राम वगैरह पर विचार करते हैं वे भारी गंभीर लोग हैं, वे मजाक को नहीं समझ पाते, वे बेचारे गंभीरता से व्याख्याएं किए चले जाते हैं। मजाक यह है कि रा म तुम आदमी ऐसे हो कि वाल्मीकि कवि तुम्हारी कथा पहले ही लिख दे सकता है। इससे ज्यादा कुछ नहीं, इससे ज्यादा कोई दिक्कत तुम में नहीं है।

'शृंखलाबद्ध जीवन में और सहज जीवन में स्मृतियां क्या खतम हो जाएंगी?'

* नहीं, शृंखलाबद्ध जीवन में आपका होना आपकी स्मृति से निकलेगा। सहज जीवन में आपका होना अपनी स्मृति का उपयोग करेगा। इतना फर्क होगा। आप तो प्रतिप ल नए होंगे, सहज जीवन में, अगर आप चाहेंगे तो आपकी स्मृति का उपयोग करेंगे ! स्मृति आपके चित्त के संग्रह में पड़ी रहेगी, मौजूद रहेगी, मिट नहीं जाएगी, बनी रहेगी। लेकिन वह ऐसे ही होगी जैसे आपके घर में नीचे के तलघर में बहुत-सा सा मान भरा है, जब जरूरत होती है, आप निकाल लेते हैं। इसलिए बुद्ध ने जो नाम ि दया है, उसको नाम दिया है, उन्होंने कहा है, आगार; कहा है, आवास। स्मृति-आग ार। वह एक संग्रह है, 'स्टोरहाउस आफ कांशसनेस'। चेतना का एक संग्रह है। जो प. डा है एक तरफ। जब जरूरत आपको होगी--आपके 'स्पांटेनियस' एक्ज़िस्टेंस' को भी जरूरत पड़ेगी स्मृति की। आपको अपने घर वापस लौटना होगा, तो आपको अपने घर की स्मृति की जरूरत पड़ेगी। आप उसका उपयोग करेंगे।

'अर्जुन को समझाते वक्त क्या पुराण-स्मृतियों ने 'प्राब्लम' नहीं दिया?'

* वह दूसरी बात है, वह दूसरी बात है। अभी जो मैं कह रहा हूं वह यह कह रहा हूं कि सहज जीवन वाले व्यक्ति की स्मृति नष्ट हो जाएगी। स्मृति पूरी ताजी, पूरी जीवंत मौजूद रहेगी, लेकिन सहज जीवन वाली चेतना प्रतिपल नई होकर उसका उपयोग करेगी, उसकी मालिक होगी। शृंखलाबद्ध जीवन की चेतना में नया व्यक्ति होगा ही नहीं, पिछली स्मृतियां ही नए व्यक्ति को जन्म देती रहेंगी। वह मालिक हो जाएंगी स्मृतियां, और व्यक्ति गुलाम हो जाएगा।
अब आप जो पूछते हैं, क्या पूछते हैं?

'कृष्ण-अर्जुन के आपस के जो 'रिलेशंस' हैं, वहां कृष्ण क्या किसी वक्त स्मृति-आगा
र से कुछ उपयोग नहीं किए, और पूरे समय अपना जीवन 'स्पांटेनियस' रखा?'

* जीवन तो हर वक्त 'स्पांटेनियस' है। स्मृति का उपयोग वह करते हैं, वह तो मैं
कह रहा हूं। वह मैं कह रहा हूं, स्मृति का उपयोग करने में वह मालिक हैं, और अ
ाप अपनी स्मृति के उपयोग करने में मालिक नहीं हैं। स्मृति ही आपका उपयोग कर
रही है। आप नहीं कर रहे हैं उपयोग।
एक आदमी आपके पास बैठा है। आप उससे पूछते हैं, आप किस जाति के हैं? वह
कहता है, मैं मुसलमान हूं। बस, मुसलमान के बाबत आपकी एक स्मृति है, आप इ
स आदमी पर लागू कर देंगे। इस मुसलमान से उसका कोई लेना-देना नहीं है। आप
के गांव में कोई मुसलमान गुंडा होगा, उसने मंदिर में आग लगा दी होगी, यह बिच
ारे से उसका कोई संबंध नहीं है। अब आप दूर सरक कर बैठ गए, कि मुसलमान है
! अब आप स्मृति के गुलाम हुए। अब आपने स्मृति की गुलामी शुरू कर दी। हिंदुस्त
ान के हिंदू किसी मुसलमान को मार डालेंगे, पाकिस्तान के किसी हिंदू से बदला लि
या जाएगा। क्या पागलपन है! स्मृति काम कर रही है। बस, स्मृति से ही आप जी
रहे हैं। किसी और को मार रहे हैं किसी और के लिए। दो मुसलमानों के बीच क्या
संबंध है? दो हिंदुओं के बीच क्या संबंध है? लेकिन नहीं, मुसलमान के बाबत आ
पकी स्मृति हर मुसलमान पर आप लागू कर लेंगे। बड़ी गलती बात कर रहे हैं। स्मृि
त आपको उपयोग कर रही है, आप स्मृति का उपयोग नहीं कर पा रहे हैं। अगर
आप कर रहे होते तो आप कहते, ठीक है, यह आदमी 'एक्स' मुसलमान है, वह '
वाई' मुसलमान था, इसका उसका कोई मतलब नहीं है। ठीक है, इतना हम समझें
कि तुम उसी धर्म को मानते हो, जिसको वह आदमी मानता था। लेकिन इससे क्या
फर्क पड़ता है! इससे आप सरकेंगे नहीं दूर, इससे आप कोई निर्णय नहीं लेंगे। इस
से इस आदमी की बाबत आप पूर्वधारणा तय नहीं करेंगे। इस आदमी को देखेंगे, स
मझेंगे, उस समझ से ही आप जियेंगे।
सहज जीवन स्मृति का उपयोग है। शृंखलाबद्ध जीवन स्मृति की दासता है।

'आपने कहा कि कृष्ण के हाथों जो मरता है वह पुण्य-कर्म का फल है। और यह बा
त जब आप कहते हैं तो मन में एक आनंददायक पीड़ा होती है। एक दूसरा प्रश्न क
रूं, जवाब दें, न दें। जो यह नाटक आप कर रहे हैं, यह क्या अकारण ही है?'

* बिलकुल अकारण है। बिलकुल अकारण है, हूंऽऽ...। यह नाटक हो रहा है, हूंऽऽ...
।
और पुण्य-कर्म का फल है, ऐसा जब कहता हूं तो मेरा मतलब सिर्फ इतना है कि
इस जीवन में जो भी घटित होता है, इस 'मैनिफेस्टेड', इस प्रगट जगत में जो भी
घटित होता है, वह अकारण नहीं है। कृष्ण से अगर मिलना भी हो जाता है, तो भी

इस घटना के जगत में कृष्ण से मिलना भी आकस्मिक और 'एक्सिडेंटल' नहीं है। तो कृष्ण के हाथ से मरना तो हो ही नहीं सकता आकस्मिक। इस जगत में आकस्मिक कुछ भी नहीं है। किसी से हम मिले हैं, मिल रहे हैं; किसी से हम लड़े हैं, लड़ रहे हैं; किसी से हम प्रेम में हैं, प्रेम कर रहे हैं; किसी के हम मित्र हैं, किसी के हम शत्रु हैं, यह हमारे पूरे होने से, हमारे पूरे अनंत होने से निकला है। इस होने में आकस्मिकता नहीं है। प्रगट जगत में कुछ भी आकस्मिक नहीं है। और जब प्रगट जगत में कुछ अकारण प्रगट होता है, तब हमें चमत्कार मालूम होने लगता है। क्योंकि वह अप्रगट जगत की खबर लाता है। कृष्ण का होना बिलकुल अकारण है। अर्जुन से कृष्ण का संबंध अकारण नहीं है। अर्जुन से कृष्ण की तरफ तो बिलकुल ही अकारण नहीं है।

इसे थोड़ा समझने में कठिनाई पड़ेगी।

कृष्ण जैसे व्यक्ति के साथ हमारे संबंध 'वन वे ट्रैफिक' के होते हैं। हम उसे प्रेम करते हैं। वह हमें प्रेम करता है, ऐसा नहीं कहा जा सकता है। वह प्रेमपूर्ण है, बस इतना ही कहा जा सकता है। हम उसके पास जाते हैं, उसका प्रेम हमें मिलता है। इसलिए यह हो सकता है कि हम समझते हों कि वह हमें प्रेम करता है। लेकिन वह सिर्फ प्रेमपूर्ण है। हम उसके पास जाते हैं, प्रेम हम पर भरता है। हमारी तरफ से हम प्रेम करते हैं। लेकिन 'वन वे ट्रैफिक' है। दूसरी तरफ से प्रेम आता नहीं, दूसरी तरफ प्रेम है। हमारी तरफ से जाता है हमको आता हुआ मालूम पड़ता है, वह हमारी समझ है।

कृष्ण की तरफ से किसी का मारा जाना बिलकुल अकारण है। लेकिन जो मारा गया है, वह अकारण नहीं है। उसकी तरफ से कारण है। वह अपनी जिंदगी की लंबी शृंखलाबद्ध व्यवस्था में जी रहा है, वह कोई सहज जीवन नहीं है उसका। असल में राक्षस का जीवन सहज कैसे हो सकता है! या जिनका भी जीवन सहज नहीं है उनका जीवन राक्षस से अन्यथा कैसे हो सकता है! उसका जीवन सहज नहीं है, शृंखलाबद्ध है, वह तो अपने अतीत से जी रहा है। इसलिए अगर वह कृष्ण के हाथ से मरता है, तो उसके अतीत की शृंखला के आगे ही जुड़ी हुई यह कड़ी है। उसके अतीत से ही निकलती है। कृष्ण के लिए अकारण है। वह नहीं मरता तो कृष्ण उसको ढूंढ़ते हुए नहीं फिरते। वह आ गया है सामने, बात और है। अगर कृष्ण किसी को प्रेम कर रहे हैं, वह नहीं मिलता तो वह उसे ढूंढ़ते नहीं फिरते। वह सामने आ गया है, बात और है। अगर कृष्ण को कोई भी न मिले, वह अकेले जंगल में बैठे हों, तो भी प्रेम करते रहेंगे--उस जंगल के शून्य को, उस निपट एकांत को, उस निर्जन को उनका प्रेम मिलता रहेगा। इससे कोई फर्क नहीं पड़ेगा।

'आप जो कुछ कृष्ण के बारे में कह रहे हैं, उनके गुणों को वर्णन कर रहे हैं, और ऐसा लगता है जैसे उनकी भक्ति के प्रवाह में हम बह गए हैं। ऐसा क्या संभव नहीं है कि उनमें कुछ दोष भी हों? क्या यह जरूरी है कि उनके हर कर्म को 'जस्टिफाई

' ही करते चलें—चाहे वह रासलीला हो, चाहे वह वस्त्रहरण हो, चाहे अश्वत्थामा म
ारा गया हो यह झूठ बुलवाना हो युधिष्ठिर जैसे आदमी से? इस धारा में ही यदि ह
म सोचते चलें तो मुझे लगता है कि बहुत वैज्ञानिक हमारी 'एप्रोच' न हो पाएगी।'

* यह बात बहुत ठीक है। यह बात बिलकुल ठीक है कि हम कृष्ण में थोड़े दोष क
यों न देखें? लेकिन, देखने की कोशिश वैज्ञानिक होगी? देखने की चेष्टा वैज्ञानिक हो
गी? नहीं, हम दोष न देखें, ऐसा अगर तय करके चलें, वह भी वैज्ञानिक न होगा।
हम दोष देखें ही, ऐसा सोच कर चलें, वह भी वैज्ञानिक न होगा। वैज्ञानिक तो इत
ना ही होगा कि हम कृष्ण को देखें, और कृष्ण जैसे दिखाई पड़ें वैसा देखें। मुझे जैसे
दिखाई पड़ रहे हैं वैसा मैं कर रहा हूं। आप भी वैसा ही देखें ऐसा आग्रह करूं, तो
अवैज्ञानिक हो जाएगा। आपको वैसे दिखाई पड़ जाएं, ठीक है, न दिखाई पड़ जाएं,
ठीक है। आपको दोष दिखाई पड़ें, बराबर देखें, मेरी बिलकुल न मानें। मुझे जैसे दि
खाई पड़ रहे हैं, मैं वैसे ही देख सकता हूं। अन्यथा देखने की कोशिश करूं तो बात
वैज्ञानिक हो जाएगी, वह सिर्फ कोशिश हो जाएगी।
दूसरी बात—दूसरी बात भी सोचने जैसी है कि वैज्ञानिक 'एप्रोच'! थोड़ा सोचने जैसा
है कि क्या जगत में सभी चीजें ऐसी हैं जिन पर वैज्ञानिक 'एप्रोच' लागू हो सके?
क्या कुछ चीजें ऐसी भी हैं जिन पर वैज्ञानिक 'एप्रोच' लागू करना अवैज्ञानिक हो?
कुछ चीजें ऐसी हैं। अब जैसे प्रेम पर हम वैज्ञानिक ढंग से सोच ही नहीं सकते हैं, उ
पाय ही नहीं है। यह प्रेम का होना ही अवैज्ञानिक है। अगर हम वैज्ञानिक ढंग से सो
चें तो हमें इनकार ही करना पड़ेगा कि प्रेम है ही नहीं। यानी और कोई अंत नहीं
होगा उसका। उसका परिणाम सिर्फ एक ही होगा कि हमें प्रेम को इनकार करना प.
डेगा। प्रेम का होना ही अवैज्ञानिक है। अब इसमें कठिनाई जो है, कि या तो प्रेम को
अवैज्ञानिक ढंग से सोचना पड़े—और मैं मानता हूं कि यही वैज्ञानिक होगा प्रेम के ब
ाबत। यही 'साइंटिफिक एटीट्यूड' होगी, क्योंकि प्रेम जैसा है वैसा ही सोचियेगा न?
और या फिर हम प्रेम के संबंध में वैज्ञानिक ढंग से सोचें और पाएं कि प्रेम है ही
नहीं।
इसे हम ऐसा समझें—
जैसा मैंने अभी कहा था, आंख देखती है, कान सुनते हैं। अगर हम आंख के ढंग से
कान की सुनी हुई चीजों को सोचें तो मुश्किल हो जाएगी। आंख तो कह देगी कि क
ान देखते ही नहीं। स्वभावतः। और आंख सुन सकती नहीं। तो आंख यह तो मानेगी
कैसे कि कान सुनते हैं? आंख यह दो बातें तय करेगी। पहली बात तो यह तय क
रेगी कि कान देखते नहीं, जो कि ठीक है, उसका तय करना। दूसरी बात वह यह
तय करेगी कि कान सुनते नहीं—क्योंकि आंख तो सुन सकती नहीं—जो कि गलत हो
गा उसका तय करना।
वैज्ञानिक जो प्रक्रिया है, वह प्रक्रिया ऐसी है कि उसकी पकड़ में 'मैटर' के अतिरिक
त और कुछ कभी आता नहीं। पदार्थ के अतिरिक्त और कभी कुछ आता नहीं। आं

ख की पकड़ में प्रकाश के अतिरिक्त और कभी कुछ आता नहीं। कान की पकड़ में ध्वनि के अतिरिक्त और कभी कुछ आता नहीं। वैज्ञानिक प्रक्रिया जो है, 'साइंटिफिक एप्रोच' जो है, उसकी 'मेथडॉलाजी' ऐसी है कि उसकी पकड़ में पदार्थ के अतिरिक त कभी कुछ आता नहीं। फिर एक ही उपाय रह जाता है कि वैज्ञानिक कह दे कि पदार्थ के अतिरिक्त कुछ भी नहीं है। अब तो वैज्ञानिक और मुसीबत में पड़ गया है। क्योंकि पदार्थ को खोजते-खोजते वह उस जगह पहुंच गया, जहां कि अब पदार्थ भी पकड़ में नहीं आता। तो इस पिछले पंद्रह-बीस वर्षों में विज्ञान को यह स्वीकृति देन ी पड़ी कि कुछ ऐसा भी है जो हमारी पकड़ में नहीं आता। अगर वह इनकार कर दें कि 'इलेक्ट्रान्स' नहीं हैं क्योंकि हमारी पकड़ में नहीं आते, तो फिर 'एटम' छूट जाता है पकड़ से—क्योंकि वह पकड़ में आता है लेकिन वह उन्हीं पर खड़ा है जो प कड़ में नहीं आते।

इसलिए अब विज्ञान को पिछले बीस साल में बड़ा सिर झुकाकर एक स्वीकृति देनी पड़ी है, वह यह है कि कुछ है जो हमारी पकड़ में नहीं आता, लेकिन है। लेकिन ि वज्ञान एकदम स्वीकृति नहीं देगा। वह यह कहता है कि आज नहीं कल, वह हमारी पकड़ में आ जाएगा। हम कोशिश करते रहेंगे पकड़ने की। लेकिन और भी बहुत-स ी चीजें, हो सकता है किसी दिन 'इलेक्ट्रान' पकड़ में आ जाएं, लेकिन लगता नहीं ि क किसी दिन प्रेम भी किसी प्रयोगशाला की पकड़ में आ जाएगा। और अगर हम प्रे म को पकड़ने गए, तो शायद हो सकता है फेफड़ा पकड़ में आ जाए, हृदय पकड़ में नहीं आएगा। इसलिए वैज्ञानिक मानने को तैयार नहीं हैं कि हृदय जैसी कोई ची ज आपके भीतर है। वह कहता है, फुफ्फस है, फेफड़ा है, सब है, यह हृदय की बा तचीत मत करो, यह कविता है। वह कहता है, हृदय जैसी कोई चीज नहीं है। लेि कन हम कैसे मान लें कि हृदय नहीं है। क्योंकि हमारे अपने-अपने निजी अनुभव में तो हृदय आता है। बहुत क्षण हैं जब हम फेफड़े से नहीं जीते, हृदय से जीते हैं। फे फड़े से तो हम चौबीस घंटे जीते हैं, लेकिन कुछ क्षण ऐसे भी आ जाते हैं जो फेफड़े के ऊपर हावी हो जाते हैं और हृदय के हो जाते हैं। और ऐसा हृदय कभी-कभी महत्वपूर्ण हो जाता है कि हम फेफड़े को बलिदान कर देते हैं हृदय के लिए।

एक आदमी मर जाता है प्रेम के लिए। फेफड़ा जिलाए रखता है, और एक आदमी मर जाता है उस हृदय के लिए जो है ही नहीं। मगर अब एक आदमी मरता है, अ ब इसके लिए क्या करेंगे? या तो हम कह दें कि यह मरा ही नहीं, यह मरना झूठ है। मगर यह आदमी मरा। हमने मजनूं को देखा, यह हृदय के पीछे दीवाना है। या तो हम कह दें यह दीवानगी झूठ है, लेकिन झूठ भी कहिए तो भी क्या, यह है तो ! इसको इनकार कैसे करिएगा, मजनूं है तो! यह गलत होगा, पागल होगा, लेकिन कहीं है तो! इसका होना भी है तो! यह लैला को सोचता है, काव्य करता है, गी त गाता है, भीतर जीता है, लेकिन कहीं जीता तो है! और फेफड़े की जांच करने से कहीं लैला पकड़ में आती नहीं, लेकिन इसके हृदय में कहीं चलती चली जाती है । इसके फेफड़े की हम सब जांच करते हैं, लैला कहीं पकड़ में आती नहीं, लैला का

प्रेम कहीं पकड़ में नहीं आता। इसके फेफड़े को रखते हैं तो धड़कन पकड़ में आती है, खून की गति पकड़ में आती है, आक्सीजन पकड़ में आती है, सब पकड़ में आती है, एक चीज चूक जाती है, जिसके लिए यह पूरे फेफड़े को छोड़ने को तैयार है। यानी जिस प्रेम के लिए सब छोड़ने को तैयार है—यह सांस, यह फेफड़ा, यह फुफ्फस, यह शरीर—वह पकड़ में नहीं आती। या तो—दो ही उपाय हैं—या तो हम कह दें कि वह है नहीं। लेकिन कैसे कह दें? और या फिर यह उपाय है कि हम वैज्ञानिक ढंग को छोड़कर किसी और ढंग से उसे खोजें।

कृष्ण, वैज्ञानिक ढंग की पकड़ से अगर हम चलेंगे तो एक महापुरुष रह जाएंगे। जिनमें दोष भी होंगे, अच्छाईयां भी होंगी, बुराइयां भी होंगी। लेकिन ध्यान रहे, वह कृष्ण न रह जाएंगे। मैं जिस कृष्ण की तलाश की बात कर रहा हूं, वह किसी एक महापुरुष की बात नहीं कर रहा हूं। मैं एक 'फेनामिना', एक घटना की बात कर रहा हूं। यह घटना वैज्ञानिक पकड़ से समझ में नहीं आएगी। और इतना तो आप समझ ही सकते हैं कि मैं आदमी विज्ञान-विरोधी नहीं हूं। यानी मैं विज्ञान को वहां तक खींचता हूं जहां तक वह कई बार खिंचता भी नहीं। जहां वह बिलकुल सांस तोड़कर, दम तोड़कर गिर जाता है तभी छोड़ता हूं। नहीं तो मैं खींचता ही चला जाता हूं आखिरी दम तक उसको। मुझ पर अगर कोई इल्जाम भी हो सकता है तो वह अति वैज्ञानिकता का हो सकता है, कम वैज्ञानिकता का नहीं हो सकता। मैं खींचता तो बहुत हूं, लेकिन मैं क्या करूं? एक जगह आ जाती है जहां विज्ञान दम तोड़ देता है। और दो उपाय हैं, या तो मैं भी वहीं खड़ा रह जाऊं, लेकिन मुझे आगे भी 'स्पेस' दिखाई पड़ती है।

'तो क्या कभी-कभी मन और हृदय, विचार और भाव एक नहीं हो जाते?'

* कई बार एक हो जाते हैं। और जब वे एक हो जाते हैं तब बड़ी महत्वपूर्ण घटना घटती है।

हां, वह यह पूछ रहे हैं कि कभी-कभी मन और हृदय, विचार और भाव एक नहीं हो जाते?

हो जाते हैं। बहुत गहरे में तो एक होते ही हैं। बहुत ऊपर ही अलग-अलग होते हैं। जैसे वृक्ष की शाखाएं ऊपर अलग-अलग होती हैं और नीचे पींड में एक हो जाती हैं। ऐसा ही विचार भी हमारी एक शाखा है हमारे होने की। भाव भी हमारी एक शाखा है, हमारे होने की। ऊपर-ही-ऊपर अलग-अलग होते हैं, बहुत गहरे में तो एक होते हैं। और जिस दिन हम यह जान लेते हैं कि विचार और भाव एक हैं, उस दिन विज्ञान और धर्म दो नहीं रह जाते। उस दिन विज्ञान की एक सीमा हो जाती है, और एक अतिक्रमण का जगत भी हो जाता है जहां धर्म शुरू होता है।

कृष्ण धर्मपुरुष हैं। और मैं उन्हें धर्मपुरुष की तरह ही बात कर रहा हूं। और जैसे वे मुझे दिखाई पड़ते हैं वैसी ही मैं बात कर रहा हूं। उसमें आप उन्हें वैसा मानकर

चलेंगे, ऐसा आग्रह जरा भी नहीं है। मुझे जैसा दिखाई पड़ते हैं, उसमें से अगर थोड़ ा-सा भी आपको दिखाई पड़ा, तो वह आपको बदलनेवाला सिद्ध हो सकता है।
फिर अब कल बात करेंगे।
9 विराट जागतिक रासलीला के प्रतीक ॅण

'रासबिहारी होते हुए भी श्रींण ब्रचारी कहलाए, इसका मर्म क्या है? आज के आधुि नक समाज में रासलीला का क्या महख्रव होगा? ॅपया इस पर भी प्रकाश डालें।'

५ रास को समझने के लिए पहली जरूरत तो यह समझना है कि सारा जीवन ही र ास है। जैसा मैंने कहा, सारा जीवन विरोधी शक्तियों का सट्टिमलन है। और जीवन का सारा सुख विरोधी के मिलन में छिपा है। जीवन का सारा आनंद और रहय विर ोधी के मिलन में छिपा है। तो पहले तो रास का जो 'मेटाफिजिकल', जो जागतिक अर्थ है, वह समझ लेना उचित है; फिर ॅण के जीवन में उसकी अनुछाया है, वह स मझनी चाहिए।
चारों तरफ आंखें उठाएं तो रास के अतिरिक्त और क्या हो रहा है? आकाश में दौ. डते हुए बादल हों, सागर की तरफ दौड़ती हुई सरिताएं हों, बीज फूलों की यात्रा कर रहे हों, या भंवरे गीत गाते हों, या पक्षी चहचहाते हों, या मनुय प्रेम करता हो , या ऋण और धन विद्युत आपस में आक षित होती हों, या त्री और पुरुष की नि रंतर लीला और प्रेम की कथा चलती हो, इस पूरे फैले हुए विराट को अगर हम दे खें तो रास के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं हो रहा है।
रास बहुत 'काऽमिक' अर्थ रखता है। इसके बड़े विराट जागतिक अर्थ हैं। पहला तो यही कि इस जगत के विनियोग में, इसके निर्माण में, इसके सृजन में जो मूल आधा र है, वह विरोधी शक्तियों के मिलन का आधार है। एक मकान हम बनाते हैं, एक द्वार हम बनाते हैं, तो द्वार में उ८टी इ7टें लगाकर 'आर्च' बन जाता है। एक-दूसरे के खिलाफ इ7टें लगा देते हैं। एक-दूसरे के खिलाफ लगी इ7टें पूरे भवन को सट्टहा ल लेती हैं। हम चाहें तो एक-सी इ7टें लगा सकते हैं। तब द्वार नहीं बनेगा, और भ वन तो उठेगा नहीं। शक्ति जब दो हिसों में विभाजित हो जाती है, तो खेल शुरू हो जाता है। शक्ति का दो हिसों में विभाजित हो जाना ही जीवन की समत पताल्ह प र, समत पहलुओं पर खेल की शुरुआत है। शक्ति एक हो जाती है, खेल बंद हो जा ता है। शक्ति एक हो जाती है तो प्रलय हो जाती है। शक्ति दो में बंट जाती है तो सृजन हो जाता है।
रास का जो अर्थ है, वह सृटि की जो धारा है, उस धारा का ही गहरे-से-गहरा सूच क है। जीवन दो विरोधियों के बीच खेल है। ये विरोधी लड़ भी सकते हैं, तब युद्ध हो जाता है। ये दो विरोधी मिल भी सकते हैं, तब प्रेम हो जाता है। लेकिन लड़ना हो कि मिलना हो, दो की अनिवार्यता है। सृजन दो के बिना मुिश्कल है। ॅण के रास का क्या अर्थ होगा इस संदर्भ में?

इतना ही नहीं है काफी कि हम ॅण को गोपियों के साथ नाचते हुए देखते हैं। यह ह मारी बहुत थूल आंखें जो देख सकती हैं, उतना ही दिखाई पड़ रहा है। लेकिन ॅण का गोपियों के साथ नाचना साधारण नृख्रय नहीं है।ॅण का गोपियों के साथ नाचना उस विराट रास का छोटा-सा नाटक है, उस विराट का एक आणविक प्रतिबिंब है। वह जो समत में चल रहा है नृख्रय, उसकी एक बहुत छोटी-सी झलक है। इस झल क के कारण ही यह संभव हो पाया कि उस रास का कोई कामुक अर्थ नहीं रह गय ा। उस रास का कोई 'सेक्सुअल मीनिंग' नहीं है। ✱सा नहीं है कि 'सेक्सुअल मीनिंग ' के लिए, कामुक अर्थ के लिए कोई निषेध है। लेकिन बहुत पीछे छूट गई वह बात ।ॅण ॅण की तरह वहां नहीं नाचते,ॅण वहां पुरुष तख्रव की तरह ही नाचते हैं। गोि पकाएं त्रियों की तरह वहां नहीं नाचती हैं, गहरे में वे प्रॅति ही हो जाती हैं। प्रॅति और पुरुष का नृख्रय है वह।

तो जिन लोगों ने उसे कामुक अर्थ में ही समझा है, उहोंने नहीं समझा है, वे नहीं समझ पाएंगे। वहां अगर हम ठीक से समझें तो पुरुष शक्ति और त्री शक्ति का नृख्र य चल रहा है। वहांॅयक्तियों से कोई लेना-देना नहीं है। 'इंडिवीजुअ८स'' को कोई मतलब नहीं है। इसलिए यह भी संभव हो पाया कि एक ॅण बहुत गोपियों के साथ नाच सकता। अयथा एकॅयक्ति बहुत त्रियों के साथ नाच नहीं सकता है। एकॅयकि त बहुत त्रियों के साथ एक-साथ प्रेम का खेल नहीं खेल सकता है। और प्रख्रयेक गो पी को ✱सा दिखाई पड़ सका किॅण उसके साथ भी नाच रहा है। प्रख्रयेक गोपी को अपना ॅण मिल सका। और ॅण जैसे हजार में बंट गए। और हजार गोपियों हैं तो ह जार ॅण हो गए।

निज्रिचत ही, इसे हमॅयक्तिवाची मानेंगे तो कठिनाई में पड़ेंगे। विराट प्रॅति और वि राट पुरुष के सट्टिमलन का वह नृख्रय है। नृख्रय को ही क्यों चुना होगा इस अर्भिॅयकि त के लिए? जैसा मैंने सुबह कहा, नृख्रय निकटतम है अद्वैत के। निकटतम अद्वैत के है। नृख्रय निकटतम है उख्रसव के। नृख्रय निकटतम है रहय के।

इसे एक तरफ से और देखें—

मनुय की पहली भाषा नृख्रय है, क्योंकि मनुय की पहली भाषा 'गेचर' है। आदमी जब नहीं बोला था तब भी हाथ-पैर से बोला था। आज भी गूंगा नहीं बोल सकता, तो हाथ-पैर से बोलता है। 'गेचर' से, मुर्ाा से बोलता है। भाषा तो बहुत बाद में वि कसित होती है। तितलियां भाषा नहीं जानतीं, लेकिन नृख्रय जानती हैं। पक्षी भाषा नहीं जानते, लेकिन नृख्रय जानते हैं। 'गेचर', मुर्ाा, इशारा पहचानते हैं। यह सारी प्रॅ ति पहचानती है।

इसलिए रास के लिए नृख्रय ही क्यों कर्ेी में आ गया, उसका भी कारण है।

'गेचर' की भाषा, इशारे की भाषा गहनतम है, गहरी-से-गहरी है। मनुय के चित्त के बहुत गहरे हिसों को पर्श करती है। जहां शल्र्द नहीं पहुंचते, वहां नृख्रय पहुंच जा ता है। जहांॅयाकरण नहीं पहुंचती, वहां घुंघरू की आवाज पहुंच जाती है। जहां कुछ समझ में नहीं आता है, वहां भी नृख्रय कुछ समझा पाता है। इसलिए, दुनिया के ि

कसी कोने में नर्तक चला जाए, समझा जा सकेगा। आवज्ञ्यक नहीं है कि भाषा को ई उसे समझने के लिए जरूरी हो। यह भी आवज्ञ्यक नहीं है कि कोई स□यता और कोई सँति की विशेष आवज्ञ्यकता हो उसे समझने के लिए। नर्तक कहीं भी चला जाए, समझा जा सकेगा। मनुय के अचेतन में, 'कलेक्टिव अनकांशस' में, सामूहिक अचेतन में भी नृख्र्य की भाषा का खयाल है।

यह जो नृख्र्य चल रहा है चांद के नीचे, इस नृख्र्य को साधारण नृख्र्य मैं नहीं कह ता हूं इसीलिए कि यह किसी के मनोरंजन के लिए नहीं हो रहा है, किसी को दिखा ने के लिए नहीं हो रहा है। कहना चाहिए एक अथाल्ढ में 'ओवरफ्लोइंग' है। इतना आनंद भीतर भरा है कि वह सब तरफ बह रहा है। और इस आनंद के बहने के लि ए अगर दोनों विरोधी शक्तियां एक-साथ मौजूद हों तो सुविधा हो जाती है। पुरुष व ह नहीं पाता है, अगर त्री मौजूद न हो। कुंठित और बंद हो जाता है। सरिता नहीं बन पाता, सरोवर बन जाता है। त्री नहीं बह पाती, अगर पुरुष उपलल्लध न हो। बं द है। उन दोनों की मौजूदगी तख्रकाल उनके भीतर जो छिपी हुई शक्तियां हैं, उनक ा बहाव बन जाती है। वह जो हमने निरंतर त्री-पुरुष का प्रेम समझा है, उस प्रेम में भी वही बहाव है। काश, हम उसेॅयक्तिवाची न बनाएं, तो वह बहाव बड़ा पारमा □थक अर्थ ले लेता है।

त्री और पुरुष के बीच जो आकर्षण है, वह आकर्षण एक-दूसरे की निकटता में उन के भीतर त्री पुरुष के पास अपने को ह८का अनुभव करती है। अलग-अलग होकर वे 'टेंस' और तनाव से भर जाते हैं। वह ह८कापन क्या है? उनके भीतर कुछ भरा है जो बह गया और वे ह८के हो गए, पीछे 'वेटलेसनेस' छूट जाती है। लेकिन हम त्री और पुरुष को बांधने की कोशिश में लगे रहते हैं। जैसे ही हम त्री और पुरुष को बांधते हैं, नियम औरॅयवथा देते हैं, वैसे ही बहाव क्षीण हो जाते हैं। वैसे ही ब हाव रुक जाते हैंॅयवथा से जीवन की गहरी लीला का कोई संबंध नहीं है। औरॅण का यह रास बिलकुल ही अैंयवथित है। कहना चाहिए बिलकुल 'केआऽटिक' है। 'केआऽस' है। नीख्रसे का एक बहुत अदभुत वचन है, जिसमें उसने कहा है, 'ओनली आउट आऽफ केआऽस टार्स आर बाऽर्न', सिर्फ गहन अराजकता से सितारों का ज□म होता है। जहां कोईॅयवथा नहीं है, वहां सिर्फ शक्तियों का खेल रह जाता है। बहुत ज८दीॅण मिट जाते हैंॅयक्ति की तरह, शक्ति रह जाते हैं। बहुत शीघ्र गोपियां मि ट जाती हैंॅयक्ति की तरह, सिर्फ शक्तियां रह जाती हैं। त्री और पुरुष की शक्ति का वह नृख्र्य गहन तृङित लाता है। गहन आनंद लाता है। और 'ओवरफ्लोइंग' बन जाता है, वह आनंद फिर बहने लगता है। और फिर उस नृख्र्य से वह सारा आनंद चारों ओर जगत के कण-कण तकॅयाङत हो जाता है।

ॅण जिस चांद के नीचे नाचे हैं, वह चांद तो आज भी है; जिन वृक्षों के नीचे नाचे हैं , उन वृक्षों का होना आज भी है; जिन पहाड़ों के पास नाचे हैं, वे पहाड़ भी आज हैं। जिस धरती पर नाचे हैं, वह धरती भी आज है।ॅण से जो बहा होगा उस क्षण में, वह सब इनमें छिपा है और यह सब उसे पी गया है।

अब ये वैज्ञानिक एक बहुत नई बात करते हैं। वे यह कहते हैं कि ॅयक्ति तो विदा हो जाते हैं लेकिन उनसे छोड़ी हुई तरंगें सदा के लिए रह जाती हैं। ॅयक्ति तो विदा हो जाते हैं लेकिन उहोंने जो जिआ, उसके संघात, उसकी 'वैंज', वह सब-की-सब पूरे अतिखव में समा जाती हैं और लीन हो जाती हैं। उस पृवी पर जहां ॅण नाचे, उस पृवी पर आज भी कोई नाचे तो ॅण की प्रतिंविनियां सुनाई पड़ती हैं। जहां उहोंने बांसुरी बजाई, जिन पहाड़ों ने उस बांसुरी को सुना, उन पहाड़ों के पास आज भी कोई बांसुरी बजाए तो प्रतिंविनि सुनाई पड़ती है। जिस यमुना के तट ने उहें देखा और जाना और जिसने उनके पर्श को अनुभव किया, उस यमुना के तट पर आज भी नृखय हो तोॅयक्ति मिट जाता है, वह अैंयक्ति फिर घेर लेता है।

रास को त्री और पुरुष के बीच विभक्त जो विराट की शक्ति है, उसके मिलन, उसकी 'ओवरफ्लोइंग' का प्रतीक मैं मानता हूं। और इस भाषा में अगर हम ले सकें, तो आज भी रास का उपयोग है और सदा रहेगा। इधर मैंने निरंतर अनुभव किया है, जो मैं आप से कहूं, ॅयान के लिए हम बैठते हैं, कई बार मित्रों ने मुझे कहा कि त्रियों को अलग कर दें, पुरुषों को अलग कर दें। ये दोनों अलग रहेंगे तो सुविधा होगी। उनकी सुविधा की दृटि नासमझी से भरी हुई है। वे नहीं जानते हैं कि त्रियां अगर इकश्ी कर दी जाएं एक ओर और पुरुष एक ओर इकश्े कर दिए जाएं तो यह बिलकुल सजातीय, एक-सी शक्तियां इकश्ी हो जाती हैं, और इनके बीच जो बहाव की संभावना है वह कम हो जाती है। लेकिन उहें खयाल में नहीं है। मेरी तो समझ ही यही है कि अगरॅयान हम कर रहे हैं तो त्रियां और पुरुष एकदम सिम्मलित और मिले-जुले हों। उन दोनों की समझ के बाहर कुछ घटनाएं घटेंगी, जो उनकी समझ से उसका कोई संबंध भी नहीं है। उन दोनों की मौजूदगी, और अकारण मौजूदगी—कोई आप अपनी पखनी के पास नहीं खड़े हैं—अकारण मौजूदगी आपके भीतर से कुछ बहने में, प्रगट होने में, निकल जाने में, 'केथासस' में सहयोगी होगी। त्री के भीतर से भी कुछ बह जाने में सहयोग मिलेगा।

मनुय जाति के चित्त का इतना बड़ा तनाव, इतना बड़ा 'टेंशन' त्री और पुरुष को दो जातियों में तोड़ देने से पैदा हुआ है। कूल में, कालेज में हम लड़के और लड़कियों को पढ़ा रहे हैं, दो हिसों में बांट कर बिठाया हुआ है। जहां भी त्री और पुरुष हैं, हम उनको बांट रहे हैं। जब कि जगत की पूरीॅयवथा विरोधी शक्तियों के निकट होने पर निर्भर हैं। और जितनी यह निकटता सहज और सरल हो, उतनी ही परिणामकारी है।

रास का मू८य सदा ही रहेगा। रास का मू८य उसके भीतर छिपे हुए गहन तस्वों में हैं। वह तस्व इतना ही है कि त्री और पुरुष अपने-अपने में अधूरे हैं, आधे-आधे हैं। निकट होकर वे पूरे हो जाते हैं। और अगर 'अनकंडीशनली' निकट हों, तो बहुत अदभुत अथाल्ॡ में पूरे हो जाते हैं। अगर 'कंडीशंस' के साथ, शताल्ॡ के साथ निकट हों, तो शतल्ॡ बाधाएं बन जाती हैं और उनकी पूर्णता पूरी नहीं हो पाती। जब तक पुरुष है पृवी पर, जब तक त्री है पृवी पर, तब तक रास बहुत-बहुत रूपों में जारी

रहेगा। यह हो सकता है कि वह उतनी महत्ता और उतनी गहनता और उतनी ऊं चाई को न पा सके जो ॅण के साथ पाई जा सकी। लेकिन अगर हम समझ सकें तो वह पाई जा सकती है। और सभी आदिम जातियों को उसका अनुभव है। दिन भर काम करने के बाद आदिम जातियां रात इकश्ग हो जाएंगी—फिर त्री-पुरुष, पति-पत्नी नी का सवाल न रहेगा, त्री और पुरुष ही रह जाएंगे—फिर वे नाचेंगे आधी रात, रा त बीतते-बीतते, और फिर सो जाएंगे, वृक्षों के तले, या अपने झोपड़ों में। नाचते-न ाचते थकेंगे, और सो जाएंगे। और इसलिए आदिवासी के मन में जो शांति है, और आदिवासी के मन में जैसी प्रफु८लता है, और आदिवासी की दीनता में, हीनता में भी जैसी गरिमा है, वह स□य-से-स□य आदमी भी सारी सुविधा के बाद उपलब्लध नहीं कर पा रहा है। कहीं कोई चूक हो रही है, कहीं कोई बहुत गहरे सत्रय को न हीं समझा जा रहा है।

'भगवान श्री, रामावतार में जैसे अहि८या का शिलाॅयक्तित्रव राम का इंतजार कर ता था और शिला में से अहि८या हुई, इसी तरह ॅणावतार में भगवान ॅणर्चाी का जो समागम कुब्लजा के साथ हुआ, क्या उसका कोई 'प्रिचुअल' अर्थ घटाते हैं? वह क या है, उसे ॅपया पट करें।'

५ जीवन में सभी कुछ, सभी समय घटित नहीं होता है; क्षण हैं, जिनके लिए प्रतीक्ष ा करनी होती है। समय है, जिसकी राह देखनी होती है। अवसर हैं, जिनके लिए रु कना पड़ता है। बहुत-बहुत आयामों में इस बात को देखना जरूरी है।
पत्रथर की तरह पड़ी हुई कोई त्री-नहीं मैं कहता हूं कि पत्रथर ही हो गई होगी, प त्रथर हो जाना कवि की क८पना है—लेकिन, कोई त्री जो राम से ही खिल पाएगी और राम के पर्श से ही खिल पाएगी, जब तक राम न मिलें तब तक पत्रथर ही र हती है। ★सा नहीं है कि कोई शिला की तरह पड़ी थी। वह तो कवि कीॅयवथा है, सोचने के ढंग हैं, और कवि के 'मेटाफऽर' हैं। लेकिन जो त्री राम के पर्श से ही ि खल सकती है और जीवंत हो सकती है और चेतना पा सकती है, कोई किसी और का पर्श उसे जड़ ही छोड़ जाएगा। कहानी का मर्म इतना ही है कि हर एक की अ पनी प्रतीक्षा है। हर एक की अपनी 'अवेटिंग' है। और क्षण आए बिना वह घटित न हीं होती है। जो पत्रथर की तरह पड़ी थी, पत्रथर ही हो गई थी, और यह सोचने जैसा है—जब तक किसी त्री को उसका प्रेम न मिल जाए, तब तक वह पत्रथर ही होती है। तब तक उसके भीतर सब शिलाखंड हो गया होता है। और उसके पास ष्द य पथरीला हो गया होता है। जब तक उसे उसका प्रेमी न मिल जाए, तब तब उसे उसके प्रेम का पर्श, जब तक उसे उसके प्रेम की छाया और जब तक उसे प्रेम की ऊमा न मिल जाए, तब तक उसके भीतर कुछ पत्रथर की तरह ही पड़ा रह जाता है। वह अनंतकाल तक पत्रथर ही रहेगा।

इसे एक तरह से और समझ लेना चाहिए। त्री जो है, 'पैसिविटी' है। त्री जो है, वह ग्राहक अतिख्रव है, 'रिसेडिप्टव एक्जिसटेंस' है। 'एग्रेसिव' नहीं है, आ्रामक नहीं है, ग्राहक है। त्री केॅयक्तिख्रव में गर्भ ही नहीं है, उसका चित्त भी गर्भ की भांति है। इसलिए अंग्रेजी का शह्लद 'वूमन' तो बहुत मजेदार है। उसका मतलब है, 'मैन विद ए वूंब'। त्री जो है, वह गर्भसहित एक पुरुष है। त्री का समत अतिख्रव ग्राहक है, 'रिसेडिप्टव' है। आ्रामक नहीं है। पुरुष का साराॅयक्तिख्रव आ्रामक है, ग्राहक बिलकुल नहीं है। और यह दोनों 'कांडिप्लमेंटरी' हैं, और त्री और पुरुष का सब कुछ 'कांडिप्लमेंटरी' है। जो पुरुष में नहीं है वह त्री में है, जो त्री में नहीं है वह पुरुष में है। इसलिए वे दोनों मिलकर पूरे हो पाते हैं।

त्री की जो ग्राहकता है, वह प्रतीक्षा बन जाएगी और पुरुष का जो आ्रमण है, वह खोज बनती है। अहि८या जो शिलाखंड की तरह प्रतीक्षा करेगी, राम नहीं प्रतीक्षा करेंगे। राम अनेक पथों पर खोजेंगे। यह बड़े मजे की बात है कि शायद ही किसी त्री ने कभी प्रेम-निवेदन किया हो। प्रेम-निवेदन लिया है, किया नहीं है। शायद ही किसी त्री ने अपनी तरफ से प्रेम में 'इनीशिएटिव' लिया हो, अपनी तरफ से पहल की हो। ऐसा नहीं है कि त्री पहल नहीं करना चाहती, ऐसा भी नहीं है कि पहल उसके भीतर पैदा नहीं होती, लेकिन उसकी पहल प्रतीक्षा ही बनती है। उसकी पहल मार्ग ही देखती है, राह देखती है और अनंत ज्मों तक देख सकती है। असल में जब भी त्री आ्रमण करती है, तभी उसके भीतर से कुछ त्रैण खो जाता है, और तभी वह कम आकर्षक हो जाती है। उसकी अनंत प्रतीक्षा में ही उसका अर्थ और उसकाॅयक्तिख्रव, उसकी आख्रमा है। अनंत काल तक प्रतीक्षा चल सकती है लेकिन त्री आ्रमण नहीं कर सकती। वह जाकर किसी से कह नहीं सकती कि मैं तुह्हें प्रेम करती हूं। वह जिसे प्रेम करती है, उससे भी नहीं कह सकती है। वह यही प्रतीक्षा करेगी कि वह जो उसे प्रेम करता है, कभी कहे, और कहने पर भी उसका हां एकदम सीधा नहीं आ जाता। उसका हां भी न की शकल लेकर ही आता है। उसका सारा 'गेचर' कहेगा, उसका साराॅयक्तिख्रव कहेगा, हां। लेकिन उसकी वाणी कहेगी, ना। क्योंकि अगर वह ज८दी हां कहे तो उसमें भी आ्रमण थोड़ा-सा हो जाता है। वह ना ही कहती चली जाएगी। पुरुष ही पहल करेगा।

ॅण के लिए भी कोई प्रतीक्षारत हो सकता है। और, ॅण के बिना शायद कोई त्री उस हर्ष को, उस प्रफु८लता को, उस खिल जाने को उपलह्लध ही न हो सके। तो इस देश के नियमों में एक बहुत अदभुत नियम था, वह समझ लेने जैसा है। वह नियम यह था कि त्री साधारणतः, सामा्यतया न आ्रमण करती, न निवेदन करती, न प्रार्थना करती। लेकिन, यदि कभी त्री प्रार्थना करे तो पुरुष का इनकार अनैतिक है क्योंकि यह बहुत 'रेयर' मामला है। एक त्री तो निवेदन करती नहीं, लेकिन यदि कभी त्री निवेदन करे तो पुरुष का इनकार अनैतिक है। और अगर पुरुष इनकार करे, तो उसने अपने पुरुषख्रव से इनकार कर लिया। यह नियम इसलिए बनाया जा सका कि ऐसे यह सामा्य घटने वाला नियम नहीं है, ऐसा होता नहीं है। लेकिन कभी

★से क्षण आते हैं। अर्जुन के जीवन में एक उ८लेख है और उ८लेख मैं आपको याद दिलाना चाहूं।
अर्जुन एक वर्ष के ब्रचर्य की साधना कर रहा है। और एक सुंदर युवती ने उसे देख कर, उस साधनारत अर्जुन को देखकर उससे निवेदन किया है कि मैं चाहूंगी कि मुझे तुट्टहारे जैसे बेटे, तुट्टहारे जैसे पुत्र उपलह्लध हों। यह भी बड़े मजे की बात है कि त्री अगर निवेदन भी करेगी, तो भी प्रेयसी और पख्रनी बनने का न कर पाएगी, मां बनने का कर पाएगी। अर्जुन बहुत मुश्किल में पड़ गया है। वह एक वर्ष का ब्रचर्य का कालॅयतीत कर रहा है। ब्रचर्य तोड़ा नहीं जा सकता। और नियम! और नियम बड़ा अर्थपूर्ण है और बड़ा पुरुषगत है। नियम कि त्री निवेदन करे तो अवीकार करना अनैतिक है। और अर्जुन अनैतिक भी न होना चाहेगा। पुरुष-ऊर्जा से जब किसी ने, किसी ग्राहक शक्ति ने निवेदन किया हो और अगर पुरुष-ऊर्जा बहने से इनकार कर दे, तो वह पुरुष-ऊर्जा न रही। अर्जुन बड़ी मुश्किल में पड़ गया है। लेकिन अर्जुन ने कहा कि मैं तैयार हूं, पर पक्का कहां है कि मेरे पुत्र मेरे जैसे होंगे? इसलिए अच्छा हो कि तू मुझे ही पुत्र मान ले। मैं तेरा पुत्र हुआ जाता हूं। तेरी आकांक्षा पूरी हो जाएगी। मेरे जैसे पुत्र ही चाहिए न! मेरा पुत्र मेरे जैसा होगा, यह पक्का कहां है? इसलिए मैं तेरा पुत्र हुआ जाता हूं।
★सी ठीक एक घटना बर्नार्ड शाऽ के जीवन में है। एकॅच अभिनेत्री ने बर्नार्ड शाऽ को निवेदन किया—सुंदरतम अभिनेत्री है। उसने बर्नार्ड शाऽ को लिखा एक पत्र और कहा कि मैं आपसे विवाह करना चाहती हूं। पश्चिम की त्री यद्यपि त्री होने से काफी दूर चली गई है, लेकिन फिर भी वह निवेदन मां का ही कर सकी। उसने भी निवेदन में यह कहा कि मैं चाहती हूं, ★से बेटे हों हमारे जिनको मेरा सौंदर्य मिल जाए और तुट्टहारी बुद्धि मिल जाए। कहता हूं कि पश्चिम की त्री त्री होने से काफी दूर चली गई है, फिर भी निवेदन मां का ही कर पाई। त्री मां होने के निवेदन में कहीं भी हीन अनुभव नहीं करती। क्योंकि त्री मां होने का जब निवेदन करती है तब भी वह निवेदन नहीं है। हीन होती नहीं मां होने में वह। वह पुरुष से कहीं पीछे पड़ती नहीं, नीचे कहीं उतरती नहीं। मां होने में तो पुरुष का छोटा-सा उपयोग भर है, फिर तो वह पूरा खुद ही कर लेती है। लेकिन पख्रनी होने में बात और है। पुरुष का थोड़ा-सा उपयोग नहीं है। पुरुष का फिर पूरा ही उपयोग है।
बर्नार्ड शाऽ को भी वही मुसीबत है जो अर्जुन को हुई होगी। लेकिन अर्जुन पूरब की हवा में पला हुआ था, इसलिए जो उत्तर दिया वह पूरब का था। बर्नार्ड शाऽ ने जो उत्तर दिया वह पश्चिम का है। इसलिए बर्नार्ड शाऽ के उत्तर की बेहूदगी बड़ी साफ है। बर्नार्ड शाऽ ने उसे पत्र लिखा कि देवी, इससे उ८टा भी हो सकता है जैसा आप कहती हैं। ★सा भी हो सकता है कि आपकी बुद्धि मिल जाए हमारे बेटों को और मेरी शक्ल-सूरत मिल जाए! पूरब में कोई पुरुष ★सा उत्तर नहीं दे सकता था। यह तो त्री-शक्ति का सीधा अपमान हो गया। त्री के द्वारा किए गए निवेदन का सीधा इनकार हो गया। और इनकार भी शिट न रहा, अशिट हो गया।

ॅण के लिए कुब्जा की प्रतीक्षा है। वह प्रतीक्षा ज मों की है। ॅण इनकार नहीं कर सकते। इनकार ही ॅण के जीवन में नहीं है। और अगर कुब्जा चाहे कि शरीर के तल पर संभोग हो तो ॅण उसका भी इनकार नहीं कर सकते, क्योंकि ॅण के मन में शरीर का भी कोई विरोध नहीं है। शरीर भी है, शरीर की अपनी जगह है। शरीर ही सब कुछ नहीं है, यह बात दूसरी है, लेकिन शरीर भी है। और शरीर की अपनी जगह है, अपना रस है, अपना आनंद है। शरीर का अपना होना है। ॅण के मन में उसकी भी काई निषेध बात नहीं है। ॅण एक-साथ शरीर और आख्रमा को पी गए हैं, एक-साथ पदार्थ और परमाख्रमा को ले गए हैं। इसलिए ॅण के द्वारा त्री-शक्ति का अपमान ही होगा। वे शरीर के तल पर भी संभोग करने को राजी हैं। कुब्जा की जो आकांक्षा है, वह पूरा करने को राजी हैं। इस राजी होने में कोई उ हें राजी होने की चेटा नहीं करनी पड़ रही है। इस राजी होने में कोई प्रयास नहीं है। इस राजी होने में, जो घटित हो रहा है उसकी सहज वींति है।

कठिन पड़ता है हमें। ॅण का शरीर के तल पर संभोग हमें कठिन पड़ता है, क्योंकि हम द्वैतवादी हैं। हम शरीर और आख्रमा को अलग-अलग मानकर चलने वाले लोग हैं। मेरे देखे—और ★सा ही देखना ॅण का भी है—कि शरीर और आख्रमा दो नहीं हैं, संभोग और योग दो नहीं हैं, पदार्थ और परमाख्रमा दो नहीं हैं। शरीर आख्रमा का वह छोर है जो हमारी आंखों और हाथों के पकड़ में आ जाता है। और आख्रमा शरीर का वह छोर है जो हमारे हाथ, आंख और बुद्धि की पकड़ के बाहर छूट जाता है। शरीर दृज्ञ्य आख्रमा है और आख्रमा अदृज्ञ्य शरीर है। और दोनों एक हैं, और ये कहीं टूटते नहीं, कहीं खंडित नहीं होते। शरीर के तल पर जिसे हम संभोग कहते हैं, आख्रमा के तल पर वही योग है। शरीर के तल पर जिसे हम संभोग कहते हैं, आख्रमा के तल पर वही समाधि है। ॅण के मन में संभोग और समाधि में विरोध नहीं है। संभोग ही समाधि तक द्वार बन जाता है। समाधि ही संभोग तक उतर कर अपनी किरणें पहुंचाती है।

लेकिन कुब्जा की बात कुब्जा जाने। कुब्जा के लिए क्या है, इसे ॅण से कोई...ॅण के लिए क्या है, वह मैं कह रहा हूं। कुब्जा की ★सी भूमिका है, ★सा मुझे नहीं लगता। उसके लिए संभोग समाधि बन सकता है, ★सा भी मुझे नहीं लगता। लेकिन यह प्रयोजन के बाहर है। कुब्जा ने जो मांगा है, जितना उसका पात्र है, ॅण उतने पात्र को भी भरने को राजी हैं। वे नहीं कहते कि तेरे पास सागर जैसा पात्र चाहिए, क्योंकि मेरे पास सागर जैसा देने को है। कुब्जा कहती है, मेरे पास तो छोटा-सा भिक्षापात्र है; इसमें सिर्फ शरीर ही समाता है। इसमें आख्रमा वगैरह की मुझे कुछ खबर नहीं है। तो कुब्जा के पात्र को वह इसलिए खाली न लौटा देंगे कि सागर जैसा पात्र लेकर वह नहीं आई। नहीं, ॅण कहेंगे जितना पात्र है उतना ले जाओ। इसलिए शरीर के तल पर भी ॅण का मिलन संभव हो सका है।

'आपने आज प्रातः राम और ॅण की तुलना की, मीरा और हनुमान की तुलना की। हमारी परंपरा राम और ॅण, मीरा और हनुमान, दोनों को ही समकक्ष रखती है। कोई उनमें 'इनफीरियर' है, या 'सुपीरियर' है, ✱सा भाव नहीं रखती। यह हो सकता है कि हनुमान की निजता वही हो जो वह हैं। राम की निजता वही हो जो वह हैं, और हममें कुछ लोग ✱से हों जि□हें हनुमान और राम की निजता ही अनुकूल पड़े। तो क्या यह परधर्म न होगा कि वे हनुमान और राम को कुछ 'इनफीरियर' मानकर ॅण और मीरा का ही मार्ग अपनाना चाहें?'

५ मैंने जो कहा, उसमें किसी को 'इनफीरियर' नहीं कहा, सिर्फ भिन्न-भिन्न कहा। हीन नहीं कहा, अलग-अलग कहा। और जिसकी निजता हनुमान के करीब पड़ती है, वह मेरे कहने से हनुमान को हीन न मान सकेगा। अब मेरी निजता में तो हनुमान करीब नहीं पड़ते हैं। तो मैं किसी और की निजता काॅयान रखकर झूठा वक्तैय नहीं दे सकता हूं। मुझसे आपने पूछा है। मैंने ही उत्तर दिया है। मुझे अगर चुनना हो, तो मीरा चुनने जैसी लगेगी। मुझे अगर चुनना हो, तो राम छोड़ देने जैसे लगेंगे और ॅण चुनने जैसे लगेंगे। और मुझे क्या लगेंगे, उसके कारण मैंने कहे। ✱सा नहीं है कि आप ॅण को चुनें और राम को छोड़ें। समझ लें मेरी बात को, उतना काफी है। आपकी निजता आपको जहां ले जाए वहीं जाना है।
मेरी दृटि में, राम काॅयक्तिखव मर्यादित है और मैं मानता हूं कि राम को मानने वाले लोग भी नहीं कहेंगे कि अमर्यादित है। असल में राम को मानने वाले लोग भी राम को इसीलिए मानते हैं कि वह मर्यादा में हैं। और जिन-जिन के चित्त मर्यादा में जीते हैं, उन-उनके लिए राम अनुकूल पड़ेंगे। लेकिन मैं कह यह रहा हूं कि मर्यादा का मतलब सीमा होता है। सीमा के बाहर भी चीजों का होना है। सीमा के बाहर भी सखय है। इसलिए पूर्ण सखय को तो अमर्याद ही घेर सकेगा, पूर्ण सखय को मर्यादित नहीं घेर सकता। पूर्ण सखय को तो ॅण ही घेर सकेंगे, राम नहीं घेर सकते। और ✱सा नहीं है कि आपकी परंपरा ने भेद नहीं किया है। आपकी परंपरा भी राम को कभी पूर्ण अवतार नहीं कहती है।ॅण को ही पूर्ण अवतार कहती है। आपकी परंपरा भी फर्क निश्चिचत करती है।
हनुमान और मीरा की बाबत कभी आपकी परंपरा ने तुलना भी की है, यह भी मुझे पता नहीं है। तुलना भी नहीं की है। राम और ॅण की बाबत तो तुलना आपकी परंपरा में है और उसमें ॅण पूर्ण अवतार हैं। और यह भी साफ है कि राम को मानने वाला ॅण को नहीं मान सका है। कान भी बंद कर लिए हैं उसने कि ॅण का नाम न पड़ जाए। और ॅण को मानने वाला राम को कुछ भी नहीं समझ पाया है। वाभाविक है। लेकिन तय की बात कहूं, क्योंकि मैं तो किसी को मानने वाला नहीं, मुझे जैसा दिखाई पड़ता है, वह मैं कहता हूं। मैं किसी का मानने वाला नहीं हूं। मैं न ॅण का मानने वाला हूं, न राम का मानने वाला हूं। मुझे तो जो दिखाई पड़ता है वह यह है कि राम का एकॅयक्तिखव साफ-सुथरा, निखरा। उतना निखरा और साफ-सुथराॅ

यक्तिख्रव ॅण का नहीं है। हो नहीं सकता। वही उसकी गहराई है। राम ने एक बड़े जंगल का छोटा-सा हिसा काट-कूट कर साफ-सुथरा कर लिया है। वहां से वृक्ष हटा दिए हैं, लताएं हटा दी हैं, घास काट दिया है, पख्रथर हटा दिए हैं। वह जगह बड़ी साफ-सुथरी, बैठने योभय हो गई है। लेकिन वह विराट जंगल भी है, जो उस जगह को चारों तरफ से घेरे हुए हैं। अतिख्रव उसका भी है।
डी.एच.लारेंस निरंतर कहा करता था कि कब हम आदमी को जंगल की तरह देखेंगे ? अभी तक हमने आदमी को बगिया की तरह देखा है। राम एक बगिया हैं,ॅण ए क विराट जंगल हैं, जिसमें कोईॅयवथा नहीं है, जिसमें क्यारियां कटी हुई और साफ -सुथरी नहीं हैं, जिसमें राते बने हुए नहीं हैं, पगडंडियां तय नहीं हैं; जिसमें भयंकर जंतु भी हैं, हमलावर शेर भी है, सिंह भी है, अंधेरा भी है, चोर-डाकू भी हो सक ते हैं, जीवन को खतरा भी हो सकता है।ॅण काॅयक्तिख्रव तो एक विराट जंगल क ी भांति है—अनियोजित, 'अनङ्लांड; जैसा है वैसा है। राम काॅयक्तिख्रव एक छोटी-सी बगिया की तरह है, 'किचन गार्डन' की तरह है जो आपने अपने घर के बगल में लगा रखा है। सब साफ-सुथरा है। कोई खतरा नहीं है, कोई जंगली जानवर नहीं हैं। मैं नहीं कहता कि आप 'किचन गार्डन' से ऊब जाएंगे तो पाएंगे कि जंगल में ही असली राज है। वह हमारा लगाया हुआ नहीं है।
आपकी परंपरा ने राम औरॅण में तो तुलना कर ली है, लेकिन मीरा और हनुमान में नहीं की। मीरा और हनुमान में करने का बहुत कारण भी नहीं है। लेकिन, कल बात उठी, इसलिए मैंने कहा। मैंने कहा कि हनुमान, जब राम ही 'किचन गार्डन' हैं , तो हनुमान को कहां रखियेगा? एक गमला ही रह जाएंगे। जब मैं राम को कहूंगा कि एक छोटी-सी बगिया हैं बंगले के बाहर लगी हुई—बंगले के बाहर बगिया होनी चाहिए, और बंगले के बाहर जंगल नहीं लगाया जा सकता वह भी मुझे भलीभांति ज्ञात है। लेकिन फिर भी बगिया बगिया है, जंगल जंगल है। और कभी-कभी जब बगिया से ऊब जाते हैं तो जंगल की तरफ जाना पड़ता है। और एक दिन ऊब जान ा चाहिए बगिया से, वह भी जरूरी है। तो हनुमान को कहां रखियेगा? हनुमान तो फिर एक गमला रह जाते हैं। बहुत साफ-सुथरे हैं। कई बार राम से भी यादा साफ-सुथरे हैं। क्योंकि और छोटी जगह घेरते हैं, इसलिए और साफ-सुथरे हो सकते हैं।

'हनुमान नर्तन करते हैं कभी-कभी?'

५ नर्तन कर सकते हैं। नर्तन कर सकते हैं, बंगले के बगीचे पर जब हवा बहती है तो उसके पौधे भी नाचते हैं। और गमले में लगे पौधे पर भी जब हवा बहती है, त ो वह भी डोलता है। लेकिन जंगल में तांडव चलता है। उसकी बात ही और है। हम उससे ही तो घबड़ाते हैं। वह नर्तन विराट है, हमारे 'कंट?ाल' के बाहर है। यह न र्तन हमारे भीतर है। हनुमान नर्तन करते हैं, लेकिन राम की आज्ञा मान लेंगे। मीरा नर्तन करती है औरॅण भी अगर रोकें तो नहीं रुकेगी। फर्क बड़े बुनियादी हैं। मीरा

ॅण को भी डांट-डपट देगी। हनुमान न डांट-डपट सकेंगे। मीराॅण को भी कह देगी, बैठे एक तरफ, हटो राते से, नाच चलने दो, बीच में मत आओ। वह हनुमान न कर सकेंगे। हनुमान एक आज्ञाकारीॅयक्ति हैं, एक 'डिसिडिंलड' आदमी हैं।
दुनिया में 'डिसिडिलन' की जरूरत है, बिलकुल है। अनुशासन की जरूरत है। लेकिन, जीवन में जो भी विराट है, जो भी गहन-गंभीर है, वह सब अनुशासनमुक्त है। वह जीवन में जो भी सुंदर है, सत्य है, शिव है, वह बिना किसी अनुशासन के अचानक फूट पड़ता है। तो मुझे तो जैसा दिखाई पड़ा, वह मैंने कहा है। से हनुमान हैं, सी मीरा है। मेरे देखे में चुनाव मेरा मीरा का है, आपसे नहीं कहता। और भिन्नता कहता हूं। हीनता और श्रेठता क्या है, वह हरेकॅयक्ति अपनी तय करेगा। अपने से ही तय होगी वह। किसी को हनुमान श्रेठ दिखाई पड़ सकते हैं। उससे वह सिर्फ इतनी ही खबर देगा कि उसकी श्रेठता का मापदंड क्या है? और जब मैं कहता हूं कि मीरा कहीं श्रेठ दिखाई पड़ती है तो उसका कुल मतलब इतना है कि मेरी श्रेठता का अर्थ क्या है? इसमें हनुमान और मीरा गौण हैं, खूंटियों की तरह हैं, मैं अपने को उन पर टांगता हूं।

'भगवान श्री, श्रीॅण की गो-भक्ति को आप किस दृटि से देखते हैं? उत्क्रांति की प्रक्रिया में डार्विन के वानर को मनुय-देह का पूर्वगामी और आत्मा के विकास में आपके अनुसार गो-माता को पूर्वगामी मानने को अगर राजी हों, तो पट नहीं होता कि समत पशुजाति में गाय ही आत्मा के साथ क्या ता८लुक रखती है! क्याॅषि-प्रधान देश होने के कारण हम गाय को माता कहते हैं? गो-वध के संबंध में आपका क्या खयाल है?'

५ चा८र्स डार्विन ने जब सबसे पहले यह बात कही कि आदमियों के शरीर को देखकर सा मालूम पड़ता है कि वह बंदरों की ही किसी जाति की शृंखला की आगे की कड़ी है, तो वीकार करना बहुत मुश्किल हुआ था। क्योंकि जो आदमी परमात्मा को अपना पिता मानता रहा हो, वह आदमी अचानक बंदर को अपा पिता मानने को राजी हो जाए, यह कठिन था। एकदम परमात्मा की जगह बंदर बैठ जाए, तो अहंकार को बड़ी गहरी चोट थी। लेकिन कोई राता न था। डार्विन जो कह रहा था, प्रबल प्रमाण थे। डार्विन जो कह रहा था उसके लिए समत वैज्ञानिक साधन सहारा दे रहे थे। इसलिए विरोध तो बहुत हुआ, लेकिन धीरे-धीरे वीकार कर लेना पड़ा। इसके सिवाय कोई राता नहीं था।
बंदर के शरीर और आदमी के शरीर में इतनी ही निकटता है, बंदर की बुद्धि और आदमी की बुद्धि में भी इतनी ही निकटता है, बंदर के जीने और होने के ढंग और आदमी के जीने और होने के ढंग में भी इतनी निकटता है कि यह इनकार करना मुश्किल है कि आदमी किसी-न-किसी रूप में बंदर की कड़ियों से जुड़ा हुआ है। आज भी जब हम राते पर चलते हैं तो हमारे बायें पैर के साथ दायां हाथ हिलता है।

जरूरत नहीं है अब कोई, 'मोशन' के लिए कोई जरूरत नहीं है। आप दोनों हाथ ि बलकुल रोक कर चलें तो भी चल सकते हैं। दोनों हाथ कट जाते हैं तो भी आदमी इतनी ही गति से चलता है। लेकिन बायें पैर के साथ दायें हाथ का हिलना, डाविन कहेगा, बंदर जब चारों हाथ-पैर से चलता था, तब की आदत है, वह छूटती नहीं। वह अभी भी आप जब चलते हैं, तो बस, उ८टे हाथ के साथ उ८टा पैर जुड़ जाता है। वह चार हाथ-पैर से कभी-न-कभी मनुय जाति का कोई पूर्वज चलता रहा है। अयथा इसका कोई कारण नहीं है। जहां बंदर की पूंछ है, वहां वह अभी खाली जगह हमारे पास है, सबके पास है, जहां पूंछ होनी चाहिए थी, लेकिन अब है नहीं। वह हखी, जहां पूंछ जुड़ी होनी चाहिए थी, वह 'लिंकेज' हमारे शरीर में है। पूंछ तो नहीं है, लेकिन वह 'लिंकेज' है। वह खबर देती है कि कभी पूंछ रही होगी।

इस लिहाज से हनुमान बड़े कीमती आदमी हैं। डाविन को कुछ पता नहीं था हनुमान का, नहीं तो बड़ा प्रसन्न होता। अगर उसको हनुमान का पता चलता, तो वह ब. डा प्रसन्न होता। क्योंकि हनुमान का बंदर होना, ★सा मालूम पड़ता है कि हनुमान उस बीच-कड़ी के आदमी होंगे, जब वह पूरे बंदर भी नहीं रह गए थे, पूरे आदमी भी नहीं हो गए थे। कहीं 'लिंकेज' बीच की होनी चाहिए। हां, 'ट?ांजिटरी पीरियड' के आदमी होने चाहिए। क्योंकि बंदर एकदम से आदमी नहीं हो गए होंगे, लाखों साल तक बंदर आदमी होते रहे होंगे। कुछ चीजें गिरती गई होंगी, कुछ बढ़ती गई होंगी। लाखों साल में ★सा हुआ होगा कि कड़ी टूट गई, कुछ बंदर बंदर रह गए और कुछ आदमी हो गए और बीच का हिसा गिर गया। वह जो बीच का हिसा गिर गया, हनुमान उसी के कहीं-न-कहीं प्रतीक हैं। वह जो बीच का हिसा, अब उपलब्ध नहीं है—उसको खोजा जा रहा है बहुत, और सारी जमीन पर हजार तरह की, लाख तरह की खोजें चलती हैं कि हम उस बीच की कड़ी की हखियों को खोज लें जो आदमी और बंदर के बीच में रही होंगी। हनुमान की हखियां कहीं मिल जाएं तो काम आ सकती हैं। डाविन ने जब यह कहा, तो कठिन हुआ था, लेकिन धीरे-धीरे वींत हुआ। क्योंकि प्रमाण प्रबल थे और पक्ष में थे। मैं एक दूसरी बात भी कहता हूं, और वह मैं यह कहता हूं कि आदमी के शरीर का जहां तक विकास है, आदमी का शरीर बंदर के विकास की अगली कड़ी है, लेकिन जहां तक आदमी की आत्मा का संबंध है, वहां तक आदमी की आत्मा गाय की आत्मा की अगली कड़ी है। आदमी के पास आत्मा की जो यात्रा है वह तो गाय से होकर आई है और शरीर की जो यात्रा है, वह बंदर से होकर आई है। निश्चित ही जैसे प्रमाण डाविन बंदर से आदमी होने के लिए जुटा सकता है, ठीक वैसे प्रमाण इस बात के लिए नहीं जुटाए जा सकते, लेकिन दूसरे तरह के प्रमाण जुटाए जा सकते हैं।

गाय को मां कहने का कारण सिर्फ षि करने वाला देश नहीं है। क्योंकि बैल को हमने पिता नहीं कहा। गाय को मां कहने का कारण सिर्फ गाय की षि-प्रधान देश में उपादेयता और उपयोगिता मात्र नहीं है। अगर यह सिर्फ उपादेयता होती, तो उपादेय चीजों को हम मां नहीं बना लेते हैं! कोई कारण नहीं है। रेलगाड़ी को कोई मां न

हीं कहता, बहुत उपादेय है। और रेलगाड़ी के बिना एक क्षण नहीं चला जा सकता। हवाई जहाज को कोई मां नहीं बना लेता। बहुत उपादेय है। दुनिया में उपादेय के लिए कुछ-न-कुछ रही हैं, जिनकी 'यूटिलिटी' रही है, लेकिन जिस चीज की 'यूटिलिटी' हो, उसको मां कहने का क्या संबंध है? 'यूटिलिटी' हो तो ठीक है, मां कहने का कोई वाता नहीं है। मां कहने के पीछे कोई और कारण है।

वह कारण, मेरे अपने अनुभव में, जैसे बंदर पिता है डा□विन के हिसाब से, वैसे गाय मां है। यह किन आधारों पर मैं कहता हूं? इसके सारे आधार 'साइकिक रिसर्च' के ही आधार हो सकते हैं। मनस की, और 'जाति-मरण' के आधार हो सकते हैं। हजारों योगियों ने निरंतर इस पर प्रयोग करके यह अनुभव किया कि वह जितने पीछे लौटते हैं, जब तक याद आती है, तब तक मनुय के ज□म होते हैं, लेकिन मनुयों के ज□मों के पीछे जो मरण आना शुरू होता है, वह गाय का ज□म शुरू हो जाता है। अगर आप अपने पिछले ज□मों की मृति में उतरेंगे, तो बहुत से ज□म तो मनुय के होंगे—सबके, कुछ के कम, कुछ के यादा—यह 'जाति-मरण' के परिणामों का फल है। जिन लोगों ने 'जाति-मरण' पर प्रयोग किए, अपने पिछले ज□म की मृतियों की खोजबीन की, उ□होंने पाया कि आदमी की मृतियों के बाद जो पहली पर्त मिलती है, वह पर्त गाय की मृति की है। इस गाय की मृति के आधार पर गाय को मां कहा गया।

★से भी, अगर हम सारे पशु-जगत में खोजने जाएं, तो गाय के पास जैसी आ॑मा दिखाई पड़ती है, वैसी किसी दूसरे पशु के पास दिखाई नहीं पड़ती। अगर हम गाय की आंख में झांकें, तो जैसी मानवीयता गाय की आंख में झलकती है वैसी मानवीयता किसी दूसरे पशु की आंख में नहीं झलकती। जैसी सरलता, जैसी विनम्रता गाय में दिखाई पड़ती है वैसी किसी दूसरे पशु में नहीं दिखाई पड़ती है। आ॑मिक दृटि से गाय विकसिततम मालूम पड़ती है, समत पशु-जगत में। उसकी आ॑मिक गुणवत्ता साफ पट रूप से सर्वाधिक विकसित मालूम पड़ती है। उसका यह जो विकसित होना है, यह भी प्रमाण बन सकता है, खयाल दे सकता है कि अगला चरण गाय का जो होगा, वह आ॑मिक छलांग का होगा। बंदर की अगर हम शारीरिक बेचैनी समझें, तो हमें खयाल में आ सकता है कि यह ज८दी अपने शरीर के बाहर छलांग लगाएगा। यह रुक नहीं सकता। यह इसी शरीर से राजी नहीं हो सकता। बंदर राजी ही नहीं है किसी चीज से। वह पूरे वक्त बेचैन और चंचल और परेशान है। आपने ॑यान किया, जब बचे पैदा होते हैं तो उनकी आंखों में गाय का भाव होता है और शरीर में बंदर की ॑यवथा होती है। छोटे बचे को देखें, तो शरीर तो उसके पास बिलकुल निपट बंदर का होता है, लेकिन आंख में झांकें तो गाय की आंख होती है।

इसलिए मैं कहता हूं कि गाय को मां कहने का कारण है। यह सिर्फ ॑षि-प्रधान होने की वजह से ★सा नहीं हुआ। इसके 'साइकिक', इसके बहुत मानसिक खोजों का कारण है। अब दुनिया में जब 'साइकिक रिसर्च' बढ़ती चली जाती है, तो मैं नहीं सम

झता हूं कि बहुत देर लगेगी कि इस देश की इस खोज को समर्थन विज्ञान से मिल जाए। बहुत देर नहीं लगेगी, समर्थन मिल जाएगा।
कठिनाई क्या होती है?
अगर हम हिंदुओं के अवतार देखें तो हमें खयाल में आ सकता है। हिंदुओं का अवतार मछली से शुरू होता है और बुद्ध तक चला जाता है। पहले यह बात बड़ी मुश्किल की थी कि मछली का अवतार! मत्स्य का अवतार! पागल तो नहीं हैं आप! लेकिन अब जब विज्ञान और जीवशास्त्र कहता है कि जीवन का पहला अस्तित्व मछली से शुरू हुआ, तब हमें बड़ी मुश्किल पड़ जाती है। अब आज मजाक नहीं उड़ा सकते इस बात का। आज इस बात का मजाक उड़ाना मुश्किल हो गया, क्योंकि विज्ञान कहने लगा। और विज्ञान की कुछ ऐसी छाप है हमारे मन पर कि फिर हम मजाक नहीं उड़ा सकते। विज्ञान कहता है कि मछली ही शायद पहला जीवन का विकसित रूप है। फिर मछली से ही सारा विकास हुआ। मछली इस देश ने पहला अवतार माना है—अवतार का कुल मतलब होता है, चेतना का अवतरण। शायद मछली पर जीवन-चेतना पहली बार उतरी। इसलिए मछली को अवतार कहने में बुरा नहीं है। यह भाषा धर्म की है। और जब विज्ञान कहता है कि मछली पहला जीवन मालूम पड़ती है, तब भाषा उसके पास विज्ञान की हो जाती है। हमारे पास एक अवतार और भी अदभुत है—नरसिंह अवतार। जो आधा पशु और आधा मनुष्य का अवतार है। जब डार्विन कहता है कि बीच में कड़ियां रही होंगी जो आधी पशुता की और आधी मनुष्यता की रही होंगी, तब हमें कठिनाई नहीं होती, लेकिन नरसिंह अवतार को पकड़ने में कठिनाई होती है। वह भाषा धर्म की है। लेकिन उसके भी पीछे गहन अंतर्दृष्टियां समाविष्ट हैं।
गाय मां है, उन्हीं अर्थों में, जिन अर्थों में बंदर पिता है। और डार्विन ने फिक्र की शरीर की, क्योंकि पश्चिम शरीर की चिंता में संलग्न है। इस देश ने फिक्र की आत्मा की, क्योंकि यह देश आत्मा की चिंता में संलग्न है। इस देश को इसकी बहुत फिक्र नहीं रही कि शरीर कहां से आता है—कहीं से भी आता हो, लेकिन आत्मा कहां से आती है, यह हम जरूर जानना चाहते रहे हैं। इसलिए हमारी 'एंफेसिस' शरीर के विकास पर न होकर आत्मा के विकास पर गई है।
दूसरी बात पूछी है कि गो-वध के संबंध में मेरा क्या खयाल है?
मैं किसी वध के पक्ष में नहीं हूं। तो गो-वध के पक्ष में होने की तो बात ही नहीं उठती। लेकिन मैं पक्ष में हूं या नहीं, इससे वध रुकेगा नहीं। परिस्थितियां गो-वध कराती ही रहेंगी। मैं मांसाहार के पक्ष में नहीं हूं। लेकिन, मांसाहार के पक्ष में हूं या नहीं, इससे फर्क नहीं पड़ता। परिस्थितियां ऐसी हैं कि मांसाहार जारी रहेगा। जारी इसलिए रहेगा कि आज भी हम इस स्थिति में नहीं हो पाए कि शाकाहारी भोजन सारे जगत को दे सकें। सारा जगत तो बहुत दूर है, अगर एक मुल्क भी पूरा शाकाहारी होने का निर्णय कर ले, तो मर जाएगा। शाकाहारी होने के लिए जो सारी व्यवस्था हमें जुटानी चाहिए, वह हम जुटा नहीं पाए। इसलिए मांसाहार मजबूरी की तरह जा

री रहेगा, 'नेसेसरी इविल' की तरह। गो-वध भी जारी रहेगा 'नेसेसरी इविल' की तरह।
और बड़े मजे की बात यह है कि जो लोग गो-वध बंद हो इसके लिए आतुर हैं, वह गो-वध से जो मिलता है लोगों को, उसको देने के लिए उनकी कोई चेटा नहीं है। गो-वध किसी दिन बंद हो सकेगा, हो सकता है। और मैं मानता हूं कि वह गो-वध भी बंद उनकी वजह से होगा जो गो-वध बंद करने के बिलकुल पक्ष में नहीं हैं। यह गो-वध बंद करने वाले लोगों की वजह से बंद नहीं होने वाला है, क्योंकि बंद करने की वह कोई ᳭यवथा नहीं जुटा पाते। बस सिर्फ नारेबाजी, या कानून, या नियम, इनसे कुछ होने वाला नहीं है। आज भी जमीन पर सर्वाधिक गायें हमारे पास हैं, और सबसे कमजोर और सबसे मरीज। जिनके पास बहुत कम गायें हैं और जो बहुत गो-वध करते हैं, उनके पास बड़ी वथ, बड़ी जीवंत गायें हैं। एक-एक गाय भी चालीस किलो दूध दे सके। हमारी गाय आधा किलो भी दे तो भी बड़ी ᳭पा है! इन अथिपंजरों को हम जिंदा रखने की कोशिश में लगे हैं। इनको जिंदा रखने की कोशिश 'इनडायरेक्ट' ही हो सकती है। भोजन के अतिरिक्त साधन इक᳧े करने जरूरी हैं। अभी तक भी शाकाहारी ठीक से मांसाहारी के योभय भोजन का उत्तर नहीं दे पाए हैं। उनकी बात सही है, उनका तर्क उचित है।
यह बड़े मजे की बात है कि गाय भी गैर-मांसाहारी है और बंदर भी गैर-मांसाहारी है। शरीर भी आदमी का जहां से आया है वह गैर मांसाहारी प्राणी से आया है, और आ᳴मा भी जहां से आई है वह भी गैर-मांसाहारी प्राणी से आई है। छोटी-मोटी चींटियों वगैरह को बंदर कभी खा गए, बात अलग, ᳰसे मांसाहारी नहीं है। गाय तो मांसाहारी है ही नहीं। मजबूरी में मांस खा जाए, बात अलग; खिला दे कोई बात अलग। ये दोनों यात्रापथ गैर-मांसाहारी हैं और आदमी मांसाहारी क्यों हो गया? आदमी के शरीर की पूरी ᳭यवथा गैर-मांसाहारी है। उसके पेट की अथियों का ढांचा गैर-मांसाहारी का है। उसके चित्त के सोचने का ढंग गैर-मांसाहारी का है। लेकिन आदमी मांसाहारी क्यों हैं? मांसाहार आदमी की मजबूरी है, मांसाहारी होना। अभी तक शाकाहार का हम पूरा भोजन नहीं जुटा पाए।
इसलिए मेरी अपनी समझ में, गो-वध जारी रहेगा। जारी नहीं रहना चाहिए। जारी रखना पड़ेगा। जारी नहीं रखना चाहिए, और सिर्फ उसी दिन रुक सकेगा जिस दिन हम 'सिंथेटिक फूड' पर आदमी को ले जाने के लिए राजी हो जाएं। उसके पहले नहीं रुक सकता है। जिस दिन हम भोजन के मामले में वैज्ञानिक भोजन पर आदमी को ले जाएं, उस दिन रुक सकेगा। इसलिए मेरी चेटा गो-वध बंद हो, न हो, इसमें जरा भी नहीं है। यह सब बिलकुल फिजूल बातें हैं, जिनको चलाकर हम समय खराब करते हैं और कुछ होता नहीं, हो सकता नहीं। मेरी चिंता इसमें है कि आदमी को हम ᳰसा भोजन दे सकें जो उसे मांसाहार से मुक्त कर सके। 'सिंथेटिक फूड' के बिना अब पृवी में पर कोई राता नहीं है। अब जमीन से पैदा हुआ भोजन काम नहीं कर सकेगा, अब तो हमें फैक्ट᳖ी में बनाई गई गोली भोजन के लिए उपयोग में ला

नी पड़ेगी। साढ़े तीन अरब और चार अरब के बीच संया डोलने लगी है मनुय की। इस संया के लिए भोजन का कोई उपाय नहीं। और यह संया रोज बढ़ती जाएगी, ह मारे सब उपाय के बावजूद बढ़ती जाएगी। और गो-वध तो बहुत दूर की बात है, ह ो सकता है तीस-चालीस साल के भीतर आंदोलन शुरू करना पड़े कि नर-वध किया जाए, आदमी को खाया जाए। जैसे आज एक आदमी मरता है तो हम उससे कहते हैं कि अपनी आंख 'डोनेट' कर दो, हम मरते हुए आदमी से कहेंगे, अपना मांस 'डोनेट' कर जाओ। और कोई उपाय नहीं रह जाएगा। संया इतनी तीव्र होगी तो इस के सिवा कोई उपाय नहीं रह जाएगा। और जो आदमी अपना मांस 'डोनेट' कर जा एगा, उसकी हम इजत करेंगे, जैसे अभी हम आंख वाले की करते हैं। वह कह जाए गा कि मरने के पहले तुम मुझे काट-पीटकर खा लेना। बहुत ज८दी वह वक्त आ ज ाएगा कि जो कौमें लोगों को जलाती हैं, लाशों को, वह अनुचित और अयायपूर्ण मालूम होने लगेगा। और ऐसा कोई आज ही हो गया, ऐसा नहीं, मनुय को खाने वा ली जातियां थीं, जिनके पास कुछ और खाने को न था, वह मनुय को खाती रही हैं। यहां मनुय को खाने की थिति करीब आई जाती है, वहां हम आंदोलन चलाए जा ते हैं गो-वध को रोकने का। यह नहीं चलेगा, इसमें कोई वैज्ञानिकता नहीं है।

लेकिन गो-वध रुक सकता है, सभी वध रुक सकते हैं। हमें भोजन के संबंध में बड़े ांतिकारी कदम उठाने की जरूरत है। गो-वध के मैं पक्ष में नहीं हूं, लेकिन गो-वध विरोधियों के भी पक्ष में नहीं हूं। गो-वध विरोधी निपट नासमझी की बातें करते हैं। उनके पास कोई बहुत बड़ी योजना नहीं है जिससे कि गो-वध रुक सके। रुक तो जाना चाहिए। गऊ आखिरी जानवर होना चाहिए जो मारा जाए। वह विकास की प शुओं में आखिरी, मनुय के पहले की कड़ी है। उस पर दया होनी जरूरी है। उससे ह मारे बहुत आंतरिक संबंध हैं। उनका यान रखना जरूरी है। लेकिन, यह यान तक त क ही रखा जा सकता है जब सुविधा हो सके, अयथा नहीं रखा जा सकता है। ए क छोटी-सी कहानी मैं कहूं—

परसों ही राते में मैं कह रहा था। एक पादरी एक चर्च में यायान करने को गया है। कोई तीन-चार मील का फासला है और पहाड़ी राता है, ऊंचा-नीचा राता है, बूढ़ ा पादरी है। उसने गांव के अपने एक तांगेवाले को कहा कि मुझे वहां तक पहुंचा दो, जो तुम पैसे लो, ले लेना। उस तांगेवाले ने कहा कि ठीक है, पैसे तो ठीक हैं, लेकिन मेरा बूढ़ा घोड़ा है गफ्फार, उसका जरा यान रखना पड़ेगा। तो उसने कहा, यह तो ठीक ही है, तुम जितनी दया घोड़े पर करते हो, उससे कम मैं नहीं करता। घोड़े का यान रखा जाएगा।

फिर यात्रा शुरू हुई। कोई आधा मील बीतने के बाद ही चढ़ाई शुरू हुई, तो उस तांगेवाले ने कहा, अब पा करके आप नीचे उतर जाएं। घोड़ा बूढ़ा है, और यान रखना जरूरी है। पादरी नीचे उतर गया। फिर ऐसा ही चलता रहा। घाट आता, पादरी को नीचे उतरना पड़ता। कभी-कभी घाट और यादा आ जाता, तो तांगेवाले को भी नीचे उतरना पड़ता। चार मील के राते पर मुश्किल से एक मील पादरी तांगे में

बैठा, तीन मील नीचे चला। और जो असली जगह जहां तांगे की जरूरत थी वहां पै
दल चला और जहां तांगे की जरूरत नहीं थी वहां तांगे में बैठा। जब वे चर्च के पा
स पहुंच गए और तांगेवाले को पादरी ने पैसे चुकाए तो उसने कहा पैसे तो तुम लो
, लेकिन एक सवाल का जवाब देते जाओ। मैं तो यहां भाषण देने आया, समझ में
आता है। तुम पैसा कमाने आए, वह भी समझ में आता है। गफ्फार को किसलिए
लाए हो? हम दोनों आते तो भी आसान पड़ता। इस बेचारे गफ्फार को किसलिए ल
ाए हो?
जीवन आवज्ञयकताओं में जिआ जाता है, सिद्धांतों में नहीं। आदमी मरने के करीब
है, गाय नहीं बचाई जा सकती। गाय बचाई जा सकती है, आदमी इतने 'एफयुलेंस'
 में हो जाए कि गाय को बचाना 'एफऽर्ड' कर सके। फिर गाय भी बचाई जा सकत
ी है। फिर और जानवर भी बचाए जा सकते हैं। क्योंकि गाय अगर एक कड़ी पीछे
है, तो दूसरे जानवर थोड़ी और कड़ी पीछे हैं। मछली भी मां तो है, जरा रिज्ञता दू
र का है। और तो कुछ बात नहीं है। अगर गाय मां है, तो मछली मां क्यों नहीं है
? जरा रिज्ञता दूर का है, बस इतना ही फर्क है। लेकिन जैसे-जैसे आदमी समृद्ध हो
ता चला जाए, सुविधा जुटाता जाए, वह गाय को ही क्यों बचाएगा, वह मछली को
 भी बचाएगा।
बचाने की दृटि तो साफ होनी चाहिए। लेकिन बचाने का आग्रह सुविधाएं न हों तो
मूढ़तापूर्ण हो जाता है।
अब ॅयान के लिए बैठें, शेष फिर कल पूछेंगे।
10 स्वस्थ राजनीति के प्रतीकपुरुष कृष्ण

'भगवान श्रीकृष्ण आध्यात्मिक पुरुष थे। साथ-ही-साथ उन्होंने राजनीति में भी भाग ि
लया। और राजनीतिज्ञ के रूप में जो उन्होंने महाभारत के युद्ध में किया वह यह :
भीष्म के आगे शिखंडी को खड़ा करके उन्हें धोखे से मरवाया। द्रोण को, 'अश्वत्थाम
ा मारा गया', ऐसा झूठ बुलवाकर मरवाया। कर्ण को, जब रथ का पहिया फंस गया
, तब उस निहत्थे को मरवाया। दुर्योधन को उसकी जंघा पर गदा-प्रहार करवाकर
मरवाया। तो क्या धार्मिक व्यक्ति राजनीति में आएगा? और अगर आएगा, तो राज
नीति में यह चाल और यह छल-कपट खेलेगा? और क्या इससे जीवन में हम भी य
ही सीखें कि अपनी विजय के लिए इस प्रकार के कार्य, जो धोखे से भरे हुए हों, क
रें? महात्मा गांधी ने जो साध्य की शुद्धता के साथ-साथ साधन की शुद्धता पर भी
बल दिया, वह निरर्थक था? क्या राजनीति में इसकी कोई आवश्यकता नहीं?'

* धर्म और अध्यात्म का थोड़ा-सा भेद सबसे पहले समझना चाहिए। धर्म और अध्य
ात्म एक ही बात नहीं। धर्म जीवन की एक दिशा है। जैसे राजनीति एक दिशा है,
कला एक दिशा है, विज्ञान एक दिशा है, ऐसे धर्म जीवन की एक दिशा है। अध्यात
म पूरा जीवन है। अध्यात्म जीवन की दिशा नहीं है, समग्र जीवन अध्यात्म है।

तो हो सकता है कि धार्मिक व्यक्ति राजनीति में जाने से डरे, आध्यात्मिक व्यक्ति नहीं डरेगा। धार्मिक व्यक्ति के लिए राजनीति कठिन पड़े, क्योंकि धार्मिक व्यक्ति ने कुछ धारणाएं ग्रहण की हैं जो कि राजनीति में विपरीत हैं। आध्यात्मिक व्यक्ति कि सी तरह की धारणाएं ग्रहण नहीं करता, समग्र जीवन को स्वीकार करता है, जैसा है।

कृष्ण धार्मिक व्यक्ति नहीं, आध्यात्मिक व्यक्ति हैं। महावीर धार्मिक व्यक्ति हैं इस अ र्थ में, बुद्ध धार्मिक व्यक्ति हैं इस अर्थ में कि उन्होंने जीवन की एक दिशा को चुना है। उस दिशा के लिए उन्होंने जीवन की अन्य सारी दिशाओं को कुर्बान कर दिया है। उन सबको उन्होंने काट कर अलग कर दिया है। कृष्ण आध्यात्मिक व्यक्ति हैं इ स अर्थ में कि उन्होंने पूरे जीवन को चुना है। इसलिए कृष्ण को राजनीति डरा नहीं सकती। कृष्ण को राजनीति में खड़े होने में जरा भी संकोच नहीं है, कोई कारण नह ीं है। राजनीति भी जीवन का हिस्सा है। और समझना जरूरी है कि जो लोग धर्म के नाम पर राजनीति को छोड़कर हट गए हैं, उन्होंने राजनीति को ज्यादा अधार्मिक बनाने में सहायता दी है, राजनीति को धार्मिक बनाने में सहायता नहीं दी।

इसलिए पहली बात तो यह समझनी है कि कृष्ण के लिए जीवन के सब फूल और सब कांटे एकसाथ स्वीकृत हैं। जीवन में उनका कोई चुनाव नहीं है, 'च्वॉइसलेस', जीवन को उन्होंने बिना चुनाव के स्वीकार कर लिया है, जीवन जैसा है। फूल को व ह नहीं चुनते हैं, कांटे को भी गुलाब का यह जो फूल है, कांटा इसका दुश्मन है। दु श्मन नहीं है। गुलाब के फूल की रक्षा के लिए ही कांटा है। दोनों गहरे में जुड़े हैं। दोनों एक ही से संयुक्त हैं। दोनों की एक ही जड़ है और दोनों का एक ही प्रयोजन है। कांटे को काटकर गुलाब को बचा लेने की बहुत लोगों की इच्छा होगी, लेकिन कांटा गुलाब का हिस्सा है, यह उन्हें समझना होगा। तब फिर कांटा और गुलाब दोन ों को साथ ही बचाना है।

तो कृष्ण राजनीति को सहज ही स्वीकार करते हैं। वे उसमें खड़े हो जाते हैं, उसकी उन्हें कोई कठिनाई नहीं है।

दूसरा जो सवाल उठाया है, वह और भी सोचने जैसा है। वह सोचने जैसा है कि कृष् ण ऐसे साधनों का उपयोग करते हैं, जो कि उचित नहीं कहे जा सकते। ऐसे साधनों का उपयोग करते हैं, जिनका औचित्य कोई भी सिद्ध नहीं कर सकेगा। झूठ का, छल का, कपट का उपयोग करते हैं। लेकिन एक बात इसमें समझेंगे तो बहुत आसा नी हो जाएगी। जिंदगी में शुभ और अशुभ के बीच कभी भी चुनाव नहीं है, सिवाय सिद्धांतों को छोड़कर। जिंदगी में 'गुड' और 'बैड' के बीच कोई चुनाव नहीं है, सि वाय सिद्धांतों को छोड़कर। जिंदगी में सब चुनाव कम बुराई, ज्यादा बुराई के बीच हैं। जिंदगी के सब चुनाव 'रिलेटिव' हैं। सवाल यह नहीं है कि कृष्ण ने जो किया व ह बुरा था, सवाल यह है कि अगर वह न करते तो क्या उससे भला घटित होता ि क और भी बुरा घटित होता? चुनाव अच्छे और बुरे के बीच होते तब तो मामला

बहुत आसान था। चुनाव अच्छे और बुरे के बीच नहीं है, चुनाव सदा 'लेसर इविल' और 'ग्रेटर इविल' के बीच है। पूरी जिंदगी ऐसी है।

मैंने सुनी है एक घटना। एक चर्च का पादरी एक रास्ते से गुजर रहा है। जोर से आवाज आती है कि बचाओ, बचाओ, मैं मर जाऊंगा। अंधेरा है, गलियारा है। वह पादरी भागा हुआ भीतर पहुंचता है। देखता है वहां कि एक बहुत कमजोर आदमी के ऊपर एक बहुत मजबूत आदमी छाती पर चढ़ा बैठा है। वह उसको चिल्लाकर कहता है कि हट, उस गरीब आदमी को क्यों दबा रहा है? लेकिन वह हटता नहीं, तो वह उस पर टूट पड़ता है पादरी, और उस मजबूत आदमी को नीचे गिरा देता है। वह जो नीचे आदमी है, वह ऊपर निकल आता है। भाग खड़ा होता है। तब वह ताकतवर आदमी उससे कहता है कि तुम आदमी कैसे हो? उस आदमी ने मेरा जेब काट लिया था और वह जेब काटकर भाग गया। वह पादरी कहता है, तूने यह पहले क्यों न कहा, मैं तो यह समझा कि तू ताकतवर है और कमजोर को दबाए हुए है; मैं समझा कि तू उसको मार रहा है! यह तो भूल हो गई। यह तो शुभ करते अशुभ हो गया। लेकिन वह आदमी तो उसकी जेब लेकर नदारद ही हो चुका था।

जिंदगी में जब हम शुभ करने जाते हैं, तब भी देखना जरूरी है कि अशुभ तो न हो जाएगा? इससे उल्टा भी देखना जरूरी है कि कुछ अशुभ करने से शुभ तो नहीं हो जाएगा? कृष्ण के सामने जो चुनाव है, वह बुरे और अच्छे के बीच नहीं है। कृष्ण के सामने जो चुनाव है वह कम बुरे और ज्यादा बुरे के बीच है। और कृष्ण ने जिन-जिन छल-कपट का उपयोग किया, उनसे बहुत ज्यादा छल-कपट का उपयोग सामने का पक्ष कर रहा था और कर सकता था। और उस सामने के पक्ष से लड़ने के लिए गांधीजी काम न पड़ते। वह सामने का पक्ष गांधीजी को मिट्टी में मिला देता। सामने का पक्ष साधारण बुरा नहीं था, असाधारण रूप से बुरा था। उस असाधारण रूप से बुरे के सामने भले की कोई जीत की संभावना न थी। गांधी जी को भी अगर हिंदुस्तान में हुकूमत हिटलर की मिलती तो पता चलता! हिंदुस्तान में हुकूमत हिटलर की नहीं थी, एक बहुत उदार कौम की थी। और उस कौम में भी अगर चर्चिल हुकूमत में रहता तो आजादी मिलनी बहुत मुश्किल बात थी। उसमें भी एटली का हुकूमत में आना बुनियादी फर्क पड़ गया।

गांधीजी जिस साधन-शुद्धि की बात करते हैं, वह थोड़ी समझने जैसी है। उचित ही है बात कि शुद्ध साधन के बिना शुद्ध साध्य कैसे पाया जा सकता है। लेकिन इस जगत में न तो कोई शुद्ध साध्य होता है, और न कोई शुद्ध साधन होते हैं। यहां कम अशुद्ध, ज्यादा अशुद्ध, ऐसी ही स्थितियां हैं। यहां पूर्ण स्वस्थ पूर्ण बीमार आदमी नहीं होते, कम बीमार और ज्यादा बीमार आदमी होते हैं। जिंदगी में सफेद और काला, ऐसा नहीं है, 'ग्रे कलर' है जिंदगी का। उसमें सफेद और काला सब मिश्रित है। इसलिए गांधी जैसे लोग कई अर्थों में 'उटोपियन' हैं। कृष्ण बहुत ही जीवन के सीधे-साफ निकट हैं। 'उटोपिया' कृष्ण के मन में नहीं है। जिंदगी जैसी है उसको वैसा स्वीकार करके काम करने की बात है। और फिर, जिन्हें गांधीजी शुद्ध साधन कहते

हैं, वे भी शुद्ध कहां हैं? हो नहीं सकते। इस जगत में—हां, मोक्ष में कहीं हो सकते होंगे शुद्ध साधन और शुद्ध साध्य—इस जगत में सभी कुछ मिट्टी से मिला-जुला है। इस जगत में सोना भी है तो मिट्टी मिलनी हुई है। इस जगत में हीरा भी है तो वह पत्थर का ही हिस्सा है। गांधीजी जिसे शुद्ध साधन समझते हैं, वह भी शुद्ध है नहीं। जैसे गांधी जी कहते हैं कि अनशन। उसे वह शुद्ध साधन कहते हैं। मैं नहीं कह सकता। कृष्ण भी नहीं कहेंगे। क्योंकि दूसरे आदमी को मारने की धमकी देना अशुद्ध है, तो स्वयं के मर जाने की धमकी देना शुद्ध कैसे हो सकता है? मैं आपकी छाती पर छुरा रख दूं और कहूं कि मेरी बात नहीं मानेंगे तो मार डालूंगा, यह अशुद्ध है। और मैं अपनी छाती पर छुरा रख लूं और कहूं कि मेरी बात नहीं मानेंगे तो मैं मर जाऊंगा, यह शुद्ध हो जाएगा? छुरे की सिर्फ दिशा बदलने से शुद्धि हो जाती है? यह भी उतना ही अशुद्ध है। और एक अर्थ में पहले वाले मामले से यह ज्यादा नाजुक रूप से अशुद्ध है। क्योंकि पहली बात में आदमी कह सकता है कि ठीक है, मार डालो, नहीं मानेंगे। उसको एक मौका है। एक 'मॉरल अपर्चूनिटी' है। वह मर तो सकता है न! लेकिन दूसरे मौके में आप उसे बहुत कमजोर कर जाते हैं। आपको मारने की जिम्मेदारी शायद वह न भी लेना चाहे।

अंबेदकर के खिलाफ गांधीजी ने अनशन किया। अंबेदकर झुके बाद में। इसलिए नहीं कि गांधीजी की बात सही थी, बल्कि इसलिए कि गांधीजी को मारना उतनी-सी बात के लिए उचित न था। इतनी हिंसा अंबेदकर लेने को राजी न हुआ। बाद में अंबेदकर ने कहा कि गांधी जी अगर समझते हों कि मेरा हृदय-परिवर्तन हो गया तो गलत समझते हैं, मेरी बात तो ठीक और गांधीजी की बात गलत है। और अब भी मैं अपनी बात पर टिका हूं। लेकिन इतनी-सी जिद्द के पीछे गांधीजी को मारने की हिंसा मैं अपने ऊपर न लेना चाहूंगा। अब सोचना जरूरी है कि शुद्ध साधन अंबेदकर का हुआ कि गांधी का हुआ! इसमें अहिंसक कौन है? मैं मानता हूं, अंबेदकर ने ज्यादा अहिंसा दिखलाई। गांधीजी ने पूरी हिंसा की। वह आखिरी दम तक लगे रहे जब तक अंबेदकर राजी नहीं होते, तब तक तो मैं मरने की तैयारी रखूंगा।

इस पृथ्वी पर या तो दूसरे को धमकी दो, या खुद को मारने की धमकी दो। जब हम दूसरे को मारने की धमकी देते हैं, तब हम कम-से-कम उसे एक मौका तो देते हैं कि वह शान के साथ मर जाए और कह दे तुम गलत हो और मैं मरने को राजी हूं। लेकिन अगर हम खुद को मारने की धमकी देते हैं तब हम उसे शान से मरने का मौका भी नहीं देते। वह दोनों हालत में दिक्कत में पड़ जाता है। या तो वह कहे कि गलत है और झुके, या वह कहे कि वह सही है और आपकी हत्या का बोझ ले। हम उसे हर हालत में अपराधी करार करवा देते हैं। गांधीजी के साधन शुद्ध नहीं हैं। दिखाई शुद्ध पड़ते हैं। और मैं कहता हूं कि कृष्ण ने जो भी किया वह शुद्ध है। तुलनात्मक अर्थों में, 'रिलेटिव' अर्थों में, सापेक्ष अर्थों में, जिनसे वे लड़ रहे थे उनके सामने जो कृष्ण ने किया, उसके अतिरिक्त और कुछ करने का उपाय न था।

'वे शस्त्रों से नहीं मार सकते थे उन्हें, स्वयं?'

* शस्त्रों से ही मार रहे हैं। लेकिन युद्ध में छल और कपट शस्त्र हैं। और जब साम
ने वाला दुश्मन उनका पूरा उपयोग करने की तैयारी रखता हो, तो अपने को कटवा
देना सिवाय नासमझी के और कुछ भी नहीं है। कृष्ण सामने किसी भले आदमी को
धोखा नहीं दे रहे हैं। कृष्ण किसी महात्मा को धोखा नहीं दे रहे हैं। और जिनका
गैर-महात्मापन हजार तरह से जांचा जा चुका है, उनके साथ ही वह यह व्यवहार
कर रहे हैं। और कृष्ण ने सारे उपाय कर लिए थे युद्ध के पहले कि ये लोग राजी
हो जाएं, यह युद्ध न हो। इस सब उपाय के बावजूद, कोई मार्ग न छूटने पर यह यु
द्ध हुआ है। और जिन्होंने सब तरह की बेईमानियां की हों, जिनकी पूरी-की-पूरी क
था बेईमानियों और धोखे और चालबाजी की हों, उनके साथ कृष्ण अगर भलेपन का
उपयोग करें, तो मैं मानता हूं कि महाभारत के परिणाम दूसरे हुए होते। उसमें कौ
रव जीते होते और पांडव हारे होते। और मजे की तो बात यह है इससे बड़ी, कि
हम कहते तो यही हैं कि 'सत्यमेव जयते', सत्य जीतता है, लेकिन इतिहास कुछ
और कहता है। इतिहास तो जो जीत जाता है, उसी को सत्य कहने लगता है। अग
र कौरव जीत गए होते, तो पंडित कौरवों की कथा लिखने के लिए राजी हो गए ह
ोते, और हमें पता भी नहीं चलता कि कभी पांडव भी थे और कभी कृष्ण भी थे!
कथा बिलकुल और होती।

कृष्ण ने जो किया, वह मैं मानता हूं कि सामने जो था उसको देखते हुए जो किया
जा सकता था, 'एक्चुअलिटी' के भीतर, वास्तविकता के भीतर जो किया जा सकता
था, वही किया। साधन-शुद्धि की सारी बातें आकाश में संभव हैं। पृथ्वी पर कैसे भ
ी साधन का उपयोग किया जाए, वह थोड़ा न बहुत अशुद्ध होगा। अगर साधन पूरे
शुद्ध हो जाएं, तो साध्य बन जाएगा। साध्य तक जाने की जरूरत न रह जाएगी। अ
गर साधन पूरा शुद्ध है तो साध्य और साधन में फर्क ही नहीं रह जाएगा, वे एक ह
ी हो जाएंगे। साधन और साध्य का फर्क ही इसलिए है कि साधन अशुद्ध है और सा
ध्य शुद्ध है। और इसलिए अशुद्ध साधन से कभी शुद्ध साध्य पूरी तरह मिलता नहीं,
यह भी सच है। साध्य मिलते ही कब हैं पृथ्वी पर! सिर्फ आकांक्षा होती है पाने की
, मिलते तो कभी नहीं हैं। गांधीजी भी यह कहकर नहीं मर सकते हैं कि मैं पूरा अ
हिंसक होकर मर रहा हूं और गांधीजी यह भी नहीं कहकर मर सकते हैं कि मैं पूरे
ब्रह्मचर्य को उपलब्ध होकर मर रहा हूं और न यह कह सकते हैं कि मैंने सत्य को
पा लिया है और मर रहा हूं। सत्य के प्रयोग करते ही मरते हैं।

शुद्ध अगर साधन थे तो साध्य मिल क्यों नहीं गया? बाधा क्या रह गई है? अगर
साधन शुद्ध है तो साध्य मिल ही जाना चाहिए, बाधा क्या है? नहीं, साधन शुद्ध हो
नहीं सकते। स्थितियां करीब-करीब ऐसी हैं जैसे हम पानी में लकड़ी को डालें तो
वह तिरछी हो जाए। अब पानी में लकड़ी को सीधा ही बनाए रखने का कोई उपाय
नहीं है। लकड़ी तिरछी होती नहीं, तिरछी दिखाई पड़ने लगती है। वह पानी का ज

ो 'मीडियम' है, वह लकड़ी को तिरछा कर जाता है। पानी के बाहर ही लकड़ी सी धी हो पाती है, पानी के भीतर डाली कि तिरछी हो जाती है।
इस विराट सापेक्ष के जगत में, 'इन दिस रिलेटिव वर्ल्ड', जहां सब चीजें तुलना में हैं, वहां सब चीजें तिरछी हो जाती हैं। इसलिए सवाल यह नहीं है कि हम सीधे हों, सवाल यह है कि कम-से-कम तिरछे हों। और कृष्ण मुझे मालूम पड़ता है, कम-से-कम तिरछे आदमी हों, सवाल यह है कि हम कम-से-कम तिरछे आदमी हैं। और य ह बड़े मजे की बात है कि ऊपर से देखने पर हमें कुछ और दिखाई पड़ेगा। हमें गां धीजी बहुत सीधे आदमी दिखाई पड़ेंगे, गांधी जी मेरे हिसाब से बहुत तिरछे आदमी हैं। वे कई बार कान को बिलकुल सिर घुमाकर पकड़ते हैं, दूसरी तरफ से पकड़ते हैं, कृष्ण सीधा पकड़ लेते हैं। गांधीजी वही काम करेंगे दूसरे को दबाने का, अपने को दबा कर करेंगे। बड़ी लंबी यात्रा लेंगे। दबाएंगे दूसरे को ही, 'कोयरेशन' जारी रहेगा, लेकिन प्रयोग जो वे करेंगे, वह अपने को दबाकर उसको दबाएंगे। कृष्ण उस को सीधा दबा देंगे! ऐसा गांधी सीधे-साफ मालूम पड़ेंगे। मैं मानता हूं, बहुत तिरछा व्यक्तित्व है। बहुत जटिल, बहुत 'कांप्लेक्स' व्यक्तित्व है। लेकिन हमें आमतौर से खयाल में नहीं आता, क्योंकि चीजें हम जैसी पकड़ लेते हैं वैसे माने चले जाते हैं।

'भगवान श्री, कृष्ण के जमाने में एक पौंड्रक नामक राजा था, जो साक्षात कृष्ण को नकली कृष्ण जाहिर कर अपने को असली कृष्ण मानता था और बताता था। बुद्ध, महावीर आदि अवतारों के जीवन में, क्राइस्ट के चरित्र में ऐसी साम्य रखने वाली कुछ घटनाएं घटी हैं?'

* हां, घटी है। महावीर के समय गोशालक नाम के व्यक्ति ने घोषणा की कि असल ी तीर्थंकर मैं हूं। महावीर असली तीर्थंकर नहीं हैं।
और क्राइस्ट के समय में भी घटी, क्योंकि यहूदियों ने सूली ही इसलिए दी कि यह बढ़ई का लड़का नाहक अपने को क्राइस्ट कह रहा है, यह असली क्राइस्ट नहीं है। अ भी असली क्राइस्ट पैदा होने वाला है। यहूदी-परंपरा में ऐसा खयाल था कि क्राइस्ट नाम का एक पैगंबर पैदा होने वाला है। बहुत 'प्रॉफेट्स' ने उसकी घोषणा की थी। इजेकियल ने घोषणा की थी, ईसिया ने घोषणा की थी, उन सब पुराने पैगंबरों ने घ ोषणा की थी कि क्राइस्ट नाम का एक पैगंबर आने वाला है। फिर क्राइस्ट के ठीक जन्म लेने के पहले बपतिस्मा वाले जॉन ने गांव-गांव घूमकर घोषणा की थी कि क्राइ स्ट आने वाला है। क्राइस्ट का मतलब, मसीहा। मसीहा आने वाला है, जो सबका उ द्धार करेगा। और फिर एक दिन जीसस नाम के इस जवान ने घोषणा कर दी कि मैं वह मसीहा हूं। यहूदियों ने मानने से इनकार कर दिया, कि यह आदमी वह मसी हा नहीं है। इसलिए सूली दी गई। सूली दी गई कि तुम झूठी घोषणा कर रहे हो। तुम मसीहा नहीं हो।

दूसरे व्यक्ति ने ठीक जीसस के सामने दावा नहीं किया। लेकिन बहुत लोगों ने यह दावा किया कि तुम मसीहा नहीं हो, तुम क्राइस्ट नहीं हो। हम तुम्हें क्राइस्ट मानने से इनकार करते हैं। क्यों इनकार किया? क्योंकि वे कहते थे, कुछ लक्षण हैं, जो ि क तुम पूरे करो। कुछ चमत्कार हैं, जो तुम दिखाओ। उनमें एक चमत्कार यह भी था कि जब हम तुम्हें सूली लगाएं, तो तुम जिंदा सूली से उतर आओ। तो जीसस के जो भक्त थे, वे मानते थे कि सूली लग जाने के बाद जीसस उतर आएंगे जीवित और चमत्कार घटित हो जाएगा, और फिर लोग मान लेंगे। अब बड़ी मुश्किल है तय करना यह बात, क्योंकि जीसस के भक्त अब भी कहते हैं कि तीन दिन बाद वे देखे गए। लेकिन जिन्होंने देखा वे दो औरतें थीं, दो स्त्रियां थीं, जो जीसस को बहु त प्रेम करती थीं, उन्होंने उन्हें देखा। विरोधी उनके वक्तव्य को मानने को तैयार न हीं हैं। विरोधियों का खयाल है कि वे इतनी प्रेम से भरी थीं कि जीसस उन्हें दिखाई पड़ सकते हैं, और जीसस न हों। लेकिन कोई यहूदी वक्तव्य ऐसा नहीं है कि जीस स उतर आए सूली से और प्रमाण उन्होंने दे दिया, वह प्रमाण नहीं दिया जा सका। इसलिए उस क्राइस्ट की प्रतीक्षा तो यहूदी अभी भी करते हैं, जिसकी घोषणा पैगंबर ों ने की है।

लेकिन महावीर के वक्त में तो बहुत ही स्पष्ट गोशालक ने घोषणा की कि मैं असल ी तीर्थंकर हूं, महावीर असली तीर्थंकर नहीं हैं। गोशालक को भी मानने वाले लोग थे। थोड़ी संख्या न थी, काफी संख्या थी। और यह विवाद लंबा चला कि कौन अस ली तीर्थंकर है। क्योंकि जैन-परंपरा में घोषणा थी कि चौबीसवां तीर्थंकर आने वाला है। वह अंतिम तीर्थंकर होने को था, तेईस हो चुके थे, और अब एक ही आदमी तीर्थंकर हो सकता था। और न केवल गोशालक ने घोषणा की कि वह चौबीसवां ती र्थंकर है, एक बड़ा वर्ग था जो उसे चौबीसवां तीर्थंकर मानता था।

यह तो था ही, और भी पांच-छः लोग थे जिनको कुछ लोग मानते थे वही असली तीर्थंकर हैं, हालांकि उन्होंने कभी घोषणा नहीं की। मक्खली गोशालक तो स्वयं घोष णा करता था कि वह तीर्थंकर है। लेकिन संजय वेलट्ठीपुत्त, अजित केसकंबल, इनके भी भक्त थे; जो मानते थे कि ये असली तीर्थंकर हैं। ऐसा बुद्ध को जो मानते थे उनका भी खयाल था कि असली तीर्थंकर बुद्ध हैं। और बुद्ध के मानने वालों ने महा वीर का बहुत मजाक उड़ाया।

इसकी बहुत संभावना है। सदा संभावना है कि कृष्ण जैसा व्यक्ति जब पैदा हो, या जब समाज ऐसे व्यक्ति की किन्हीं घोषणाओं के आधार पर प्रतीक्षा कर रहा हो, तो कोई और लोग भी दावेदार हो जाएं। इसमें बहुत कठिनाई नहीं है। लेकिन समय तय कर देता है कि दावेदार सही थे कि नहीं थे। सच तो यह है कि जब कोई दावा करता है, तभी वह कह देता है कि वह सही आदमी नहीं है। दावेदारी ही गलत आदमी करता है। कृष्ण को दावा करने की जरूरत नहीं है कि मैं, कृष्ण वह हैं। कि सी को दावे की जरूरत पड़ती है, उसका मतलब यह है कि उसके होने से सिद्ध नह ीं होता कि वह कृष्ण है, उसे दावा भी करना पड़ता है। उसे खुद ही शक है। असल

में हमारी आत्महीनता ही दावा बनती है। अगर कोई आदमी दावा करता है कि मैं महात्मा हूं, तो उसका दावा ही कहता है कि वह महात्मा नहीं होगा। दावेदारी ह मेशा उलटी खबर देती है।
लेकिन वह बिलकुल स्वाभाविक है, मानवीय है कि कोई दावा कर सके। इसमें बहुत कठिनाई नहीं है।

'जीसस ने क्यों दावा किया?'

* जीसस ने दावा नहीं किया। जीसस ने दावा नहीं किया कि मैं क्राइस्ट हूं। जीसस ने तो दावे बहुत दूसरे किए हैं। क्राइस्ट होने का दावा नहीं किया। जीसस के दावे व क्तव्यों में नहीं हैं, व्यक्तित्व में हैं। लोगों ने पहचाना कि यह आदमी क्राइस्ट है। दूस रे लोगों ने घोषणा की कि यह आदमी क्राइस्ट है। जिस आदमी का मैंने नाम लिया, जॉन दि बैपटिस्ट--जीसस के पहले बहुत अदभुत संत हुआ--उसने घोषणा कर रखी थी कि क्राइस्ट आने वाला है। और मैं सिर्फ अगुआ हूं जो पहले खबर देने आया हूं। जिस दिन क्राइस्ट आ जाएगा उस दिन मैं विदा हो जाऊंगा। वह नदी के किनारे, जो र्डन नदी के किनारे, नदी में लोगों को दीक्षा देता था। हजारों लोग उससे दीक्षा लेते थे। जीसस भी उससे दीक्षा लेने गए। जीसस ने संत जॉन से दीक्षा ली। जोर्डन नदी में वे खड़े हुए, गले डूबे पानी में जॉन ने दीक्षा दी और कहा कि अब तुम अपना काम सम्हालो, मैं जाता हूं। इस बात से सारे मुल्क में खबर फैल गई कि क्राइस्ट आ गया और जॉन उसी दिन से फिर नहीं देखा गया कि कहां चला गया। फिर उसका कोई पता नहीं चला। उस दिन से जॉन खो गया।
इससे खबर पूरे मुल्क में फैल गई कि वह जो जॉन चिल्ला-चिल्ला कर गांव-गांव में कहता था कि क्राइस्ट आने वाला है, जिस दिन आ जाएगा उस दिन मेरा काम खत म हो जाएगा, मैं उसके आने तक रुका हूं, मैं सिर्फ आगे की सड़क साफ कर रहा हूं, 'पायलट' का काम कर रहा हूं, वह उसी दिन से नदारद हो गया। जॉन के खो जाने से सारे मुल्क में खबर फैल गई कि क्राइस्ट आ गया। अब लोग जीसस से पूछने लगे कि आप कौन हैं? दावा उन्होंने नहीं किया लेकिन झूठ भी कैसे बोला जा सक ता है। दावा उन्होंने नहीं किया। लोग उनसे पूछने लगे कि तुम कौन हो? तो उन्होंने जो वक्तव्य दिए, उन वक्तव्यों में उन्होंने कहा कि मैं वही हूं, जो सदा से है। मैं व ही हूं, जो पैगंबर नहीं हुए उसके पहले भी था। अब्राहम के पहले जो मौजूद था, मैं वही हूं। जब लोगों ने पूछा कि तुम कौन हो, तो उन्होंने कहा कि तुम जिसे खोजते हो, मैं वही हूं। मगर इसमें दावा नहीं था कोई। लोगों ने पूछा था, और उत्तर देना जरूरी था।

'हिंदू अवतार के क्रम में मत्स्यावतार से शुरू होकर राम आदि अंशावतार आते हैं। फिर पूर्णावतार कृष्ण के बाद भी बुद्धावतार होता है। कल्कि की आगाही भी समावि

ष्ट है। तो बुद्ध कालक्रम दृष्टि से पूर्णावतार क्यों नहीं माने गए? उत्क्रांति की दृष्टि से कृष्ण का बुद्ध के पूर्व का जाने का कोई राज हो तो बताएं। काल की गति को यहां वर्तुलाकार कहने में किस हद तक औचित्य है?'

* अवतार आंशिक भी उतना ही अवतार है, जितना पूर्ण। अवतार होने में कोई फ र्क नहीं है। अवतार से तो मतलब इतना ही है कि परमात्म-चेतना प्रगट हुई। वह ि कतने आयामों में प्रगट हुई, यह बात दूसरी है। तो कृष्ण का अवतार पूर्णावतार इस अर्थों में है कि जीवन के समस्त आयामों में, जीवन के सब 'डायमेंसंस' में उनका स्पर्श है। बुद्ध का अवतार फिर पूर्ण अवतार नहीं है। कल्कि अवतार भी पूर्ण अवतार होने वाला नहीं है। अवतरण तो पूरा होगा। अवतरण की जो प्रक्रिया है। कल्कि अ वतार भी पूर्ण अवतार होने वाला नहीं है। अवतरण तो पूरा होगा। अवतरण की जो प्रक्रिया है, चेतना का जो उतरना है, वह तो पूरा होगा, लेकिन वह सब आयामों का स्पर्श नहीं करेगा।

इसके कारण हैं, बहुत कारण हैं। ऐसा नहीं कि जो धारा है, विकास का जो क्रम है—साधारणतः ऐसा ही होना चाहिए कि पूर्ण अवतार अंत में आए; विकास के क्रम में पूर्णता अंत में आनी चाहिए—लेकिन विकास का जो क्रम है, अवतार उस क्रम के बाहर से आता है। अवतार का अर्थ है—'पेनीट्रेशन फ्रॉम दॅ बियांड'। वह पार से उत रता है। वह हमारी विकास-प्रक्रिया का अंग नहीं है। वह हमारे विकास में विकसित हुआ नहीं है। वह हमारी विकास-धारा के पार से उतरता है। और जब भी कोई चे तना...जैसे एक ऐसा उदाहरण से समझें। हम सारे लोग यहां बैठे हैं, सूरज निकला है, हम सब आंखें बंद किए बैठे हैं, किसी ने थोड़ी-सी आंख खोली और थोड़ी-सी रो शनी दिखाई पड़ी। फिर किसी ने पूरी आंख खोली और पूरी रोशनी दिखाई पड़ी। फि र किसी ने थोड़ी-सी आंख खोली और थोड़ी रोशनी दिखाई पड़ी। इसमें कोई विकास -क्रम नहीं है। असल में आंख पूरी कभी भी खोली जा सकती है। और पूरी आंख ख ोलने के बाद भी पीछे वाला पूरी आंख खोले, इसकी कोई अनिवार्यता नहीं है।

कृष्ण का जो व्यक्तित्व है वह पूरा खुला है, इसलिए पूरे परमात्मा को समा सका है । बुद्ध का व्यक्तित्व आंशिक खुला है, इसलिए अंश-परमात्मा को समा सका है। अ गर आज भी कोई पूरे व्यक्तित्व को खोलेगा, तो पूरा परमात्मा समा जाएगा। और अगर कल भी कोई व्यक्तित्व को बिलकुल बंद रखेगा, तो परमात्मा बिलकुल नहीं समाएगा। इसमें कोई 'एवॅलूशनरी' क्रम नहीं है। हो भी नहीं सकता।

विकास का जो क्रम है, उस क्रम को अगर हम ठीक से समझें तो सिर्फ 'जनरल', स ामान्य अर्थों में पकड़ सकते हैं, व्यक्तिवादी अर्थों में नहीं पकड़ सकते। बुद्ध को हुए बहुत दिन हो गए। हम तो बुद्ध के ढाई हजार साल बाद हुए हैं, लेकिन इससे हम यह नहीं कह सकते कि बुद्ध से हम ज्यादा 'इवाल्व्ड' हैं। यह नहीं कह सकते हम। हां, इतना हम कह सकते हैं कि बुद्ध के समाज से हमारा समाज ज्यादा 'इवाल्व्ड' है। बुद्ध के समाज से हमारा समाज ज्यादा विकसित कहा जा सकता है। असल में ि

वकास दोहरा चल रहा है—समूह का, व्यक्ति का। समूह के पहले भी व्यक्ति विकसित हो सकता है। हां, जो अपने को विकसित करने की कोई कोशिश नहीं करेंगे, वे समूह के साथ घसिटते हुए विकसित होते हैं। और सभी, समूह के सभी व्यक्ति एक-जैसे विकसित नहीं हो रहे हैं, प्रत्येक व्यक्ति अलग-अलग धारा में विकसित हो रहा है। हम यहां इतने लोग बैठे हैं, लेकिन सभी विकास की एक ही पायरी पर नहीं हैं। कोई विकास की पहली सीढ़ी पर खड़ा है, कोई विकास की दसवीं सीढ़ी पर खड़ा है, कोई विकास का अंतिम छोर भी छू सकता है। समूह के बाबत सामान्य नियम सत्य होते हैं। विकास का नियम समूह के बाबत है, इसे एक उदाहरण से समझें—यह हम कह सकते हैं कि दिल्ली में पिछले दस वर्षों में प्रतिवर्ष कितने लोग सड़क पर 'एक्सीडेंट' से मरे। हर वर्ष अगर पचास आदमी मरते हैं, और उसके पहले वर्ष पैंतालीस मरे थे और उसके पहले चालीस मरे थे, तो हम कह सकते हैं कि अगले वर्ष पचपन आदमी सड़क पर कार 'एक्सीडेंट' से मरेंगे। और बहुत दूर तक यह सही हो जाएगा। लेकिन हम यह नहीं कह सकते कि वे पचपन आदमी कौन से होंगे? हम खोजकर नहीं बता सकते कि ये पचपन आदमी मरेंगे। अगर दिल्ली की आबादी बीस लाख है, तो पचपन में हो सकता है, चौवन मरें, या हो सकता है छप्पन मर जाएं। लेकिन अगर आबादी बीस करोड़ है, तो पचपन का आंकड़ा और भी करीब आ जाएगा। और अगर आबादी अनंत है, तो पचपन का आंकड़ा बिलकुल 'फिक्स्ड' हो जाएगा। यानी हम बिलकुल कह सकते हैं कि पचपन मरेंगे, न साढ़े चौवन मरेंगे, न साढ़े पचपन मरेंगे। पचपन मरेंगे। जितनी बड़ी संख्या होती जाएगी, सामान्य 'स्टेटिक्स' उतने ही सत्य हो जाते हैं। जितना व्यक्ति को हम पकड़ते हैं, उतने ही 'स्टेटिक्स' गलत हो जाते हैं। विकास की जो धारा है, वह समूह की धारा है। इसमें व्यक्ति पहले भी हो जाते हैं। जैसे जब वसंत आता है तो किसी एक पक्षी की चहचहाहट से घोषणा हो जाती है वसंत के आने की, लेकिन सभी पक्षियों की चहचहाहट में वक्त लग जाता है। वसंत आता है तो एक फूल भी खिलकर खबर कर देता है कि वसंत आ रहा है, लेकिन सभी फूल के खिलने में वक्त लग जाता है। आता तो वसंत पूरा तभी है जब सब फूल खिलते हैं, लेकिन कुछ फूल पहले भी खिल जाते हैं। एक फूल के खिलने से हम यह नहीं कह सकते कि वसंत आ गया, लेकिन इतना कह सकते हैं, वसंत की पहली पगध्वनि आ गई है। व्यक्तिगत फूल तो पहले भी खिल सकते हैं, पीछे भी खिल सकते हैं, लेकिन सब फूल वसंत में खिल जाते हैं।

कृष्ण का बीच में पूर्ण हो जाना सिर्फ इस बात की सूचना है कि कृष्ण अपने व्यक्तित्व को पूरा खोल सके। बुद्ध अपने व्यक्तित्व को पूरा नहीं खोलते हैं। यह भी बुद्ध का अपना निर्णय है। अगर उन्हें कोई पूर्ण करने को कहे भी, अगर कोई उनसे कहे भी कि तुम्हारे कृष्ण होने की भी संभावना है, तो बुद्ध इनकार कर देंगे। वह बुद्ध का चुनाव नहीं है। इसमें बुद्ध कुछ पीछे पड़ जाते हैं कृष्ण से, ऐसा नहीं है। यह बुद्ध का अपना चुनाव है, कृष्ण का चुनाव है। और चुनाव के मामले में दोनों मालिक हैं। और उनका अपना 'डिसीजन' है। बुद्ध चाहते हैं जैसा, वैसे वे खिलते हैं। कृष्ण जै

सा चाहते हैं वैसे वे खिलते हैं। कृष्ण का पूरा खिलने का स्वभाव है। बुद्ध को जैसा खिलना है, उसमें ही पूरा खिलने का स्वभाव है। इसमें कोई विकास की धारा नहीं है। व्यक्तियों पर विकास लागू नहीं होता, विकास सिर्फ समूहों पर लागू होता है।

'भगवान श्री, नौ सौ निन्यानबे गाली सहने वाले कृष्ण उससे आगे की एक भी गाली को न सुन सके और चक्र से शिशुपाल का वध कर बैठे। इससे क्या यह तय नहीं होता कि पहले दी गई गालियों को भी सिर्फ वे प्रकट रूप से ही सह रहे थे और अंतर में तो असहिष्णु ही थे?'

* ऐसा सोचा जा सकता है, क्योंकि ऐसे हम सब हैं। अगर हम चौथी गाली पर बिगड़ उठते हैं, तो हम भलीभांति जानते हैं कि बिगड़ तो हम पहली ही गाली पर गए थे। लेकिन तीन दिन तक साहस रखा। तीन तक सहिष्णुता थी, फिर हम चूक गए, फिर हमारी सहिष्णुता और न सह सकी। तो चौथी गाली पर प्रगट हो गए। लेकिन इससे उलटा भी हो सकता है। और कृष्ण बड़े उलटे आदमी हैं। ठीक हमारे जैसे आदमी नहीं हैं। इसलिए उलटे होने की संभावना ही उन पर ज्यादा है।
ऐसा नहीं कि नौ सौ निन्यानबे गाली सहने तक उनकी सहिष्णुता थी। नौ सौ निन्यानबे गालियां काफी गालियां हैं। और जो नौ सौ निन्यानबे सह सकता होगा, वह हजारवीं नहीं सह सकता होगा, सोचना जरा मुश्किल है। बड़ा सवाल कृष्ण के लिए यह नहीं है कि उनकी सहिष्णुता चुक गई, बड़ा सवाल यह है कि अब सामने का जो आदमी है, अब उसकी सीमा आ गई। अब उसकी सीमा आ गई। अब इससे ज्यादा सहे जाना सहिष्णुता का सवाल नहीं है, इससे ज्यादा सहे जाना बुराई को बनाए रखने का सवाल है। इससे ज्यादा सहे जाना अब अधर्म को बचाना होगा। क्योंकि इतना तो बहुत ही साफ है कि नौ सौ निन्यानबे गालियां काफी हैं।
जीसस से कोई पूछता है एक शिष्य, कि कोई हमें एक बार चांटा मारे, तो हम क्या करें? तो जीसस कहते हैं, सहो। वह पूछता है कोई हमें सात बार चांटा मारे, तो हम क्या करें? तो जीसस कहते हैं, सात बार नहीं, सतहत्तर बार सहो। उस आदमी ने आगे पूछा नहीं, इसलिए हमें पता नहीं कि जीसस क्या कहते हैं। उसने आगे पूछा नहीं कि अठहत्तरवीं बार? लेकिन मैं मानता हूं कि जीसस कहते कि अठहत्तरवीं बार अब बिलकुल मत सहो। क्योंकि तुम्हारी सहिष्णुता ही काफी नहीं है, दूसरे आदमी का अधर्म भी विचारने योग्य है।
मैंने एक मजाक सुना है। मैंने सुना है कि जीसस को मानने वाला एक भक्त एक गांव से गुजरा है। और किसी ने एक चांटा उसके चेहरे पर मार दिया। तो जीसस का वचन है कि जब कोई तुम्हारे बायें गाल पर चांटा मारे तो दायां उसके सामने कर दो। उसने दायां गाल उसके सामने कर दिया। उस आदमी ने, जैसा कि उस बेचारे ने सोचा भी नहीं था, दायें पर भी चांटा और करारा मारा। तब वह बड़ी मुश्किल में पड़ा, क्योंकि इसके आगे जीसस का कोई वक्तव्य नहीं है, कि अब वह क्या करे

? तो उसने उठाकर एक हाथ करारा उस दुश्मन को मारा। उस आदमी ने कहा कि अरे, तुम तो जीसस को मानते हो? और जीसस ने तो कहा कि जब कोई तुम्हारे एक गाल पर चांटा मारे तो दूसरा सामने कर दो। उसने कहा, लेकिन तीसरा कोई गाल नहीं है। और अब मैं छुट्टी लेता हूं जीसस से। क्योंकि दो गाल तक जीसस के साथ चला, तीसरा कोई गाल नहीं है। अब तीसरा गाल तुम्हारे पास है। उस आदमी ने कहा, अब तीसरा गाल तुम्हारे पास है। मेरे दोनों गाल चुक गए, अब तुम्हारे गाल पर ही चांटा पड़ सकता है। एक वक्त है जब तीसरा गाल आ जाता है।
उसमें कृष्ण नहीं चुक जाते। हमें ऐसा ही लगेगा, क्योंकि हम चुक जाते हैं जल्दी। उसमें कृष्ण नहीं चुक जाते। लेकिन सब चीजों की सीमाएं हैं और सीमाओं के आगे चीजों को सहे जाना खतरनाक है, अधर्म है। सीमाओं के आगे चीजों को सहे जाना बुराई को प्रोत्साहन है। अगर मैं सहिष्णु हूं, तो इसीलिए तो हूं न कि असहिष्णुता बुरी है। और तो कोई कारण नहीं है। सहिष्णु होने का यही तो अर्थ है कि असहिष्णुता बुरी है। लेकिन मैं तो बुरा होने से बच जाऊं और दूसरे को बुरा होते ही जाने दूं, यह दूसरे पर दया न हुई। यह दूसरे से अति कठोरता हो गई। एक जगह दूसरे को भी बुरा होने से रोकना ही पड़ेगा। ऐसा मैं देखता हूं।
कृष्ण के पूरे व्यक्तित्व को देखकर ऐसा लगता है कि उनकी सहिष्णुता को चुकाना बहुत मुश्किल है। लेकिन ऐसा भी लगता है कि बुराई को प्रोत्साहन देना उनके लिए असंभव है। इन दोनों के बीच कहीं उन्हें 'गोल्डन मीन' खोजनी पड़ती है, कहीं उन्हें 'स्वर्ण-नियम' खोजना पड़ता है जहां से आगे चीजें बदल जाती हैं।

'कृष्ण को क्या आप अपहरण-भूषण नहीं कहेंगे? खुद ने तो रुक्मिणी का अपहरण किया ही था, अर्जुन को भी बहन सुभद्रा का अपहरण करने को लालायित करते हैं।'

* असल में समाज की व्यवस्थायें जब बदल जाती हैं, तो बहुत-सी बेतुकी हो जाती हैं। एक युग था जब किसी स्त्री का अपहरण न किया जाए, तो उसका एक ही मतलब था कि उस स्त्री को किसी ने भी नहीं चाहा। एक युग था कि जब किसी स्त्री का अपहरण न किया जाए, तो उसका मतलब था कि उसकी कुरूपता सुनिश्चित है। एक युग था जब सौंदर्य का सम्मान अपहरण था। और अब वह युग नहीं है। लेकिन आज भी अगर यूनिवर्सिटी कैंपस में किसी लड़की को कोई भी धक्का नहीं मारता तो उसके दुख का कोई अंत नहीं है। कोई अंत नहीं है उसके दुख का। और जब कोई लड़की आकर दुख प्रगट करती है कि उसे बहुत धक्के मारे जा रहे हैं तब उसके चेहरे को गौर से देखें, उसके रस का कोई अंत नहीं है। स्त्री चाहती रही है कोई अपहरण करने वाला उसे मिले। कोई उसे इतना चाहे कि चुराना मजबूरी, जरूरी हो जाए। कोई उसे इतना चाहे कि मांगेंगे नहीं, चुराने को तैयार हो जाए।
तो कृष्ण जिस युग में थे उस युग को समझेंगे तब यह बात खयाल में आ सकती है। और मैं मानता हूं कि यह हिम्मतवर युग था। यह भी कोई बात कि पंचांग और

पत्रा को दिखाकर कोई विवाह कर ले! लेकिन कृष्ण जब किसी को उत्प्रेरित भी क र रहे हैं अपहरण के लिए, तो इसीलिए कि वह कहते हैं कि प्रेम इतनी बड़ी चीज है कि अगर वह है, तो अपहरण भी किया जा सकता है, दांव लगाया जा सकता है । और प्रेम कोई नियम नहीं मानता। और युग था वह जो प्रेम का युग था। जिस दि न नियम शुरू हो जाते हैं, उसी दिन मानना चाहिए कि प्रेम की शक्ति शिथिल हो गई है। अब प्रेम बहुत चुनौतियां नहीं लेता, दांव नहीं लगाता। उस युग के पूरे-के-पू रे ढांचे को समझेंगे तो खयाल में आएगा। यह कृष्ण किसी विशेष युग में पैदा हुए हैं । उस युग की व्यवस्था का हमें खयाल नहीं है। हमारे युग की व्यवस्था को हम उन पर थोपने जाएंगे तो वह कई बार अनैतिक मालूम पड़ने लगेंगे। लेकिन मुझे भी ल गता है कि शौर्य के युग, जब जिंदगी में तेज होता है और जब जिंदगी में शान होत ी है, तो चुनौती के और दांव के युग होते हैं। शिथिल और मरे हुए समाज, जब ि जदगी में सब चुनौती खो जाती है और सब ढीला-ढाला होता है, और तरह की नीि तयां बनाते हैं जो मुर्दा नीतियां होती हैं। न, मैं तो कहूंगा कि कृष्ण अगर अपहरण करके न लाएं किसी स्त्री का और उसी स्त्री के बगैर खबर भेजें, उसके पिता के हा थ-पैर पड़ें और सब उपाय करें, तो उस स्त्री का अपमान होगा, उस युग में अपमान होगा। वह स्त्री इसे पसंद नहीं करती। वह कहती कि इतनी भी हिम्मत नहीं है मु झे चुरा सको, तो छोड़ो यह बात!

हमें खयाल नहीं है कि आज भी—युग तो बदल जाते हैं, लेकिन कुछ ढांचे चलते च ले जाते हैं—आज भी जिसे हम बरात कहते हैं, किसी दिन वे प्रेमी के साथ गए हुए सैनिक थे। और जिसे आज हम दूल्हा को घोड़ा पर बिठाते हैं, दूल्हे को—दूल्हे को घोड़े पर बिठाना बिलकुल बेमानी है, कोई मतलब नहीं है—और एक छुरी भी लटका देते हैं उसके बगल में, वह कभी तलवार थी और कभी वह घोड़ा किसी को चुराने गया था और कुछ साथी थे उसके जो उसके साथ गए थे, वह बरात थी। और आ ज भी आपको पता होगा कि जब बरात आती है तो लड़की के घरवाली स्त्रियां गाि लयां देना शुरू करती हैं। कभी सोचा कि वे गालियां क्यों देती हैं? वह जिसके घर की लड़की चुराई जा रही होगी, उसकी दी गई गालियां होंगी। लेकिन अब काहे के लिए गालियां दे रही हैं, वह खुद ही इंतजाम किए हैं सब। आज की लड़की का पि ता झुकता है, आज भी। अब कोई कारण नहीं है लड़की के पिता के झुकने का। क भी उसे झुकना पड़ा था। कभी जो उसे छीनकर ले जाता था, जो विजेता होता था, उसके सामने झुक जाना पड़ा था। वह कभी के नियम थे, जो अब भी सरकते हुए मुर्दा हालत में चलते चले जाते हैं।

'भगवान श्री, एक बार कृष्ण इंद्रप्रस्थ से द्वारका जाते थे तब कुंता मिली, कुंता ने कहा, 'विपद संतु नश्वस तत्र जगत्गुरु'। यानी यह गूंजने वाली कुंता कृष्ण के पास कष्ट की याचना करती थी, ताकि कृष्ण कष्ट-दर्शन करा सकें। मगर आनंदवादी कृष ण हंसते हैं, समझाते भी नहीं कि कष्ट-याचना ठीक नहीं। उसका क्या तात्पर्य है?'

* भक्त का भगवान से कष्ट के लिए प्रार्थना करना बड़ा अर्थपूर्ण है। दो-तीन कारण ों से। एक तो भगवान से सुख की प्रार्थना करना कुछ स्वार्थपूर्ण मालूम पड़ता है। औ र जो भगवान से सुख की प्रार्थना करता है, वह भगवान से प्रार्थना नहीं करता, सुख के लिए ही प्रार्थना करता है। अगर भगवान के बिना उसे सुख मिल जाए तो भगव ान को छोड़कर सुख की तरफ जाएगा। चूंकि भगवान से मिल सकता है, इसलिए भ गवान के पास भी जाता है। लेकिन भगवान का उपयोग वह साधन की तरह करता है, साध्य तो सुख है। इसलिए भक्त का मन सुख की प्रार्थना नहीं करेगा। नहीं करे गा इसी कारण कि वह भगवान से ऊपर किसी चीज को रखना न चाहेगा।
और जब वह दुख की प्रार्थना करता है तो वह दो-तीन बातों की घोषणाएं करता है । वह कहता है कि तुम्हारे द्वारा दिया गया दुख भी और कहीं से मिले सुख से बड़ा है। तुम्हारा दुख भी चुन लेंगे, और कोई सुख न चुनेंगे। अब इस आदमी का भगवा न से जाने का कोई उपाय न रहा। क्योंकि आदमी वहीं से हटता है जहां सुख होता है। और वहां के लिए हटता है जहां सुख होता है। जिस भक्त ने सुख मांगा है वह भगवान से हट सकता है। लेकिन जिस भक्त ने दुख मांगा है, अब उसके हटने का उपाय क्या रहा? अब वह भगवान से हट नहीं सकता।
इसलिए बड़ी गहरी मांग है यह कि हमें दुख ही दे दो। हमें वही दे दो जिससे लोग हट जाते हैं। हम वही मांगने तुम्हारे पास आते हैं।
और दूसरी भी मजे की बात है कि भगवान से दुख मांगा जा सकता है, क्योंकि भग वान से दुख मिलता नहीं। उससे तो जो भी मिलता है, वह सुख ही है। जब उससे सुख ही मिलता है तो हम नाहक सुख के भिखारी क्यों बनें? जिससे सुख मिलने की संभावना न हो, उससे सुख मांगा जाना चाहिए। जिससे सुख ही मिलता हो, जिससे जो मिलता हो वह सुख ही होता हो, उससे हम दुख ही क्यों न मांग लें। इसमें भक त बड़ी चालाकी कर रहा है। इसमें वह भगवान को भी एक धोखा दे रहा है। वह यह कह रहा है कि सुख हम न मांगेंगे, क्योंकि तुम जो देते हो वह सुख ही है। हम तुमसे दुख ही मांग लेते हैं। ऐसे वह भगवान को थोड़ी दिक्कत में भी डाल रहा है। और जहां प्रेम है, वहां थोड़ी दिक्कत में डालने का मन स्वाभाविक है। यानी वह कह रहा है, दो तो दुख दो, देखें कैसे समर्थ हो, देखें कैसे सर्वशक्तिमान हो! उसने एक जगह पकड़ ली है जहां वह तुमको सिद्ध कर देगा कि सर्वशक्तिमान तुम नहीं हो, क्योंकि दुख तुम नहीं दे सकते हो।
और भी कुछ कारण हैं, जो बहुत मनोवैज्ञानिक हैं। सुख क्षण भर का होता है। आत ा है, चला जाता है। दुख में लंबाई है। सुख में लंबाई नहीं होती। दुख में लंबाई होग ी। आता है तो जाने का नाम लेता मालूम नहीं पड़ता। सुख आता है तो आ भी नह ीं पाता और चला जाता है। सुख में गहराई भी नहीं होती। सुख बहुत उथला होता है। इसलिए जो लोग, जिन्हें हम साधारणतः सुखी कहते हैं, हमेशा 'शैलो' हो जाते हैं, उथले हो जाते हैं। उनकी जिंदगी में कुछ गहरा नहीं रह जाता, ऊपर-ऊपर हो

जाता है। दुख बहुत गहराई रखता है, उसकी बड़ी 'डेप्थ' है। इसलिए दुख गहराई दे जाता है। इसलिए जो लोग दुख से गुजरते हैं, उनकी आंखों में, उनके चेहरों में, उनकी जिंदगी में एक गहराई होती है, जो साधारणतः सुखी आदमी की जिंदगी में नहीं होती। दुख दुख ही नहीं देता, मांजता भी है। दुख दुख ही नहीं देता, निखारता भी है। दुख दुख ही नहीं देता, गहरा भी कर जाता है। दुख में बड़ी गहराई है। सुख में बिलकुल गहराई नहीं है—न कोई लंबाई है, न कोई गहराई है। अगर भगवान से कुछ मांगना ही है, तो सुख नहीं मांगा जा सकता। ऐसी चीज जिसमें न कोई गहराई है और न कोई लंबाई है, जो यूकलिड के बिंदु की भांति है, सुख। यूकलिड कहता है, बिंदु की परिभाषा में, 'प्वाइंट' की परिभाषा में कि न कोई 'लेंग्थ', न कोई 'ब्रेथ', जिसमें न कोई लंबाई, न कोई चौड़ाई, ऐसी चीज बिंदु है। सुख यूकलिड का बिंदु है। यूकलिड का बिंदु भी कहीं होता नहीं। जब हम खींचते हैं कागज पर, तो उसमें लंबाई-चौड़ाई हो जाती है। सुख भी नहीं होता कहीं, जब हम खींचते हैं तब पता चलता है कि नहीं है। जब तक नहीं खिंचा, तब तक है। सुख यूकलिड का बिंदु है।

भक्त मांगता है, दुख दे दो; जिसमें गहराई हो, जिसमें लंबाई हो, वे दे दो। जो रहे, जो टिके, जो हो, जो मेरे भीतर चला जाए और फैल जाए, जो मेरे साथ रहे, वह दे दो। जो आए तो जाने का नाम न ले, वे दे दो। दुख मांगकर वह यह सब कह रहा है कि जो आए वह जाए न, वे दे दो। जो आए तो मेरे प्राणों की गहराई तक डूब जाए, वे दे दो। जो आए तो मैं उथला न रह जाऊं, लंबा और गहरा हो जाऊं, वह दे दो। इस दुख शब्द में वह यह सब कह रहा है।

और फिर, आखिरी बात, जिन्हें हम प्रेम करते हैं, उनके दुख का भी आनंद है। और जिन्हें हम प्रेम नहीं करते हैं, उनसे मिले सुख में भी कोई आनंद नहीं है। दुख का अपना आनंद है, यह कभी खयाल में आया आपको? पीड़ा का अपना सुख है, पीड़ा का अपना रस है, 'मैसोचिस्ट' नहीं। एक आदमी हुआ मैसोच, वह अपने को कोड़े मार कर सताता। तो ऐसे आदमी जो अपने को सताते हैं, 'सेल्फ टार्चर' में लगते हैं, ये 'मैसोचिस्ट' हैं। ये कहते हैं कि हमें अपने को सताने में सुख मिलता है। गांधी को 'मैसोचिस्ट' में गिना जा सकता है। यह जो भक्त कह रहा है कि दुख दे दो, यह किसी और दुख की बात कर रहा है, यह उस दुख की नहीं जो 'सेल्फ टार्चर' है, जो अपने को सताना है, उस दुख की नहीं। उस दुख की मांग कर रहा है जो प्रेम की पीड़ा जिसे हम कहें। प्रेम की बड़ी गहरी पीड़ा है। और इतना दुख भी नहीं सताता, जितना प्रेम की पीड़ा रोयें-रोयें और पोर-पोर में भर जाती है। सब तरफ से टूट जाता है। दुख तोड़ नहीं पाता, प्रेम तोड़ देता है। दुख मिटा नहीं पाता, प्रेम मिटा देता है। दुख में तो आप पीछे बच जाते हैं, प्रेम में आप बचते ही नहीं, खो जाते हैं और विदा हो जाते हैं। ऐसा दुख दे दो जिसमें भक्त मिट ही जाए, जिसमें वह बचे ही न। ऐसी मृत्यु दे दो जिसमें वह खो ही जाए, बचे ही न। इस अर्थ में। और इसीलिए कृष्ण समझाते नहीं, हंस कर रह जाते हैं। कुछ चीजें हैं जो हंसने से ही

समझाई जा सकती हैं। जिनको समझाने से नासमझी पैदा हो जाती है। इसलिए हंस कर चुप रह जाते हैं, वे कुछ समझाने नहीं जाते। वे समझ जाते हैं राज को कि मांगने वाला बहुत तरकीब की बात कर रहा है। मांगने वाला बहुत चालाकी की बात कर रहा है। मांगने वाला उनको बहुत झंझट में डाल रहा है। इसलिए हंसकर चुप रह जाते हैं, उसमें समझाने को कुछ है नहीं।

'भगवान श्री, एक विरोध पैदा हो जाता है। जैसा आपने कृष्ण के संबंध में बंबई में भी कहा और यहां भी विषय-प्रवेश के मौके पर कहा कि कृष्ण का जीवन अलौकिक, चमत्कारिक, हंसता हुआ, खेलता हुआ, फूलों की तरफ खिलता हुआ जीवन रहा है। बाकी जितने भी दूसरे लोग हुए उनका जीवन दुखवादी जीवन रहा। जैसे, ईसा को कभी किसी ने जीवन में हंसते हुए नहीं देखा। तो भक्त अगर दुख मांगता है, उदास रहता है, कभी हंसता नहीं है, तो फिर कृष्ण के उस अलौकिक दर्शन की पूर्ति कैसे होती है, यह बात मैं आपसे जानना चाहूंगा।'

* जो भक्त दुख मांगता है, वह दुखवादी नहीं है। क्योंकि दुखवादी तो इतने दुख पैदा कर लेता है कि किसी से मांगने की कोई जरूरत नहीं है। दुखवादी किसी से दुख मांगने जाता है? दुखवादी तो इतने दुख में रहता है कि अब आप उसको और ज्यादा दे नहीं सकते।

भक्त इसलिए दुख मांग लेता है कि सुख तो वह खूब पा रहा है, दुख को भी चखना चाहता है, जिसका परिवार अपरिचय है। भक्त कभी भी दुखी नहीं है और भक्त अगर रोता भी है तो उसके आंसू आनंद के ही आंसू हैं। भक्त रोता है बहुत, लेकिन उसके आंसू दुख के आंसू नहीं हैं। लेकिन हमें बहुत भूल हो जाती है, क्योंकि हम सिर्फ दुख में ही रोए हैं, हम कभी आनंद में नहीं रोए हैं। इसलिए आंसुओं के साथ हमने दुख की अनिवार्यता बांध ली है। लेकिन आंसुओं का कोई संबंध दुख से नहीं है। आंसुओं का संबंध 'ओवरफ्लोइंग' से है। मन का कोई भी भाव मन की सीमा के पार हो जाए तो आंसुओं में बहना शुरू हो जाता है, कोई भी भाव। दुख ज्यादा हो जाए तो आंसुओं में बहता है, सुख ज्यादा हो जाए तो आंसुओं में बहता है, प्रेम ज्यादा हो जाए तो आंसुओं में बहता है, क्रोध ज्यादा हो जाए तो आंसुओं में बहता है। लेकिन चूंकि हमने दुख के ही आंसू देखे हैं—वही ज्यादा हुआ है, आनंद कभी इतना ज्यादा हुआ नहीं कि आंसुओं में बह जाए, इसलिए हमने आंसुओं का 'एसोसिएशन' दुख से बना रखा है। दुख का आंसुओं से कोई संबंध नहीं है, आंसुओं का संबंध 'ओवरफ्लोइंग' से है। जो हमारे भीतर ज्यादा हो जाता है, वह आंसुओं से बह जाता है।

भक्त भी रोता है, प्रेमी भी रोता है, आनंद में ही रोता है। और यह जो आनंद की पीड़ा है, यह जो आनंद का दंश है, यह जो आनंद के कांटे की चुभन है, यह जो आनंद के आंसू हैं, इनका दुखवाद से कोई भी संबंध नहीं है।

'आपने भक्त और भगवान की बात कही, और कृष्ण को भगवान कहा, तो मुझे प्रश्न याद आया कि क्या कृष्ण भक्त थे? थे तो किसके भक्त थे? अगर नहीं थे तो फिर भक्ति की इतनी महिमा क्यों गाई?'

* इस संबंध में थोड़ी-सी बात पीछे हुई है, लेकिन हमें समझ में नहीं आती है, इसलिए फिर दूसरी तरह से लौट आती है। मैंने प्रार्थना के संबंध में जो कहा, वह थोड़ा खयाल में लेंगे तो समझ में आ जाएगा। जैसा मैंने कहा कि 'प्रेयर' नहीं, 'प्रेयरफुलनेस'। ऐसा भक्ति का मतलब किसी की भक्ति नहीं होती, भक्ति का मतलब है, 'डिवोशनल एटिट्यूड'। भक्ति का मतलब है, भक्त का भाव। उसके लिए भगवान होना जरूरी नहीं है। भक्ति भगवान के बिना हो सकती है। सच तो यह है कि भगवान कहीं भी नहीं है, भक्ति के कारण पैदा हुआ है। भगवान के कारण भक्ति है, ऐसा नहीं, भक्त के कारण भगवान दिखाई पड़ना शुरू हुआ है। जिन लोगों का हृदय भक्ति से भरा है, उन्हें यह जगत भगवान हो जाता है। जिनका हृदय भक्ति से नहीं भरा है, वे पूछते हैं भगवान कहां है? वे पूछेंगे। और उन्हें बताया नहीं जा सकता, क्योंकि वह भक्त के हृदय से देखा गया जगत है। वह भक्ति के मार्ग से देखा गया जगत है।

जगत भगवान नहीं है, भक्तिपूर्ण हृदय जगत को भगवान की तरह देख पाता है। जगत पत्थर भी नहीं है, पत्थर की तरह हृदय जगत को पत्थर की तरह देख पाता है। जगत में जो हम देख रहे हैं, वह 'प्रोजेक्शन' है, वह हमारे भीतर जो है उसका प्रतिफलन है। जगत में हमें वही दिखाई पड़ता है, जो हम हैं। अगर भीतर भक्ति का भाव गहरा हुआ, तो जगत भगवान हो जाता है। फिर ऐसा नहीं है कि भगवान कहीं बैठा होता है किसी मंदिर में, फिर जो होता है वह भगवान ही होता है।

कृष्ण भक्त हैं, और भगवान भी हैं। और जो भी भक्ति से प्रवेश करेगा, वह भक्त से शुरू होगा और भगवान पर पूरा हो जाएगा। एक दिन जब वह बाहर भगवान को देख लेगा, तो उसने खुद ऐसा क्या कसूर किया है कि उसे भीतर भगवान नहीं दिखाई पड़ेंगे। भक्त शुरू होता है भक्त की तरह, पूरा होता है भगवान की तरह। यात्रा शुरू करता है जगत को देखने की और देखता है उसे जो जगत में है, भक्तिपूर्ण हृदय से, 'डिवोशनल माइंड' से 'प्रेयरफुल', भक्तिपूर्ण, भावपूर्ण, प्रार्थनापूर्ण, मन से देखता है जगत को। फिर धीरे-धीरे अपने को भी उसी तरह देख पाता है, कोई उपाय नहीं रह जाता है। फिर ऐसा भी हो जाता है, जैसा रामकृष्ण को एक बार हुआ। बहुत मजे की घटना है।

रामकृष्ण को एक मंदिर में पुरोहित की तरह रखा गया था, दक्षिणेश्वर में। बहुत सस्ती नौकरी थी, शायद सोलह रुपये महीने की नौकरी थी। पुजारी की तरह रखा था उनको, लेकिन दस-पांच दिन में ही तकलीफ शुरू हो गई, क्योंकि ट्रस्टियों को खबर मिली कि यह आदमी तो ठीक नहीं मालूम होता। भगवान को जो भोग लगाता है

, पहले खुद चख लेता है। और भगवान पर जो फूल चढ़ाता है, सूंघ लेता है। तो ि
छपकर ट्रस्टियों ने आकर देखा मंदिर में कि मामला क्या है? देखा कि बड़े भाव से
रामकृष्ण नाचते हुए भीतर आए, भोग पहले खुद को लगाया, फिर भगवान को लग
ाया; फूल पहले सूंघे, फिर भगवान को सुंघाए, ट्रस्टियों ने उनको पकड़ लिया और
कहा, यह क्या कर रहे हो? यह कोई ढंग है भक्ति का? रामकृष्ण ने कहा—भक्ति
का ढंग होता है, यह कभी सुना नहीं। भक्त देखे हैं, भक्त सुने हैं, भक्ति का कोई
ढंग होता है! कोई ढांचा, कोई 'डिसिप्लिन' होती है? उन्होंने कहा, निकाल बाहर
करेंगे। कहीं सूंघा हुआ फूल भगवान को चढ़ाया जा सकता है? रामकृष्ण ने कहा, ि
बना सूंघे चढ़ा कैसे सकता हूं? पता नहीं सुगंध हो भी या न हो। ट्रस्टियों ने कहा, ि
बना भगवान को प्रसाद लगाए तुम खुद कैसे खा लेते हो? रामकृष्ण ने कहा, मेरी
मां मुझे खिलाती थी तो पहले चख लेती थी। मैं बिना चखे नहीं चढ़ा सकता। नौकर
ी तुम सम्हालो। अन्यथा मुझे यहां रखना है, तो मैं चखूंगा, फिर चढ़ाऊंगा। पता नहीं
खाने योग्य हो भी या न हो!

अब यह जो आदमी है, यह आदमी बाहरी भगवान को कैसे देख पाएगा? बहुत जल
दी वह वक्त आ जाएगा, यह कहेगा कि भीतर भी भगवान है। तो भक्त से तो शुरू
होती है यात्रा, भगवान पर पूरी होती है। ऐसा नहीं है कि बाहर कहीं किसी भगवा
न पर पूरी होती है, अंततः सारी दुनिया की यात्रा करके हम अपने पर लौट आते
हैं और पाते हैं: जिसे तुम खोजने गए थे वह घर में बैठा हुआ है।

कृष्ण दोनों हैं। तुम भी दोनों हो, सभी दोनों हैं। लेकिन भगवान से शुरू नहीं कर स
कते हो तुम। भक्त से ही शुरू करना पड़ेगा। क्योंकि अगर तुमने यह कहा कि मैं भ
गवान हूं, तो खतरा है। ऐसे कई लोग खतरा पैदा करते हैं, जो भगवान से ही शुरू
कर देते हैं, वे कहते हैं: मैं भगवान हूं। उनके भीतर भक्ति का तो कोई भाव हो
ता नहीं, इसलिए भगवान की घोषणा तो कर देते हैं, तब ऐसे लोग अहंकेंद्रित होक
र हैं; 'इगोसेंट्रिक' होकर दूसरों को भक्त बनाने की कोशिश में लग जाते हैं। क्योंकि
उनके भगवान के लिए भक्तों की जरूरत है। पर वे दूसरे में भगवान नहीं देख पाते
। अपने में भगवान देखते हैं, दूसरे में भक्त देखते हैं। ऐसे 'गुरुडम' के बहुत घेरे हैं
सारी दुनिया में। यात्रा शुरू करनी पड़ेगी भक्ति से।

अब कृष्ण को भगवान माना जा सकता है, क्योंकि यह आदमी घोड़े तक की भक्ति
कर सकता है। सांझ को जब घोड़े थक जाते हैं तो उन्हें ले जाता है नदी पर स्नान
कराने। उनको नहलाता है, उनको खुर से साफ करता है। यह आदमी भगवान होने
की हैसियत रखता है। क्योंकि घोड़े को भी भगवान की तरह स्नान करवा सकता है
। इस आदमी में डर नहीं है, इससे खतरा नहीं है। यह अगर भगवान की अकड़ वा
ला आदमी होता तो सारथी की जगह बैठ नहीं सकता। अर्जुन से कहता, बैठो नीचे,
बैठने दो ऊपर! रहा मैं भगवान, तुम हो भक्त! भगवान बैठेंगे रथ में, भक्त चलाए
गा। जो अपने को भगवान घोषित करते हैं, जरा उन्हें तख्त के नीचे बिठालकर आप
तख्त पर बैठकर देखिए, तब पता चलेगा!

भक्त से शुरू होगी यात्रा, भगवान पर पूरी होती है।

'हमारी कृष्ण-प्रेम की चरम सीमा की कसौटी क्या होगी?'

* जैसा मैंने कहा, भक्ति का कोई ढंग नहीं होता, प्रेम की कोई कसौटी नहीं होती। प्रेम हो तो काफी है, कसौटी की क्यों फिकिर करते हैं। प्रेम नहीं होता तो आदमी कसौटी की फिकिर करता है। आप प्रेम की फिकिर करें। कसौटी की क्या जरूरत है ? प्रेम नहीं है, इसलिए सोचते हैं कि कसौटी मिल जाए तो जांच कर लें। लेकिन न हीं है तो जांच करने की जरूरत क्या है? पता है कि नहीं है। प्रेम है, इसकी फिकि र करें। और जब प्रेम होता है तो सच्चा ही होता है, झूठा कोई प्रेम होता नहीं। झूठ ा प्रेम गलत शब्द है। या तो होता है, या नहीं होता है। इसलिए कसौटी की कोई ज रूरत नहीं है। हां, सोने को जांचने के लिए कसौटी की जरूरत पड़ती है, क्योंकि ग लत सोना होता है। प्रेम तो झूठा होता ही नहीं। होता है, या नहीं होता। और जब होता है तब आप उसी भांति जानते हैं जैसा पैर में कांटा गड़ा है तब जानते हैं। क्य ा कसौटी होगी? पैर में कांटा गड़ता है, पैर में दर्द हो रहा है, क्या कसौटी है कि दर्द हो रहा है कि नहीं हो रहा है? आपको तो पता ही होगा कि दर्द हो रहा है या नहीं हो रहा है। हां, अगर दूसरा कोई कहता हो कि क्या कसौटी है, तो उसके पैर में भी कांटा गड़ाने के सिवाय और क्या उपाय है? उसके पैर में भी एक कांटा गड़ ा दें और कहें कि देखो हो रहा है कि नहीं हो रहा है? प्रेम जब घटित होता है तो हम जानते हैं उसी तरह, जैसे हम और सब जानते हैं। जब प्रेम घटित नहीं होता है तब भी हम जानते हैं कि पैर में कांटा नहीं है। अपने भीतर देखें, पहचानने में क ठिनाई न आएगी। जान सकेंगे कि मेरी जिंदगी में प्रेम है या नहीं है। नहीं है, तो क सौटी का क्या करियेगा? है, तो कसौटी बेकार है। कसौटी का कोई संबंध नहीं है। प्रेम की फिक्र करें, है या नहीं।

लेकिन हम डरते हैं फिक्र करने से। भीतर झांकने से डरते हैं, क्योंकि हमें भलीभांति पता है कि प्रेम नहीं है। इसलिए हम भीतर देखते ही नहीं। इसलिए अक्सर दूसरे ि क फिक्र करते हैं कि दूसरे का प्रेम मेरी तरफ है या नहीं? शायद ही कोई कभी पू छता हो कि मेरा प्रेम दूसरे की तरफ है या नहीं। इसलिए लड़ते हैं दिन-रात कि दू सरा कम प्रेम करता है, पति कम प्रेम करता है, पत्नी कम प्रेम करती है, बेटा कम प्रेम करता है, बाप कम प्रेम करता है, सब लड़ रहे दूसरे से कि दूसरा कम प्रेम क रता है। और कोई भी यह नहीं पूछता कि मैंने प्रेम किया है? और जब हम जीवित चारों तरफ फैले हुए व्यक्तियों को भी प्रेम नहीं कर पाते हैं, जब हम दिखाई पड़ने वाले फूलों को नहीं प्रेम नहीं कर पाते, जब चारों ओर खड़े हुए पर्वतों को प्रेम नह ीं कर पाते हैं, आकाश के चांद-तारों को प्रेम नहीं कर पाते हैं, तो हम अदृश्य को कैसे प्रेम कर पाएंगे? इस दृश्य से शुरू करें।

और बड़े मजे की बात है कि जो आदमी दृश्य को प्रेम करता है, वह दृश्य के भीत र तत्काल अदृश्य को अनुभव करने लगता है। पत्थर को प्रेम करें और पत्थर परमा त्मा हो जाता है। फूल को प्रेम करें और अदृश्य फूल की प्राण-ऊर्जा दिखाई पड़नी शु रू हो जाती है। व्यक्ति को प्रेम करें और तत्काल शरीर मिट जाता है और आत्मा शुरू हो जाती है। प्रेम कीमिया है अदृश्य को खोजने का। प्रेम रासायनिक विधि है, रासायनिक दृश्य है, रासायनिक झरोखा है अदृश्य को खोज लेने का। प्रेम की फिक्र करें, फिर कभी फिक्र नहीं करनी पड़ेगी किस कसौटी पर तौलें। और यह बात कभी मत पूछें कि प्रेम की चरम अवस्था क्या है? प्रेम जब भी होता है, चरम ही होता है। प्रेम की दूसरी कोई अवस्था होती ही नहीं। प्रेम की 'डिग्रीज' नहीं होतीं।
यह थोड़ा समझ लेना उचित होगा।
ऐसा नहीं होता कि मैं कहूं कि मुझे आपसे थोड़ा-थोड़ा प्रेम है। यह होता ही नहीं। थोड़ा-थोड़ा प्रेम का कोई मतलब होता है? मैं कहूं कि जरा अभी आपसे थोड़ा कम प्रेम है। ऐसा नहीं होता। जैसे कोई आदमी दो पैसे की चोरी करे और कोई आदमी दो लाख की चोरी करे, तो दो लाख की चोरी बड़ी चोरी है और दो पैसे की चोरी छोटी चोरी है, ऐसा कहिएगा? हां, जो लोग पैसे का हिसाब रखते हैं वे कहेंगे कि दो लाख की चोरी बड़ी चोरी होगी और दो पैसे की चोरी छोटी हुई। लेकिन चोरी छोटी और बड़ी हो सकती है! चोरी तो सिर्फ चोरी है। चोरी में कोई 'डिग्रीज' नहीं होतीं, कम और ज्यादा नहीं होतीं। दो पैसे चुराते वक्त आदमी उतना ही चोर हो ता है जितना दो लाख चुराते वक्त होता है।
प्रेम न दो पैसे का होता है, न दो लाख का होता है, बस होता है। चरम कोई अवस् था नहीं होती, प्रेम चरम ही होता है। प्रेम जो है वह 'क्लाइमेक्स' ही है। वह हमेशा सौ डिग्री पर ही होता है। जैसे कि पानी गरम होता है तो ऐसा नहीं होता है कि नब्बे डिग्री पर थोड़ा-सा भाप हो, फिर, और पंचान्नबे डिग्री पर थोड़ा ज्यादा भाप हो जाए। नहीं, सौ डिग्री पर ही भाप होता है। सौ डिग्री पर बस एकदम भाप होने ल गता है। तो अगर कोई पूछे कि भाप बनने का चरम बिंदु क्या है? तो हम कहेंगे, जो प्रथम बिंदु है, वही चरम भी है। जो पहला बिंदु है, वही आखिरी भी। सौ डिग्री पहला है और सौ डिग्री आखिरी है। प्रेम भी प्रथम और अंतिम एक ही है, 'द फर्स्ट एंड द लास्ट'। प्रेम में कोई अंतर नहीं है। प्रेम चरम ही है। उसका पहला कदम ही आखिरी कदम है। उसकी मंजिल की पहली सीढ़ी ही मंदिर की आखिरी सीढ़ी है।
मगर हमें पता ही नहीं है, इसलिए हम अजीब सवाल पूछते हैं। अभी तक मैंने प्रेम के संबंध में ठीक सवाल किसी आदमी को पूछते नहीं देखा। मुझे खयाल आती है ए क घटना।
एक बहुत बड़ा करोड़पति मार्गन अपने एक विरोधी करोड़पति के साथ बातचीत कर रहा था। तो उसने अपने विरोधी करोड़पति से, जो उसका प्रतियोगी था, उससे उ सने कहा कि दुनिया में हजार ढंग हैं धन कमाने के, लेकिन ईमानदारी का ढंग एक ही है। उसके विरोधी ने कहा, वह कौन-सा ढंग है? मार्गन ने कहा, मैं जानता था

कि तुम पूछोगे, क्योंकि तुमको उसका पता नहीं है। मैं जानता था कि तुम पूछोगे क्योंकि तुम्हें उसका पता नहीं है!
ऐसा ही मामला प्रेम का है। प्रेम के बाबत हम ऐसे सवाल पूछते हैं जो कि बनता ह ी नहीं, जो कि होते ही नहीं, 'इर्रेलिवेंट'। क्योंकि मुझे पता है कि हम पूछेंगे, क्योंि क प्रेम भर एक चीज है जिसका हमें कोई पता नहीं है। उसके संबंध में हम गलत ही पूछ सकते हैं। और ध्यान रहे, जिसे उसका पता है वह ठीक नहीं पूछ सकता, क योंकि पूछने का कोई सवाल नहीं है, वह जानता है।

'भगवान श्री, महाभारत संग्राम में कृष्ण अर्जुन को युद्ध में प्रवृत्त करते हैं! मगर ए क दफा, ऐसा सुना जाता है, कि कृष्ण अर्जुन से संग्राम करने गए थे। वह क्या बात थी?'

* असल में कृष्ण जैसे व्यक्ति न तो किसी के मित्र हैं और न किसी के शत्रु हैं। कृष ण की कोई निश्चित धारणा किसी के बाबत नहीं है। इसलिए शत्रु मित्र हो सकता है, मित्र शत्रु हो सकता है। स्थितियां तय करेंगी। 'सिचुएशंस' तय करेंगी। हम और तरह से जीते हैं। हम किसी के मित्र होते हैं, किसी के शत्रु होते हैं। फिर परिस्थि तयां बदल जाती हैं तो बड़ी मुश्किल होती है। फिर भी हम मित्र और शत्रु को खीं चने की कोशिश करते हैं। कृष्ण कुछ भी खींचते नहीं। जैसी स्थिति हो। अगर अर्जुन भी लड़ने को सामने पड़ जाए, तो कृष्ण-अर्जुन युद्ध हो जाएगा। इसमें कोई अड़चन नहीं आएगी। उसी मौज से अर्जुन से भी लड़ लेंगे। जिस मौज से अर्जुन के लिए ल. डते हैं, उसी मौज से अर्जुन से भी लड़ा जा सकता है।
असल में कृष्ण मित्रता और शत्रुता को 'फिक्स्ड प्वाइंट' नहीं बनाते। वे कोई सुनिश्चित चीजें नहीं हैं, वे तरलताएं हैं। और जिंदगी की तरलता में कहां तय किया जा सकता है, कौन मित्र है और कौन शत्रु है? जो आज मित्र है, वह कल शत्रु हो सक ता है; जो आज शत्रु है, वह कल मित्र हो सकता है। इसलिए मित्र के साथ भी क ल की शत्रुता को ध्यान में रखकर चलना उचित है और शत्रु के साथ भी कल की मित्रता को ध्यान में रखकर व्यवहार करना उचित है। क्योंकि कल का कोई भरोसा नहीं। क्षण का कोई भरोसा नहीं। क्षण बदला और सब बदल जाएगा। जिंदगी पूरे वक्त बदलता हुआ 'पैटर्न' है। जैसे धूप पड़ रही है अभी, छायायें पड़ रही हैं जमीन पर। कहीं छाया है, कहीं धूप है। घड़ी भर बाद धूप कहीं और होगी, छाया कहीं और होगी। सब बदलता रहेगा। सांझ तक बैठे देखते रहें इस बगिया को, सब बदल ता रहेगा—धूप बदलेगी, छाया बदलेगी, बदलियां आएंगी-जाएंगी, दिन निकलेगा, सां झ होगी, रात होगी, प्रकाश होगा, अंधेरा हो जाएगा, यह सब होता रहेगा। पूरी जिं दगी भी इसी तरह बदलता हुआ 'पैटर्न' है। वहां कोई चीज शतरंज के खांचों की त रह तय नहीं है। वहां धूप-छाया की तरह सब बदलता हुआ है।

इसलिए हम कभी सोच भी नहीं सकते, हम कभी यह सोच नहीं सकते कि अर्जुन अ ौर कृष्ण कैसे आमने-सामने हो सकते हैं। कृष्ण मित्र के सामने भी हो सकते हैं, औ र ऐसे तो पूरा महाभारत ही बड़े मजे का है! उसमें सब मित्र आमने-सामने खड़े हैं! उसने, जिन द्रोण से सीखा है अर्जुन ने सब, उन्हीं पर तीर खींचे खड़ा है। जिन भी ष्म से पाया है बहुत कुछ, उन्हीं को मारने के लिए तत्पर है। महाभारत ऐसे बड़ा अदभुत है। वह बता रहा है कि जिंदगी में कुछ तय नहीं है, सब बदलता हुआ है। जो कल भाई थे, आज शत्रु हैं। जो कल मित्र थे, आज सामने खड़े हैं। जो कल गुरु थे, आज उनसे लड़ना पड़ रहा है। लेकिन इससे भी, इससे दोनों बातें साफ हैं। दि न भर लड़ते भी हैं, सांझ उनकी कुशल-क्षेम भी पूछ आते हैं। दिन भर लड़ते भी हैं । सांझ जाकर पूछ भी आते हैं कि किसी को चोट तो नहीं लग गई? जिनको दिनभ र चोट मारी, जिनसे दिनभर दिल खोलकर लड़े हैं—उस लड़ाई में कोई 'डिसऑनेस्टी ' नहीं है, लड़ाई बिलकुल 'ऑनेस्ट' है, लड़ाई बिलकुल ईमानदारी से भरी हुई है, उस लड़ाई में जरा धोखा नहीं है, अगर भीष्म सामने पड़ेंगे तो गर्दन उतारने में देर न की जाएगी—लेकिन सांझ को दुख मनाने में भी कोई बाधा नहीं है कि भीष्म जैसा आदमी खो गया। यह बहुत अजीब है! इससे यह सूचना मिलती है कि एक युग था , जब हम मित्रतापूर्ण ढंग से लड़ भी सकते थे। आज युग बिलकुल उलटा है, आज तो हम शत्रुतापूर्ण ढंग से मित्र ही हो पाते हैं। मित्रतापूर्ण ढंग से युद्ध भी हो सकता था, आज तो मित्रता भी शत्रुतापूर्ण ढंग से ही चलती है। आज तो मित्र भी प्रतियो गी है। तब शत्रु भी साथी था।

और जिंदगी के बड़े अर्थों में सोचने जैसा है। यह सोचने जैसा है कि अगर मेरा कोई शत्रु है, तो शत्रु के मरने के साथ मेरे भीतर भी कुछ मर जाता है। शत्रु ही नहीं मरता, मैं भी कुछ मरता हूं। शत्रु के होने के साथ मेरा होना भी है। मित्र के मरने के साथ ही मेरे भीतर से कुछ खोता हो, ऐसा नहीं है, शत्रु के खोने के साथ भी मे रे भीतर से कुछ खो जाता है। तो शत्रु भी मेरे व्यक्तित्व का हिस्सा है। इसलिए श त्रु के प्रति भी बहुत शत्रुतापूर्ण होने का अर्थ नहीं है। शत्रु भी किसी गहरे अर्थों में ि मत्र है। और मित्र भी किसी गहरे अर्थों में शत्रु है। क्यों? क्योंकि असल में जैसा कि मैं निरंतर इन पिछले दिनों में आपसे कहा हूं, जिंदगी में जिनको हम 'पोलेरिटीज' में बांटते हैं, ध्रुव बना देते हैं, वे हमारे शब्दों और सिद्धांतों में ही सत्य हैं। जिंदगी के सीधे गहराई में कोई 'पोलेरिटी' सत्य नहीं है, सब 'पोलेरिटीज' जुड़ी हुई हैं। उ त्तर और दक्षिण जुड़े हुए हैं। ऊपर और नीचे जुड़ा हुआ है।

ऐसा अगर हम देख पाएं, तो फिर कृष्ण का अर्जुन से युद्ध समझ में आ सकता है। ऐसे कृष्ण को समझाने वालों को नहीं समझ में आया है, बहुत मुश्किल पड़ी है, बहु त मुश्किल पड़ती रही है, क्योंकि जब भी हम समझाने जाते हैं तब हमारी धारणाएं बीच में खड़ी हो जाती हैं, और वे कहती हैं, यह भी क्या बात है, यह कैसी बात है, यह नहीं होनी चाहिए! हम मानते हैं कि मित्र को मित्र ही होना चाहिए, शत्रु को शत्रु ही होना चाहिए। हम जिंदगी को फांकों में बांटते हैं और उनको थिर कर

देते हैं। जिंदगी नदी की भांति तरल है। जो लहर यहां थी, वह लहर अब बहुत दूर है। जो लहर कल सांझ थी, आज बहुत दूर हट गई है। और इस पूरे जिंदगी के रास्ते पर कौन हमारे साथ है, यह क्षणभर की बात है! क्षणभर बाद साथ होगा कि नहीं होगा, नहीं कहा जा सकता। कौन आज विरोध में खड़ा है, क्षणभर बाद विरोध में खड़ा होगा, नहीं खड़ा होगा, नहीं कहा जा सकता। जो इस जिंदगी को नदी की धार की तरह जीते हैं, वे न शत्रु बनाते, न मित्र बनाते। जो शत्रु बन जाता है, उसे शत्रु मान लेते हैं, जो मित्र बन जाता है, उसे मित्र मान लेते हैं, वे कुछ बनाते नहीं, जिंदगी में से गुजरते हैं; जो भी जैसा बन जाता है, उसे वैसा ही मान लेते हैं। कृष्ण के लिए न कोई शत्रु है, न कोई मित्र है। समय, परिस्थिति, अवसर जिसको मित्रता के खेमे में ढकेल देता है, उसके मित्र हो जाते हैं; जिसको शत्रुता के खेमे में ढकेल देते हैं उसके शत्रु हो जाते हैं। फौजें कृष्ण की लड़ रही हैं कौरवों की तरफ से, कृष्ण लड़ रहे हैं पांडवों की तरफ से। विभाजन कर लिया है दोनों का, क्योंकि दोनों ही ऐसे कृष्ण को मित्र मानते थे। और दोनों ही साथ पहुंच गए थे। दोनों ही साथ पहुंच गए थे, और दोनों को खुली छूट दे दी थी—अब यह बड़े मजे की बात है—दोनों को छूट दे दी थी कि जो तुम्हें मांगना हो, क्योंकि दोनों ही साथ आ गए हो, दोनों ही अपने हो, तो एक तरफ से मैं लड़ लूंगा, एक तरफ से मेरी फौजें लड़ लेंगी।

'वह यह भी तो कह सकते थे कि दोनों मेरे मित्र हो, इसलिए मैं किसी की भी तरफ से नहीं लड़ूंगा?'

* ऐसा वह इसलिए नहीं कह सकते थे कि वह जो महाभारत की घटना घटने वाली थी, वह इतनी विराट थी कि उसमें कृष्ण का होना एकदम जरूरी था—उनके बिना शायद वह घट भी नहीं सकती थी। और मित्र से अगर वे कहते कि मैं दोनों के बाहर रहा जाता हूं, अगर वह भारतीय विदेश नीति अख्तियार करते 'न्यूट्रिलिटी' की, तटस्थता की और वे कहते मैं दोनों तरफ नहीं हूं, तो वह बेईमानी होती, क्योंकि जिंदगी में तटस्थता होती ही नहीं। उसमें किसी तरफ हम होते ही हैं। जिंदगी में तटस्थता होती ही नहीं। तटस्थता सिर्फ आंतरिक भाव हो सकती है, जिंदगी में होती नहीं है, जिंदगी में हम किसी तरफ होते ही हैं। इस तरह या उस तरफ। दिखावा हो सकता है तटस्थता का। दिखावा वे कर सकते थे। लेकिन दिखावे का कोई मतलब न था। और दोनों ही मित्र सहायता मांगने आए थे, तटस्थता मांगने नहीं आए थे। यह कहने आए थे कि हमें साथ दो। उत्तर साथ के लिए देना था। दोनों का साथ न देने का मतलब यह न होता कि दोनों के मित्र हैं, दोनों का साथ न देने का मतलब होता कि दोनों से कोई मतलब नहीं है, दोनों के मित्र नहीं हैं। तटस्थता का तभी मतलब होता है। तटस्थता का मतलब है, हम उदास हैं। उदासीन, हमें मतलब नहीं है कौन जीतता है, कौन हारता है। कोई प्रयोजन नहीं तुमसे।

कृष्ण निष्प्रयोजन नहीं हैं। कृष्ण मित्र दोनों के हैं, लेकिन चाहते यही हैं कि पांडव ज ीतें। जीतें इसलिए कि उन्हें लगता है कि पांडव धर्म के पक्ष में हैं और कौरव अधर्म के पक्ष में हैं। लेकिन मित्र दोनों के हैं--वे जो अधर्मी हैं, वे भी उनके प्रति मित्रतापू र्ण हैं। कृष्ण से उनकी कोई शत्रुता नहीं है। कृष्ण के प्रति उनका सद्भाव है। कृष्ण को वे भी चाहते हैं। और उस जमाने में बहुत सीधे, साफ-सुथरे हिसाब होते थे। स भी बंट जाते थे। छोटी लड़ाई होती तो सभी बंट जाते थे। साफ निर्णय हो जाता था । ज्यादा देर खींचने-तानने की जरूरत नहीं होती थी। 'पोलेरिटीज' साफ हो जाती थीं तो जल्दी निर्णय हो जाता था और निर्णायक हो जाता था।

तो कृष्ण उपेक्षा से नहीं भरे हैं, अपेक्षा उनकी है। उदासीन वे नहीं हैं, इसलिए तटस् थ नहीं हो सकते। दोनों बराबर नहीं हैं उन्हें, फिर भी दोनों की तरफ से मित्रता है। इसलिए बंटने को वे तैयार हैं। और इतना भी वे जानते हैं कि बंटवारा बहुत कुछ निर्णय करेगा, इसलिए बंटवारे का जो नियम उन्होंने चुना वह अदभुत है, बहुत ग णित का है। उन्होंने कहा यह कि एक तो मुझे चुन लो, मुझ अकेले को, और एक मेरी सारी फौजों को चुन लो। इस बंटवारे से कृष्ण को बहुत साफ हो गया कि धर्म का पक्ष किसका है। इससे बहुत साफ हो गया मामला। क्योंकि कृष्ण को अकेले को कौन चुनेगा? जो हारने की तैयारी रखते हैं, वही न! कृष्ण को अकेले को कौन चु नेगा? जिनका शक्ति पर भरोसा नहीं है, वही न! कृष्ण को अकेला कौन चुनेगा? ि जसको पौद्गलिक शक्ति पर नहीं, आत्मिक शक्ति का भरोसा है, वह कृष्ण को चुन लेगा। कौरव तो बड़े प्रसन्न हुए। डर गए थे बहुत, क्योंकि पहला चुनाव पांडवों को दिया गया था। क्योंकि पांडव बैठ गए हैं नीचे, पांडवों का प्रतिनिधि बैठ गया है पै रों में, कौरवों का प्रतिनिधि बैठ गया है कृष्ण के सिर के पास--वह सोए हैं। दोनों ग ए हैं, तो जाग आएं तब तक प्रतीक्षा करनी है। पांडवों का प्रतिनिधि बैठा है पैरों के पास। वह भी सूचक था। कौरवों का प्रतिनिधि बैठा है सिर के पास। पैर के पास कौरव कैसे बैठ सकते हैं! पैर के पास तो वही बैठ सकता है जो विनम्र हो।

ये सब बहुत छोटी-छोटी बातें बड़ी सूचक बन जाती हैं। हम जिंदगी में वही करते हैं , जो हम हैं। यह आकस्मिक नहीं है। यह इतनी-सी घटना भी कि कौरवों का बैठना सिर के पास, पांडवों का बैठना पैर के पास 'एक्सिडेंटल' नहीं है। इसलिए आंख स्व भावतः जो पैर के पास बैठे हैं, उन पर पहले पड़ी। इसलिए चुनाव का पहला मौका उन्हें दिया गया। निश्चित ही जो विनम्र हैं, वे पहले जीतेंगे। पहला मौका उनका हो गा। 'ब्लेसेड आर द मीक, दे शैल इनहेरिट द अर्थ', वह जो जीसस कहते हैं, धन्य हैं वे जो विनम्र हैं, क्योंकि पृथ्वी का राज्य उन्हीं का होगा। तो वे जो विनम्र थे उन के लिए पहला मौका था कि तुम चुनाव कर लो। कौरव तो बहुत डरे और घबड़ाए कि यह तो बड़ी मुश्किल हो गई, क्योंकि उन्होंने पक्का समझा कि कौन चुनेगा कृष् ण को! फौजें हैं विराट की, वे ही निर्णायक होंगी युद्ध में, वे बहुत घबड़ाए कि यह धोखा हो गया! यह गलती हो गई, यह हमसे भूल हो गई, हम पैर के पास ही क्य ों न बैठ गए! यह पहला मौका पांडवों का दिया गया चुनाव का, इसमें पक्षपात हुआ

जा रहा है! क्योंकि निश्चित ही पांडव फौजों को चुन लेंगे और कृष्ण को अकेले क
ो कौन चुनेगा! और हम अकेले कृष्ण का क्या करेंगे? लेकिन वे बड़े प्रसन्न हुए जब
उन्होंने देखा कि नासमझ पांडवों ने कृष्ण को चुन लिया और सारी फौजें कौरवों को
छोड़ दीं। तब वे बड़े प्रसन्न हुए और उन्होंने माना कि इन नासमझों की हार निश्चि
त ही है। ये हर बार नासमझी का दांव लगाए चले जाते हैं, हर बार हारे चले जाते
हैं। फिर मौका था जीतने का, वह भी चूक गए। अब जीत निश्चित है अपनी। लेि
कन वहीं उनकी हार निश्चित हो गई थी। पांडवों के चुनाव ने कह दिया था कि चु
नाव आत्मिक हो गया है, चुनाव गहरा हो गया है, धर्म का हो गया है और कृष्ण
उनके साथ खड़े होकर निर्णायक हो गए हैं।

यह जो मैंने कहा कि पैर के पास बैठ जाना बड़ा महत्वपूर्ण हो गया, छोटी घटना मु
झे याद आती है, उससे समझ में आ जाएगी।

विवेकानंद हिंदुस्तान से अमरीका जाते थे। तो उन्होंने शारदा मां को जाकर आशीर्वा
द मांगा और कहा कि मैं अमरीका जाता हूं। तो रामकृष्ण की पत्नी शारदा मां ने
कहा कि—रामकृष्ण नहीं रहे थे, शारदा ही रह गई थी, उससे ही पूछा जा सकता थ
ा—शारदा ने कहा कि क्या करोगे अमरीका जाकर? तो उन्होंने कहा कि मैं धर्म का
संदेश ले जाऊंगा। तो शारदा चौके में अपना काम करती थी, उसने कहा, वह छुरी
पड़ी है सब्जी काटने की, वह उठाकर मुझे दे दो। विवेकानंद ने वह छुरी उठाई और
शारदा को दी। शारदा ने कहा, जाओ, मेरा आशीर्वाद है। लेकिन विवेकानंद ने कह
ा कि छुरी उठाने से इसका क्या संबंध? शारदा ने कहा, मैं देखती थी कि छुरी उठा
कर तुम कैसे मुझे देते हो। हममें से किसी ने भी उठाकर दी होती तो डंडी खुद पक.
डी होती, फलक शारदा की तरफ किया होता। विवेकानंद ने फलक खुद पकड़ा और
डंडी शारदा की तरफ की। तो शारदा ने कहा, मैं सोचती हूं कि तुमसे धर्म का सं
देश जा सकता है। साधारणतः कोई भी शायद ही संभावना है इस बात की कि आप
फलक पकड़ते। फलक कहीं पकड़ा जाता है छुरी का? पकड़ी तो डंडी ही जाती है,
मूठ ही पकड़ी जाती है।

अब यह बिलकुल 'एक्सिडेंटल' नहीं है। यह विवेकानंद कोई सोच-समझकर 'रेडीमेड'
उत्तर भी नहीं ला सकते। यह किसी किताब में लिखा नहीं कि जब तुम अमरीका
जाओगे, तो शारदा तुमसे पूछेगी तो छुरी ऐसी पकड़ लेना। यह किसी शास्त्र में नहीं
लिखा हुआ है। और यह शारदा जैसे व्यक्तित्व भरोसे के नहीं हैं। ये क्या, अब यह
कोई बात थी! यह कोई पता लगाने का ढंग था! यह कोई धर्म की परीक्षा हो सक
ती थी! लेकिन शारदा ने कहा, रहा आशीर्वाद, जाओ। तुम्हारे मन में धर्म है।

ऐसा उस दिन कृष्ण के पैरों के नीचे बैठे पांडवों ने सूचना दे दी कि धर्म उनकी तर
फ है, पैरों के पास बैठने की उनकी हिम्मत है। फिर कृष्ण को चुनकर उन्होंने घोषण
ा कर दी कि हम हारने को तैयार हैं, लेकिन धर्म छोड़ने को तैयार नहीं हैं। हम ध
र्म के साथ रह कर हार जाएंगे, लेकिन अधर्म के साथ रह कर जीतेंगे नहीं। और ध
र्म के साथ सिर्फ वही हो सकता है, जो हारने को तैयार है। जैसा मैंने कहा, परमात

मा के साथ सिर्फ वही हो सकता है, जो दुख की मांग करता है, जो दुख को चुन लेता है। धर्म के साथ वही हो सकता है, जो हारने को तैयार है। जो जीतने को आतुर है, हर हालत में वह अधर्म के साथ हो ही जाएगा। क्योंकि अधर्म सुझाव देता है, सरल, 'इजी शार्टकट' देता है कि यहां से जीत लोगे। धर्म का रास्ता लंबा पड़ जाता है। अधर्म 'शार्टकट' से खोजता है, हमेशा। धर्म का रास्ता लंबा है, श्रमसाध्य है, 'आरडुअस' है। धर्म के साथ हार भी हो सकती है। धर्म के साथ विनाश भी हो सकता है। लेकिन जो धर्म के साथ विनष्ट होने को तैयार है और हारने को तैयार है, उसकी हार कभी होती नहीं। लेकिन तैयारी वह रखनी होती है।

अधर्म कहता है, यह रही जीत। हाथ बढ़ाओ और मिल जाएगी। अधर्म का रस और आकर्षण उसके आश्वासन में है, उसकी 'प्रॉमिस' में है। वह कहता है यह कि हाथ बढ़ाया नहीं कि मिला, कहां धर्म का रास्ता पकड़ते हो! लंबा है रास्ता! पहाड़ है दुर्गम! पहुंचने का पक्का पता नहीं है, और कौन कब पहुंचा है! यह रहा अधर्म, यह रही पास की व्यवस्था। जरा करो और पहुंच जाते हो! अधर्म का आश्वासन सदा जीत का है। उस जीत के आकर्षण में आदमी अधर्म को पकड़ता है। अधर्म को पकड़कर कोई कभी जीतता नहीं। धर्म की चुनौती सदा हार की है। हार के डर को जानते हुए जो धर्म के साथ होता है, वह कभी हारता नहीं। लेकिन ये बड़ी उलटी बातें हैं, बड़ी 'कांट्रडिक्ट्री' बातें हैं। लेकिन ऐसा ही है।

'भगवान श्री, आपने कहा, 'ब्लेसेड आर द मीक, फॉर देयर्स इज़ द किंग्डम ऑफ अर्थ।' लेकिन, 'ब्लेसेड आर द प्योर इन हॉर्ट, फॉर देयर्स इज़ द किंग्डम ऑफ हेवन', इस संबंध में आप क्या कहते हैं?'

* जीसस का दूसरा वचन भी है कि धन्य हैं वे जिनके हृदय पवित्र हैं, क्योंकि स्वर्ग का राज्य उन्हीं का होगा। इन दोनों वचनों में थोड़ा-सा फर्क है। धन्य हैं वे जो विनम्र हैं, पृथ्वी का राज्य उनका होगा, 'किंग्डम ऑफ द अर्थ'। धन्य हैं वे जो पवित्र हैं, स्वर्ग का राज्य उनका होगा, 'किंग्डम ऑफ द हेवन'। असल में विनम्रता जो है, वह शुरुआत है, पवित्रता जो है, वह अंत है। 'ह्युमिलिटी' प्रारंभ है, 'प्यारिटी' उपलब्धि है। जो विनम्र हैं, वे पहली सीढ़ी पर गए। उन्होंने पवित्र होने के लिए द्वार खोला। वे अभी पवित्र हो नहीं गए। जो विनम्र हैं, उन्होंने पवित्र होने का द्वार खोला। जो विनम्र नहीं हैं, वे तो कभी पवित्र नहीं हो सकते। क्योंकि अहंकार से बड़ी और कोई अपवित्रता नहीं है। जो अहंकार से भरे हैं, वे तो कभी पवित्र नहीं हो सकते, लेकिन जो विनम्र हुए, जिन्होंने अहंकार छोड़ा, जो झुके, समर्पित हुए, उन्होंने पवित्र होने का द्वार खोला। लेकिन झुक जाना ही पा लेना नहीं है। आप झुक जाने से सिर्फ द्वार बने।

एक आदमी नदी के किनारे खड़ा है, नदी में खड़ा है, पानी नीचे बह रहा है, वह आदमी प्यासा है। वह झुक जाए तो पानी अंजुली में भर सकता है, लेकिन झुकने को

वह राजी नहीं। वह अकड़कर खड़ा है। वह प्यासा है, पानी पैर के पास से बहा जाता है, लेकिन झुकने को वह राजी नहीं। खड़ा रहे प्यासा, नदी नीचे बहती रहेगी। नदी का कोई कसूर नहीं उसकी प्यास में। उस आदमी की अकड़ ही उसको प्यासा किए हुए है। झुकने की उसकी तैयारी नहीं। वह झुक जाए तो अंजुली में पानी आ जाए। झुकने से शुरुआत होगी। अंजुली में पानी आने का द्वार खुलेगा।

ठीक ऐसे ही जो विनम्र हैं, वे द्वार खोलते हैं अपनी पवित्रता के लिए, और जब वे पवित्र हो जाते हैं--विनम्रता सब तरह से पवित्र हो जाएगी। क्योंकि विनम्रता उन सब चीजों को काट देगी जिनसे आदमी अपवित्र होता है। विनम्र आदमी अहंकारी न रह जाएगा। विनम्र आदमी आक्रामक न रह जाएगा। विनम्र आदमी क्रोधी न रह जाएगा। विनम्र आदमी लोभी न रह जाएगा। विनम्र आदमी कामी न रह जाएगा। असल में इन सबमें आक्रमण जरूरी है। तो विनम्रता इन सबके लिए रास्ता नहीं रह जाएगी। विनम्र आदमी क्रोध की जगह क्षमा को उपलब्ध होने लगेगा। विनम्र आदमी लोभ की जगह दान को उपलब्ध होने लगेगा। विनम्र आदमी आक्रमण की जगह हारने की तैयारी दिखाने लगेगा। विनम्र आदमी परिग्रह की जगह अपरिग्रही होने लगेगा। विनम्र आदमी अपनी घोषणा करने की जगह अंधेरे और छाया में हटने लगेगा, अदृश्य होने लगेगा। जिस दिन विनम्रता पूरी हो जाएगी, उस दिन पवित्रता पूरी हो जाएगी। इसलिए दूसरे वचन में जीसस कहते हैं, 'ब्लेसेड आर द प्योर, दे शैल इनहेरिट द किंग्डम ऑफ गॉड'। वे परमात्मा के राज्य के मालिक हो जाएंगे, जो पवित्र हैं।

एक और वचन है जीसस का इसी तरह का--'ब्लेसेड आर द पुअर इन स्प्रिट'। वे, जो आत्मा से दरिद्र हैं। बड़ा अजीब वाक्य है--'पुअर इन स्प्रिट'। उसमें दोनों बातें सम्मिलित हो गई हैं। उसमें विनम्रता और पवित्रता दोनों ही उस वचन में आ गईं। इतने गरीब हैं हम भीतर--अपवित्र होने के लिए कुछ तो चाहिए? कुछ बचा ही नहीं। 'वैक्यूम' हो गए हैं। इतने गरीब हैं भीतर कि कुछ बचा ही नहीं। कुछ तो चाहिए? अविनम्र होने के लिए कुछ तो चाहिए? कुछ तो 'पजेसन' होना चाहिए? कोई मालकियत होनी चाहिए? धन होना चाहिए, पद होना चाहिए, पदवी होना चाहिए, नाम होना चाहिए, यश होना चाहिए, कुछ तो होना चाहिए? अपवित्र होने के लिए भी कुछ तो होना चाहिए--क्रोध होना चाहिए। अब यह बड़े मजे की बात है कि क्रोध कुछ है, अक्रोध सिर्फ अभाव है। अक्रोध कुछ है नहीं। लोभ कुछ है, अलोभ सिर्फ 'एब्सेंस' हैं, अभाव है। हिंसा कुछ है, अहिंसा सिर्फ अभाव है। इतना गरीब है आदमी भीतर कि न हिंसा है अब उसके पास, न क्रोध है उसके पास, न लोभ, न पद, न प्रतिष्ठा, न नाम, न धन, कुछ भी नहीं है, 'पुअर इन स्प्रिट'। दीन-दरिद्र आत्मा से। लेकिन उसकी समृद्धि का कोई मुकाबला नहीं। इसलिए दूसरे वचन में वे कहते हैं कि सब कुछ का वह मालिक हो जाएगा। जो सबसे ज्यादा दीन हो गया है, भीतर वह सबका मालिक हो जाएगा, वह सब पा लेगा। सब जो पाने योग्य है, वह सब उसे मिल जाएगा।

जीसस का एक वचन है इसके संदर्भ में, जिसमें वह कहते हैं: 'सीक यी फर्स्ट द किंगडम ऑफ गॉड ऐंड आल एल्स शैल बी एडेड अनटू यू'। पहले तुम परमात्मा के राज्य को खोज लो और फिर सब तुम्हें मिल जाएगा। लेकिन जब उनसे कोई पूछता है, परमात्मा के राज्य को खोज लो और फिर सब तुम्हें मिल जाएगा। लेकिन जब उनसे कोई पूछता है, परमात्मा के राज्य को कैसे खोजें? तब वह कहते हैं, विनम्र हो जाओ, पवित्र हो जाओ, दरिद्र हो जाओ, तो परमात्मा का राज्य मिल जाएगा। और जब परमात्मा का राज्य मिल जाएगा, तो 'आल एल्स शैल बी एडेड अनटू यू', और फिर सब, जो भी है, सब तुम्हें मिल जाएगा। उसके पीछे सब चला जाएगा। अजीब शर्त है। सब खो दो, तो सब पा लोगे। कुछ भी बचाया, तो सब खो दोगे। जो अपने को खोने को राजी हैं, वे सब पाने के मालिक हो जाएंगे, जो अपने को बचाने की जिद्द करेंगे, वे सब खो देंगे।
संन्यासी का यही अर्थ है मेरे मन में। जो सब खोने को राजी है, वह सब पाने का अधिकारी हो जाता है।

'लेकिन वह खोने के बाद पाने की क्यों सोचे?'

* हां, तुम्हारे सोचने की बात नहीं है। ऐसा होता है। तुम सोचोगी तब तो खो ही न सकोगी। अगर प्रभु का राज्य पाने के लिए विनम्र हुए, तब तो विनम्र हुए ही नहीं। वह जो है, आश्वासन नहीं है, 'कांसीक्वेंस' है। वह जो दूसरी बात है, वह परिणाम है। वह आपके लिए आश्वासन नहीं है। क्योंकि अगर कोई आदमी कहता है कि मैं सब पाने के लिए सब छोड़ने को राजी हूं, तो छोड़ेगा कैसे? वह तो सब पाने के लिए? कुछ नहीं छोड़ सकता। नहीं, वह जो दूसरा हिस्सा है, वह आश्वासन नहीं है, परिणाम है। ऐसा देखा गया है कि जिन्होंने सब छोड़ा, उन्होंने सब पाया है। लेकिन जिन्होंने सब पाना चाहा है, वे कुछ भी नहीं छोड़ सके हैं।

'उपरोक्त बातें तो लगता है कि स्थितप्रज्ञ-पुरुष में ही संभव हैं। और हमें आपके व्यक्तित्व में वह सब दिखता है। आप अति विनम्र हैं। मगर कभी-कभी अति कठोर आलोचक भी हो जाते हैं, तब हमारी दुविधा का पार नहीं रह जाता।'

* हां, मैं दुविधा को मिटाऊंगा भी नहीं। क्योंकि जो विनम्रता ओढ़ी गई होती है, जो विनम्रता साधी गई होती है, जो विनम्रता लाई गई होती है, वह सदा विनम्र होती है। लेकिन जो विनम्रता सहज होगी, वह इतनी विनम्र होती है कि अविनम्र होने की भी हिम्मत कर सकती है। सिर्फ विनम्र आदमी ही निर्मम रूप से अविनम्र होने का साहस कर सकता है। सिर्फ प्रेमी ही कठोर हो सकता है।
तो ऐसा निरंतर लगेगा—वही जो मैं कृष्ण के लिए कह रहा हूं—निरंतर ऐसा लगेगा, मुझमें निरंतर उलटी बातें, बहुत तरह की उलटी बातें हैं। लेकिन मैं पूरी जिंदगी

को ही स्वीकार करता हूं, वही मेरी विनम्रता है। अगर मेरे भीतर कभी मुझे कठोर होने जैसा होता है, तो मैं रोकता नहीं, क्योंकि रोके कौन? मैं कठोर हो जाता हूं। कभी मुझे विनम्र होने जैसा होता है, तो मैं क्या करूं, विनम्र हो जाता हूं। जो होता है, वह मैं होने देता हूं। अपनी तरफ से मेरी होने की कोई भी चेष्टा नहीं है। मेरा कोई प्रयास नहीं है। इसलिए मेरे साथ दुविधा जारी रहेगी। मेरे साथ दुविधा कभी मिटने वाली नहीं है। और जिनको हम स्थितप्रज्ञ कहते रहे हैं—कृष्ण को स्थितप्रज्ञ कहियेगा कि नहीं कहियेगा! लेकिन दुविधापूर्ण है मामला। कृष्ण बहुत बार प्रज्ञा को बिलकुल खोते हुए मालूम पड़ते हैं। सुदर्शन हाथ में उठाया होगा, तब हमें लगेगा कि प्रज्ञा खो दी, स्थिरता न रही।

यह जो स्थितप्रज्ञ की हमारी धारणा है कि जिसकी प्रज्ञा स्थिर हो गई है, इसका मतलब क्या होता है? इसका क्या यह मतलब होता है कि जो हम ठीक समझते हैं, वही वह करता है? यानी हमारे पक्ष में स्थिर हो गई है? स्थिर हो जाने का कुल मतलब इतना है—स्थिर हो जाने का मतलब जड़ हो जाना नहीं है—स्थिर हो जाने का मतलब कुल इतना है कि प्रज्ञा उपलब्ध हो गई है, और जब जो प्रज्ञा करवाती है वह करता है, अब अपनी तरफ से कुछ भी नहीं करता है। अब न दोष उसके हैं, न गुण उसके हैं। अब न आदर उसका है, न अनादर उसका है। अब न तो वह यह कहता है कि जो मैं कर रहा हूं ठीक कर रहा हूं, न वह यह कहता है कि जो मैं कर रहा हूं वह गैर-ठीक कर रहा हूं। अब न तो वह पछताता, अब न वह प्रायश्चित्त करता—अब वह पीछे लौट कर ही नहीं देखता, अब जो होता है, होता है; और वह उसको होने देता है। अब उसके पास कोई भी इस होने देने के ऊपर खड़ा हुआ नहीं है जो रोके और निर्णय करे कि यह करो और यह मत करो। वह निर्विकल्प हुआ, वह 'च्वॉइसलेस' हुआ।

इसलिए अगर कभी आप पाएं कि मैं बहुत गर्म मालूम पड़ता हूं, तो पा सकते हैं। कोई उपाय नहीं है। गर्मी आती है तो मैं गर्म होता हूं, ठंडी आती है तो मैं ठंडा हो जाता हूं। और मैंने अपनी तरफ से होना छोड़ दिया—मैंने जिद्द छोड़ दी कि मैं यह होऊं और यह न होऊं। इसको ही मैं कहता हूं कि प्रज्ञा की स्थिरता है।

11 मानवीय पहलूयुक्त भगवत्ता के प्रतीक कृष्ण

'भगवान श्री, कृष्णा अर्थात द्रौपदी के चरित्र को लोग बड़ी गर्हित दृष्टि से देखते हैं, तथा कृष्ण का उससे वृहत अनुराग है। इस सब की चर्चा करें और आज के संदर्भ में द्रौपदी का चरित्र स्पष्ट करें।'

* पुरुषों के व्यक्तित्व में जैसे कृष्ण को समझना उलझन की बात है, वैसे ही स्त्रियों के व्यक्तित्व में द्रौपदी को समझना भी उलझन की बात है। और लोगों को जो गर्हित दिखाई पड़ता है, उनके दिखाई देने में वे अपने संबंध में ज्यादा खबर देते हैं, द्रौपदी के संबंध में कम। जो हमें दिखाई पड़ता है, वह हमारे संबंध में खबर होती है। हम वही देख पाते हैं, जो हम हैं। हम अपने अतिरिक्त और कुछ भी नहीं देख पाते हैं।

द्रौपदी का व्यक्तित्व हमें कठिन मालूम पड़ेगा। एक साथ पांच व्यक्तियों को प्रेम, एक साथ पांच की पत्नी होना बहुत मुश्किल है। समझना होगा। लेकिन इससे केवल हमारे संबंध में सूचना मिलती है और हमारी आकांक्षाओं, अपेक्षाओं की

खबर मिलती है। प्रेम का व्यक्तियों से बहुत संबंध नहीं है। और अगर कोई प्रेम एक से ही किया जा सकता हो, तो वह प्रेम बहुत दीन-हीन हो जाता है। इसे थोड़ा समझना होगा।

हम सबका आग्रह तो यही होता है कि प्रेम एक से हो। हम सब तो यही चाहेंगे कि कोई फूल रास्ते पर खिले तो वह एक के लिए खिले। कोई गीत गाया जाये तो वह एक के लिये गाया जाये। कोई वर्षा हो तो वह एक खेत पर हो। कोई सूरज निकले तो एक आंगन में चमके। हम सबका मन यह होता है कि जो भी हो उस पर हमारी पूरी मालकियत और पूरा 'पजेसन' हो जाए। हम ही उसको पूरा घेर कर बैठ जाएं। अगर मुझे कोई प्रेम करता है तो वह सिर्फ मुझे ही प्रेम करे, उसका प्रेम किन्हीं और द्वारों और धाराओं से न बह जाए। कहीं बंट न जाए। क्योंकि हम चूंकि प्रेम को नहीं समझते हैं, इसलिए हम ऐसा भी समझते हैं कि अगर वह बंट जाएगा तो मेरे लिए कम हो जाएगा। प्रेम जितना फैलता है, उतना बढ़ता है। और प्रेम जितना बंटता है, उतना बढ़ता है। और जब हम प्रेम को एक ही धारा में बहाने की बहुत चेष्टा करते हैं, जो कि अनैसर्गिक है, अप्राकृतिक है, जोर-जबर्दस्ती है, तो अंतिम परिणाम सिर्फ इतना ही होता है कि और कहीं तो प्रेम नहीं बहता, जहां हम बहाना चाहते हैं वहां भी नहीं बहता है।

एक छोटी-सी कहानी मुझे याद आती है। एक भिक्षुणी थी—बौद्ध भिक्षुणी। उसके पास एक छोटी-सी बुद्ध की चंदन की प्रतिमा थी। वह अपने बुद्ध को सदा अपने साथ रखती थी। भिक्षुणी थी, मंदिरों में, विहारों में ठहरती थी, लेकिन पूजा अपने ही बुद्ध की करती थी। एक बार वह उस मंदिर में ठहरी जो हजार बुद्धों का मंदिर है, जहां हजार बुद्ध-प्रतिमाएं हैं, जहां मंदिर के कोने-कोने में प्रतिमाएं-ही-प्रतिमाएं हैं। वह सुबह अपने बुद्ध को रख कर पूजा करने बैठी, उसने धूप जलाई। अब धूप तो कोई आदमी के नियम मानती नहीं! उलटा ही हो गया। हवा के झोंके ऐसे थे कि उसके छोटे-से बुद्ध की नाक तक तो धूप की सुगंध न पहुंचे और पास जो बड़ी-बड़ी बुद्ध की प्रतिमाएं बैठी थीं, उन तक सुगंध पहुंचने लगी। वह तो बहुत चिंतित हुई। ऐसा नहीं चल सकता है। तो उसने एक छोटी-सी टीन की पोंगरी बनाई और अपने धूप पर ढांकी और अपने छोटे-से बुद्ध की नाक के पास चिमनी का द्वार खोल दिया, ताकि धूप की सुगंध अपने ही बुद्ध को मिले। सुगंध तो मिल गई अपने बुद्ध को, लेकिन बुद्ध का मुंह काला हो गया। वह बड़ी मुश्किल में पड़ी, चंदन की प्रतिमा थी, वह सब खराब हो गई। उसने जाकर मंदिर के पुजारी को कहा कि मैं बड़ी मुश्किल में पड़ गई हूं। मेरे बुद्ध की प्रतिमा खराब हो गई, कुरूप हो गई, अब मैं क्या करूं? तो उस पुजारी ने कहा कि जब भी कोई उन सत्यों को जो सब तरफ फैलते हैं, एक दिशा में बांधता है, तब ऐसी ही दुर्घटना और ऐसी ही कुरूपता हो जाती है।

प्रेम को मनुष्य-जाति ने अब तक संबंध की तरह सोचा है, 'रिलेशनशिप' की तरह। दो व्यक्तियों के बीच संबंध की तरह। प्रेम को हमने अब तक 'स्टेट आफ माइंड' की तरह नहीं समझा, कि एक व्यक्ति की भावदशा प्रेम की है। द्रौपदी को समझने में वही कठिनाई है।

यदि मैं प्रेमपूर्ण हूं, तो एक के प्रति ही प्रेमपूर्ण नहीं हो सकता हूं। प्रेमपूर्ण होना मेरा स्वभाव हो जाएगा। मैं अनेक के प्रति प्रेमपूर्ण हो जाऊंगा—एक-अनेक का सवाल ही नहीं रह जाता, मैं प्रेमपूर्ण हो पाऊंगा। अगर मैं एक के प्रति ही प्रेमपूर्ण हूं और शेष के प्रति प्रेमपूर्ण नहीं हूं, तो मैं एक के प्रति भी प्रेमपूर्ण नहीं रह पाऊंगा। तेईस घंटे मुझे अप्रेम में जीना पड़ता है—दूसरों के साथ होता हूं, एक घंटा जिससे प्रेम करता हूं उसके साथ होता हूं। तेईस घंटे अप्रेम का अभ्यास चलता है, एक घंटे में टूटता नहीं फिर। फिर एक घंटे में, जिसे हम प्रेम कहते हैं वह भी प्रेम नहीं हो पाता, अप्रेम ही हो जाता है।

लेकिन समस्त जगत के प्रेमी, नासमझ ही कहना चाहिए, उन्हें प्रेम का कोई पता नहीं, प्रेम को बांध लेना चाहेंगे। और जैसे ही हम प्रेम को बांधते हैं, प्रेम हवाओं की तरह है, मुट्ठी जोर से बांधी तो हवा मुट्ठी में नहीं रह जाती, मुट्ठी खुली हो तो ही रहती है। जोर से बांधी तो हवा बाहर हो जाती है। खुली मुट्ठी में नहीं होती है। प्रेम को बांधने की चेष्टा में ही प्रेम मरता है और सड़ जाता है। और हम सबने अपने प्रेम को मार डाला है और सड़ा लिया है—उसे बांधने की चेष्टा में।

द्रौपदी को हमें समझना इसीलिए मुश्किल पड़ता है कि पांच व्यक्तियों को कैसे प्रेम कर सकी होगी! हमें ही नहीं पड़ता है मुश्किल, उन भाइयों को भी मुश्किल पड़ता था। हमें पड़े तब भी ठीक है। उन पांच भाइयों को भी मुश्किल पड़ता था और वे भी मन-मन में सोचे जाते थे कि जरूर इसका किसी एक से ज्यादा होगा। सबसे एक-सा कैसे हो सकता है? अर्जुन पर

सबकी ईर्ष्या थी। सबको डर था कि अर्जुन से इसका लगाव ज्यादा है। वे पांच भाई भी नहीं समझ पाए हैं द्रौपदी को। उन्होंने भी शर्तबंदी कर रखी थी, दिन बांट रखे थे। द्रौपदी जब एक को प्रेम करती है तो दूसरे से मिलती नहीं। और यह भी तय कर रखा था कि जब एक भाई द्रौपदी के पास हो, तो दूसरा भूलकर भी भीतर न झांके। वे पांच भाई भी द्रौपदी को नहीं समझ पाए हैं। उनकी भी कठिनाई वही है जो हमारी कठिनाई है। हम सोच ही नहीं सकते कि प्रेम एक धारा हो सकती है, जो व्यक्तियों की तरफ नहीं बहती, व्यक्ति से बहती है। हम यह सोच ही नहीं पा सकते, क्योंकि हमने तो कभी व्यक्ति को छोड़कर प्रेम को सोचा ही नहीं है। इसलिए द्रौपदी हमें उलझन बन जाएगी। और हमारे मन में हम कितना ही समझाने की कोशिश करें, ऐसा लगेगा कि द्रौपदी में कहीं-न-कहीं कुछ वेश्या छिपी है। क्योंकि हमारी सती की जो परिभाषा है, वही द्रौपदी को वेश्या बना देगी।

लेकिन कभी आपने खयाल किया है कि इस देश की परंपरा ने द्रौपदी को पांच कन्याओं में गिना है। पांच पवित्रतम स्त्रियों में गिना है। बड़े अजीब लोग रहे होंगे, जिन्होंने द्रौपदी को पांच श्रेष्ठतम महासतियों में गिना है। जरूर जिन्होंने गिनती की होगी, उनको भी यह तथ्य तो साफ जाहिर है। इस तथ्य में कोई छिपाव नहीं है। इस तथ्य को जानते हुए यह गिनती की गई है। यह बड़ी अर्थपूर्ण है। यह इस बात की सूचक है कि प्रेम एक से है या अनेक से है, यह सवाल नहीं है, प्रेम है या नहीं, यह सवाल है। और यदि प्रेम है तो वह अनंत धाराओं में बह सकता है। पांच तो सिर्फ प्रतीक ही है। पांच की तरफ बह सकता है, पचास की तरफ बह सकता है, लाख की तरफ बह सकता है। और जिस दिन हम इस पृथ्वी पर प्रेमपूर्ण व्यक्ति पैदा कर सकेंगे, उस दिन यह प्रेम की जो व्यक्तिगत मालकियत है, यह बिलकुल बेमानी हो जाएगी। ऐसा नहीं है कि किसी को हम जबर्दस्ती करें कि वह एक को प्रेम न करे, ऐसा नहीं है। ऐसा नहीं है कि हम इससे उलटा नियम बना लें कि जो एक को प्रेम करता है, वह पाप करता है। वह फिर वही नासमझी दूसरे छोर से हो जाएगी। नहीं, हम यह जानकर चलें कि जो जिसकी सामर्थ्य है वैसा करता है और हम अपने व्यक्तित्व को और अपनी सामर्थ्य को दूसरे के ऊपर थोपते न चले जाएं।

द्रौपदी में प्रेम का बहाव है। और वह बहाव द्रौपदी ने एक क्षण को भी इनकार नहीं किया। यह बड़ी अजीब घटना थी। यह बड़े खेल में घट गई थी। द्रौपदी को लेकर आए थे और पांचों भाइयों ने कहा था कि हम एक बहुत अदभुत चीज ले आए हैं। मां ने कहा कि अदभुत ले आए हो तो पांचों बांट लो। उन्हें कभी कल्पना भी न थी। उन्होंने तो सिर्फ मजाक किया था और मां को छकाना चाहते थे। उन्हें पता भी न था कि मां कह देगी कि बांट लो पांचों। और फिर जब मां ने कह दिया था तो कोई उपाय न रहा था। फिर वे पांचों ही एक साथ द्रौपदी के पति हो गए। लेकिन द्रौपदी ने एक क्षण को भी इससे कोई इनकार नहीं किया। उसके प्रेम में अनंतता के कारण ही यह संभव हो सका। वह सब, पांचों को प्रेम दे सकी और इससे प्रेम चुका नहीं। पांचों को प्रेम दे सकी, प्रेम घटा नहीं। पांचों को प्रेम दे सकी, लेकिन इससे कहीं कोई दुविधा और कहीं द्वैत उसके मन में नहीं आया है। यह बहुत ही अदभुत स्त्री होनी चाहिए। अन्यथा स्त्री साधारणतः ईर्ष्या में जीती है। अगर हम पुरुष और स्त्री के व्यक्तित्वों का एक खास चिह्न खोजना चाहें, तो पुरुष अहंकार में जीते हैं, स्त्रियां ईर्ष्या में जीती हैं। असल में ईर्ष्या जो है, वह अहंकार का 'पैसिव' रूप है। अहंकार जो है, वह ईर्ष्या का 'एक्टिव' रूप है। अहंकार सक्रिय ईर्ष्या है, ईर्ष्या निष्क्रिय अहंकार है। स्त्रियां तो निरंतर ईर्ष्या में जीती हैं। लेकिन यह स्त्री बिना ईर्ष्या के प्रेम में जी सकी, और इन पांचों भाइयों से कई अर्थों में ऊंचे उठ गई। ये पांचों भाई बड़ी तकलीफ में रहे हैं। द्रौपदी को लेकर भीतर एक निरंतर द्वंद्व और संघर्ष चलता ही रहा है। लेकिन द्रौपदी निद्व□द्व और शांत इस बहुत अजीब घटना को गुजार गई।

हमारी समझ में जो तकलीफ होती है, वह हमारे कारण होती है। हम प्रेम को एक और एक के बीच का संबंध मानते हैं। है नहीं प्रेम ऐसा। और इसलिए हम फिर प्रेम के लिए बहुत-बहुत झंझटों में पड़ते हैं और बहुत कठिनाइयां खड़ी कर लेते हैं। प्रेम ऐसा फूल है, जो कभी भी और किसी के लिए भी आकस्मिक रूप से खिल सकता है। न उस पर कोई बंधन है, न उस पर कोई मर्यादा है। और बंधन और मर्यादा जितनी ज्यादा होगी, उतना हम एक ही निर्णय कर सकते हैं कि हम उस फूल को ही न खिलने दें। फिर वह एक के लिए भी नहीं खिलता। फिर हम बिना प्रेम के जी लेते हैं। लेकिन हम बड़े अजीब लोग हैं। हम बिना प्रेम के जी लेना पसंद करेंगे, लेकिन प्रेम की मालकियत छोड़ना पसंद न करेंगे। हम यह पसंद

कर लेंगे कि जिंदगी हमारी रिक्त प्रेम से गुजर जाए, लेकिन हम यह बर्दाश्त न करेंगे कि जिसे हमने प्रेम किया है उसके लिए कोई और भी प्रेमपात्र हो सके। यह हम बर्दाश्त न करेंगे। हम बिना प्रेम के रह जाएं, यह चलेगा; हमारे भवन पर प्रेम की वर्षा न हो, यह चलेगा, लेकिन पड़ोसी के भवन पर हो जाए, हमारे भवन के साथ, तो भी नहीं चलेगा। अहंकार और ईर्ष्या अदभुत कष्ट में डालते हैं।

फिर साथ ही यह भी खयाल रहे कि यह जो घटना है द्रौपदी की, यह अकेली घटना नहीं है। ऐसा है कि द्रौपदी की घटना शायद आखिरी घटना है। द्रौपदी के पहले जो समाज था जगत में, वह मातृसत्ता का था। हजारों वर्षों तक 'मेट्रिआर्क सोसाइटी' थी। उसमें कोई स्त्री किसी पुरुष की नहीं होती थी। और इसलिए मां का तो पता चलता था, पिता का कोई पता नहीं चलता था। ऐसा मालूम होता है कि द्रौपदी की घटना उस लंबी श्रृंखला की आखिरी कड़ी है। इसलिए उस वक्त में किसी ने इस पर एतराज नहीं उठाया। 'पॉलिगैमी' समाप्त होने के करीब थी। आखिरी कड़ी है यह। एक स्त्री के बहु-पति, आज भी कुछ आदिम समाज जो जिंदा हैं जमीन पर, उनमें चलती है वह व्यवस्था। ऐसा प्रतीत होता है कि द्रौपदी की घटना उस लंबी श्रृंखला की, मरती हुई श्रृंखला की आखिरी कड़ी है। इसलिए उस समाज को बहुत अड़चन न हुई मालूम। किसी ने इस पर कोई एतराज न उठाया। नहीं तो मां को भी क्या तकलीफ थी कि अपना वक्तव्य बदल देती। लड़के अगर आज्ञा मानने को भी उत्सुक थे, तो मां तो अपनी आज्ञा बदल सकती थी। पता चलने पर कि नहीं, कोई चीज नहीं ले आए हैं, एक पत्नी ले आए हैं, इसको पांच में कैसे बांटा जा सकता है। लेकिन मां ने आज्ञा न बदली। और अगर आज्ञा अनैतिक होती तो लड़के भी प्रार्थना तो कर ही सकते थे कि यह आज्ञा बदल लें, क्योंकि हमसे भूल हो गई। इसमें कोई अड़चन न थी। लेकिन न मां ने आज्ञा बदली, न लड़कों ने आज्ञा बदलने की कोई प्रार्थना की, न उस समाज में किसी ने इस पर कोई एतराज उठाया कि यह गलत हो गया है। उसका कुछ कारण इतना ही है कि वह समाज जिस व्यवस्था में जी रहा था, उस व्यवस्था में यह घटना अनैतिक नहीं मालूम पड़ी होगी।

हमेशा ऐसा होता है कि एक-एक समाज की अपनी धारणाएं दूसरे समाज को बड़ा अनैतिक बना देती हैं। मुहम्मद ने नौ शादियां कीं। और कुरान में प्रत्येक व्यक्ति को चार शादी करने की आज्ञा दी। आज हम सोचने बैठते हैं तो बड़ा अनैतिक मालूम पड़ता है, यह क्या पागलपन है! एक व्यक्ति चार शादी करे, और खुद मुहम्मद नौ शादी करें! और मुहम्मद भी बड़े अनूठे आदमी हैं। पहली शादी जब इन्होंने की तो उनकी उम्र कुल चौबीस साल थी और उनकी पत्नी की उम्र चालीस साल थी। लेकिन जिस समाज में मुहम्मद थे, उस समाज में एक बहुत अदभुत घटना घट गई थी जिसकी वजह से यह बिलकुल स्वाभाविक था और अनैतिक नहीं समझा गया। जिस कबीले में वे थे, वह एक लड़का कबीला था। पुरुष तो कट जाते थे और मर जाते थे। स्त्रियां इकट्ठी हो गई थीं बहुत बड़ी संख्या में। और यही नैतिक था उस घड़ी में कि एक-एक पुरुष चार-चार शादी कर ले। अन्यथा जो तीन स्त्रियां बच जाती थीं—स्त्रियां चौगुनी—वह जो तीन स्त्रियां बच जाती हैं, उनका क्या होगा? और तीन स्त्रियां अगर जीवन में प्रेम को न पा सकें, अतृप्त रहें, तो समाज बहुत अनैतिक और बहुत व्यभिचारी हो जाएगा। इसलिए मुहम्मद ने कहा कि चार शादी प्रत्येक पुरुष कर ले, यह बड़ी धार्मिक व्यवस्था है। और खुद तो हिम्मत करके नौ शादियां कीं। वह सिर्फ यह कहने को कि अगर मैं चार की कहता हूं तो मैं नौ करके बताये देता हूं। अरब में किसी को अड़चन न हुई इस बात से, क्योंकि बात सीधी और साफ थी। इसमें कोई अनैतिकता नहीं दिखाई पड़ी थी।

द्रौपदी के मामले को लेकर मेरी समझ यह है कि कोई अड़चन नहीं हुई क्योंकि जो युग था, वह धीरे-धीरे मर रही थी यह व्यवस्था, बहु-पति की व्यवस्था मर रही थी, लेकिन...और मरेगी, क्योंकि स्त्री और पुरुष अगर बराबर संख्या में होते चले जाएं तो न तो बहु-पति की व्यवस्था चल सकती है, न बहु-पत्नी की व्यवस्था चल सकती है। किन्हीं कारणों से पुरुष और स्त्रियों का संतुलन बिगड़ जाता है तो ऐसी व्यवस्थायें चल सकती हैं।

तो उस दिन तो यह अनैतिक न था। आज भी मैं मानता हूं कि जिस स्त्री ने पांच को एक-सा प्रेम दिया, पांच के प्रेम में जीयी, वह साधारण स्त्री न थी। असाधारण स्त्री थी। और उसके पास प्रेम का अजस्र स्रोत था, इसलिए ही यह संभव हो सका था।

लेकिन हमें सोचने में कठिनाई होती है, वह हमारे कारण होती है।

'भगवान श्री, आपने कहा है कि कृष्ण न मित्र बनाते, न शत्रु बनाते। लेकिन अपने बालसखा सुदामा से उनका इतना प्रेम है कि सिंहासन छोड़कर उसके लिए भागे आते हैं। और तीन मुट्ठी चावल पाकर उसे त्रिलोक का वैभव दे डालते हैं। कृपया, कृष्ण-सुदामा के इस विशेष मैत्री-संबंध पर प्रकाश डालें।'

* विशिष्ट मैत्री-संबंध नहीं है, बस मैत्री-संबंध है। यहां भी हमारी ही तकलीफ है। हमें लगता है कि तीन मुट्ठी चावल के लिए तीनों लोक का साम्राज्य दे डालना, जरा ज्यादा है। लेकिन सुदामा के लिए तीन मुट्ठी चावल देना जितना कठिन था, कृष्ण के लिए तीन लोकों का साम्राज्य देना उतना कठिन नहीं है। उसका हमें खयाल नहीं है। सुदामा के लिए तीन मुट्ठी चावल भी बहुत बड़ी बात थी, बहुत मुश्किल था। इसमें अगर दान दिया है तो सुदामा ने ही दिया है। इसमें दान कृष्ण का नहीं है। लेकिन आमतौर से हमें यही दिखाई पड़ता रहा है कि दान दिया है कृष्ण ने। सुदामा क्या लाया था! तीन मुट्ठी चावल ही लाया था! फटे कपड़े में बांधकर!
लेकिन हमें पता नहीं कि सुदामा कितनी दीनता में जी रहा था। उसके लिए एक दाना भी जुटाना और लाना बड़ा कठिन था। और कृष्ण के लिए तीन लोक का साम्राज्य देना भी कठिन नहीं था। इसलिए कोई कृष्ण ने सुदामा पर उपकार कर दिया हो, इस भूल में कोई न रहे। कृष्ण ने सिर्फ 'रिसपांस', उत्तर दिया है और उत्तर बहुत बड़ा नहीं है। बड़े-से-बड़ा जो हो सकता था, उतना है। इसलिए तीन लोक के साम्राज्य की बात कही। बड़ी-से-बड़ी जो कल्पना है कवि की, वह यह है कि तीन लोक हैं और तीनों लोक का साम्राज्य है। लेकिन एक गरीब हृदय के पास, जिसके पास कुछ भी नहीं है, तीन चावल के दाने भी नहीं हैं, वह तीन मुट्ठी चावल ले आया है, उसे हम कब समझ पाएंगे? नहीं, कृष्ण देकर भी तृप्त नहीं हुए हैं। क्योंकि जो सुदामा ने दिया है वह बहुत असाधारण है। और जो कृष्ण ने दिया है, उनकी हैसियत के आदमी के लिए बहुत साधारण है। इसलिए ऐसा मैं नहीं मानता हूं कि कोई सुदामा के साथ विशेष मैत्री दिखाई गई है। सुदामा आदमी ऐसा है कि सुदामा ने ही विशेष मैत्री दिखाई है। कृष्ण ने सिर्फ उत्तर दिया है।
और जैसा मैंने कहा कि वे मित्र और शत्रु किसी के भी नहीं हैं। लेकिन सुदामा जैसा मित्र, सुदामा की तरफ से मैत्री का इतना भाव लेकर आए, तो कृष्ण तो वैसा ही 'रिसपांस' करते हैं जैसे घाटियों में हम आवाज दें तो घाटियां सात बार आवाज को दोहराकर लौटाती हैं। घाटियां हमारी आवाज की प्रतीक्षा नहीं कर रही हैं, न घाटियां हमारी आवाज के उत्तर देने के लिए प्रतिज्ञाबद्ध हैं, न उसका कोई 'कमिटमेंट' है, लेकिन जब हम घाटियों में आवाज देते हैं तो घाटियां उसको सातगुना करके वापस लौटा देती हैं। वह घाटियों का स्वभाव है। वह प्रतिध्वनि, वह 'इकोइंग' घाटी का स्वभाव है। कृष्ण ने जो उत्तर दिया है वह कृष्ण का स्वभाव है। और सुदामा जैसा व्यक्ति जब सामने आ गया हो और इतनी प्रेम की आवाज दी हो, तो कृष्ण उसे अगर हजारगुना करके भी लौटा दें तो भी कुछ नहीं है। वह कृष्ण का स्वभाव है। यह कोई भी कृष्ण के द्वार पर गया होता, सुदामा का हृदय लेकर...।
बड़े मजे की बात है कि गरीब हमेशा मांगने जाता है, सुदामा देने गया था। और जब गरीब देने जाता है तो उसकी अमीरी का कोई मुकाबला नहीं। इससे उलटी बात अमीर के साथ घटती है, अमीर हमेशा देने जाता है। लेकिन जब अमीर मांगने जाता है, जैसे बुद्ध की तरह भिक्षा का पात्र लेकर सड़क पर खड़ा हुआ, तब मामला बिलकुल बदल जाता है। अगर बुद्ध की तरह भिक्षा का पात्र लेकर सड़क पर खड़ा हुआ, तब मामला बिलकुल बदल जाता है। अगर बुद्ध और सुदामा को साथ सोचेंगे तो खयाल में आ सकेगा। इधर सुदामा गरीब है और देने गया है, और बुद्ध के पास सब कुछ है और भीख मांगने चले गए हैं। जब अमीर भीख मांगने जाता है तब अलौकिक घटना घटती है और जब गरीब दान देने जाता है, तब अलौकिक घटना घटती है। ऐसे अमीर तो दान देते रहते हैं और गरीब मांगते रहते हैं, यह बहुत सामान्य घटना है। इसमें कोई विशेष बात नहीं है। सुदामा उसी विशिष्ट हालत में है जिस हालत में बुद्ध का सड़क पर भीख मांगना है। बुद्ध को क्या कमी है कि भीख मांगने जाएं? सुदामा के पास क्या है जो देने को उत्सुक हो गया है? पागल ही है। बुद्ध भी पागल,

वह भी पागल। और देने भी किसको गया है! कृष्ण को देने गया है, जिनके पास सब कुछ है। लेकिन प्रेम यह नहीं देखता कि आपके पास कितना है। आपके पास कितना ही हो तो भी प्रेम देता है। प्रेम यह मान ही नहीं सकता कि आपके पास पर्याप्त है।

इसे थोड़ा समझना चाहिए।

प्रेम कभी यह मान ही नहीं सकता कि आपके पास पर्याप्त है। प्रेम तो देता ही चला जाता है। ऐसी कोई घड़ी नहीं आती कि जब वह कहे कि बस, अब काफी दे चुके, बहुत तुम्हारे पास है, अब देने की कोई जरूरत न रही। 'इट इज़ नेवर इनफ'। कभी पर्याप्त होता ही नहीं। प्रेम देता ही चला जाता है, उलीचता ही चला जाता है और सदा कम ही रहता है। अगर हम एक मां से पूछें कि तूने अपने बेटे के लिए इतना-इतना किया, तो अगर वह नर्स होगी तो बताएगी कि हां, इतना-इतना किया। और अगर वह मां होगी तो वह कहेगी, कहां किया! मुझे बहुत कुछ करना था, वह मैं कर नहीं पाई। मां हमेशा लेखा-जोखा रखेगी उसका, जो वह नहीं कर पाई। और अगर मां लेखा-जोखा रखती हो कि कितना उसने किया, तो वह मां होने के भ्रम में है, उसने सिर्फ नर्स का काम किया है, इससे ज्यादा कोई उसका काम नहीं है? प्रेम सदा लेखा-जोखा रखता है कि क्या मैं कर नहीं पाया। कृष्ण के पास क्या कमी है? फिर भी सुदामा देने को आतुर है। घर से चलते वक्त उसकी पत्नी ने तो कहा है कि कुछ मांग लेना। लेकिन वह देने को चला आया है।

दूसरी भी बात है, बड़े संकोच से भरा है, अपनी पोटली को बहुत छिपा लिया है। प्रेम देता भी है और संकोच भी अनुभव करता है, क्योंकि प्रेम को सदा लगता है कि देने योग्य है क्या? प्रेम देता भी है और छिपाता भी है। अंधेरे में देना चाहता है, अज्ञात देना चाहता है, बिना नाम के देना चाहता है, पता न चले। तो वह अपनी पोटली को छिपाए हुए है कि दूं कैसे! देने योग्य है भी क्या! ऐसा नहीं है कि चावल है, इसलिए; अगर हीरे भी लेकर सुदामा गया होता तो भी ऐसा ही छिपाता। वह सवाल चावल का नहीं है, उसके लिए तो हीरे से भी ज्यादा कीमती चावल हैं। बड़ा सवाल यह है कि प्रेम कभी घोषणा करके नहीं देता। क्योंकि जब घोषणा ही हो गई तो प्रेम कहां रहा! वहां तो अहंकार शुरू हो गया। प्रेम चुपचाप दे देता है और भाग जाता है। पता भी न चल पाए कि कौन दे गया। और वह बड़ा डरा हुआ है और छिपाए हुए है। वह घड़ी बड़ी अदभुत रही होगी। लेकिन बड़े मजे की बात है, और कृष्ण उससे आते ही से पूछने लगते हैं कि लाए क्या हो? देने को क्या लाए हो? क्योंकि कृष्ण यह मान ही नहीं सकते कि प्रेम बिना देने के खयाल से, और आ गया हो। प्रेम जब भी आता है तो देने ही आता है। सुदामा है कि छिपाए जा रहा है। और कृष्ण हैं कि खोजे जा रहे हैं कि लाए क्या हो? अब ऐसे कृष्ण को क्या कमी है, कि सुदामा क्या लाएगा जिससे उनकी कोई बढ़ती हो जाए! लेकिन वे जानते हैं कि प्रेम जब भी आता है तो देने ही आता है, लेने नहीं आता। सुदामा जरूर कुछ लाया ही होगा। उसने जरूर छिपा रखा होगा, क्योंकि वे जानते हैं कि प्रेम सदा छिपाता है। और फिर उन्होंने उसकी पोटली खोज-बीन कर छीन ही ली। और फिर उस भरे दरबार, जहां कि खाली चावल कभी भी न आए होंगे, वे उन चावलों को खाने लगे।

इसमें कोई विशेष घटना नहीं है। प्रेम के लिए बड़ी सामान्य घटना है। लेकिन चूंकि प्रेम ही हमें सामान्य नहीं रह गया, इसलिए विशेष मालूम पड़ता है।

'मेरा प्रश्न ऐसा है भगवान श्री, कि सुदामा की दरिद्रता को कृष्ण ने दूर किया, पर उसे देखकर क्या कृष्ण को समाज में जिस कारण से दरिद्रता है, उसका खयाल न आया और उन्होंने समाज की अर्थ-व्यवस्था को बदलने के बारे में न सोचा? महावीर और बुद्ध न सोचते तो एक बात थी, पर कृष्ण जैसा व्यापक व्यक्ति, जो लौकिक विषयों को भी पूरा महत्व देता है, क्यों नहीं सोचता है?

धार्मिक पुरुषों ने शायद सोचा ही नहीं। और जिसने सोचा, कार्ल मार्क्स ने, वह धार्मिक न रहा। आप अपने बारे में भी बतलाएं कि आप चूंकि धर्म और आत्मा से संबद्ध हैं, आप अर्थ-व्यवस्था के बारे में कुछ सोचेंगे? और किस रूप में उसे क्रियान्वित किया जा सकेगा?'

* यह सवाल बहुत बार उठता रहा है। और यह इल्जाम बुद्ध पर, कृष्ण पर, महावीर पर, जीसस पर, मुहम्मद पर, सब पर लगाया जा सकता है कि उन्होंने अर्थ-व्यवस्था के संबंध में क्यों न सोचा? बहुत से कारण हैं। वे सोच ही नहीं सकते थे। सोचने का उपाय ही नहीं था। सोचने की परिस्थिति ही नहीं थी। हम सोच पाते हैं, क्योंकि परिस्थिति पैदा हो गई। मार्क्स सोच पाया, क्योंकि मार्क्स के पहले एक 'इंडस्ट्रियल रेवल्यूशन', एक औद्योगिक क्रांति हो गई। औद्योगिक क्रांति के पूर्व जगत में कोई भी अर्थ-व्यवस्था को रूपांतरण करने की नहीं सोच सकता। उपाय नहीं है। इसके कारण समझ लेने जरूरी हैं।

औद्योगिक क्रांति के पूर्व जो जगत था, उस जगत के पास आदमी का श्रम ही एकमात्र उत्पादक स्रोत था। और आदमी के श्रम से जितना पैदा हो सकता था, उसको किसी भी तरह बांटा जाए, उससे दरिद्रता नहीं मिट सकती थी। उससे दरिद्रता मिटने का उपाय ही नहीं था। दरिद्रता लाजिमी थी। विषमता भी नहीं मिट सकती थी। उसके भी कारण हैं। उसकी मैं बात करता हूं।

पहली बात, दरिद्रता नहीं मिट सकती थी। दरिद्रता मिटने के लिए जितनी संपत्ति चाहिए, उतनी समाज के पास संपत्ति न थी। हां, इतना ही हो सकता था कि कुछ लोग जो समृद्ध दिखाई पड़ते थे, वे मिटाए जो सकते थे। उनको भी दरिद्र बनाया जा सकता था। इतना हो सकता था। अगर हजार आदमी में एक आदमी के पास थोड़ी संपत्ति दिखाई पड़ती थी, तो उसको मिटाया जा सकता था। और नौ सौ निन्यानबे की जगह एक हजार आदमी दरिद्र हो सकते थे। मनुष्य अपने श्रम से जो संपत्ति पैदा करता है, उससे कभी दरिद्रता के 'लेवल' के ऊपर नहीं जा सकता। उस दिन के बाद ही दरिद्रता मिटाने का विचार उठ सकता है जिस दिन से आदमी के श्रम की जगह यंत्र का श्रम संपत्ति पैदा करने लगे। उस दिन हम एक-एक आदमी की जगह लाख-लाख गुनी मशीनों का उपयोग कर पाते हैं। संपत्ति वृहत पैमाने पर पैदा होनी शुरू होती है और पहली दफे यह खयाल आना शुरू होता है कि अब दरिद्र रखने की कोई जरूरत न रही। उसकी ऐतिहासिक आवश्यकता समाप्त हो गई। इसलिए औद्योगिक क्रांति के बाद ही मार्क्स सोच पाया। अगर औद्योगिक क्रांति के बाद कृष्ण पैदा होते तो मार्क्स से बहुत ज्यादा साफ सोच पाते, जितना साफ मार्क्स नहीं सोच पाया। लेकिन कृष्ण औद्योगिक क्रांति के पहले हैं। कोई मार्क्स से भी पूछे कि आप भी औद्योगिक क्रांति के पहले क्यों न पैदा हो गए!

ऐसा नहीं है कि मनुष्य के पास चिंतन नहीं था और ऐसा भी नहीं है कि मनुष्य को दरिद्रता के मिटाने का खयाल पैदा नहीं हुआ। हुआ। बुद्ध को भी हुआ, महावीर को भी हुआ। लेकिन बुद्ध और महावीर ने दरिद्रता को मिटाने का उपाय किया? मालूम है, खुद दरिद्र हो गए। और कोई उपाय नहीं था। अगर दरिद्रता पीड़ा देती है, तो इसके सिवाय कोई उपाय नहीं कि तुम भी दरिद्र होकर खड़े हो जाओ दरिद्रों के साथ, और क्या करोगे! तो बुद्ध और महावीर ने अपनी संपत्ति छोड़ दी। महावीर ने तो अपनी संपत्ति बांट भी दी। सारी संपत्ति महावीर ने बांट दी। जो उनके हिस्से में पड़ी थी, वह सब बांटकर वह चले गए। लेकिन उससे दरिद्रता नहीं मिटी। दरिद्रता के मिटने से उसका कोई संबंध नहीं है। यह एक नैतिक उपाय तो हुआ। महावीर ने अपने मन की पीड़ा तो मिटा ली, लेकिन दरिद्रता न मिटी।

इसलिए पुराने जगत के समस्त विचारकों ने अपरिग्रह पर जोर दिया है, परिग्रह मत करो। इस पर वह जोर नहीं दे सकते कि कोई दरिद्र न रहे, वह इस पर ही जोर दे सकते हैं कि कोई संपत्तिशाली न रहे। इसके सिवा कोई उपाय नहीं है। यानी उनके पास जो मौजूदा स्थिति थी, उस मौजूदा स्थिति में एक ही उपाय था कि कोई अमीर न रहे। इसलिए सारे पुराने धर्म अपरिग्रह पर, नॉन पजेसन' पर, चीजों के त्याग पर, धन के संग्रह के विरोध में खड़े हैं। वे कहते हैं, बांट दो सब जो है। लेकिन यह भी वे जानते हैं कि बंटने से यह धनी आदमी तो अपरिग्रही हो जाता है, लेकिन जिसके पास नहीं है उनके पास कुछ भी नहीं पहुंचता। यह उपाय ऐसा है, जैसे कोई चम्मच रंग लेकर और समुद्र को रंगने चला जाए। एक बुद्ध बंट जाते हैं, खतम! एक महावीर बंट जाते हैं, खतम! वह जो विराट दरिद्रता का सागर है, वह उनके चम्मच को घोलकर पी जाता है। उससे कुछ पता नहीं चलता, उससे कहीं कोई परिणाम नहीं होता।

नहीं सोचा जा सकता था, इसलिए नहीं सोचा गया।

लेकिन, दूसरा सवाल है कि विषमता तो मिटाई जा सकती थी। दरिद्रता नहीं मिटाई जा सकती थी, विषमता मिटाई जा सकती थी, लेकिन विषमता मिटाने का खयाल क्यों पैदा न हुआ?

उसका भी कारण है। इसे थोड़ा ऐसे समझना पड़ेगा। विषमता मिटाने का खयाल तभी पैदा होता है, जब बहुत दूर तक हमारे बीच समानता आनी शुरू हो जाती है। उसके पहले पैदा नहीं होता। असल में विषमता है, यह हमें तभी पता चलता है जब समाज 'क्लासेज' में बंटा हुआ नहीं रह जाता, बल्कि सीढ़ियों में बंट जाता है। जैसे एक मेहतरानी है एक गांव की। अगर गांव की महारानी हीरों के हार पहनकर निकले तो मेहतरानी को कोई भी तकलीफ नहीं होती। होती ही नहीं। कोई ईर्ष्या नहीं पकड़ती। क्योंकि फासला इतना बड़ा है कि ईर्ष्या पकड़ने का उपाय भी नहीं। 'डिस्टेंस' बहुत बड़ा है। कहां मेहतरानी और कहां महारानी! इन दोनों के बीच इतना अंतराल है कि मेहतरानी यह सोच भी तो नहीं सकती कि वह महारानी से ईर्ष्या करे। लेकिन उसकी पड़ोस की मेहतरानी अगर एक कंकड़-पत्थर का हार भी डालकर निकल जाए, तो उसे ईर्ष्या शुरू हो जाती है। क्यों? पड़ोस की मेहतरानी जहां है, वहां वह भी हो सकती है। इसमें कोई असंभावना नहीं है। इसलिए ईर्ष्या पकड़ती है। जब तक समाज में ऐसी स्थिति थी कि नीचे फैला हुआ दरिद्रों का विशाल जगत था, और ठेठ आसमान में एकाध आदमी समृद्ध था, तब तक फासले इतने ज्यादा थे कि समानता की धारणा पैदा नहीं हो सकती थी। हम समानता का दावा नहीं कर सकते थे। इसलिए इसका ही उपाय सूझता था कि जो जैसा है, वैसा है।

लेकिन औद्योगिक क्रांति के बाद फासले टूटने शुरू हुए और बीच में सीढ़ियां बन गइ। आज शिखर पर कोई रॉकफेलर होता है, नीचे कोई मजदूर होता है, लेकिन यह विभाजन दो वर्गों का विभाजन नहीं है, इसमें सीढ़ियों का विभाजन है, पायरी हैं। हर एक के ऊपर कोई है, उसके ऊपर कोई है, उसके ऊपर कोई है, और पूरा समाज लंबी सीढ़ी बन गया है। इसमें बीच की सीढ़ियां सब जुड़ गई हैं। इन बीच की सीढ़ियों की वजह से प्रत्येक को यह खयाल आता है कि मुझसे जो आगे है, मैं उसके समान क्यों नहीं हो सकता! प्रत्येक को यह खयाल आता है कि मुझसे जो आगे है, मैं उसके समान क्यों नहीं हो सकता!

समानता का खयाल वर्ग-विभक्त समाज में नहीं पैदा होता, सीढ़ी-विभक्त समाज में पैदा होता है। समानता की धारणा ही पैदा नहीं होती। लेकिन इसका यह मतलब नहीं है कि बुद्ध, महावीर या कृष्ण ने समानता की बात नहीं की। जिस समानता की बात उस समय संभव थी, उन्होंने की है। वह आत्मिक समानता की बात है। उस दिन वही संभव था। एक आध्यात्मिक 'इक्वेलिटी' की बात संभव थी कि सबके भीतर जो प्राण हैं, जो आत्मा है, वह समान है। लेकिन सबके बाहर जो सुविधा-असुविधा है—धन है, कपड़े हैं, मकान है, उनके समान होने का का कोई खयाल पैदा नहीं हो सकता था। इसका कोई रास्ता नहीं था। आज हम सोच सकते हैं। लेकिन एक उदाहरण से आपको मैं खयाल दिलाऊं। बहुत-सी बातें हैं जो आज हम नहीं सोच सकते, जो कल आने वाली पीढ़ियां हम पर इल्जाम लगाएंगी। आज हम नहीं सोच सकते। उदाहरण के लिए एकाध बात आपसे कहूं जो आने वाली पीढ़ियां आप पर इल्जाम लगाएंगी—

आज आप यह सोच ही नहीं सकते, आज आप हर आदमी को मजदूरी देते हैं, जब वह काम करता है। आने वाली पीढ़ियां आपसे कहेंगी क्या उस वक्त कोई भी एक विचारक पैदा न हुआ, जो कहता कि खाने-पीने के लिए काम की जबर्दस्त शर्त लगानी अनैतिक है? जल्दी वक्त आ जाएगा। जल्दी वक्त आ जाएगा जब सारी 'आटोमेटिक' मशीनें उत्पादन करने लगेंगी, तो बहुत सवाल आ जाएगा कि अब काम जरूरी नहीं रहा। प्रत्येक आदमी को बिना काम के मिल जाना चाहिए। और जो लोग काम की भी मांग करेंगे, उनको थोड़ा कम मिलेगा, बजाय उनके जो काम की मांग नहीं करेंगे। क्योंकि वे दो-दो चीजें इकट्ठी मांगते हैं—काम भी मांगते हैं, तनख्वाह भी मांगते हैं।

आज अमरीका का अर्थशास्त्री निरंतर चिंतित है कि वह क्या, भविष्य के लिए क्या करे? हमारी पुरानी आदत यह है कि जो काम करे, उसे मिलना चाहिए। भविष्य की संभावना यह है—सिर्फ पच्चीस-तीस साल के बाद—कि जो काम करे, काम तो दे नहीं सकते हम सबका तो जो न काम करे उसे ज्यादा दिया जाए—देना तो पड़ेगा ही उसको, क्योंकि अगर फैक्ट्री में आप कारें भी बना लेंगे और खरीदने के लिए लोगों के पास पैसा नहीं होगा, तो आप कारों को बनाकर क्या करेंगे? फैक्ट्री पूरी-की-पूरी आटोमेटिक हो जाएगी, जहां लाख आदमी काम करते थे, वहां एक आदमी बटन दबा कर

काम कर देगा, तो वह जो लाख आदमी बाहर चले गए, अगर उनको कुछ भी न दें आप, तो यह फैक्ट्री की कारें कौन खरीदेगा? इन कारों को खरीदने के लिए देना तो पड़ेगा ही। सारी चीजों को खरीदने के लिए उनको देना पड़ेगा। वे बिना काम से रहने को राजी हैं—जो कि बड़ा कठिन पड़ेगा—अभी हमको पता नहीं है कि बिना काम से राजी रहना इतना कठिन पड़ेगा जितना सख्त मजदूरी कठिन नहीं पड़ी। तो भविष्य में कोई जरूर कहेगा कि कैसे लोग थे, न कृष्ण, न महावीर, न मार्क्स, कोई भी यह नहीं सोच सका कि आदमी से काम लेना बड़ी अनैतिक अमानवीयता है। क्योंकि उसको भूख लगी है, इसलिए आप काम लेकर रोटी देते हैं। भूख लगी है तो रोटी मिलनी चाहिए। काम का क्या सवाल है! लेकिन यह अभी हम नहीं सोच सकते। अभी हमें सोचना बहुत कठिन पड़ेगा कि यह क्या बात है! अभी तो काम भी मिल जाए तो भी रोटी नहीं मिलती, तो बिना काम के रोटी तो बहुत मुश्किल है। हर युग की अपनी व्यवस्था, अपनी संभावना के बीच चिंतन के फूल खिलते हैं।

कृष्ण के वक्त में विषमता का कोई दंश नहीं है। 'अनइक्वेलिटी' की कोई पीड़ा नहीं है। इसलिए 'इक्वालिटी' का, समानता का कोई नारा नहीं है। और गरीब पीड़ित नहीं है इस बात से कि वह गरीब है। अब देखें, मजे की बात है कि प्लेटो जैसा विचारक, जो कि समानता का बड़ा पुरस्कर्ता है, वह भी गुलामों को मिटाया जाए इसका खयाल ही उसे नहीं आता। बल्कि वह कहता है, गुलाम तो रहेंगे ही। क्योंकि यूनान में गुलाम सहज बात थी। बल्कि प्लेटो यह कहता है कि अगर गुलाम न रहेंगे तो समानता कैसे रहेगी?

'फिर कुछ चुने हुओं का वर्ग हमेशा हावी रहेगा?'

* वे रहे हैं। और 'एलाइट क्लास' हमेशा हावी रहेगा, शक्लें बदल सकती हैं उससे और कोई फर्क पड़ने वाला नहीं है। कभी वह मालिक की तरह हावी होता है, कभी नेता की तरह हावी होता है, कभी राजा की तरह हावी होता है, कभी गुरु की तरह हावी होता है, कभी महात्मा की तरह हावी होता है, लेकिन 'एलाइट' हमेशा हावी होता है। और ऐसा मैं कोई युग नहीं देख सकता, जिस दिन कि चुने हुए लोग हावी नहीं होंगे। असल में जब तक चुने हुए लोग रहेंगे तब तक हावी होते रहेंगे, इसमें कोई उपाय नहीं है। यह दूसरी बात है, उनकी शक्ल बदल जाए, कभी हम उनको कहें कि ये राजा हैं और कभी हम कहें ये राष्ट्रपति हैं। कभी हम कहें कि ये सम्राट हैं और कभी हम कहें कि वे मंत्री हैं। और कभी हम कहें कि ये महात्मा हैं और कभी हम कहें कि ये भगवान हैं। और हम नाम कुछ भी देते रहें लेकिन जब तक मनुष्यों का विकास समान तल पर नहीं पहुंच जाता कि हर मनुष्य समान तल पर पहुंच जाए, समस्त विकासों की दृष्टि से जैसा कि मैं नहीं मानता कि कभी हो पाएगा। और वह समाज बड़ा बेरौनक और बहुत बेहूदा होगा, जिस दिन सारे लोग समान तल पर पहुंच जाएंगे। बहुत 'बोरडम' का होगा—अभी हम सोच सकते हैं। लेकिन चुने हुए लोग रहेंगे। कोई अच्छा सितार बजाएगा, तो कम अच्छा सितार बजानेवाले पर हावी हो ही जाने वाला है, इसमें करियेगा क्या! कोई अच्छा नाचेगा तो कम अच्छा नाचनेवाले पर हावी हो ही जाने वाला है, इसमें करियेगा क्या! अब कोई आइंस्टीन पैदा होगा, तो जो दो और दो भी नहीं जोड़ सकते उन पर अगर हावी हो जाए, तो इसमें कसूर किसका? इसमें करियेगा क्या? यह स्थिति ऐसी है कि इस स्थिति में कोई-न-कोई हावी होता रहेगा। यह बात पक्की है कि पुराने ढंग के हावी होनेवाले लोगों से जब हम ऊब जाते हैं—ऊब भी जाते हैं और व्यवस्था के लिए, भविष्य के लिए वे मौजूं भी नहीं रह जाते, इसलिए बदलाहट करनी पड़ती है। अब आज रूस है, हमने बदल दिया है सब, लेकिन फिर दूसरे लोग हावी हो गए। वे पिछले लोगों से कम हावी नहीं हैं, बल्कि ज्यादा ही हावी हैं। आज चीन है, हमने एक को तो बदल दिया, दूसरे लोग हावी हो गए।

जब तक मनुष्य और मनुष्य के बीच फासले हैं, बुद्धि के, विचार के, क्षमताओं के, प्रतिभाओं के, शक्तियों के, तब तक असंभव है कि कोई हावी नहीं हो सकेगा। हो ही जाएगा। और तब तक यह असंभव है कि कोई न चाहेगा कि कोई मुझ पर हावी हो जाए। कोई चाहेगा कि हावी हो जाए। क्योंकि वह भी बिना उसके नहीं जी सकेगा, बिना हावी हुए। तो दुनिया

में बदलाहट चलती रहेगी। एक युग की बात हमें बेहूदी लगने लगती है, क्योंकि हम दूसरी तरह के हावीपन को स्वीकार कर लेते हैं।

कृष्ण के वक्त में यह सहज स्वीकृत है। गरीब गरीब होने को राजी है। अमीर के मन में कोई दंश नहीं है अमीर होने का। क्योंकि जब तक गरीब गरीब होने को राजी है। अमीर के मन में दंश हो नहीं सकता। अमीर 'ऐट ईज' है। उसे कोई तकलीफ नहीं है इस बात की। इसलिए समाज को कोई चिंतन का मौका पैदा नहीं होता। जैसे उदाहरण के लिए, अभी हम कहने लगे कि गरीब और अमीर समान होने चाहिए। उसका कुल कारण यह नहीं है कि हमारी बौद्धिक प्रतिभा कृष्ण से आगे चली गई, उसका कुल कारण इतना है कि सामाजिक व्यवस्था कृष्ण से भिन्न हो गई। लेकिन अभी भी कोई आदमी यह नहीं कह सकता कि मैं कम बुद्धि का हूं, तो जो मुझसे ज्यादा बुद्धि का है, हममें समानता होनी चाहिए। लेकिन आज से पचास साल बाद कम बुद्धि का आदमी यह अपील करना शुरू कर देगा। क्योंकि पचास साल में हम वह व्यवस्था खोज लेंगे जिससे बुद्धि में भी कमी-बढ़ती की जा सकती है। अभी वह व्यवस्था हमारे पास नहीं है, विकसित हो रही है। पचास साल बाद हर बच्चा यह कहेगा कि मैं जड़बुद्धि होने को राजी नहीं हूं, और किसी आदमी को यह हक नहीं है कि वह प्रतिभाशाली हो जाए, होंगे तो हम सब समान रहेंगे।

यह उस दिन उठ सकती है, अभी नहीं उठ सकती यह आवाज। क्योंकि अभी हमारे पास व्यवस्था नहीं है। लेकिन अब हम जो खोज कर रहे हैं और मनुष्य के 'जीन' में, उसके मूल 'सेल' में जो प्रवेश हो गया है, उससे संभावना बढ़ गई है। क्योंकि मनुष्य के 'जीन' में विज्ञान का जो प्रवेश है, अब वह यह बात तय कर सकेगा कि इस बच्चे की कितनी प्रतिभा हो जो इस बीज से पैदा होगा। और जैसे अभी बाजार में आप फूलों के बीज का पैकेट खरीदने चले जाते हैं, जिस पर फूल की तस्वीर बनी होती है ऊपर कि अगर इस बीज को इतनी खाद और इतनी व्यवस्था दी गई तो यह बीज इतना बड़ा फूल बन सकेगा, उस दिन एक बाप और एक मां बाजार में—सिर्फ पचास साल के भीतर—उस पैकेट को खरीद सकेंगे जिसमें बच्चे की तस्वीर बनी होगी कि इसकी आंखें इस रंग की होंगी, इसके बाल इस ढंग के होंगे, इसकी लंबाई इतनी होगी, इसका स्वास्थ्य इतना होगा, इसकी उम्र इतनी होगी—यह 'गारंटीड' है कि सत्तर साल तक नहीं मरेगा, इसको ये-ये बीमारियां नहीं होंगी और इसकी प्रतिभा का 'आइ.क्यू.' इतना होगा, इसकी बुद्धि का माप इतना होगा। आप चुनाव कर सकते हैं। यह संभव हो जाएगा। बीज के बाबत भी पहले संभव नहीं था, आज संभव है। आदमी भी एक बीज से जन्मता है। आदमी के बीज के बाबत भी संभव हो सकता है।

जिस दिन यह संभव हो जाएगा, उस दिन हम पूछेंगे कि कृष्ण को कभी खयाल न आया कि यह प्रतिभा और गैर-प्रतिभा में समानता होनी चाहिए। आ कैसे सकती है? इसके आने का कोई उपाय नहीं है।

'भगवान श्री, सुदामा के संबंध में एक छोटा-सा प्रश्न आया है। जब सुदामा कृष्ण के पास कुछ लेने आए तभी तीन लोक का साम्राज्य दिया गया। लेकिन उसके पहले कृष्ण ने सुदामा को क्यों कुछ नहीं दिया? वह गरीब तो बहुत था बेचारा!'

* इस जगत में मिलता कुछ भी नहीं है। इस जगत में मिलता कुछ भी नहीं है, खोजना पड़ता है। भगवान तो यहीं मौजूद है और ऐसा नहीं कि आपकी पीड़ा का उसको पता नहीं है, लेकिन आप पीठ करके खड़े हैं। और इतनी स्वतंत्रता आपको है कि आप चाहें तो भगवान को लें और चाहें तो न लें। जिस दिन आपको मिलेगा, उस दिन आप भगवान से शिकायत कर सकते हैं कि जब तक मैंने तुझे नहीं खोजा, तूने ही मुझे क्यों न खोज लिया? लेकिन भगवान उस दिन कहेगा कि जबर्दस्ती तेरे ऊपर हावी हो जाऊं, वह भी परतंत्रता हो सकती है।

स्वतंत्रता का अर्थ ही इतना है कि जो हम खोजते हैं वह हमें मिल सके, जो हम नहीं खोजते हैं वह न मिल सके। और ध्यान रहे, कुछ भी इस जगत में नहीं मिलता है बिना खोजे, खोजना ही पड़ता है। सुदामा कैसा है, यह सवाल बड़ा नहीं है। सुदामा इनकार भी कर सकता है। और मैं मानता हूं कि अगर कृष्ण देने गए होते सुदामा के घर, तो शायद इनकार भी कर देता। जरूरी नहीं था कि स्वीकार करता। सुदामा की तैयारी होनी चाहिए। यह सारी-की-सारी घटनाएं बहुत

मनोवैज्ञानिक अर्थ रखती हैं। इनकी अपनी 'साइकलॉजिकल' अर्थवत्ता है। हम जो खोजने जाएंगे, जिस दिन हमारी खोज की तैयारी पूरी होगी, उसी दिन वह हमें मिल सकता है। उसके पहले हमें नहीं मिलेगा। पड़ा हो बगल में तो भी नहीं मिलेगा। हमारी खोज ही उसके मिलने का द्वार बनेगी। इसलिए सुदामा गरीब है, अकेला सुदामा गरीब नहीं है, बहुत लोग गरीब हैं। और कृष्ण के लिए इससे कोई फर्क नहीं पड़ता कि सुदामा गरीब है कि कोई और गरीब है, बड़ा फर्क जो पड़ता है वह यह कि सुदामा इतना गरीब होकर भी देने चला आया है, आदमी अमीर होने के योग्य है।

यह जो सुदामा की स्थिति है, उसी से परिवर्तन शुरू होता है। और हम ही, प्रत्येक व्यक्ति व्यक्ति की हैसियत से अपने परिवर्तन को शुरू करता है, बाकी फिर सारी शक्तियां मिलती चली जाती हैं। जिस आदमी ने इस पृथ्वी पर गरीब होने का तय किया है, उसे सब गरीबी की परिस्थितियां मिल जाएंगी। जिस आदमी ने इस पृथ्वी पर अज्ञानी रहने का तय किया है, उसे अज्ञानी होने की सब परिस्थितियां मिल जाएंगी। जिस आदमी ने इस जगत में ज्ञान के लिए तय कर रखा है, उसे ज्ञान के सब द्वार खुल जाएंगे। इस जगत में हम जो मांगते हैं, वह लौट आता है, वह आ जाता है। बहुत गहरे में, हमारी ही आकांक्षाएं, हमारी ही प्रार्थनाएं, हमारी ही अभीप्साएं हम पर लौट आती हैं। और जब अगर कोई आदमी समझता हो कि मैं गरीब क्यों हूं, तब अगर आप उसके पूरे व्यक्तित्व का खोजेंगे तो बहुत हैरान हो जाएंगे, उसने गरीब होने की सारी व्यवस्था कर रखी है। वह गरीब होने के लिए पूरा-का-पूरा तत्पर है। और अगर गरीब न हो तो खुद भी चौंकेगा कि यह क्या हो गया! अज्ञानी ने पूरी व्यवस्था कर रखी है अज्ञान की। और अपने अज्ञान की सुरक्षा के सब उपाय कर रहा है। और अगर कोई उसका अज्ञान तोड़ने आए तो क्रुद्ध हो जाता है। और अपने बागुड़-बगीचे को डंडा लेकर खड़ा हो जाता है कि भीतर प्रवेश मत कर जाना।

नहीं, जो हम खोजने जाते हैं, वही होता है। सुदामा जाता है कृष्ण के पास, तो सुदामा को कृष्ण मिल पाते हैं। कृष्ण का आना उचित भी नहीं है। प्रतीक्षा कृष्ण को करनी चाहिए सुदामा के आने तक। वह प्रतीक्षा जरूरी है। ऐसा नहीं है कि परमात्मा आपसे नाराज है और आपके पास नहीं आ रहा है। लेकिन आपको उसके पास जाना पड़ेगा। और जिस दिन आप जाएंगे, उस दिन आप पाएंगे, वह सदा तत्पर था आपको मिलने को। लेकिन आप ही राजी नहीं थे।

'द्रौपदी वाले पहले प्रश्न में, कृष्ण द्रौपदी के प्रति बहुत अनुराग है, इसकी चर्चा नहीं हुई। इस पर कुछ सुनना चाहेंगे।'

* द्रौपदी ऐसी है कि कृष्ण का अनुराग उस पर हो। ऐसे तो कृष्ण का अनुराग सब पर है। लेकिन द्रौपदी के पास पात्र बड़ा है। सागर के तट पर हम जाएं, तो अपने-अपने पात्र के बराबर भर ले आते हैं। सागर तो बहुत बड़ा है। और कभी सागर कहता नहीं कि कितना बड़ा पात्र लेकर मेरे पास तुम आओ। जितना बड़ा पात्र हो, उतना लेकर हम जाते हैं।

द्रौपदी के पास बड़े-से-बड़ा पात्र है और कृष्ण का बहुत अनुराग उसे उपलब्ध हुआ है। और वह अनुराग और वह प्रेम बड़ा गहरा, बड़ा वायवी, जिसको कहें 'प्लेटॅनिक'—इतना गहरा है कि कृष्ण और द्रौपदी के बीच किसी तरह की शारीरिक निकटता का कोई आग्रह नहीं है। लेकिन जितने कृष्ण द्रौपदी के काम पड़ते हैं, उतने किसी के काम नहीं पड़ते हैं। और जब भी वक्त आता है, तब वे तत्काल मौजूद हो जाते हैं। जैसे कि पीछे हम बात कर रहे थे कि उसे नग्न किया जा रहा है, उघाड़ा जा रहा है, तब वे मौजूद हो गए हैं।

एक तो प्रेम है जो मुखर होता है, जो बोलता है और एक प्रेम है जो मौन होता है, बोलता नहीं है। और ध्यान रहे, बोले जाने वाला प्रेम बहुत गहरा नहीं हो पाता, छिछला हो जाता है। वाणी में कोई बहुत गहराई नहीं है। मौन रहे जाने वाला प्रेम बहुत गहरा हो जाता है। मौन की बड़ी गहराई है। द्रौपदी का प्रेम बड़ा मौन है। बहुत मौके पर दिखाई पड़ता है, लेकिन प्रगट और आक्रामक नहीं है। और मौन जितने दूर तक प्रभावित करता है प्रेमी को, उतना कोई और प्रेम प्रभावित नहीं करता है। कृष्ण काम तो पड़ जाते हैं द्रौपदी के जगह-जगह, लेकिन कृष्ण का यह प्रेम और द्रौपदी का यह कृष्ण के प्रति लगाव कहीं बहुत स्थूल घटनाओं में रूपांतरित नहीं होता। असल में स्थूल में रूपांतरित होने का आग्रह ही तब होता है जब हम सूक्ष्म में नहीं मिल पाते हैं। अन्यथा प्रेम दूर भी रह सकता है, कोसों दूर रह सकता है। अन्यथा प्रेम समय में भी

फासले पर हो सकता है। अन्यथा ऐसा भी हो सकता है कि प्रेम कभी निवेदन भी न करे कि प्रेम है। इतना चुप भी हो सकता है।

लेकिन कृष्ण जैसे व्यक्ति को इतनी चुप्पी भी समझ में आ सकती है। सभी को समझ में नहीं आएगी। इसलिए प्रेम न भी हो हमारे भीतर, तो भी वाणी से प्रगट करने से काम चलता है। क्योंकि वाणी समझ में आती है, प्रेम तो समझ में आता नहीं। अभी प्रेम पर किताबें लिखी जाती हैं। मनोवैज्ञानिक प्रेम पर किताबें लिखते हैं। तो वे उसमें इस बात पर बहुत जोर देते हैं कि चाहे प्रेम हो या न हो, चाहे प्रेम का क्षण हो या न हो, लेकिन प्रगट जरूर करते रहो। पति जब सांझ को घर लौटे, तो चाहे वह थका-मांदा हो, चाहे वह कितना ही परेशान हो, मनोवैज्ञानिक कहते हैं उसे आकर एकदम पत्नी को देखकर खिल जाना चाहिए। चाहे यह अभिनय करना पड़े। एकदम उसे कुछ ऐसी बातें कहनी चाहिए जो प्रेमपूर्ण हैं। जब वह सुबह जाने लगे तो उसे बड़ी पीड़ा दर्शानी चाहिए कि पत्नी से कुछ घंटों के लिए छूट रहा है। चाहे उसे बड़ा सुख मिल रहा हो। यह मनोवैज्ञानिक ठीक कहते हैं। वह इसलिए ठीक कहते हैं कि हम शब्दों पर जी रहे हैं। यहां असली प्रेम का मतलब किसे है, प्रयोजन किसे है! हम शब्दों पर जीते हैं। एक आदमी ने आपका कुछ थोड़ा-सा काम किया और आप उसे सिर झुका कर कर धन्यवाद दे देते हैं। आपने धन्यवाद अनुभव किया या नहीं किया, यह सवाल नहीं है बड़ा। लेकिन आप सिर झुका कर धन्यवाद दे देते हैं। उस आदमी को तो धन्यवाद मिल जाता है, आपने दिया या नहीं, यह सवाल नहीं। क्योंकि शब्दों में हम जीते हैं। लेकिन अगर आपने धन्यवाद न दिया, चाहे भीतर अनुभव भी किया, तो भी वह आदमी दुखी होकर चला जाता है कि कैसे पागल आदमी हैं, मैंने इतना काम किया, धन्यवाद तक न दिया।

हम मौन को नहीं समझ पाते, इसलिए वाणी में ही हमारा सब चलता है। लेकिन ध्यान रहे, यह कभी खयाल में आया हो, न आया हो,, जब हम किसी के प्रति बहुत प्रेम में भरे होते हैं तो वाणी एकदम निरस्त हो जाती है। जब हम किसी के प्रति बहुत प्रेम से भरे होते हैं तो अचानक पाते हैं अब बोलने को कुछ भी नहीं बचा, कहने को कुछ भी नहीं बचा। प्रेमी बहुत तय करते हैं कि जब अपने प्रेमपात्रों को मिलेंगे तो यह कहेंगे, यह कहेंगे, यह कहेंगे और जब मिलते हैं तब अचानक पाते हैं कि कुछ याद नहीं पड़ता क्या कहना था! सब चुप हो गया है, सब मौन हो गया है। बीच में मौन खड़ा हो जाता है।

द्रौपदी और कृष्ण का प्रेम बड़ा मौन है। वह और मुखर प्रेमों की तरह नहीं है। लेकिन कृष्ण पर उसकी...उसकी गहरी....उसकी गहरी संवेदना कृष्ण पर हुई है। इसलिए जितने काम वह द्रौपदी के पड़े उतने वह किसी के काम पड़े नहीं हैं। और पूरी महाभारत की कथा में कृष्ण छाया की तरह द्रौपदी की रक्षा करते रहे हैं। वह बड़ा दूर का नाता है। उसमें बहुत साफ-साफ बीच में घटनाएं नहीं दिखाई पड़ती हैं। लेकिन बहुत छाया-संबंध है। वह बहुत चुपचाप 'इंटिमेटली' चलता रहता है।

'पश्चिम के सागर-तट की सुरक्षा तथा बाहरी आक्रमण से बचने के लिए कृष्ण ने मथुरा का त्याग और द्वारका का वास किया था। सुना है कि मथुरा के लोग भगवान कृष्ण को आपत्ति समझते थे, क्योंकि उनके कारण ही जरासंध आदि राजा मथुरा पर आक्रमण करने पर तुले थे। कृष्ण को भी जरासंध हरा सका, यह उनके चरित्र के मानवीय अंश का छोर नहीं है क्या?'

* जीवन में हार और जीत कपड़े के आड़े और तिरछे तानों-बानों की तरह होती है। अकेली जीत से कोई जीवन नहीं बनता। खड़े ताने रह जाते हैं, आड़े ताने नहीं होते। अकेली हार से कोई जीवन नहीं बनता, आड़े ताने रह जाते हैं, खड़े ताने नहीं होते। जीवन के कपड़े की जो बुनावट है वह हार और जीत के इकट्ठे साथ, सफलता और असफलता के इकट्ठे साथ, गलत और सही के इकट्ठे साथ से बुना जाता है। जीवन है, तो वह दोनों हैं।

इसलिए असली सवाल यह नहीं है कि कब कृष्ण हार जाते हैं किससे और कब जीत जाते हैं। असली सवाल जो है वह यह है कि टोटल जिंदगी का परिणाम जीत है कि हार है। सभी की जिंदगी के लिए। यह सवाल नहीं है कि आप कब हार गए थे और कब जीत गए थे; क्योंकि हो सकता है, आपकी हार जीत के लिए सीढ़ी बनी हो। और यह भी हो सकता है

कि आपकी जीत सिर्फ एक बड़ी हार में कूदने के लिए खाई बन गई हो। जिंदगी के ताने-बाने विराट, जटिल हैं। यहां सब हारें हारें नहीं हैं, यहां सब जीतें जीतें नहीं हैं। इसलिए आखिरी जो निर्णय है वह यह नहीं होता है कि आदमी कब असफल हुआ और कब सफल हुआ; कब हारा, कब जीता? असली सवाल यह है कि उसकी पूरी जिंदगी की कथा का सार निचोड़ जीत है कि हार?

इसलिए बहुत स्वाभाविक है कि कृष्ण की जिंदगी में भी कुछ हार के क्षण हों। जिंदगी है तो होंगे। अगर भगवान को भी जीना हो, तो भी उसे आदमी की तरह ही जीना होगा। जिंदगी में तो उसे आदमी की तरह ही खड़ा होना होगा। और जिंदगी के सुख-दुख उसे एक-साथ स्वीकार करने पड़ेंगे। अगर जो आदमी हारने को तैयार नहीं है, उसे पक्का कर लेना चाहिए कि उसे जीतने का खयाल छोड़ देना चाहिए।

कृष्ण की जिंदगी में दोनों हैं। इसलिए जिंदगी मेरे लिए मानवीय किसी हीनता के अर्थ में नहीं हो जाती, बल्कि गरिमा के अर्थ में हो जाती है। यानी कृष्ण हार भी सकते हैं, इतने अदभुत आदमी हैं। जीत की जिद्द नहीं है। जीतेंगे ही, जीतकर ही रहेंगे, जीतते ही रहेंगे, ऐसा अभिमान भी नहीं है। हार भी आ सकती है। भागना भी आ सकता है। कहीं पलायन भी हो सकता है, कहीं से जगह भी छोड़नी पड़ सकती है। यह सब स्वीकार है। जिंदगी के सब ताने-बाने, जैसे हैं वे स्वीकृत हैं। इसमें चुनाव नहीं है कि हम यही करके रहेंगे। बस इतना ही हम राजी हैं, आगे हम राजी नहीं हैं। तो कृष्ण की बहुत जगह जो 'ह्यूमनिटी' है, वह कई जगह बुद्ध और महावीर की 'डिविनिटी' के सामने छोटी मालूम पड़ेगी। बुद्ध और महावीर एकदम 'डिवाइन' मालूम पड़ते हैं, एकदम दिव्य मालूम पड़ते हैं, उनमें मानवीयता बिलकुल नहीं मालूम पड़ती। लेकिन ध्यान रहे, बहुत दिव्यता अमानवीयता भी हो जाती है। बहुत दिव्यता में, वह जो मानवीय नाजुकता है, वह जो 'डेलिकेसी' है, वह खो जाती है और चीजें सख्त हो जाती हैं।

कृष्ण सख्त होने को राजी नहीं हैं। इसलिए जिनको हम मानवीय कमजोरियां कहते हैं, वे कृष्ण में सब-की-सब स्वीकृत हैं। कहावत है अंग्रेजी में, 'टु एर इज ह्यूमन', भूल करना मानवीय है। लेकिन इससे उलटी कहावत नहीं है, 'नेवर टु एर इज इनह्यूमन'। पर वह भी सच है। कभी भी भूल न करना बड़ा अमानवीय हो जाना है। पर भूल को भूल की तरह लेने की जरूरत कृष्ण को नहीं मालूम पड़ती है। वह जिंदगी में आया हुआ हिस्सा है, वह उसे लिए चले जाते हैं।

और यह भी सच है कि उन्हें मथुरा छोड़ देनी पड़ी। कृष्ण जैसे व्यक्ति को बहुत जगहें छोड़नी पड़ सकती हैं। वे कई जगह उपद्रव के सिद्ध हो सकते हैं। कई जगह उन्हें सहने के लिए धीरे-धीरे असमर्थ हो सकती हैं। कई जगह आखिर में उनसे कह सकती हैं कि आपसे हम क्षमा चाहते हैं, आप हट जाएं—क्योंकि कृष्ण के साथ चलना और कृष्ण के साथ जीना और कृष्ण को समझना आसान नहीं है। तो वे हट जाते हैं। इस हटने में कोई उन्हें कठिनाई नहीं होती। वे ऐसे ही हट जाते हैं, क्योंकि वे पैर जमाकर कहीं भी खड़े नहीं हो गए हैं कि वहां होने का उन्होंने निश्चय कर रखा है। वे हट जाते हैं। हटने में वे बड़ी सरलता का उपयोग करते हैं, चुपचाप हट जाते हैं। फिर पीछे लौटकर भी नहीं देखते। इधर पीछे जो उन्हें प्रेम करते हैं, परेशान हैं, खबरों पर खबरें भेजते हैं, चिट्ठियों पर चिट्ठियां लिखते हैं, पता लगाते हैं कि वे याद भी करते हैं कि नहीं करते हैं, लेकिन वे दूसरी जगह पहुंच गए हैं। अब वे दूसरी जगह को याद करेंगे कि इस जगह को याद करेंगे! वे भूल गए हैं। वे जहां हैं, वहां पूरे हैं। इसलिए कठोर भी मालूम पड़ते हैं।

कृष्ण की जिंदगी एक बहाव है। हवाएं पूरब जाती हैं तो वे पूरब चले जाते हैं, हवाएं पश्चिम जाती हैं तो वे पश्चिम चले जाते हैं। कृष्ण का अपना आग्रह नहीं है कि मैं यहीं रहूंगा, ऐसा ही रहूंगा, ऐसा ही होने की मैंने कसम खा रखी है, ऐसा कुछ भी नहीं है। जिंदगी जहां ले जाती है, वे राजी हैं। और लाओत्से का एक वचन है, वह मैं कहूं आपको, लाओत्से कहता है, हवाओं की तरह हो जाओ। जब हवाएं पूरब जाएं तो पूरब, जब हवाएं पश्चिम जाएं तो पश्चिम, तुम आग्रह मत करो कि मैं यहां ही जाऊंगा।

एक छोटी-सी झेन कहानी है। एक नदी पर तीव्र पूर है। जोर का बहाव है—बाढ़ है आई हुई। पागल दौड़ती है नदी। और दो घास के छोटे-से तिनके उसमें बह रहे हैं। एक तिनके ने नदी की बाढ़ में अपने को आड़ा डाल रखा है और नदी से लड़ रहा है। कुछ फर्क नहीं पड़ रहा है नदी को। उसे पता भी नहीं है कि यह तिनका नदी से लड़ रहा है। लेकिन तिनका है कि

मरा जा रहा है, तिनका है कि लड़े जा रहा है। लड़ रहा है, फिर भी बह तो रहा ही है। क्योंकि नदी बही जा रही है। कोई तिनके के लड़ने से नदी रुकती नहीं। दूसरे तिनके ने नदी में अपने को सीधा छोड़ दिया है, लंबाई में। और वह बड़ा आनंदित है और बड़ा नाच रहा है, क्योंकि वह यह सोच रहा है कि नदी को बहने का मैं रास्ता दे रहा हूं। नदी मेरे सहारे बही जा रही है। नदी को कोई फर्क नहीं पड़ता। नदी को उन दोनों तिनकों का भी पता नहीं है, लेकिन उन तिनकों को बहुत फर्क पड़ता है।

जिंदगी में दो ही तरह के लोग हैं। आग्रहशील—ऐसे ही होंगे, यही होंगे, यही करेंगे, ऐसे लोग उस तिनके की तरह हैं जो नदी में अपने को आड़ा डाल देते हैं। इससे नदी को कोई फर्क नहीं पड़ता, जीवन की धारा चली जाती है। वे आड़े ही बहते रहते हैं, लेकिन कष्ट बड़ा भोगते हैं। ऐसे भी लोग हैं जो जिंदगी में नदी की धार में अपने को सीधा लंबा छोड़ देते हैं। वे कहते हैं कि हम साथ-साथ हैं। हम तुम्हें साथ ही दे रहे हैं! नदी, बहो! हमारे साथ ही बहो! वे बड़े आनंदित होते हैं और नाच पाते हैं। कृष्ण के ओंठों पर बांसुरी संभव हो सकी, क्योंकि वह लंबी धारा में अपने को छोड़े हुए आदमी हैं। जिंदगी की धार के साथ वह एक हैं। आड़े नहीं हैं, नहीं तो बांसुरी मुश्किल थी। महावीर के ओंठ पर बांसुरी नहीं रख सकते आप। एकदम फेंक देंगे कि क्या पागलपन कर रहे हो! कृष्ण के ओंठ पर बांसुरी रखी जा सकती है। यह आदमी बांसुरी बजा सकता है। उसका कुल कारण इतना ही है कि नदी की, जीवन की धारा से कोई ऐसा संघर्ष नहीं है; नदी जहां ले जाती है, जाने को राजी है। अगर मथुरा से नदी बह गई, तो द्वारका में बहेगी, हर्ज क्या है! अगर मथुरा के घाट से छूट गया सब तो द्वारका में घाट बन जाएगा, हर्ज क्या है? अनाग्रहशील व्यक्तित्व का वह लक्षण है।

'भगवान श्री, कालयवन मानता है कि कृष्ण भागते हैं, मगर कृष्ण भगाते हैं उसे और ले जाते हैं उस गुफा में जहां मुचकुंद सोया हुआ है। मुचकुंद जागता है और उसकी दृष्टि से, पुराणकार कहते हैं, कालयवन जल जाता है। वह क्या तात्पर्य रखता है?'

* इन सारे शब्दों के प्रतीक अर्थ हैं। यह कृष्ण की कथा में बहुत कुछ जुड़ा है। बहुत कुछ सिर्फ प्रतीक है, 'मेटाफर' है। बहुत कुछ किन्हीं घटनाओं से संबंधित है। बहुत कुछ किसी 'फिलासॅफी', किसी 'मेटाफिजिक्स' से संबंधित है, यह सब जुड़ा है। कृष्ण किसी को भगाते हैं, ऐसा हमें दिखाई पड़ सकता है। जो भाग रहा है, उसको भी दिखाई पड़ सकता है कि मुझे भगा रहे हैं। लेकिन जहां तक मेरी समझ है, कृष्ण जैसा व्यक्ति किसी को भगाता नहीं, भागने की घटना घट सकती है। स्थिति ऐसी हो सकती है कि भागना किसी के लिए अनिवार्य हो जाए और कृष्ण को पीछा करना अनिवार्य हो जाए। अब इसमें बड़ा तय करना मुश्किल है।

मैंने सुना है कि एक बादमी सुबह एक गाय के गले में रस्सी बांधकर ले जा रहा है। और रास्ते के लोगों में से कोई एक फकीर ने, एक सूफी फकीर ने उससे पूछा है कि तुम गाय से बंधे हो कि गाय तुमसे बंधी है? उस आदमी ने कहा, पागल हो गए हो! मैं गाय को बांधे हुए हूं। मैं क्यों गाय से बंधा होने लगा? तो उस फकीर ने पूछा, फिर मैं तुमसे एक काम कहता हूं, अगर गाय छोड़ दी जाए और भागे, तो तुम गाय के पीछे भागोगे कि गाय तुम्हारे पीछे भागेगी? उस आदमी ने कहा, मुझे गाय के पीछे भागना पड़ेगा। तो उस फकीर ने कहा, फिर बंधा कौन है किससे?

असल में बांधना हमेशा दोतरफ होता है। जो भगा रहा है, वह कृष्ण को भगा रहा है अपने पीछे कि कृष्ण भागकर उसको आगे भगा रहे हैं, इसको एक हिस्से में तोड़कर तय करना मुश्किल हो जाएगा। इतना ही हम कह सकते हैं कि भागना घटित हो रहा है। उसमें एक आगे है और एक पीछे है। हां, इसमें कौन कहां है और कौन भगा रहा है, कौन भाग रहा है, ऐसा तय करना मुश्किल है। लेकिन कृष्ण के व्यक्तित्व को देखकर हम सोच सकते हैं कि वह चूंकि इतने सहज जीते हैं, इसलिए किसी चीज से उनका अगर संघर्ष भी है, तो वह संघर्ष भी किसी सहयोगता से ही फलित हुआ है। वह किसी सीधे बहाव से ही फलित हुआ है।

और जब कथा कहती है कि कालयवन जल जाता है, तो मेरा अपना मानना है कि यह काल के जल जाने का प्रतीक है। यह समय के जल जाने का प्रतीक है, यह 'टाइम' के जल जाने का प्रतीक है। समय ही शायद हमारी जिंदगी की सबसे बड़ी दुविधा, तनाव और तकलीफ है। समय ही शायद हमारा संताप और 'एंग्विश' है। समय ही शायद हमारा खिंचा हुआ होना है। समय जल जाए; इसे हम ऐसा कह सकते हैं कि काल ही शायद सिर्फ एकमात्र राक्षस है, काल ही है जिससे हमारा संघर्ष चल रहा है प्रतिफल और काल ही है जो हमें लील जाएगा और समाप्त कर देगा। लेकिन कभी-कभी कोई काल को लील जाता है और समाप्त कर देता है। कभी-कभी कोई समय को मिटा देता है और समय के अतीत हो जाता है। कभी-कभी समय जल जाता है।

किनसे जल जाता है? कौन समय को जला देते हैं?

आप कह रहे हैं न, कृष्ण आगे भाग रहे हैं। जो समय के पीछे भागेगा, वह समय को नहीं जला सकेगा। जो समय के आगे भागेगा, वह समय को ही जला सकता है। हां, समय के पीछे जो भागेगा, वह तो कभी समय को नहीं जला सकेगा। वह तो समय का अनुगामी होकर जियेगा। लेकिन जो समय के आगे भागने लगता है, वह समय को जला सकता है, क्योंकि समय सिर्फ छाया रह जाती है और वह समय के आगे हो जाता है। वह समय को जला सकता है। और सोये हुए मुचकुंद की आंख खुलने से जल जाता है।

मैंने कहा कि यह मेरे लिए प्रतीक-कथा है। असल में सोई हुई आंख के लिए ही समय है। खुली हुई आंखों के लिए समय नहीं है। हम जितने 'अनअवेयर' हैं, हम जितने सोये हुए हैं और जितने 'अनकांशस' हैं, उतना ही समय है। जिस दिन हम पूरे 'कांशस' हैं और पूरे जागे हुए हैं और आंख खुली है, उसी दिन समय जल जाता है। किसी की भी आंख खुल जाए—और हम सभी गुफाओं में सोये हुए हैं, कृष्ण की मौजूदगी किसी गुफा में सोये हुए आदमी की आंख खोलने का कारण बन सकती है और कृष्ण के पीछे आता हुआ समय उसकी खुली आंख में भी जल सकता है। उसके लिए भी जल सकता है। कृष्ण के लिए तो मैं मानता हूं, समय नहीं है, मुचकुंद के लिए रहा होगा। वह जल सकता है।

इन प्रतीकों को अगर हम कभी जीवन-सत्यों की तरफ शोध में लगाएं, तो बड़ी आश्चर्यजनक अनुभूतियां उपलब्ध होती हैं और बड़ी आश्चर्यजनक अंतर्दृष्टियां उपलब्ध होती हैं, लेकिन हम इन सबको कथाएं मानकर बैठ गए हैं। और इन सबको कथाएं मानकर हम कहे चले जाते हैं। हम सब इनको ऐतिहासिक घटनाएं मानकर दोहराए चले जाते हैं। लेकिन ऐतिहासिक घटनाओं से ज्यादा कहीं मनुष्य के चित्त पर घटी हुई संभावनाओं, मनुष्य के चित्त में छिपी हुई 'पोटेंशियलिटीज', मनुष्य के चित्त में होने वाली विराट लीला के ये हिस्से हैं। लेकिन इस भांति हमने कभी उन पर बहुत गौर से देखने की कोशिश नहीं की है। इससे बहुत अड़चन हुई है। और इसलिए कृष्ण जैसे व्यक्तित्व हमें धीरे-धीरे झूठे मालूम पड़ने लगते हैं। क्योंकि इतना सब कुछ उनमें मिल जाता है कि उसे तय करना मुश्किल हो जाता है कि यह कैसे संभव हो सकता है! कृष्ण जैसे व्यक्तियों की बड़ी 'साइकोलॉजिकल कमेंट्री' की जरूरत है कि उनका पूरा-का-पूरा व्यक्तित्व मनस-शास्त्र के हिसाब से खोला जा सके।

और एक आखिरी बात आपसे कहूं, और वह यह कहना चाहूंगा कि पुराने आदमी के पास दूसरा उपाय न था। उसने जो मनस-सत्य भी जाने थे, उनको भी वह कथा के प्रतीकों में ही रख सकता था। उनमें ही उनको ढांक सकता था। उनमें ही उनको छिपा सकता था। उसके सिवा कोई मार्ग ही नहीं था उसके पास। लेकिन आज हमारे पास मार्ग है कि उनको खोज लें। जीसस ने एक जगह कहा है कि मैं तुममें ऐसी भाषा में कहता हूं कि जो समझ सकते हैं वे समझ लेंगे, और जो नहीं सकते, उन्हें कोई हानि न होगी। मैं तुमसे ऐसी भाषा में कहता हूं कि जो समझ सकते हैं, वे समझ लेंगे, और जो नहीं समझते, उन्हें कोई हानि न होगी, वे एक कहानी सुनने का मजा ले लेंगे।

हम सब कहानी सुनने का मजा लेते रहे हजारों साल तक। और धीरे-धीरे कुंजियां भी खो गइ जिनसे उन कहानियों को खोला जा सकता था और 'डिकोड' किया जा सकता था। इधर जो बातें मैं कर रहा हूं, शायद उससे कुछ कुंजियां आपके खयाल में आएं और कुछ 'डिकोड' आप कर सकें, कुछ कथा-प्रतीक खुल जाएं और जीवन के सत्य बन जाएं। तो सच में

ही ऐसा उनका अर्थ है, इससे मुझे प्रयोजन नहीं है। आपके चित्त के लिए अगर वैसा अर्थ खुल जाए, तो वह आपके लिए हितकर हो सकता है, कल्याणकारी हो सकता है, मंगलदायी हो सकता है।

12 साधनारहित सिद्धि के परमप्रतीक कृष्ण

'भगवान श्री, कृष्ण का व्यक्तित्व, कृष्ण की बांसुरी, कृष्ण की राधा, कृष्ण के रास से लेकर सुदर्शन चक्र तक हमें बहुत कुछ जानने का मौका मिला। आज एक नया स्वरूप कृष्ण का आपकी वाणी से, आपके मुख से सुनने के लिए हम सब उत्सुक हैं। हम चाहेंगे कि आप कृष्ण से संबंधित उनकी साधना, उनका दर्शन, उनसे संबंधित उपासना पर अपने विचार प्रस्तुत करें, ताकि हम कृष्ण के दूसरे स्वरूप को भी जान सकें। कृष्ण ने तो केवल एक अर्जुन का मोह भंग किया था, यहां पर हम सब अर्जुन बैठे हुए हैं और सब मोह से ग्रसित हैं, उन सबका मोह भंग करने के एकमात्र अधिकारी आप हैं।

भगवान श्री, गत पांच दिनों में आपने मक्खनचोर और रासलीला करते हुए कृष्ण को विराट जीवन की पूर्णता का या योग की पूर्णता का केंद्र बताया। यदि सूक्ष्मता से आपकी दृष्टि को समझें और यह कहें कि रासलीला आदि जीवन के सत्य हैं और गीता के कृष्ण अथवा कृष्ण की गीता जीवन का निचोड़ है, जीवन का सार है—क्योंकि आपने भी कहा कि गीता प्रमाण है कृष्ण का, ऐसा नहीं कहा कि रासलीला प्रमाण है कृष्ण का। आपने कहा कि महावीर और बुद्ध एक आयामी, 'वन डायमेंसनल' हैं और इसीलिए शायद पूर्ण नहीं हैं। और, यह भी आपने ही कहा है कि महावीर छठवें और सातवें को पाकर योग की पूर्णता को पाए हैं। तो क्या जीवन में रासलीला हुई, या कुछ उलटा-सीधा करना पड़ा, इसलिए कृष्ण पूर्ण ठहरे या कि गीता जैसे ग्रंथ को देने के कारण पूर्ण हुए?

एक बात और कि महावीर के जीवन में जीवन की पूर्णता न निखरी, तो क्या उनके पहले के तेईस तीथ□करों को भी उन बहु-आयामों का खयाल नहीं आया था?

यदि हम दमन को न लें, तो फिर संयम का क्या अर्थ है? दमन को छोड़ दें तो साधना में संयम की क्या स्थिति है?'

* सबसे पहले पूर्णता का अर्थ समझ लेना चाहिए। पूर्णता भी एक-आयामी और बहु-आयामी हो सकती है। एक चित्रकार पूर्ण हो सकता है चित्रकला में, लेकिन इससे वह वैज्ञानिक की तरह पूर्ण नहीं हो जाता। एक वैज्ञानिक पूर्ण हो सकता है विज्ञान में, लेकिन इससे वह संगीतज्ञ की तरह पूर्ण नहीं हो जाता। तो पूर्णता का एक अर्थ तो 'वन-डायमेंसनल' है। इसलिए मैं महावीर, बुद्ध या जीसस को पूर्ण कहता हूं एक-आयामी अर्थों में। कृष्ण को बहुत दूसरे अर्थों में पूर्ण कहता हूं, बहु-आयामी, 'मल्टी-डायमेंसनल' अर्थों में। जीवन के जितने आयाम हैं, जीवन की जितनी दिशाएं हैं, उनमें से हम सारी दिशाओं का त्याग करके एक दिशा में पूर्ण हों, यह संभव है। इस तरह की पूर्णता भी परम सत्य तक ले जाती है। वह नदी भी सागर पहुंच जाती है, जो एक ही धारा बनाकर बहती है। वह नदी भी सागर पहुंच जाती है जो हजार धाराओं में टूटकर सागर की तरफ बहती है। सागर तक पहुंचने के लिए इस संबंध में कोई भेद नहीं है। महावीर भी सागर में पहुंच जाते हैं, बुद्ध भी और कृष्ण भी। लेकिन महावीर एक धारा की भांति पहुंचते हैं, कृष्ण अनंत धाराओं की भांति पहुंचते हैं।

इसलिए कृष्ण की पूर्णता बहु-आयामी है। वह एक-आयामी नहीं है, 'मल्टी-डायमेंसनल' है। इससे कोई यह न समझ ले कि महावीर वहां नहीं पहुंच पाते, सातवें शरीर के पार, बिलकुल पहुंच जाते हैं। लेकिन कृष्ण बहुत-बहुत मार्गों से वहां पहुंचते हैं, और बिना किसी जीवन के तत्व का निषेध किए पहुंचते हैं। महावीर या बुद्ध निषेध किए बिना नहीं पहुंचते हैं। इसलिए महावीर और बुद्ध के जीवन में निषेध का, 'निगेशन' का अनिवार्य तत्व है। कृष्ण के जीवन में निषेध का कोई तत्व नहीं है। कृष्ण का जीवन पूरी तरह 'पाजिटिव', पूरी तरह विधायक है। महावीर कुछ छोड़कर पहुंचते हैं, कृष्ण सबको आत्मसात करके पहुंचते हैं।

इसलिए मैंने कृष्ण की पूर्णता को भिन्न कहा है। इससे कोई ऐसा न समझे कि महावीर अपूर्ण हैं। इतना ही समझे कि उनकी पूर्णता एक-आयामी है, कृष्ण की पूर्णता बहु-आयामी है। और भविष्य के मनुष्य के लिए एक-आयामी पूर्णता का बहुत अर्थ नहीं होगा। भविष्य के मनुष्य के लिए बहु-आयामी पूर्णता का ही अर्थ होगा। इसका एक और खयाल ले लेना जरूरी

है कि जो व्यक्तित्व भी एक दिशा से पूर्ण होता है वह अपने जीवन में ही दूसरी दिशाओं का निषेध नहीं कर रहा है, उसके एक दिशा से पूर्ण होने के कारण दूसरी दिशाएं दूसरे लोगों के जीवन में भी निषिद्ध होती हैं। जो व्यक्ति अपने जीवन में सब दिशाओं से यात्रा करता है, उसके कारण विभिन्न दिशाओं से यात्रा करने वाले एक-आयामी सब तरह के लोगों को सहारा मिलता है। जैसे हम यह सोच ही नहीं सकते कि कोई चित्रकार या कोई मूर्तिकार या कोई कवि महावीर की चिंतना के आधार पर कभी ब्रह्म को उपलब्ध हो सकता है। यह हम सोच ही नहीं सकते। महावीर की साधना एक-आयामी उनके जीवन में ही नहीं बनेगी, जो उस साधना को समझेंगे उनके जीवन में भी शेष सारी दिशाओं का निषेध हो जाएगा। यह हम सोच ही नहीं सकते कि कोई नर्तक भी और ब्रह्म को उपलब्ध हो सकता है। महावीर के साथ नहीं सोच सकते हैं। कृष्ण के साथ सोच सकते हैं। एक नर्तक भी और सारी दिशाओं को छोड़ दे और सिर्फ नाचता ही चला जाए और नृत्य में डूबता चला जाए, तो उस क्षण को उपलब्ध हो सकता है जिस क्षण को महावीर ध्यान से उपलब्ध होते हैं। यह कृष्ण के साथ संभव है।

तो कृष्ण अपने जीवन से समस्त दिशाओं को भागवत-स्वरूप प्रदान कर देते हैं—समस्त दिशाओं को। समस्त दिशाएं कृष्ण के साथ पवित्र हो जाती हैं। महावीर के साथ सभी दिशाएं पवित्र नहीं होतीं। जिस दिशा से वे यात्रा करते हैं, वही दिशा पवित्र होती है। और उसके पवित्र होने के कारण अनिवार्य रूप से शेष अपवित्र हो जाती हैं। और उसके पवित्र होने के कारण अनिवार्य रूप से शेष अपवित्र हो जाती हैं। शेष का गहरा 'कंडमनेशन' और निंदा अपने-आप हो जाता है। ऐसा महावीर के साथ ही नहीं होता है, बुद्ध के साथ भी होता है, क्राइस्ट के साथ भी होता है। मुहम्मद के साथ भी होता है। राम के साथ भी होता है। शंकर के साथ भी होता है।

कृष्ण एकमात्र ऐसे व्यक्ति हैं जिसको हम कह सकें कि जिसने समस्त जीवन को, समस्त दिशाओं को पवित्रता प्रदान कर दी है। और किसी भी दिशा से गया हुआ व्यक्ति ब्रह्म तक पहुंच सकता है। इस अर्थों में वह 'मल्टी-डायमेंसनल हैं। खुद के जीवन में ही नहीं, दूसरों के जीवन के लिए भी 'मल्टी-डायमेंसनल' हैं। बांसुरी बजाकर भी कोई ब्रह्म को उपलब्ध हो सकता है, क्योंकि बांसुरी की भी अंतिम क्षण अवस्था समाधि की हो जाएगी। लेकिन महावीर या बुद्ध के साथ बांसुरी बजाकर कोई ब्रह्म को उपलब्ध नहीं हो सकता। ऐसी कोई संभावना उनके व्यक्तित्व में नहीं है जो बांसुरी को भी इतनी गरिमा दे दे, जितनी ध्यान और समाधि को है। इसका कोई उपाय नहीं है। मीरा उपलब्धि के मार्ग पर नहीं हो सकती, महावीर के हिसाब से। राग के ही मार्ग पर है। और राग कभी भी परमात्मा तक नहीं पहुंचा सकता, महावीर की दृष्टि में, वैराग्य ही पहुंचाएगा। कृष्ण के साथ विरागी भी पहुंच जाता है, रागी भी पहुंच जाता है। इस अर्थों में मैंने कहा कि कृष्ण की पूर्णता का कोई मुकाबला नहीं है, कोई उपमा नहीं है।

दूसरी बात पूछी गई है कि क्या तेईस तीथ□कर, महावीर को भी छोड़ दें तो उनके पहले के तेईस तीथ□कर, वे कोई भी पूर्णता को उपलब्ध नहीं हुए? वे सब पूर्णता को उपलब्ध हुए। लेकिन एक-आयामी पूर्णता को ही उपलब्ध हुए। और एक-आयामी पूर्णता के कारण ही जैन-विचार बहुत व्यापक नहीं हो सका। हो नहीं सकता। महावीर को मरे ढाई हजार वर्ष हो गए हैं, आज भी जैनियों की संख्या तीस-पैंतीस लाख से ज्यादा नहीं है। थोड़ा सोचने जैसा है कि महावीर जैसी प्रतिभा का आदमी जिस विचार को मिला हो—अकेला नहीं, और पीछे तेईस तीथ□करों का विराट दर्शन मिला हो—वह विचार तीस-पैंतीस लाख लोगों तक पहुंचा? अगर महावीर के जमाने में तीस-पैंतीस आदमी भी उनसे प्रभावित हो जाएं, तो इतने बच्चे पैदा हो जाएंगे। कारण क्या है कारण है। 'वन-डायमेंसनल' है, बहु-आयामी नहीं है। बहुत दिशाओं को स्पर्श नहीं करता, एक ही दिशा को स्पर्श करता है। इसलिए बहुत विभिन्न तरह के लोगों को प्रभावित नहीं कर सकता। बहुत विभिन्न तरह के लोग उस आयाम में अपने को मौजूं नहीं पा सकते।

फिर बड़े मजे की बात यह है कि यह जो पच्चीस लाख जैन हैं, अगर इनकी तरफ भी हम ध्यान दें तो हम बहुत हैरानी में पड़ जाएंगे। यह भी महावीर के साथ इनमें से अनेक लोग वैसा व्यवहार कर रहे हैं जैसा व्यवहार कृष्ण के साथ तो उचित है, महावीर के साथ अनुचित है। महावीर के सामने आरती लेकर घुमा रहे हैं। कृष्ण के साथ चल सकता है। महावीर के साथ नहीं चल सकता। महावीर की भी भक्ति चल रही है! उसका मतलब यह है कि जैन घरों में जो पैदा हुए हैं, उनका

चित्त भी उस आयाम में नहीं बैठता है। वह बहुत थोड़े-से लोगों का आयाम है। तो जैन घर में पैदा होने की वजह से आदमी जैन तो रहा चला जाएगा, लेकिन वह उस सबको सम्मिलित कर लेगा जो कि महावीर के आयाम का नहीं है। भक्ति आ गई है जैन में; उपासना आ गई है, प्रार्थना आ गई है, पूजा आ गई है, इनका कोई संबंध महावीर से नहीं है। यह सब महावीर के साथ अनाचार है। महावीर के व्यक्तित्व में इनके लिए कोई गुंजाइश नहीं है लेकिन वह जो जैन है, उसके व्यक्तित्व की तकलीफ है। उसके व्यक्तित्व में इसके बिना तृप्ति नहीं है। तो महावीर के साथ यह सब जोड़े चला जा रहा है।

इसलिए और दूसरी बात आपसे कहूं कि 'वन-डायमेंसनल' जितने भी व्यक्तित्व हैं, इनके साथ निरंतर अनाचार होगा। सिर्फ 'मल्टी-डायमेंसनल' व्यक्ति के साथ अनाचार आप नहीं कर सकते। क्योंकि आप कुछ भी करें, उसके लिए वह राजी हो सकता है। कृष्ण के साथ हजार तरह के लोग राजी हो सकते हैं, महावीर के साथ सिर्फ एक 'पर्टिकुलर टाइप' राजी हो सकता है।

इस वजह से मैंने कहा कि वह जो चौबीस तीथ□कर हैं वे सब एक रूप हैं, एक ही यात्रा पर हैं। उन सबकी एक ही दिशा है, एक ही उनकी साधना है। ऐसा नहीं है कि वे नहीं पहुंच जाते हैं, यह मैं नहीं कह रहा हूं, वे बिलकुल पहुंच जाते हैं। अंतिम क्षणों में ऐसा नहीं है कि जो कृष्ण को मिलता है वह उन्हें नहीं मिलता। वह उन्हें मिल जाता है। हजार धाराओं में नदी बहकर सागर पहुंचे कि एक धारा में पहुंचे, इससे क्या फर्क पड़ता है? सागर में पहुंचकर तो सब बात समाप्त हो जाती है। लेकिन एक धारा और एक मार्ग पर बहने वाली नदी सारी पृथ्वी को नहीं घेर सकती, यह समझना चाहिए। हजार धाराओं में बहने वाली नदी सारी पृथ्वी को भी घेर सकती, यह समझना चाहिए। हजार धाराओं में बहने वाली नदी सारी पृथ्वी को भी घेर सकती है। एक धारा में बहने वाली नदी के तट पर जो वृक्ष हैं उनको पानी मिल सकता है, हजार धाराओं में बहने वाली नदी हजार मार्गों पर जो वृक्ष हैं उनकी जड़ों को पानी दे पाती है। वह फर्क है। उस फर्क को इनकार नहीं किया जा सकता। उतने फर्क को ध्यान में रखना जरूरी है। बहु-आयामी से मैंने इतना ही कहना चाहा है।

तीसरी बात पूछी गई है कि दमन को छोड़ दें तो संयम का क्या अर्थ है?

साधारणतः वैराग्य की भाषा में संयम का अर्थ दमन ही है। वैराग्य की भाषा में संयम का अर्थ दमन ही है। इसलिए जैन शरीर-दमन शब्द का भी उपयोग करते हैं। शरीर को दबाना है, दमन करना है। लेकिन, कृष्ण की भाषा में संयम का अर्थ दमन नहीं हो सकता। क्योंकि कृष्ण किस हिसाब से संयम का अर्थ दमन कर सकते हैं? कृष्ण की भाषा में संयम का अर्थ बिलकुल और है। शब्द भी बड़ी दिक्कत देते हैं। क्योंकि शब्द तो एक ही होते हैं—चाहे कृष्ण के मुंह पर हों और चाहे महावीर के मुंह पर हों। संयम, शब्द एक ही है। लेकिन अर्थ बिलकुल भिन्न है। क्योंकि ओंठ भिन्न हैं और उनका प्रयोग करने वाला आदमी भिन्न है। और उसमें जो अर्थ है, उस व्यक्तित्व से आता है। शब्द में जो अर्थ है, वह 'डिक्शनरी' से नहीं आता। 'डिक्शनरी' से सिर्फ उनके लिए आता है जिनके पास कोई व्यक्तित्व नहीं है। जिनके पास व्यक्तित्व है, उनके लिए शब्द का अर्थ भीतर से आता है। कृष्ण के ओंठ पर संयम का क्या अर्थ है, यह महावीर को समझे बिना नहीं कहा जा सकता। महावीर के ओंठ पर संयम का क्या अर्थ है, यह महावीर को समझे बिना नहीं कहा जा सकता। संयम का अर्थ महावीर से निकलेगा, या कृष्ण से निकलेगा। अब कृष्ण को देखते हुए कहा जा सकता है कि अर्थ दमन नहीं हो सकता। क्योंकि अगर दुनिया में कोई भी आदमी, 'अनसप्रेस्ड' आदमी हुआ है, तो वह कृष्ण।

तो संयम का क्या अर्थ होगा?

ऐसे मेरी समझ में, संयम का बहुत गहरा अर्थ दमन नहीं है। संयम शब्द बहुत अदभुत है। संयम का मेरे लिए अर्थ है, संतुलन, 'बैलेंस'। संयम का मेरे लिए अर्थ है, न इस तरफ, न उस तरफ—बीच में, मध्य में। त्यागी असंयमी है—त्याग की तरफ, भोगी असंयमी है—भोग की तरफ। भोगी एक छोर छू रहा है, त्यागी दूसरा छोर छू रहा है। ये दो 'एक्सट्रीम' हैं। संयम का अर्थ है, अन-अति, 'एक्सट्रीम' नहीं, बीच में। कृष्ण के ओंठों पर संयम का अर्थ है, मध्य में। न त्याग, न भोग। या, त्यागपूर्ण भोग, या भोगपूर्ण त्याग। यही अर्थ हो सकता है संयम का कृष्ण के ओंठों पर। त्यागपूर्ण भोग, या

भोगपूर्ण त्याग; या न त्याग न भोग—संयम का ऐसा अर्थ होगा। जो कहीं भी झुकता नहीं अति पर, वह व्यक्तित्व संयमित है।

एक आदमी है, धन के पीछे पागल है। बस इकट्ठा किए जाता है, तिजोड़ी भरे चला जाता है, यह असंयमी है। धन इसका साध्य हो गया, अति हो गई इसके जीवन की। एक दूसरा आदमी धन से पीठ करके भागता है। लौटकर नहीं देखता, भागता ही चला जाता है। और सदा डरा हुआ है कि कहीं धन न मिल जाए। यह भी असंयमी है। इसके लिए धन का त्याग वैसे ही साध्य बन गया जैसे किसी के लिए धन का इकट्ठा करना साध्य था। संयमी कौन है? कृष्ण के अर्थों में जनक जैसा आदमी संयमी है। अन-अति संयम है, 'नॉन-एक्स्ट्रीमिटी' संयम है। मध्य में होना संयम है। भूखा मरना संयम नहीं है, ज्यादा खा लेना संयम नहीं है, सम्यक आहार संयम है। उपवास संयम नहीं है—भूख की तरफ असंयम है। ज्यादा खा लेना संयम नहीं है—भोग की तरफ असंयम है। सम्यक आहार—जितना जरूरी है बस उतना ही; न ज्यादा, न कम—संयम है। कृष्ण के ओंठों पर संयम का अर्थ 'बैलेंस' है, संतुलन है, संगीत है। जरा ही यहां-वहां हटे कि कुआं और खाई हैं। और दो तरफ आदमी हट सकता है—राग की तरफ हट सकता है, विराग की तरफ हट सकता है। घड़ी का 'पेंडुलम' हमने देखा है। वह बायें से हटता है तो सीधा दायें जाता है, बीच में रुकता नहीं। दायें से हटता है तो सीधा बायें जाता है, बीच में रुकता नहीं। और एक और बहुत मजे की बात है जो घड़ी के 'पेंडुलम' से समझ लेनी चाहिए कि जब घड़ी का पेंडुलम बायें तरफ जाता है तो हमें दिखता है बायें तरफ जा रहा है, लेकिन बायें तरफ जाते समय पूरे समय दायें तरफ जाने का 'मोमेंटम' इकट्ठा कर रहा है। जब घड़ी का 'पेंडुलम' बायीं तरफ जा रहा है तब वह दायीं तरफ जाने की शक्ति इकट्ठी कर रहा है। बायें तरफ जाते हुए दायें तरफ जाने की शक्ति इकट्ठी होती है। दायें तरफ जाते हुए बायें तरफ जाने की शक्ति इकट्ठी होती है। जो अनशन कर रहा है, वह ज्यादा खाने की तैयारी कर रहा है। जो ज्यादा खा रहा है, वह अनशन की तैयारी कर रहा है। जो राग में डूब रहा है, वह विराग की तैयारी कर रहा है। जो विराग की तरफ दौड़ रहा है, वह राग की तरफ दौड़ेगा। दोनों अतियां सदा जुड़ी होती हैं। सिर्फ वह 'पेंडुलम' न जो बायें जा रहा है, न दायें जा रहा है, बीच में खड़ा हो गया है, वह कहीं भी जाने की तैयारी नहीं कर रहा है—न वह बायें जाने की तैयारी कर रहा है, न वह दायें जाने की तैयारी कर रहा है। और यह जो मध्य में खड़ा हो गया 'पेंडुलम' है, यह संयम का प्रतीक है।

असंयम 'लेफ्टिस्ट' या 'राइटिस्ट' दो तरह का होता है। संयम का अर्थ है, मध्य। कृष्ण के ओंठों पर यह अर्थ है। कृष्ण के ओंठों पर दूसरा अर्थ नहीं हो सकता। इस अर्थ को हम अगर वास्तविक जीवन में समझने जाएंगे तो क्या होगा? इसे वास्तविक जीवन में समझने जाएंगे, वस्तुतः जीवन की गहराई में, तो इसके दो अर्थ होंगे। ऐसा व्यक्ति न तो त्यागी कहा जा सकता है, न तो भोगी कहा जा सकता है, या दोनों कहा जा सकता है। पर ऐसा व्यक्ति दोनों में एकसाथ होगा। उसके भोग में त्याग होगा, उसके त्याग में भोग होगा। इस संयम के अर्थ से त्यागवादी कोई परंपरा राजी न होगी। त्यागवादी परंपरा के लिए संयम का अर्थ विराग होगा, असंयम का अर्थ राग होगा। जो राग को छोड़ता है और विराग की तरफ जाता है, वह संयमी है। कृष्ण त्यागवादी नहीं हैं और कृष्ण भोगवादी भी नहीं हैं। अगर उन्हें हम कहीं भी रखें तो वह ठीक चार्वाक और महावीर के बीच में खड़े हो जाएंगे। वे भोग में चार्वाक से पीछे न होंगे और त्याग में महावीर से पीछे न होंगे। इसलिए अगर चार्वाक और महावीर का कोई 'मिक्सचर' बन सकता हो, अगर इन दोनों का कोई सम्मिलन बन सकता हो, तो वह कृष्ण है। इसलिए कृष्ण के ओंठों पर सारे शब्दों के अर्थ भिन्न होंगे। शब्द वे ही हैं, अर्थ भिन्न हो जाएंगे। उनके व्यक्तित्व से अर्थ निकलेगा।

दूसरा सवाल पूछा है, कृष्ण की उपासना, साधना क्या है?

कृष्ण के व्यक्तित्व में साधना जैसा कुछ भी नहीं है। हो नहीं सकता। साधना में जो मौलिक तत्व है, वह प्रयास है, 'इफर्ट' है। बिना प्रयास के साधना नहीं हो सकती। दूसरा जो अनिवार्य तत्व है, वह अस्मिता है, अहंकार है। बिना 'मैं' के साधना नहीं हो सकती, करेगा कौन! कर्ता के बिना साधना कैसे होगी? कोई करेगा, तभी होगी।

साधना शब्द ठीक से अगर बहुत गहरे में समझें तो अनीश्वरवादियों का है। साधना शब्द, जिनके लिए कोई परमात्मा नहीं है, आत्मा ही है, साधना शब्द उनका है। आत्मा साधेगी और पाएगी। उपासना शब्द बिलकुल उलटे लोगों का है।

आमतौर से हम दोनों को एकसाथ चलाए जाते हैं। उपासना शब्द उनका है, जो कहते हैं आत्मा नहीं, परमात्मा है। सिर्फ उसके पास जाना है, साधना कुछ भी नहीं। उपासना का मतलब है, पास जाना। पास बैठना—उप-आसन, निकट होते जाना, निकट होते जाना। और निकट होने का अर्थ है, खुद मिटते जाना, और कोई अर्थ नहीं है। हम उससे उतने ही दूर हैं, जितने हम हैं। जीवन के परम सत्य से हमारी दूरी, हमारा 'डिस्टेंस' उतना ही है, जितने हम हैं। जितना हमारा होना है, जितना हमारा 'मैं' है, जितना हमारा 'इगो' है, जितनी हमारी आत्मा है, उतने ही हम दूर हैं। जितने हम खोते हैं और विगलित होते हैं, पिघलते हैं और बहते हैं, उतने ही हम पास होते हैं। जिस दिन हम बिलकुल नहीं रह जाते, उस दिन उपासना पूरी हो जाती है और हम परमात्मा हो जाते हैं। जैसे बर्फ पानी बन रहा हो, बस उपासना ऐसी है कि बर्फ पिघल रहा है, पिघल रहा है। साधना क्या कर रहा है बर्फ? साधना करेगा तो और सख्त होता चला जाएगा। क्योंकि साधना का मतलब होगा कि बर्फ अपने को बचाए। साधना का मतलब होगा कि बर्फ अपने को सख्त करे। साधना का मतलब होगा कि बर्फ और 'क्रिस्टलाइज्ड' हो जाए। साधना का मतलब होगा कि बर्फ और आत्मवान बने। साधना का मतलब होगा कि बर्फ अपने को बचाए और खोए न।

साधना का अर्थ अंततः आत्मा हो सकता है। उपासना का अर्थ अंततः परमात्मा है। इसलिए जो लोग साधना से जाएंगे, उनकी आखिरी मंजिल आत्मा पर रुक जाएगी। उसके आगे की बात वह न कर सकेंगे। वह कहेंगे अंततः हमने अपने को पा लिया। उपासक कहेगा, अंततः हमने अपने को खो दिया। ये दोनों बातें बड़ी उलटी हैं। बर्फ की तरह पिघलेगा उपासक और पानी की तरह खो जाएगा। साधक तो मजबूत होता चला जाएगा। इसलिए कृष्ण के जीवन में साधना का कोई तत्व नहीं है। साधना का कोई अर्थ ही नहीं है। अर्थ है तो उपासना का है।

उपासना की यात्रा ही उलटी है। उपासना का मतलब ही यह है कि हमने अपने को पा लिया, यही भूल है। हम हैं, यही गलती है। 'टु बी इज द ओनली बांडेज'। होना ही एकमात्र बंधन है। न होना ही एकमात्र मुक्ति है। साधक जब कहेगा तब वह कहेगा, मैं मुक्त होना चाहता हूं; उपासक जब कहेगा तो वह कहेगा, मैं 'मैं' से मुक्त होना चाहता हूं। साधक कहेगा, मैं मुक्त होना चाहता हूं। मैं मोक्ष पाना चाहता हूं। लेकिन 'मैं' मौजूद रहेगा। उपासक कहेगा, 'मैं' से मुक्त होना है। 'मैं' से मुक्ति पानी है। उपासक के मोक्ष का अर्थ है, 'न-मैं' की स्थिति। साधक के मोक्ष का मतलब है, 'मैं' की परम स्थिति। इसलिए कृष्ण की भाषा में साधना के लिए कोई जगह नहीं है; उपासना के लिए जगह है।

अब यह उपासना क्या है, इसे हम थोड़ा समझें।

पहली तो बात समझ लें कि उपासना साधना नहीं है, इससे समझने में आसानी बनेगी। अन्यथा भ्रांति निरंतर होती रहती है। और उपासक हममें से बहुत कम लोग होना चाहेंगे, यह भी खयाल में ले लें। साधक हममें से सब होना चाहेंगे। क्योंकि साधक में कुछ खोना नहीं है, पाना है। और उपासक में सिवाय खोने के कुछ भी नहीं है, पाना कुछ भी नहीं है। खोना ही पाना है, बस। उपासक कौन होना चाहेगा? इसलिए कृष्ण को मानने वाले भी साधक हो जाते हैं। कृष्ण के मानने वाले भी साधना की भाषा बोलने लगते हैं। क्योंकि वह भीतर जो अहंकार है, वह साधना की भाषा बुलवाता है। वह कहता है, साधो, पाओ, पहुंचो।

उपासना बड़ी कठिन बात है, 'आरडुअस'। इससे ज्यादा 'आरडुअस', इससे ज्यादा कठिन कोई बात ही नहीं है—पिघलो, मिटो, खो जाओ। निश्चित ही हम पूछना चाहेंगे कि क्यों मिटें? मिटकर क्या फायदा है? साधक कितनी ही ऊंची बात बोले, फायदे की बात में ही सोचेगा। उसका मोक्ष भी उसका ही सुख है। उसकी मुक्ति भी उसकी ही मुक्ति है। इसलिए साधक बहुत गहरे अर्थों में स्वार्थी हो तो आश्चर्य नहीं। स्व अर्थ से वह ऊपर कभी उठ भी नहीं पाएगा। उपासक स्व अर्थ के ऊपर उठेगा, इसलिए उपासक परमार्थ की बात बोलेगा। वह परम अर्थ की बात बोलेगा, जहां स्व खो जाता है। इस उपासना का क्या अर्थ होगा, और यह उपासना की क्या गति होगी और क्या यात्रा होगी? बड़ी कठिन होगी समझना यह बात। इसलिए पहले ही आपको कह देता हूं कि साधना शब्द को बिलकुल ही हटा दें। उसकी जगह ही नहीं है, फिर हम उपासना को समझने चलें।

जैसा मैंने कहा, उपासना का अर्थ है, निकट आना, 'टु बी नियरर'। तो दूरी क्या है, 'डिस्टेंस' क्या है? एक तो दूरी है जो हमें दिखाई पड़ती है, 'फिजिकल स्पेस' है। आप वहां बैठे हैं, मैं यहां हूं, हम दोनों के बीच एक फासला है, एक 'डिस्टेंस' है। मैं आपके पास आ जाऊं, आप मेरे पास आ जाएं, भौतिक दूरी समाप्त हो जाएगी। हम बिलकुल पास-पास, हाथ में हाथ लेकर, गले में गले डालकर बैठ जाएं, दूरी खत्म हुई। लेकिन दो आदमी गले में हाथ डाले हुए भी कोसों दूरी पर हो सकते हैं। एक 'इनर स्पेस' है। एक भीतरी दूरी है, जिसका 'फिजिकल' दूरी से कुछ भी संबंध नहीं है। और दो आदमी कोसों दूर होकर भी बड़े निकट हो सकते हैं। और दो आदमी गले में हाथ डालकर दूर हो सकते हैं। तो एक तो दूरी है जो हमसे बाहर है। और एक दूरी है जो मन की है और हमारे भीतर है। उपासना भीतर की दूरी को मिटाने की विधि है। लेकिन भक्त भी बाहर की दूरी मिटाने को आतुर रहता है। वह भी कहता है, सेज बिछा दी है, आ जाओ! वह भी कहता है, कब तक तड़पाओगे, जाओ! वह भी बाहर की दूरी मिटाने को आतुर रहता है। लेकिन एक बड़े मजे की बात है कि बाहर की दूरी कितनी ही मिट जाए, दूरी बनी ही रहती है हम कितने ही पास आ जाएं, बाहर से हम पास आते ही नहीं। पास आना बिलकुल ही आंतरिक घटना है। इसलिए उपासक उस परमात्मा के पास भी हो सकता है जो दिखाई ही नहीं पड़ता। जिससे 'फिजिकल' दूरी मिटाने का कोई उपाय ही नहीं है, उसके पास भी पास हो सकता है।

यह जो 'इनर स्पेस' है हमारी, यह कैसे पैदा होती है? यह जो भीतर की दूरी है, यह कैसे पैदा होती है? बाहर की दूरी हम समझते हैं कि कैसे पैदा होती है। अगर मैं आपसे दूर चलने लगूं, आपसे हटने लगूं, आपकी तरफ पीठ कर लूं और भागने लगूं, तो बाहर की दूरी पैदा हो जाती है। आपकी तरह मुंह करने लगूं और आपकी तरफ चलने लगूं, आपकी दिशा में, तो बाहर की दूरी कम हो जाती है। भीतर की दूरी कैसे पैदा होती? भीतर की दूरी चलने से पैदा नहीं होती, क्योंकि भीतर तो चलने की कोई जगह नहीं है। भीतर की दूरी होने से पैदा होती है; कितना सख्त मैं हूं, उतनी ही भीतर की दूरी होती है। और कितना तरल मैं हूं, उतनी ही भीतर की दूरी टूट जाती है। और अगर मैं बिलकुल तरल हो जाऊं कि मैं भीतर कह सकूं कि मैं हूं ही नहीं, शून्य हो गया, तो भीतर की दूरी समाप्त हो जाती है।

उपासना का अर्थ शून्य होना है। उपासना का अर्थ न-कुछ होना है—'नथिंगनेस', 'नॉन-बीइंग'। मैं नहीं हूं, इस सत्य को जान लेना उपासक हो जाना है। मैं हूं, इस तथ्य को जोर से पकड़े रहना परमात्मा से दूर होते जाना है। मैं हूं, यह घोषणा ही हमारी दूरी है।

रूमी ने गीत लिखा है।

एक प्रेमी अपनी प्रेयसी के द्वार को खटखटाता है। सूफियों का गीत है, जो कि उपासना को जानते हैं। शायद पृथ्वी पर उपासना को जानने वाले थोड़े ही लोग हैं, वे सूफी हैं। कृष्ण को अगर कोई ठीक से समझ सकता है तो वह सूफी ही समझ सकते हैं। ऐसे वे मुसलमान फकीर हैं, लेकिन इससे क्या बनता-बिगड़ता है। सूफी गीत है जलालुद्दीन रूमी का कि प्रेमी ने द्वार खटखटाया है प्रेयसी का। भीतर से आवाज आई, कौन हो? तो प्रेमी ने कहा, मैं हूं, पहचानी नहीं? फिर भीतर से कोई आवाज नहीं आती। फिर प्रेमी द्वार खटखटाये चला जाता है और कहता है मेरी आवाज नहीं पहचानती, मैं हूं! तब भीतर से बड़ी मुश्किल से इतनी भर आवाज आती है कि जब तक तुम हो, तब तक प्रेम के द्वार नहीं खुल सकते। कब खुले हैं मैं के लिए प्रेम के द्वार! तो जाओ, उस दिन आना जिस दिन मैं न रह जाओ। वह प्रेमी वापस लौट जाता है।

वर्ष आते हैं, जाते हैं। वर्षा और धूप और चांद और सूरज, वर्षों के बाद वह वापिस लौटता है। वह द्वार पर दस्तक देता है। भीतर से फिर वही सवाल कि कौन है? लेकिन अब वह प्रेमी कहता है, अब तो तू ही है। तो रूमी की कविता यहां पूरी हो जाती है। वह कहता है द्वार खुल जाते हैं। लेकिन मैं मानता हूं कि रूमी उपासना को पूरा नहीं समझ पाया। कृष्ण तक नहीं पहुंच पाई रूमी की समझ। गया थोड़ी दूर, रुक गया। अगर मैं इस कविता को लिखूं तो मैं कहूंगा कि फिर वह प्रेयसी भीतर से कहती है कि जब तक तू भी है, तब तक मैं होगा ही। छिपा होगा। क्योंकि तू का बोध मैं के बिना नहीं होता। चाहे कोई मैं कहता हो या न कहता हो, जब तक तू है, तब तक मैं मौजूद होगा ही। छिपा होगा, अप्रगट होगा, अंधेरे में दब गया होगा, मन के किसी कोने-कांतर में बैठ गया होगा, लेकिन होगा ही। क्योंकि कौन कहेगा तू? तू को कहने के लिए मैं होना ही चाहिए। यह सिर्फ तराजू बदल लिया, पहलू बदल लिया। बात कुछ हुई नहीं, बात कुछ बनी नहीं। तो मैं अगर

इस कविता को लिखूं तो कहूंगा कि फिर वह कह देती है कि जब तक तू है, तब तक मैं कैसे मिट सकता है? अभी तू मैं को खोकर आया, अब तू को भी खोकर आ। लेकिन जब मैं भी खो जाएगा और तू भी खो जाएगा, तो क्या प्रेमी आएगा? तब मेरी कविता बड़ी मुश्किल में पड़ जाएगी, क्योंकि फिर वह आएगा कैसे? आएगा किसके पास? आएगा कहां? नहीं, फिर वह आएगा नहीं। फिर आने की कोई बात न रही, फिर जाने की कोई बात न रही, क्योंकि फासला, वह 'इनर डिस्टेंस' भी टूट गया जिसमें आया-जाया जा सकता है। वह जो भीतर का फासला था वह टूट गया, वह तो मैं और तू का फासला था। इसलिए मेरी कविता आखिर में आकर बड़ी मुश्किल में पड़ जाएगी। हो सकता है रूमी ने इसीलिए कविता वहीं खत्म की। क्योंकि आगे फिर कविता को खत्म कैसे करेंगे? वहां जाकर कविता एकदम टकरा जाएगी जिंदगी की चट्टान से और टूट जाएगी। क्योंकि फिर आएगा कौन? आएगा किसके पास? आएगा क्यों? जब तक आता है, तब तक फासला है। और जब मैं और तू न रहे तो कोई फासला नहीं, जो जहां है उसे वहीं मिल जाता है।
उपासना के लिए कहीं पहुंचना नहीं होता। जहां हम हैं, वहीं घटित हो जाती है। किसी के पास नहीं पहुंचना होता, बस अपने से मिटना होता है और पास पहुंचना हो जाता है।

'भगवान श्री, कृपया मार्टिन बूबर के संदर्भ में कुछ कहें?'

* पूछा है कि मार्टिन बूबर के संदर्भ में भी कुछ कहें।
मार्टिन बूबर की सारी-की-सारी चिंतना मैं और तू के 'इंटीमेसी', मैं और तू के 'रिलेशनशिप', मैं और तू के संबंधों पर है। मार्टिन बूबर गहरे-से-गहरे लोगों में से एक है। लेकिन गहराई कितनी ही हो, वह उथलेपन का ही दूसरा छोर है। सच्ची गहराई तो उस दिन शुरू होती है जिस दिन आदमी न उथला रह जाता है और न गहरा रह जाता है। जिस दिन उथला और गहरापन दोनों मिट जाते हैं। मार्टिन बूबर ने बड़ी गहरी बातें कही हैं। गहरी-से-गहरी जो बात है वह यह है, यह सारे जीवन का सत्य मैं और तू के अंतस□बंधों में समाया हुआ है।
एक नास्तिक है, एक अनीश्वरवादी है, एक है जो मानता है कि सिर्फ पदार्थ है। उसका जगत मैं और तू का जगत नहीं है। उसका जगत मैं और वह का जगत है। 'आई एंड इट'। तू है ही नहीं। क्योंकि तू होने के लिए दूसरे में आत्मा को स्वीकार करना जरूरी है। नास्तिक का जगत, 'आई एंड इट', मैं और वह का जगत है। इसलिए नास्तिक का जगत बड़ा जटिल है, क्योंकि खुद को तो वह मैं कहता है और आत्मवान होने की घोषणा करता है, और शेष सबको मैं से हीन कर देता है और वह बना देता है। पदार्थ बना देता है, वस्तुएं बना देता है। अगर मैं जानता हूं कि आत्मा नहीं है, तो आप मेरे लिए पदार्थ से ज्यादा नहीं हैं, फिर मैं तू किसको कहूं? तू तो जीवंत व्यक्ति को कहा जा सकता है।
इसलिए मार्टिन बूबर कहता है कि आस्तिक का जगत मैं और वह का जगत नहीं है, 'आई एंड दाउ', मैं और तू का जगत है। जब मेरा मैं तू कह पाता है जगत को, तो आस्तिक का जगत है। मैं नहीं कहूंगा। मैं कहूंगा, यह आस्तिक भी बहुत गहरे में अभी नास्तिक है। क्योंकि अभी तो मैं और तू में जगत को बांट पाता है। या ऐसा कहें कि यह द्वैतवादी आस्तिक का जगत है। लेकिन द्वैतवादी चूंकि झूठा है, इसलिए द्वैतवादी आस्तिकता का भी कोई अर्थ नहीं होता। एक अर्थ में नास्तिक अद्वैतवादी होता है। क्योंकि वह कहता है, एक ही है, पदार्थ। एक अर्थ में नास्तिक अद्वैतवादी होता है, क्योंकि वह कहता है, एक ही है, पदार्थ; और एक अर्थ में आत्मवादी अद्वैतवादी होता है, क्योंकि वह कहता है, एक ही है, पदार्थ; और एक अर्थ में आत्मवादी अद्वैतवादी होता है, क्योंकि वह भी कहता है, एक ही है, आत्मा है। अब मेरा मानना है कि एक ही से एक पर जाना बहुत आसान है, दो से एक पर जाना बहुत कठिन है। इसलिए द्वैतवादी नास्तिक से भी ज्यादा उलझन में होता है। क्योंकि किसी दिन अगर नास्तिक अद्वैतवादी को यह दिखाई पड़ जाए कि पदार्थ नहीं है, आत्मा है, तो यात्रा तत्काल बदल जाती है। एक तो वह मानता ही था। वह एक क्या है, इसकी व्याख्या पर झगड़ा था। वह पदार्थ है कि परमात्मा है? लेकिन द्वैतवादी की झंझट और गहरी है। द्वैतवादी मानता है, दो हैं। पदार्थ भी है, परमात्मा भी है। इसे एक पर पहुंचना बहुत मुश्किल है।

बूबर द्वैतवादी है। वह कहता है, मैं और तू। लेकिन उसका द्वैतवाद बहुत मानवीय है। क्योंकि वह मैं को मिटा देता है। तू का दर्जा देता है दूसरे को भी, आत्मा का दर्जा देता है। लेकिन मैं और तू के बीच संबंध ही हो सकते हैं, एकता नहीं हो सकती, ऐक्य नहीं हो सकता। संबंध कितने ही गहरे हों, तब भी फासला बना ही रहता है। अगर मैं आपसे संबंधित हूं, कितना ही गहरा संबंधित हूं, तब भी मेरा और आपका संबंध, मुझे और आपको दो में तोड़ता है। संबंध जोड़ता भी है, तोड़ता भी है। वह दोहरे काम करता है। जिससे हम जुड़ते हैं, उससे हम टूटे हुए भी होते हैं। जिस जगह हमारा जोड़ होता है, वही हमारी टूट भी होती है। जो हमारा सेतु है, वही हमें दो तटों में भी तोड़ देता है। जो सेतु जोड़ता है, वह तोड़ता भी है। असल में जोड़ने वाली कोई भी चीज तोड़ने वाली भी होती है। होगी ही। अनिवार्य है। इसलिए दो कभी एक नहीं हो पाते, कितने ही गहरे संबंध हों, संबंध कभी भी एक नहीं हो पाते। इसलिए गहरे से गहरा संबंध भी दो बनाए रखता है। प्रेम का संबंध कभी भी एक नहीं हो पाते। इसलिए गहरे से गहरा संबंध भी दो बनाए रखता है। प्रेम का कितना ही गहरा संबंध हो, उसमें दो नहीं मिटते। और जब तक दो नहीं मिटते, तब तक प्रेम तृप्त नहीं हो सकता। इसलिए सब प्रेम अतृप्त होते हैं।

दो तरह की अतृप्तियां हैं प्रेम की—प्रेमी न मिले तो, और मिल जाए तो। प्रेमी न मिले तो यह अतृप्ति होती है कि जिससे मिलना चाहा था वह नहीं मिला, और प्रेमी मिल जाए तो यह अतृप्ति होती है कि जिससे मिलना चाहा था वह मिल तो गया, लेकिन मिलना कहां हो पा रहा है! फासला खड़ा ही है। दूरी बनी ही है। पास आ गए हैं बहुत, लेकिन कहां दूरी मिटती है! इसलिए कई बार, जिसको अपना प्रेमी नहीं मिलता वह भी उतना दुखी नहीं होता, जितना दुखी वह हो जाता है जिसे उसका प्रेमी मिल जाता है। क्योंकि जिसको नहीं मिलता उसे एक आशा तो रहती है कि कभी मिल सकता है। इसकी वह आशा भी टूट जाती है, कि अब क्या होगा? मिल तो गया है, लेकिन मिलना नहीं हो पा रहा है।

असल में कोई मिलन मिलन नहीं बन सकता, क्योंकि मिलन में संबंध ही है और संबंध दो बनाए रखता है। इसलिए मार्टिन बूबर मैं और तू के गहरे संबंधों की बात करता है, जो बड़ी मानवीय है। और इस जगत में, जो कि निरंतर पदार्थवादी होता चला गया है, मार्टिन बूबर की बात भी बड़ी धार्मिक मालूम होती है, लेकिन मुझे मालूम नहीं होती। मैं तो कहूंगा, यह बात धार्मिक नहीं है, सिर्फ समझौता है, यह मैं और तू के बीच अगर एकता न हो सके, तो कम-से-कम संबंध ही हो।

प्रेम और उपासना में यही फर्क है। प्रेम संबंध है, उपासना असंबंध है। असंबंध का मतलब यह नहीं कि दो असंबंधित हो गए। असंबंध का मतलब यह कि दो के बीच से संबंध गिर गया। 'रिलेशनशिप' भी गिर गई। वह जो संबंध था, वह भी गिर गया; अब दो दो ही न रहे, वह एक ही हो गए। यह जो एक हो जाना है, यह उपासना है।

इसलिए प्रेम का अगला कदम उपासना है। और जिसे हम प्रेम करते हैं उससे हम तब तक पूरी तरह नहीं मिल सकते जब तक वह दिव्य न हो जाए, भागवत न हो जाए, भगवान न हो जाए। दो मनुष्यों का मिलन असंभव है। उनका मनुष्य होना ही बाधा देता रहेगा। दो मनुष्य ज्यादा-से-ज्यादा संबंधित हो सकते हैं। दो परमात्म-तत्व ही मिल सकते हैं, क्योंकि फिर तोड़ने वाला कोई भी नहीं रह जाता। जोड़ने वाला भी कोई नहीं रह जाता। इसलिए मार्टिन बूबर ज्यादा-से-ज्यादा प्रेम पर पहुंच सकता है। कृष्ण उपासना पर पहुंचते हैं। उपासना बहुत और बात है, उपासना बहुत ही और बात है। वहां दूसरा भी मिट गया है, मैं भी मिट गया हूं। और हम दोनों के मिटने पर जो शेष जाता है, 'दैट व्हिच रिमेन्स', वह विस्तार जो बाकी रह गया, उसे हम क्या नाम दें? उसे हम पदार्थ कहें? उसे हम आत्मा कहें? उसे मैं मैं कहूं? उसे मैं तू कहूं? उसे हम कोई भी नाम दें वे गलत होंगे। इसलिए जो परम उपासक हैं वे चुप रह गए हैं, उन्होंने उसके लिए कोई नाम नहीं दिया। उन्होंने कहा वह अनाम है, 'नेमलेस' है। उन्होंने कहा, उसका कोई छोर नहीं है, उसका कोई प्रारंभ नहीं है, उसका कोई अंत नहीं है। उन्होंने कहा, उसका कोई नाम नहीं, उसका कोई रूप नहीं। उन्होंने कहा, उसका कोई आकार नहीं। उन्होंने कहा, उसे कोई शब्द नहीं दिया जा सकता। वे चुप रह गए हैं। वे मौन रह गए हैं।

परम उपासक मौन रह गया है, उस सत्य के संबंध में उसने कोई घोषणा नहीं की, क्योंकि सभी घोषणाएं द्वैत में गिर जाती हैं। मनुष्य के पास ऐसा कोई शब्द नहीं है, जो द्वैत में न ले जाता हो। हम शब्द का उपयोग किए नहीं कि हमने जगत को

दो में तोड़ा नहीं। इधर हमने शब्द का उपयोग किया, वहां चीजें दो में टूटीं। ऐसे ही हम किसी प्रिज्म में से सूर्य की किरण को निकालें तो वह सात हिस्सों में टूट जाती है। ऐसे ही हमने भाषा से किसी सत्य को निकाला कि वह तत्काल दो में टूट जाती है। भाषा का प्रिज्म हर सत्य को दो में तोड़ देता है और दो में टूटते ही सत्य असत्य हो जाता है। इसलिए परम उपासक चुप रह गया, मौन रह गया। नाचा है, बांसुरी बजाई है, गीत गाया है, इशारे किए हैं, लेकिन घोषणा नहीं की। घोषणा शब्दों में होती है। 'गेस्चर' से जाहिर किया है। नाचकर कहा है कि क्या है वह। हंस कर कहा है कि क्या है वह। चुप रहकर कहा है कि क्या है वह। हाथ के इशारे उठा दिए हैं आकाश की तरफ और कहा है कि क्या है वह! लेकिन, चुप रह गया है। पूरे व्यक्तित्व से कहा है कि क्या है वह।

गदर के वक्त में, एक संन्यासी को एक अंग्रेज सैनिक ने छाती में संगीत मार दी। निकलता था संन्यासी। मौन था वर्षों से, तीस वर्ष से बोला नहीं था। और जिस दिन मौन लिया था उस दिन किसी ने पूछा था कि क्यों मौन लेते हो? तो उसने कहा था, जो बोला जा सकता है वह बोलने योग्य नहीं है और जो बोलने योग्य है, वह बोला नहीं जा सकता। तो सिवाय मौन के और मैं क्या करूं? तो तीस वर्ष से वह मौन था। गदर चल रही थी, बगावत चल रही थी, अंग्रेज शंकित थे, नग्न वह संन्यासी रात के अंधेरे में उनके कैंप के पास से गुजरता था। उन्होंने उसे पकड़ लिया। समझा कि कोई जासूस होगा। कोई 'डिटेक्टिव' होगा। पूछा उससे, कौन हो? अगर वह कुछ उत्तर भी दे देता, तो भी शायद वे समझ जाते, लेकिन वह चुप रहा, हंसता रहा। जब वे पूछते, कौन हो, तो वह हंसता। तब तो पक्का हो गया कि वह जासूस है और बोलने की भी तैयारी नहीं दिखाता। तब उन्होंने उसकी छाती में संगीन भोंक दी। तीस वर्ष से जो मौन था, वह मरते वक्त हंसा और उसने एक शब्द कहा, मरते वक्त उसने उपनिषद का एक महावाक्य कहा, कहाः 'तत्त्वमसि, श्वेतकेतु'। उस संगीन भोंकने वाले सैनिक से उसने कहा कि तू भी वही है, जो मैं हूं। और तू पूछता है कि तू कौन है!

इशारे हैं। या फिर असंगत भाषा...कबीर की भाषा को लोगों ने संध्या-भाषा कहा है। संध्या-भाषा का मतलब यह है कि न पक्का पता चले कि दिन है कि रात है। बात ऐसी हो कि पक्का पता न चले कि हां है कि ना। पक्का पता न चले कि तुम स्वीकार करते हो कि अस्वीकार; तुम आस्तिक हो कि नास्तिक, तुम मानते हो कि नहीं मानते हो; जिस भाषा में कुछ पक्का पता न चले, उस भाषा को संध्या-भाषा कहा है। इसलिए कबीर की भाषा का अभी भी अर्थ तय नहीं हो पाता। कृष्ण की भाषा का भी नहीं हो सकता। जिन्होंने भी सत्य को कहा है, उनकी संध्या-भाषा हो गई। क्योंकि वे दोनों को साथ-साथ कहेंगे, हां और ना को, या दोनों को साथ-साथ इनकार कर देंगे और हमारी भाषा में कोई तर्क-व्यवस्था में वे नहीं बैठ पाएंगे। इसलिए मौन रह गए वे लोग, जिन्होंने जाना उसे जहां मैं और तू दोनों खो जाते हैं।

'भगवान श्री, सार्त्र कहता है, 'एक्ज़िस्टेंस प्रिसीड्स इसेंस'। आप 'इसेंस' को 'एक्ज़िस्टेंस' के पहले मानते हैं? या कि दोनों का कैसा संबंध आप करते हैं? और इधर साधना शिविर में आए हुए लोग भी गड़बड़ में पड़ गए हैं कि वे उपासना शिविर में आए हैं, या साधना शिविर में?'

* गड़बड़ में डालना मेरा काम है। साधना और उपासना के बीच का फासला गिर जाए, तो शिविर का मतलब समझ में आ गया।

सार्त्र या अस्तित्ववादी ऐसा मानते हैं, 'एक्ज़िस्टेंस प्रिसीड्स इसेंस'। बड़ी अजीब बात है। क्योंकि दुनिया में ऐसा मुश्किल से कभी माना गया है। इससे उलटी बात सदा मानी जाती रही है। दुनिया के जितने तत्व-चिंतन हैं, उन सबका मानना है, 'इसेंस प्रिसीड्स एक्ज़िस्टेंस'।

इसे समझ लें।

सार्त्र के पहले या अस्तित्ववादियों के पहले जितने जितने भी तत्व-चिंतन हैं, वे यह मानते हैं कि बीज वृक्ष के पहले है। स्वभावतः। सार्त्र कहता है, वृक्ष बीज के पहले है। सारा चिंतन साधारणतः कहेगा कि अस्तित्व के पहले आत्मा है, तभी तो

अस्तित्व हो सकेगा। सार्त्र कहता है, अस्तित्व पहले है, फिर आत्मा है। क्योंकि अस्तित्व ही न होगा तो आत्मा कैसे गठित होगी।

कृष्ण के संदर्भ में क्या मतलब होगा? असल में तत्व-चिंतन की सारी लड़ाइयां बड़ी बचकानी हैं, बहुत 'चाइल्डिश' हैं। वे सारी लड़ाइयां तत्व-चिंतन की जो मनुष्य जाति ने अब तक बड़े-से-बड़े दार्शनिकों के द्वारा की हैं, वे बच्चों के छोटे-से सवाल में समाहित हो जाती है कि मुर्गी पहले होती है कि अंडा। बड़े-से-बड़ा तत्व-चिंतन, बड़े-से-बड़ी 'फिलासफी' इस छोटे-से मुद्दे पर लड़ती रही है। जो जानते हैं, वे कहेंगे कि मुर्गी और अंडा दो नहीं हैं; इसलिए कौन पहले है यह सिर्फ नासमझ पूछ सकता है और बड़ा नासमझ उत्तर दे सकता है।

अगर हम ठीक से समझें तो अंडे का मतलब क्या होता है? अंडे का मतलब क्या होता है? अंडे का कुल मतलब छिपी हुई मुर्गी होता है। मुर्गी का क्या मतलब होता है? छिपा अंडा होता है। अंडा और मुर्गी दो चीजें अगर होतीं, तो कौन 'प्रिसीड' करता है यह सवाल सार्थक था। कौन पहले है, यह सार्थक था सवाल, अगर अंडा और मुर्गी दो चीजें होतीं।अंडा और मुर्गी एक ही चीज है। या एक ही चीज को हमारे देखने के दो ढंग हैं। या एक ही चीज की दो क्षणों में दिखाई पड़ने की स्थितियां हैं! लेकिन दो चीजें नहीं हैं। अंडा और मुर्गी एक ही चीज की दो 'फेज' हैं, एक ही चीज के प्रगट होने के दो ढंग हैं। बीज और वृक्ष दो चीजें नहीं हैं। जन्म और मृत्यु दो चीजें नहीं हैं। एक ही चीज के होने के दो ढंग हैं, या, या हो सकता है कि हम पूरी तरह देख नहीं पाते इसलिए हम दो में तोड़कर देखते हैं। दृष्टि हमारे पास छोटी है। जैसे समझ लें कि एक बड़ा कमरा हो, एक बड़ा भवन हो, एक छोटा-सा छेद हो, और उस छेद में मैं आंख गड़ाए देखता हूं। पूरा कमरा दिखाई नहीं पड़ता। छेद के पहले मुझे एक कुर्सी दिखाई पड़ती है। फिर मैं आंख को और घुमाता हूं, मुझे तीसरी कुर्सी दिखाई पड़ती है। मैं पूछ सकता हूं कि इन तीन कुर्सियों में पहले कौन है? लेकिन कमरे में, कमरे के भीतर जाकर मैं क्या कहूंगा? कौन पहले है, सब 'साइमलटेनियस' हैं। वह तीनों कुर्सियां एकसाथ हैं। लेकिन जिस छेद से मैंने देखा था वहां पहले एक कुर्सी दिखाई पड़ी, फिर दूसरी कुर्सी दिखाई पड़ी, फिर तीसरी कुर्सी दिखाई पड़ी। पहले कौन था? कमरे के भीतर जाकर मैं पूछूंगा कि पहले कौन है? मैं कहूंगा, तीनों कुर्सियां साथ हैं।

एक लेबोरेट्री आक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी में, जिसने अभी इस सदी की श्रेष्ठतम खोजें की हैं। मैं मानता हूं कि भविष्य के लिए सबसे बड़ा काम उस प्रयोगशाला में हो रहा है। उस प्रयोगशाला का नाम है, 'डिलाबार लेबोरेट्री'। एक बड़ी चमत्कारपूर्ण घटना जो घटी है, वह यह है कि एक कली का फोटोग्राफ लेते वक्त कली का फोटो नहीं आया, फूल का फोटो आ गया। बहुत 'सेंसिटिव फिल्म' से। अब तक जो सबसे ज्यादा संवेदनशील फिल्म बन सकी है, उस फिल्म के सामने कली रखने से गुलाब की—थी तो कली, फोटो आ गया गुलाब के फूल का। बड़ी कठिनाई हो गई। क्योंकि अभी कली फूल हुई नहीं है, होगी। तब बड़ी मुश्किल की बात हो गई। जो कली अभी फूल हुई नहीं है, उसका फोटो कैसे आ गया! या तो किसी बहुत रहस्यपूर्ण जगत में वह फूल अभी भी हो, चूंकि यह सिर्फ हमें दिखाई नहीं पड़ रही है और कैमरा उसे देख पाया जो हम नहीं देख पा रहे। शायद कैमरा कमरे के भीतर जाकर देख पाया, जहां कली और फूल 'साइमल्टेनियस' हैं। हमारी आंख कमरे के बाहर से देखती थी जहां पहले कली है, फिर फूल है। लेकिन, शायद कोई भूल हो गई हो। शायद इस कैमरे की फिल्म पहले ही 'एक्सपोज' हो गई हो। हजार बातें हैं, किसी फूल का फोटो पहले आ गया है, भूल-चूक हो गई हो। कुछ 'केमिकल' गड़बड़ हो गई हो। तो प्रतीक्षा करनी पड़ी कि जब तक कली फूल न बन जाए। फिर वह कली फूल बन गई। और तब बहुत मुश्किल हो गई! क्योंकि जो वह फूल बनी, उसका फोटो ही पहले पकड़ा गया था। वह फोटो कोई 'केमिकल' भूल न थी, वह इसी फूल का फोटो है। 'डिलाबर लेबोरेट्री' के छोटे-से कमरे में घटी यह घटना बड़ी मुश्किल में डाल देती है।

इसका मतलब यह हुआ कि हमारे देखने के ढंग की वजह से एक दफा हमें अंडा दिखाई पड़ता है, फिर एक दफे मुर्गी दिखाई पड़ती है। लेकिन, अगर कृष्ण जैसी आंख हो देखने की हमारे पास, तो मुर्गी अंडा क्या एकसाथ नहीं दिखाई पड़ सकते? हमें बड़ी मुश्किल पड़ेगी। क्योंकि यह तर्क के बाहर का मामला हो गया। लेकिन, विज्ञान बहुत से तर्क के बाहर के मामलों को पिछले पच्चीस सालों में स्वीकार कर रहा है।

एक और आपको उदाहरण दूं, उससे खयाल आ सके। ताकि ऐसा न लगे कि मैं कोई अवैज्ञानिक बात कह रहा हूं। आज से पचास साल तक कभी कोई सोच भी नहीं सकता था, लेकिन इधर पचास वर्षों में बड़ी मुश्किल पड़ी। जैसे ही हम अणु का विस्फोट किए और 'इलेक्ट्रांस' की खोज किए, वैसे एक बड़ी कठिनाई आई जो मनुष्य जाति के सामने पहली दफे आई। और वह यह थी कि इलेक्ट्रान को हम क्या कहें? क्योंकि कभी 'इलेक्ट्रान' का फोटो ऐसा आता है जैसे इलेक्ट्रान 'वेव' है, लहर है; और कभी ऐसा आता है जैसे 'पार्टिकल' है, कण है। और कभी एक ही साथ दो कैमरे फोटो लेते हैं, तो एक कैमरे में फोटो आता है, 'वेव' का और दूसरे कैमरे में फोटो आता है कण का। अब कण और लहर में बड़ा फर्क है। इसको क्या कहें? इसको लहर कहें? अगर लहर कहते हैं तो यह कण नहीं हो सकता। अगर कण कहते हैं तो यह लहर नहीं हो सकता। इसलिए अंग्रेजी में एक नया शब्द ईजाद हुआ जो अभी दुनिया की दूसरी भाषा में नहीं हुआ, क्योंकि दुनिया की दूसरी भाषाएं उस गहराई पर नहीं पहुंचीं, वह है—'क्वांटा'। एक नया शब्द बनाना पड़ा। 'क्वांटा' का मतलब है, 'बोथ साइमल्टेनियसली, वेव एंड पार्टिकल'। मगर 'क्वांटा' बड़ा 'मिस्टीरियस' मामला है। 'क्वांटा' का मतलब होता है, दोनों एकसाथ—लहर भी और कण भी। हां, मुर्गी भी और अंडा भी—'क्वांटा'।

तो सार्त्र से मैं राजी नहीं हूं, न सार्त्र के विरोधियों से राजी हूं। जो कहते हैं कि अस्तित्व पहले, फिर आत्मा; जो कहते हैं आत्मा पहले, फिर अस्तित्व, उनमें से किसी से मैं राजी नहीं हूं। मेरा मानना है, अस्तित्व और आत्मा एक ही सत्य को देखने के दो ढंग। हमारी कमजोर नजर की वजह से हम दो में तोड़कर देखते हैं। अस्तित्व ही आत्मा है। 'इसेंस इज एक्ज़िस्टेंस, एक्ज़िस्टेंस इज इसेंस'। अस्तित्व आत्मा है, आत्मा अस्तित्व है। ये दो चीजें नहीं हैं। इसलिए जब हम कहते हैं कि आत्मा का अस्तित्व है, तो हम गलत भाषा का उपयोग करते हैं। जब हम कहते हैं, परमात्मा का अस्तित्व है, तब भी हम गलत भाषा का उपयोग करते हैं। क्योंकि परमात्मा का अस्तित्व है, इसका मतलब यह हुआ कि परमात्मा कुछ है और उसका अस्तित्व है।

नहीं, अगर हम ठीक से समझें तो हम कहेंगे, परमात्मा अस्तित्व है। परमात्मा का अस्तित्व है, गलत है। फूल का अस्तित्व है, क्योंकि कल फूल का अस्तित्व नहीं भी हो जाएगा। लेकिन परमात्मा का अस्तित्व कब नहीं होगा? जो कभी अनस्तित्व में नहीं जा सकता, उसका अस्तित्व नहीं कहा जा सकता। हम कह सकते हैं कि मेरा अस्तित्व है। क्योंकि कल मेरा अस्तित्व नहीं होगा। लेकिन परमात्मा का अस्तित्व है, ऐसा नहीं कह सकते। क्योंकि ऐसा कभी भी नहीं होगा जब उसका अस्तित्व न हो। इसलिए परमात्मा का अस्तित्व है, यह भाषा की भूल है। 'गॉड एक्जिस्ट्स', यह गलत बात है। परमात्मा अस्तित्व है, 'गॉड इज एक्ज़िस्टेंस', यह ठीक है।

लेकिन भाषा हमेशा दिक्कत में डालती है। क्योंकि जब हम कहते हैं, 'गॉड इज एक्जिस्टेंस', परमात्मा का अस्तित्व 'है', तो वह है शब्द भी बहुत झंझट का है। क्योंकि परमात्मा इस तरफ, अस्तित्व उस तरफ, और इससे, 'है' से 'रिलेटेड'। इधर परमात्मा, उधर अस्तित्व, और 'है' से जुड़ा हुआ। इसलिए फिर इसमें एक शब्द और गिराना पड़ेगा। 'गॉड इज एक्जिस्टेंस', ऐसा न कहकर कहना पड़ेगा, 'गॉड मीन्स इजनेस'। जुड़ा नहीं, अर्थ करना पड़ेगा। परमात्मा का अर्थ है, होना। परमात्मा का अर्थ है, अस्तित्व। है शब्द भी पुनरुक्ति है। इतना भी हम कहें कि ईश्वर है, तो पुनरुक्ति है। क्योंकि 'है' का मतलब भी ईश्वर होता है, और ईश्वर का अर्थ भी 'है' होता है। जो 'है', उसका नाम ईश्वर है। इसलिए कठिनाई है बड़ी भाषा की। और जैसे उसमें भीतर प्रवेश करते हैं, इसलिए जो जानता है वह कहता है, छोड़ो झंझट, चुप रह जाओ, कौन कहे कि ईश्वर है? जो कहे वह अलग हो जाए! किसको कहो कि ईश्वर है? जिसको कहो, वह 'आब्जेक्ट' बन जाए! तो चुप ही रह जाओ।

एक झेन फकीर के पास कोई गया और उससे पूछता है, ईश्वर के संबंध में कुछ कहो। तो वह हंसता है, डोलता है। फिर वह पूछता है, कुछ कहो भी, हंसने-डोलने से क्या होगा? तो वह और जोर से नाचता है। वह कहता है, क्या पागल तो नहीं हो? हम कहते हैं, कुछ कहो! तो वह फकीर कहता है, मैं कहता हूं लेकिन तुम सुनते नहीं। तो उस आदमी ने कहा कि गजब की बातें कह रहे हैं, खुद पागल हो, मुझको भी पागल बनाते हो! एक शब्द तुम बोले नहीं। तो उस फकीर ने कहा, अगर मैं बोलूंगा तो गलती हो जाएगी। अगर नहीं बोलने से नहीं समझ सकते हो तो जाओ, वहां समझो जहां

बोलकर समझाया जा रहा है। लेकिन बोलकर समझाने से परम तत्व में गलती हो ही जाएगी। इसलिए हम बोल सकते हैं आखिरी क्षण तक, लेकिन बिलकुल आखिरी क्षण पर बोलना रुक जाएगा। उसके बाद चुप रह जाना पड़ेगा।
विट्गिंस्टीन ने अपने सारे जीवन के बाद एक छोटा-सा वाक्य लिखा है। और वह वाक्य बहुत अदभुत है। उसने लिखा है, 'दैट क्रिच कैन नाट बी सेड, मस्ट नाट बी सेड'। जो नहीं कहा जा सकता, उसे कहना ही नहीं चाहिए। लेकिन, इतना तो कहना ही पड़ता है। अब विट्गिंस्टीन मर गया, नहीं तो उससे मैं कहता, इतना तो कहना ही पड़ता है कि जो नहीं कहा जा सकता उसे नहीं नहीं कहना चाहिए। और इससे क्या फर्क पड़ता है कि कितना कहते हैं! कुछ तो कहना ही पड़ता है। हां, उसने पहली किताब में कहा है, पहली किताब में 'टैक्टेसस' में उसने यह बात कही है कि जो कहा जाएगा वह भाषा में ही कहा जाएगा। यह थोड़ी दूर तक ठीक है। क्योंकि अगर 'गेस्चर' को भी कहना समझें, तो वह भी एक भाषा है। एक गूंगा हाथ उठाकर कह देता है—पानी पीना है। वह भी भाषा है, गूंगे की भाषा है। इसलिए हम तो कहते ही रहे हैं कि परमात्मा जो है वह गूंगे का गुड़ है। लेकिन उसका मतलब यही है कि गूंगे की भाषा में कहना पड़ेगा। लेकिन कहेंगे जो भी हम किसी भी ढंग से, नाच कर कहें—मौन रहकर कहें तो भी हम कह रहे हैं—और इसलिए जो है, वह हमारे सब कहने के पार छूट जाएगा। इसलिए लाओत्से ने विट्गिंस्टीन से बहुत गहरी बात कही है। लाओत्से ने कहा, सत्य कहा कि असत्य हो जाता है, इस इतना ही कहा जा सकता है। इसलिए जो जानते हैं वे चुप रह जाते हैं।

'भगवान श्री, आप बहुधा कहते हैं कि मैं जब पूर्ण होता है तब वह सर्व अर्थात 'न-मैं' हो जाता है। उपर्युक्त कथन का अभी आप खंडन कर रहे हैं। इसमें लगता है कि केवल शब्दों की 'इम्फेसिस' भर बदल रहे हैं आप। पूर्ण मैं और न-मैं क्या एक नहीं है?'

* कोई अंतर नहीं है। क्योंकि पूर्ण मैं का मतलब ही इतना होता है कि तू नहीं बचा अब बाहर, सब तू मैं में समा गए और जब सब तू मैं में समा जाएंगे तो इसको मैं कहने का कोई अर्थ नहीं रह जाता। इससे उलटा भी कह सकते हैं कि हमारा मैं तू में समा गया, लेकिन जब मेरा मैं तू में समा गया, तो तू को तू कहने का कोई अर्थ नहीं रह जाता। इसलिए चाहे मैं पूर्ण कहें हम, चाहे मैं शून्य कहें हम, ये दोनों एक ही बात को कहने के दो ढंग हैं। मैं पूर्ण हो जाए तो शून्य हो जाता है, मैं शून्य हो जाए तो पूर्ण हो जाता है। कहां से हम कहते हैं, इससे बहुत फर्क नहीं पड़ता। परम सत्य को अगर हम हां कहें, तो भी ठीक है, न कहें तो भी ठीक है। क्योंकि परम सत्य के संबंध में हां के भीतर न सम्मिलित होगी और न के भीतर हां सम्मिलित होगा। इसलिए परम सत्य के संबंध में हम कुछ न भी कहें तो भी ठीक है, और बहुत कुछ कहें, कहते रहें अनंत काल तक, तो भी पूरा नहीं होता। और चुप रह जाएं और कुछ भी न कहें, तो भी पूरा हो जाता है।
सत्य को, जो है, उसे जब भी हम किसी दृष्टि से देखते हैं तब कठिनाई में पड़ते हैं। और हम सब दृष्टि से देखते हैं। हम कहीं खड़े होकर देखते हैं। कोई जगह से देखते हैं। कोई धारणा से देखते हैं। कोई भाव से देखते हैं। कोई विचार से देखते हैं। कहीं-न-कहीं कोई 'कन्सेप्शन' है हमारा, उससे खड़े होकर हम देखते हैं। जब तक हमारी कोई धारण है, कोई दृष्टि है, तब तक जिस सत्य को हम देखेंगे वह अपूर्ण होगा, अधूरा होगा, खंड होगा, अंश होगा। इतना भी हम जानें कि वह अंश है, खंड है, तो भी ठीक है। लेकिन हर दृष्टि घोषणा करती है कि मैं पूर्ण हूं। और जब दृष्टि घोषणा करती है कि मैं पूर्ण हूं, और जब दृष्टि कहती है कि मैं दर्शन हूं, तब बड़ी भ्रांति खड़ी हो जाती है। दृष्टि इतना ही कहे कि मैं दृष्टि हूं तब कोई खतरा नहीं है।
दर्शन तो उसी दिन उपलब्ध होगा जिस दिन कोई दृष्टि न होगी। आप किसी दृष्टि से न देख रहे होंगे, आप किसी जग से न देख रहे होंगे, आप सब जगह से देख रहे होंगे, एक साथ सब जगह हो गए होंगे, उस दिन दर्शन उपलब्ध होगा। उस दर्शन को कहने के दो ढंग हो सकते हैं। दो ही ढंग हमारे पास हैं—निषेध के या विधेय के। या तो हम निषेध का उपयोग करें, जैसा बुद्ध ने उपयोग किया और कहा कि निर्वाण है, शून्य है; या, जैसा शंकर ने उपयोग किया और कहा कि ब्रह्म है, पूर्ण है। और मजा यह है कि शंकर और बुद्ध दोनों विपरीत मालूम पड़ते हैं और दोनों बिलकुल एक बात कहे चले

जाते हैं। दोनों एक ही बात कहते हैं, सिर्फ उनकी भाषा का मोह भिन्न है। शंकर विधायक शब्द को पसंद करते हैं, वह कहते हैं, ब्रह्म है। बुद्ध नकारात्मक शब्द को पसंद करते हैं, वह कहते हैं, शून्य है।

अगर मुझसे पूछें कि मैं क्या कहूं, तो मैं कहूंगा कि शून्य का एक नाम ब्रह्म है और ब्रह्म का एक नाम शून्य है। और जहां बुद्ध और शंकर दोनों मिल जाते हैं, वहां भाषा खत्म हो जाती है। वहां से असली बात शुरू होती है।

'भगवान श्री, आपने यह तो स्वीकारा कि पूर्ण मैं और न-मैं में कोई फर्क नहीं है, लेकिन इसके पहले आप अपनी चर्चा में कह चुके हैं कि साधना पूर्ण मैं की दिशा में ले जाती है। और आपने साधना और उपासना में बहुत फर्क किया; लेकिन बाद में आप दोनों को एक मान रहे हैं।'

* नहीं, मैंने यह नहीं कहा कि साधना पूर्ण मैं की दिशा में ले जाती है। मैंने कहा, साधना मैं की दिशा में ले जाती है। अगर साधना पूर्ण मैं की दिशा में ले जाए, तो फिर उपासना में कोई फर्क नहीं है। लेकिन साधना नहीं ले जा पाती, और इसलिए साधक को एक दिन मैं को भी खोना पड़ता है। वह मैं की ही दिशा में ले जाती है। क्योंकि पूर्ण मैं तभी हो सकता है जब मैं खो जाए। इसलिए साधक को एक छलांग और लगानी पड़ेगी अंत में। एक साधना करके वह मैं को पाएगा, आत्मा को पाएगा; उसे अंत में आत्मा को भी खोने की छलांग लगानी पड़ेगी। और अगर वह नहीं लगाता, तो वह एक कदम पहले रुक जाएगा। उपासक जो छलांग पहले ही दिन लगा लेता है, वह साधक को अंतिम दिन लगानी पड़ेगी—वह मैंने पीछे बात की है। साधक, साधना, प्रयास एक जगह ले जाएंगे जहां मैं बच जाऊंगा और सब खो जाएगा। अब इस मैं को भी खोना पड़ेगा। उपासक पहले ही क्षण से मैं को खोने की बात करता है। इसलिए अंत में उसके पास खोने को कुछ नहीं बचता। खोने को ही नहीं बचता।

तो जो काम साधक को अंत में करना पड़ता है वह उपासक को प्रथम करना पड़ता है। और मेरी अपनी समझ यह है कि जो काम अंत में करना ही हो, उसे प्रथम ही कर लेना उचित है। इतनी देर तक इस झंझट को ढोना उचित नहीं है। जिस बोझ को फेंक ही देना हो, और पहाड़ के अंतिम शिखर पर जहां जाकर सब बोझ छोड़ देना हो, इसको इतनी पहाड़ी तक कंधे पर ढोने का भी कोई प्रयोजन नहीं है। उपासक यह कहता है कि तुम पहाड़ के नीचे ही कंधे का बोझ रख दो, क्योंकि आखिरी शिखर पर पहुंचने के पहले यह बोझ छोड़ना पड़ेगा। उस ऊंचाई पर यह बोझ नहीं ले जाया जा सकता है। लेकिन हम कहते हैं कि नहीं, जब तक ले जाया जा सकता है तब तक हम ले चलें, जब आएगा मौका तब देख लेंगे। तो हम पूरा पहाड़ बोझ ढोते हैं। आखिरी शिखर के पहले तो छोड़ना पड़ता है। उपासक नीचे ही छोड़ आता है, वह इतने ढोने से बच जाता है। इतना फर्क है। आखिरी शिखर पर फर्क नहीं रह जाएगा। लेकिन, जब आखिरी शिखर पर इतनी दूर तक खींचा गया बोझ छोड़ने का क्षण आएगा, तब उपासक मजे से बढ़ता रहेगा और साधक अड़चन में पड़ेगा। क्योंकि जिसे इतनी दूर तक खींचा, उसके साथ राग और मोह तो बन ही जाता है। और मन करेगा कि पहाड़ चढ़ कर आए, इतनी दूर तक खींचा, अब अंत में छोड़े! हां, रोएगा कि इसको अगर ले जा सकें तो अच्छा है। या सोचेगा कि यहीं टिक जाएं, थोड़ी दूर न भी गए तो क्या हर्ज है, अपने बोझ के साथ ही रुक जाएं। यह समस्या उसके सामने खड़ी होगी। यह उपासक के सामने पहले दिन ही खड़ी होगी, नीचे ही पहाड़ के। उसकी भी कठिनाई तो है। कठिनाई यह है कि साधक बोझ को ले जाता दिखाई पड़ेगा, और उसको लगेगा कि कुछ लोग तो लिए जा रहे हैं और मुझे यहीं छोड़ना पड़ रहा है। कहीं ऐसा न हो कि ये शिखर पर साथ लिए पहुंच जाएं और मैं गरीब यहीं छोड़ जाऊं! और आखिर में पता चले कि यह तो पहुंच गए बोझ के साथ और मैं खाली हाथ पहुंच गया।

इसलिए साधक की कठिनाई अंत में है, उपासक की कठिनाई प्रथम है। अब नहीं कहा जा सकता, 'टाइप' हैं दुनिया में। किसी को अच्छा लग सकता है एक, किसी को अच्छा लग सकता है दूसरा। लेकिन कृष्ण को समझते वक्त मैं आपसे कहना चाहता हूं कि कृष्ण का जगत उपासक का है।

'भगवान श्री, आप जो सात-आठ साल से धर्मचक्र-प्रवर्तन कर रहे हैं, उसका केंद्रीय तत्व ध्यान मालूम पड़ता है। तो कृपया बताएं कि ध्यान और उपासना में क्या फर्क है और आपके धर्मचक्र-प्रवर्तन का केंद्रीय सूत्र ध्यान और साधना है, कि उपासना है?'

* मेरे लिए कोई फर्क नहीं है। मेरे लिए कोई भी फर्क नहीं है। मेरे लिए शब्दों से कोई भी फर्क नहीं पड़ता। सत्य का सवाल है। मैं ध्यान में भी उसी सत्य को कहता हूं, उसी सत्य को प्रार्थना में भी कह देता हूं; उसी सत्य को साधना में भी कहता हूं, उसी सत्य को उपासना में भी कह देता हूं। मेरे लिए फर्क नहीं पड़ता। लेकिन कृष्ण के संदर्भ में आप पूछते हैं, तब फर्क है। महावीर के संदर्भ में पूछेंगे, तब फर्क है। महावीर के लिए योग शब्द उपासना नहीं है। महावीर उपासना शब्द के लिए राजी नहीं होंगे। महावीर साधना के लिए राजी होंगे, बुद्ध साधना के लिए राजी होंगे। 'एम्फेटिकली' उनका जोर साधना पर होगा। क्राइस्ट उपासना के लिए राजी होंगे, कृष्ण उपासना के लिए राजी होंगे, मुहम्मद उपासना के लिए राजी होंगे। उनका 'एम्फेटिक' शब्द उपासना होगा।

मेरे लिए कोई झंझट नहीं है। मेरे लिए कोई कठिनाई नहीं है। इसलिए बहुत बार ऐसा लगेगा कि कल मैंने जो कहा, आज उससे उलटा कह रहा हूं। मैं बिलकुल मजे से कह सकता हूं। मुझे कोई अंतर नहीं पड़ता। अभी कृष्ण पर बोल रहा हूं, इसलिए उपासना की बात कर रहा हूं; पिछले वर्ष महावीर पर बोल रहा था, इसलिए साधना की बात कर रहा था। अगले वर्ष क्राइस्ट पर बोलूंगा तो कुछ और बात करूंगा। मेरे लिए चूंकि जैसा सत्य दिखाई पड़ता है, उस सत्य के दिखाई पड़ने में अब मेरे लिए कोई फर्क नहीं रह गया है कि कौन के लिए क्या फर्क है। लेकिन जब आप कृष्ण को समझने जाते हैं, तब मैं कृष्ण पर साधना शब्द रखूं, तो कृष्ण के साथ अन्याय होगा। वह कृष्ण का शब्द नहीं है। जैसे महावीर के ऊपर मैं नाचने को थोप दूं...मेरे लिए कोई फर्क नहीं है; महावीर शांत खड़े हैं एक पहाड़ की कंदरा में, वे जिस आनंद में हैं उस आनंद में, और कृष्ण एक वृक्ष के नीचे बांसुरी बजा रहे हैं, उस आनंद में, मेरे लिए कोई फर्क नहीं है...लेकिन अगर कोई कहे कि महावीर और कृष्ण के लिए फर्क नहीं है, तो मैं राजी नहीं होऊंगा। महावीर नाचने को राजी न होंगे। कृष्ण महावीर की तरह आंख बंद करके वृक्ष के नीचे नग्न खड़े होने को राजी न होंगे। मेरे लिए दिक्कत नहीं है, मेरे लिए कठिनाई नहीं है। इसलिए जब आप महावीर को समझने की मुझसे बात करेंगे, तो मैं न कह सकूंगा कि महावीर नाचते हैं। इसलिए जब आप महावीर को समझने की मुझसे बात करेंगे, तो मैं न कह सकूंगा कि महावीर नाचते हैं। मैं कैसे कह सकूंगा? यह महावीर के साथ अन्याय हो जाएगा। आप कृष्ण को समझ रहे हैं तो मैं न कह सकूंगा कि कृष्ण आंख बंद करके और वृक्ष के नीचे ध्यान करते हैं। यह मैं न कह सकूंगा। वृक्ष के नीचे कृष्ण ने सदा नाच किया है, ध्यान कभी नहीं किया।

कृष्ण ने कभी ध्यान ही किया है, इसकी भी कोई खबर नहीं है। महावीर कभी नाचें, साधना के पहले भी, वह भी नहीं है संभव। तो जब मैं कृष्ण की बात कर रहा हूं, इसलिए उपासना शब्द पर जोर दे रहा हूं। मेरे लिए अंतर नहीं है। मेरे लिए कोई अंतर नहीं है, मेरे लिए तो साधना भी एक 'टाइप' के लोगों के लिए जरूरी है, उपासना भी एक 'टाइप' के लोगों के लिए जरूरी है। और मैं दोनों में सत्य को देखता हूं और दोनों का सत्य मैंने आपसे कहा कि दोनों की अड़चन है, दोनों की सुविधा है। लेकिन फिर भी दोनों को ठीक से साफ-साफ समझ लेना आपके लिए उपयोगी है। मेरे लिए जरा भी उपयोगी नहीं है दोनों में फासला करना। आपके लिए तो निर्णय करना पड़ेगा कि आप साधक की यात्रा पर जाते हैं कि उपासक की यात्रा पर जाते हैं। मेरे लिए कोई यात्रा नहीं है, मुझे किसी यात्रा पर जाना नहीं है। मुझे इससे कोई फर्क नहीं पड़ता है कि मुझे कोई उपासक समझे कि साधक समझे, कि दोनों न समझे, इससे कोई अंतर नहीं पड़ता है। आपके लिए मैं दोनों चीजों को साफ-साफ अलग-अलग कर देना चाहता हूं, क्योंकि आपके लिए तो निर्णय लेना होगा। आपको तो तय करना होगा कि आप किस ढंग के आदमी हैं। आपके लिए क्या निकट होगा। आप उपासना के निकट से पहुंच पाएंगे कि साधना के निकट से पहुंच पाएंगे। जिन्हें पहुंचना है उन्हें तय करना पड़ेगा, जिन्हें जाना है उन्हें तय करना पड़ेगा। जो जहां खड़े हैं वहीं पहुंचे हुए समझ रहे हैं, उनके लिए कोई सवाल नहीं है। अगर किसी दिन आपको यह समझ में आ जाए कि न कहीं जाना है, न कहीं पहुंचना है, तब न उपासना शब्द सार्थक है, न साधना शब्द सार्थक है। तब आप दोनों पर हंस

सकते हैं और कहते हैं कि दोनों तरह की बातें पागलपन की होंगी, क्योंकि हम तो वहीं खड़े हैं जहां हैं। जहां पहुंचना है वहां तो हम हैं ही।
एक झेन फकीर एक गुफा के बाहर सोता रहता है। और जिस गुफा के बाहर वह सोया है वह तीर्थयात्रियों का मार्ग है, जहां से पहाड़ पर तीर्थयात्री जाते हैं। जो भी वहां से गुजरता है, उस फकीर को सोया देखकर कहता है कि अरे, तुम यहां क्यों पड़े हो? तीर्थयात्रा पर नहीं चलना है? तो वह फकीर कहता है, तुम जहां जा रहे हो, हम वहां पहुंच गए हैं। फिर लौटता हुआ कोई उससे पूछता है कि अरे, तुम यहीं पड़े हुए हो! ऊपर तक नहीं गए? तो वह कहता है, तुम जहां से आ रहे हो, हम वहीं रहते हैं। और वह वहीं पड़ा रहता है। तो वह न कभी तीर्थ करने गया, न कभी जाएगा, और यात्री अपना सिर ठोंककर आगे बढ़ जाते हैं कि पागल है! लेकिन वह कहता है कि तुम जहां जा रहे हो, हम वहां हैं ही। तुम जहां से आ रहे हो, हम वहां सदा से हैं।
ऐसे आदमी को न साधना का अर्थ है, न उपासना का अर्थ है। तो मैं कभी साधना की बात करता हूं, कभी उपासना की, कभी दोनों के पागलपन की भी बात करूंगा। लेकिन अगर आप ठीक-ठीक समझेंगे, तो विरोधाभास दिखाई नहीं पड़ेगा, विरोधाभास है नहीं।

'एक जगह और विरोधाभास लग गया। आपने कहा कि कृष्ण जन्म से ही सिद्ध हैं और महावीर साधक हैं। जबकि कश्मीर के शिविर में आपने महावीर के बारे में कहा कि उन्होंने पिछले जन्मों में ही अपनी सारी साधना पूरी कर ली थी। इस जन्म में उन्हें कुछ भी साधना नहीं करनी थी, केवल अभिव्यक्ति करनी थी। तब महावीर भी जन्म से ही सिद्ध हुए, कृष्ण जैसे ही हुए।'

* नहीं, ऐसा मैंने नहीं कहा। मैंने इतना ही कहा है कि महावीर जो भी हुए हैं, वह होकर हुए हैं। चाहे वह पिछले जन्म में साधना की हो, या उससे जन्म में साधना की हो, इससे कुछ लेना-देना नहीं है। वह जो भी हुए हैं, साधना से हुए हैं। उनकी सिद्धावस्था के पहले साधना की यात्रा है। कृष्ण किसी जन्म में कभी भी साधना नहीं किए।

'सीधे पूर्ण हो गए?'

* हमें कठिनाई लगती है। हमें कठिनाई लगती है कि सीधे पूर्ण हो गए? हमें लगता है कि आड़े-तिरछे चलकर ही पूर्ण हो सकते हैं। हमें लगता है...वह वही फकीर का सवाल, वह फकीर यही तो कह रहा है। उससे आने-जाने वाले लोग कहें कि अच्छा, तुम यहीं पड़े-पड़े पहुंच गए! हम तीर्थ तक चलकर पहुंचे, तुम यहीं पड़े पहुंच गए! ऐसा हो नहीं सकता। लेकिन वह फकीर यह कहता है कि अगर तुम यहीं पड़े-पड़े नहीं पहुंच सकते, तो ऊपर चढ़कर भी कैसे पहुंच जाओगे! जहां पहुंचना है, वह कोई ऐसी चीज नहीं है जिसके लिए यात्रा जरूरी हो। लेकिन 'टाइप' है कुछ, जो बिना यात्रा किए नहीं पहुंच सकते। जिन्हें अपने घर भी आना हो तो दस-पांच दूसरों के घर के दरवाजे खटखटाए बिना नहीं आ सकते। अपने घर का भी जिन्हें पता लगाना हो, तो दूसरे से पूछकर ही आ सकते हैं। यह 'टाइप' का फर्क है। महावीर और कृष्ण के 'टाइप' का फर्क है। महावीर बिना साधना किए पहुंचेंगे ही नहीं। असल में महावीर राजी भी न होंगे, वह भी समझ लेना चाहिए।
अगर महावीर को कोई कहे कि बिना साधना के यह रखा-रखाया मिलता है, तो महावीर कहेंगे, क्षमा करें, ऐसा हम न लेंगे, क्योंकि जिसको अर्जित नहीं किया, उसको ले लेना चोरी है। महावीर कहेंगे कि जिसको अर्जित नहीं किया, जिसके लिए साधा नहीं, उपाय नहीं किया, उसे ले लेना चोरी है। हम न लेंगे। अगर महावीर को मोक्ष कोई दान में मिलता हो, ऐसा रास्ते के किनारे पड़ा हुआ मिलता हो, तो महावीर को जैसा मैं समझता हूं, वह फिर ठुकराकर आगे चले जाएंगे, वह कहेंगे ऐसा हम न लेंगे। हम तो पाएंगे, अर्जित करेंगे, खोजेंगे। जिस दिन मिलेगा, उस दिन लेंगे। अधिकारी बनें तो लेंगे।

कृष्ण कहेंगे कि जिसको पाने-खोजने से मिलता हो, उसको पाकर भी क्या करेंगे! क्योंकि जो पाने से नहीं मिल सकता, वह खो भी सकता है। हम तो उसी को पाएंगे जो पाने-वाने से नहीं मिलता, जो है ही। यह 'टाइप' का फर्क है। ये व्यक्तित्व-भेद हैं। इसमें ऊंचे-नीचे की बात नहीं कह रहा हूं। यह व्यक्तियों के भेद हैं। यह कृष्ण और महावीर दो तरह के बड़े गहरे व्यक्तित्वों का भेद है। महावीर के लिए वही सार्थक है जो मिलता है खोज से, उघाड़ा जाता है, श्रम से पाया जाता है। इसलिए महावीर का नाम ही श्रमण हो गया। और महावीर की पूरी परंपरा का नाम श्रमण-परंपरा हो गया। महावीर कहते हैं, जो भी मिलेगा वह श्रम से मिलेगा। श्रम के बिना पाया हुआ सब चोरी है। चाहे परमात्मा भी मिल जाए बिना श्रम के तो वह कुछ-न-कुछ जालसाजी है, कहीं-न-कहीं धोखाधड़ी है। कहीं-न-कहीं कोई छल-कपट है। लेकिन महावीर कहते हैं कि हमारा स्वाभिमान नहीं कहता कि बिना श्रम के हम कुछ पा लें। हम तो मेहनत करेंगे और जितना मिल जाएगा उतने के लिए राजी होंगे। इसलिए महावीर की भाषा में, महावीर के भाषाशास्त्र में प्रसाद और 'ग्रेस' जैसा कोई शब्द नहीं है। प्रयास, श्रम, पुरुषार्थ, साधना, संघर्ष, ऐसे शब्द हैं। होंगे ही। इसलिए महावीर की पूरी परंपरा श्रमण-परंपरा है।

हिंदुस्तान में दो परंपराएं हैं—श्रमण और ब्राह्मण। ब्राह्मण-परंपरा का अर्थ है, जो मानते हैं ब्रह्म हम हैं ही, होना नहीं है। श्रमण-परंपरा का अर्थ है कि ब्रह्म हमें होना है, हम हैं नहीं। और दो तरह के ही लोग हैं। और मैं मानता हूं कि ब्राह्मण तरह के लोग बड़े न्यून हैं। ब्राह्मण भी नहीं हैं। जिनको हम ब्राह्मण समझते हैं, वे भी ब्राह्मण नहीं हैं। क्योंकि इस बात के लिए हिम्मत जुटाना कि हम बिना पाए पा लेंगे, हम बिना अधिकारी बने अधिकारी हैं, हम बिना गए पहुंचे हैं, बड़ा मुश्किल है! साधारण मन कहता है, पाना ही होगा, श्रम करना ही होगा, कुछ किए बिना कैसे मिलेगा! हमारा सब गणित कहता है, साधन के बिना साध्य नहीं; श्रम के बिना उपलब्धि नहीं, प्रयास के बिना पहुंचना कैसा? इसलिए ब्राह्मण तो कभी-कभी दो-चार सदियों में एकाध आदमी होता है। बाकी सब श्रमण हैं, चाहे वे अपने को जैन श्रमण मानते हों कि न मानते हों। इसलिए बुद्ध और महावीर के बड़े भेद होते हुए भी दोनों की परंपरा को श्रमण नाम मिल गया—दोनों की परंपरा को। क्योंकि बुद्ध का भी आग्रह—बिना पाए नहीं मिलेगा, खोजना पड़ेगा। कृष्ण ब्राह्मण हैं। वे कहते हैं, ब्रह्म हम हैं ही।

और मैं किसी एक को गलत और दूसरे को सही नहीं कह रहा हूं, यह ध्यान में रखना। क्योंकि मुझे दोनों की ठीक दिखाई पड़ते हैं। उसमें कुछ बहुत कठिनाई नहीं है। ये दो तरह के सोचने के ढंग, दो तरह के व्यक्तित्व, दो तरह के चित्त, उनकी यात्राएं हैं।

'एक अंतिम बात पूछूं, कृष्ण अपने पिछले जन्मों में कभी-न-कभी तो अपूर्ण और अज्ञानी रहे ही होंगे!'

* अपूर्ण और अज्ञानी तो महावीर भी किसी जन्म में नहीं रहे हैं। सिर्फ पता उनको इस जन्म में चला है। और कृष्ण को सदा से पता है। अपूर्ण और अज्ञानी तो आप भी नहीं हो। अपूर्ण और अज्ञानी तो कोई भी नहीं है; बस पता चलने की देर है। जो फर्क है, वह अपूर्ण होने का नहीं है, वह बोध का है।

यहां सब आदमी सोए हुए हैं, सूरज निकला हुआ है, एक आदमी जागा हुआ है। यह जो आदमी जागा हुआ है और ये जो आदमी सोए हुए हैं, इन दोनों के लिए सूरज निकला हुआ है। सूरज के निकलने में कोई फर्क नहीं है। एक आदमी जागा हुआ है, उसे पता है कि सूरज निकला है, बाकी सोए हैं, उन्हें पता नहीं है कि सूरज निकला है। जब वे जागेंगे, वे कहेंगे, अरे, अब सूरज निकला! नहीं, उचित यही होगा कि वे कहें कि सूरज तो निकला था, हम अब जागे हैं। अपूर्ण, अज्ञानी न महावीर हैं, न कृष्ण हैं, न आप हो।

लेकिन कृष्ण अपने को किसी भी तल पर कभी भी ऐसा नहीं जानते, इसलिए कोई चेष्टा नहीं करते। किसी तल पर महावीर चेष्टा करके जानते हैं कि अपूर्ण और अज्ञानी नहीं हैं, पूर्ण हैं और ज्ञानी हैं। जिस दिन वे जानते हैं, उस दिन यह भी जान लिया जाता है कि यह होना उसका सदा से था। सिर्फ पता अब चला। और क्या फर्क पड़ता है कि किसी को दो

जन्म पहले चला और किसी को दो जन्म बाद चला! हमको बहुत दिक्कत मालूम होती है। किसी को दस जन्म पहले चला और किसी को दस जन्म बाद चला, क्योंकि हम 'टाइम' में जीते हैं। हमारा सारा सवाल यह है कि कौन पहले, कौन पीछे? लेकिन जगत में समय का न हो प्रारंभ है, न कोई अंत है। इसमें आगे और पीछे का क्या मतलब है? आगे और पीछे का तभी तक मतलब है जब तक अंत और आदि को हम मानते हों। अगर समय का कोई प्रारंभ ही नहीं है, तो मुझसे दो दिन पहले जिसे ज्ञान मिला, उसे मुझसे पहले मिला? और अगर समय का कोई अंत ही नहीं है, तो मुझे दो दिन बाद मिला, मुझे उससे बाद में मिला?

नहीं, ये बाद और पहले तभी सार्थक हो सकते हैं जब आगे-पीछे खंभे लगे हों कि वहां समय खत्म हो जाता है, वहां समय शुरू होता है। अगर कभी समय शुरू होता हो, तो उसको मुझसे दो दिन पहले मिल गया। उस खंभे से नाप की जा सकती है कि यह आदमी दो दिन पहले मुझसे पहुंचा। आगे के खंभे से नाप की जा सकती है कि मैं दो दिन बाद पहुंचा हूं। लेकिन अगर पीछे कोई प्रारंभ न हो और आगे कोई अंत न हो, तो कौन पहले पहुंचा और कौन पीछे पहुंचा? पहले और पीछे पहुंचने की धारणाएं हमारी समय की धारणाएं हैं। और जो भी पहुंचते हैं, वे समयातीत, कालातीत, 'बियांड टाइम' पहुंच जाते हैं।

इसलिए एक मैं अजीब-सी बात आपसे कहूं कि जिस क्षण महावीर पहुंचते हैं, उसी क्षण कृष्ण पहुंचते हैं। मगर यह बड़ा मुश्किल होगा। इसे थोड़ा समय को समझकर फिर समझना पड़ेगा।

जिस क्षण कोई भी पहुंचा है इस जगत में, उसी क्षण सब पहुंचते हैं। इसे ऐसा समझें थोड़ा-सा। एक बड़ा वर्तुल हम बनाएं, एक 'सर्किल' बनाएं। 'सर्किल' के बीच में एक 'सेंटर' हो। और 'सर्किल' से, परिधि से हम कई रेखाएं 'सेंटर' की तरफ खींचे। परिधि पर रेखाओं में फासला होगा, दो रेखाओं में दूरी होगी। फिर दोनों रेखाएं केंद्र की तरफ चलती हैं, तो दूरी कम होती जाती है। फिर वे जब केंद्र पर पहुंचती हैं तो दूरी समाप्त हो जाती है। परिधि पर दूरी होती है, केंद्र पर दूरी समाप्त हो जाती है। 'टाइम' की जो 'सरकमफरेंड' है, समय की जो परिधि है, उस पर महावीर एक दिन छलांग लगाकर केंद्र पर पहुंचते हैं। समय की परिधि पर कृष्ण और महावीर के बीच फासला है। मेरे और कृष्ण के बीच फासला है। आपके और मेरे बीच फासला है। लेकिन जिस दिन केंद्र पर पहुंचते हैं उस दिन कोई फासला नहीं रह जाता। समय के केंद्र पर फासले समाप्त हो जाते हैं। लेकिन यह सब कठिन है। यह खयाल में लेना कठिन है, क्योंकि हम परिधि पर जीते हैं और हमें 'सेंटर' का कोई पता नहीं है।

इसे ऐसा भी समझ लें। एक बैलगाड़ी का चाक चलता है। तो चाक चलता है, लेकिन कील खड़ी रहती है। और बड़े मजे की बात तो यह है कि खड़ी हुई कील पर ही चाक चलता है। चलता उसके आधार पर है, जो नहीं चलती है। चाक कई मील चल जाएगा और चाक कहेगा कि दस मील की यात्रा की, और अगर कील से पूछें कि कील तूने कितनी यात्रा की, कील कहेगी, मैं वही हूं। लेकिन बड़े मजे की बात है जिस कील पर चाक दस मील चल गया, वह कील जरा-सा भी नहीं चली। तो चाक कैसे चला होगा, जब कील नहीं चली जरा भी? और कील तो यही कहेगी कि मैं वही हूं, मैं बिलकुल चली ही नहीं। और चाक कहेगा, मैं दस मील चल गया। और कील और चाक एक ही साथ जुड़े हैं। तो चाक जो कील से जुड़ा है, दस मील चल गया, और कील जो चाक से जुड़ी है बिलकुल नहीं चली—ये दोनों बातें एकसाथ कैसे हो सकती हैं? ये एकसाथ हो जाती हैं। हम रोज गाड़ी में देखते हैं। ये इसलिए हो जाती हैं कि कील 'सेंटर' पर है और चाक परिधि पर है। कील 'सेंटर' पर है और चाक परिधि पर है। परिधि पर इतिहास, समय है। और कील पर सत्य है, ब्रह्म है।

महावीर और कृष्ण एक ही क्षण वहां पहुंचते हैं। और जब वे वहां पहुंचते हैं तो ऐसा पता नहीं चलता है कि कौन पहले पहुंचा और कौन पीछे पहुंचा। लेकिन जहां परिधि पर जीने वाले लोग हैं, चाक पर जीने वाले लोग हैं, वहां कोई कभी पहुंचता है, कोई कभी पहुंचता है, कोई कभी पहुंचता है, ये सब समय के फासले हैं। समय के फासले वहां नहीं हैं, क्योंकि समय के बाहर समय का कोई फासला नहीं है।

इस पर कल थोड़ी बात करेंगे, कुछ और पहलुओं से, तो खयाल में आ सकता है।

'भगवान श्री, मेरी एक प्रार्थना है। वह यह है कि समय बहुत कम बचा है, इसलिए सायंकाल आप स्वतंत्र प्रवचन दें। गीता में जो कुछ भी आप हमारे लिए उपादेय और हितकर मानें, वह पांच भागों में बांटते हुए पांच प्रवचनों में हमें दें। और प्रातःकाल उन्हीं प्रवचनों पर प्रश्नोत्तर का अवसर रहे।'

* नहीं, वह ठीक नहीं पड़ेगा। मुझे जो कहना है, वह मैं कह लूंगा। उसकी फिकिर ही न करें। आप क्या पूछते हैं, इससे बहुत फर्क नहीं पड़ता। मुझे क्या कहना है, मैं वही कहता हूं। इसमें कोई फर्क नहीं पड़ता।
13 अचिंत्य-धारा के प्रतीकबिंदु कृष्ण

'एक चर्चा में आपने कहा है कि श्रीकृष्ण की आत्मा का साक्षात्कार हो सकता है, क्योंकि कुछ मरता नहीं। तो कृष्ण-दर्शन को संभावितता की हद में लाने के लिए कौन-सी 'प्रासेस' से गुजरना पड़ेगा? और साथ ही यह बताएं कि कृष्ण-मूर्ति पर ध्यान, कृष्ण-नाम का जप और कृष्ण-नाम के संकीर्तन से क्या उपासना की पूर्णता की ओर जाया जा सकता है?'

* विश्व अस्तित्व में कुछ भी एकदम मिट नहीं जाता। और विश्व अस्तित्व में कुछ भी एकदम नया पैदा भी नहीं होता है। रूप बदलते हैं, आकृतियां बदलती हैं, आकार बदलते हैं, लेकिन अस्तित्व गहनतम रहस्यों में जो है, वह सदा वैसा ही है। व्यक्ति आते हैं, खो जाते हैं, लहरें उठती हैं सागर पर, विलीन हो जाती हैं, लेकिन जो लहर में छिपा था, जो लहर में था, वह कभी विलीन नहीं होता।
कृष्ण को हम दो तरह से देखेंगे तो समझ में आ जाएगा। और अपने को भी फिर हम दो तरह से देख पाएंगे। एक हमारा लहर-रूप है, एक हमारा सागर-रूप है। लहर की तरह हम व्यक्ति हैं, सागर की तरह हम ब्रह्म हैं। कृष्ण का जो चेहरा देखा गया, कृष्ण का जो शरीर देखा गया, कृष्ण की जो वाणी सुनी गई, कृष्ण के जो स्वर सुने गए, वे लहर-रूप हैं। लेकिन जो इन वाणियों, इन नृत्यों, इस व्यक्तित्व के पीछे जो खड़ा है, वह सागर-रूप है। वह सागर-रूप कभी भी नहीं खोता है। वह सदा अस्तित्व के प्राणों में निवास करता है, वह सदा है ही। वह कृष्ण नहीं हुए थे तब भी था और जब कृष्ण नहीं हैं तब भी है। जब आप नहीं थे तब भी था, आप जब नहीं होंगे तब भी होगा। ऐसा समझें कि जैसे कृष्ण एक लहर की तरह जागे हैं, नाचे हैं सागर की छाती पर, किरणों में, सूरज की हवाओं में और फिर सागर में खो गए हैं।
हम सब भी ऐसे ही हैं। थोड़ा-सा फर्क है। कृष्ण जब लहर की भांति नाच रहे हैं, तब भी वह जानते हैं कि वह सागर हैं। हम जब लहर की भांति नाच रहे हैं, तब हम भूल जाते हैं कि हम सागर हैं। तब हम समझते हैं कि लहर ही हैं। चूंकि हम अपने को लहर समझते हैं, इसलिए कृष्ण को भी कैसे सागर समझ सकते हैं! फिर लहर जिस रूप में प्रकट हुई थी, जिस आकृति और आकार में प्रकट हुई थी, उस आकृति और आकार का उपयोग किया जा सकता है, उस लहर के पुनर्साक्षात्कार के लिए। लेकिन खेल सब छाया-जगत का है। दो-तीन बातें खयाल में लेंगे तो बात पूरी स्पष्ट हो सकेगी।
कृष्ण के सागर-रूप से आज भी, अभी भी साक्षात्कार किया जा सकता है। महावीर के सागर-रूप से भी साक्षात्कार किया जा सकता है, बुद्ध के सागर-रूप से भी साक्षात्कार किया जा सकता है। जिस रूप में वे प्रकट हुए थे कभी, जो आकृति उन्होंने ली थी, उसका उपयोग इस सागर-रूप साक्षात्कार के लिए किया जा सकता है। वह माध्यम बन सकता है। मूर्तियां सबसे पहले पूजा के लिए नहीं बनी थीं। मूर्तियां सबसे पहले 'इजोटेरिक साइंस' की तरह बनी थीं। एक गुप्त-विज्ञान की तरह बनी थीं। उन मूर्तियों में, जो व्यक्ति उस रूप में जिआ था वह वायदा किया था कि इस मूर्ति पर यदि ध्यान 'फोकस' किया गया, इस मूर्ति पर पूरी तरह ध्यान किया गया, तो मेरे सागर-रूप अस्तित्व से संबंध हो सकेगा।
कभी रास्ते पर आपने किसी मदारी को 'हिप्नोसिस' का एक छोटा-सा खेल करते देखा होगा। छोटा-सा खेल है कि किसी लड़के को मदारी लिटा देता है, उसकी छाती पर एक ताबीज रख देता है, ताबीज रखने से वह बेहोश हो जाता है। बेहोश होने के बाद वह मदारी उस लड़के से बहुत-सी बातें पूछता है जो वह बताना शुरू कर देता है। आपके पास वह मदारी आता है और कहता है, कान में अपना नाम बोल दें। आप नाम बोलते हैं, वह लड़का वहां से चिल्ला देता है कि यह नाम

है इस आदमी का। आप इतने धीमे बोलते हैं कि उस लड़के को सुनने का कोई उपाय नहीं, क्योंकि आपके बगल का पड़ोसी भी नहीं सुन पाया है। वह मदारी कहता है, आपके खीसे में नोट रखा हुआ है, इसका नंबर कितना है? और वह लड़का नोट का नंबर बोल देता है। वह मदारी आपसे कहेगा कि यह ताबीज बड़ा अदभुत है। इस ताबीज के बदौलत इस लड़के की इतनी सामर्थ्य हो गई। बस यहीं वह धोखा देता है। फिर वह चार-आठ आने में ताबीज बेच भी लेता है। आप घर लेकर आठ आने का ताबीज छाती पर रखकर लेट जाते हैं, लेकिन कुछ नहीं होता। नहीं होगा। ताबीज से कोई लेना-देना नहीं था। लेकिन उस लड़के के संबंध में लेना-देना था।

'पोस्ट हिप्नोटिज्म' की एक छोटी-सी प्रक्रिया यह है कि यदि किसी व्यक्ति को गहरी बेहोशी में डाल दिया जाए—जो कि बहुत सरल है—उस गहरी बेहोशी की हालत में यदि उसे कहा जाए कि यह ताबीज ठीक से देख लो, और जब भी इस ताबीज को हम तुम्हारी छाती पर रखेंगे तब तुम पुनः बेहोश हो जाओगे, तो उसकी अचेतन की गहराइयों में यह सुझाव बैठ जाता है। फिर कभी भी उस व्यक्ति के ऊपर वह ताबीज रखा जाए, वह तत्काल बेहोश हो जाएगा। और बेहोशी में हमारे मस्तिष्क की अचेतन शक्तियां काम करना शुरू कर देती हैं; जो हम होश में नहीं कर पाते, वह हम बेहोशी में कर लेते हैं। जितना हम होश में सुनते हैं, उससे बहुत तीव्रता से बेहोशी में सुनने लगते हैं। जितना हम होश में देखते हैं, उससे बहुत गहरा बेहोशी में देखने लगते हैं। लेकिन वह ताबीज आपके ऊपर काम नहीं करेगा, क्योंकि आपको वैसा आपके अचेतन में कोई गहरा सुझाव नहीं दिया गया है।

कृष्ण, महावीर, बुद्ध और क्राइस्ट जैसे लोग जब पृथ्वी से विदा होते हैं, तो जो उन्हें प्रेम करते हैं, जिन्होंने उन्हें चाहा है, जिन्होंने उनके निकट बहुत कुछ पाया है, वे अगर उनसे निवेदन करें कि फिर आपके इस देह-रूप के छूट जाने के बाद अगर हम आपको स्मरण करना चाहें, और संबंधित होना चाहें, तो हम क्या करें? तो अत्यंत गहरी ध्यान की अवस्था में कृष्ण अगर उनसे कह दें कि मेरी यह रही प्रतिमा, मेरा यह रहा रूप, और जब भी तुम इस पर ध्यान करोगे तो तुम तत्काल मुझसे संयुक्त हो जाओगे, मेरे सागर-रूप से। ये ध्यान की अवस्था में दी गई प्रतिमाएं हैं। ये ध्यान की अवस्थाओं में दिए गए प्रतीक हैं। ये सबके काम के नहीं हैं। आप कृष्ण की मूर्ति के सामने जिंदगी भर चिल्लाते रहें, कुछ होगा नहीं। आप महावीर की मूर्ति के सामने कितने नाचें-कूदें, कुछ होगा नहीं। ध्यान की अवस्था में पहले आपके पास यह अंतर्सुझाव चाहिए कि इस मूर्ति के द्वारा आपका संबंध उस व्यक्ति से हो सकेगा जिसकी यह मूर्ति है।

तो पहली बार जब बुद्ध, महावीर और कृष्ण जैसे लोग पृथ्वी से विदा होते हैं, तो उनके निकटतम जो वर्ग है, उसे वे सूचनाएं दे जाते हैं। पहली पीढ़ी जो उस वर्ग की होती है, वह तो उसका पूरा लाभ उठाती है। दूसरी पीढ़ी में वे लोग लाभ उठा सकते हैं जिनको पहली पीढ़ी के द्वारा पुनः वह सुझाव ध्यान की गहराइयों में चित्त में डाल दिया गया हो। धीरे-धीरे सुझाव खो जाता है, मूर्ति हाथ में रह जाती है। जैसे बाजार से आप आते हैं, ताबीज हाथ में ले आते हैं और सुझाव का कोई पता नहीं होता। फिर उस मूर्ति को रखे आप बैठे रहें जिंदगी भर, उससे कुछ होने का नहीं है।

जैसा मैंने मूर्ति के लिए कहा, मूर्ति एक 'इजोटेरिक ब्रिज' है, जिसके माध्यम से लहर-रूप व्यक्ति ने वादा किया है कि उसके सागर-रूप से पुनः संबंध स्थापित किया जा सकेगा, ठीक उसी तरह नाम भी है। नाम का भी उपयोग किया जा सकता है। लेकिन वह भी ध्यान की गहराइयों में दिया गया हो। अब गुरु लोगों के कान फूंकते रहते हैं उससे कुछ होता नहीं। क्योंकि सवाल कान फूंकने का नहीं है, सवाल तो बहुत गहरे ध्यान की अवस्था में कोई शब्द प्रतीक रूप देने से है कि उस शब्द के स्मरण करते ही, उसका उच्चारण करते ही सारी चेतना रूपांतरित हो जाएगी। ऐसे शब्दों को 'बीज शब्द' कहा जाता है। वे 'सीड वर्ड्स' हैं। उनमें बड़ा कुछ भर दिया गया है।

तो कृष्ण का नाम अगर बीज-शब्द है, उसका अर्थ यह हुआ कि अगर ध्यान की बहुत गहरी अवस्था में आपके चित्त के अतल में उसे छिपाया गया है—और बीज सदा ही गहरे और नीचे जमीन के छिपाए जाते हैं; वृक्ष तो ऊपर आते हैं, बीज सदा भूमि के नीचे अंधेरे गर्भ में होते हैं—तो अगर आपके चित्त के गहरे गर्भ में कोई शब्द डाला गया है और उस शब्द के साथ सुझाव डाला गया है, तो उसके परिणाम होने शुरू हो जाएंगे। रामकृष्ण बड़ी दिक्कत में थे। रामकृष्ण सड़क से निकल नहीं पाते थे। वह सड़क से जा रहे हैं और किसी ने कह दिया, जयरामजी, और रामकृष्ण वहीं गिर जायेंगे और

ध्यानस्थ हो जायेंगे। रामकृष्ण को सड़क से ले जाना बहुत मुश्किल था। रामकृष्ण सड़क से जा रहे हैं तांगे में बैठकर, किसी मंदिर में कोई रामधुन चल रही है, वह वहीं गए! वह डूब गए वहीं। किसी के घर बैठकर बात कर रहे हैं और किसी ने राम का नाम ले दिया, वह गए! वह शब्द उनके लिए बीज है। वह शब्द पर्याप्त है उनके लिए। लेकिन हमें कठिन होगा यह मानना।

हमारे लिए भी कुछ बीज बातें हैं, वह हम समझ लें तो खयाल में आ जाए। कोई आदमी चिंतित होता है तो फौरन माथे पर हाथ रख लेता है। आप उसका हाथ नीचे रोक लें, वह बहुत बेचैनी में पड़ जाएगा। कोई आदमी परेशान होता है तो एक विशेष आसन में बैठ जाता है; आप उसको उसमें न बैठने दें, वह बहुत मुश्किल में पड़ जाएगा।

डा.हरिसिंह गौर प्रिवी कौंसिल में एक मुकदमा लड़ते थे। उनकी सदा की आदत थी कि वह अपनी कोट का जो ऊपर बटन होता था, जब कभी कोई उलझन का मामला हाता और दलील करनी कठिन होती, तो कोट के ऊपर का बटन घुमाते लगते थे। जिन लोगों ने भी उनके साथ वकालत की थी उन सबको पता था कि उनका कोट के बटन पर हाथ गया कि उनकी वाणी प्रखर हो जाती थी। और वह इस तरह बोलने लगते थे जैसे कि इसके पहले बोल ही नहीं रहे थे। एक बड़ा मुकदमा था और विरोधी वकील बड़ी परेशानी में पड़ा था। उसने डा.हरिसिंह गौर के शोफर को कहा कि जितना पैसा तुझे चाहिए, वे ले ले, लेकिन कल जब तू कोट कार से उतार कर लाए, तो उसकी ऊपर की बटन तोड़कर फेंक देना। बटन उसने तुड़वाकर फिंकवा दी।

उस दिन आखिरी पैरवी थी। हरिसिंह गौर ने अपना कोट अपने गले में डाल लिया, लटका लिया और वह विवाद करने को खड़े हो गए। ठीक उस क्षण पर, जबकि उनका हाथ खोजने लगा बटन को, पाया कि बटन वहां नहीं है। वह एकदम बेहोश होकर गिर गए कुर्सी पर। उन्होंने अपने संस्मरणों में लिखा है कि मेरी जिंदगी में पहली दफे मेरे मस्तिष्क ने काम करना एकदम बंद कर दिया। मुझे ऐसा लगा कि जैसे सब खो गया, अब मैं कुछ बोल सकूंगा नहीं, अब कुछ हो सकता नहीं। मजिस्ट्रेट से उन्हें प्रार्थना करनी पड़ी कि अब यह मुकदमा आगे के लिए टाल दिया जाए। आज मेरी कोई सामर्थ्य नहीं है।

बड़ी अजीब-सी बात मालूम पड़ती है। एक बटन इतना अर्थ रख सकता है? 'एसोसिएशन' का अर्थ है। अगर सदा ही उस बटन पर हाथ रखकर मन सक्रिय हो गया है, तो आज उस बटन को न पाकर मन एकदम निष्क्रिय हो जाएगा। यह 'कंडीशन रिफ्लेक्स' की बात है। नाम का प्रयोग भी इस भांति किया गया है। वह जो बटन था, हरिसिंह गौर के लिए बीज हो गया। साधारण बटन नहीं रहा जिससे सिर्फ कोट लगाया और अटकाया जाता है, इस बटन से उनका मन भी अटकने और लगने लगा। नाम का उपयोग इस भांति किया जा सकता है। किया गया है। लेकिन, खाली शब्द का उपयोग करने से कुछ भी नहीं होता है। खाली शब्द और बीज-शब्द में वही फर्क है। बीज-शब्द का अर्थ यह है कि आपकी अचेतन गहराइयों में उसे डाला जाए और इतने गहरे में बिठा दिया जाए कि उसके स्मरण मात्र से आप तत्काल रूपांतरित हो जाएं। तो वह बीज बन जाता है।

कृष्ण, राम, या बुद्ध, या महावीर, या और तरह के शब्द और मंत्र बीज की तरह उपयोग किए गए हैं, लेकिन अब लोग उनको ऐसे ही दोहरा रहे हैं। बैठे हुए हजार दफे राम-राम कह रहे हैं, कुछ भी नहीं होता। बीज होता तो एक बार में भी होता है, हजार बार कहने की बात न थी। और राम से ही होगा, ऐसा नहीं, कोई भी अ, ब, स शब्द को बीज बनाया जा सकता है और आपके व्यक्तित्व में गहरे में डाला जा सकता है। शब्द और मंत्र बीज बन जाए तो साधक की गहराइयों को रूपांतरित करने में उपयोगी होते हैं। हो सकते हैं। लेकिन हमारी कठिनाई यह है कि मूल सूत्र खो जाते हैं, ऊपरी बातें रह जाती हैं। कोई भी राम-राम जपता रहता है, कोई भी कृष्ण-कृष्ण चिल्लाता रहता है, उससे कुछ हो सकता नहीं। कभी नहीं होगा। जीवन भर चिल्लाने से भी नहीं होगा।

कीर्तन के लिए पूछते हैं। ध्यान का जो उपयोग हम कर रहे हैं, उसमें जो दूसरा चरण है, ठीक वही उपयोग कीर्तन का किया जा सकता है। किया जाता रहा है। जो जानते हैं उन्होंने वैसा ही उपयोग किया है। जो नहीं जानते हैं, वे सिर्फ चिल्लाते हैं, नाचते हैं। ध्यान का जो दूसरा चरण है, अगर ठीक वैसा ही उपयोग कीर्तन का, भजन का, नृत्य का किया जा

सके, तो उसके बड़े व्यापक परिणाम हैं। पहला परिणाम तो यह है कि जब आप बहुत ही भाव से नाचने लगे, तो शरीर आपको अलग दिखाई पड़ने लगेगा। शरीर पृथक मालूम होने लगेगा, आप अलग मालूम होने लगेंगे। आप थोड़ी ही देर में देखने वाले हो जाएंगे, नाचने वाले नहीं। जब शरीर पूरी त्वरा में आएगा, पूरी गति में आएगा नृत्य की, तब आप अचानक एक क्षण ऐसा है जब आप पाएंगे कि आप अलग हो गए हैं। उस क्षण को अलग करने के लिए उपाय किए गए थे कि वह क्षण अलग हो जाए और आप अलग हो गए हैं। उस क्षण को अलग करने के लिए उपाय किए गए थे कि वह क्षण अलग हो जाए और आप तत्काल टूट जाएं, नृत्य बाहर रह जाए और आप अलग खड़े हो जाएं। कील अलग हो जाए, चाक घूमता रहे। और कील पहचान ले कि मैं कील हूं, और घूमता हुआ जो है वह चाक है।

नृत्य का उपयोग चाक की तरह किया गया है। जोर से घूमे, तो एक घड़ी आ जाती है जहां कील दिखाई पड़ने लगती है। यह बड़े मजे की बात है, अगर चाक और कील खड़े हों, तो कील और चाक का पता लगाना मुश्किल है कि कौन कील है और कौन चाक है, क्योंकि दोनों खड़े हैं। चाक चले, तो कील का फर्क फौरन पता चल जाता है। जो नहीं चलेगी वह पहचान में आ जाएगी। नाचें आप, आपके पीछे भीतर कुछ छूट जाएगा जो नहीं नाच रहा है। बस, वह आपकी कील है। वह आपका 'सेंटर' है। जो नाच रहा है, वह आपकी परिधि है। वह आपका चाक है। इस क्षण में अगर साक्षी हो जाएं, तो कीर्तन का अदभुत उपयोग हो गया। लेकिन अगर साक्षी न हुए और कीर्तन ही करते रहे, तो बेकार चली गई मेहनत, उसका कोई अर्थ न रहा।

प्रक्रियायें पैदा होती हैं और खो जाती हैं। खो जाती हैं इसीलिए कि सब प्रक्रियायें अनिवार्यरूपेण, मनुष्य का जैसा स्वभाव है, वह उसमें जो सार्थक है भूल जाता है और जो निरर्थक है उसको पकड़ लेता है। क्योंकि जो सार्थक है, वह गहरे में होता है, जो निरर्थक है, वह ऊपर होता है। जो निरर्थक है वह वस्त्र की तरह ऊपर होता है, जो सार्थक है, वह आत्मा की तरह भीतर होता है। जो भीतर है वह दिखाई नहीं पड़ता, धीरे-धीरे ऊपर का ही रह जाता है, भीतर का भूल जाता है। और इसलिए ऐसे वक्त आ जाते हैं, जैसे मैं ही हूं, मुझसे कोई पूछने आए कि कीर्तन से कुछ होगा तो मैं सख्ती से मना करता हूं कि कुछ भी नहीं होगा। क्योंकि मैं जानता हूं कि अब कीर्तन मृत परंपरा हो गई है। अब मरा हुआ ढांचा रह गया है। वह चाक ही है, कील का पता लगाना बहुत मुश्किल है।

'चैतन्य का नृत्य-कीर्तन क्या 'इंटॉक्सीकेशन' था?'

* नहीं, चैतन्य ने जरूर कीर्तन और भजन से वही पा लिया, जिसके पाने की मैं बात कह रहा हूं। चैतन्य ने नाच कर उसे पा लिया, जिसे बुद्ध और महावीर खड़े होकर पाते हैं।

ये दोनों बातें हो सकती हैं। कील को पकड़ने के दो रास्ते हो सकते हैं। एक रास्ता तो यह हो सकता है कि आप इतने खड़े हो जाएं कि आपमें कोई कंपन ही न रह जाए। कंपन ही न रह जाए कोई—इतने ठहरे हो जाएं, इतने थिर हो जाएं, 'जस्ट स्टैंडिंग' की हालत रह जाए, तो उस हालत में आप कील पर पहुंच जाएंगे। या दूसरा रास्ता यह है कि आप इतने 'मूवमेंट' में हो जाएं, इतनी गति में हो जाएं कि चाक पूरा चल पड़े और कील पहचान में आ जाए। आसान दूसरा ही होगा। चाक जोर से चले तो कील का पहचानना आसान होगा। बहुत कम लोग हैं जो खड़े हुए चाक में और कील को पहचान पाएं। महावीर खड़े होकर पहचानते हैं, कृष्ण नाचकर। और चैतन्य तो कृष्ण भी जितना नहीं नाचे हैं। चैतन्य का तो कोई मुकाबला नहीं। चैतन्य के नृत्य का तो कोई हिसाब ही नहीं है। शायद पृथ्वी पर ऐसा कोई नाचा ही नहीं। और ध्यान में लेने की बात इतनी ही है कि हमारे भीतर दो—हमारी परिधि है, गतिमान है, परिवर्तन है वहां; और हमारे जो गहरे में आत्मा है वहां शाश्वतता है, 'इटर्निटी' है, वहां कोई परिवर्तन नहीं, वहां सब चुप और शांत सदा खड़ा रहा है, वह कील की भांति है, वह थिर है। उस थिर को, उस परिवर्तन-अतीत को किस भांति पहचान लें।

ध्यान का जो दूसरा चरण है, उस चरण में उस बात का ही गहरा प्रयोग किया जा रहा है; लेकिन कीर्तन मैं उसे नहीं कह रहा, क्योंकि कीर्तन शब्द अब अपदस्थ हो गया। कीर्तन शब्द ने अब अर्थ खो दिया है। सभी शब्द जैसे रुपये चल-चल

कर घिस जाते हैं और घिस-घिसकर नकली हो जाते हैं—असली भी—वैसे ही शब्द भी चल-चलकर घिस जाते हैं और खराब हो जाते हैं। और एक वक्त आता है कि टकसाल में नए रुपये ढालने पड़ते हैं।

तो मुझे समझने में बहुत बार दिक्कत पड़ेगी, क्योंकि मैं नई टकसाल में जो रुपये ढाल रहा हूं वह इसीलिए ढाल रहा हूं जिस कारण से और जिस लिए पुराने सिक्के चलते थे। लेकिन पुराने सिक्के बहुत चल चुके और इतने हाथों में चल चुके कि बिलकुल घिस गए हैं। उनमें न चेहरा पहचान में आता है, न क्या लिखा है वह पहचान में आता है। न यही पता चलता है कि वे सिक्के हैं कि ठीकरे हैं; क्या हैं, कुछ पता नहीं चलता। इसलिए सब फिर से शुरू करना पड़ता है हर बार। और यह जानते हुए शुरू करना पड़ता है कि ये नये सिक्के जो आज टकसाल से निकल रहे हैं, कल ये भी हाथ में चल कर घिस जाएंगे और खराब हो जाएंगे और फिर किसी को नये सिक्के ढालने पड़ेंगे। और नये सिक्के ढालने वालों के सामने बड़ी कठिनाई आ जाती है कि उसे उन्हीं सिक्कों से लड़ना पड़ता है जिनके लिए वह जी रहा है। उन्हीं सिक्कों से लड़ना पड़ता है जिनके लिए वह फिर से ढाल रहा है। लड़ना मजबूरी हो जाती है। जब नये सिक्के बाजार में लाने पड़ते हैं तो पुराने सिक्के वापिस टकसाल में भेजने पड़ते हैं। तो मुझे वापस सिक्के आपसे छीनने पड़ते हैं कि इनको वापस टकसाल में भेजो, अब यह बेकार हो गया, अब तुम नये ले लो। लेकिन पुराने सिक्के का मोह होता है। बहुत दिन साथ रहा है। घिसा भी है तो अपने ही हाथों में घिसा है। नये सिक्के का एकदम भरोसा नहीं होता। धर्म के साथ ऐसा रोज होता है।

कीर्तन का बड़ा उपयोग किया जा सकता है। समझ लिया जाए तो कीर्तन का बड़ा अदभुत उपयोग है। लेकिन अब समझना बहुत मुश्किल होगा, क्योंकि जब मैं कीर्तन कहूंगा, तब आप वही कीर्तन समझेंगे जो आप समझ रहे हैं। तब आप कहेंगे कि बिलकुल ठीक कहते हैं आप, हम तो कर ही रहे हैं कीर्तन। हम तो राम-राम कर ही रहे हैं, बिलकुल ठीक कह रहे हैं आप। जब आपका मन कहता है, बिलकुल ठीक कह रहे हैं, तो मुझे ऐसा लगता है कि कहीं मैंने कुछ कहकर भूल तो नहीं की। क्योंकि आपको मैं ठीक नहीं कहना चाहूंगा। क्योंकि आप अगर ठीक होते तब तो कोई बात ही न थी। यह तो राम-राम आप कह ही रहे हैं। मैं आपके राम-राम का समर्थन नहीं कर रहा हूं। और आप तो कीर्तन करते ही रहे हैं। मैं आपके कीर्तन का समर्थन नहीं कर रहा हूं। क्योंकि अगर आप कीर्तन से पहुंच सकते होते तो पहुंच ही गए होते। वह आप नहीं पहुंचे। मैं तो कीर्तन का जो मूल है, उसकी बात कह रहा हूं, आपके कीर्तन की बात नहीं कर रहा हूं। मूर्ति का जो मूल है, उसकी बात कर रहा हूं, आपके घरों में रखी हुई मूर्तियों की चर्चा नहीं कर रहा हूं। उनको तो मैं निकालूंगा और फिंकवा दूंगा। उनको तो नहीं रखा जा सकता है।

लेकिन इसका मतलब यह नहीं है कि उन सब सूत्रों के पीछे कुछ भी नहीं था। उन सब सूत्रों के पीछे बहुत कुछ था। सच तो यह है कि हम सिर्फ उसी सूत्र के नाम पर हजारों साल तक गलत सूत्रों को खींच सकते हैं जिसमें कुछ हो रहा हो। नहीं तो खींच भी नहीं सकते। अगर हम किसी चीज को हजारों साल तक खींचते हैं बिना कुछ पाए, तो उसका मतलब इतना ही है कि मनुष्य की चेतना में कहीं वह अदभुत छिपा है कि उससे पाया गया था। नहीं तो हम उसे खींच नहीं सकते। कचरे को भी अगर कोई आदमी बहुत दिन तक खींचता है, तो इसलिए खींचता है कि उस कचरे में भी कभी हीरे के दर्शन हुए हैं, किसी अतीत क्षण में। नहीं तो उस कचरे को कोई खींचेगा कैसे! अगर गलत चीजें भी चलती हैं, तो इसलिए चल पाती हैं कि उन गलत के पीछे कभी कोई सत्य था जो खो गया है। अन्यथा गलत को खींचा नहीं जा सकता है।

'भगवान श्री, चैतन्य महाप्रभु का जीव-जगत जो जगदीश से भिन्न भी है और अभिन्न भी है, वह अचिंत्य भेदाभेदवाद है। वह आपके कील और पहिये के नजदीक आता है?'

* बिलकुल आ जाएगा, बिलकुल आ जाएगा। चैतन्य कृष्ण को प्रेम करने वाले यात्रियों में सर्वाधिक महत्वपूर्ण हैं। अचिंत्य भेदाभेद, इसमें कीमती शब्द अचिंत्य है, 'अनथिंकेबल'। जो सोचते हैं, वे या तो कहेंगे कि जगत में जीवन और जगत का भेद है, तो भेदवाद होगा। या वे कहेंगे कि जीवन और जगत एक है, तो अभेदवाद होगा। चैतन्य कहते हैं, दोनों

हैं—भेद-अभेद दोनों हैं। एक भी हैं, भिन्न भी हैं। जैसे लहर भिन्न भी है सागर से और एक भी है। निश्चित ही। लहर भिन्न है तब तो हमने उसे नाम दिया लहर का। और एक तो है ही। अगर सागर से एक न हो तो होगी कहां! तो लहर एक भी है और भिन्न है, भेद भी है और अभेद भी है। इतना भी चिंतन में आ जाता है कि एक भी हो सकती है, भिन्न भी हो सकती हैं। उस पर एक शब्द और जड़ देते हैं वह, कहते हैं, अचिंत्य, 'अनथिंकेबल'। वही शब्द बड़ा अदभुत है। वह यह कहते हैं कि अगर यह भी तुमने चिंतन से पाया, तो तुमने कुछ पाया नहीं। अगर यह भी तुमने सोच-सोच कर पाया है, तो यह सिर्फ सिद्धांत है, कुछ पाया नहीं। अगर सोचने के बाहर पाया है, तो फिर अनुभव में पाया है।

इसे समझना अच्छा होगा।

जब तक हम सोचकर पाते हैं तब तक शब्दों में ही पाते हैं। और जब हम जीकर पाते हैं तब हम शब्दों के बाहर पाते हैं, वह अचिंत्य हो जाता है। जीवन पूरा ही अचिंत्य है। उसका कोई चिंतन नहीं होता। एक आदमी प्रेम को समझे और शास्त्रों से समझ ले, तो बहुत लिखा है शास्त्रों में। शायद प्रेम के संबंध में जितना लिखा है, किसी और चीज के संबंध में नहीं लिखा है। विराट साहित्य है प्रेम का—काव्य हैं, महाकाव्य हैं, व्याख्यायें हैं, चर्चायें हैं, कोई आदमी प्रेम को समझ ले। तो समझ लेगा, प्रेम की व्याख्या कर देगा। लेकिन फिर भी प्रेम को उसने जाना नहीं। तो और एक आदमी है, जिसने कि प्रेम के संबंध में कुछ भी नहीं सुना, कुछ भी नहीं समझा, कुछ भी नहीं जाना, लेकिन प्रेम जिआ है। इन दोनों में फर्क क्या होगा? इनकी जानकारी का क्या भेद होगा? एक की जानकारी चिंत्य है, एक की जानकारी चिंतन से उपलब्ध हुई है। एक की जानकारी चिंत्य नहीं है, अनुभव है। अनुभव सदा अचिंत्य है। वह चिंतन से नहीं आता, चिंतन के पहले आ जाता है। और अनुभव के पीछे चिंतन चलता है। अनुभव पहले आ जाता है, चिंतन सिर्फ अभिव्यक्त करता है।

इसलिए चैतन्य कहते हैं, अचिंत्य है। और चैतन्य के कहने का अर्थ जरा ज्यादा है। ऐसे तो मीरा भी कहेगी कि सोच-समझ के परे है, लेकिन मीरा कभी बहुत सोच-समझ की स्त्री थी ही नहीं। लेकिन चैतन्य तो महातार्किक थे। चैतन्य की जो खूबी है वह यह है कि यह आदमी तो महातार्किक था। इसके तर्क का तो कोई अंत न था। इसने तो चिंतन की ऊंची-से-ऊंची शिखर को छुआ है। इसके साथ विवाद करने की सामर्थ्य न थी किसी की। विवाद में जहां खड़ा होता विजेता ही होता। तो जब यह चैतन्य इतना सब विवाद करके, इतना सब पांडित्य रचकर, इतना सब तर्क और ऊहापोह करके एक दिन कहने लगे कि अब मैं नाचूंगा और अचिंत्य को खोजूंगा, तब इसका अर्थ और हो जाता है। मीरा तो कभी कोई तार्किक थी नहीं। प्रेम उसका जीवन था। उसमें प्रेम के फूल लगे, तो सहज थे। यह आदमी उलटे थे चैतन्य। यह आदमी प्रेम के आदमी न थे और अगर प्रेम की तरफ आए तो चिंतन की पराजय से आए। किसी और से पराजित होकर नहीं, अपने ही भीतर चिंतन को पराजित पाकर कि वह जगह आ गई जहां चिंतन हार जाता है और बाहर जीवन आगे शेष रह जाता है।

इसलिए मैंने कहा कि कृष्ण के मार्ग पर चले हुए लोगों में चैतन्य का मुकाबला नहीं है। ध्यान में है मेरे कि मीरा भी उस मार्ग पर है, लेकिन चैतन्य से मुकाबला नहीं है। क्योंकि चैतन्य जैसा आदमी नाच नहीं सकता। चैतन्य जैसा आदमी मंजीरा ठोंककर सड़कों पर भाग नहीं सकता। और जब चैतन्य जैसा आदमी मंजीरा ठोंकने लगे और हरे कृष्ण, हरे राम कहकर सड़कों पर नाचने लगे, तो सोचने जैसा है। तो जरा विचारने जैसा है। ऐसे जैसे बर्ट्रेंड रसल नाचने लगें। बस, वैसे ही आदमी हैं वह। इसके वक्तव्य का मूल्य बहुत ज्यादा हो जाता है। इसके वक्तव्य का मूल्य ही यही है कि इस आदमी का नृत्य में उतर जाना और झांझ-मंजीरा पीटने लगना और यह कह देना कि अचिंत्य है वह और अब हम चिंतन छोड़ते हैं और अचिंतन से उसे पाएंगे, इस बात की खबर देता है कि चिंतन के पार भी केवल वे ही जा सकते हैं ठीक से, जो गहन चिंतन में उतरते हैं। गहन चिंतन में उतरते हैं वे एक दिन जरूर उस सीमारेखा पर पहुंच जाते हैं जहां वह 'लिमिट' आ जाती है, सीमांत आ जाता है, जहां पत्थर लगा है और लिखा है कि बुद्धि अब यहीं तक चलती है, आगे नहीं चलती। जगह है ऐसी जहां बुद्धि का सीमांत आ जाता है। इसलिए चैतन्य के वक्तव्य का बड़ा मूल्य है। वह उस पत्थर के आगे गया मूल्य है। मीरा उस पत्थर तक कभी पहुंची नहीं, उसने उस पत्थर तक कभी भी कोई यात्रा नहीं की।

'भगवान श्री, अमेरिका, इंग्लैंड, तथा अन्य देशों में आजकल 'कृष्ण-चेतना-आंदोलन' बहुत तेजी से चल रहा है और वे संकीर्तन वगैरह का बहुत उपयोग करते हैं। इससे ऐसा मालूम होता है कि कोई नया 'वेराइटी आइटम' या कोई मनोवैज्ञानिक चीज है, या कोई नया 'फैड'। या क्या आप ऐसा कह सकते हैं कि वहां कृष्ण-जन्म की कोई पूर्व भूमिका बन रही है?'

* बड़े गहरे 'इंप्लीकेशंस' हैं। कृष्ण-चेतना का आंदोलन, 'कृष्ण कांशसनेस' का आंदोलन यूरोप-अमेरिका में रोज जोर पकड़ता जाता है। जैसे किसी दिन चैतन्य बंगाल के गांवों में नाचते हुए गूंजे व निकले थे, वैसा आज न्यूयार्क और लंदन की सड़कों पर भी हरिकीर्तन सुनाई पड़ता है। यह आकस्मिक नहीं है।

असल में जहां चैतन्य व्यक्तिगत रूप से थक गए थे वहां पश्चिम सामूहिक रूप से थक रहा है। चैतन्य सोच-सोचकर व्यक्तिगत रूप से थक गए थे और पाया था कि सोचने से पार नहीं है, और पश्चिम सामूहिक रूप से सोचने से थक गया है। सुकरात से लेकर बर्ट्रेंड रसल तक पश्चिम ने सिर्फ सोचा ही है और सोच-सोचकर ही खोजने की कोशिश की है सत्य को। बड़ी विराट साधना थी यह भी, बड़ा अनूठा प्रयोग था कि पश्चिम ने अपने पूरे प्राण इस बात पर लगा दिए हैं, सुकरात से लेकर रसल तक, कि हम सोचकर ही सत्य को पा लेंगे और सत्य को किसी-न-किसी तरह 'लाजिक' और तर्क की सीमा में उपलब्ध करना है। और उस सत्य को पश्चिम निरंतर इनकार करता रहा है जो तर्क की सीमा में नहीं आता है। जो अतर्क्य है, उसको उसने कहा, नहीं हम मानेंगे जब तक हमारी बुद्धि और मस्तिष्क स्वीकार नहीं कर लेते।

इन पच्चीस सौ साल की यात्रा में पश्चिम ने गहन तर्क किया है। पश्चिम सामूहिक रूप से थक गया और सत्य की कोई झलक नहीं मिली। बार-बार लगा कि यह रहा, यह रहा, अब पास है, पास है, और पास पहुंचकर पाया कि नहीं, फिर 'कांसेप्ट' ही हाथ में रह गए, सिद्धांत ही हाथ में रह गए, सत्य नहीं है।

पश्चिम की सामूहिक चेतना, 'कलेक्टिव कांशसनेस' उस जगह आ रही है जहां चैतन्य व्यक्तिगत रूप से आ गए हैं। इसलिए पश्चिम में 'एक्सप्लोज़न' संभावी है—जो हो रहा है। वसंत के पहले फूल आने शुरू हो गए हैं। जगह-जगह विस्फोट हो रहा है। पश्चिम की युवा पीढ़ी जगह-जगह टूट रही है और जगह-जगह उसने अचिंत्य की दिशा में कदम उठाने शुरू कर दिए हैं। और अगर अचिंत्य की दिशा में कदम रखने हैं, तो कृष्ण से ज्यादा ठीक प्रतीक दूसरा नहीं है। महावीर के वक्तव्य बहुत तर्कयुक्त हैं। अगर महावीर रहस्य की बात भी करते हैं तो भाषा सदा तर्क की है। अगर महावीर कभी भी कोई बात करते हैं, तो विचार की संगति कभी भी टूटती नहीं। बुद्ध अगर पाते हैं कि कोई बात रहस्य की है, तो चर्चा करने से इनकार कर देते हैं। उसकी चर्चा नहीं करते। वह कह देते हैं, अव्याख्येय। इसकी बात नहीं होगी। बात वहीं तक करेंगे, जहां तक तर्क है।

पश्चिम के चित्त में आज जो तनाव है, वह चिंतन से पैदा हुआ तनाव है। जो 'एंग्जाइटी' है, जो 'मेंटल एंग्विश' है, जो संताप है, वह परम तक चिंतन को खींचने का परिणाम है। 'अल्टीमेट' तक चिंतन को खींचा गया है, जहां उसकी दम टूटी जा रही है। वहां नई पीढ़ियां बगावत करेंगी। यह बगावत बहुत रूपों में प्रकट होगी। क्योंकि चैतन्य एक आदमी थे, एक रूप में होगी। एक पीढ़ी जब बगावत करती है, तो बहुत रूपों में प्रगट होगी। उस अचिंत्य में यात्रा करने के लिए कोई भजन-कीर्तन कहकर कृष्ण-नाम जपने लगेगा, कोई उस अचिंत्य में प्रवेश करने के लिए भारत चला जाएगा और हिमालय की यात्रा करने लगेगा। कोई उस अचिंत्य की खोज में झेन फकीरों के पास जापान चला जाएगा। वह अचिंत्य की खोज चल रही है।

लेकिन, मुझे लगता है कि कृष्ण इस अचिंत्य की खोज में धीरे-धीरे पश्चिम के निकट आते चले जाएंगे। एल.एस.डी. दूरगामी साथी नहीं हो सकता। और कब तक लोग भारत की यात्रा करते रहेंगे और कितने लोग यात्रा करते रहेंगे? और कब तक लोग जापान में जाकर झेन फकीरों के चरणों में बैठते रहेंगे? पश्चिम को अपनी ही चेतना खोजनी पड़ेगी। यह उधार बातें ज्यादा देर नहीं चल सकती हैं।

तो पश्चिम के चित्त में वह घटना टूट रही है और बड़े मजे की बात है अगर हिंदुस्तान में आप किसी व्यक्ति को भजन-कीर्तन करते देखें, तो उसके चेहरे पर वह आनंद का भाव नहीं होगा जो लंदन के लड़के और लड़कियां जब भजन-कीर्तन करते हैं तो उनके चेहरे पर है। हमारे लिए वह पिटा-पिटाया क्रम है, घिसा हुआ सिक्का है। हम सब भलीभांति जानते हैं कि क्या कर रहे हैं। उनके लिए बड़ा नया सिक्का है। वह उनके लिए छलांग है। हमारे लिए परंपरा है, हमारे लिए 'ट्रेडीशन' है, उनके लिए बिलकुल 'एंटी-ट्रेडीशनल' है। जब सड़क से लंदन की कोई गुजरता है मंजीरे बजाते हुए और नाचते हुए, तो ट्रैफिक का पुलिस वाला भी खड़ा होकर सोचता है कि दिमाग खराब हो गया! हमारे मुल्क में कोई नहीं सोचेगा। नहीं कोई करता है, उसी का दिमाग खराब है। जो करता है, उसका दिमाग तो बिलकुल ठीक है। लेकिन दुनिया के धर्म पागलों से चलते हैं, बुद्धिमानों से नहीं। दुनिया में सारे-के-सारे, जिनको 'ब्रेक थ्रू' कहें हम, जहां चीजें टूटती हैं और बदलती हैं, वे पागलों से होती हैं, दीवानों से होती हैं। हमारे मुल्क में भजन-कीर्तन करना दीवानगी नहीं है। कभी रही होगी। चैतन्य जब बंगाल में नाचा तो दीवाना था। लोगों ने समझा कि पागल हो गया। अब नहीं है वह बात! 'ट्रेडीशन' सबको पचा जाती है, बड़े-से-बड़े पागलों को पचा जाती है। उनको भी जगह बना देती है कि यह रहा तुम्हारा घर, तुम भी विश्राम करो।

पश्चिम में एक विस्फोट की हालत है। इसलिए पश्चिम का युवा-चित्त जब नाचता है, तो उस नाच में बड़ी मोहकता है, बड़ी सरलता है। कृष्ण-जन्म की कोई तैयारी नहीं हो रही, लेकिन कृष्ण-चेतना के जन्म की तैयारी जरूर हो रही है। कृष्ण-चेतना का कोई संबंध कृष्ण से नहीं है। कृष्ण-चेतना प्रतीक शब्द है, जिसका मतलब है ऐसी चेतना की संभावना पश्चिम में हो रही है कि लोग काम को छोड़ेंगे और उत्सव को पकड़ेंगे। हां, 'सिंबालिक', प्रतीकात्मक रूप से काम बेमानी हो गया। पश्चिम बहुत काम कर चुका, पश्चिम बहुत चिंतन कर चुका, पश्चिम बहुत...मनुष्य जो भी कर सकता था मनुष्य की सीमाओं में वह सब कर चुका और थक गया, बुरी तरह थक गया। या तो पश्चिम मारेगा, या कृष्ण-चेतना में प्रवेश करेगा। और मरता तो कुछ नहीं। कृष्ण-चेतना में प्रवेश करना होगा।

क्राइस्ट उतने प्रतीकात्मक आज पश्चिम को नहीं मालूम होते हैं। उसका भी वही कारण है, 'ट्रेडीशन'। क्राइस्ट अब 'ट्रेडीशन' हैं और कृष्ण अब 'एंटी-ट्रेडीशन' हैं। कृष्ण जो हैं वह चुनाव है; और क्राइस्ट जो हैं वह कोई चुनाव नहीं है, आरोपण है। फिर क्राइस्ट गंभीर हैं। और पश्चिम गंभीरता से ऊब गया है। 'टू मच सीरियसनेस' अंततः 'डिसीज़्ड' हो जाती है। बहुत ज्यादा गंभीरता गहरे में रुग्णता बन जाती है। तो पश्चिम गंभीरता से उठना चाहता है। 'क्रास' का बड़ा गंभीर प्रतीक है। 'क्रास' पर लटका हुआ जीसस बड़ा गंभीर व्यक्तित्व है। पश्चिम घबड़ा गया है। हटाओ 'क्रास' को, लाओ बांसुरी को। और 'क्रास' के खिलाफ अगर कोई भी प्रतीक दुनिया में खोजने जाएंगे तो बांसुरी के सिवा मिलेगा भी क्या! इसलिए कृष्ण की 'अपील' और कृष्ण के निकट आने की संभावना पश्चिम के चित्त की रोज बढ़ती चली जाएगी।

और भी कारण हैं।

कृष्ण के करीब सिर्फ 'एफ्युलेंट सोसाइटी' हो सकती है। कृष्ण के करीब सिर्फ वैभव-संपन्न समाज हो सकता है। क्योंकि बांसुरी बजाने की चैन गरीब, दीन-दरिद्र समाज में नहीं हो सकती। कृष्ण जिस दिन पैदा हुए उन दिनों के मापदंड से कृष्ण का समाज काफी संपन्न समाज था। खाने-पीने को बहुत था। दूध और दही तोड़ा-फोड़ा जा सकता था। दूध और दही की मटकियां सड़कों पर गिराई जा सकती थीं। उन दिनों के हिसाब से, उन दिनों के 'स्टैंडर्ड आफ लिविंग' से संपन्न समाज था—संपन्नतम समाज था। सुखी लोग थे, खाने-पीने को बहुत था। पहनने-ओढ़ने को बहुत था। एक आदमी काम कर लेता और पूरा परिवार बांसुरी बजा सकता था। उस संपन्न क्षण में कृष्ण की 'अपील' पैदा हुई थी।

पश्चिम अब फिर आज के मापदंडों के हिसाब से संपन्न हो रहा है। शायद भारत में कृष्ण के लिए अभी बहुत दिन तक प्रतीक्षा करनी पड़ेगी। अभी भारत के मन में कृष्ण बहुत ज्यादा गहरे नहीं उतर सकते। क्योंकि दीन-दरिद्र समाज बांसुरी बजाने की बात नहीं सोचता, उसको तो लगता है, क्राइस्ट ही ठीक हैं। जो खुद ही सूली पर लटका है रोज, उसके लिए क्राइस्ट ही ठीक मालूम पड़ सकते हैं। इसलिए यह बड़ी अनहोनी घटना घट रही है कि हिंदुस्तान में रोज-रोज क्राइस्ट का प्रभाव बढ़ रहा है और पश्चिम में रोज क्राइस्ट का प्रभाव कम हो रहा है। अगर कोई यह सोचता हो कि यह 'मिशनरी'

लोगों को बरगला कर और ईसाई बना रहा है, इतना ही काफी नहीं है। ईसा का प्रतीक हिंदुस्तान के दीन-दुखी मन के बहुत करीब पड़ रहा है। सिर्फ 'मिशनरी' बरगला नहीं सकता। अगर वह बरगला भी सकता है तो सिर्फ इसीलिए कि वह प्रतीक निकट आ रहा है। अब कृष्ण की स्वर्ण-मूर्ति और राम के वैभव में खड़ी हुई मूर्तियां हिंदुस्तान के गरीब मन के बहुत विपरीत पड़ती हैं। बहुत दूर न होगा वह दिन जिस दिन कि हिंदुस्तान का गरीब अमीर पर ही न टूटे, कृष्ण और राम पर भी टूट पड़े। इसमें बहुत कठिनाई नहीं होगी। क्योंकि ये स्वर्ण-मूर्तियां नहीं चल सकतीं। लेकिन क्राइस्ट का सूली पर लटका हुआ व्यक्तित्व गरीब के मन के बहुत करीब आ जाता है। हिंदुस्तान के ईसाई होने की बहुत संभावनाएं हैं, उसी तरह, जैसे पश्चिम के कृष्ण के निकट आने की संभावनाएं हैं।

पश्चिम के मन में अब 'क्रास' का कोई अर्थ नहीं रहा है। न पीड़ा है, न दुख है। वे दुख और पीड़ा के दिन गए। सचाई यह है कि अब एक ही दुख है कि संपन्नता बहुत है, इस संपन्नता के साथ क्या करें! सब कुछ है, अब इसके साथ क्या करें! निश्चित ही कोई नाचता हुआ प्रतीक, कोई गीत गाता प्रतीक, कोई नृत्य करता प्रतीक पश्चिम के करीब पड़ जाएगा। और इसलिए पश्चिम का मन अगर कृष्ण की धुन से भर जाए, तो आश्चर्य नहीं है।

'भगवान श्री, पश्चिम में 'कृष्ण कांशसनेस' के आंदोलन का नेतृत्व 'इर्रेशलन' कवि एलन गिन्सबर्ग ने लिया है। चिंतक वर्ग पर अभी तक कोई प्रभाव पड़ा नहीं लगता। दूसरा आप 'एफ्लुयेंट सोसाइटी' की कल ही बात करते थे। वे चतुर्वर्ण थे। गीता में भी, भागवत में भी सुदामा का जो वर्णन आता है उसमें वह दारिद्र्य का प्रतीक है। कृष्ण के जमाने में भी सुदामा 'पावर्टी का प्रतीक था। गीता में 'कलौ केशव कीर्तनात्' और 'यज्ञानाम् जपयज्ञस्मि' का क्या अर्थ है?'

* नहीं, मैं यह नहीं कह रहा हूं कि उस दिन कोई गरीब न था और न मैं यह कह रहा हूं कि आज पश्चिम में कोई गरीब नहीं है। यह मैं नहीं कह रहा हूं। खोजने से पश्चिम में गरीब मिलेंगे ही। गरीब तो हैं ही। समाज गरीब नहीं है। गरीब उस दिन भी थे, सुदामा उस दिन भी था। लेकिन समाज गरीब नहीं था। समाज की गरीबी और बात है, गरीब व्यक्ति खोज लेना और बात है। आज हम भारत के समाज को गरीब कह सकते हैं, हालांकि बिड़ला भी मिलेंगे। लेकिन बिड़ला के कारण भारत का समाज अमीर नहीं हो सकता। सुदामा के कारण उस दिन समाज गरीब नहीं हो सकता।

हिंदुस्तान के इतने गरीब समाज में अमीर तो मिलेगा ही। पश्चिम के, अमरीका के संपन्न समाज में भी गरीब तो मिलेगा ही। यह सवाल नहीं है। सवाल यह है कि बहुजन, समाज का पूरा-का-पूरा ढांचा संपन्न था। जो उस दिन जीवन की सुविधा थी, वह अधिकतम लोगों को उपलब्ध थी। आज अमरीका में जो जीवन की सुविधा है, वह अधिकतम लोगों को उपलब्ध है। संपन्न समाज में उत्सव प्रवेश कर सकता है, गरीब समाज में उत्सव प्रवेश नहीं कर सकता। गरीब समाज में उत्सव धीरे-धीरे विदा होता जाता है। या कि उत्सव भी फिर एक काम बन जाता है। गरीब समाज उत्सव भी मनाता है, दिवाली भी मनाता है, तो कर्ज लेकर मनाता है। होली भी खेलता है तो पिछले वर्ष के पुराने कपड़े बचाकर रखता है। होली के दिन फटे-पुराने कपड़ों को सिलाकर निकल आता है। अब जब होली ही खेलनी है तो फटे-पुराने कपड़ों से खेली जा सकती है। तो मत ही खेलो। होली का मतलब ही यह है कि कपड़े इतने ज्यादा हैं कि रंग में भिगाए जा सकते हैं। गरीब आदमी भी होली तो खेलेगा, लेकिन वह पुराने ढांचे को ढो रहा है सिर्फ। नहीं तो होली के दिन जो सबसे अच्छे कपड़े थे वही पहनकर निकलते थे लोग। उसका मतलब ही यह था कि इतने कपड़े हैं, तुम रंग डालो! लेकिन जिससे हम रंग डलवाने जा रहे हैं, उसको भी धोखा दे रहे हैं, कपड़ा पुराना, सी-सीकर आ गए हैं, धुलवाकर आ गए हैं। वह रंग डालने वाले को भी धोखा दे रहे हैं। तो रंग डालने का मतलब ही क्या था? जिन लोगों ने कपड़ों पर रंग डालने का खेल खेला होगा, उसके पास कपड़े जरूरत से ज्यादा रहे होंगे, अन्यथा नहीं खेल सकते हैं यह खेल। हम भी खेल रहे हैं, लेकिन हमारा खेल सिर्फ एक ढोना है एक रूढ़ि को। इसलिए दिल दुखता है। होली के दिन कोई कपड़े पर रंग डाल जाता है तो दिल दुखता है। दिल खुश होना चाहिए कि किसी ने रंग डालने योग्य माना, लेकिन दिल दुखता है। दुखेगा, क्योंकि कपड़े भारी महंगे पड़ गए हैं, अब कपड़े इतने आसान नहीं रह गए हैं। हां, पश्चिम में होली खेली जा सकती है। अभी

कृष्ण का नृत्य चल रहा है, आज नहीं कल होली पश्चिम में प्रवेश करेगी, इसकी घोषणा की जा सकती है। पश्चिम होली खेलेगा। अब उनके पास कपड़े हैं, रंग भी है, समय भी है, फुर्सत भी है, अब वे खेल सकेंगे। और उनकी होली में एक आनंद होगा, उत्सव होगा, जो हमारी होली में नहीं हो सकता है।

संपन्नता से मेरा मतलब है, 'ऑन द होल' पश्चिम का समाज संपन्न हुआ है। और जब पूरा समाज संपन्न होता है, तो जो उस समाज में दरिद्र होता है वह भी उस समाज के संपन्न से बेहतर होता है, जो समाज दरिद्र होता है। यानी आज अमरीका का दरिद्रतम आदमी भी पैसे पर उतना पकड़ वाला नहीं है, जितना हिंदुस्तान का संपन्नतम आदमी है। हिंदुस्तान के अमीर-से-अमीर आदमी की पैसे पर पकड़ इतनी ज्यादा है—होगी ही—क्योंकि चारों तरफ दीन-दरिद्र समाज है। अगर वह जोर से न पकड़े तो कल वह भी दीन-दरिद्र हो जाएगा।

मैंने सुनी है एक घटना कि एक भिखारी बहुत मस्त, स्वस्थ, तगड़ा भिखारी एक घर के सामने भीख मांग रहा है। गृहणी ने उसे दिया है कुछ, दिल खोलकर दिया है। फिर उसकी तरफ गौर से देखा है कि वह स्वस्थ है, सुंदर है। उसने उससे पूछा कि तुम्हें देखकर तो ऐसा नहीं लगता कि गरीब के घर में पैदा हुए हो, लेकिन गरीब कैसे हो गए? तो उसने कहा, इसी भांति जिस भांति तुम हो जाओगी। जितने मजे से तुमने दिया है, इतने मजे से मैं देता रहा। ज्यादा देर न लगेगी कि तुम सड़क पर आ जाओगी।

जब चारों तरफ गरीब समाज हो तो धन की पकड़ पैदा होती है। अमीर-से-अमीर आदमी धन को पकड़ लेता है। जब समाज संपन्न हो तो गरीब-से-गरीब आदमी धन को छोड़ पाता है। क्योंकि कोई डर नहीं है, कल फिर मिल सकता है। कोई असुरक्षा नहीं है। कोई भय नहीं है।

इस अर्थ में मैंने कहा। और इस अर्थ में भी कहा। दूसरी बात जो पूछी है, वह भी सोच लेनी चाहिए। वह यह पूछी है कि पश्चिम में एलन गिन्सबर्ग और इस तरह के लोगों से वह जो 'ब्रेक थ्रू' है, वह जो छलांग है, आ रही है। ये सारे-के-सारे लोग, चाहे 'एक्जिस्टेंशियलिस्ट' हों और चाहे बीटल हों और चाहे बीटनिक हों और चाहे हिप्पी हों और चाहे इप्पी हों, किसी भी तरह के लोग हों, ये सारे-के-सारे लोग 'इर्रेशनलिस्ट' हैं, ये सारे-के-सारे लोग अबुद्धिवादी हैं।

पश्चिम का कोई बुद्धिवादी अभी इन बातों से प्रभावित नहीं है। इसके कारण हैं।

यह जो अबुद्धिवादी पीढ़ी पश्चिम में पैदा हुई है, जो 'इर्रेशनलिस्ट जेनरेशन' पैदा हुई है, यह पिछली पीढ़ी के अति बुद्धिवाद से पैदा हुई है। यह उसकी प्रतिक्रिया है। असल में किसी समाज में अबुद्धिवादी तभी पैदा होते हैं जब बुद्धिवाद चरम पर पहुंच जाता है। नहीं तो पैदा नहीं होते। रहस्य की बात तभी शुरू होती है जब तर्क बिलकुल प्राण लेने लगता है। परमात्मा की बात तभी शुरू होती है जब पदार्थ छाती पर पत्थर होकर बैठ जाता है। और ध्यान रहे, गिन्सबर्ग, या सार्त्र, या कामू, या कोई और ये सारे लोग घूम-फिर कर जहां 'एब्सर्ड' में खो जाते हैं, अतर्क्य में खो जाते हैं, उससे आप यह मत समझ लेना कि ये हमारे ग्रामीण अबुद्धिवादी जैसे लोग हैं। ये अपने अबुद्धिवाद में बड़े बुद्धिवादी हैं। इनका वह जो अतर्क्य होना है, अचिंत्य होना है, वह ऐसा नहीं है जो श्रद्धालु का है। वह किसी श्रद्धालु का अचिंत्य होना नहीं है। वह चैतन्य जैसा ही है। वह उसका ही अचिंत्य होना है जिसने चिंतन कर-करके, थक-थककर पाया है कि बेकार है। तो गिन्सबर्ग के वक्तव्य, या उसकी कविता अगर 'एब्सर्ड' है, अगर अतर्क्य है, या बुद्धि के परे है, या अबुद्धिवादी है, या बुद्धिविरोधी है, तो ध्यान रखना, उसके इस अबुद्धिवादी होने में भी एक 'सिस्टम' है, एक व्यवस्था है।

नीत्से ने कहीं कहा है कि मैं पागल हूं, 'बट माइ मैडनेस हैज इट्स ओन लाजिक'। लेकिन मरे पागल होने का अपना तर्क है। मैं कोई ऐसे ही पागल नहीं हूं। मैं कोई ऐसा पागल नहीं हूं जैसे पागल होते हैं। मेरे पागल होने का भी कारण है। मेरे पागल होने की भी 'सिस्टम' है।

यह अबुद्धिवादी जो है, जानकार है। होशपूर्वक है। चेष्टापूर्वक है। इस अबुद्धिवाद का अपना आग्रह है। इस अबुद्धिवाद में बुद्धिवाद का स्पष्ट विरोध है, खंडन है। निश्चित ही जब अबुद्धिवाद खंडन करता है, विरोध करता है, तो तर्कों से नहीं करता है। क्योंकि अगर वह तर्कों से करे, तो वह खुद ही बुद्धिवादी हो जाता है। नहीं, वह अतर्क्य जीवन-व्यवस्था से करता है। गिन्सबर्ग एक छोटी-सी 'पोएट गेदरिंग' में कविता पढ़ रहा था। और कविता उसकी बेमानी है, 'मीनिंगलेस' है।

एक कड़ी की दूसरी कड़ी से कोई संगति नहीं है। पहली कड़ी और दूसरी कड़ी में कोई तालमेल नहीं है। प्रतीक सब बेहूदे हैं। प्रतीकों का परंपरा से कोई संबंध नहीं है। बड़ा दुस्साहस है। असंगत दीखने से बड़ा दुस्साहस जगत में दूसरा नहीं है। इसलिए असंगत होने का दुस्साहस केवल वही कर सकता है, जिसे प्राणों के बहुत गहरे में संगति का भाव हो। जो जानता है कि मैं संगत हूं ही। कितना ही असंगत वक्तव्य दूं, इससे कोई फर्क नहीं पड़ता। मेरी संगति सुरक्षित है।

जिनकी संगति बहुत आत्मिक नहीं है, वे एक-एक वक्तव्यों को तौल-तौलकर चलेंगे, एक-एक वाक्य को तौल-तौलकर चलेंगे, क्योंकि डर है कि अगर दो वक्तव्य असंगत हो गए, तो भीतर की असंगति प्रगट न हो जाए। जो भीतर बिलकुल ही 'कंसिस्टेंट' है, 'ही कैन एफॅर्ड टू बी इनकंसिस्टेंट', वह 'इनकंसिस्टेंट' हो सकता है। तो वह गिन्सबर्ग बड़ी असंगत कविता कह रहा है। बड़ा दुस्साहस है। एक आदमी खड़े होकर कहता है कि बड़े दुस्साहसी आदमी मालूम पड़ते हो। लेकिन, कविता करने से क्या होगा? कोई 'एक्ट', कोई 'डीड', कोई कृत्य करके दिखाओ साहस का। तो गिन्सबर्ग सारे कपड़े छोड़कर नंगा खड़ा हो जाता है। सारे कपड़े छोड़ देता है, नंगा खड़ा हो जाता है। वह कहता है, यह मेरी कविता की आखिरी कड़ी है। वह उस आदमी से कहता है, कृपा करो और तुम भी नंगे खड़े हो जाओ। वह आदमी कहता है यह मैं कैसे हो सकता हूं! यह मैं कैसे हो सकता हूं! और वह हाल सकते में आ जाता है। क्योंकि किसी को खयाल न था कि कविता का अंत ऐसा हो सकता है, या कविता की ऐसी कड़ी आखिरी हो सकती है। उससे लोग पूछते हैं, गिन्सबर्ग, तुमने ऐसा क्यों किया? गिन्सबर्ग कहता है कि हम सोचकर नहीं करते हैं। ऐसा हो गया। ऐसा हो गया! मुझे ऐसा लगा कि अब क्या करूं? वह आदमी पूछता है, कुछ करके दिखाओ। अब मैं क्या करूं! यहां कौन-सा साहस करूं! यह कैसे करूं! अब मैं क्या करूं, यह आदमी कहता है कि साहस कुछ करके दिखाओ, तो अब कविता को कहां अंत करूं?

मगर यह 'स्पांटेनियस' है, यह कोई सोचा-विचारा नहीं है, लेकिन अतर्क्य है। कविता से इसका कोई संबंध नहीं है। कोई कालिदास, कोई भवभूति, कोई रवींद्रनाथ यह नहीं कर सकते। वे कवि हैं, परंपरा से बंधे हुए कवि हैं। यह हम सोच ही नहीं सकते कि कालिदास ऐसा करेंगे। यह सोच ही नहीं सकते कि भवभूति ऐसा करेंगे। यह हम सोच ही नहीं सकते कि रवींद्रनाथ ऐसा करेंगे। यह नहीं हो सकता। यह खयाल में ही नहीं हो सकता। यह आदमी कर पा रहा है। यह यही कह रहा है कि तर्क से सोच-सोचकर कब तक जियोगे? कब तक तुम 'सिलोजिज्म', तुम्हारी जिंदगी होगी? कब तक तुम दो और दो जोड़कर जिंदा रहोगे? कब तक तुम हिसाब, खाते-बही करोगे और जिंदा रहोगे? छोड़ो खाते-बही, छोड़ो हिसाब और जिंदा रहो। अब यह जिंदा रहना कैसा होगा?

इसलिए गिन्सबर्ग जैसे व्यक्ति मेरे लिए गांव के गंवार, ग्रामीण श्रद्धालु नहीं हैं। यह एक बहुत पक्की गहरी बुद्धिवादी परंपरा की आखिरी कड़ी है। और जब बुद्धिवादी परंपरा मरती है, जब वह सीमा पर पहुंच जाती है, जब उसे इनकार करने वाले लोग पैदा होते हैं...मैं मानता हूं, कृष्ण भी बहुत बड़ी बुद्धिवादी परंपरा की आखिरी कड़ी हैं। हिंदुस्तान बुद्धि के चरम शिखर छुआ है। हमने शब्दों की खाल उधेड़ डाली है। हमने बाल को काटने की, बीच से चीरने की कोशिश की है। हमारे पास बहुत ऐसा साहित्य है, जो दुनिया की किसी भाषा में अनुवादित नहीं हो सकता, क्योंकि इतने बारीक शब्द दुनिया की किसी भाषा के पास नहीं हैं। हमारे पास ऐसे शब्द हैं, जो पूरे पृष्ठ पर एक ही शब्द होता है। क्योंकि हम इतने विशेषण लगाते हैं उसमें और इतनी शर्तें लगाते हैं और इतनी बारीकियां करते हैं कि पूरे पृष्ठ पर एक ही शब्द फैल जाता है। कृष्ण भी एक अत्यंत बुद्धिवादी परंपरा का आखिरी छोर हैं, जहां हम सोच चुके हैं, जहां हम वेद सोच चुके हैं और जहां हम उपनिषद सोच चुके हैं और जहां हम पतंजलि सोच चुके हैं और जहां हम कपिल और कणादि सोच चुके हैं और जहां हमने समस्त, वृहस्पति से लेकर, सब सोच डाला है और सोच-सोचकर हम बुरी तरह से थक गए हैं, उसकी आखिरी कड़ी में यह आदमी कृष्ण आता है। यह कहता है, अब बहुत सोचना हो गया, अब हम जीना शुरू करें। 'लेट अस नाव लिव, इनफ आफ थिंकिंग'; बहुत हो चुका सोचना, अब जियेंगे कब?

और दूसरी बात भी इस संदर्भ में आपसे कहूं कि चैतन्य भी बंगाल में ऐसे ही समय में आते हैं। बंगाल में 'नव्व न्याय' ने, मनुष्यजाति ने चिंतन की जो आखिरी कड़ियां छुई हैं, वह छुई। जिस गांव में चैतन्य पैदा हुए, वह हिंदुस्तान के तार्किकों का अन्यतम गांव है। वह नवदीप, जहां वे जन्मे, हिंदुस्तान के श्रेष्ठतम तार्किक नवदीप में इकट्ठे थे। वह काशी थी तार्किकों

की। हिंदुस्तान भर का तर्क नवदीप में जन्म रहा था और 'नव्व न्याय' वहां पैदा हुआ। वहां हमने तर्क की नई ऊंचाइयां छुइ, जो अभी पश्चिम छूने को है। अभी पश्चिम के पास जो भी तर्क है सब 'ओल्ड' है, नव्व नहीं है। अभी अरस्तू पश्चिम के लिए तर्कशास्त्री है। नवदीप में हमने अरस्तू के आगे कदम बढ़ाया, नवदीप में हमने तर्क को उसकी आखिरी सीमा पर पहुंचा दिया। इतना ही कह देना काफी था कि कोई पंडित नवदीप से आता है, फिर उससे कोई विवाद नहीं करता था। उससे विवाद करना बेकार था। उससे झगड़े में पड़ना बेकार था। वह नवदीप से आता है, इतनी गवाही काफी थी कि वह जीत का 'सर्टिफिकेट' लेकर आता है। उससे तर्क में जीतने का कोई कारण नहीं, लड़ने की झंझट में पड़ना उचित नहीं। उस नवदीप में चैतन्य पैदा हुए हैं। चैतन्य खुद भी वैसे ही तार्किक हैं। उन्होंने बड़े तार्किकों को उस नवदीप में हराया। उस नवदीप में जीतने के लिए हिंदुस्तान से तार्किक जाते थे और जो आदमी नवदीप में जाकर जीत जाता था, उसकी डुगडुगी सारे देश में बज जाती कि इससे बड़ा बुद्धिशाली कोई आदमी नहीं है! नवदीप जीत लिया, तो समस्त संसार जीत लिया। नवदीप जीतकर लौटना मुश्किल था।
अक्सर ऐसा ही होता था कि लोग जीतने आते थे और हारकर नवदीप के शिष्य हो जाते थे। वहां कोई एकाध तार्किक न था, वहां घर-घर तार्किक थे। वह पूरा गांव तार्किकों का था। वहां एक से जीतिये तो दूसरा खड़ा था, वहां दूसरे से जीतिये तो तीसरा खड़ा था। वहां सीढ़ियां-दर-सीढ़ियां थीं। वहां पूरे नवदीप को जीतकर लौटना असंभव था। उस नवदीप में चैतन्य सबसे जीत गया। उस नवदीप में चैतन्य ने झंडा गाड़ दिया और उससे तर्क में कोई जीतने को न रहा और एक दिन यही चैतन्य जब झांझ-मंजीरा लेकर सड़क पर नाचने लगा और इसने कहा, अचिंत्य है सब, तब इसकी बात का बड़ा अर्थ है। यह उसी तर्क की आखिरी परंपरा का हिस्सा है। यह चैतन्य उस तर्क की गहनतम चिंतना, खोज, अन्वेषण, बारीक-से-बारीक समझ के बाद यह कहता है कि हम नासमझ होने को राजी हैं। अब हम समझदार नहीं होना चाहते। अब समझदारी हम छोड़ते हैं और नासमझ हम होते हैं। अब हम नाचेंगे नासमझी से। अब हम तर्क न करेंगे। अब हम तर्क से सत्य को खोजेंगे न, अब हम जियेंगे। तर्क की आखिरी कड़ी पर जीवन शुरू होता है।

'भगवान श्री, चैतन्य महाप्रभु और उनके अचिंत्य भेदाभेद की बात हुई, गिन्सबर्ग की भी बात हुई। इसके पहले शब्द के मंत्र बन जाने की विशिष्टता भी आपने बताई। और यही बात नाम-कीर्तन पर भी लागू होती है। साथ ही सुबह के प्रवचन में आपने कहा था कि शब्द का उपयोग किया नहीं कि द्वैत खड़ा हो जाता है। लेकिन कृष्ण ने बड़े विश्वास के साथ कहा है कि जो पुरुष ओम् अक्षर जप ब्रह्म का उच्चारण करता हुआ उसके अर्थस्वरूप मेरा चिंतन करता हुआ शरीर त्याग करता है, वह पुरुष परमगति को प्राप्त हो जाता है। भगवान श्री, कृष्ण के शब्द ओम् से अद्वैत का बोध कैसे होता है? ओम् 'रेशेनल' है या 'इर्रेशनल' है? आपके ध्यान-प्रयोग में ओम् को प्रवेश देने में क्या-क्या बाधाएं थीं?'

* शब्द सत्य नहीं हैं। सत्य तो निःशब्द में ही उपलब्ध होता है। और सत्य को प्रगट करना हो तो भी शब्द से प्रगट किया नहीं जा सकता है। सत्य तो निःशब्द में ही अभिव्यक्त होता है, मौन में ही प्रगट होता है। मौन ही सत्य की मुखरता है। मौन ही सत्य के लिए वाणी है, ऐसा मैंने सुबह कहा।
पूछा जाता है, अगर ऐसा है तो अभी आप कहते हैं कि शब्द बीज बन सकता है, और शब्द साधना के लिए आधार बन सकता है। दोनों में कोई विरोध नहीं है, दोनों बात ही अलग है। मैंने कहा सुबह कि शब्द सत्य नहीं हैं। लेकिन जो असत्य में घिरे हैं, सत्य तक पहुंचने के लिए असत्य के सहारे ही चलते हैं। या तो छलांग लगाएं तब सीधे शब्द से मौन में कूद जाएं। अगर छलांग लगाने की हिम्मत न हो तो शब्द को धीरे-धीरे छोड़ते चलें। बीज-शब्द का मतलब है, सब शब्द छोड़ो, एक ही शब्द पकड़ो। इसमें सब शब्द छोड़ो और एक शब्द पकड़ो। नहीं हिम्मत है सब एक-साथ छोड़ने की तो सब छोड़ो, एक पकड़ो। फिर अंततः उस एक को भी छोड़ना पड़ता है। वह जो बीज-शब्द है, वह सत्य तक नहीं ले जाता, सिर्फ मंदिर के द्वार तक ले जाता है। जैसे मंदिर के बाहर जूते छोड़ देने पड़ते हैं, ऐसे उस बीज-शब्द को भी बाहर ही छोड़

देना पड़ता है। मंदिर में प्रवेश करते वक्त वह साथ नहीं जाता। उतनी दुविधा भी साथ नहीं ले जाई जा सकती। उतना शोरगुल भी बाधा है। सब शब्द तो बाधा हैं, बीज-शब्द भी अंततः बाधा है।

इसीलिए वे जो बीज-शब्द की बात किए हैं, वे भी कहे हैं कि वह क्षण आएगा जब बीज-शब्द भी खो जाएगा, तब तुम समझना ठीक हुआ। नाम जपना, लेकिन फिर अजपा नाम पर पहुंच जाना। जप से शुरू करना और अजपा पर पहुंच जाना। एक घड़ी आएगी, जप छूटे और अजप में कूद जाना। यह सारा मामला वही है—या पहले छोड़ो, या आखिरी छोड़ो। कहीं छोड़ देना पड़ेगा। जो पहले छोड़ने की हिम्मत रखते हैं, वे पहले छोड़ दें। जो नहीं छोड़ने की हिम्मत रखते हैं, बाकी शब्द छोड़ें, एक पकड़ लें। और उसको अंत में छोड़ दें।

मैं छलांग का आग्रह करता हूं, इसलिए साधना में जहां तक बने बीज-शब्द से बचने की बात करता हूं। उसे पीछे छुड़वाना पड़ेगा। रामकृष्ण के साथ ऐसा हुआ, उससे समझ में आ जाएगा।

रामकृष्ण ने मां का स्मरण करके ही, परमात्मा को मां स्वरूप मानकर ही साधना की। फिर ऐसा हो गया कि वह उस जगह पहुंच गए जहां मंजिल की आखिरी सीढ़ी आ गई। मां के साथ पहुंच गए। लेकिन उस सीढ़ी के बाद तो अकेले ही प्रवेश हो सकता है। मां को भी साथ नहीं लिया जा सकता। वह तो प्रतीक था, वह तो शब्द था, वह तो रूप था, वह तो लहर थी, अब सागर में प्रवेश करने के पहले उसे छोड़ देना जरूरी था। रामकृष्ण बड़ी मुश्किल में पड़ गए। रामकृष्ण की जिंदगी में सबसे बड़ी मुश्किल उस दिन आती है जिस दिन मां को छोड़ने का सवाल उठता है। अब जिसको इतने प्रेम से संवारा हो, और जिसको इतने आंसुओं से सींचा हो, और इतना नाच-नाचकर जिसको रमाया हो, और पुकार-पुकार कर जिसको बसाया हो, और श्वास-श्वास और हृदय की धड़कन-धड़कन में जिसको लेकर जिआ गया हो, अब आखिरी क्षण सवाल उठता है कि इसे छोड़ दो।

तोतापुरी के नाम के एक अद्वैतवादी साधक के पास वह सीखते हैं इसका छोड़ना। तोतापुरी उनसे कहता है कि इस मां को छोड़ो। तोतापुरी के लिए प्रतीक का कोई मतलब नहीं है। वह कहता है, छोड़ो इस मां को। इससे नहीं चलेगा। अकेले ही जा सकते हो। रामकृष्ण आंख बंद करते हैं, फिर आंख खोल लेते हैं कि नहीं, यह नहीं हो सकता। मैं कैसे छोड़ सकता हूं। मैं अपने को छोड़ सकता हूं, मां को नहीं छोड़ सकता। तोतापुरी कहते हैं, फिर कोशिश करो, क्योंकि अगर तुम अपने को छोड़ दोगे तो मंदिर के बाहर रह जाओगे, मां मंदिर के भीतर चली जाएगी, उससे तुम्हें क्या होगा? उससे कोई मतलब नहीं है। तुम्हें जाना है सत्य के सागर में, तो छोड़ो, यह द्वैत नहीं चलेगा, यह दो नहीं चलेंगे, यह प्रेम की गली बहुत संकरी है, यह सत्य की गली बहुत संकरी है, यहां आखिर में एक ही बच जाता है। छोड़ो। नहीं रामकृष्ण छोड़ पाते हैं, तीन दिन तक तोतापुरी मेहनत करते हैं। फिर तोतापुरी कहते हैं, तो मैं जाऊं। तो रामकृष्ण कहते हैं, एक बार और मेरे साथ मेहनत कर लो, क्योंकि तड़फता तो हूं उसके लिए जो अनजाना रह गया है, लेकिन प्रतीक जिन्हें बहुत प्रेम किया, बड़े जोर से भीतर बंध गए हैं।

तो तोतापुरी एक कांच का टुकड़ा लेकर आता है। रामकृष्ण आंख बंद करके बैठते हैं, तोतापुरी कहता है कि मैं तुम्हारे माथे पर आज्ञाचक्र जहां है, वहां कांच से काट दूंगा तुम्हारी चमड़ी को, जब खून बहने लगे और कटाई तुम्हें कांच की मालूम पड़ने लगे, तब तुम भीतर एक तलवार उठाकर मां को दो टुकड़े कर देना। रामकृष्ण कहते हैं, मां को, और दो टुकड़े, और तलवार! क्या कहते हैं आप! अपने को कर सकता हूं, मां पर कैसे तलवार उठाऊंगा? और फिर वहां तलवार लाऊंगा कहां से? तो वह तोतापुरी कहता है, पागल हो तुम, जो मां नहीं थी उसको तुम ले आए, तो जो तलवार नहीं है उसको भी ले आओ। जब इतना बड़ा झूठ तुमने सत्य कर लिया, जो नहीं है कहीं भी उसको भी तुमने साकार कर लिया, तो अब एक तलवार और साकार कर लो, इसमें क्या देर लगेगी! तुम कुशल हो, तलवार भी आ जाएगी। झूठी तलवार काम करेगी।

रामकृष्ण आंख बंद करके बैठते हैं, चूंकि तोतापुरी ने कहा है कि आज वह चला जाएगा, वह इस तरह बचकाने खेल में नहीं पड़ सकता। वह पहले ही छलांग लगा लेने वाले लोगों में से है। रामकृष्ण आखिरी सीढ़ी पर दिक्कत में पड़े हैं। वह कहता है, कहां की बचकानी बातें करते हो, छोड़ो। शर्म नहीं आती! फिर वह कांच उठाकर रामकृष्ण के माथे को काट देता है। इधर वह माथे को काटता है, उधर रामकृष्ण हिम्मत जुटाकर तलवार से दो टुकड़े मां के कर देते हैं। मूर्ति गिर

जाती है, रामकृष्ण परम समाधि में खो जाते हैं, उठकर, वापस लौटकर वे कहते हैं, आखिरी बाधा गिर गई, 'द लास्ट बैरियर'।

तो वे जो शब्द हैं, वे जो मंत्र हैं, वे जो बीज हैं, वे सबके सब 'लास्ट बैरियर' बनेंगे। उनसे जो चलेगा, एक दिन तलवार उठाकर उनको तोड़ना भी पड़ेगा। फिर बड़ा कष्ट पड़ता है। इसलिए मैं जहां तक कोशिश करता हूं, उनको जगह न बने, अन्यथा पीछे मुझे और एक झंझट होगी। वह बात पहले ही निबटा लेनी अच्छी।

और दूसरा सवाल पूछा है कि कृष्ण कहते हैं कि ओम् रूप में मुझे देखकर, जानकर, जीकर, पहचानकर अंत क्षण में तू मुझको उपलब्ध हो जाएगा। तो यह ओम् शब्द है या नहीं?

यह ओम् बड़ा अदभुत शब्द है। यह असाधारण शब्द है। असाधारण इसलिए कि अर्थहीन शब्द है। सब शब्दों में अर्थ होते हैं, इस शब्द में कोई अर्थ नहीं है। इसलिए ओम् का हम दुनिया की किसी भाषा में अनुवाद नहीं कर सकते हैं। कोई उपाय नहीं है। अर्थ हो तो अनुवाद हो सकता है, क्योंकि उसके अर्थ का दूसरा शब्द दुनिया की किसी भाषा में मिल जाएगा। लेकिन ओम् का अनुवाद नहीं कर सकते, क्योंकि यह अर्थहीन है, वह 'मीनिंगलेस' है। सब शब्दों में 'मीनिंग' होते हैं, इसमें कोई 'मीनिंग' नहीं है, इसमें कोई अर्थ नहीं है।

यह शब्द जिन्होंने बनाया, यह उन्होंने शब्द और निःशब्द के बीच में एक कड़ी खोजी। शब्द है अर्थपूर्ण, निःशब्द न अर्थ है, न अनर्थ है, पार है। इस दोनों के बीच में एक 'ब्रिज' बनाया ओम् का। यह भाषा की, शब्द की ध्वनियों की—तीन मूल ध्वनियां हैं, अ, उ, म—उन तीनों को जोड़कर बना लिया। समस्त शब्द-ध्वनियां अ, उ, म का विस्तार हैं। ए, यू, एक का विस्तार हैं। इन तीनों को जोड़कर इस ओम् को बना लिया। इसलिए फिर इस ओम् को शब्द की तरह लिखा भी नहीं, इसको 'पिक्चोरियल' बना लिया। इसका चित्र बना दिया जिसमें कि यह भी खयाल में न रहे कि यह कोई शब्द है। यह एक चित्र है। और वहां खड़ा है जहां शब्द समाप्त होते हैं और निःशब्द शुरू होते हैं। यह सीमांत का पत्थर है। यह उस जगह खड़ा है ओम्, जहां से आगे फिर शब्द नहीं है। जिसके इस तरफ शब्द हैं। यह बीच की कड़ी है। इसलिए कृष्ण कहते हैं कि अगर तू मुझे ओम् रूप, ओम् रूप का मतलब है—अर्थहीन, शब्दातीत, भाषाकोष में नहीं मिलता है जो, ऐसे शब्द में मुझे सोच सके अंत क्षण में, तो तू मुझे उपलब्ध हो जाएगा। क्योंकि यह सीमांत का शब्द है। अंत समय अगर, इस सीमांत पर कोई पहुंच सके, तो छलांग हो जाएगी।

इस ओम् शब्द में भारत के मन ने बहुत कुछ भरा है। इसे बड़ा विस्तीर्ण अर्थ दिया है। इतना विस्तीर्ण अर्थ दिया है कि अब इसमें कोई अर्थ नहीं है। इतना फैलाया है, इतना फैलाया है कि उसमें कोई सीमा नहीं रही। लेकिन, ओम् के पाठ का सवाल नहीं है, ओम् के अनुभव का सवाल है। और अगर ध्यान में आप उतरेंगे, तो जब सब शब्द खो जाएंगे, तब आपके भीतर ओम् की ध्वनि होने लगेगी। यह आपको करनी नहीं पड़ेगी। अगर करनी पड़ी तो धोखा हो सकता है, कि वह आप ही कर रहे हों।

इसलिए मैंने भी ध्यान में ओम् की जगह नहीं बनाई है। अगर हम अपनी तरफ से ओम् की ध्वनि करें, तो हो सकता है वह शब्द-ध्वनि ही होगी। एक ओम् की ध्वनि वह भी है, जब हमारे सब शब्द खो जाते हैं तो वह शेष रह जाती है। उसको कहना चाहिए वह 'कॉज्मिक साइलेंस' की ध्वनि है। जब सब शेष रह जाता है, सब मिट जाता है, सब शब्द, सब बुद्धि, सब विचार, तब एक ध्वनि का स्पंदन रह जाता है, जिसको इस देश में ओम् की तरह व्याख्या किया गया है। उसकी व्याख्या और भी हो सकती है। वह हमारी व्याख्या है। कभी आप रेलगाड़ी में बैठकर अगर चाहें, तो चक्के की आवाज की बहुत तरह की व्याख्या कर सकते हैं। यह चक्का जब आवाज करता है, तो वह कुछ आपके लिए आवाज नहीं करता, न आपके लिए कुछ करता है, लेकिन आप जो चाहें आप उसमें खोज सकते हैं। वह आपकी खोज होगी। जब विराट शून्य उत्पन्न होता है, तो विराट शून्य की अपनी ध्वनि है, अपना संगीत है। 'साउंड आफ कॉज़्मिक साइलेंस'। जब सब शून्य हो जाता है, तब उसकी अपनी ध्वनि है। उस ध्वनि का नाम अनाहत है। वह किसी कारण से पैदा नहीं होती।

हम ताली बजाते हैं तो यह आहत नाद है। दो चीजों की टक्कर से पैदा होता है। आहत नाद का अर्थ है, दो चीजों की टक्कर से पैदा हो। ढोल पीटते हैं, आहत नाद है। बोलते हैं तो ओंठ और जीभ का आहत नाद है। जब सब बंद हो जाता

है, जहां दो ही नहीं रह जाते, एक ही रह जाता है, तब अनाहत नाद होता है। बिना किसी चोट के, बिना किसी चोट के, बिना दो के टकराए ध्वनि होती है; वह जो ध्वनि है अनाहत, उसे इस देश के मनीषियों ने ओम् की तरह व्याख्या की है। दूसरे देश के मनीषियों ने भी उसकी व्याख्या की है, तो वह करीब-करीब ओम् के है। जैसे क्रिश्चियन 'अमीन' कहते हैं। वह ओमीन की व्याख्या है, वह ओम् की व्याख्या है। मुसलमान भी 'अमीन' कहते हैं। उपनिषद लिखा जाएगा तो सब लिखने के बाद आखिर में ऋषि लिखेगा: ओम् शांतिः शांतिः शांतिः। मुसलमान आयत पढ़ेगा, शास्त्र लिखेगा, तो आखिर में सब लिखने के बाद लिखेगा: अमीन, अमीन, अमीन। उससे पूछो अमीन का क्या अर्थ है? अमीन अर्थहीन है। वह उसी 'कॉज़्मिक' ध्वनि की व्याख्या है उसकी, ओम् की व्याख्या है। क्रिश्चियन भी अमीन का उपयोग करता है।

अंग्रेजी में कुछ शब्द हैं: 'ओमनीसियेंट', 'ओमनीप्रेजेंट', ओमनीपोटेंट'। ये बड़े अजीब शब्द हैं। इनका अंग्रेजी भाषाशास्त्र के पास व्युत्पत्ति का सूत्र नहीं है। ये सब ओम् से बने शब्द हैं। 'ओमनीसियेंट' का मतलब है, जिसने ओम् को देखा। यह बहुत मुश्किल मामला है। इसलिए अंग्रेजी भाषाशास्त्री बड़ी कठिनाई में पड़ता है कि इसका मतलब क्या है, इस 'ओमनीसियेंट' का मतलब क्या है? 'वन हू हेज़ सीन द ओम्'। जिसने ओम् को देखा, वह 'ओमनीसियेंट' है। 'ओमनीप्रेजेंट' का क्या मतलब है? जो ओम् में उपस्थित हो गया। 'ओमनीपोटेंट' का क्या मतलब है? कि जिसको उतनी ही ऊर्जा मिल गई जितनी ओम् की है, जो उतना ही शक्तिशाली हो गया जितना ओम् है।

यह ओम् की व्याख्या बहुत-बहुत रूपों में पकड़ी गई। लेकिन, दुनिया के दो बड़े धर्मस्रोतों ने...यह बड़े मजे की बात है, जैन हिंदुओं का कुछ स्वीकार न करेंगे, लेकिन ओम् को इनकार न करेंगे। अगर जैन, बौद्ध, हिंदुओं के बीच कोई एक शब्द है जो समान है, तो वह ओम् है। अगर हिंदू, बौद्ध, जैन, ईसाई, मुसलमान, सबके बीच कोई एक शब्द समान है, तो वह ओम् है। हां, उनकी व्याख्या 'ओमीन' की है, 'अमीन' की है, ये उसे ओम् कहते हैं। वह हमारा गाड़ी के चाक में सुना गया फर्क है। पक्का नहीं कहा जा सकता कि वह 'अमीन' है या 'ओम्' है। इसमें पक्का नहीं हुआ जा सकता, वह 'अमीन' भी हो सकता है, वह 'ओम्' भी हो सकता है। लेकिन एक बात पक्की है कि अमीन में भी और ओम् में भी एक ही ध्वनि की व्याख्या की गई है। वह ध्वनि अंतिम है। जब हम सब शब्दों के पार पहुंचते हैं तो एक ध्वनि शेष रह जाती है, जो कॉज़्मिक साउंड' है।

झेन फकीर कहते हैं अपने साधक को कि तुम उस जगह जाओ और ऐसी बात खोजकर लाओ जहां एक हाथ की ताली बजती है। अब एक हाथ की ताली! यह झेन फकीरों का अपना ढंग है अनाहत को कहने का। उन्हें अनाहत का कोई पता नहीं है इस शब्द का। वे कहते हैं वह जगह खोजो, वह स्थान खोजो, जहां एक हाथ की ताली बजती है। जहां एक हाथ की ताली बजेगी, वहां ओम् रह जाएगा। जहां तक दो हाथ की ताली बजेगी, वहां तक शब्द होंगे, ध्वनियां होंगी।

मैंने क्यों जानकर ध्यान में ओम् को बिलकुल जगह नहीं दी है? जानकर नहीं दी है। क्योंकि अगर आपने उच्चारण किया ओम् का, तो वह आपके द्वारा पैदा की हुई ध्वनि होगी। वह आहत नाद होगा। मैं प्रतीक्षा करता हूं उस ओम् की जब आप बिलकुल खो जाएंगे और ओम् प्रगट होगा, और आपके भीतर से आएगा। वह हुंकार होगी, वह अनाहत होगा। वह 'कॉज़्मिक साउंड' होगी। उस दिन, जैसा कृष्ण कहते हैं, ठीक कहते हैं कि अगर ओम् को तुमने समझा और जाना और जिआ तो आखिरी क्षण में तुम मुझे उपलब्ध हो जाओगे। वह ठीक कहते हैं। लेकिन वह आपके द्वारा कहा गया ओम् नहीं है। मरते वक्त आप अपने ओंठ से ओम्-ओम् कहते रहें, तो बेकार मेहनत करेंगे। शांति से मर सकते थे और अशांति से मरना हो जाएगा।

ओम् आना चाहिए, प्रगट होना चाहिए, विस्फोट होना चाहिए। वैसा होता है।

अब हम ध्यान के लिए बैठें। देखें, उस ओम् की तरफ यात्रा करें।

बातचीत न करें, दूर-दूर बैठ जाएं... ... ...बातचीत न करें, दूर-दूर बैठ जाएं। थोड़ा फासला करके बैठें।... ... ...(जो लोग देखने खड़े हैं वे बाहर आ जाएं, सड़क पर खड़े हों, यहां 'कंपाउंड' में खड़े न हों। आप लोग बाहर जाएं।)... ... ...

थोड़े फासले पर बैठें, ताकि कोई गिर जाए, लेट जाए, तो आपके ऊपर न पड़ जाए...काफी पीछे जगह पड़ी है, कंजूसी न करें। थोड़े दूर-दूर हट जाएं। फिर कोई गिर जाएगा उतने ही में बाधा हो जाती है—और कई लोग गिर जाएंगे—इसलिए हट जाएं। और ऐसा मत सोचें कि दूसरा हटेगा, दूसरा कभी हटता ही नहीं। हटना हो तो आप ही हट जाएं।

(जो मित्र देखने खड़े हैं, उनसे प्रार्थना है कि वे बिलकुल चुपचाप खड़े होकर देखेंगे, बात न करेंगे, ताकि हमें बाधा न हो।)

दो-तीन बात समझ लें। बैठकर प्रयोग करना है, उसी तरह परिणाम होंगे। दस मिनट तो हम गहरी श्वास लेते रहेंगे। दस मिनट के बाद बैठे-बैठे ही शरीर डोलने लगेगा, उसे डुलाना है—डोलने देना है। आवाज निकलने लगेगी, रोना निकलने लगेगा, उसे निकलने देना है। फिर दस मिनट पीछे—'मैं कौन हूं', प्रक्रिया वैसी ही रहेगी, सिर्फ आपको बैठकर करना है, बस इतना फर्क होगा। इस बीच कोई गिर जाएगा तो उसे चिंता नहीं लेनी, गिर जाना है।

('कंपाउंड' में कोई भी आंख खोले हुए नहीं होगा।)

दोनों हाथ जोड़ लें, संकल्प कर लें—

'प्रभु को साक्षी रखकर मैं संकल्प करता हूं कि ध्यान में अपनी पूरी शक्ति लगाऊंगा।'

'प्रभु को साक्षी रखकर संकल्प करता हूं कि ध्यान में अपनी पूरी शक्ति लगाऊंगा।'

'प्रभु को साक्षी रखकर संकल्प करता हूं कि ध्यान में अपनी पूरी शक्ति लगाऊंगा।'

आप अपने संकल्प का स्मरण रखना, प्रभु आपके संकल्प का स्मरण रखता ही है।

अब दस मिनट के लिए बैठे-बैठे ही तीव्र श्वास लें। इसमें बहुत जोर से शक्ति उठेगी, खड़े होने से भी ज्यादा जोर से उठेगी।... ... ...

...शक्ति उठेगी ही, श्वास की चोट करें। ...शरीर के भीतर विद्युत दौड़ने लगेगी ...शरीर के भीतर 'इलेक्ट्रीसिटी' पैदा होने लगेगी... ...जोर से सांस लें... शरीर कंपने लगे, कंपने दें; डोलने लगे, डोलने दें; हिलने लगे, हिलने दें।... ... ...

शक्ति जाग रही है उसे जागने दें, जोर से श्वास लें, शक्ति को जागने दें।... ...

... ...बहुत ठीक, बहुत ठीक, अपना-अपना खयाल कर लें, कोई पीछे न रह जाए... शक्ति जाग रही है, उसे जागने दें... शरीर जो करता हो बैठे-बैठे करने दें... ... ...गहरी श्वास, गहरी श्वास, गहरी श्वास, गहरी श्वास... शक्ति जाग रही, सहयोग करें, गहरी श्वास लें, गहरी श्वास लें, गहरी श्वास लें... ...

गहरी श्वास...बहुत ठीक, बहुत ठीक...अधिक मित्रों की शक्ति जाग रही है, उसे पूरा खुला छोड़ दें...गहरी श्वास लें, चोट करें, आनंद से भर जाएं, आनंद से भर जाएं, गहरी श्वास लें, गहरी श्वास लें, आनंद से भर जाएं, गहरी श्वास लें, गहरी श्वास लें।... ...

शरीर 'इलेक्ट्रिफाइड' हो गया है, उसे होने दें, आप गहरी श्वास लें, आनंद से, आनंद से, परिपूर्ण आनंद से भर कर गहरी श्वास लें।... ...

जोर से, जोर से, आनंद से, आनंद से, पूरे आनंद से गहरी श्वास लें; पीछे न रह जाएं, पूरी शक्ति लगाएं, फिर हम दूसरे चरण में प्रवेश करेंगे, चार मिनट बचे हैं, पूरी ताकत लगाएं।... ...

बहुत ठीक, बहुत ठीक, ठीक गति आ रही है, आने दें, आने दें, आने दें। कभी-कभी जरा-से में चूक जाते हैं...ताकत, ताकत पूरी लगा दें, आनंद भाव से पूरी ताकत लगा दें।... ...

तीन मिनट बचे हैं...बढ़ें, बढ़ें, बढ़ें, जोर से, भीतर यात्रा करें, गहरी श्वास। शक्ति जागने लगेगी, शरीर अपना नहीं मालूम पड़ेगा, डोलने लगेगा, बैठे-बैठे नाचने लगेगा, डोलने लगेगा, कांपने लगेगा। कांपने दें, बैठे-बैठे नाचने दें, आप गहरी श्वास लें, गहरी श्वास लें...बहुत ठीक, डोलें, डोलें, कंपें...गहरी श्वास लें।... ...

बहुत ठीक, बहुत गति ठीक आ रही है, आनंद से, आनंद से। दो मिनट बचे हैं, गहरी श्वास, गहरी श्वास, गहरी श्वास, गहरी श्वास।...जब मैं कहूं एक, दो, तीन, तो पूरी ताकत लगा दें।...गहरी श्वास, गहरी श्वास, आनंद से भर जाएं, डोलने दें शरीर को, डोलने दें, बैठे-बैठे नाचने दें, कांपने दें।... ...

एक, देखें कोई पीछे न रह जाए। दो...तीन...पूरी ताकत लगा लें, फिर हम दूसरे चरण में प्रवेश करेंगे। शक्ति जाग गई है, पूरी ताकत लगा दें, जो पूरी ताकत लगाएगा वह दूसरे में शीघ्रता से गति कर जाएगा। बहुत ठीक, बहुत ठीक, बहुत ठीक, जोर से, जोर से, जोर से।... ...

अब दूसरे चरण में प्रवेश करें, शरीर को जो करना है, करने दें। चिल्लाना है चिल्लाने दें, रोना है रोने दें, डोलना है डोलने दें, हंसना है हंसने दें, आनंद से भर जाएं और शरीर जो कर रहा है उसका सहयोग करें। हंसें, चिल्लाएं, रोएं, डोलें।... ...

जोर से रोएं, हंसें, चिल्लाएं, आनंदित हों। शक्ति जाग गई है, दिल खोल कर हंसें।... ...

जोर से आनंद से भर जाएं, जोर से आनंद से भर जाएं, हंसें, चिल्लाएं, जोर से चिल्लाएं, शरीर को जो हो रहा है होने दें।... ...

सहयोग करें, आनंद से भर जाएं, डोलें, बैठे-बैठे नाचें, कांपें, चिल्लाएं, हंसें, रोएं। संभालें नहीं, जोर से करें, संभालें नहीं।... ...

बहुत ठीक, बहुत ठीक, जोर से, जोर से, जोर से।... ...

दिल खोल कर आनंद से भर जाएं, हंसें, दिल खोल कर हंसें। जोर से, जोर से, पांच मिनट बचे हैं, पूरी ताकत लगाएं। दिल खोल कर चिल्लाएं, पूरी घाटी गूंज जाए।... ...

चार मिनट बचे हैं, पूरी शक्ति लगाएं, हंसें, खिलखिलाएं, रोएं, चिल्लाएं, आनंद से भर जाएं, शरीर जो कर रहा है करने दें।...जोर से, जोर से, चार मिनट बचे हैं, पूरी ताकत लगा दें, शरीर को कंपने दें, डोलने दें, नाचने दें, जो हो रहा है होने दें।... ...

तीन मिनट बचे हैं, पूरी शक्ति लगाएं, फिर हम दूसरे चरण में प्रवेश करें।... ...

दो मिनट बचे हैं, पूरी शक्ति लगाएं, फिर हम तीसरे चरण में प्रवेश करें। जोर से, पूरी घाटी गूंजने लगे। चिल्लाएं, चिल्लाएं, आनंद से चिल्लाएं। आनंद से चिल्लाएं, हंसें, आनंद से चिल्लाएं।... ...

मैं एक, दो, तीन कहूं तब पूरी शक्ति लगाएं। एक, पूरी शक्ति लगा दें। दो, पूरी शक्ति लगा दें, अपने को पूरा खाली कर लें। तीन, पूरी शक्ति लगा दें।...चिल्लाएं, हंसें, जोर से, एक दफा पूरी ताकत लगा दें।...

अब तीसरे चरण में प्रवेश कर जाएं। भीतर पूछें, मैं कौन हूं? डोलते रहें, कांपते रहें, पूछते रहें, मैं कौन हूं? मैं कौन हूं? भीतर पूछें, मैं कौन हूं? मैं कौन हूं? डोलते रहें, डोलते रहें, कांपते रहें, नाचते रहें, पूछें, मैं कौन हूं? कोई फिकर नहीं आवाज बाहर निकल जाए, पूछें जोर से, मैं कौन हूं?...

नाचते रहें, नाचते रहें, पूछें, मैं कौन हूं? आनंद से पूछें, मैं कौन हूं? पूरे आनंद से पूछें, मैं कौन हूं? मैं कौन हूं? मैं कौन हूं? दस मिनट में मन को बिलकुल थका डालना है। जोर से पूछना हो जोर से पूछें, मैं कौन हूं?... ...

मैं कौन हूं? मैं कौन हूं? मैं कौन हूं? पूछें, पूछें, धीमे नहीं, शक्ति से पूछें, मैं कौन हूं? आनंद से पूछें, मैं कौन हूं?...डोलें, नाचें, कांपें, जोर से पूछें, मैं कौन हूं?... ...

पूछें, पूछें, बाहर भी आवाज निकले फिकर न करें। पूछें, मैं कौन हूं? मैं कौन हूं?...थका डालना है। पूछें, मैं कौन हूं? मैं कौन हूं? मैं कौन हूं?...मैं कौन हूं? मैं कौन हूं? पूछें, पूछें, डोलें, नाचें, कंपें; पूछें, मैं कौन हूं? थका डालना है मन को, बिलकुल थका डालना है। पूछें, मैं कौन हूं?...

जोर से, जोर से, ताकत लगाएं, पूछें परमात्मा से, मैं कौन हूं? मैं कौन हूं? मैं कौन हूं?...

मैं कौन हूं? मैं कौन हूं? पांच मिनट बचे हैं, पूरी ताकत लगाएं, फिर हम आखिरी चरण में प्रवेश करेंगे। थका डालें, बिलकुल थका डालें, चिल्लाएं जोर से, मैं कौन हूं? चिल्लाएं, चिल्लाएं जोर से, मैं कौन हूं? चिल्लाएं, चिल्लाएं जोर से, मैं कौन हूं?... ...

चार मिनट बचे हैं, पूछें, पूछें, पूछें, पीछे न रह जाएं—बहुत ठीक, पूछें मैं कौन हूं? चिल्लाएं जोर से, पूछें, मैं कौन हूं?... ...

बहुत ठीक, बहुत ठीक, तीन मिनट बचे हैं, पूरी ताकत लगाएं, आनंद से पूछें, मैं कौन हूं? मैं कौन हूं? पूरी तरह कूद जाएं, पूछें, मैं कौन हूं? मैं कौन हूं? मैं कौन हूं? मैं कौन हूं?... ...

दो मिनट बचे हैं, अब पूरी ताकत लगा दें। पूछें जोर से, मैं कौन हूं?... ...

मैं कौन हूं? एक, पूरी ताकत लगाएं। दो, मैं कौन हूं? पूरी ताकत लगाएं। तीन, पूरी ताकत लगाएं, मैं कौन हूं? जोर से पूछें, कुछ सेकेंड के लिए पूरी ताकत लगा दें। बिलकुल पागल हो जाएं। जोर से पूछें, मैं कौन हूं? जोर से, कुछ सेकेंड के लिए पूरी ताकत लगा दें। चीखें, जोर से चिल्लाएं, मैं कौन हूं?...जोर से, जोर से, जोर से।... ...

बस अब आखिरी चरण में प्रवेश कर जाएं, शांत हो जाएं, अब सब छोड़ दें। पूछना छोड़ दें, पूछना छोड़ दें। कंपना छोड़ दें, गहरी श्वास लेना छोड़ दें। जो जहां है वैसा ही रह जाए। कोई गिर गया गिरा हुआ, कोई बैठा है बैठा हुआ, जो जैसा है वैसा ही रह जाए। दस मिनट के लिए परिपूर्ण मौन में प्रवेश कर जाएं। जैसे बूंद सागर में खो जाए ऐसे खो जाएं। सब शून्य हो गया, सब मौन हो गया। जैसे हम मर ही गए।

दस मिनट के लिए बिलकुल खो जाएं, न हो जाएं। इस न होने में ही उसका पता चलता है जो है। चारों तरफ वही है, काश हम शून्य हो जाएं तो वह हमारे भीतर प्रवेश कर जाता है। जैसे मिट ही गए, जैसे समाप्त हो गए। परमात्मा ही शेष रह गया है, हम समाप्त हो गए।... ...

प्रकाश ही प्रकाश शेष रह गया है, हम समाप्त हो गए हैं। आनंद ही आनंद शेष रह गया है, हम समाप्त हो गए हैं। देखें भीतर प्रकाश ही प्रकाश अनंत प्रकाश है, देखें भीतर आनंद की वर्षा हो रही है। रोएं-रोएं में, पुलक-पुलक में आनंद भर गया है। परमात्मा के अतिरिक्त और कोई भी नहीं है। परमात्मा के अतिरिक्त और कोई भी नहीं है, वही है चारों ओर, वही है बाहर, वही है भीतर। पहचानें, स्मरण करें, पहचानें, स्मरण करें।... ...

स्मरण करें, स्मरण करें, वही है बाहर, वही है भीतर, वह दीवाल गिर गई जो बाहर और भीतर को अलग करती थी। सब एक हो गया, बूंद सागर में खो गई।...बूंद सागर में गिर गई, खो गई, समाप्त हो गई। परमात्मा ही शेष रह गया। परमात्मा ही शेष रह गया, परमात्मा ही शेष रह गया। वही है बाहर, वही है भीतर, वही है सब ओर, पहचानें, स्मरण करें, पहचानें।...

वही है, वही है, वही है, स्मरण करें। बीच की दीवाल गिर गई, उससे हम एक हो गए, वह हमसे एक हो गया है। आनंद ही आनंद, अमृत ही अमृत, प्रकाश ही प्रकाश है।... ...

डूब जाएं, डूब जाएं, खो जाएं, खो जाएं, स्मरण करें वही है, अपने को छोड़ दें, मिट जाएं। आनंद ही आनंद, प्रकाश ही प्रकाश, परमात्मा ही परमात्मा शेष रह जाता है। प्रकाश ही प्रकाश शेष रह गया। आनंद रोएं-रोएं में भर गया। पहचानें, स्मरण करें, स्मरण करें।... ...

स्मरण करें, स्मरण करें, स्मरण करें, पहचानें।...यही है वह क्षण, जब दर्शन हो सकता है। यही है वह क्षण, जब मिलन हो सकता है। यही है वह क्षण, जब उसके मंदिर में प्रवेश हो सकता है। द्वार पर खड़े हैं, पहचानें, प्रकाश ही प्रकाश, आनंद ही आनंद, शांति ही शांति रह गई है। परमात्मा ही है, चारों ओर वही है, वृक्षों में, आकाश में, हवाओं में, बाहर-भीतर, उसके अतिरिक्त और कोई भी नहीं है। स्मरण करें, स्मरण करें।... ...

अब दोनों हाथ जोड़ लें और उसे धन्यवाद दे दें, उसकी अनुकंपा अपार है। दोनों हाथ जोड़ लें, सिर झुका लें, उसे धन्यवाद दे दें, उसके अज्ञात चरणों में समर्पित हो जाएं। दोनों हाथ जोड़ लें, सिर झुका लें, उसके चरणों पर सिर रख दें।

उसकी अनुकंपा अपार है। उसकी अनुकंपा अपार है। उसकी अनुकंपा में नहा जाएं। दोनों हाथ जोड़ लें, सिर झुका लें, धन्यवाद दे दें। प्रभु की अनुकंपा अपार है। प्रभु की अनुकंपा अपार है। प्रभु की अनुकंपा अपार है।... ...
प्रभु की अनुकंपा अपार है। प्रभु की अनुकंपा अपार है। प्रभु की अनुकंपा अपार है।... ...
उसकी अनुकंपा अपार है। उसकी अनुकंपा अपार है। उसकी अनुकंपा अपार है। अब दोनों हाथ छोड़ दें। धीरे-धीरे आंख खोल लें, ध्यान से वापस लौट आएं। जिनसे आंख न खुले, वे दोनों हाथ आंख पर रख लें। जिनसे उठते न बने, वे दो-चार गहरी श्वास लें और धीरे-धीरे उठ आएं।
ध्यान से वापस लौट आएं। दो-चार गहरी श्वास ले लें। उठते न बने, दो-चार गहरी श्वास लें फिर धीरे-धीरे उठ आएं। आंख न खुलती हो तो दोनों हाथ आंख पर रख लें और आंख खोल लें। ध्यान से वापस लौट आएं।
हमारी ध्यान की बैठक पूरी हुई।
14 अकर्म के पूर्ण प्रतीक कृष्ण

'आपने कहा है कि श्रीकृष्ण के मार्ग में कोई साधना नहीं है। केवल 'सेल्फ रिमेंबरिंग', पुनरात्मस्मरण है। लेकिन, आप सात शरीरों की साधना की बात करते हैं। तो सात शरीरों के संदर्भ में कृष्ण की साधना की रूपरेखा क्या होगी, कृपया इसे स्पष्ट करें।'

* कृष्ण के विचार-दर्शन में साधना की कोई जगह ही नहीं है। इसलिए सात शरीरों का भी कोई उपाय नहीं है। साधना के मार्ग पर जो मील के पत्थर मिलते हैं, वे उपासना के मार्ग पर नहीं मिलते हैं। साधना मनुष्य को जिस भांति विभाजित करती है, उस तरह उपासना नहीं करती। साधना सीढ़ियां बनाती है, इसलिए आदमी के व्यक्तित्व को सात हिस्सों में तोड़ती है। फिर एक-एक सीढ़ी चढ़ने की व्यवस्था करती है। लेकिन उपासना आदमी के व्यक्तित्व को तोड़ती ही नहीं। कोई खंड नहीं बनाती। मनुष्य का जैसा अखंड व्यक्तित्व है, उस पूरे को ही उपासना में लीन कर देती है।
इसलिए साधकों ने तो बहुत-सी सीढ़ियां बनाई हैं, बहुत-से मील के पत्थर लगाए हैं, बहुत-बहुत विभाजन किए हैं—सप्त शरीरों में विभाजन किया है मनुष्य के व्यक्तित्व का, सात चक्रों में विभाजन किया है मनुष्य के व्यक्तित्व का, तीन हिस्सों में विभाजन किया है मनुष्य के व्यक्तित्व का; अलग-अलग साधकों ने मनुष्य के व्यक्तित्व को अलग-अलग सीढ़ियों में बांटकर साधना की है, लेकिन उपासना के जगत में कोई विभाजन नहीं है। वहां मनुष्य जैसा है, उस पूरे ही मनुष्य को सिर्फ स्मरण करना है। स्मरण खंड-खंड नहीं होता, साधना खंड-खंड हो सकती है। किसी आदमी को स्मरण ऐसा नहीं आता कि मैं थोड़ा परमात्मा हूं और थोड़ा नहीं हूं। जब आता है तो पूरा आता है, अन्यथा नहीं आता है।
स्मरण की प्रक्रिया ही अलग है। स्मरण की प्रक्रिया 'सडन' है, 'ग्रेजुअल' नहीं है। स्मरण पूरा-का-पूरा एक ही छलांग में घटित होता है। स्मरण एक विस्फोट है। साधना का एक क्रम है, स्मरण का कोई क्रम नहीं है। जैसे उदाहरण के लिए ऐसा समझें—आपको किसी का नाम पक्की तरह मालूम है। वक्त पड़ा है और याद नहीं आ रहा है। और आप कहते हैं ओंठ पर रखा है, जीभ पर रखा है। बड़े मजे की बात आप कहते हैं। कहते हैं, जीभ पर रखा है और याद नहीं आ रहा है। असल में दोनों बातें आपको याद आ रही हैं कि मुझे याद भी है और याद नहीं भी आ रहा है। बड़ी असमंजस की स्थिति है। आपको मालूम है कि मालूम है, आपको भलीभांति पता है कि पता है, लेकिन याद नहीं आ रहा है। विस्मरण का मतलब ही यही है कि जो याद है और याद नहीं आ रहा है। मन के किसी गहरे तल को पता है कि याद है, लेकिन मन के ऊपरी तल तक खबर नहीं पहुंच पा रही। बीच में सेतु नहीं बन पा रहा। गहरा मन कहता है कि मालूम है, लेकिन उथला मन कहता है कि मुझ तक खबर नहीं आ रही। इसलिए हम कहते हैं कि जीभ पर रखा है लेकिन याद नहीं आ रहा है। दोनों बातें एकसाथ याद आ रही हैं। मालूम है, यह भी याद आ रहा है, याद नहीं आ रहा है, यह भी मालूम हो रहा है।
फिर आप क्या करते हैं?

फिर आप बड़ी कोशिश करते हैं। फिर हजार उपाय करते हैं। सिर पर बल दे देते हैं, मुट्ठियां कस लेते हैं, सब तरह से खोजते हैं, बीनते हैं, और जितना खोजते हैं उतना ही पाते हैं कि याद नहीं आ रहा है। जितना खोजते हैं, उतना ही पाते हैं कि याद आना मुश्किल हुआ जा रहा है। क्यों? क्योंकि जितना आप खोजते हैं उतना ही आप 'टेंस' और तनाव से भर जाते हैं। और जितना तनाव से भर जाते हैं उतना ही आपके गहरे मन और आपका संबंध टूट जाता है। तनाव से भरा हुआ मन खंडित हो जाता है, शांत मन इकट्ठा हो जाता है। जितना आप कोशिश करते हैं कि याद करूं, याद करूं, उतना आप मुश्किल में पड़ते हैं। क्योंकि जो आदमी यह कह रहा है कि मैं याद करूं, वह साथ ही यह भी स्मरण में रखे हुए है कि मुझे याद नहीं आ रहा है। ये दोहरे सुझाव उसको एकसाथ मिल रहे हैं। बार-बार कह रहा है कि याद करूं और बार-बार जान रहा है कि याद नहीं आ रहा है, तो उसका आत्मविश्वास कम होता जा रहा है। और मन तनता जा रहा है। वह याद नहीं कर पाएगा। फिर उस आदमी ने कहा कि जाने दो। नहीं आता याद तो जाने दो। वह आदमी बैठकर सिगरेट पीने लगा है, या बगिया में काम करने लगा है, या रेडियो खोलकर सुनने लगा है, या अखबार पढ़ने लगा, और अचानक याद आ गया है। और जब ऐसा याद आता है, तो कभी आधा याद आता है? बस पूरा याद आ जाता है।

क्यों? इस आकस्मिक अ-तनाव की हालत में, 'रिलेक्सेशन' की हालत में क्यों याद आ गया? तनाव मिट गया है, आपने याद करने की बात छोड़ दी, दोनों मन जो टूटे थे—याद करने वाला और जिसे याद था, वे दोनों लड़ रहे थे; याद करने वाला कहता था, याद आना चाहिए और तना हुआ था, वही बाधा थी, वही तनाव था। वह छूट गया। आप बगिया में काम कर रहे हैं, या अखबार पढ़ रहे हैं, या रेडियो सुनने लगे हैं और अचानक याद आ गया है। जो कोशिश से याद नहीं आया था, वह अचानक याद आ गया। जो प्रयास से नहीं खोजा जा सका था, वह अप्रयास में उपलब्ध हो गया है। लेकिन जब यह याद आती है तो अधूरी नहीं आती, बस पूरा ही आ जाता है। क्योंकि पूरा ही आपको मालूम है।

यह मैंने उदाहरण के लिए कहा। यह हमारी सामान्य स्मृति की बात है। इस स्मृति में मन के दो हिस्से काम करते हैं। जिसको हम 'कांशस माइंड' कहते हैं, वह; जिसको हम 'अनकांशस माइंड' कहते हैं, वह—हमारा चेतन मन और हमारा अचेतन मन। इसे हम ऐसा समझ ले सकते हैं कि चेतन मन हमारे मन का वह हिस्सा है, जिससे हम चौबीस घंटे काम लेते हैं। अचेतन मन हमारे मन का वह हिस्सा है, जिससे हमें कभी-कभी काम लेना पड़ता है, चौबीस घंटे काम नहीं लेते। चेतन मन हमारा प्रकाशित मन है, अचेतन मन हमारा अंधकार में डूबा मन है। यह जो स्मृति का मैंने उदाहरण लिया, यह अचेतन में दबी है और चेतन याद करने की कोशिश कर रहा है। चेतन अचेतन के खिलाफ लड़ रहा है। जब तक लड़ेगा तब तक याद नहीं आएगा। जैसे ही लड़ाई छोड़ेगा, दोनों मिल जाएंगे और याद आ जाएगा। और जो अचेतन के द्वार पर खड़ा था, बिलकुल चेतन में प्रवेश करने को, उसी को आप कह रहे थे कि जीभ पर रखा है।

परमात्मा की स्मृति, या आत्मस्मृति, या 'सेल्फ रिमेंबरिंग' और गहरी बात है। वह अचेतन में नहीं दबा है। उसके नीचे एक और अचेतन मन है, जिसको हम 'कलेक्टिव अनकांशस' कहें—हम सबका सामूहिक अचेतन मन। इसे ऐसा समझें कि चेतन मन है हमारा ऊपर का प्रकाशित हिस्सा, उसके नीचे दबा हुआ हमारा अचेतन मन है—हमारा ही व्यक्तिगत अंधेरे में दबा हिस्सा—उसके नीचे हम सबका समूह-मन है, वह भी अंधेरे में दबा। और उसके भी नीचे 'कॉज़्मिक अनकांशस' है, जो समस्त जगत, समस्त जीवन, समस्तता का अंधकार में डूबा हुआ मन है। परमात्मा की स्मृति उस 'कॉज़्मिक अनकांशस' में, समष्टि-अचेतन में दबी पड़ी है। तो स्मरण का कुल मतलब इतना ही है कि हम अपने भीतर इतने एक हो जाएं कि न केवल अपने अचेतन से जुड़ जाएं, समूह-अचेतन से जुड़ जाएं बल्कि उसके नीचे समष्टि-अचेतन से जुड़ जाएं।

अब जैसे उदाहरण के लिए, अब आप ध्यान में बैठते हैं, तो जब ध्यान की गहराई आती है, तो पहले तो आप व्यक्ति-अचेतन में उतरते हैं। आप रोने लगते हैं, हंसने लगते हैं; कोई रोता है, कोई हंसता है, कोई नाचता है, कोई डोलता है, यह आपके व्यक्ति-अचेतन में दबी हुई क्रियाएं प्रकट होती हैं। लेकिन दस मिनट पूरे होते-होते आप व्यक्ति नहीं रह जाते, आप एक 'कलेक्टिविटी' हो जाते हैं। आप अलग-अलग नहीं रह जाते। जो गहरे उतर जाते हैं, वे समूह-अचेतन में उतर जाते हैं। फिर उस क्षण में उन्हें ऐसा नहीं लगता कि मैं नाच रहा हूं, उस वक्त ऐसा ही लगता है कि

नाच चल रहा है और मैं एक हिस्सा हो गया हूं। उस वक्त उन्हें ऐसा नहीं लगता है कि मैं हंस रहा हूं, उस वक्त ऐसा ही लगता है कि हंसी फूट रही है और मैं भी भागीदार हूं। उस वक्त ऐसा नहीं लगता है कि मैं हूं, बल्कि ऐसा लगता है कि सब कुछ नाच रहा है, सारा जगत नाच रहा है। चांद-तारे नाच रहे हैं, पौधे-पक्षी नाच रहे हैं, आसपास जो भी है, कण-कण, वह सभी नाच रहा है। उस नाचने के हम एक हिस्से हो गए हैं। तब आप 'कलेक्टिव अनकांशस' में उतर गए। तब आप समूह-अचेतन में उतर गए।

उसके भी नीचे दबा हुआ 'कॉज़्मिक अनकांशस' है। उसमें जिस दिन आप उतर जाएंगे—यह 'कलेक्टिव' से ही उतरेंगे; यह समूह-चित्त जब और-और गहरा होता जाएगा तब आपको यह भी पता नहीं चलेगा कि सब नाच रहे हैं और मैं एक हिस्सा हूं, आपको यह भी पता नहीं चलेगा कि मैं हिस्सा हूं, आपको यही पता चलेगा कि सब और मैं एक ही हूं। हिस्सा भी नहीं हूं। 'टोटल' का मैं एक भाग नहीं हूं, मैं ही 'टोटल' हूं। जिस क्षण ऐसी प्रतीति होगी उसी क्षण 'कॉज़्मिक अनकांशस' से तीर की तरह कोई स्मरण आपके चेतन मन तक उठकर आ जाता है। उस वक्त आपको स्मरण होता है कि मैंने तो जाना जो मुझे पता ही था कि मैं कौन हूं। मैं ब्रह्म हूं। अहं ब्रह्मास्मि का बोध उस क्षण में आपके चेतन तक फैल जाता है। यह जो स्मरण की प्रक्रिया है, यह मैंने चार हिस्सों में बांटी आपको समझाने के लिए। कृष्ण इसको बांटते ही नहीं। यह समझाने के लिए बांटा कि आपको कठिन होगा। ये अलग-अलग चार चीजें नहीं हैं, यह एक ही चीज का फैलाव है, गहरे और गहरे, और गहरे। और जितना गहरा होता है, उतना हम खंड को अलग नाम दे रहे हैं।

हमारे बहुत गहरे में हमें पता ही है कि हम परमात्मा हैं। हमें परमात्मा होना नहीं है, सिर्फ 'डिस्कवर' करना है, सिर्फ आविष्कार करना है, उघाड़ना है। ऋषि कहते हैं उपनिषद में कि स्वर्ण-पात्र से ढंका है जो सत्य, तू उसे उघाड़ दे। वह जो ढंका है उसे तू उघाड़ दे। परमात्मा होना हमारी उपलब्धि नहीं है, सिर्फ उघाड़ना है, 'अनकवर' होना है। कुछ जो ढंका है, वह उघड़ जाए। किससे ढंका है? हमारी ही विस्मृति से ढंका है। हम अपने मन के बिलकुल अग्रिम भाग में जी रहे हैं, जैसे कोई बड़े भवन में रहता हो, और अपनी दहलान में जीता हो। और धीरे-धीरे दहलान में ही पैदा हुआ हो, दहलान में ही बड़ा हुआ हो, दहलान में ही जीआ हो और भूल ही गया हो, उसे पता ही न हो कि उसका बड़ा भवन भी है। उसे पता ही न हो, वह दहलान में जी लेता हो, सो जाता हो, काम करता हो, खाता हो, पीता हो और उसे याद ही न हो कि एक बड़ा भवन भी है उस दहलान से जुड़ा हुआ। असल में कोई दहलान अकेली नहीं होती। कभी देखी है कोई दहलान अकेली? दहलान किसी बड़े भवन का हिस्सा ही होती है। उस बड़े भवन का हमें कोई पता नहीं है। हम अपने चेतन मन में ही जी रहे हैं, वह हमारी दहलान है। वह हमारा सिर्फ बाहर का हिस्सा है जहां छपरी पड़ती है। इससे ज्यादा नहीं है। लेकिन हमें कोई पता नहीं भीतर का। उस भीतर का भी हमारे बहुत गहरे में स्मरण है पर उस भीतर की अपनी गहराई में भी हम नहीं उतरे हैं। इस भीतर की गहराई में उतर जाना खंड में नहीं होगा। चर्चा और समझाना खंड में होगा।

साधना के मार्ग से जो चलते हैं, वे एक-एक खंड को साधने की कोशिश करते हैं। कृष्ण कहते ही इतना हैं कि तुम परमात्मा हो, इसे स्मरण करना है। इसलिए उपनिषद बार-बार कहते हैं, स्मरण करो, स्मरण करो। सिर्फ 'रिमेंबर' करना है कि कौन हैं हम। यह हम भूल गए हैं, यह हमने खो नहीं दिया है। यह कुछ ऐसा भी नहीं है कि हमारा कोई भविष्य है, जो हमें होना है। सिर्फ विस्मरण है। बहुत बात बदल जाती है। साधना में सिर्फ विस्मरण नहीं है, साधना के खयाल में कोई चीज खोजी गई है, या कोई चीज अभी हुई ही नहीं है जो होने वाली है। या साधना के क्रम में कुछ चीज गलत जुड़ गई है जिसे काटना होगा, अलग करना होगा। स्मरण की प्रक्रिया में न कुछ काटना है, न कुछ अलग करना है, न कुछ गलत जुड़ गया है, न हमें कुछ होना है, न हम अन्यथा हो गए हैं, हम जो हैं वह हैं, सिर्फ विस्मरण है। बस विस्मरण के अतिरिक्त और कोई पर्दा नहीं है।

कृष्ण का सारा-का-सारा आधार उपासना का है और उपासना का सारा आधार स्मरण का है। लेकिन भूल गए उपासक स्मरण को। उसकी जगह उन्होंने सुमिरन शुरू कर दिया। स्मरण को भूल गए, अब वे सुमिरन कर रहे हैं! बैठे हैं और राम-राम जप रहे हैं। राम-राम जपने से याद न आएगा कि मैं राम हूं। स्मरण शब्द धीरे-धीरे सुमिरन बन गया। स्मृति शब्द धीरे-धीरे सुरति बन गया। और उस शब्द के दूसरे ही 'कनोटेशन' और दूसरे ही अर्थ हो गए। एक आदमी बैठकर

अगर यह भी दोहराता रहे कि मैं परमात्मा हूं, मैं परमात्मा हूं, तो भी कोई हल न होगा। यह दोहराने से हल न होगा। इसके दोहराने से, 'रिपीटीशन' से कोई वास्ता नहीं है। इससे भ्रम भी पैदा हो सकता है कि वह आदमी नीचे तो उतर ही न पाए और चेतन मन में ही समझने लगे कि मैं परमात्मा हूं और भीतर के तलों का उसे कोई बोध ही न हो।

इसलिए स्मरण की क्या होगी प्रक्रिया? क्या होगा मार्ग? क्या होगा द्वार? मेरे देखे अगर आप शांत और शून्य सिर्फ बैठ जाएं, कुछ न करें—आपका कुछ भी करना बाधा बनेगा। असल में करने से हम वह पा सकते हैं जो हम नहीं हैं। करने से वह मिल सकता है जो हमारे पास नहीं है। इसलिए स्मरण का बहुत गहरा अर्थ तो 'टोटल इनएक्टिविटी' है, अकर्म है। इसलिए कृष्ण बहुत जोर देते हैं अकर्म पर। वह निरंतर कहे जाते हैं, अकर्म। गहरे में अकर्म, 'नो एक्टिविटी'। जैसा मैंने आपसे कहा कि छोटी-सी चीज भी भूल जाते हैं, तो जब तक आप 'एक्टिवली' उसको याद करने की कोशिश करते हैं, नहीं कर पाते हैं, लेकिन जब आप उस हिस्से को छोड़ देते हैं और उस हिस्से में 'इनएक्टिव' हो जाते हैं, अकर्म में हो जाते हैं, तब वह स्मरण आ जाता है। अगर हम 'टोटल इनएक्टिविटी' में हो जाएं तो वह जो कॉज़्मिक अनकांशस' में है, वह जो ब्रह्मांड-अचेतन में पड़ा है, वह एकदम तीर की तरह उठता है। जैसे बीज फूटता है अंकुर की तरह, ऐसे ही हमारे चित्त के किसी गहरे से बीज टूटता है और एक अंकुर उठकर हमारे चेतन मन के प्रकाश तक आ जाता है, और हम जानते हैं कि हम कौन हैं। अकर्म है सूत्र। साधना में सदा कर्म है सूत्र। साधना में सदा क्रिया है मार्ग। उपासना में सदा अक्रिया है द्वार, अकर्म है मार्ग।

कृष्ण के इस अकर्म को थोड़ा ठीक से समझ लेना अच्छा होगा। क्योंकि मैं मानता हूं कि इसे ठीक से नहीं समझा जा सका। इसे समझना बहुत मुश्किल था। क्योंकि जिन लोगों ने कृष्ण पर टीकाएं लिखी हैं और जिन लोगों ने कृष्ण की व्याख्या की है, उनकी किसी की भी पकड़ में अकर्म नहीं बैठ सका। या तो अकर्म का मतलब उन्होंने समझा कि संसार छोड़कर भाग जाओ। लेकिन छोड़कर भागना एक कर्म है। छोड़ना एक कर्म है, एक कृत्य है। अकर्म का निरंतर यही मतलब समझा गया कि तुम कुछ भी मत करो। दुकान मत करो, काम मत करो, गृहस्थी मत करो, प्रेम मत करो, भाग जाओ सब छोड़कर। सिर्फ भागना करो। सिर्फ त्यागना करो। लेकिन त्याग उतना ही कर्म है, जितना भोग कर्म है। तो कृष्ण को नहीं समझा जा सका। अकर्म का मतलब छोड़ना, भागना, त्यागना हो गया। हिंदुस्तान की लंबी परंपरा त्याग रही है, छोड़ रही है, भाग रही है। और कोई गौर से नहीं देखता कि कृष्ण बिलकुल भागे हुए नहीं हैं। कभी-कभी हैरानी होती है कि एक लंबी परंपरा भी अंधी हो सकती है। कोई यह नहीं देख रहा है कि जो आदमी अकर्म की बात कर रहा है, वह गहन कर्म में खड़ा हुआ है। इसलिए भागना उसका अर्थ हो नहीं सकता।

कृष्ण तीन शब्दों का प्रयोग करते हैं—अकर्म, कर्म और विकर्म। कर्म वे उसे कहते हैं, सिर्फ करने को ही कर्म नहीं कहते। अगर करने को ही कर्म कहें, तब तो अकर्म में कोई जा ही नहीं सकता। फिर तो अकर्म हो ही नहीं सकता। कर्म को कृष्ण ऐसा करना कहते हैं जिसमें कर्ता का भाव है। जिसमें करने वाले को यह खयाल है कि मैं कर रहा हूं। मैं कर्ता हूं। 'इगोसेंट्रिक' कर्म को वे कर्म कहते हैं। ऐसे कर्म को, जिसमें कर्ता मौजूद है। जिसमें कर्ता यह खयाल करके ही कर रहा है कि करने वाला मैं हूं। जब तक मैं करने वाला हूं, तब तक हम जो भी करेंगे वह कर्म है। अगर मैं संन्यास ले रहा हूं, तो संन्यास एक कर्म हो गया। अगर मैं त्याग कर रहा हूं, तो त्याग एक कर्म हो गया।

अकर्म का मतलब ठीक उलटा है। अकर्म का मतलब है ऐसा कर्म, जिसमें कर्ता नहीं है। अकर्म का अर्थ, ऐसा कर्म जिसमें कर्ता नहीं है। जिसमें मैं कर रहा हूं, ऐसा कोई बिंदु नहीं है। ऐसा कोई केंद्र नहीं है जहां से यह भाव उठता है कि मैं कर रहा हूं। अगर मैं कर रहा हूं, यह खो जाए, तो सभी कर्म अकर्म है। कर्ता खो जाए तो सभी कर्म अकर्म है। इसलिए कृष्ण का कोई कर्म कर्म नहीं है, सभी कर्म अकर्म है।

कर्म और अकर्म के बीच में विकर्म की जगह है। विकर्म का अर्थ है, विशेष कर्म। अकर्म तो कर्म ही नहीं है, कर्म कर्म है; विकर्म का अर्थ है, विशेष कर्म। इस शब्द को भी ठीक से समझ लेना चाहिए, दोनों के बीच में खड़ा है।

विशेष कर्म किसे कहते हैं कृष्ण? जहां न कर्ता है, और न कर्म। फिर भी चीजें तो होंगी। फिर भी चीजें तो होंगी ही। आदमी श्वास तो लेगा ही। न कर्म है, न कर्ता है। श्वास तो लेगा ही। श्वास कर्म तो है ही। खून तो गति करेगा ही शरीर

में। भोजन तो पचेगा ही। ये कहां पड़ेंगे? ये विकर्म हैं। ये मध्य में हैं। यहां न कर्ता है, न कर्म है। साधारण मनुष्य कर्म में है, संन्यासी अकर्म में है, परमात्मा विकर्म में है। वहां न कोई कर्ता है, न कोई कर्म है। वहां चीजें ऐसी ही हो रही हैं, जैसे श्वास चलती है। वहां चीजें बस हो रही हैं। 'जस्ट हैपनिंग'।

आदमी के जीवन में भी ऐसा थोड़ा कुछ है। वह सब विकर्म है। लेकिन वह परमात्मा के द्वारा ही किया जा रहा है। आप श्वास ले रहे हैं? आप श्वास लेते होंगे, फिर कभी मर न सकेंगे। मौत खड़ी हो जाएगी और आप श्वास लिए चले जाएंगे। या जरा श्वास को रोक कर देखें, तो पता चलेगा कि नहीं रुकती है। होकर रहेगी। जरा श्वास को बाहर ठहरा दें, तो पता चलेगा नहीं मानती है, भीतर जाकर रहेगी। न हम कर रहे हैं, न हम कर्ता हैं, श्वास के मामले में। जीवन की बहुत क्रियायें ऐसी ही हैं। अकर्म में वह आदमी प्रवेश कर जाता है जो विकर्म के इस रहस्य को समझ लेता है। फिर वह कहता है, फिर नाहक मैं क्यों कर्ता बनूं! जब जीवन का सभी महत्वपूर्ण हो रहा है, तो मैं क्यों बोझ लूं? वह बड़ा होशियार आदमी है, वह 'वाइज़ मैन' है।

वह इस तरह का आदमी है कि मैंने सुना है कि एक आदमी ट्रेन में सवार हुआ और अपने पेटी-बिस्तर को अपने सिर पर लेकर बैठ गया। पास-पड़ोस के यात्रियों ने उससे कहा कि यह पेटी-बिस्तर सिर पर क्यों लिए हो? इनको नीचे रख दो। उस आदमी ने कहा, ट्रेन पर बहुत वजन पड़ेगा। तो यह सोचकर कि मैं अपने सिर पर रख लूं, थोड़ा वजन मैं भी बंटा लूं। यात्री बहुत हैरान हुए। उन यात्रियों ने कहा, तुम पागल तो नहीं हो? क्योंकि तुम अपने सिर पर रखोगे तो भी ट्रेन पर वजन तो पड़ता ही रहेगा। ट्रेन पर वजन पड़ेगा ही और तुम पर नाहक पड़ेगा। तो वह आदमी हंसने लगा। और उस आदमी ने कहा कि मैं तो समझता था तुम सब संसारी हो, लेकिन तुम संन्यासी मालूम पड़ते हो। मैं तो तुम्हें देखकर यह सिर पर रखे था।

वह आदमी एक संन्यासी था। उसने कहा, मैं तो तुम्हें देखकर ही यह सिर पर रखे था, लेकिन तुम भी हंसते हो? पूरी जिंदगी में तुमने वजन कहां रखा है? अपने सिर पर रखा है, या परमात्मा पर छोड़ दिया है? क्योंकि तुम अपने सिर पर भी रखो तो भी परमात्मा पर ही पड़ता है। यह तुम अपने सिर पर क्यों रखे हो? तो उसने कहा कि मैं तो समझा कि यहां संसारी बैठे हैं, इसलिए इनके ढंग से बैठना चाहिए। मुझे क्या पता था कि यहां संन्यासी बैठे हैं! उसने न केवल नीचे रखा वजन, बल्कि वजन के ऊपर बैठ गया। उसने कहा कि अब मैं अपनी ठीक स्थिति में बैठ सकता हूं। यह मेरा ढंग है। लेकिन सोचकर कि तुम सबको अजीब न लगे।

जो विकर्म को समझ लेगा, वह अकर्म में उतर जाएगा। कर्म हमारी स्थिति है, जैसे हम जी रहे हैं। विकर्म हमारी समझ होगी, अकर्म हमारा होना हो जाएगा।

कृष्ण की साधना, उपासना—जो हम नाम देना चाहें—उसमें गहरे में अकर्म है। आपको कुछ करना नहीं है, जो हो रहा है उसे होने देना है। आपके कर्ता को मिट जाने देना है। जिस दिन आपका कर्ता मिटा कि बीच की दीवाल टूट जाएगी और स्मरण आ जाएगा। कर्ता ही आपकी बाधा है। 'द डूअर', वह जो करने वाला है, जो कह रहा है मैं कर रहा हूं, वही पर्त है स्टील की, लोहे की, जिसके नीचे पड़ी दबी है स्मृति। और जब तक आप कर्ता बने रहेंगे तब तक स्मृति नहीं लौटेगी। इसलिए बैठकर राम-राम दोहराने से नहीं होगा, बैठकर यह कहने से कि मैं परमात्मा हूं नहीं होगा, क्योंकि मैं आपसे कहता हूं कि यह आपका कर्ता ही दोहरा रहा है। यह आप ही दोहरा रहे हो, यह आपका कर्ता ही कह रहा है कि मैं हूं। कृपा करके कर्ता को जाने दें।

कैसे जाएगा कर्ता?

विकर्म को समझें। कर्म करते रहें और विकर्म को समझें। कर्म करते रहें और जीवन को समझें। 'द वेरी अंडरस्टेंडिंग'। जिंदगी की समझ बताएगी कि मैं क्या कर रहा हूं—न मैं जन्मता हूं, न मैं मरता हूं, न मैं श्वास लेता हूं, न मुझसे कभी किसी ने पूछा कि आप होना चाहते हैं? न मुझसे कोई कभी पूछेगा कि अब जाने का वक्त आ गया, आप जाना चाहते हैं? न मुझसे कोई कभी पूछता कि कब मैं जवान हो जाता हूं, कब बूढ़ा हो जाता हूं। कोई मुझसे पूछ ही नहीं रहा है, मेरा कुछ होना नहीं है। मैं न रहूं तो क्या फर्क पड़ जाएगा! मैं नहीं था तो क्या फर्क था! चांद-तारे कुछ फीके थे? फूल कुछ कम

खिलते थे? पहाड़ कुछ छोटे थे? बादल कुछ गमगीन थे? सूरज कुछ परेशान था? मैं नहीं था तब सब ऐसा था। मैं जब नहीं रहूंगा तब सब ऐसा रहेगा। जैसे पानी पर खींची गई रेखा मिट जाए, ऐसे मैं मिट जाऊंगा। कहीं कुछ फर्क नहीं पड़ेगा। सब ऐसा ही चलता रहेगा। सब ऐसा ही चलता रहा है। तो मैं नाहक यह 'मैं' को क्यों ढोऊं? जब मेरे बिना सब ऐसा चलता रहेगा तो मैं भी मेरे बिना क्यों न चल जाऊं। जब मेरे बिना कहीं भी कोई फर्क नहीं पड़ेगा, तो मैं ही नाहक मुझमें इस 'मैं' से क्यों फर्क डालूं।

विकर्म की समझ का नाम प्रज्ञा है। विकर्म की समझ का नाम 'विजडम' है। जो विकर्म को समझ लेता, वह सब समझ लेता है। तब कर्म एकदम अकर्म हो जाता है। विकर्म कीमिया है, वह बीच का द्वार है। कर्म से गुजरते वक्त पड़ेगा विकर्म, और अकर्म स्मरण आ जाता है। आपको लाना नहीं पड़ता। जिस स्मरण को आप लाएंगे, वह कर्म होगा। जो स्मरण आएगा, वही आपके कर्ता के बाहर से आएगा; कॉज़्मिक' से आएगा, ब्रह्मांड से आएगा। इसलिए वेद को हम कह सके कि यह अपौरुषेय है। इसका यह मतलब नहीं है कि जिन्होंने लिखा वे आदमी नहीं थे। इसलिए हम अपौरुषेय कह सके कि जो खबरें उन्होंने वेद में दी हैं वे उनके पुरुष से नहीं आई थीं, वे उनके पुरुष के पार से आई थीं। वे उनकी 'पर्सनलिटी' के बाहर से आई थीं, वे उनके होने के आगे से आई थीं, वे 'कॉज़्मिक' खबरें थीं। इसीलिए हम कह सके कि वेद जो है, वह ईश्वर का वचन है।

उसका यह मतलब नहीं है कि वेद ही ईश्वर का वचन है। जब भी किसी के भीतर से व्यक्ति के पार से कोई खबर आती है, वह ईश्वर का वचन होता है। इसलिए मुहम्मद के कुरान को कहा जा सका कि वह ईश्वर का इलहाम है, उसकी तरफ से दिया गया ज्ञान है। इसलिए जीसस कह सके कि मैं तुमसे जो कह रहा हूं वह मैं नहीं कहता, वह परमात्मा ही कह रहा है। इसलिए कृष्ण तो सीधा कह सके कि मैं हूं ही नहीं, परमात्मा ही है। यह सब मैं ही करवा रहा हूं, यह खेल, यह युद्ध, यह सब मैं ही करवा रहा हूं। और तू घबड़ा मत अर्जुन, क्योंकि जिन्हें तू मारेगा, उन्हें मैं पहले ही मार चुका हूं। यह जो कृष्ण इतने सहजता से कह सके कि जिन्हें तू मारेगा उन्हें मैं पहले ही मार चुका हूं। वे मर ही चुके हैं, सिर्फ तेरा काम उन तक खबर पहुंचाने का है कि तुम मर गए हो और कोई बात नहीं है ज्यादा, यह काम मैं कर ही चुका हूं, यह हो ही चुका है; यह जो व्यक्ति बोल रहा है, अब व्यक्ति नहीं है, अब 'कॉज़्मिक' खबर है। यह ब्रह्मांड के गहरे से आई हुई सूचना है कि यह जो सामने तुझे जिंदा दिखाई पड़ते हैं, मैं कहता हूं कि ये मर ही चुके हैं, घड़ी-दो-घड़ी की देर है, उसमें तू निमित्त भर है। तो तू यह मत सोच कि तू मार रहा है। तू मार रहा है, तब तू भयभीत हो जाएगा। कर्ता आया कि भय आया, कर्ता आया कि चुनाव आया, कर्ता आया कि चिंता आई, कर्ता आया कि संताप आया। तो तू यह सोच ही मत, तू यह जान ही मत; तू भूल में पड़ा है, तू यह नहीं कर रहा है। तू 'कॉज़्मिक' के हाथों में, ब्रह्म के हाथों में एक इशारे से ज्यादा नहीं है, एक 'गेस्चर' से ज्यादा नहीं है। करने दे उसे वह जो कर रहा है, तू अपने को छोड़। इसलिए वे कहते हैं, 'सर्वधर्मान् परित्यज्य',...तू सब छोड़-छोड़कर आ। तू अपने को छोड़कर आ, तू अकर्म में आ जा।

अकर्म प्रक्रिया है स्मरण की।

'भगवान श्री, अभी आपने कर्म, अकर्म और विकर्म पर बड़ी गहरी और बड़ी असाधारण चर्चा की। कश्मीर-प्रवास के समय भी जिस समय महेश योगी के विदेशी शिष्यों के सामने आत्म-साक्षात्कार की बात आई थी, उस समय भी आपने उन्हें अकर्म का ही बोध कराया था। इसमें कहीं कोई 'कन्फ्यूजन' नहीं लगता है। लेकिन कृष्ण ने जो कुछ गीता में कहा, उसमें थोड़ा-सा 'कनफ्यूजन' जरूर दिखाई पड़ता है। गीता के चौथे और पांचवें अध्याय में अकर्म-दशा पर कृष्ण ने भी जोर दिया है, किंतु गीता की अकर्म-दशा दोहरी भासित होने के कारण 'कन्फ्यूजन' पैदा करती है। दोहरी इस प्रकार कि पहले कृष्ण कहते हैं कि सब कर्म करके वे कतई किए न हों, ऐसा होना योग बताया है; और कर्म कतई न करते हुए सब कर्म किए हों, ऐसा होना संन्यास है। यह दोहरी बात तत्वतः क्या है, इस पर कुछ प्रकाश डालें।

भगवान श्री, साथ में एक और प्रश्न ले लें।

शांकरभाष्य में, ज्ञानी को कर्म की जरूरत ही नहीं—ऐसा शंकराचार्य प्रस्तुत करते हैं। और कर्मी को ही कर्म करना उनको मंजूर है। और अभी आपने बताया कि हमें कुछ करना नहीं है, तो अर्जुन केवल यंत्र ही नहीं रह जाएगा? उसकी 'इंडिवीजुअॅलिटी' का क्या होगा?'

* कृष्ण कहते हैं, सब कर्म किए हों और फिर भी ऐसा होना कि कर्म किए ही नहीं हैं, योग है। सब कर्म किए हों, फिर भी ऐसा होना कि किए ही नहीं हैं, योग है। अर्थात अकर्ता में प्रतिष्ठित होना योग है। दूसरी बात वे जो कहते हैं, वह इसी बात का दूसरा पहलू है। कुछ भी न करते हुए जानना कि सब कुछ किया है, संन्यास है।

संन्यास और योग एक ही सिक्के के दो पहलू हैं। निश्चित ही पहलू उलटे होते हैं। लेकिन एक ही सिक्के के दो पहलू जुड़े होते हैं और तय करना बहुत मुश्किल है कि पहला पहलू कहां खत्म होता है और दूसरा कहां शुरू होता है। उलटे होते हैं, दोनों की एक-दूसरे की तरफ पीठ होती है, लेकिन अगर हम सिक्के को चीरें-फाड़ें और तय करने जाएं कि सामने वाला पहलू कहां खत्म होता है और पीछे वाला पहलू कहां शुरू होता है, तो हम बड़ी मुश्किल में पड़ेंगे। वे दोनों कहीं खत्म नहीं होते, दोनों बिलकुल ही एकसाथ जुड़े होते हैं। जिसे हम पृष्ठभूमि कह रहे हैं, जिसे हम पिछला पहलू कह रहे हैं, वह अगले पहलू की ही पीठ होती है।

तो अगर हम ज्ञानी को उसके चेहरे की तरफ से पकड़ें तो वह योगी मालूम पड़ेगा और उसकी पीठ की तरफ से पकड़ें तो वह संन्यासी मालूम पड़ेगा। और कृष्ण की दोनों परिभाषाओं में कोई 'कन्फ्यूजन' नहीं है। वे ज्ञानी की दोनों तरफ से परिभाषा कर रहे हैं। वे यह कह रहे हैं कि वह करते हुए न करता है, न करते हुए करता है। और ध्यान रहे, ज्ञानी में ये दोनों बातें एकसाथ ही हो सकती हैं, एक अलग नहीं हो सकती। क्योंकि जो आदमी करते हुए न करता है, वही न करते हुए करता हो सकता है। ये दोनों बातें एक ही चीज के पहलू हैं, और ध्यान रहे, कोई भी सिक्का एक पहलू का नहीं होता, अब तक बनाया नहीं जा सका। दूसरा पहलू होगा ही। कहां से हम पकड़ते हैं, यह हम पर निर्भर करेगा। कृष्ण दोनों तरफ से पकड़ते हैं। और वह अर्जुन को सब तरफ से समझाने की कोशिश कर रहे हैं। वह उसको यह कह रहे हैं कि अगर तू योग में उत्सुक हो गया है तो योगी का यह मतलब है कि करते हुए न करने को उपलब्ध हो जा। अगर तू कहता है कि मुझे योग वगैरह की गहन चर्चा में मत उलझाइये, मैं तो यह देखकर दुख और यह भय और यह मोह पीड़ित हूं, मैं इनको नहीं मारता, मैं संन्यास ले लूंगा, तो वे उससे कहते हैं कि तू संन्यासी ही हो जा, लेकिन संन्यासी का मतलब ही यह है वह कहते हैं कि जो कुछ न करते हुए भी सब करता है।

वह अर्जुन को सब तरफ से घेरा डाल रहे हैं, और कुछ भी नहीं। इसलिए कोई जगह उनके वक्तव्य 'कंट्राडिक्ट्री' मालूम पड़ते हैं। आपके साथ मेरी वही हालत हो जाती है। आपको मैं सब तरफ से घेरा डालता हूं, आप एक तरफ से कहते हैं, यह नहीं, तो मैं कहता हूं जाने दो, चलो दूसरी तरफ से शुरू करें। लेकिन आप कहीं से भी राजी हो जाएं। जहां आप राजी नहीं हुए थे, आखिर में आप पाएंगे कि दूसरी तरफ से राजी होकर आप उस छोर पर भी पहुंच गए हैं जहां आप राजी नहीं हुए थे। अर्जुन कहीं से भी राजी हो जाए, वह योगी होने को राजी हो जाए तो कृष्ण कहते हैं, चलो चलेगा। क्योंकि वे जानते हैं कि एक सिक्के में दो पहलू होते हैं, वह दूसरा पहलू बच नहीं सकता। तुम कहते हो हम सीधा सिक्का लेंगे, लो। उसका उलटा हिस्सा कहां जाएगा, वह तुम्हारे हाथ में पहुंच जाएगा।

एक ताओइस्ट कहानी है, वह मैं आपसे कहूं, उससे खयाल में आ जाएगा—

लाओत्से के फकीरों ने बड़ी अदभुत कहानियां कही हैं। ऐसी कहानियां दुनिया में किसी ने भी नहीं कहीं। एक फकीर है। जंगल में रहता है वह, उसने दस-बीस बंदर पाल रखे हैं। एक दिन सुबह कोई आ गया है जिज्ञासु और उससे ऐसा सवाल पूछा है जैसा सवाल आपने पूछा। उसने कहा है कि कभी आप ऐसा कहते हो, कभी आप ऐसा कहते हो, हम बड़े 'कन्फ्यूजन' में पड़ जाते हैं। सांझ आप कुछ कहते हो, सुबह आप कुछ कहते हो, हम बड़े उलझन में पड़ जाते हैं। तो उस फकीर ने कहा, तू बैठ और देख। उसने अपने बंदरों को बुलाया और उनसे कहा कि सुना बंदरो, आज से तुम्हारे भोजन में परिवर्तन किए देता हूं। बंदरों को रोज सुबह चार रोटियां मिलती थीं। शाम तीन रोटियां मिलती थीं। उसने कहा कि

उलट-फेर किए देता हूं। आज से तुम्हें सुबह तीन रोटियां मिलेंगी और सांझ को चार रोटियां मिलेंगी। बंदर एकदम नाराज हो गए और उन्होंने कहा कि हम बगावत कर देंगे, वह बर्दाश्त के बाहर है, यह परिवर्तन हम नहीं सह सकते। हम तो अपने नियम पर कायम रहेंगे। चार रोटी सुबह चाहिए। उसने कहा, यह नहीं होगा। तीन रोटी मिलेंगी सुबह, चार रोटी शाम मिलेंगी। बंदर हमला करने को उतारू हो गए। उसने कहा, अच्छा भाई ठहरो, तुम चार सुबह ले लो। बंदर बड़े प्रसन्न हुए। उसने उस आदमी की तरफ मुंह फेरा और उसने कहा कि सुनते हो, रोटियां सात ही मिलनी हैं, मगर बंदर तीन सुबह मिलेंगी इससे बहुत नाराज हैं। अभी भी सात ही मिलनी हैं, वे चार सुबह लें कि चार सांझ लें कि तीन सुबह लें कि तीन सांझ लें; लेकिन अब वे प्रसन्न हैं।

अर्जुन को कृष्ण ऐसे ही घेर रहे हैं। वे कभी उसको कहते हैं कि अच्छा तू तीन ले ले। वह कहता है कि यह नहीं हो सकता। तो वे कहते हैं, चार ले ले। रोटियां सात ही हैं। उसको कैसे अर्जुन लेने को राजी होगा, यह अर्जुन पर छोड़ते हैं। इसलिए इतनी लंबी गीता चलती है। वह बार-बार बदलते हैं कि अच्छा यह कर ले। अच्छा तू भक्त हो जा, अच्छा तू योगी हो जा, अच्छा तू कर्मयोग साध ले, अच्छा तू भक्तियोग साध ले, अच्छा नहीं तो ज्ञानयोग साध ले, तू क्या कहता है वही साध ले। मगर वे रोटियां सात हैं। अर्जुन को गीता के आखिर-आखिर तक समझ में आता है कि रोटियां सात हैं, और वह आदमी सात रोटियों से ज्यादा देगा नहीं, फिर कहीं से भी लिया जाए इससे कोई बहुत फर्क नहीं पड़ता।

दूसरे प्रश्न का उत्तर।

शंकर की परिभाषा पक्षपाती की परिभाषा है। शंकर की परिभाषा चुनाव की परिभाषा है। शंकर कर्म के सख्त विरोध में हैं। वे कहते हैं, कर्म ही बंधन है। वे कहते हैं, कर्म ही अज्ञान है। कर्म को छोड़े बिना उपाय नहीं। यहां वे कृष्ण के अकर्म को कर्म का छोड़ना बना लेते हैं कि कर्म छोड़ो। और कर्म के छोड़ने का मतलब भी वे यही लेते हैं कि जो-जो कर्मी का संसार है, जो कर्म का जगत है, उससे भाग जाओ। कर्म के संबंधों से हट जाओ।

ज्ञानी के लिए कोई कर्म नहीं है, यह बात तो सच है। लेकिन शंकर इसे जो व्याख्या देते हैं, वह ठीक नहीं है, अधूरी है। ज्ञानी के लिए कोई कर्म नहीं है, यह बिलकुल ही सच है, क्योंकि ज्ञानी के लिए कोई कर्ता नहीं है। लेकिन 'एम्फेसिस' कर्ता के न होने पर होनी चाहिए—अर्जुन से जो कृष्ण कह रहे हैं। शंकर 'एम्फेसिस' को बदलते हैं। वह कर्म पर 'एम्फेसिस' डालते हैं कि कर्म नहीं होना चाहिए। असल में कर्म के दो हिस्से हैं—कर्ता और कर्म। कृष्ण का पूरा जोर इस पर है कि कर्ता न रह जाए। कर्म तो रहेगा ही। परमात्मा भी कर्म के बिना नहीं है, तो या तो कर्मी है, संसारी है, अज्ञानी है। परमात्मा भी कर्म के बिना नहीं है, क्योंकि यह संसार उसका कर्म है, अन्यथा यह संसार कैसे चलता है। यह कैसे चलता है, क्यों चलता है? इस चलने के पीछे चलने वाली ऊर्जा का हाथ है। तो कर्म के बाहर तो परमात्मा भी नहीं है, ज्ञानी कैसे होगा! जोर है कृष्ण का कर्ता न होने पर। लेकिन संसार को छोड़कर भागने वाला संन्यासी, 'एस्केपिस्ट', पलायनवादी, वह कहेगा—कर्म छोड़ो। और तब शंकर को संसार को माया कहने को मजबूर हो जाना पड़ता है। उनको कहता पड़ता है, यह परमात्मा का कर्म नहीं है, सिर्फ हमारा भ्रम है। नहीं तो मुश्किल पड़ जाएगी। अगर यह परमात्मा का कर्म है—यह फूलों का खिलना और यह पहाड़ों का बनना और मिटना और यह चांद-तारों का चलना और ऊगना और डूबना—अगर यह परमात्मा का कर्म है, तब तो परमात्मा भी संन्यस्त नहीं है। तो फिर आदमी से अपेक्षा क्या करनी है! तो इसलिए शंकर को और दूसरी झंझट में पड़ना पड़ता है।

असल में तर्क की अपनी झंझटें हैं। एक तर्क आपने पकड़ा, तो उसकी 'कोरललीज' हैं। फिर आपको उसकी आखिरी सीमा तक जाना पड़ेगा। तर्क बहुत 'टास्क मास्टर' है। एक तर्क आपने पकड़ा तो वह आपको फिर 'लाजिकल कनक्लूज़न' तक, वह जो तर्क का अंत होगा, वहां तक ले जाएगा। एक बार शंकर ने यह कहा कि कर्म बंधन है, कर्म ही अज्ञान है, और ज्ञानी का कोई कर्म नहीं है, तब फिर मुश्किल हो गई। यह कर्म का विराट जाल! फिर इसको सपना कहे बिना कोई रास्ता नहीं है। यह झूठ है। यह है ही नहीं, यह सिर्फ भास रहा है, यह 'एपीयरेंस' है, यह सिर्फ माया है, यह सिर्फ जादूगरी है, यह ऐसे है जैसे एक जादूगर एक बीज बोता है और आम का वृक्ष हो जाता है और आम लग जाते हैं—न कहीं कोई बीज है, न कहीं कोई आम है, न कहीं कोई वृक्ष है, एक 'हिप्नोटिक ट्रिक' है—वह सिर्फ भास है। लेकिन, बड़े मजे की

बात है कि 'हिप्नोटिक ट्रिक' देखने वालों के लिए झूठ हो, करने वाले के लिए कर्म है। 'हिप्नोटिस्ट' के लिए तो कर्म है ही। 'हिप्नोटिज्म' भी तो करना ही पड़ता है।

शंकर इसलिए जाल में पड़ते जाते हैं। और बड़ी मुश्किल खड़ी हो जाती है कि अब वह क्या करें? अब यह माया को कैसे समझाएं? अगर माया सिर्फ हमारा भ्रम है, हमने पैदा किया है, तो भी कम-से-कम परमात्मा 'अलाविंग' तो होगा ही कि वह हमको 'अलाऊ' करता है। यानी इतना तो कर्म मानना ही पड़ेगा उसका कि वह हमको आज्ञा देता है कि तुम भ्रम देखो। क्योंकि उसकी इतनी आज्ञा भी न हो, तो हम कैसे देख पाएंगे! हम भ्रम देख रहे हैं। हो सकता है कि भ्रम झूठ हो, लेकिन हमारा देखना तो कर्म होगा ही।

इसलिए शंकर छूट नहीं पाते, चक्कर बढ़ता जाता है। और वह बड़ी मुश्किल में पड़ जाते हैं। लेकिन बड़े तार्किक हैं, और गहरी चेष्टा करते हैं यह समझाने की कि कर्म असत्य है, है नहीं। ज्ञानी के लिए कोई कर्म नहीं है। बाकी उनका जोर कर्ता के मिटाने पर उतना नहीं पड़ता जितना कर्म के मिटाने पर पड़ता है। लेकिन क्या मैं यह कह रहा हूं कि शंकर सत्य को नहीं पहुंच सके? नहीं, यह मैं नहीं कह रहा हूं। शंकर सत्य को पहुंच गए। क्योंकि जिस दिन कर्म को आप बिलकुल मिटा देंगे, कर्ता बचेगा कैसे? कैसे बचेगा? क्योंकि कर्ता बच ही तब तक सकता है जब तक कर्म का भाव है। तो शंकर का पूरा 'लाजिक' 'एब्सर्ड' है, गलत है, लेकिन शंकर की अनुभूति गलत नहीं है। इस बहुत गलत-सलत रास्ते से वे पहुंच तो गए। ऐसे भटके, इधर-उधर बहुत चक्कर लगाए, मंदिर के आसपास बहुत दौड़े, तब मंदिर में प्रवेश किया, लेकिन कर गए। कर गए दूसरे कारण से। क्योंकि कर्म को अगर बिलकुल निषिद्ध किया जा सके, कल्पना में भी, ज्ञान में भी अगर यह माना जा सके कि कर्म है ही नहीं, तो कर्ता बचेगा कहां? क्योंकि कर्ता बच सकता है कर्म करने से; इस भाव से कि कर्म है, बच सकता है। तो बिलकुल गलत छोर से यात्रा शुरू की। कृष्ण के छोर से यात्रा शुरू नहीं की।

कृष्ण कह रहे हैं, कर्ता को जाने दो, क्योंकि जब कर्ता चला जाएगा तो कर्म चला जाएगा। ये दोनों एक ही चीज के दो छोर हैं। लेकिन मैं शंकर के मुकाबले कृष्ण को चुनने को राजी हूं। इसलिए राजी हूं कि शंकर की पूरी व्याख्या 'एस्केपिस्ट' बन जाती है। शंकर भगाने वाले बन जाते हैं। और शंकर के भागने वाले को भी उन लोगों पर निर्भर रहना पड़ता है जो भागने वाले नहीं हैं। अगर यह पूरी पृथ्वी शंकर से राजी हो जाए, तो एक क्षण चल नहीं सकता। एक क्षण चलने का उपाय नहीं रह जाएगा। और इसलिए पूरी पृथ्वी राजी नहीं हो सकती। और शंकर भी कितनी ही चेष्टा करें, कर्म को कितना ही माया कहें, वह माया होकर भी शेष रह जाता है। शंकर भी भीख तो मांगने निकलते ही हैं, भिक्षा तो लेते ही हैं, समझाने तो जाते ही हैं, समझाने की चेष्टा तो करते ही हैं। शंकर के विरोधियों ने शंकर का खूब मजाक लिया है। शंकर के विरोधी कहते हैं, तुम किसको समझाते हो? अगर सब माया है, तो काहे भ्रम में पड़ते हो? तुम यह गांव-गांव किसलिए भटकते हो? यह चलना किसलिए? यह समझाना किसलिए? किसको समझा रहे हो, जो नहीं है उसको? कहां जा रहे हो, जो नहीं है वहां? कहां से आ रहे हो, जो नहीं था वहां से? यह भिक्षा का पात्र, यह भिक्षा मांगना, यह भूख, यह प्यास, यह किसी का पूरा करना, यह न करना—शंकर कहेंगे, सब माया है।

एक कहानी मुझे याद आती है। एक बौद्ध भिक्षु जो जगत को माया ही मानता, संसार को झूठा ही मानता, वह एक सम्राट के दरबार में गया। उसने बड़े तर्क दिए और सिद्ध कर दिया कि सब झूठ है। तर्क में एक सुविधा है। तर्क तो सिद्ध कभी नहीं कर पाता कि सत्य क्या है, लेकिन यह सिद्ध कर सकता है कि झूठ क्या है? तर्क यह तो कभी नहीं बता पाता है कि क्या है, तर्क यह जरूर बता पाता है कि क्या नहीं है। तलवार की तरह है—तलवार मार तो सकती है, जिला नहीं पाती। तोड़ तो सकती है, जोड़ नहीं पाती। मिटा तो सकती है, बना नहीं पाती। तो तर्क में एक धार है तलवार जैसी, 'डिस्ट्रक्टिव' है। तर्क ने कभी भी कुछ 'कन्स्ट्रक्ट' नहीं किया, कर नहीं सकता।

सम्राट के दरबार में उसने सब सिद्ध कर दिया कि सब झूठ है। लेकिन सम्राट भी अपने ढंग का आदमी है। उसने कहा कि सब होगा झूठ, लेकिन एक चीज नहीं हो सकती है, वह मेरे पास है। उसे मैं बुलाए लेता हूं। उसके पास एक पागल हाथी है। उसने उस पागल हाथी को बुलवा लिया। महल पर, सड़क खाली कर दी गई और पागल हाथी छोड़ दिया गया और उस गरीब भिक्षु को छोड़ दिया गया, सम्राट छत पर खड़ा है। वह पागल हाथी दौड़ता है, वह भिक्षु भागता है और

चिल्लाता है कि मुझे बचाओ! मैं मरा, मैं मर जाऊंगा, मुझे बचाओ, लेकिन वह हाथी को दौड़ाए चले जाते हैं, वह उसको बिलकुल पकड़वाते भी नहीं, पूरे गांव में दौड़वाते हैं। फिर आखिर हाथी उसे पकड़ लेता है सूंड़ में। वह चिल्लाता है, हाथ-पैर जोड़ता है, रोता है, गिड़गिड़ाता है कि मैं मर जाऊंगा, फिर उसे छुड़ाया जाता है। फिर सम्राट उसे महल के भीतर बुलाता है, फिर उससे पूछता है कि यह हाथी? वह भिक्षु कहता है, सब असत्य है। तुम्हारा रोना? वह कहता है, आप भ्रम में आ गए, सब असत्य, वह मेरा होना असत्य, वह मेरा रोना-चिल्लाना असत्य, वह मेरे मरने का भय असत्य, वह मेरी प्रार्थना असत्य, वह तुम जिनसे प्रार्थना की गई असत्य, वह तुमने जो छुड़वाया असत्य, कुछ सत्य नहीं है।

अब इसके साथ बड़ी मुश्किल है। इसके साथ बड़ी मुश्किल है। अब वह पागल हाथी भी हार गया, अब कोई मतलब न रहा। क्योंकि यह आदमी यह आदमी, मगर है 'कंसिस्टेंट'। वह यह कहता है कि जब सभी असत्य है, तो मेरा रोना कैसे सत्य हो जाएगा? वह कह रहा है, सब असत्य है, बचाने की पुकार असत्य है। हां, वह यह कह रहा है, जब मैं कह रहा हूं कि संसार असत्य है, तो तुमने भ्रम समझा; मेरी बचाने की आवाज भ्रम भी, झूठी थी, माया थी। जो आदमी सारे जगत को माया कहने को राजी है। उसे समझाना बड़ा कठिन है। क्योंकि वह सबको ही कहने को राजी है। शंकर के विरोधी मजाक उड़ाते हैं, लेकिन शंकर को इससे कोई फर्क नहीं पड़ता। शंकर कहते हैं, तुम्हारा यह देखना असत्य है कि मैं समझाने जाता हूं, कि मैं किसी को समझाता हूं, कि कोई समझाता है, कि कोई समझाने वाला है। न कोई समझाने वाला है, न कोई समझने वाला है, सब माया है। जिसने यह कहा सब माया है, उसको अब तर्क का कोई उपाय न रहा।

लेकिन, तर्क में यह कितना ही सही हो जाए, हम जीवन को चाहे माया ही नाम दे दें, लेकिन माया भी है। उसके होने को शंकर इनकार नहीं कर सकते। वह है। रात हम सपना देखते हैं, वह झूठ है, लेकिन वह है। उसके 'एक्जिस्टेंस' को, उसके अस्तित्व को इनकार नहीं कर सकते। सपना कितना ही झूठा हो, है। सांप मुझे रस्सी में दिखाई पड़ा हो, लेकिन दिखाई पड़ा है। यह सवाल नहीं है कि वह है या नहीं, लेकिन मेरा दिखाई पड़ना तो कम-से-कम है। न होगा सांप, रस्सी तो है। न होगी रस्सी, मुझे दिखाई पड़ा, यह तो है। न होगा यह दिखाई पड़ना, जिसे दिखाई पड़ा, वह तो है।

अस्तित्व को हम अंततः निषिद्ध नहीं कर सकते। वह बच ही जाता है। आखिर, आखिर, आखिर। हां, डिकार्ट ठीक कहता है कि हम सब निषेध कर दें, लेकिन आखिर उसको कैसे निषेध करेंगे जो निषेध कर रहा है? 'वी कैन नाट निगेट द निगेटर'। सब असत्य कर दें, लेकिन शंकर? शंकर तो हैं। इसलिए शंकर की जो व्याख्या है, वह अधूरी है, और एक पहलू की है। वह सिक्के के एक पहलू पर जोर दे रहे हैं, दूसरे पहलू का उनको पता नहीं है। और दूसरे को इनकार कर रहे हैं, जबकि सिक्के के दोनों पहलू हैं।

तो शंकर कृष्ण से कम 'कन्फ्यूजिंग' हैं, शंकर कृष्ण से कम भ्रम में डालते हैं। इसलिए शंकर के साथ जो खड़े हैं, वे निभ्रा□त खड़े हो गए। इसलिए शंकर हिंदुस्तान में संन्यासियों का बड़ा आत्मविश्वासी वर्ग पैदा कर सके, वह कृष्ण पैदा नहीं कर सके। सच तो यह है कि शंकर का ही एक निभ्रा□त संन्यासियों का वर्ग खड़ा हुआ। क्योंकि शंकर एक पहलू की बात करते हैं, बिना इसकी फिक्र किए कि दूसरा पहलू अस्तित्व में है। लेकिन दूसरे पहलू के अस्तित्व की भी अगर बात की जाए, तो उसको समझने के लिए बड़ी गहरी समझ चाहिए। इसलिए शंकर संन्यासियों का एक बड़ा वर्ग भी पैदा कर सके, लेकिन नासमझ संन्यासियों को भी बड़ी संख्या में इकट्ठा कर सके। हिंदुस्तान का संन्यास भी शंकर के साथ पैदा हुआ और हिंदुस्तान का संन्यास शंकर के साथ ही मंदबुद्धि भी हुआ है। ये दोनों बातें एकसाथ हुई हैं। क्योंकि कृष्ण के साथ खड़े होने के लिए बड़ी मेधा चाहिए, जो 'कन्फ्यूज्ड' होती ही नहीं, जो 'कंट्राडिक्शन' से 'कन्फ्यूज्ड' होती ही नहीं, जो विरोधों से भ्रम में नहीं पड़ती। हम सब विरोध से भ्रम में पड़ जाएंगे। इसलिए शंकर की कृष्ण की गीता की जो व्याख्या है वह सर्वाधिक लोकप्रिय हुई है। उसका कारण यह है कि शंकर ने पहली दफे गीता को निभ्रा□त कर दिया, उसमें से सब भ्रांतियां अलग कर दीं, साफ-सुथरा कर दिया, सब विरोध छांट डाले, एक सीधी एकरस व्याख्या कर दी। लेकिन मेरा मानना है कि कृष्ण के साथ जितना अन्याय शंकर ने किया उतना किसी और ने नहीं किया। हालांकि यह भी हो सकता है कि अगर शंकर ने टीका न की होती, तो गीता खो गई होती। यह भी हो सकता है। क्योंकि शंकर की टीका ही के कारण गीता सारे जगत में बची है। मगर यह सब है, ऐसा ही है।

'भगवान श्री, शंकर की माया का अर्थ झूठ न होकर परिवर्तनशीलता नहीं हो सकता?'

* अर्थ तो कुछ भी किया जा सकता है। लेकिन शंकर परिवर्तनशीलता को ही झूठ कहते हैं। शंकर कहते ही यह हैं कि वही है असत्य, जो सदा एक-सा नहीं है। वही है मिथ्या, जो कल था कुछ और, आज है कुछ और, कल होगा कुछ और। शंकर की मिथ्या और असत्य की परिभाषा ही परिवर्तन है। शंकर कहते हैं, जो शाश्वत है, सदा है, वही है; वही है, वैसा ही है। जिसमें कभी कोई परिवर्तन नहीं हुआ, जिसमें परिवर्तन हो ही नहीं सकता, वही है सत्य। सत्य की शंकर की परिभाषा शाश्वतता है। 'इटरनिटी' है। और संसार की परिभाषा परिवर्तन है, जो बदल रहा है, जो बदलता जा रहा है, जो एक क्षण भी वही नहीं है जो एक क्षण पहले था।

अब इसका मतलब क्या हुआ? इसका मतलब यह होता है कि जो एक क्षण पहले कुछ और था और एक क्षण बाद कुछ और हो गया—इसका मतलब क्या हुआ—इसका मतलब यह हुआ कि जो एक क्षण पहले था वह भी वह नहीं था, और एक क्षण बाद जो हो गया वह भी वह नहीं है, क्योंकि एक क्षण बाद वह फिर कुछ और हो जाएगा। जो नहीं है, उसी का नाम असत्य है। जो एक क्षण पहले भी वही था, एक क्षण बाद भी वही है, एक क्षण बाद भी वही होगा, जो है ही वही, वही है सत्य। शंकर सत्य और असत्य की जो परिभाषा करते हैं, उसमें परिवर्तन ही असत्य का पर्याय बन जाता है। और अपरिवर्तनीय ही सत्य का पर्याय बन जाता है। लेकिन, मैं जो कह रहा हूं, या कृष्ण जो कहेंगे, वह यह कहेंगे कि परिवर्तन उतना ही सत्य है, जितना अपरिवर्तन सत्य है। कृष्ण यह कह रहे हैं कि परिवर्तन उतना ही सत्य है, जितना अपरिवर्तन सत्य है। क्योंकि वह जो अपरिवर्तित है, परिवर्तन के बिना नहीं हो सकता। और वह जो परिवर्तित हो रहा है, अपरिवर्तित कीली के बिना नहीं घूम सकता। असल में अपरिवर्तित के होने के लिए परिवर्तन जरूरी है। और परिवर्तन के होने के लिए अपरिवर्तित होना जरूरी है।

वह जो 'अनमूविंग' है, वह है ही इसीलिए कि उसके चारों तरफ 'मूविंग' है। कृष्ण के साथ—कृष्ण सारे द्वंद्व को आत्मासात करते हैं सब दिशाओं से। वे यह कहते हैं कि गति का आधार अगति है। अगति का होना गति पर है। अगर हम कृष्ण को समझें, तो उसका मतलब यह है कि सत्य के होने के लिए भी असत्य अनिवार्यता है। नहीं तो सत्य भी नहीं हो सकेगा। सत्य के होने के लिए असत्य वैसी ही अनिवार्यता है, नहीं तो सत्य भी नहीं हो सकेगा। सत्य के होने के लिए असत्य वैसी ही अनिवार्यता है, जैसे प्रकाश के होने के लिए अंधकार अनिवार्यता है। जो विपरीत है वह अनिवार्य है। असल में वे एक ही चीज के दो पहलू हैं, हमारी दिक्कत है कि हम उसको विपरीत मानकर चल पड़ते हैं। वह एक ही चीज के दो पहलू हैं। इसलिए हम पूछते हैं, असत्य आया कहां से? यह क्यों नहीं पूछते हैं कि सत्य आया कहां से? जब सत्य बिना कहीं से आए आ जाता है, तो असत्य को कौन-सी कठिनाई है? यह बड़े मजे की बात है कि ब्रह्मज्ञान पर चर्चा करने वाले लोग निरंतर पूछते हैं, असत्य आया कहां से? और उनमें से एक भी इतनी बुद्धि नहीं लड़ाता कि सत्य आया कहां से? और अगर सत्य आ जाता है बिना कहीं से, तो असत्य को क्या बाधा है? बल्कि सच तो यह है कि असत्य को ज्यादा सुविधा है बिना कहीं से आने के, बजाय सत्य के। सत्य को कहीं से आना चाहिए। असत्य को आने की क्या जरूरत है। जो असत्य ही है, वह बिना कहीं से भी आ सकता है! असत्य का मतलब ही है कि जो नहीं है। उसके आने के लिए क्या मूलस्रोत की जरूरत है?

नहीं, सत्य और असत्य आए कहां से, ऐसा सोचना गलत है। सत्य और असत्य युगपत हैं, 'साइमल्टेनियस' हैं। वे एक ही अस्तित्व के दो पहलू हैं। उनके आने-जाने का सवाल नहीं है। जिस दिन तुम्हारा जन्म आया उसी दिन मौत आ गई, आएगी नहीं। वह जन्म का ही दूसरा पहलू है। लेकिन अभी तुमने एक पहलू देखा, सत्तर साल लग जाएंगे दूसरे को देखने में, यह दूसरी बात है। यह तुम्हारी असमर्थता है कि तुम एक साथ नहीं देख सके। तुमको सिक्का उलटाने में सत्तर साल लग गए। बाकी जिस दिन जन्म आया, उसी दिन मौत आ गई। जिस क्षण सत्य आया, उसी क्षण असत्य आ गया। आ गया की भाषा ही गलत है—सत्य है, असत्य है। 'एक्जिस्टेंस' है, 'नानएक्जिस्टेंस' है। अस्तित्व है, अनस्तित्व है।

शंकर ने एक पहलू पर जोर दिया है, इसके साथ एक दूसरा पहलू भी ध्यान में ले लेना जरूरी है।
शंकर ने जोर दिया कि यह जो दिखाई पड़ रहा है यह माया है। यह एक पहलू था। बुद्ध ने इसके ठीक उलटे पहलू पर जोर दिया जो नागार्जुन में जाकर पूरा हो गया। उसने कहा, जिसको दिखाई पड़ रहा है, वह माया है। तो शंकर की भाषा में संसार झूठ हो गया, नागार्जुन की भाषा में आत्मा झूठ हो गई। नागार्जुन यह कहता है कि जो दिखाई पड़ रहा है, वह जिसको दिखाई पड़ रहा है, इनमें दोनों में मौलिक आधार वह नहीं है जो दिखाई पड़ रहा है, मौलिक आधार वह है जिसको दिखाई पड़ रहा है, वह झूठ है। और सब झूठ उससे पैदा हो रहे हैं। क्योंकि मैं आंख बंद कर लेता हूं, संसार दिखाई नहीं पड़ता, लेकिन मैं आंख बंद करके सपने पैदा कर लेता हूं। आंख बंद कर लेता हूं, संसार नहीं दिखाई पड़ता है, लेकिन मैं आंख बंद करके सपने देखने लगता हूं। असली बुनियादी झूठ मैं हूं। अगर संसार भी न हो, तो मैं सपने पैदा करूंगा। मजे की बात है कि मैं सपने के भीतर भी सपने पैदा कर लेता हूं। आपने ऐसे भी सपने देखे होंगे जिसमें आप सपना देख रहे हैं। बहुत 'मिरेकुलस' है यह बात कि एक आदमी सपना देख रहा है कि वह सपना देख रहा है। जैसे कि जादूगर के डब्बे के भीतर डब्बे होते हैं, ऐसा सपने के भीतर सपने, सपने के भीतर सपने होते हैं। आप ऐसा देख सकते हैं कि मैं एक फिल्म देख रहा हूं, फिल्म में अपनी ही कहानी देख रहा हूं, उस कहानी में मैं सो गया हूं और सपना देख रहा हूं। डब्बे के भीतर डब्बे डाले जा सकते हैं। इसमें कोई अड़चन नहीं है। तो नागार्जुन कहता है कि संसार को किसलिए झूठ कहने की झंझट में पड़े हो, असली झूठ भीतर बैठा हुआ है। नागार्जुन कहता है, वह जो भीतर है, वही झूठ है।
असल बात यह है कि जगत में सत्य और असत्य एकसाथ हैं। अगर किसी ने बहुत जोर दिया कि सत्य ही है, तो उसको असत्य को कहीं-न-कहीं दिखाना पड़ेगा कि वह कहां है। अगर किसी ने जोर दिया कि असत्य ही है, तो उसको दिखाना पड़ेगा सत्य कहां है। कृष्ण की दुविधा बड़ी गहरी है। और जो लोग दुविधा में नहीं होते, अक्सर उथले होते हैं। दुविधा में होना बड़ी गहरी बात है। सौभाग्य से दुविधा मिलती है। दुविधा का मतलब यह है कि जिंदगी को हमने उसकी पूर्णता में देखना शुरू किया है। न हम यह कहते हैं कि सिर्फ असत्य है, हम देखते हैं और पाते हैं कि सत्य और असत्य किसी एक ही चीज के तालमेल हैं। किसी एक ही चीज के स्वर हैं। किसी एक ही बांसुरी से पैदा हुआ अस्तित्व भी है, अनस्तित्व भी है। और जब कोई आदमी इसको ऐसा पूर्णता में देखता है, तब उसकी कठिनाई हम समझ सकते हैं कि वह जो भी वक्तव्य देगा, वह 'कन्फ्यूजिंग' हो जाएंगे। इसलिए कृष्ण के सभी वक्तव्य 'कन्फ्यूजिंग' हैं। और बहुत गहरे दर्शन से ही 'कन्फ्यूजिंग' वक्तव्य दिए जा सकते हैं।

'शंकर का माया को अनिवर्चनीय कहना क्या उनका 'कांप्रोमाइज' करना नहीं है?'

* शंकर को तो 'कांप्रोमाइज' करनी ही पड़ेगी। जो भी अधूरे सत्य पर जोर देगा, उसको समझौता करना ही पड़ेगा किसी-न-किसी रूप में स्वीकार करना पड़ेगा—कहो कि माया है, कहो कि निवृत्ति सत्य है, कहो कि व्यवहार सत्य है—कुछ नाम दो, लेकिन कहीं-न-कहीं स्वीकार, उसको स्वीकृति देनी पड़ेगी, क्योंकि वह है। शंकर भी ऐसा नहीं कह सकते कि हम माया की बात नहीं करते, क्योंकि जो है ही नहीं उसकी क्या बात करनी। उनको भी बात तो करनी ही पड़ेगी। तो शंकर को 'कांप्रोमाइज' करना पड़ेगा! सिर्फ कृष्ण जैसा आदमी 'कांप्रोमाइजिंग' नहीं होता। उसको 'कांप्रोमाइज' की कोई जरूरत नहीं है, क्योंकि वह दोनों को साथ-साथ स्वीकार कर रहा है। वह कह रहा है, दोनों हैं। जो एक को इनकार करेगा उसको किसी-न-किसी गहरे तल पर समझौता बनाना पड़ेगा उस दूसरे से, जिसको उसने इनकार किया है। जो दोनों को स्वीकार करता है, उसको अब समझौते का कोई कारण न रहा। समझौते की कोई जरूरत न रही। ऐसा कहें कि समझौता पहले से ही है।

'भगवान श्री, दुविधा को आपने शुभ कहा। पहले आपने अनिर्णायक स्थिति के विपरीत व किसी-न-किसी पक्ष में होने की अनिवार्यता पर जोर दिया है। कृपया स्पष्ट करें।'

* मैंने कहा कि दुविधा सौभाग्य है। इसका मतलब यह नहीं है कि दुविधा में रहना सौभाग्य है। इसका मतलब है कि जिनको दुविधा पैदा होती है, फिर वह दुविधा के पार जाने की चेष्टा में लग जाते हैं। जिनको होती नहीं पैदा, वे वहीं खड़े रह जाते हैं, वे कहीं जाते नहीं।

तो दुविधा संक्रमण है। दुविधा यात्रा का बिंदु है। दुविधा पैदा होगी तो दुविधा के पार होना पड़ेगा। यह पार होना दो तरह से हो सकता है। या तो किसी पक्ष में हो जाएं नीचे गिरकर, तो दुविधा मिट जाएगी। शंकर से राजी हो जाएं, नागार्जुन से राजी हो जाएं, दुविधा मिट जाएगी। और जो राजी होते हैं, इसीलिए राजी होते हैं कि दुविधा मिट जाती है। झंझट के वे बाहर हो जाते हैं। लेकिन दुविधा वे खोते हैं बुद्धि को खोकर। जिसके पास बुद्धि नहीं है, उसको दुविधा होती ही नहीं। बुद्धि खो दें, दुविधा मिट जाती है। लेकिन मैं मानता हूं यह कि दुविधा को मिटाना महंगा हुआ, दुर्भाग्य हुआ। दुविधा मिटनी चाहिए बुद्धि के और अतिक्रम से, और ऐसे बिंदु पर पहुंचकर मिटनी चाहिए कि जहां से दोनों एक मालूम पड़ने लगें और दुविधा न रह जाए।

दो में से एक का चुनना—एक रह जाएगा, आप दुविधा के नीचे गिर जाएंगे। यह अगर ठीक से कहें, तो यह 'इर्रेशनल' हालत होगी। यह 'एब्सर्ड' हालत होगी, बुद्धि से नीचे गिर गए आप। दुविधा तो मिट गई। पागल इसी तरह अपनी दुविधा मिटाते हैं। बुद्धि छोड़ देते हैं, फिर दुविधा मिट जाती है। 'ट्रांसरेशनल' स्थिति भी है। 'इर्रेशनल बिलो रीजन' है, 'ट्रांसरेशनल अबव रीजन' है। बुद्धि के पार जाकर भी दुविधा मिटती है, लेकिन वहां दोनों एक दिखाई पड़ते हैं, इसलिए मिटती है। वहां विरोध खो जाता है—एक के बचने से नहीं, दो के मिट जाने से, एक ही रह जाने से। इसलिए मैं कहता हूं, दुविधा सौभाग्य है। वह अबुद्धि से बुद्धि में ले जाती है। और सौभाग्य इसलिए है कि उससे बुद्धि के पार बुद्धि-अतीत का द्वार खुलता है।

'भगवान श्री, आपने कहा कि शंकर की व्याख्या अधूरी है। गीता पर लगभग चालीस-पचास व्याख्याएं हैं। क्या कोई व्याख्या पूरी भी है? लोकमान्य तिलक की व्याख्या को क्या आप पूरी कहेंगे? वह 'एस्केपिस्ट' तो नहीं हैं, 'एक्टिविस्ट' हैं और 'मॉरलिस्ट' भी हैं। आप उनके 'एक्टिविजम' को और शंकर के 'सुपरामॉरलिज्म' को, दोनों को एकसाथ मिलाने का प्रयत्न कर रहे हैं क्या?'

* कृष्ण पर कोई टीका पूरी नहीं है। हो नहीं सकती। जब तक कि कृष्ण जैसा व्यक्ति ही टीका न करे।

कृष्ण पर कोई टीका पूरी नहीं है। सब पहलू हैं। और कृष्ण अनंत पहलू हैं। उनमें से जिसको जो प्रीतिकर है, चुन लेता है। शंकर उसी गीता में संन्यास सिद्ध कर देते हैं, अकर्म सिद्ध कर देते हैं। उसी गीता में तिलक कर्म सिद्ध कर देते हैं, कर्मयोग सिद्ध कर देते हैं। शंकर से ठीक उलटा पहलू तिलक चुन लेते हैं। शंकर के पहलू को चुने हुए हजार साल हो गए थे। और हजार साल में शंकर के पलायनवादी पहलू ने हिंदुस्तान की जड़ों को बहुत तरह से कमजोर किया। भगोड़ापन कमजोर करेगा। हिंदुस्तान में जो भी सक्रिय होने की क्षमता थी, उस सबको क्षीण किया। हजार साल के अनुभव ने 'पेंडुलम' को घुमा दिया। जरूरी हो गई कि गीता की कोई व्याख्या हो जो कर्म को प्रश्रय दे और कहे जोर से कि गीता कर्म के लिए ही कहती है। ठीक दूसरे 'एक्स्ट्रीम' पर तिलक ने वक्तव्य दिया। एक पहलू चुना था शंकर ने, अकर्म का—कर्म छोड़ने वाले अकर्म का, तिलक ने दूसरा पहलू चुना कर्म में डूबने वाले का। तो कर्म की व्याख्या तिलक ने की, वह भी उतनी ही अधूरी है।

बहुत-सी व्याख्याएं हैं कृष्ण पर, अंदाजन पचास नहीं हजार, और रोज बढ़ती जाती हैं। लेकिन कोई टीका गीता के साथ न्याय नहीं कर पाती। उसका कारण है कि कोई टीकाकार 'ट्रांसरेशनल' होने की हिम्मत नहीं कर पाता। असल में टीकाकार सदा 'रेशनल' ही होता है। तर्क से पार अगर वे जाएं, तो गीता निर्मित हो जाएगी, टीका निर्मित नहीं होगी। तब गीता बन जाएगी। तब टीका की कोई जरूरत नहीं रह जाएगी। टीका का मतलब ही यह होता है कि जो हमें समझ में नहीं पड़ता, उसे हम समझाने योग्य टिप्पणी दे रहे हैं। टीका का मतलब ही यह होता है, 'कमेंट्री' का का मतलब ही यह होता है कि जो

गीता में आपको समझ में नहीं आता, वह मैं समझाता हूं। तो मैं उसकी एक व्याख्या करूंगा। और जब समझाने के लिए ही व्याख्या करूंगा, तो वह तर्क के पार नहीं जा सकती। तर्क के पार अगर कोई भी बात जाएगी तो वह स्वयं गीता बन जाएगी, 'कमेंट्री' नहीं रह जाएगी।

'आप अभी कह रहे हैं, वह क्या है?'

* एक बात पक्की है कि वह 'कमेंट्री' नहीं है, वह टीका नहीं है।

'और दूसरी बात?'

* दूसरी बात तुम पर छोड़ता हूं। क्योंकि कुछ तुम पर भी छोड़ा जाना चाहिए न!

'भगवान श्री, मेरे पूर्व प्रश्न का एक अंश बाकी रहा लेने से। वह यह कि शंकर का 'सुपरामॉरलिज्म' और तिलक का 'एक्टिविज्म', दोनों को मिलाने से क्या आप मानते हैं कि गीता पूरी हो जाएगी? क्योंकि जिस अति-नैतिकता की बात आप करते हैं, उसकी बात शंकर करते हैं, तिलक नहीं। तिलक घोर नैतिकवादी हैं। और जिस प्रवृत्ति की बात आप करते हैं, उसकी बात तिलक करते हैं, शंकर नहीं, वह निवृत्तिमार्गी हैं।'

* यह बात सच है। शंकर अति-नैतिकवादी हैं, 'सुपरामॉरलिस्ट'। क्योंकि नीतिवादी कर्मवादी होगा। नैतिक धारणा कहेगी, यह करो और यह मत करो। शंकर कहते हैं, सभी कर्म माया है। तो तुम चोरी करो कि साधुता करो, सब कर्म माया है। रात में सपना देखूं कि डाकू हो गया, कि राम में सपना देखूं कि साधु हो गया, सुबह उठकर कहता हूं, दोनों सपने थे। दोनों एक-से बेकार हो गए। इसलिए शंकर के लिए कोई नीति नहीं है, कोई अनीति नहीं है—हो नहीं सकती। चुनाव का कोई उपाय नहीं है। दो सपने में कोई चुनाव होता है? चुनाव तो तभी हो सकता है जब हम दो यथार्थों में चुनाव करते हों। तो चूंकि जगत माया है, इसलिए शंकर के विचार में नैतिकता की कोई जगह नहीं है। शंकर की दृष्टि अति-नैतिक है। वह नैतिकता के पार चली जाती है। अकर्म नैतिकता के पार जाएगा ही। इसलिए जब शंकर की टीका के पहली दफा पश्चिम में अनुवाद हुए, तो लोगों ने उसे 'इस्मारल' ही समझा। उसे समझा कि यह तो बड़ी अनैतिक दृष्टि है। क्योंकि अगर कुछ ठीक नहीं, कुछ गलत नहीं, सभी कर्म एक-सा है और सभी स्वप्न एक-से हैं, तब तो आदमी भटक जाएगा। तब तो आदमी पतित हो जाएगा। तब तो आदमी का क्या होगा? तो पश्चिम में, जो कि हिब्रू विचार पर खड़े हुए लोग हैं, जहां कि सारा धर्म 'डू दिस एंड डू नाट डू दिस', इस पर खड़ा हुआ है, जहां 'टेन कमांडमेंट्स' के आधार पर सारी संस्कृति खड़ी हुई है, जहां धर्म का मतलब है साफ-साफ बताना कि क्या करो और क्या न करो, उनके लिए शंकर की बात अनैतिक मालूम पड़े तो कठिन नहीं है। लेकिन, शंकर की बात अनैतिक नहीं है। क्योंकि अनैतिक का मतलब होता है, नीति के विपरीत चुनाव। शंकर की बात अचुनाव की है, 'च्वॉइसलेस' है। इसलिए अति-नैतिक है। वह यह भी नहीं कहते कि तुम अनैतिक हो जाओ, वह यह नहीं कहते हैं कि तुम चोर हो जाओ। वह यह नहीं कहते कि तुम होने को चुनो, यही कहते हैं कि गलती है तुम्हारी। तुम कुछ होने को ही मत चुनो। तुम न-होने में हो जाओ। यह अति-नैतिक, 'ट्रांसमॉरल' दृष्टि है।

तिलक की दृष्टि नैतिक दृष्टि है, 'मॉरल' दृष्टि है। वे कहते हैं, कर्म में चुनाव है। शुभ कर्म है, अशुभ कर्म है। करने योग्य कर्म हैं, न करने योग्य कर्म हैं। वांछनीय है, अवांछनीय है। और मनुष्य का धर्म 'आट' 'चाहिए' के आसपास निर्मित है। तो तिलक तो कर्मवादी हैं। इसलिए वह जगत को अयथार्थ नहीं कहते, यथार्थ कहते हैं। और यह जो दिखाई पड़ रहा है,

यह माया नहीं है, सत्य है। और इस सत्य के बीच हम जो हैं, निर्णायक हैं, और ठीक और गलत का प्रतिपल चुनाव है। और धर्म का अर्थ ही यही है कि प्रतिपल हम उसको चुनें जो शुभ है। तो तिलक तो ठीक विपरीत व्याख्या में हैं।

प्रश्न यह पूछा गया है कि क्या इन दोनों के मिला देने से पूरी बात हो जाएगी? नहीं। नहीं होगी पूरी बात। उसके कई कारण हैं।

पहला जो सबसे बुनियादी कारण है वह यह है कि अगर हम एक आदमी के हाथ-पैर और हड्डियां सब अलग कर लें और फिर मिलाकर रख दें, तो क्या आदमी पूरा हो जाएगा? नहीं, पूरा नहीं होगा। आदमी पूरा हो तो हड्डियां इकट्ठे में काम करती हैं, हड्डियों को जोड़कर आदमी को पूरा करें, तो पूरा आदमी नहीं आता। 'पार्ट्स' को इकट्ठा करने से 'होल' पैदा नहीं होता। अंश को जोड़ने से पूर्ण नहीं बनता। जोड़ कभी पूर्ण पर नहीं ले जाता। हां, पूर्ण में अंश जुड़े होते हैं, यह बिलकुल दूसरी बात है।

तो जो मैं कह रहा हूं, उसमें तिलक और शंकर समाहित हो जाएंगे। लेकिन तिलक और शंकर को जोड़ने से कृष्ण की पूरी दृष्टि नहीं समझी जा सकती। और भी एक कारण है कि तिलक और शंकर सिर्फ दो दृष्टियां हैं। कृष्ण के बाबत और हजार दृष्टियां भी हैं। लेकिन उन सबको जोड़ने से भी कृष्ण नहीं बनेंगे। जोड़ हमेशा 'मेकेनिकल' होगा, 'आर्गेनिक' नहीं हो पाता। तो एक मशीन को तो हम जोड़कर पूरा बना सकते हैं, लेकिन एक व्यक्तित्व को, जीवंत व्यक्तित्व को हम जोड़कर कभी पूरा नहीं बना सकते। यह बड़े मजे की बात है। यह मजे की बात है, 'मेकेनिकल' जोड़ में और 'आर्गेनिक' जोड़ में, मृत जोड़ में और जीवंत जोड़ में एक बुनियादी फर्क है, जो खयाल में ले लेना चाहिए।

मृत जोड़ अपने अंशों का पूरा जोड़ होता है। जीवंत जोड़ अपने अंशों से थोड़ा ज्यादा होता है। जीवंत जोड़ का मतलब है, जैसे आप हैं, अगर आपके शरीर के हम सारे अंगों का हिसाब-किताब कर लें कि कितना लोहा है आपके भीतर, कितना तांबा है आपके भीतर, कितना 'अल्यूमीनियम' है आपके भीतर, कितना नमक है, कितना पानी है, कितना 'फास्फोरस' है, कितना क्या है वह हम सब जोड़कर निकाल लें, तो एक आदमी के भीतर मुश्किल से तीन-चार रुपये का सामान होता है। इससे ज्यादा नहीं नहीं होता। ज्यादा हिस्सा, कोई नब्बे हिस्सा तो पानी ही होता है। जिसका दाम लगाना फिलहाल ठीक नहीं। बाकी जो 'अल्यूमीनियम', 'फास्फोरस', लोहा इत्यादि सब होता है मिला-जुला कर, वह कोई तीन और चार रुपये, पांच और चार रुपये के बीच होता है। यह सारा अगर हम एक कागज पर रख लें—सब—और इसको जोड़ दें, तो जोड़ तो हो जाएगा लेकिन आप उसमें बिलकुल नहीं होंगे; आप भर नहीं होंगे और सब होगा। क्योंकि आप एक जीवंत व्यक्ति थे, जो इस जोड़ से ज्यादा थे। इस जोड़ के भीतर थे, लेकिन जोड़ ही नहीं थे। इस जोड़ के भीतर मौजूद थे, लेकिन जोड़ ही नहीं थे। यह जोड़ पूरा हो जाएगा और आप नहीं होंगे।

कृष्ण का जो जीवनदर्शन है, वह एक 'आर्गेनिक यूनिटी' है। उससे हजार पहलुओं पर टीकाएं हुई हैं। उस पर रामानुज कुछ और कहते हैं, शंकर कुछ और कहते, निंबार्क कुछ और कहते, अरविंद कुछ और कहते। ये हजारों कुछ-कुछ कहने वाले लोगों को अगर हम सबको इकट्ठा करके रख लें, तो भी वह 'आर्गेनिक यूनिटी' पैदा नहीं होती है जो कृष्ण हैं। हां, सब इकट्ठा हो जाएगा, कृष्ण उसमें नहीं होंगे। हां, इससे उलटी बात जरूर सच है। अगर कृष्ण हों, तो यह सब उसमें होगा। लेकिन इससे कुछ ज्यादा भी होगा। इसलिए शंकर और तिलक के जोड़ने से तो कुछ मामला नहीं बड़ा अगर हम समस्त व्याख्याकारों को, समस्त टीकाकारों को जोड़ लें, तो भी वह पूर्ण से कम होगा और मृत होगा। वह जीवंत नहीं हो सकता। वह जोड़ ही होगा। वह गणित का जोड़ ही होगा। वह 'आर्गेनिक टोटलिटी' नहीं हो सकती।

इसलिए मैं जो कह रहा हूं, वह कृष्ण की कोई व्याख्या नहीं है। मैं कोई उनकी व्याख्या नहीं कर रहा। मुझे उनकी व्याख्या से प्रयोजन ही नहीं है। इसलिए मैं जरा भी चिंतित और भयभीत नहीं हूं कि मेरे वक्तव्यों में विरोध हो जाएगा। होगा ही। क्योंकि वह कृष्ण में है, उसका मैं कुछ कर नहीं सकता। मैं कृष्ण की व्याख्या नहीं कर रहा, कृष्ण को सिर्फ आपके सामने खोल रहा हूं। मैं अपने को उन पर थोपने का कोई उपाय नहीं कर रहा, सिर्फ उनको खोल रहा हूं। वे जैसे हैं—गलत हैं, सही हैं; अनुचित हैं, उचित हैं, जैसे हैं; 'एब्सर्ड' हैं, 'इर्रेशनल' हैं, 'सुपरारेशनल' हैं, जैसे हैं; नैतिक हैं, अनैतिक हैं, जैसे हैं; मुझे उनमें कोई चुनाव नहीं है। जैसे कृष्ण को जीवन में कोई चुनाव नहीं है, ऐसा मैं उनमें कोई चुनाव नहीं कर रहा,

उनको बस खोले चला जा रहा हूं। इसमें मैं बहुत कठिनाई में पडूंगा ही। इसलिए कठिनाई में पडूंगा, जैसे कि कृष्ण की गीता से हजारों साल कठिनाई में पड़े हैं, तो मैं जो भी कहूंगा, वह फिर टीका योग्य होगा; वह टीका योग्य होगा और आप सब उसकी टीका करते हुए लौटेंगे कि मेरा क्या मतलब था? क्योंकि मैं तो सीधा पूरा ही खोले दे रहा हूं। उसमें मैं कोई यह फर्क कर ही नहीं रहा कि यह कहने से कृष्ण की दूसरी बात कहने में क्या कठिनाई होगी, इसका हिसाब ही नहीं रख रहा हूं। दूसरी बात जब होगी तब दूसरी बात कह दूंगा, तीसरी बात जब होगी तब तीसरी कह दूंगा। उनको खोलता चला जाऊंगा, वे जैसे हैं पूरे आपके सामने खुल जाए। तो जो मैं कह रहा हूं, इसीलिए मैंने कहा, वह व्याख्या नहीं है, वह 'कमेंट्री' नहीं है।

'तो फिर आप कृष्ण होकर ही बात कर रहे हैं?'

* होने की जरूरत तब पड़ती है जब कोई न हो। होने की क्या जरूरत है? कोई होने की जरूरत ही नहीं है किसी को? हैं ही।

'भगवान श्री, श्री अरविंद ने जो टीका श्रीमद्‌भगवद्‌गीता पर लिखी है, अभी आपने उनका नाम लिया तो खयाल आया कि आप सृष्टि-दृष्टिवाद, जिसमें सृष्टि पर भार है और दृष्टि-सृष्टिवाद, जिसमें दृष्टि पर भार है—उन दोनों के करीब आ गए। तकलीफ यह है कि अरविंद 'सुपरामेंटल' की जब बात करते हैं कि प्रभु की चेतना नीचे उतरेगी, तब एक 'डुअलिज्म' आ जाता है। वह आ जाता है या नहीं? और रमण महर्षि का अजातवाद चैतन्य महाप्रभु के अचिंत्य भेदाभेदवाद के पास और आपके पास भी आता है कि नहीं? और अरविंद का कृष्ण-दर्शन का वह प्रसंग क्या था?'

* अरविंद 'सुपरामेंटल' की बात करते हैं। अति-चेतन, अति-मनस की बात करते हैं। लेकिन, बात है 'रेशनल'। अरविंद बुद्धि से पार कभी नहीं जाते। वे अगर बुद्धि के अतीत की बात भी करते हैं, तो बुद्धिगत धारणाओं में ही करते हैं। अरविंद निपट बुद्धिवादी हैं। वे जो बात करते हैं, जिन शब्दों, जिन धारणाओं की चर्चा करते हैं, वे सब धारणाएं अरविंद के बुद्धिवाद की धारणाएं हैं। अरविंद के पूरे वक्तव्य में बड़ी संगति है, जो 'सुपरारेशनल' के वक्तव्यों में कभी नहीं होती। बड़ी 'कंसिस्टेंसी' है। बड़ा गणित है, बड़ा तर्क है, जो 'मिस्टिक' के शब्दों में नहीं होता। हो नहीं सकता। 'मिस्टिक' के, रहस्यवादी के शब्द में तो एक शब्द के बाद जो दूसरा शब्द होता है, वह पहले का खंडन कर जाता है। अरविंद कहीं अपना खंडन नहीं करते।
अरविंद एक सुव्यवस्थित 'सिस्टम मेकर' हैं। 'सिस्टम मेकर' कभी भी 'सुपरारेशनल' नहीं होता। हो नहीं सकता है। 'सिस्टम' बनाना हो तो 'रीज़न' से बनती है। और जो 'सुपरारेशनल' होते हैं, सदा गैर-'सिस्टेमेटिक' होते हैं। उनकी कोई 'सिस्टम' नहीं होती। 'सिस्टम' हो नहीं सकती। व्यवस्था होगी कैसे अतर्क्य में? अचिंत्य में व्यवस्था होगी कैसे? इसलिए इस सदी में जितने लोग 'रीज़न' के थोड़े पार गए हैं, वे सब 'फ्रेग्मेंटरी' हैं, 'सिस्टेमेटिक' नहीं हैं। चाहे विट्‌गिंस्टीन हो, चाहे हुसरेर हो, चाहे हाइडिगर हो, मारलुपांटी हो—कोई भी हों, ये सारे-के-सारे लोग 'फ्रेग्मेंटरी' हैं। कृष्णमूर्ति हों, ये सब 'फ्रेग्मेंटरी' हैं। इनकी कोई 'सिस्टम' नहीं है। इनकी कोई 'सिस्टम' नहीं है। ये कोई व्यवस्था नहीं बनाते। इनके वक्तव्य 'एटामिक' हैं, आणविक हैं। और एक वक्तव्य दूसरे वक्तव्य का खंडन कर सकता है, करता है।
अरविंद का मामला बहुत भिन्न है। सच तो यह है कि शंकर के बाद हिंदुस्तान में अरविंद के मुकाबले बड़ा 'सिस्टम मेकर' नहीं हुआ। इतना बड़ा व्यवस्थापक नहीं हुआ है। लेकिन यही उनकी कमजोरी और गरीबी है। यही उनकी दीनता है। क्योंकि वह शब्द और तर्क और सिद्धांत के बड़े माहिर, कुशल खिलाड़ी हैं। लेकिन जिंदगी का असली सत्य इन सबसे पार है। तो वह विभाजन करके रख देते हैं। असल में अरविंद की शिक्षा पश्चिम में हुई—सारी शिक्षा। सीखकर लौटे वे तर्क और गणित। सीखकर लौटे वे पश्चिम के सोने की ॲरिस्टॉटेलियन पद्धति। सीखकर लौटे वे डार्विन का विकासवाद।

सीखकर लौटे वे विज्ञान की तर्क-चिंतन व्यवस्था। सारा मानस उनका पाश्चात्य है। हिंदुस्तान में अरविंद से ज्यादा पाश्चात्य मानस का व्यक्ति नहीं था इस सदी में। फिर पूरब की उन्होंने की व्याख्या, सो जो होना था वह हुआ। पूरब के पास कोई तर्क-व्यवस्था नहीं है। पूरब की गहनतम अनुभूतियां अतर्क्य हैं। पूरब के अनुभव अचिंत्य हैं। पूरब के अनुभव अज्ञात, अनजान के, ज्ञान के अतीत के हैं, जानने वाले के पार के हैं। पूरब का अनुभव रहस्य का है, 'मिस्ट्री' का है। फिर अरविंद पश्चिम का मानस लेकर और पूरब की अनुभूतियों की व्याख्या करने बैठे, सो एक अच्छी व्यवस्था बनी जो कि पूरब का कोई आदमी न बना सकता था। तो उन्होंने सारी बातें कीं, और सारे साधन उपयोग किए चिंत्य के।

लेकिन वे बातें ही हैं, इसीलिए वे चिंत्य के माध्यम से कर सके। अगर अनुभव भी अरविंद का अचिंत्य का हो, तब 'कैटेगरीज' टूट जाती हैं, वे 'कैटेगरीज' में नहीं जी सकते थे। कहीं 'कैटेगरीज' नहीं टूटतीं। यानी मजे की बात यह है कि वे उन चीजों के लिए भी धारणाएं बनाते हैं जिनके लिए कभी धारणाएं नहीं बनाई गई थीं। जैसे 'सुपरामेंटल'। वह बनाते जाते हैं धारणाएं, वह खंड करते जाते हैं, वह ठीक गणित बिठाए चले जाते हैं, वह सारी बात कर देते हैं।

दूसरी बात जो पूछी है, वह भी इस संबंध में खयाल लेने जैसी है।

धर्मों का, समस्त धर्मों का चिंतन एक अर्थ में गैर-विकासवादी है, 'नॉन एवॅलूशनरी' है। समस्त धर्म दो हिस्सों में बंटे रहे हैं। एक हिस्सा है, जो 'क्रिएशन' में मानता है, सृष्टि में मानता है। जैसे ईसाई हैं, मुसलमान हैं, हिंदू हैं, सब सृष्टि में मानते हैं। यह मानते हैं, परमात्मा ने सृष्टि की। और जो लोग सृष्टि में मानते हैं, वे गहरे में विकास में नहीं मान सकते। क्योंकि विकास में मानने का यह मतलब होगा कि परमात्मा ने जब पहले बनाया प्रकृति को, सृष्टि को, तो वह अपूर्ण थी, और फिर धीरे-धीरे उसमें विकास हुआ। पूर्ण परमात्मा अपूर्ण को नहीं बना सकता है। इसलिए सृष्टिवादी विकासवादी नहीं हो पाता। विकास का मतलब है, रोज विकास हो रहा है। सृष्टि का मतलब है, एक क्षण में पूरा-का-पूरा सृजन किया गया है, विकास नहीं हो रहा। जो ऐसा नहीं मानते थे, जैसे जैन या बौद्ध, तो उन्होंने माना कि सृष्टि हुई ही नहीं है। जो है वह अनादि है, उसका कभी सृजन नहीं हुआ। सृजन हुआ ही नहीं।

इसलिए बड़े मजे की बात है, सृष्टि हिंदुओं का शब्द है, प्रकृति जैनों, बौद्धों, सांख्यों का शब्द है। अब सब घोल-मेल हो गया धीरे-धीरे। प्रकृति शब्द हिंदुओं का नहीं है, क्योंकि हिंदू प्रकृति कह ही नहीं सकते। प्रकृति का मतलब है, जो बनाने के पहले से मौजूद है, 'प्रीक्रिएशन', जो बनाने के पहले से भी मौजूद है। जो सदा मौजूद ही है, जिसको कभी बनाया ही नहीं गया। सृष्टि का मतलब है, जो कभी मौजूद नहीं थी और कभी बनाई गई। इसलिए प्रकृति शब्द बड़े और लोगों का है। वह उनका है जो 'क्रिएशन' में मानते ही नहीं। और सृष्टि उनका है, जो मानते हैं किसी क्षण में सृष्टि बनाई गई। इसलिए सांख्य, जैन या बौद्ध चूंकि सृष्टि को नहीं मानते, इसलिए उनके पास स्रष्टा की कोई धारणा नहीं है। जब बनाया ही नहीं गया, तो बनाने वाले का कोई सवाल नहीं है। इसलिए ईश्वर खो गया वहां। उसकी कोई जगह वहां नहीं रही। क्योंकि ईश्वर को बनाने वाले की तरह हमें जरूरत पड़ी थी। और जिन्होंने माना बनाया ही नहीं गया, बात खत्म हो गई। जिन्होंने सृष्टि मानी, उनके पास स्रष्टा है।

अरविंद पश्चिम से धारणा लेकर आए 'एवॅल्यूशन' की। अरविंद की जब शिक्षा हुई तब डार्विन छाया हुआ था यूरोप पर। वह धारणा लेकर आए विकास की। यहां आकर पूर्वी मनस का जब उन्होंने अध्ययन किया और पूर्वी अनुभूतियों का जब उन्होंने—अध्ययन किया मैं कहता हूं, जाना नहीं। अध्ययन उनका गहन है। ज्ञान उनका इतना गहन नहीं है। मनन और चिंतन, उनकी बड़ी तीव्र मेधा है; लेकिन अनुभूति उनकी बहुत क्षीण है। तो जब उन्होंने पूरब का पूरा अध्ययन किया और पश्चिम के मनस और डार्सिन के खयाल को लेकर वे आए, तो जिसको हम कहते हैं, 'क्रास ब्रीडिंग', अरविंद में 'क्रास ब्रीडिंग' हो गई। वर्णसंकर एक विचार पैदा हुआ। वह वर्णसंकर विचार में विकास का सिद्धांत भारत के मनस में जुड़ गया। अब बड़ी तकलीफ हुई। क्योंकि भारत का मनस प्रकृति की, पदार्थ की चिंतना ही नहीं करता, वह चिंतना करता है चित्त की, मनस की, आत्मा की। और पश्चिम से विकास का सिद्धांत लेकर वह आए और भारत के मनस की 'साइकिक' चिंतना का दोनों का जोड़ हो गया, तो 'साइकिक एवॅल्यूशन' का खयाल अरविंद को पैदा हो गया, कि एक मनस का विकास हो रहा है।

इस विकास में एक नई बात उन्होंने जोड़ी, जो बिलकुल उनकी थी और बिलकुल नई है और इसी कारण बिलकुल गलत है। मौलिक बातें सड़ जाती हैं, जड़ हो जाती हैं—अक्सर। क्योंकि एक ही व्यक्ति उनको खोजता है। परंपरागत बातें सड़ जाती हैं, जड़ हो जाती हैं, लेकिन अक्सर गलत नहीं होतीं। क्योंकि करोड़ों लोग उन्हें खोजते हैं। अरविंद का नवीनतम जो खयाल है, जिसकी वजह से उनकी प्रतिष्ठा हुई, वह है—परमात्म-चेतना का अवतरण।

सदा ऐसा ही सोचा गया है कि व्यक्ति उठेगा ऊपर और परमात्मा से मिलेगा। एक ऊर्ध्वगमन होगा। अरविंद कहते हैं, परमात्मा उतरेगा और व्यक्ति से मिलेगा। एक तरह से सोचने पर ये भी एक सिक्के के दो पहलू हैं। असल में, सत्य बहुत बीच में है। और वह सत्य है कि मिलन वहां होता है, जहां हम भी कुछ चले होते हैं और परमात्मा भी कुछ चला होता है। मिलन तो वहीं होता है। हम भी चले होते हैं, वह भी चला होता है। लेकिन पुरानी धारणा हमारे चलने पर जोर देती थी। उसका कारण था। क्योंकि परमात्मा का चलना तो सुनिश्चित है, हमारा चलना ही सुनिश्चित नहीं है। वह तो चलेगा ही, इसलिए उसको छोड़ा जा सकता है, हिसाब के बाहर रखा जा सकता है। हमारे चलने भर की बात है। हम अपने चार कदम को उठा लें, उसके चार कदम उठने ही वाले हैं। इसलिए उसको छोड़ दिया था, खयाल के बाहर रखा था। क्योंकि उसके चलने पर जोर देने का परिणाम कहीं हमारे चलने की कमजोरी न बन जाए।

अरविंद ने दूसरे पहलू से पकड़ा और कहना शुरू किया कि परमात्मा उतरेगा। इसका प्रभाव पड़ा, क्योंकि जो चलने के लिए बिलकुल उत्सुक नहीं थे, उन्होंने कहा यह बड़ी हृदय की बात है। यह लगती है, जंचती है। इसलिए हिंदुस्तान में अरविंद की तरफ जितने लोग दौड़े पिछले वर्षों में, उतना किसी की तरफ नहीं दौड़े। उसका कुल कारण इतना था कि जो भी और गहरे अर्थों में नहीं दौड़ सकते थे, वह पांडिचेरी की तरफ दौड़ने लगे। उन्हें लगा कि यह सस्ता मामला है। पांडिचेरी तो पहुंचा जा सकता है, और उसके बाद परमात्मा उतरेगा, उसके बाद हमें कुछ...परमात्मा के उतरने की बात सच है, लेकिन हमारे चढ़े बिना वह कभी नहीं उतरता। और इसमें एक दूसरी बात ध्यान रखने की है कि चढ़ने के मामले में, मैं चढूंगा तो मुझ पर उतरेगा, आप चढ़ेंगे तो आप पर उतरेगा, लेकिन उतरने के मामले में कैसे तय होगा कि किस पर उतरे? सब पर उतर जाएगा। क्योंकि परमात्मा तो सब पर उतर जाएगा। फिर कोई हिसाब करेगा, चुनाव करेगा कि इस पर उतरूं, इस पर न उतरूं!

तो पांडिचेरी में एक खयाल पैदा हुआ कि अरविंद कोशिश करेंगे और सब पर उतर जाएगा। यह खयाल पैदा हुआ, जो कि लोभ बना—जो अभी भी लोभ जारी है। खयाल यह हुआ कि जब एक पर उतर जाएगा, जैसे कि गंगा उतरी भगीरथ पर। तो फिर भगीरथ पर थोड़े ही उतरी, उतर गई सबके लिए, बह गई। तो भगीरथ का काम अरविंद कर देंगे। और एक दफा परमात्मा उतर गया, तो फिर सब पानी पिएंगे। फिर गंगा के किनारे सब बस जाएंगे।

इस भ्रम ने बड़ा उपद्रव पैदा किया। और मैं मानता हूं, यह बड़ी गलत धारणा है। व्यक्ति को जाना पड़ता है। घटना उतरने की घटती है, लेकिन व्यक्ति को तैयारी करनी पड़ती है। और सामूहिक रूप से कभी परमात्मा उतरेगा, ऐसा मुझे कोई कारण नहीं दिखाई पड़ता। क्योंकि परमात्मा की तरफ से वह उतरने को तैयार ही है। लेकिन समूह कब तैयार होगा? और समूह में आप आदमी ही हैं सिर्फ! उड़ते हुए पक्षी नहीं हैं? पौधे नहीं हैं? जंगल के जानवर नहीं हैं। ये सड़क के किनारे पत्थर नहीं हैं? परमात्मा जिस दिन उतरेगा, उस दिन पत्थर वंचित रहेगा, आपको मिल जाएगा? उस दिन पौधे वंचित रहेंगे, आपको मिल जाएगा? यह सोचना असंभव है।

इसलिए अरविंद की जो धारणा उतरने की है, उसने हमारे लोभ को तो बड़ा सुख दिया, लेकिन वह सार्थक नहीं है। इसलिए पांडिचेरी में जो प्रयोग चल रहा है, उससे ज्यादा व्यर्थ प्रयोग मनुष्यजाति के इतिहास में कभी नहीं चला। एकदम व्यर्थ प्रयोग चल रहा है। लेकिन वह हमारे लोभ के अनुकूल पड़ता है, इसलिए चल सकता है।

अरविंद को सोचते वक्त, दूसरा नाम स्मरण दिलाया है रमण का। रमण अरविंद से ठीक उलटे आदमी हैं। अरविंद बड़े पंडित हैं, तो रमण का पांडित्य से कभी कोई नाता नहीं रहा। अरविंद बड़े जानकार हैं, तो रमण से गैर-जानकार आदमी खोजना मुश्किल है। अरविंद सब जानते मालूम पड़ते हैं, लेकिन रमण अज्ञानी होने की तैयारी में हैं। रमण कुछ जानते हुए नहीं मालूम पड़ते। इसलिए रमण की जिंदगी में जो संभव हो पाया, वह अरविंद की जिंदगी में संभव नहीं हो सका।

अरविंद जानकार बने रहे और रमण जान गए। रमण की जिंदगी में घटना घटी है। लेकिन चूंकि वे जानकार बिलकुल नहीं हैं, इसलिए उनके वक्तव्य एक ऐसे आदमी के हैं जो ज्ञान की भाषा जानता ही नहीं है। ज्ञान मिल गया है, ज्ञान की भाषा नहीं जानता। इसलिए वक्तव्य की दृष्टि से वक्तव्य बड़े कमजोर हैं। तर्क की दृष्टि से बड़े दीन हैं। लेकिन अनुभव की दृष्टि से उनकी समृद्धि का कोई मुकाबला नहीं है। रमण कोई 'सिस्टम' तो नहीं बना सकते, कोई व्यवस्था नहीं दे सकते। रमण के सब वक्तव्य 'एटामिक' हैं, सब आणविक हैं। ज्यादा हैं भी नहीं। क्योंकि रमण के पास कहने को भी नहीं है। थोड़ा-सा कहने को है—वह जितना जाना है। और वह जो जाना है, उसको कहने के लिए भी बहुत शब्द उनके पास नहीं हैं। थोड़े-से शब्द हैं, जिनमें वे उसको कहे चले जाते हैं। इसलिए रमण को तो एक पन्ने पर इकट्ठा किया जा सकता है। एक पन्ना भी बड़ा पड़ सकता है, एक पोस्टकार्ड भी काफी है। लेकिन अगर अरविंद को इकट्ठा करने चलो, तो एक 'लाइब्रेरी' भी छोटी है। और ऐसा नहीं है कि अरविंद जो कह सकते थे वे सब कह गए हैं, अभी उनको कहने के लिए दस-पांच जन्म लेना पड़े। अभी उनके पास कहने को बहुत था।

इसका यह मतलब नहीं है कि उनके पास कहने को बहुत था इसलिए उन्होंने नहीं जाना। नहीं, इससे कोई बाधा नहीं पड़ती। बुद्ध के पास कहने को बहुत है। बुद्ध ने बहुत कहा। बुद्ध रमण जैसे आदमी हैं, अनुभव की तरह; और जानकारी की तरह वे अरविंद जैसे आदमी हैं। इसलिए कहने का उपाय उनके पास बहुत है। महावीर ने बहुत कम कहा है। महावीर का ज्यादा समय मौन में बीता। बहुत कम कहा है। बहुत थोड़े वक्तव्य हैं महावीर के। और जो वक्तव्य भी हैं, बहुत संक्षिप्त हैं। रमण जैसा मामला दिखता है। महावीर ने बहुत नहीं कहा। दिगंबरों के पास तो कोई ग्रंथ ही नहीं है महावीर का। श्वेतांबरो के पास ग्रंथ हैं, वे भी महावीर के पांच सौ वर्ष बाद इकट्ठे किए गए हैं।

'आप रमण को बुद्ध तक इतनी दूर ले जाते हैं। उन्हें कृष्णमूर्ति के निकट रखकर समझाएं जरा।'

* दूर और पास नहीं है कुछ। कृष्णमूर्ति ठीक रमण जैसे व्यक्ति हैं। रमण से और बुद्ध, अरविंद इनको मैंने क्यों तौला, उसका कुछ कारण है। कृष्णमूर्ति ठीक रमण जैसे अनुभव के व्यक्ति हैं, लेकिन अरविंद जैसी जानकारी कृष्णमूर्ति की भी नहीं है। हां, रमण से ज्यादा मुखर हैं। रमण से ज्यादा तर्कयुक्त हैं। लेकिन कृष्णमूर्ति के तर्क और अरविंद के तर्क में बड़ा फर्क है। अरविंद एक तार्किक हैं, कृष्णमूर्ति तार्किक नहीं हैं। और अगर तर्क का उपयोग कर रहे हैं, तो पूरे वक्त तर्क को मिटाने के लिए ही कर रहे हैं। और अगर तर्क की पूरी-की-पूरी चेष्टा है, तो वह अतर्क्य में प्रवेश के लिए ही है। लेकिन जानकार बहुत नहीं हैं। इसलिए मैंने दूर का उदाहरण लिया। बुद्ध से मैंने इसलिए कहा, ताकि आपको दोनों बात खयाल में आ जाए—बुद्ध का अनुभव रमण जैसा और जानकारी अरविंद जैसी। कृष्णमूर्ति का अनुभव रमण जैसा, जानकारी अरविंद जैसी नहीं।

दूसरा फर्क है। रमण बहुत मौन हैं, कृष्णमूर्ति मुखर हैं। इसीलिए कृष्णमूर्ति के भी वक्तव्यों को अगर छांटा जाए तो बहुत ज्यादा नहीं हैं। इसलिए जो कृष्णमूर्ति को सुनते हैं वे अनुभव करेंगे कि वह एक ही चीज को निरंतर चालीस वर्षों से दोहराए चले जा रहे हैं। एक ही बात को दोहराए चले जा रहे हैं। एक पोस्टकार्ड पर उनके वक्तव्य भी इकट्ठे हो सकते हैं। लेकिन वह कहने में ज्यादा विस्तार लेते हैं, तर्क का उपयोग करते हैं। रमण विस्तार भी नहीं लेते। इसको ऐसा समझें कि कृष्णमूर्ति के वक्तव्य तो 'एटामिक' हैं, लेकिन वक्तव्यों के आसपास तर्क का, विचार का, चिंतन का जाल भी खड़ा करते हैं। रमण के वक्तव्य निपट 'एटामिक' हैं, उनके आसपास कोई वक्तव्य का, तर्क का, समझाने का जाल भी नहीं है। रमण के वक्तव्य उपनिषदों जैसे हैं, सीधे 'स्टेटमेंट्स' हैं। हां, उपनिषद कह देते हैं, ब्रह्म है। फिर वह यह भी फिक्र नहीं करता कि क्यों है, है कि नहीं, कैसे है, क्या तर्क है, क्यों है, यह कुछ नहीं। सीधे, 'बेयर स्टेटमेंट्स' हैं। ऐसा, कि है। रमण उपनिषद के ऋषियों से जोड़े जा सकते हैं।

'रमण के अजातवाद पर कुछ कहें।'

* हां, रमण या रमण जैसे और लोग भी कहते हैं, जो है वह कभी जन्मा नहीं, अजात है; यह दूसरा पहलू है एक और बात का, जिसे हम निरंतर कहते हैं लेकिन खयाल में नहीं लेते। सैकड़ों वक्तव्य हैं इस बात के कि जो है वह मरेगा नहीं, अमृत है। अमर्त्य है। इसका दूसरा पहलू है। क्योंकि अमर्त्य वही हो सकता है जो अज्ञात हो, जो जन्मा न हो। तो रमण कहते हैं, जो है, वह जन्मा नहीं है। इसीलिए तो जो है, वह मरेगा नहीं। आप कब जन्मे, आपको पता है?
यह बड़े मजे की बात है, आप कब जन्मे, आपको पता है? आप कहेंगे कि नहीं, पता तो नहीं है। हां, जन्म के लेखे-जोखे हैं, जो दूसरों ने हमें बताए। अगर मुझे कोई न बताए कि मैं जन्मा, तो क्या मुझे पता चल सकेगा कि मैं जन्मा? यह 'इन्फर्मेशन' है, जो दूसरों ने मुझे दी है। दूसरे मुझे कहते हैं कि फलां-फलां तारीख को फलां-फलां घर में जन्मा। अगर यह खबर मुझे न दी जाए तो क्या कोई भी उपाय मेरे पास है, 'इंट्रेंसिक', भीतर, जिससे मैं पता लगा सकूं कि मैं कभी जन्मा? नहीं, आपके पास भीतरी कोई 'एविडेंस' नहीं है कि आप जन्मे। असल में भीतर जो है, वह कभी जन्मा ही नहीं, 'एविडेंस' हो कैसे सकता है? आप कहते हैं कि मैं कभी मरूंगा, लेकिन आपको मरने का कोई अनुभव है? नहीं, आप कहेंगे, दूसरों को हमने मरते देखा। लेकिन समझ लें कि एक आदमी को हम किसी को मरते न देखने दें—इसमें कोई कठिनाई नहीं है—क्या एक ऐसा आदमी जिसको हम किसी को मरते न देखने दें, कभी इस नतीजे पर पहुंच सकेगा—किसी भी कारण से, किसी भीतरी वजह से—कि मैं मरूंगा? नहीं पहुंच सकता। यह भी 'आउटर 'एविडेंस' है। यह भी हमने किसी और को मरते देखा है। लेकिन हमारे भीतर कोई प्रमाण नहीं है, कोई गवाही नहीं है कि हम मरेंगे। इसीलिए शायद इतने लोग मरते हैं, फिर भी हमें खयाल नहीं पैदा होता कि हम मरेंगे। हम मरते जाते हैं, सोचते हैं मर रहा होगा दूसरा कोई। बाकी चूंकि भीतरी कोई गवाही नहीं है कि मैं मरूंगा, न भीतरी कोई गवाही है कि मैं कभी जन्मा। भीतर की गवाही किस चीज की है? भीतर सिर्फ एक गवाही है कि मैं हूं, और कोई गवाही नहीं है।
तो गैर-गवाही की बातें माने जाने के लिए रमण मना करते हैं। वह कहते हैं कि जिसकी पक्की गवाही है, उतनी ही मानना काफी है। मैं हूं, इतनी गवाही है। मैं भी वह कहता हूं कि मैं हूं, उतनी गवाही है। और अगर थोड़े और भीतर प्रवेश करेंगे, तो पाएंगे, मैं भी नहीं हूं। हूं, इतनी ही गवाही है।
कल बात करेंगे।

15 अनंत सागर-रूप चेतना के प्रतीक कृष्ण

'भगवान श्री, श्री अरविंद के कृष्ण-दर्शन के बारे में कुछ कहने को बाकी रह गया था। आपने अहमदाबाद में बताया था कि वह बहुत हद तक मानसिक प्रक्षेपण हो सकता है। तो अरविंद का कृष्ण-दर्शन क्या मानसिक प्रक्षेपण है या 'मिस्टिक' अनुभूति है?
एक दूसरा प्रश्न भी है—अर्जुन यदि सिर्फ निमित्त मात्र हैं, तो वे यंत्रमात्र रह जाते हैं। उनकी 'इंडिविजुअलिटी' का क्या होगा?'

* कृष्ण-दर्शन, या क्राइस्ट का दर्शन, या बुद्ध या महावीर का दो प्रकार से संभव है। एक, जिसको 'मेंटल प्रोजेक्शन' कहें, मानसिक प्रक्षेपण कहें; जबकि वस्तुतः कोई सामने नहीं होता लेकिन हमारे मन की वृत्ति ही आकार लेती है। जबकि वस्तुतः हमारा विचार ही आकर लेता है। जबकि वस्तुतः हम ही बाहर भी रूप के निर्माता होते हैं। मानसिक प्रक्षेपण, 'मेंटल प्रोजेक्शन' से मतलब यह है कि वस्तुतः उस प्रक्षेपण, उस रूप, उस आकृति के पीछे कोई भी नहीं होता। मन की यह भी क्षमता है। मन की यह भी शक्ति है। जैसे रात हम स्वप्न देखते हैं, ऐसे ही हम खुली आंख से भी सपने देख सकते हैं। तो एक तो यह संभावना है।

दूसरी संभावना, कृष्ण-दर्शन की, कृष्ण-रूप के दर्शन की संभावना नहीं है, कृष्ण-आकृति के दर्शन की संभावना नहीं है, दूसरी संभावना कृष्ण-चेतना में डूबे होने की, कृष्ण-चेतना के विस्तार के अनुभव की, कृष्ण-चेतना के साक्षात्कार की संभावना है। जैसा मैंने कल कहा था कि एक तो सागर-रूप कृष्ण और एक लहर-रूप कृष्ण। लहर-रूप कृष्ण का उपयोग उनके सागर-रूप अनुभव के लिए किया जा सकता है। उनके चित्र, उनके प्रतीक, उनकी मूर्ति का उपयोग उनके सागर-रूप दर्शन के लिए किया जा सकता है। लेकिन जब उनका सागर-रूप दर्शन हुआ तब कृष्ण की प्रतिमा विदा हो जाएगी, विलीन हो जाएगी। और कृष्ण की आकृति खो जाएगी, शून्य हो जाएगी। कृष्ण की प्रतिमा का उपयोग हो सकता है उनके विराट दर्शन के प्राथमिक बिंदु की तरह। लेकिन अगर किसी को विराट का तो दर्शन नहीं होता, कृष्ण की प्रतिमा का ही दर्शन होता है, कृष्ण की आकृति का ही दर्शन होता है, तो वह सिर्फ मानसिक प्रक्षेपण है।

तो जिसको कृष्ण-चेतना का दर्शन होगा, उस चेतना का अनुभव आकृति का अनुभव नहीं है। उस चेतना का अनुभव रूप का अनुभव नहीं है। यह सिर्फ नाम की बात होगी कि वैसा आदमी चूंकि कृष्ण को प्रेम करता है, या कृष्ण की आकृति से उसने यात्रा की है, इसलिए इस अनुभव को कृष्ण-चेतना का अनुभव कहेगा। अगर किसी दूसरे आदमी को यही अनुभव हुआ हो—यही होगा अनुभव; बुद्ध की आकृति से भी हो जाएगी, जीसस की आकृति से भी हो जाएगा—तो जीसस से चलने वाला इसको क्राइस्ट का अनुभव कहेगा, कृष्ण से चलने वाला कृष्ण का अनुभव कहेगा, लेकिन यह अनुभव सागर-रूप का है। अरविंद जिस अनुभव की बात कर रहे हैं वह कृष्ण की आकृति और कृष्ण के व्यक्तित्व के अनुभव की बात कर रहे हैं। वे कहते हैं, कृष्ण ही उनके सामने साकार खड़े हैं। ऐसा अनुभव प्रक्षेपण है। 'मेंटल प्रोजेक्शन' है। इसका बड़ा सुख है। इसका बड़ा रस है, लेकिन है यह हमारे मन का विस्तार। यह हमारे मन ने ही चाहा है, यह हमारे मन का ही खेल है, यह हमारे मन ने ही फैलाया और जाना है।

मन से हम शुरू कर सकते हैं, अंत नहीं होना चाहिए। मन से हम शुरू करेंगे ही, लेकिन अंत तो अ-मन पर, 'नो माइंड' पर होना चाहिए। यह बड़े मजे की बात है कि जहां तक रूप है, वहां तक मन होता है। जहां तक आकृति है, वहां तक मन होता है। जहां तक रूप है, वहां तक मन होता है। जहां रूप और आकृति नहीं होती, वहां मन खो जाता है, वहां मन के होने का उपाय नहीं है। मन का भोजन है आकृति, रूप, सगुणता। अगर सगुण खो जाए तो मन भी खो जाता है। और जिस कृष्ण के दर्शन की मैं बात कर रहा हूं, वह मन के रहते नहीं होगा, वह मन के खोने पर होता है।

तो जिसने भी कभी कहा हो कि हां, मैंने कृष्ण को व्यक्तिरूप में जाना और पहचाना और देखा और मिले, यह वे विराट चेतना के पर्दे पर अपने मन की आकृति को 'प्रोजेक्ट' कर रहे हैं। जैसे रात फिल्म के पर्दे पर पीछे 'प्रोजेक्टर' होता है, और फिल्म के पर्दे पर चीजें दिखाई पड़नी शुरू हो जाती हैं जो वहां नहीं हैं, वहां सिर्फ कोरा पर्दा है। ऐसे ही हमारे मन का उपयोग हम 'प्रोजेक्टर' की भांति कर सकते हैं, करते हैं। लेकिन यह अनुभव आध्यात्मिक अनुभव नहीं है, यह अनुभव 'सॉइकिक एक्सपीरियेंस' है, मानसिक अनुभव है। सुख इससे मिलेगा, क्योंकि कृष्ण को जानना, कृष्ण को देख लेना बड़ा तृप्तिदायी होगा। लेकिन यह सुख ही है, यह आनंद नहीं है। और न सत्य की अनुभूति है।

अरविंद पंडित थे, इसलिए अगर मैं कह रहा होऊं कि उनका जो अनुभव है वह 'प्रोजेक्शन' है, ऐसी बात नहीं है, अनुभव का जो ढंग है वह 'प्रोजेक्शन' का है। अनुभव का जो वे चित्रण कर रहे हैं, जो वर्णन कर रहे हैं, वह 'प्रोजेक्शन' का है। और अगर सागर-रूप कृष्ण का अनुभव हो—या सागर-रूप क्राइस्ट का, उसमें बहुत फर्क नहीं पड़ता—तो वह अनुभव कभी खोयेगा नहीं। वह एक बार हुआ कि हुआ। इसके बाद उसके अतिरिक्त कोई अनुभव ही नहीं बचेगा। इसके बाद वृक्षों में, पौधों में, पत्थर में, लोगों में, सब तरफ कृष्ण ही दिखाई पड़ने लगेंगे। लेकिन 'प्रोजेक्शन' तो आएगा और चला जाएगा। वह एक क्षण ऊगेगा और खो जाएगा।

यह भी ध्यान लेने जैसी बात है कि 'प्रोजेक्शन' का जो अनुभव है, मानसिक चित्रों का जो देख लेना है, उसे अरविंद पंडित होने की वजह से नहीं देख पा रहे हैं। क्योंकि पंडित चित्रों को देखने में असमर्थ होता है। अरविंद की एक और दिशा भी है, वह काव्य की दिशा है। अरविंद पंडित ही नहीं, महाकवि भी हैं। और रवींद्रनाथ से कम हैसियत के कवि नहीं हैं अरविंद। और अगर 'नोबल प्राइज' उन्हें नहीं मिल सका तो इसका कारण यह नहीं है कि उन्होंने रवींद्रनाथ से कम हैसियत

की कविता लिखी, उसका कुल कारण यह है कि उनकी कविता दुरूह है और समझ में नहीं आ सकी। 'सावित्री' दुनिया के श्रेष्ठतम महाकाव्यों में एक है। दस-पांच महाकाव्य उसकी कोटि के महाकाव्य हैं। पंडित तो नहीं देख सकता 'प्रोजेक्शन', लेकिन अरविंद का कवि देख सकता है। और अरविंद के भीतर जो कवि की क्षमता है, वही आसान कर देगी उन्हें कि वे कृष्ण को देख लें। उनका कवि-हृदय ही 'प्रोजेक्शन' कर पाता है। प्रक्षेपण जो है, वह कवि-हृदय के लिए आसान है। शुष्क तर्क अकेला अगर उनके जीवन में हो तो यह प्रक्षेपण भी नहीं हो सकता। उन्होंने जो अभिव्यक्ति की है अति बुद्धिवादी शब्दों में, इस कारण नहीं कह रहा हूं कि वे सिर्फ जानकार हैं—क्योंकि अभिव्यक्ति तो तर्क के और बुद्धि के शब्दों में करनी ही होती है—लेकिन ये शब्द किसी पार की कोई खबर नहीं लाते, किसी 'ट्रांसेंडेंस' की कोई खबर नहीं लाते।

हम शब्दों का प्रयोग दो तरह से कर सकते हैं। एक तो शब्दों का प्रयोग हम ऐसा कर सकते हैं जब कि शब्दों का अर्थ शब्द की सीमा के भीतर होता है। जितना बड़ा शब्द होता है उतना ही बड़ा अर्थ होता है। एक शब्द का प्रयोग हम ऐसा कर सकते हैं, जो कभी-कभी करते हैं, जबकि अर्थ तो बड़ा होता है और शब्द छोटा होता है। अरविंद के साथ उलटा मामला है। उनके शब्द बहुत बड़े हैं, अर्थ बहुत छोटा है। अरविंद बहुत बड़े शब्दों का उपयोग करते हैं। लंबे-लंबे शब्दों का उपयोग करते हैं। शब्द से अर्थ अगर ज्यादा हो, तो 'ट्रांसेंड' करता है और 'मिस्ट्री' में प्रवेश कर जाता है। और अगर शब्द अर्थ से बहुत बड़ा हो, तो ज्यादा-से-ज्यादा 'फिलासफी' में, बल्कि 'फिलासफी' भी न कहकर 'फिलालाजी' में—दर्शन में भी नहीं, भाषा-शास्त्र में प्रवेश कर जाता है। शब्द से बड़ा अर्थ जब शब्द लेकर चलता है तो गर्भित हो जाता है, 'प्रेग्नेंट' हो जाता है। अरविंद का कोई शब्द 'प्रेग्नेंट' नहीं है, उसमें कुछ गर्भ नहीं है। उसके पार जाने वाला उसमें कोई सूचक 'ऐरो' नहीं है। ऐसा नहीं है कि शब्द हर क्षण शब्द के पार की सूचना दे रहा हो। अरविंद के शब्दों का सारा उपयोग ऐसा है कि शब्द पूरी सूचना दे रहा है जितना उसमें अर्थ है, बल्कि अर्थ से भी ज्यादा। और कारण हैं उसके।

जैसा मैंने सुबह आपसे कहा कि अरविंद का सारा शिक्षण जहां हुआ वहां उन दिनों जैसा विज्ञान पर डार्विन हावी था, ठीक वैसे 'फिलासफी' पर हीगल हावी था। हीगल ने बड़े-बड़े शब्दों का प्रयोग किया है, जिनमें अर्थ उतना नहीं है। लेकिन इतने जटिल और बड़े शब्दों का उपयोग किया है कि हीगल को पढ़ते वक्त पहला जो असर पड़ता है वह बहुत 'प्रोफाउंडिटी' का है। वह ऐसा लगता है कि बड़ी गहरी बात कही जा रही है। क्योंकि अक्सर हमें जो बात समझ में नहीं आती उसे हम गहरा समझ लेते हैं। वह जरूरी रूप से सच नहीं होती। जो बात समझ में नहीं आती वह जरूरी रूप से गहरी नहीं होती। हालांकि यह जरूर सच है कि जो गहरी होती है, वह आसानी से समझ में नहीं आती। लेकिन इसमें उलटा खेल चल जाता है। तो हीगल ने बड़े कठिन और बड़े दुरूह और लंबे शब्दों का प्रयोग किया है, और जिसको कहना चाहिए बहुत 'ब्रेकेटेड लैंग्वेज' का उपयोग किया है। बड़े कोष्ठक पर कोष्ठक लगाए हैं भाषा में। उसकी वजह से बहुत जाल हो गया है और समझना मुश्किल हो गया है। लेकिन जैसे-जैसे 'स्कालरशिप' आगे बढ़ी वैसे-वैसे हीगल की प्रतिमा छोटी होने लगी, क्योंकि जितना ही समझ में आया उतना ही पाया कि इस आदमी को कहना बहुत कम है, लेकिन कहता बहुत लंबे रास्तों से है। अरविंद का भी कहने का ढंग हीगलियन है। वे हीगल जैसे ही 'सिस्टम मेकर' हैं। तो वह कहते तो बहुत कम हैं, शब्द बड़े उपयोग करते हैं, लंबे उपयोग करते हैं, बहुत लंबा चक्कर लेते हैं।

अभिव्यक्ति तो बुद्धिगत रूप से करनी पड़ेगी, लेकिन अभिव्यक्ति निरंतर ही अपने से पार का इशारा बनती हो तो इस बात की खबर लाती है कि उस आदमी ने शब्दों के पार भी कुछ जाना है। लेकिन सब शब्दों में समा जाता हो, तो इस बात की खबर नहीं मिलती। और फिर, सारा अरविंद को पढ़ जाने के बाद मुंह में जो स्वाद छूट जाता है, वह सिर्फ शब्दों का है। मुंह में जो स्वाद छूट जाता है, वह अनुभव का जरा भी नहीं है। कई बार कोई आदमी बिलकुल न बोले, तो उसकी मौजूदगी भी मुंह में अनुभूति का स्वाद छोड़ सकती है। कई बार कोई बहुत बोले, तो भी मुंह में सिर्फ शब्दों का स्वाद छूट जाता है, अनुभव का कोई स्वाद नहीं छूट पाता है। अभिव्यक्ति तो बुद्धिगत होगी ही, लेकिन जब अनुभूति की अभिव्यक्ति होगी तो वह साथ-साथ बुद्धि को अतीत और अतिक्रमण करने वाली भी होती है। वह हर बार सूचना कर जाती है कि कुछ कहने योग्य था जो नहीं कहा जा सकता है। अरविंद को देखकर ऐसा लगेगा कि जो भी कहने योग्य था

जो नहीं कहा जा सकता है। अरविंद को देखकर ऐसा लगेगा कि जो भी कहने योग्य था उससे भी ज्यादा अरविंद कह सके हैं। इससे तो रवींद्रनाथ का मुझे एक स्मरण आता है, उससे आपकी समझ में आए।

रवींद्रनाथ के मरने के कुछ घड़ियों पहले एक मित्र ने रवींद्रनाथ को कहा कि तुमने तो गा लिया जो तुम्हें गाना था, अब तुम शांति से, सुख से, परमात्मा को धन्यवाद देते हुए विदा हो सकते हो। तुम्हें जो करना था वह तुम कर चुके पृथ्वी पर। रवींद्रनाथ ने आंख खोली और कहा कि कैसी गलत बात कह रहे हो! मैं तो यह प्रार्थना कर रहा हूं परमात्मा से कि अभी तो मैं साज जमा पाया था, बिठा पाया था, ठोंक-पीटकर मृदंग को, सितार को तैयार कर पाया था, और यह विदा होने का वक्त आ गया। अभी मैंने गया कहां? अभी जिसको लोगों ने मेरे गीत समझे हैं, वह केवल साज का ठोंकना-पीटना था। अब साज तैयार हो गया और मेरे जाने का क्षण आ गया। अभी मैं वह कह कहां पाया जो मुझे कहना था!

लेकिन अगर कोई अरविंद से कहे, तो अरविंद यह न कह सकेंगे। अरविंद बिलकुल कह चुके हैं जो उन्हें कहना था। बड़े ढंग से और व्यवस्था से कह चुके हैं। अरविंद और रवीन्द्र में मैं कहूंगा कि रवीन्द्र कहीं ज्यादा 'मिस्टिक' हैं बजाय अरविंद के। ज्यादा रहस्य की तरफ उनके इशारे हैं। अरविंद के इशारे बहुत साफ हैं, 'नान-मिस्टिक' हैं, रहस्य की तरफ नहीं हैं।

एक बात और पूछी है। वह यह पूछी है कि अगर अर्जुन सिर्फ निमित्त मात्र है, और जो होना था वह होना है, जो हो चुका है वही होना है, तो फिर अर्जुन के व्यक्तित्व का क्या होगा? वह तो फिर एक 'इन्स्ट्रूमेंट', एक साधन रह जाएगा?

इसे समझने की कोशिश करेंगे तो बड़ी सरलता से कुछ सत्य दिखाई पड़ेंगे। अगर किसी को 'इन्स्ट्रूमेंट' बनाया जाए, तो उसका व्यक्तित्व नष्ट होता है। लेकिन अगर कोई व्यक्ति 'इन्स्ट्रूमेंट' बन जाए तो उसका व्यक्तित्व खिलता है, नष्ट नहीं होता। अगर कोई दबाव डालकर किसी आदमी को साधन बना दे, तो उस आदमी की आत्मा मर जाती है। लेकिन अगर कोई अपने ही हाथ से समर्पण कर दे और सब छोड़ दे और साधन बन जाए, तो उसकी आत्मा पूरी तरह खिल जाती है। उसका व्यक्तित्व नष्ट नहीं होगा, 'फुलफिल्ड' हो जाता है। जो फर्क है असल में वह यह नहीं है। फर्क इतना ही है कि अगर मेरे ऊपर जबर्दस्ती आप हथकड़ियां डाल दें तो मैं गुलाम हो जाता हूं। और अगर मैं हथकड़ियां उठाकर आपको दे दूं और कहूं कि मेरे हाथ में डाल दें, तो मैं गुलामी का भी नियंता हो जाता हूं। मैं अपनी गुलामी का भी निर्धारक हो जाता हूं। मैं निरंतर डायोजनीज की कहानी कहता हूं, वह आपको कहना अच्छा होगा।

डायोजनीज गुजरता है एक जंगल से। नंगा फकीर, अलमस्त आदमी है। कुछ लोग जा रहे हैं गुलामों को बेचने बाजार। उन्होंने देखा इस डायोजनीज को। सोचा कि यह आदमी पकड़ में आ जाए तो दाम अच्छे मिल सकते हैं। और ऐसा गुलाम कभी बाजार में बिका भी नहीं है। बड़ा शानदार है! ठीक महावीर जैसा शरीर अगर किसी आदमी के पास था दूसरे फकीरों में, तो वह डायोजनीज के पास था। मैं तो यह निरंतर कहता ही हूं कि महावीर नग्न इसलिए खड़े हो सके कि वे इतने सुंदर थे कि ढांकने योग्य कुछ था नहीं। बहुत सुंदर व्यक्तित्व था। वैसा डायोजनीज का भी व्यक्तित्व था। गुलामों ने लेकिन सोचा कि हम हैं तो आठ, लेकिन इसको पकड़ेंगे कैसे! यह हम आठ की भी मिट्टी कर दे सकता है। यह अकेला काफी है। मगर फिर भी उन्होंने सोचा कि हिम्मत बांधो। और ध्यान रहे, जो दूसरे को दबाने जाता है वह हमेशा भीतर अपने को कमजोर समझता ही है। वह सदा भयभीत होता है। ध्यान रखें, जो दूसरे को भयभीत करता है, वह भीतर भयभीत होता ही है। सिर्फ वे ही दूसरे को भयभीत करने से बच सकते हैं, जो अभय हैं। अन्यथा कोई उपाय नहीं। असल में वह दूसरे को भयभीत ही इसलिए करता है कि कहीं यह हमें भयभीत न कर दे। मेक्याबेली ने लिखा है, इसके पहले कि कोई तुम पर आक्रमण करे, तुम आक्रमण कर देना; यही सुरक्षा का श्रेष्ठतम उपाय है। तो डरा हुआ आदमी।

वे आठों डर गए। बड़ी गोष्ठी करके, बड़ा पक्का निर्णय करके, चर्चा करके वे आठों एकदम से हमला करते हैं डायोजनीज पर। लेकिन बड़ी मुश्किल में पड़ जाते हैं। अगर डायोजनीज उनके हमले का जवाब देता तो वह मुश्किल में न पड़ते। क्योंकि उनकी योजना में इसकी चर्चा हो गई थी। डायोजनीज उनके बीच में आंख बंद करके हाथ जोड़कर खड़ा हो जाता है और कहता है, क्या इरादे हैं? क्या खेल खेलने का इरादा है? वे बड़ी मुश्किल में पड़ गए हैं कि अब इससे क्या कहें! उन्होंने कहा कि माफ करें, हम आपको गुलाम बनाना चाहते हैं। डायोजनीज ने कहा, इतने जोर से कूदने-फांदने की क्या जरूरत है! नासमझो, निवेदन कर देते, हम राजी हो जाते। इसमें इतना उछल-कूद, इतना छिपना-छिपाना यह सब

क्या कर रहे हो? बंद करो यह सब। कहां हैं तुम्हारी जंजीरें? वे तो बड़ी मुश्किल में पड़ गए हैं। क्योंकि ऐसा आदमी कभी नहीं देखा था जो कहे—कहां हैं तुम्हारी जंजीरें? और इतने डांटकर वह पूछता है जैसे मालिक वह है और गुलाम ये हैं। जंजीरें उन्होंने निकालीं। डरते हुए दे दीं। उसने हाथ बढ़ा दिए और कहा कि बंद करो। और वे कहने लगे, आप यह क्या कर रहे हैं, हम आपको गुलाम बनाने आए थे, आप बने जा रहे हैं। डायोजनीज ने कहा कि हम यह राज समझ गए हैं कि इस जगत में स्वतंत्र होने का एक ही उपाय है और वह यह कि गुलामी के लिए भी दिल से राजी हो जाए। अब हमें कोई गुलाम बना नहीं सकता है। अब उपाय ही न रहा तुम्हारे पास। अब तुम कुछ न कर सकोगे।

फिर वे डरे हुए उसको बांधकर चलने लगे, तो डायोजनीज ने कहा कि नाहक तुम्हें यह जंजीरों का बोझ ढोना पड़ रहा है। क्योंकि उन जंजीरों को उन्हें पकड़कर उन्हें रखना पड़ रहा है। डायोजनीज ने कहा उतारकर फेंक दो। मैं तो तुम्हारे साथ चल ही रहा हूं। एक ही बात का खयाल रखें कि तुम समय के पहले मत भाग जाना, मैं भागने वाला नहीं हूं। तो उन्होंने जंजीरें उतारकर रख दीं, क्योंकि आदमी तो ऐसा ही मालूम हो रहा था। जिसने अपने हाथ में जंजीरें पहनवा दीं, उसको अब और जंजीर बांधकर ले जाने का क्या मतलब था? फिर जहां से भी वे निकलते हैं तो डायोजनीज शान से चल रहा है और जिन्होंने गुलाम बनाया है, वे बड़े डरे हुए चल रहे हैं कि पता नहीं, कोई उपद्रव न कर दे यह किसी जगह पर, कोई सड़क पर, किसी गांव में। और जगह-जगह जो भी देखता है वह डायोजनीज को देखता है और डायोजनीज कहता है, क्या देख रहे हो? ये मेरे गुलाम हैं। ये मुझे छोड़कर नहीं भाग सकते। वह जगह-जगह यह कहता फिरता है कि ये मुझे छोड़कर नहीं भाग सकते, ये मुझसे बंधे हैं। और वे बेचारे बड़े हतप्रभ हुए जा रहे हैं। किसी तरह वह बाजार आ जाए!

वह बाजार आ गया। उन्होंने जाकर किसी से गुफ्तगू की, जो बेचने वाला था, उससे बातचीत की। कहा कि जल्दी नीलाम पर इस आदमी को चढ़ा दो, क्योंकि इसकी वजह से हम बड़ी मुसीबत में पड़े हुए हैं। और भीड़ लग जाती है और लोगों से यह कहता है कि ये मेरे गुलाम हैं, अच्छा, ये मुझे छोड़कर नहीं भाग सकते। अगर हों मालिक, भाग जाएं। तो इसको छोड़कर कहां भागें हम, कीमती आदमी है और पैसा अच्छा मिल जाएगा। तो उसे टिकटी पर खड़ा किया जाता है और नीलाम करने वाला जोर से चिल्लाता है कि एक बहुत शानदार गुलाम बिकने आया है, कोई खरीदार है? तो डायोजनीज जोर से चिल्लाकर कहता है कि चुप, नासमझ! अगर तुझे आवाज लगाना नहीं आता है तो आवाज हम लगा देंगे। वह घबड़ा जाता है, क्योंकि किसी गुलाम ने कभी उस नीलाम करने वाले को इस तरह नहीं डांटा था। और डायोजनीज चिल्लाकर कहता है कि आज एक मालिक इस बाजार में बिकने आया है, किसी को खरीदना हो तो खरीद ले।

जिस 'इन्स्ट्रूमेंटालिटी' में, जिस यांत्रिकता में हम यंत्र बनाए जाते हैं, जहां हमारी मजबूरी है, जहां हम गुलाम की तरह हैं, वहां तो व्यक्तित्व मरता है। लेकिन कृष्ण अर्जुन से यह नहीं कह रहे हैं कि तू यंत्रवत बन जा। कृष्ण अर्जुन से यह कह रहे हैं कि तू समझ। इस जगत की धारा में तू व्यर्थ ही लड़ मत। इस धारा को समझ, इसमें आड़े मत पड़, इसमें बह। और तब तू पूरा खिल जाएगा। अगर कोई आदमी अपने ही हाथ से समर्पित हो गया है इस जगत के प्रति, सत्य के प्रति, इस विश्वयात्रा के प्रति, तो वह यंत्रवत नहीं है, वही आत्मवान है। क्योंकि समर्पण से बड़ी और कोई घोषणा अपी मालकियत की इस जगत में नहीं है।

इस बात को थोड़ा ठीक से समझ लेना।

समर्पण से बड़ी घोषणा इस जगत में अपनी मालकियत की और दूसरी नहीं है। क्योंकि अगर मैं समर्पित करता हूं तो इसका मतलब ही यह है कि मैं अपना मालिक हूं और समर्पित कर सकता हूं। तो इससे अर्जुन यंत्रवत नहीं हो जाता, इससे अर्जुन आत्मवान हो जाता है। और उसका व्यक्तित्व पहली दफे पूरी निश्चेष्टा में, 'एफर्टलेसली' खिलता है।

'भगवान श्री, हम फिर लौटकर अरविंद के कृष्ण-दर्शन पर आ रहे हैं। आपने बताया कि वह उनका आत्मप्रक्षेपण लगता है। लेकिन, आपने एक बार बताया था कि आज भी लामा-पद्धति के अनुसार एक ऐसा दिन आता है जबकि कुछ अधिकारी लामा बुद्ध के साथ आज भी संपर्क स्थापित करते हैं। एक बार और भी जब आप गांधी पर बोल रहे थे, तब किसी ने आपसे प्रश्न किया था कि ऐसी बात गांधी के संबंध में कैसे कहते हैं? क्या गांधी ने ऐसा कहा? तो आपने कहा

था कि मैं यह बात गांधी से पूछकर कह रहा हूं। तीसरी बात और। लामा-पद्धति के बारे में ऐसा भी पढ़ने में आया है कि अब भी तिब्बत में कुछ वर्ष पूर्व तक ऐसे लामा थे जो कि जीवित अवस्था में भी सूक्ष्म-शरीर से दूसरे स्थान पर पहुंचकर स्थूल-रूप से अपने दर्शन देते थे और वापस अपने स्थान पर आ जाया करते थे। इन बातों के बारे में मैं आपसे कुछ जानना चाहता हूं।'

* इस संबंध में दो-तीन बातें समझ लें।

एक तो, ऐसा मैंने कहा है कि बुद्धपूर्णिमा के दिन, जिस हिमालय की श्रृंखलाओं में हम बैठे हैं, इसी हिमालय के किसी शिखर पर बुद्धपूर्णिमा के दिन एक विशेष घड़ी में बुद्ध के व्यक्तित्व का दर्शन होता है। पांच सौ लामाओं से ज्यादा उस पर्वत शिखर पर कभी नहीं हुए हैं। उन पांच सौ लामाओं में से जब एक कम होता है, तभी एक नए लामा को जगह मिलती है। लेकिन इसमें और कृष्ण के दर्शन में, जो अरविंद को हुए, तभी एक नए लामा को जगह मिलती है। लेकिन इसमें और कृष्ण के दर्शन में, जो अरविंद को हुए, बुनियादी फर्क है। कृष्ण के दर्शन में अरविंद चेष्टारत हैं। इस दर्शन में बुद्ध चेष्टारत हैं, लामा नहीं। लामा सिर्फ मौजूद होते हैं।

इस फर्क को बहुत ठीक से समझ लेना चाहिए।

यह बुद्ध का आश्वासन है कि बुद्धपूर्णिमा के दिन फलां-फलां पर्वत पर रात्रि के इतने क्षणों में वे प्रगट होंगे। यह बुद्ध का सागर-रूप जो है, इस रात की इस घड़ी में फिर लहर बनेगा। लेकिन इसमें लामा कुछ भी नहीं कर रहे हैं। उनका कोई 'पार्ट' नहीं है इसमें। एक फर्क।

दूसरा फर्क, अरविंद का दर्शन अकेले में हुआ दर्शन है। 'प्रोजेक्शन' में और इसमें बुनियादी फर्क है। ये पांच सौ लोग इकट्ठा दर्शन करते हैं। 'प्रोजेक्शन' हमेशा 'पर्सनल' होता है। उसमें दूसरे आदमी को 'पार्टिसिपेट' नहीं करवाया जा सकता। अगर अरविंद को जिस कृष्ण के दर्शन हो रहे हैं, आप कहें कि हम भी इस कमरे में आ जाएं और हमको भी करवा दें, तो वह कहेंगे, यह नहीं हो सकता। यह मुझको ही होता है, इसको दूसरे आदमी के साथ भागीदारी में नहीं देखा जा सकता। लेकिन पांच सौ व्यक्तियों के सामने जब कोई चीज प्रगट होती है, तो इसको व्यक्ति-मन का 'प्रोजेक्शन' नहीं कह सकते। और दूसरी बात यह कि पांच सौ लोग 'टैली' करते हैं कि हां ठीक, ठीक घड़ी पर, ठीक समय पर जो दिखाई पड़ा है वह, जो सुनाई पड़ा है वह, इसके पांच सौ गवाह होते हैं। अरविंद के अकेले वह खुद ही गवाह हैं। उससे भी पहले जो मैंने बात कही, उस कृष्ण-दर्शन में अरविंद की सतत चेष्टा है। उसमें पूरा प्रयास है कि कृष्ण का दर्शन कैसे हो! इसमें कोई चेष्टा नहीं है। इसमें एक घड़ी पर एक आश्वासन है, जो पूरा होता है। एक लहर जो पीछे सागर में उठी थी, वायदा कर गई है कि फलां-फलां घड़ी तुम इस तट पर इकट्ठे हो जाना, मैं फिर उठूंगी।

'वह 'कलेक्टिव आटो-सजेशन' हो सकता है।'

* इसके कई कारण हैं कि नहीं हो सकता। क्योंकि यह जो पांच सौ की सीमित संख्या है, इसमें हर व्यक्ति प्रवेश नहीं पाता। और सिर्फ वे ही लोग प्रवेश पाते हैं जो अपने अचेतन चित्त को जानने में समर्थ हो गए हैं। वह उसकी पात्रता का नियम है। जब तक अचेतन चित्त पर हमारी अपनी सामर्थ्य नहीं है, तब तक 'कलेक्टिवली' हम 'हिप्नोटाइज्ड' हो सकते हैं। लेकिन जिस दिन मेरे अपने अचेतन चित्त का मुझे पता हो गया, उस दिन मुझे 'हिप्नोटाइज्ड' नहीं किया जा सकता। उस दिन कोई उपाय नहीं, क्योंकि मेरे भीतर वह कोई हिस्सा नहीं रहा जहां सुझाव डालकर और मेरे सामने कोई 'प्रोजेक्शन' करवाया जा सके। इसलिए एक लामा के हटने पर ही दूसरा लामा चुना जाता है। और वह चुनाव भी बड़ी मुश्किल का चुनाव है।

लामा का चुनाव बड़ी मुश्किल का चुनाव है और उसके बड़े अजीब नियम हैं। एक लामा मरता भी है...अभी यह दलाई लामा जो आज हैं, यह पिछले दलाई लामा की ही आत्मा हैं...पिछला दलाई लामा जब मरता है, एक दलाई लामा जब

मरता है तो वह अपना वक्तव्य छोड़ जाता है कि अगली बार इस-इस शरीर के ढंग में मैं प्रकट होऊंगा, तुम खोज लेना। और एक अजीब बात है कि एक छोटा-सा सूत्र छोड़ जाता है। उस सूत्र की पूरे तिब्बत के गांव-गांव में बैंड पीटकर घोषणा की जाती है। उस सूत्र का जो बच्चा जवाब दे देता है—बहुत मुश्किल है वह। दलाई लामा एक मरेगा, तो कितने वर्ष बाद तिब्बत के गांव-गांव में वह सूत्र घुमाया जाए, इसकी वह सूचना कर जाएगा। क्या-क्या चिह्न उस लड़के पर होंगे, इसकी सूचना कर जाएगा। और इसका उत्तर सिवाय इस दलाई लामा के किसी को भी पता नहीं है। वह उत्तर लिखकर रख जाएगा, वह सब 'सील्ड' होगा। और जब कोई बच्चा उसका उत्तर दे देगा और सारे चिह्न मिल जाएंगे, तब वह 'सील्ड' उत्तर खोला जाएगा। अगर वह उत्तर वही है जो इस बच्चे ने दिया है, तो गवाही होगी कि यह दलाई लामा के योग्य हो गया, इसको दलाई लामा की जगह पर बिठा दिया जाए। यह उसकी ही आत्मा, जो उत्तर लिखकर गई थी, उत्तर दे रही है। तो तिब्बती लामाओं की परंपरा के अपने बड़े अजीब सूत्र हैं। यह जो एक आदमी खाली हो जाएगा, इस खाली आदमी को खोजने के नियम हैं। और इस पर सब तरह के प्रयोग करके यह जांचने की कोशिश की जाएगी कि यह आदमी 'हिप्नोटाइज्ड' तो नहीं हो सकता। अगर यह हो जाता है, तो यह पात्र नहीं होगा। इसलिए 'कलेक्टिव हिप्नोसिस' का कोई उपाय नहीं है।

फिर कुछ भी किया नहीं जाता। सिर्फ ये पांच सौ लामा एक खास घड़ी में, एक खास क्षण में मौन चुपचाप खड़े हो जाते हैं और घटना घटती है। न कोई सुझाव दिया जाता, न कोई बात की जाती, न कोई चीत की जाती है। यह बहुत भिन्न मामला है। यह अरविंद के कृष्ण-दर्शन का मामला नहीं है।

दूसरी बात, जैसा मैंने कहा कि उन आत्माओं से जिनके शरीर तो छूट गए लेकिन जो अभी सागर-रूप नहीं हो गई हैं, संबंध स्थापित किए जा सकते हैं। जो आत्माएं शरीर तो छोड़ चुकी हैं, लेकिन अभी सागर-रूप में खो नहीं गई हैं, अशरीरी जिनका व्यक्तित्व है, उनसे संबंध स्थापित किए जा सकते हैं। उसमें कोई कठिनाई नहीं है। उसमें जरा भी कठिनाई नहीं है।

कृष्ण अशरीरी आत्मा नहीं हैं, सागर-रूप हो गए हैं। गांधी अशरीरी आत्मा हैं। साधारण रूप से जो लोग भी मर जाते हैं, इन सबसे संबंध स्थापित किए जा सकते हैं। उसके अपने नियम, अपनी विधि, अपने 'टेक्नीक' हैं। इसमें बहुत कठिनाई नहीं है। यह बड़ी सरल-सी बात है। कई बार ऐसी आत्माएं अपने स्वजनों से खुद भी संबंध स्थापित करने की चेष्टा करती हैं। हम घबड़ा जाते हैं उससे, हम परेशान हो जाते हैं उससे। जिनको हमने बहुत प्रेम किया है, उनको भी हम अशरीर देखकर प्रेम करने को राजी न होंगे। जिन्हें हमने बहुत चाहा है, वे भी कल अगर शरीर के बिना हमारे द्वार पर उपस्थित हो जाएं तो हम दरवाजा बंद करके पुलिस को चिल्लाएंगे कि हमें बचाओ! क्योंकि हमने शरीर को ही पहचाना है। उससे गहरी तो हमारी कोई पहचान नहीं है।

जो आत्माएं शरीर के बाहर हैं, लेकिन नए जन्मों की तलाश में हैं, उनसे संबंध स्थापित करना बहुत सरल-सी बात है। न उसमें 'प्रोजेक्शन' का सवाल है, न उसमें उनके प्रकट होने का सवाल है, सिर्फ उनके पास शरीररूपी यंत्र नहीं रहा, बाकी उनके पास सारे यंत्र हैं। इसलिए आपको उनसे संबंध स्थापित करने का थोड़ा-सा खयाल हो तो बड़ी आसानी से कर सकते हैं। यहां हम इतने लोग बैठे हैं, यहां ऐसा नहीं है कि हम इतने ही लोग बैठे हैं। जितने दिखाई पड़ते हैं, उतने तो बैठे ही हैं, जो नहीं दिखाई पड़ते हैं वे भी मौजूद हैं, और उनसे अभी तत्काल, अभी संबंध स्थापित किया जा सकता है। सिर्फ आपको 'रिसेप्टिव' होने की जरूरत है। कमरा बंद कर लें और तीन आदमी कमरे में सिर्फ आंख बंद करके, तीनों हाथ जोड़कर बैठ जाएं, और इतनी ही प्रार्थना कर लें कि इस कमरे में कोई आत्मा हो तो वह अपनी सूचनाएं दे। आप जो सूचनाएं उसको कह दें, वह देना शुरू कर देगी। आप इतना ही कह दें कि यह टेबल पर जो पेपरवेट रखा है, यह उछलकर जवाब देने लगे, तो आप दो-चार दिन में पाएंगे कि आपका पेपरवेट उछलकर जवाब देने लगा। आप यह कह सकते हैं कि दरवाजे पर खटखट करके आवाज दे वह आत्मा, तो दरवाजे पर आवाज हो जाएगी। फिर इसको आप आगे बढ़ा सकते हैं। यह बहुत कठिन नहीं है। क्योंकि आत्माएं चौबीस घंटे चारों तरफ मौजूद हैं। और ऐसी आत्माएं भी चारों तरफ मौजूद हैं जो हमेशा 'विलिंग' हैं, जो अगर आप कुछ कहें तो करने को सदा तत्पर हैं। जो बड़ी उत्सुक हैं कि आप

किसी तरह का संबंध उनसे स्थापित करें। जो 'कम्यूनिकेशन' के लिए बड़ी आतुर हैं। जो कुछ कहना चाहती हैं, लेकिन उनको कहने का उपाय नहीं मिल रहा है। क्योंकि उनके और आपके बीच शरीर का ही 'कम्यूनिकेशन' का माध्यम था, वह टूट गया है और दूसरे माध्यम का हमें कोई पता नहीं है। इसमें अड़चन नहीं है। यह बहुत सीधी-सी, सरल-सी, प्रेतात्म-विद्या का हिस्सा है।

यह जो पूछा गया है कि क्या, जैसा कहा जाता है, एक शरीर से आत्मा दूर जाकर वापस लौट आ सकती है? बिलकुल ही लौट आ सकती है। जा भी सकती है। क्योंकि शरीर से हमारा होना, शरीर में हमारा होना है। उससे बाहर की यात्रा सदा संभव है। उसके अपने मार्ग, अपनी विधियां हैं। शरीर के बाहर हुआ जा सकता है, यात्रा की जा सकती है, दूर तक जाया जा सकता है, वापस लौटा जा सकता है। कई बार आकस्मिक रूप से भी वैसा हो जाता है। जो आपको कुछ पता नहीं होता। ध्यान के किसी गहरे क्षण में आप अचानक कई बार ऐसा अनुभव कर पाएंगे कि आपको लगेगा आप शरीर के बाहर हो गए हैं और अपने ही शरीर को देख रहे हैं। फिर उस सबके विस्तार हैं, पर वह अलग बात है। उस पर कभी अलग ही हम इकट्ठे मिलें, तो प्रेतात्म-विद्या पर सारी बात की जा सकती है।

'भगवान श्री, रहस्य-विद्या के अतिरिक्त बौद्धिक स्तर पर भी आत्मा को समझने का और पुनर्जन्म का कोई प्रमाण है? यानी दार्शनिक रूप से भी क्या हम इसे सिद्ध कर सकते हैं, बिना साधना में गए, कि आत्मा है और पुनर्जन्म होता है? भगवान श्री, जो आत्मा होश में मरती है, उनको भी पता रहता है पूर्व-जन्म का। इन प्रेतात्माओं को जो पता चलता है अपने पूर्वजन्म का, तो क्या ये सब होश में मरे हुए होते हैं?'

* जो व्यक्ति मरता है, उसका सिर्फ शरीर ही मरता है, उसका चित्त नहीं मरता। उसका मन नहीं मरता, वह उसके साथ जाता है। और थोड़े समय तक, जैसे हम सुबह जब स्वप्न से जागते हैं तो थोड़े समय तक स्वप्न याद रहता है, दोपहर होते-होते तिरोहित हो जाता है। सांझ होते-होते कुछ याद नहीं रहती कि क्या स्वप्न था। जब लेकिन स्वप्न से हम एकदम उठते हैं तब स्वप्न का पिछला हिस्सा थोड़ा-सा हमें याद होता है, हालांकि स्वप्न हमने बेहोशी में देखा है। स्वप्न हमने होश में नहीं देखा। लेकिन जब नींद टूटने के करीब होती है तो थोड़ा-सा होश आने लगता है। और उस होश में जितना स्वप्न का अंकन, जितने भी संस्कार छूट जाते हैं, वे हमें जागने पर याद रहते हैं। लेकिन दोपहर होते-होते दोपहर की धूप खिलते-खिलते वे सब विदा हो जाते हैं, सांझ को हमें कोई स्वप्न याद नहीं रह जाता।

प्रेतात्मा, जैसे ही कोई व्यक्ति शरीर को छोड़ता है, थोड़े समय तक—और यह प्रत्येक व्यक्ति की याददाश्त का समय भिन्न-भिन्न होगा—उसे थोड़े समय तक अपने स्वजन, अपने प्रियजन याद रहते हैं। इन स्वजन और प्रियजनों को भुलाने के लिए बहुत उपाय किए गए हैं। आदमी मरा नहीं कि हम उसकी लाश को तत्काल मरघट ले जाना चाहते हैं। हम उसकी 'आइडेंटिटी' को तत्काल नष्ट करना चाहते हैं। क्योंकि अब कोई अर्थ नहीं है कि वह हमें याद रखे। और यह शरीर जितनी देर रखा जा सके, उतनी देर तक वह हमें याद रख सकेगा, क्योंकि इसी शरीर के माध्यम से उसकी सारी स्मृतियां हमसे हैं। यह शरीर बीच का जोड़ है। इसको हम ले जाते हैं। एकदम से आदमी मरता है तो थोड़ी देर तक तो उसे पता ही नहीं चलता है कि मैं मर गया हूं। क्योंकि भीतर तो कुछ मरता नहीं। थोड़ी देर तक तो उसे ऐसा ही अनुभव होता है कि क्या कुछ गड़बड़ हो गई, शरीर अलग मालूम पड़ रहा है, मैं अलग हो गया हूं! हां, जो लोग ध्यान में गए हैं, उन्हें यह तकलीफ नहीं होती है, क्योंकि इस अनुभव से वह पहले गुजर गए होते हैं। मरने पर अधिकतम लोगों को बड़ी बिबूचन पैदा होती है। पहली बिबूचल यही पैदा होती है कि यह मामला क्या है! ये लोग रो क्यों रहे हैं, ये चिल्ला क्यों रहे हैं कि मैं मर गया, क्योंकि मैं तो हूं। सिर्फ इतना ही मालूम होता है कि शरीर अलग पड़ा है जो मेरा था, और मैं जरा अलग मालूम पड़ रहा हूं, और तो कुछ मर नहीं गया है।

इसी शरीर के माध्यम से हमारा सारा 'एसोसिएशन' है स्मृतियों का, इसलिए हम तत्काल मरघट ले जाते हैं और शरीर को जला देते हैं या गड़ा देते हैं। उस शरीर के टूटते ही उस आदमी के स्मृतियों के जाल हमसे एकदम विच्छिन्न हो जाते हैं।

और जैसे स्वप्न से उठा आदमी थोड़ी देर में स्वप्न भूल जाता है, ऐसा मृत्यु से उठा आदमी या जिसे हम जीवन कहते हैं उससे उठा हुआ आदमी थोड़ी देर में सब भूल जाता है। वह कितनी देर में भूल जाता है उसके हिसाब से हमने दिन तय किए हैं। जिनकी स्मृति बहुत कमजोर है वे तीन दिन में भूल जाते हैं। जिनकी स्मृति बहुत अच्छी है, वे तेरह दिन में भूल जाते हैं। यह बहुत सामान्य हिसाब से तय किए हुए दिन हैं कि तीन दिन में भूल जाएंगे कि तेरह दिन में भूल जाएंगे, लेकिन यह आमतौर से है। लेकिन प्रगाढ़ से प्रगाढ़ स्मृति का आदमी एक वर्ष में भूल जाता है। इसलिए एक वर्ष तक मृतक के कुछ संस्कार हम जारी रखते हैं। वह एक वर्ष तक हम उसके साथ थोड़ा-सा संबंध जारी रखते हैं, क्योंकि रह सकता है संबंध। लेकिन सामान्यतया ऐसा नहीं होता है। तीन दिन में सब टूट जाता है। कुछ का तो और भी जल्दी टूट जाता है। वह व्यक्ति-व्यक्ति पर निर्भर होगा। साल भर बहुत कम आत्माएं बचती भी हैं आत्मा रूप में। बहुत जल्दी शीघ्र नए जन्म ग्रहण कर लेती हैं।

होश में जो मरता है, वह तो कभी मरता ही नहीं, पहली बात। जो मरते वक्त पूरे होश में है, वह तो कभी मरता ही नहीं, क्योंकि वह जानता है कि सिर्फ शरीर छूटा। और जो इतने होश में है, उसका कोई न स्वजन है, न कोई प्रियजन है, न कोई पराया जन है। जो इतने होश में है, वह स्मृतियों के बोझ से लदता नहीं। जो इतने होश में है, उसकी तो बात ही नहीं है। और जो मृत्यु में होश से मरता है, वह अगले जन्म को होश से पा लेता है। जैसे मैंने कहा कि मृत्यु के बाद भी थोड़े दिन तक हमें स्मरण होता है जहां से हम आए, जन्म के बाद भी बच्चे को थोड़े दिन स्मरण होता है जहां से वह आया। यह प्रेतात्म-जीवन का जो अनुभव बीच में गुजरा, उसकी स्मृतियां उसके पास होती हैं। लेकिन वह धीरे-धीरे खो जाती हैं। और इसके पहले कि वाणी उसे उपलब्ध होती है, खो जाती हैं। कभी-कभी बहुत ही तीव्र स्मृति वाले बच्चों को वे स्मृतियां शेष रह जाती हैं, जो कि उसके बोलने के बाद भी जारी रहती हैं। वह 'रेयर' घटना है। स्मृति की बहुत ही अनूठी संभावना के कारण ऐसा होता है।

एक सवाल इस संबंध में पूछा गया है कि क्या रहस्यात्मक अनुभूति के अतिरिक्त भी पुनर्जन्म का कोई दार्शनिक प्रमाण है?

दार्शनिक प्रमाण तो सिर्फ तार्किक होते हैं। तर्क के आधार पर होते हैं। और तर्क की एक खराबी है कि जितने वजन का तर्क पक्ष में दिया जा सकता है, ठीक उतने ही वजन का तर्क विपक्ष में दिया जा सकता है। तर्क जो हैं, उसको अगर ठीक से कहें तो जो जानते हैं वे तर्क को वेश्या कहते हैं, किसी के भी साथ खड़ा हो सकता है। उसका कोई अपना निजी मंतव्य तर्क का नहीं है।

तो जिन लोगों ने तर्क और दर्शन से सिद्ध करने की कोशिश की है कि पुनर्जन्म है, उनके विपरीत ठीक उतने ही वजन के तर्कों से सिद्ध किया जा सका है कि पुनर्जन्म नहीं है। तर्क जो है वह 'सॉफिस्ट्री' है। 'साफिस्ट्री' का मतलब कि तर्क जो है वह वकील की तरह है। उसका कोई अपना कोई हिसाब नहीं है। किसने उसको किया हुआ है अपनी तरफ, उसकी तरफ वह बोलता है। वह अपनी पूरी ताकत लगाता है। इसलिए तर्क से कभी कोई निष्कर्ष निष्पन्न नहीं होता। बहुत निष्कर्ष निष्पन्न होते हुए मालूम होते हैं, होता कभी नहीं। क्योंकि ठीक विपरीत तर्क से इतने दूर तक पक्ष में जाता है तो उतनी ही दूर तक विपक्ष में जा सकता है। इसलिए दर्शनशास्त्र कभी तय नहीं कर पाएगा कि पुनर्जन्म है या नहीं। बातें कर पाएगा। हजारों साल तक बातें कर पाएगा, लेकिन कुछ सिद्ध नहीं होगा।

तर्क के साथ एक और मजा है कि जिसे आप सिद्ध करते हैं, उसे आप पहले ही माने होते हैं। तर्क के साथ एक मजा है कि जिसे आप सिद्ध करते हैं, उसे आपने पहले ही माना होता है, तर्क तो आप पीछे उपयोग में करते हैं। 'एज्यूम' किया होता है, वह आपका 'प्री-सपोजीशन' होता है।

एक मित्र हैं, वे एक बड़े प्रोफेसर हैं और किसी विश्वविद्यालय में पुनर्जन्म पर खोज का कार्य करते हैं। कोई मुझसे उनको मिलाने लिवा आया। और उन्होंने मुझसे मिलते ही कहा कि मैं वैज्ञानिक रूप से सिद्ध करना चाहता हूं कि पुनर्जन्म है। तो मैंने उनसे कहा कि यह तो फिर वैज्ञानिक न हो पाएगा, क्योंकि क्या सिद्ध करना चाहते हैं यह आपने पहले ही पक्का किया हुआ है। वैज्ञानिक का मतलब यह होता है कि आप ऐसा कहिए कि मैं जानना चाहता हूं कि पुनर्जन्म है या नहीं।

आप कहते हैं, मैं सिद्ध करना चाहता हूं कि पुनर्जन्म है। तो सिद्ध होना तो पहले ही है आपके मन में। पुनर्जन्म है, यह तो पक्का ही है। अब रह गया यह कि दलीलें इकट्ठी करनी हैं, तो दलीलें इकट्ठी की जा सकती हैं। एक आदमी सिद्ध करना चाहता है कि पुनर्जन्म नहीं है। यह तो पक्का ही है। अब रह गइ दलीलें, दलीलें इकट्ठी की जा सकती हैं। और यह जगत इतना अदभुत है और इतना जटिल है कि यहां सब तरह के पक्षों के लिए दलीलें उपलब्ध हो जाती हैं। इसमें कोई कठिनाई नहीं है।

दर्शन कभी सिद्ध नहीं कर पाएगा कि पुनर्जन्म है या नहीं है। तो आपके सवाल को थोड़ा और हटाकर कहें। ऐसा पूछें कि क्या विज्ञान कुछ कह सकता है कि पुनर्जन्म है या नहीं?

दर्शन तो कभी नहीं कह पाएगा। वह कह रहा है पांच हजार साल से, उससे कुछ हल नहीं होता। जो मानते हैं, है, वे माने चले जाते हैं। जो मानते हैं, नहीं है, वे नहीं मानते चले जाते हैं। और वह वाला कभी नहीं है वाले को 'कनविंस' नहीं कर पाता। नहीं है वाला कभी है वाले को 'कनविंस' नहीं कर पाता। यह बड़े मजे की बात है कि जो 'कनविंस' पहले से ही नहीं है वह कभी 'कनविंस' होता ही नहीं। तर्क के साथ तर्क की यह नपुंसकता है, तर्क की यह 'इमपोटेंस' है कि आप सिर्फ उसी को 'कनविंस' कर सकते हैं जो 'कनविंस' था ही। अब उसका कोई मतलब ही नहीं है। एक हिंदू को आप 'कनविंस' कर सकते हैं कि पुनर्जन्म है, क्योंकि वह 'कनविंस' है। एक मुसलमान को 'कनविंस' करने जाइए तब पता चलता है। एक ईसाई को आप 'कनविंस' कर सकते हैं कि पुनर्जन्म नहीं है, एक हिंदू को 'कनविंस' करने जरा जाइए तो पता चलता है। जो पहले से ही राजी है किसी सिद्धांत के लिए, तर्क बस उसी के लिए खेल कर पाता है और कुछ नहीं कर पाता है। नहीं, सवाल को कुछ और तरह से पूछिए कि क्या वैज्ञानिक ढंग से कुछ कहा जा सकता है कि पुनर्जन्म है या नहीं?

हां, विज्ञान कोई पक्ष लेकर नहीं चलता। दर्शन पक्ष लेकर चलता रहता है, तर्क पक्ष लेकर चलता रहता है। असल में वैज्ञानिक चित्त का मतलब ही यह है कि जो निष्पक्ष है और जिसके लिए दोनों 'आल्टरनेटिव' खुले हैं, जिसने कभी 'क्लोज नहीं किया। जो कहता है कि यह भी हो सकता है, वह भी हो सकता है, हम खोजते चलते हैं। तो विज्ञान जब से खोज करना शुरू किया है—ज्यादा देर नहीं हुई, अभी थोड़े ही दिन हुए कोई पचास साल, जब यूरोप और अमरीका में 'साइकिक सोसाइटीज' निर्मित हुई और उन्होंने थोड़ा-सा काम करना शुरू किया। अभी कोई पचास साल ही हुए जबकि कुछ थोड़े-से बुद्धिमान लोग, जिनके पास वैज्ञानिक की बुद्धि है—रहस्यवादी का नहीं सवाल—रहस्यवादी तो बहुत दिन से कहता है कि है और रहस्यवादी लेकिन प्रमाण नहीं दे पाता, क्योंकि वह कहता है मैं जानता हूं; तुम भी जान सकते हो, लेकिन मैं तुम्हें नहीं जना सकता। तो रहस्यवादी कहता है कि मेरे सिर के दर्द जैसा है, मुझे पता है कि है। तुम्हारे सिर में दर्द होगा, तुम्हें पता चल जाएगा। लेकिन मेरे सिरदर्द का पता तुम्हें नहीं चल सकता। और मैं कितनी ही चेहरे की आकृतियां बनाऊं, छाती पीटकर रोऊं, तुम फिर भी कह सकते हो कि पता नहीं बनकर कर रहे हो कि सच में दर्द हो रहा है? इसको हमेशा कहा जा सकता है।

पिछले पचास वर्षों में यूरोप में कुछ थोड़े-से लोग हुए—ओलिवर लाज, ब्रॉड, राइन—और इन सारे लोगों ने कुछ दिशाएं खोजनी शुरू कीं। ये सारे वैज्ञानिक चित्त के लोग हैं, जिनकी कोई मान्यता नहीं है। इन्होंने कुछ काम करना शुरू किया है, वह काम धीरे-धीरे प्रामाणिक होता जा रहा है। इन्होंने जो काम किया है, उसकी निष्पत्तियां गहरी हैं; और उसकी निष्पत्तियां पुनर्जन्म होता है, इस दिशा में प्रगाढ़ होती जाती हैं, नहीं होता है, इस दिशा में क्षीण होती जाती हैं। जैसे एक तो प्रेतात्माओं से संबंध स्थापित किए जा सके हैं बड़ी तरकीबों से, बड़ी व्यवस्थाओं से और सब तरह के वैज्ञानिक ढंगों से कोशिश की जा सकी है कि कोई धोखा नहीं। बहुत-से मामले धोखे के सिद्ध हुए हैं। लेकिन उनका कोई सवाल नहीं है। अगर एक मामला भी धोखे का सिद्ध नहीं होता, तो भी प्रामाणिक है।

तो प्रेतात्माओं से संबंध स्थापित किए गए हैं वैज्ञानिक ढंग से और उन संबंधों के आधार पर सूचना मिलनी शुरू हो गई कि आत्मा शरीरों को बदलती है। कुछ 'साइकिक सोसाइटीज' के सदस्यों ने जिंदगी भर काम किया, मरते वक्त वह वायदा करके गए कि मरने के बाद हम पूरी कोशिश करेंगे सूचना देने की। उसमें दो-एक लोग सफल हो सके। और मरने के बाद उन्होंने कुछ निश्चित सूचनाएं दीं, जिसका वायदा उन्होंने मरने के पहले किया था। उनसे कुछ प्रमाण इकट्ठे हुए हैं।

और, मनुष्य के व्यक्तित्व में कुछ और नई दिशाओं का अनुभव, जैसे 'टैलीपैथी' का, 'क्लरवायंस' का, दूर-श्रवण का, दूर-दृष्टि का और दूर-संवाद का, इस पर काफी काम हुआ है। हजार मील दूर बैठे हुए आदमी को भी मैं यहां बैठकर संदेश भेज सकता हूं, बिना किसी बाह्य उपकरण का उपयोग किए। तब इसका मतलब यह होता है कि शरीर ही नहीं, अशरीरी ढंग से भी संवाद संभव है।

'यह मन ही हो, आत्मा न हो, इसकी भी तो संभावना है!'

* उसकी बात करते हैं। वह मन भी हो, तो भी शरीर से भिन्न कुछ होना शुरू हो जाता है। और शरीर से भिन्न होना एक बार विज्ञान के खयाल में आना शुरू हुआ, तो बहुत दूर नहीं है आत्मा का होना। क्योंकि झगड़ा जो है वह यही है कि शरीर से भिन्न भीतर कुछ है? एक बार इतना भी तय हो जाए कि शरीर के भीतर शरीर से भिन्न मन भी है, तो भी यात्रा शुरू हो गई। और विज्ञान की यात्रा ऐसे ही शुरू होगी। पहले मन ही होगा, फिर धीरे-धीरे ही हम आत्मा तक विज्ञान को ले जा सकें, इशारे करवा सकें। लेकिन मन है।
अभी एक आदमी है, टेड नाम का एक व्यक्ति है। जिसके बड़े अनूठे अनुभव 'साइकिक सोसाइटीज' में हुए हैं। अनूठे अनुभव उसके ये हैं कि वह आदमी अगर न्यूयार्क में बैठा है, उसने मुझे कभी नहीं देखा, मेरा कोई चित्र नहीं देखा, मेरे संबंध में कभी सुना नहीं, लेकिन आप अगर उससे कहें कि वह मेरे संबंध में सोचे, विचार करे, तो वह आंख बंद कर लेगा और वह मेरे संबंध में ध्यान करेगा और जब आधे घंटे बाद वह आंख खोलेगा, तो उसकी आंख में से मेरा चित्र उतारा जा सकता है। उसकी आंख से, कैमरा उसकी आंख से मेरा चित्र उतार लेगा। और इस तरह के हजारों चित्र उतारे गए हैं और फिर मेरे असली चित्र से जब मिलाया जाता है तब बड़ी हैरानी होती है। करीब-करीब, बस 'फेंटनेसस' का फर्क होता है, इससे ज्यादा फर्क नहीं होगा। इतना साफ नहीं होता, लेकिन होता यही है।
इसका मतलब क्या है?
इसका मतलब यह है कि उसकी आंख किसी-न-किसी तरह मुझे देखने में समर्थ हो गई है। न केवल देखने में समर्थ हो गई है, बल्कि जैसा मेरे सामने आप मुझे देखें तो आपकी आंख में मेरा चित्र बनता है, ऐसे ही हजारों मील फासले पर अज्ञात अपरिचित आदमी का चित्र भी उसकी आंख में बन गया है। इसके हजारों प्रयोग हुए हैं और हजारों चित्र हजारों तरह के उस आदमी की आंख में पकड़े गए हैं।
'टेलीपैथी' के तो बहुत प्रयोग हो गए हैं। और अभी चूंकि 'स्पेस ट्रेवेल' शुरू हुई, और चांद पर जाना है—चांद पर तो हम चले गए—कल मंगल पर जाना है, और फिर लंबी यात्राएं शुरू होंगी, जिनमें यात्री वर्षों के लिए जाएंगे और वर्षों बाद लौटेंगे। मंगल पर भी एक वर्ष लगेगा आने-जाने में। इस एक वर्ष की लंबी यात्रा में अगर यंत्रों ने जरा-सी भी चूक कर दी, तो फिर हमें उन यात्रियों से कभी कोई संबंध नहीं हो सकेगा कि वे कहां गए और क्या हुआ! बचे कि नहीं बचे! अनंत काल तक फिर हमें उनका कोई पता नहीं चलेगा। वे हमसे किसी तरह का 'कम्यूनिकेशन' नहीं कर पाएंगे। इसीलिए रूस और अमरीका दोनों, जहां अंतरिक्ष की यात्रा पर गहन शोध चलती है, 'टेलीपैथी' में उत्सुक हो गए हैं। क्योंकि अगर किसी दिन स्पेस यात्री का यंत्र खराब हो जाएगा और वह रेडियो यंत्रों के द्वारा हमें खबर न दे पाए, तो 'टेलीपैथी' से खबर दे सके। एक 'आल्टरनेटिव' चाहिए। नहीं तो, यंत्र का कोई भरोसा ही नहीं है।...इधर हम 'आल्टरनेटिव' रखे हैं न, यह बैटरी सेट रखे हुए हैं। यंत्र का कोई भरोसा नहीं है। वह कभी भी...।
लेकिन अभी साधारण यंत्र का भरोसा न भी हो तो कोई खतरा नहीं है, लेकिन यात्री जो अंतरिक्ष में गया है, अगर उसके यंत्र हमें खबर न दे पाएं, या हम उसे खबर न दे पाएं, हमारा संबंध एक बार टूट जाए, तो फिर हमें कुछ पता नहीं चलेगा कि वह कहां गया? है भी अब जगत में या नहीं है? वह अश्वत्थामा की कथा हो जाएगी, उसका फिर कभी पता नहीं चलेगा। वह फिर कभी मरेगा भी नहीं। उसके बाबत हम फिर कुछ भी नहीं जान सकेंगे, कभी। तो वह कोई खबर दे सके यंत्र के अतिरिक्त। इसलिए रूस और अमरीका दोनों ही 'टेलीपैथी' में भारी उत्सुक हैं। और दोनों ने गहरे प्रयोग किए हैं।

रूस में एक आदमी है फयादेव। उस आदमी ने हजारों मील दूर तक संदेश पहुंचाने का प्रयोग सफलता से किया। बैठकर वह संदेश भेजेगा किसी व्यक्ति विशेष को और उस व्यक्ति विशेष को उसके भीतर से संदेश आता हुआ मालूम पड़ेगा। तो विज्ञान धीरे-धीरे आदमी शरीर ही नहीं है, उसके भीतर कुछ अशरीरी भी है, इस दिशा में कदम उठा रहा है। और एक बार यह तय हो जाए कि आदमी के भीतर कुछ अशरीरी भी है, तो पुनर्जन्म का द्वार खुल जाएगा। दर्शन से जो नहीं संभव हो सका, रहस्यवादी जो संभव नहीं कर सके सबको समझाना, वह विज्ञान संभव कर पाएगा। वह संभव हो सकता है। वह होता जा रहा है।

'भगवान श्री, ऐसा प्रयोग हुआ है कि 'ग्लॉस कास्केट' में मरते हुए आदमी को सुलाया गया। इस पर आप कुछ कहने जैसा मानते हैं?'

* ऐसा प्रयोग बहुत जगह करने की कोशिश की गई, लेकिन परिणामकारी नहीं हुआ। ऐसा खयाल है—स्वाभाविक है, क्योंकि विज्ञान जब सोचता है तो पदार्थ की भाषा में सोचता है—अगर एक आदमी मरता है और शरीर के अतिरिक्त कुछ और है और वह निकल जाता है, तो 'वेट' कम हो जाना चाहिए। लेकिन यह हो सकता है कि जो निकल जाता है वह 'वेटलेस' हो। उसका 'वेट' होना ही चाहिए! या वह इतने कम 'वेट' का हो कि हमारे पास कोई मानदंड न हो। जैसे कि सूरज की किरणें हैं, इसमें कोई 'वेट' है? है 'वेट'। सूरज की किरणें हैं ये। इनको तराजू पर तौलिए। एक तराजू पर अंधेरा रखिए, एक पलड़े पर रोशनी रखिए। उसको थोड़ा नीचे जाना चाहिए, अगर सूरज की किरणें हैं। वह नहीं जाता। सूरज की किरणें नहीं होनी चाहिए, क्योंकि 'वेट' नहीं है। लेकिन उनमें 'वेट' है। अगर एक वर्गमील की सब सूरज किरणें इकट्ठी की जाएं, तो एक तोले का 'वेट' देती हैं। लेकिन वह बड़ा मुश्किल मामला है! अब कितनी आत्मा में कितना 'वेट' होगा, अभी देर है।

तो वह प्रयोग किया गया, प्रयोग कई जगह किया गया, क्योंकि स्वाभाविक हमारा खयाल है कि आदमी मरता है, तो मरते आदमी को कांच के 'कास्केट' में बंद कर दिया सब तरफ से, कोई रंध्र, द्वार नहीं रहने दिया, वह मर गया! जितना वजन जिंदा में था उससे कुछ तो कम हो ही जाना चाहिए, अगर कुछ उसमें से निकल गया, एक। दूसरा, जो निकला है, उसके निकलने के लिए भी कांच टूट जाना चाहिए, क्योंकि कोई रंध्र, द्वार नहीं है। मगर दोनों संभव नहीं हुए। न तो कांच टूटा, क्योंकि सभी चीजों के निकलने के लिए कांच बाधा नहीं है। सूरज निकल जाता है, किरणें निकल जाती हैं। हड्डी और लोहा भी बाधा नहीं है, 'एक्स-रे' की किरण निकल जाती है। तो आदमी को क्यों झंझट डालते हो कि उसको निकलने को कोई चीज तोड़नी पड़े। अब 'एक्स-रे' की किरण आपकी हड्डी और छाती के भीतर चली जाती है, हड्डी को पार करके चित्र ले आती है और कहीं कुछ टूटता नहीं, कहीं कोई छेद नहीं हो जाता। तो जब 'एक्स-रे' की बहुत स्थूल किरण भी कांच को बिना तोड़े, हड्डी को बिना तोड़े, लोहे की सींखचों को बिना तोड़े, लोहे की दीवाल को पार कर लेती है, तो आत्मा को ही कौन-सी कठिनाई हो सकती है। 'लाजिकली' कोई कठिनाई नहीं मालूम पड़ती। और जगत में बहुत कुछ 'वेटलेस' है। असल बात यह है कि जिसको हम 'वेट' कहते हैं, वह बहुत गहरे में हम समझें तो 'वेट' नहीं है, सिर्फ 'ग्रेवीटेशन' है। मगर इसको जरा गणित की तरह समझना पड़ेगा।

आपका वजन है यहां समझ लीजिए कि चालीस किलो, तो चांद पर आपका वजन चालीस किलो नहीं होगा। आप बिलकुल यही होंगे। चांद पर आपका वजन आठ गुना कम हो जाएगा। इसलिए आप अगर यहां छः फीट ऊंचे कूद सकते हैं, तो चांद पर आठ गुना ज्यादा कूद सकेंगे। क्योंकि चांद की जो कोशिश है, 'ग्रेवीटेशन' है, वह पृथ्वी से आठ गुना कम है। और सब वजन जमीन के खिंचाव का वजन है। अब यह हो सकता है कि जमीन आत्मा को न खींच पाती हो। यह कोई जरूरी नहीं है कि 'ग्रेवीटेशन' जो है वह आत्मा को खींचता हो। तो फिर वजन नहीं होगा। अगर हम कभी किसी दिन ऐसी जगह बना लें जो 'नॉन-ग्रेवीटेशनल' हो, वहां किसी का वजन नहीं होगा।

चांद पर भी जो यात्री जा रहे हैं, उनको जो सबसे महंगा और खतरनाक अनुभव होता है, वह 'वेटलेसनेस' का है। जैसे ही पृथ्वी का घेरा छूटता है—दो सौ मील तक पृथ्वी खींचती है, दो सौ मील तक पृथ्वी की 'ग्रेवीटेशनल फील्ड' है, दो सौ मील तक पृथ्वी की कशिश आदमी को खींचती है, दो सौ मील के बाद पृथ्वी के खींचने का घेरा समाप्त हो जाता है—उसके बाद आदमी एकदम 'वेटलेस' हो जाता है। इसलिए अंतरिक्ष में जाने वाले यात्री को अगर जरा भी उसका पट्टा छूट गया जो कमर से बंधा है, तो वह फुग्गे की तरह यान में लटकेगा। फुग्गे की तरह वह, सिर उसका ऊपर जाकर यान के छत से लग जाएगा। और फिर उसको नीचे आना बड़ा मुश्किल हो जाएगा। क्योंकि नीचे 'ग्रेवीटेशन' के बिना आना बहुत मुश्किल है, उसको खींचना पड़ेगा।

तो आत्मा पर 'ग्रेवीटेशन' लागू होता ही हो तो, तो ये प्रयोग ठीक हैं, पेरिस या कहीं भी किए जाते हैं, अन्यथा ठीक नहीं हैं। मेरी अपनी समझ यह है कि पदार्थ पर जो नियम काम करते हैं, वह पदार्थ की सघनता के कारण ही करते हैं। आत्मा को अगर हम ठीक से समझें तो विरलता का अंत है वह। इसलिए उस पर कोई नियम काम नहीं करते। वह नियम के बाहर हो जाती है। और जब तक हम नए नियम से उस पर खोजने नहीं जाते, जब तक हम पदार्थ के नियमों को ही आधार बनाकर आत्मा के संबंध में खोज करते रहेंगे, तब तक विज्ञान का उत्तर आत्मा के संबंध में इनकार का रहेगा। वह कहेगा, नहीं है। लेकिन यह जो 'साइकिक सोसाइटीज' की मैंने बात की, यह जो राइन और मायर्स के प्रयोग की मैंने बात की, यह जो ओलिवर, लाज और ब्रॉड की चर्चा की, ये सारे लोग विज्ञान की प्रतिष्ठित पदार्थ को नापने की पद्धति को छोड़कर आत्मा के अज्ञात मापदंडों की खोज कर रहे हैं। इनसे आशा बंधती है कि कुछ सूत्र धीरे-धीरे निःसृत होंगे और विज्ञान उस बात की गवाही दे पाएगा, जिस बात की गवाही रहस्यवादियों ने सदा से दी है लेकिन प्रमाण नहीं दे पाए हैं।

'आपने कहा कि अर्जुन कृष्ण के प्रति समर्पित हुए इसलिए यंत्रवत न होकर स्वतंत्र हुए। विवेकानंद रामकृष्ण के प्रति समर्पित होकर भी यंत्रवत रहे, आत्मवान न हो पाए, इसका क्या कारण है?'

* इसके कारण हैं। रामकृष्ण और विवेकानंद के बीच का जो संबंध है, पहली तो बात गुरु और शिष्य के बीच का संबंध है। कृष्ण और अर्जुन के बीच जो संबंध है, वह गुरु-शिष्य का संबंध नहीं। दूसरी बात, कृष्ण की पूरी चेष्टा अर्जुन के द्वारा जगत को कोई संदेश देने की नहीं, विवेकानंद के द्वारा जगत तक संदेश पहुंचाने की है। कृष्ण को तो पता भी नहीं है कि वह जो कह रहे हैं वह गीता बन जाएगी। यह आकस्मिक घटना है कि वह बन गई। कृष्ण ने तो सहज ही युद्ध के स्थल पर खड़े होकर कहा होगा। यह तो पता भी नहीं होगा कि यह वक्तव्य जो है, इतना कीमती हो जाएगा और सदियों तक आदमी इस पर सोचेंगे। यह कहा तो गया था सिर्फ अर्जुन के लिए निपट, उसके सोचने के लिए था। यह नहीं था कि यह दुनिया को जाकर कहेगा। यह अर्जुन को बदलने के लिए थी यह खबर। यह उसके लिए ही था निपट। यह बड़ी 'इंटीमेट' चर्चा थी। यह दो व्यक्तियों के बीच सहज व्यक्तिगत बातचीत थी। और मेरा अपना अनुभव यह है कि इस जगत में जितना भी महत्वपूर्ण है, वह सदा 'इंटीमेट डायलाग' है। सदा। इसलिए लिखनेवाला कभी उस गहराई को उपलब्ध नहीं होता जो बोलनेवाला होता है। इसलिए दुनिया में जो भी श्रेष्ठ है, वह बोला गया है।

इधर आप हम सुबह बात करते थे—अरविंद ने कुछ भी नहीं बोला है, सब लिखा है। कृष्ण ने, क्राइस्ट ने, बुद्ध ने, महावीर ने, रमण ने, कृष्णमूर्ति ने सब बोला है। बोलने का माध्यम 'पर्सनल' है, लिखने का माध्यम 'इम्पर्सनल' है। लिखते हम किसी के लिए नहीं—पत्रों को छोड़कर। बाकी सब हम किसी के लिए नहीं लिखते। कौन है 'रिसीवर' उसका कोई पता नहीं होता। 'एब्सट्रैक्ट' है। लेकिन बोलने का माध्यम तो बड़ा व्यक्तिगत है, निजी है—हम किसी से बोलते हैं। तो कृष्ण तो अर्जुन से बोल रहे हैं सीधे। जगत का कोई सवाल नहीं है यहां। यहां दो मित्रों के बीच एक बात हो रही है। रामकृष्ण के साथ स्थिति और है। और कारण है स्थिति का। जैसा मैंने सुबह कहा, उसे थोड़ा खयाल में लेंगे तो समझ में आ जाएगा।

रामकृष्ण को अनुभव तो हुआ, लेकिन रामकृष्ण के पास वाणी बिलकुल नहीं थी। और रामकृष्ण को जीवन भर यही पीड़ा थी कि कोई मुझे मिल जाए जो वाणी दे दे। जो वह जानते थे, वह बोल नहीं सकते थे। रामकृष्ण एकदम अशिक्षित, अपढ़, शायद दूसरी बंगाली क्लॉस पता नहीं पास कि फेल। इतना उनका शिक्षण है। जान तो लिया उन्होंने बहुत, लेकिन इसको कहें कैसे! इसके लिए उनके पास शब्द नहीं, सुविधा नहीं, व्यवस्था नहीं। तो कोई चाहिए जिसके पास शब्द हों, सुविधा हो, व्यवस्था हो। विवेकानंद के पास तर्क है, वाणी है, अभिव्यक्ति है। रामकृष्ण के पास अनुभव है, तर्क नहीं है, वाणी नहीं है, अभिव्यक्ति नहीं है। रामकृष्ण के जो वक्तव्य भी हमें उपलब्ध हैं आज, वे बहुत काट-छांटकर और सुधार कर किए गए हैं। क्योंकि रामकृष्ण तो देहाती आदमी थे, वह बोलने में गाली भी दे देते थे। गाली भी बक देते थे। वह तो देहात के आदमी थे! जैसा देहात में सहज आदमी बोलता है वैसा बोलते थे। वे सब गालियां काटनी पड़ीं। मैं तो नहीं मानता कि ठीक हुआ, उनको होना चाहिए। 'आथेंटिक' होनी चाहिए 'रिपोर्ट'। जो उन्होंने कहा था वैसी होनी चाहिए थी। ठीक है, वह देते थे गाली, इसकी क्या बात है! और गाली ऐसी क्या बुरी है, होना चाहिए वहां। लेकिन हमारे मन में डर लगेगा कि साधु और गाली दे रहा हो, परमहंस! उसको अलग कर दें। इसलिए बहुत काट-छांटकर रामकृष्ण को पेश करना पड़ा है।

रामकृष्ण के पास संदेश के लिए कोई सुविधा नहीं थी। इसलिए रामकृष्ण बिलकुल गूंगे थे। विवेकानंद जब रामकृष्ण के पास आए तो रामकृष्ण को आशा बंधी के यह व्यक्ति जो मेरे भीतर घटा है उसे दुनिया तक कह सकेगा। इसलिए विवेकानंद को 'इन्स्ट्रूमेंट' बनना पड़ा।

और एक घटना आपको कहूं जिससे खयाल में आ जाए।

विवेकानंद को समाधि की बड़ी आकांक्षा थी। तो रामकृष्ण ने उन्हें समाधि का प्रयोग समझाया, करवाया। रामकृष्ण महिमाशाली थे, उनकी मौजूदगी भी किसी के लिए समाधि बन सकती थी। उनके स्पर्श से भी बहुत कुछ हो सकता था। उतना जीवंत व्यक्तित्व था। जिस दिन पहली दफे विवेकानंद को समाधि का अनुभव हुआ, विवेकानंद ने क्या किया? उस आश्रम में कालू नाम का एक आदमी था। यह दक्षिणेश्वर के मंदिर के पास ही रहता था। बहुत भोला-भाला आदमी था। मंदिरों के पास जब तक भोले-भाले आदमी रहें, तभी तक मंदिरों की सुरक्षा है। जिस दिन वहां चालाक आदमी पहुंचते हैं उस दिन तो सब खराब हो जाता है। वह कालू बड़ा भोला-भाला आदमी था। उसको दिन भर पूजा में लग जाता था, क्योंकि उसके कमरे में जमाने भर के देवी-देवता थे—एकाध-दो नहीं थे। जो भी देवी-देवता मिलते थे, कालू उनको ले आते थे। उसके कमरे में कालू के लिए जगह ही नहीं बची थी, वह बाहर सोते थे। जो भी भगवान के चक्कर में पड़ेगा, एक दिन बाहर सोना पड़ेगा, क्योंकि भगवान भीतर सब जगह घेर लेता है। तो वह इतनी दिक्कत में पड़ गया था कि उसके पास सैकड़ों भगवान थे। तरह-तरह के भगवान थे। जहां जो भगवान मिले, ले आए। अब वह सुबह से पूजा शुरू करता तो सांझ हो जाती, क्योंकि सभी की पूजा करनी पड़ती थी।

विवेकानंद ने उसे कई दफे समझाया कि कालू, तू बड़ा नासमझ है, फेंक इन सबको। भगवान तो अदृश्य है। वह तो सब जगह मौजूद है। वह कहता होगा, पहले हम अपने कोठे से निपट लें। बाकी वह बेचारा सीधा-साधा आदमी था। विवेकानंद ने बहुत उसको तर्क दिए। लेकिन सीधे-सादे आदमी को तर्क भी नहीं दिए जा सकते। वह हंसता था, वह कहता था ठीक कहते हो, लेकिन अब जिनको ले ही आए, अब इनका स्वागत-सत्कार तो करना ही पड़ेगा। कई दफे उसको कहा कि फेंक, ये कहां के अत्थर-पत्थर इकट्ठे कर रखे हैं—कहीं छोटे शंकर, बड़े शंकर, न-मालूम क्या-क्या, यह क्या तूने किया है? और दिन भर इसी में गंवाता है, किसी को टीका लगता है, कभी घंटा बजाता है, तेरा समय इसमें जाया हो रहा है। वह कालू कहता कि औरों का समय जिसमें जाया हो रहा है, मेरा इसमें जाया हो रहा है, और तो कोई खास फर्क नहीं पड़ रहा है। बाकी हर्ज क्या रहेगा आखिर में!

जिस दिन विवेकानंद को पहला दफा समाधि लगी, अचानक भीतर शक्ति की ऊर्जा का जन्म हुआ और विवेकानंद को जो पहला खयाल आया वह यह आया कि अगर इस ऊर्जा के क्षण मैं कह दूं कालू को कि फेंक अपने भगवानों को, तो रोक नहीं सकेगा। 'टेलीपैथिक' हुआ। उन्होंने ऐसा सोचा, उधर बेचारे कालू, सीधे-सादे आदमी को संदेश मिल गया। उसने

बांधी पोटली अपने सब भगवानों की और चला गंगा की तरफ फेंकने। यह तो मन में ही सोचा था विवेकानंद ने, यह तो अपने कमरे में बंद थे, लेकिन जब ऊर्जा जगी—तो यह समझ ही लेना कि जब ऊर्जा जगे, तो भूलकर भी उसका उपयोग मत करना। अन्यथा भारी नुकसान होता है। उसे जगने देना, बस उसका जगना ही उसका उपयोग है। उसका कोई उपयोग मत करना। विवेकानंद ने तत्काल उपयोग किया और जिस कालू को वह तर्क से नहीं समझा सके थे, उसके साथ पीछे के रास्ते से उपद्रव किया। उनको खयाल भी नहीं था, उन्होंने सिर्फ सोचा ही कि अगर इस वक्त मैं कालू को कह दूं कि उठ कालू और फेंक सब, तो इतनी ऊर्जा मेरे भीतर है कि अब कालू बच नहीं सकेगा। यह उन्होंने सोचा ही। उधर कालू ने अपना पूजा-मूजा कर रहा था, उसने सब पोटली बांधी, सब भगवानों को कंधे पर टांगकर वह बाहर निकला। रामकृष्ण ने उसे कहा कि पागल, अंदर ले जा। उसने कहा कि सब बेकार है। रामकृष्ण ने कहा, कालू, यह तू नहीं बोलता है। यह कोई और बोल रहा है। तू भीतर चल। मैं उसको देखता हूं शैतान को जो बोल रहा है।

वह भागे गए, दरवाजा तोड़ा और विवेकानंद को हिलाया और कहा कि बस, यह तुम्हारी आखिरी समाधि हुई, अब आगे तुम्हें समाधि की अभी जरूरत नहीं है। और यह कुंजी मैं अपने पास रखे लेता हूं। यह तुम्हारी समाधि की चाभी मैं अपने पास रखे लेता हूं। मरने के तीन दिन पहले लौटा दूंगा। विवेकानंद बहुत चिल्लाए और रोए कि आप यह क्या करते हैं, मुझे समाधि दें। रामकृष्ण ने कहा कि अभी तुझसे और बहुत काम लेने हैं। अभी तू समाधि में गया तो बिलकुल चला जाएगा। और वह काम जो चाहिए वह नहीं हो पाएगा। अभी तुझे मैंने जाना है वह सारी दुनिया तक पहुंचाना है। और तू मोह मत कर और तू स्वार्थी मत बन। तुझे एक और वृक्ष बनना है, वट वृक्ष, जिसके नीचे हजारों लोगों को विश्राम मिल सके और छाया मिल सके। इसलिए तेरी चाबी अपने पास रखे लेता हूं। यह चाबी पास रख ली गई। मरने के तीन दिन पहले यह विवेकानंद को वापिस मिली। मरने के तीन दिन पहले उनको दुबारा समाधि उपलब्ध हुई।

लेकिन इसमें जो मैं कहना चाहता हूं वह यह कि जिस समाधि की चाबी रखी जा सके, वह समाधि 'साइकिक' से ज्यादा नहीं हो सकती। जो समाधि किसी दूसरे के हां या ना कहने पर निर्भर हो, वह गहरे मनस से ज्यादा नहीं हो सकती, मनस-पार नहीं हो सकती। मन के पार की नहीं हो सकती। और जिस समाधि में कालू को मूर्तियां फेंकने का खयाल आ जाए, वह समाधि बहुत आत्मिक नहीं हो सकती। उसका कोई कारण नहीं है आने का।

तो विवेकानंद को जो समाधि घटी, वह मानसिक है। शरीर से बहुत ऊपर है, लेकिन आत्मा से बहुत नीचे है। और फिर रामकृष्ण की जो तकलीफ थी, उसकी वजह से विवेकानंद को रोकना जरूरी था कि वह और गहरे न चले जाएं, अन्यथा कौन उस संदेश को लेकर जाता। आज रामकृष्ण को हम जानते हैं तो सिर्फ विवेकानंद की वजह से। लेकिन विवेकानंद को बड़ी कुर्बानी करनी पड़ी। लेकिन इस विराट जगत के लिए वैसी कुर्बानी अर्थपूर्ण है। और रामकृष्ण को विवेकानंद को रोकना पड़ा 'साइकिक' पर कि वह आगे न चले जाएं, अन्यथा फिर विवेकानंद को राजी नहीं किया जा सकता था। और रामकृष्ण की दुविधा यही थी कि बुद्ध को जो दोनों एक साथ मिले हैं, वह रामकृष्ण को—अकेले हैं वह, जानना तो मिल गया है, बताना नहीं है उनके पास। वह उसे नहीं बता सकते। इसलिए किसी और आदमी के कंधे का सहारा लेना पड़ा। रामकृष्ण विवेकानंद के कंधों पर बैठकर ही यात्रा किए हैं। इसलिए इसमें मैं मानता हूं कि विवेकानंद 'इन्स्ट्रूमेंट' बने, बनाए गए। लेकिन कृष्ण अर्जुन को 'इन्स्ट्रूमेंट' नहीं बना रहे हैं। कोई बात ही नहीं है उसमें, वह सिर्फ कह रहे हैं, उसको प्रकट कर रहे हैं।

फिर अब हम ध्यान के लिए बैठें।

16 सीखने की सहजता के प्रतीक कृष्ण

'अरविंद को कृष्ण-दर्शन हुए। वे योगी लेले के संपर्क में भी तो आए थे। और पांडिचेरी को प्रयोग का निर्णय क्या भविष्य की पीढ़ियां ही नहीं करेंगी?

एलिसबेली के विषय में आपका क्या खयाल है, जब उसका कहना है कि उसे संदेश मिलते हैं। ये संदेश कौन देता है, कैसे देता है? क्या आपका भी ऐसे किसी मास्टर या गुरु से संबंध है?'

* अरविंद का कृष्ण-दर्शन जेल की दीवालों में, सींकचों में, जेलर में, स्वयं में है। अगर कृष्ण का दर्शन है, तो किसको पता लगता है कि कृष्ण दिखाई पड़ रहे हैं? अगर पहचानने वाला पीछे बच जाता है, तो 'प्रोजेक्शन' है, तो प्रक्षेपण है। अगर कोई कहता है, मुझ कृष्ण के दर्शन हुए, तो कम-से-कम मैं कृष्ण नहीं हूं, इतना पक्का है। जिसे दर्शन होंगे, वह तो भिन्न हो जाता है।

नहीं, जिस विराट सागर-रूप कृष्ण की मैंने बात की है, वह ऐसा नहीं है कि मुझे कृष्ण के दर्शन हुए, वह ऐसा ही है कि मैं नहीं रहा और फिर जो बच गया है वह कृष्ण है। उसे कृष्ण कहें, क्राइस्ट कहें, बुद्ध कहें, इससे कोई अंतर नहीं पड़ता। यह हमारी पारिभाषिक शब्दावली की बात होगी कि कौन-सी शब्दावली में हम जन्मे हैं। फिर एक बार कृष्ण के दर्शन हो जाएं और अगर दर्शन प्रक्षेपण न हो, 'प्रोजेक्शन' न हो, तो दुबारा लौटना असंभव है। फिर उस दर्शन का खो जाना असंभव है। और, बड़े मजे की बात यह है कि अरविंद की सारी साधना उसके बाद शुरू होती है। जिस योगी लेले की बात उठाई है, उस योगी लेले से वह बाद में मिलते हैं। यह जो योगी लेले से उनका बाद में मिलना है और ध्यान सीखना है—और लेले से उन्होंने ध्यान सीखा—जिस व्यक्ति को अभी ध्यान भी सीखने को बाकी हो उसको कृष्ण के विराट दर्शन हो गए हों, यह नहीं माना जा सकता। और कृष्ण के ही दर्शन हो गए हों तो अब ध्यान सीखकर क्या करियेगा? किसके पास सीखने जाइएगा?

फिर बड़े मजे की बात है कि लेले से उन्होंने जो ध्यान सीखा, वह बहुत छोटी-सी प्रक्रिया थी। बहुत छोटी-सी प्रक्रिया, जिसमें कुछ बड़ा गहरा नहीं था। और यह भी आप जान लें कि उसके बाद ध्यान में उनकी कोई गति नहीं हुई, जितना उन्होंने लेले से सीखा, वह आखिरी चरण था। कुल तीन दिनों वे लेले के साथ ध्यान के लिए बैठे थे, और एक बहुत छोटा-सा प्रयोग था 'विटनेसिंग' का, साक्षीभाव का। जिसमें लेले ने कहा कि आप बस बैठ जाएं और अपने विचारों को देखें। उन्होंने विचार देखना शुरू किया, लेकिन भयंकर विचारों का जाल मन पर उतरा। वे बहुत घबड़ाए। लेले ने उन्हें इतना ही कहा कि आप विचारों को ऐसे ही समझें जैसे आपके मस्तिष्क के चारों ओर मक्खियां चक्कर लगा रही हैं और आप बीच में बैठे देखते रहें और उन मक्खियों को चक्कर लगाने दें। तीन दिन सतत वे विचारों का दर्शन करते रहे—कोई भी करे, और सिर्फ देखता रहे तो विचार क्षीण हो जाते हैं, शांत हो जाते हैं। मन निर्विचार हो जाता है। इसके बाद उन्होंने फिर कोई बात लेले से नहीं सीखी। और इसको उन्होंने आखिरी बात समझ ली। और अरविंद की बड़ी-से-बड़ी भूल यहीं हो गई। यह बिलकुल प्राथमिक चरण था। साक्षीभाव पहला चरण है। साक्षीभाव अद्वैतभाव नहीं है। साक्षीभाव के माध्यम से अंततः अद्वैतभाव की उपलब्धि होती है। पर और कदम आगे बढ़ाने पड़ते हैं। साक्षीभाव भी मिट जाना चाहिए, क्योंकि जब तक मैं साक्षी हूं और किसी का साक्षी हूं, तब तक द्वैत बना रहता है। एक घड़ी आनी चाहिए कि न मैं बचूं, न वह बचे जिसका मैं साक्षी हूं। एक घड़ी चाहिए जब शुद्ध चेतना बच जाए और उस चेतना में तय करना मुश्किल हो जाए कि कौन 'सब्जेक्ट' है, कौन 'आब्जेक्ट' है; कौन जान रहा है, कौन जाना जा रहा है। जब तक यह साफ है कि कौन जान रहा है और किसको जान रहा है, तब तक द्वैत जारी रहता है। और तब तक मन के बाहर जाना नहीं होता। तब तक मन का अतिक्रमण नहीं होता है। तब तक मन की 'ट्रांसेंडेंस' नहीं होती। तो न तो मैं कहूंगा कि अरविंद का अनुभव वास्तविक अनुभव था, क्योंकि जो आए और चला जाए, वह वास्तविक नहीं है। वह स्वप्नवत है। वह 'प्रोजेक्शन' है। जो आए और आ ही जाए और फिर जाने का उपाय न हो, वही वास्तविक अनुभव है। जो आए और खो जाए, वह मन का खेल है, मन की लीला है।

ध्यान के संबंध में भी साक्षीभाव की साधना से ऊपर वे कभी नहीं गए। और जिस व्यक्ति से उन्होंने सीखा था, उस व्यक्ति से पीछे उन्होंने कोई संबंध नहीं रखे। उस व्यक्ति के पास संभावना और भी थी आगे ले जाने की, लेकिन जब दुबारा लेले से अरविंद का मिलना हुआ तो अरविंद खुद गुरु हो चुके थे। और लेले से उनका जो दूसरा मिलन है, उसमें उनका जो व्यवहार है, वह बड़ी हैरानी का है। उनकी पूरी चेष्टा ऐसी रही जैसे यह बात भुलाई जा सके कि इस आदमी से कुछ सीखा है। और बहुत थोड़ा सीखा था, बहुत ज्यादा सीखा नहीं था।

मगर बहुत बार ऐसा हुआ है। अरविंद के साथ ही ऐसा हुआ हो, ऐसा नहीं, बहुत बार ऐसा हुआ है कि थोड़ा-सा अनुभव भी रोकने वाला सिद्ध हो जाता है। आनंदपूर्ण होता है और फिर मन वहां ठहर जाता है। इसलिए आध्यात्मिक साधना में सबसे बड़ी कठिनाइयां न तो बाहर के धन से आती हैं, न बाहर के संबंधों से आती हैं, आध्यात्मिक साधना में सबसे बड़ी कठिनाइयां भीतर के प्राथमिक अनुभवों से आती हैं। वे इतने सुखद हैं, इतने आनंदपूर्ण हैं, इतने 'ब्लिसफुल' हैं कि मन होता है यहां ठहर जाओ। और पड़ाव को मुकाम समझ लेने की भूल अरविंद के साथ नहीं, हजारों लोगों के साथ हुई है। पड़ाव को मुकाम समझ लेना बहुत आसान है। सुखद हो पड़ाव, तो मंजिल मान लेने का मन होता है।

और अरविंद ने फिर जितनी भी साधना दूसरों को बताई है, वह लेले की बताई गई साधना से इंच भर आगे नहीं गई है। जिंदगी भर जिन-जिन साधकों को उन्होंने सलाह दी है, उन साधकों को दी गई सलाह में लेले ने उन्हें जो तीन दिन में सिखाया था, उससे इंच भर आगे एक भी बात नहीं है। इसलिए मैं कहता हूं कि उस साधना के आगे वे कभी गए नहीं। क्योंकि उन्होंने कभी किसी को उसके आगे कोई बात नहीं कही है। बस, वह उतनी ही बात। लेकिन, लेले बेचारा सीधा-सादा आदमी था, उसने दो शब्दों में कह दिया था। अरविंद जटिल चित्त के, बुद्धि के ठीक, निष्णात व्यक्ति हैं, वह उसी बात को हजारों पृष्ठ में रंगते रहे। लेकिन लेले ने जो बताया था उससे इंच भर आगे उन्होंने बताया हो अपनी किसी किताब में, किसी वक्तव्य में, ऐसा नहीं है। उससे ज्यादा वे कुछ बता नहीं पाए। इसलिए मैं कहता हूं, लेले ने तीन दिन में जो उन्हें सिखाया था, उससे आगे वे कभी भी नहीं गए। उनका एक वक्तव्य भी उससे आगे नहीं जाता। साक्षीभाव से ज्यादा कुछ भी फलित नहीं हुआ।

और मैं मानता हूं कि वह भी उन्होंने खो दिया है। क्योंकि फिर वे जिस जाल में लग गए...यह भी जानकर आपको हैरानी होगी कि लेले ने खुद क्या कहा है अरविंद से बाद में? लेले ने कहा है कि तू भ्रष्ट हो गया है। आप जानकर हैरान होंगे। और लेले ने कहा है कि जो तुझे मिला था, वह तूने खो दिया है और तू बकवास में लग गया। और तू सिद्धांतवादी बातों में पड़ा हुआ है। इनसे कोई संबंध अनुभव का नहीं है। लेले का यह वक्तव्य बड़ा अदभुत है। लेकिन अरविंद को मानने वाले इस वक्तव्य की इधर-उधर चर्चा नहीं करते। क्योंकि यह वक्तव्य तो बहुत हैरान करने वाला है। जिस आदमी से सीखा था, उस आदमी का यह वक्तव्य है। यह वक्तव्य बहुत सूचक है। लेले अरविंद को मिला और उसने कहा है कि कृपा करके इस लिखने-पढ़ने के जाल में मत उलझो, अभी तुम पहुंचे नहीं वहां जिसकी तुमने बात शुरू कर दी। लेकिन लेले की इस बात पर भी अरविंद ने कोई ध्यान नहीं दिया है। और जब अरविंद ने ही नहीं दिया है तो अरविंद-भक्त क्यों देने लगे!

यह जो मैंने कहा कि मौलिक बात की खोज तो व्यक्ति से होती है, इसलिए उसके भूल भरे होने की संभावना ज्यादा होती है। इसका यह मतलब नहीं है कि वह भूल ही होती है। भूल की संभावना ज्यादा होती है। इसका मतलब यह नहीं है कि वह भूल ही होती है, भूल की संभावना ज्यादा होती है। दूसरी बात भी मैंने कही है कि परंपरा से जो बात आती है, उसके सड़ने, गलने की, गंदे हो जाने की संभावना बहुत होती है, लेकिन उसकी सारी सड़ांध और गलन के पीछे भी कहीं किसी सत्य का होना बहुत संभावी है। क्योंकि हजारों-हजारों साल तक लोग अकारण ही, बिलकुल अकारण ही किसी गंदगी को ढो नहीं सकते। हां, किसी हीरे की वजह से कंकड़-पत्थरों को भी ढो सकते हैं, लेकिन हो सकता है वह हीरा कहीं बिलकुल खो गया हो और कंकड़-पत्थर ही दिखाई पड़ते हों।

जो मैंने यह कहा, उसी के कारण दूसरी बात आपको समझाना चाहूंगा। अरविंद कहते हैं, 'सुपरामेंटल' की, उस अतिमानस की जो वे बात कर रहे हैं, उसके संकेत वेद में उपलब्ध हैं। इस मुल्क में एक बड़ा अनैतिक कृत्य चलता रहा है। और यह अनैतिक कृत्य चलता रहा है। और यह अनैतिक कृत्य यह है कि इस मुल्क में जो लोग कोई नई बातें खोजते हैं, वे भी साहस नहीं जुटा पाते यह कहने का कि यह नई बात मेरी है। क्यों? क्योंकि इस मुल्क को पता है कि नई बातों के गलत होने की संभावना है। इसलिए इस मुल्क की लंबी परंपरा में एक व्यवस्था बन गई है कि कितनी ही नई बात खोजो, किसी पुराने शास्त्र को आधार बनाओ। सदा यह बताओ कि वह वेद में है, सदा बताओ कि वह उपनिषद में है। सदा बताओ कि ब्रह्मसूत्र में है। इसीलिए वेद, उपनिषद और ब्रह्मसूत्र का अपना क्या अर्थ है, यह तय करना ही मुश्किल हो

गया है। क्योंकि हर आदमी अपने को उनमें थोप कर बताता है। यह पुरानी दुकान की 'क्रेडिट' के लाभ लेने के उपाय हैं, और कुछ भी नहीं है। वेद में है या नहीं, इसका सवाल नहीं है। लेकिन दयानंद उसी सूत्र में कुछ और दिखाएंगे, जो उनको सिद्ध करना है। अरविंद उसी सूत्र में कुछ और दिखाएंगे, जो उनको सिद्ध करना है। शंकर कुछ और दिखाएंगे, जो उनको सिद्ध करना है। उस सूत्र की गति हो गई, उसकी बिलकुल मिट्टी पलीद कर दी है। वेदों की, ब्रह्मसूत्र की और उपनिषद की, इन तीनों की इस बुरी तरह से कठिनाई हमने खड़ी की है—और वही हाल गीता का भी किया है। क्योंकि प्रत्येक व्यक्ति यह सिद्ध करने की कोशिश करेगा कि वह जो कह रहा है, वह वही है जो उपनिषद भी कहते हैं, गीता भी कहती है, वेद भी कहते हैं। इसलिए एक बहुत ही अजीब-सी मानसिक व्यभिचार की स्थिति इस देश में पैदा हुई। एक बौद्धिक-व्यभिचार पैदा हुआ है, एक 'इंटलेक्चुअल प्रॉस्टिटयूशन' पैदा हुआ है। चीजों को सीधे न कहकर थोपने का आग्रह इतना ज्यादा हो गया, क्योंकि उसी के बल खड़े हो सकते हैं। मैं मानता हूं यह भी आत्मविश्वास की कमी है। अगर अरविंद को कोई सत्य का अनुभव हुआ है, तो वेद उससे उलटा भी कहते हों तो वह भाड़ में जाए, वेद से क्या लेना-देना है? अगर अरविंद को कोई सत्य दिखाई पड़ा है, तो वह निपट निजता में कह सकते हैं कि यह सत्य है। यह मैंने देखा और जाना। लेकिन, भीतर अगर संदेह है, तो फिर वेद का सहारा लिए बिना कोई रास्ता नहीं है। वेद के कंधे पर बैठना पड़ेगा। फिर गीता के कंधे पर बैठना पड़ेगा, फिर उपनिषद के कंधे पर बैठना पड़ेगा। और फिर सबको अपने पीछे खड़ा करके दिखाना पड़ेगा कि जो मैंने जाना, वही जाना।

यह भी ध्यान रहे कि वेद का ऋषि किसी का सहारा नहीं खोजता। उपनिषद का ऋषि किसी का सहारा नहीं खोजता। उसके वक्तव्य सीधे हैं। ब्रह्मसूत्र का ऋषि किसी का सहारा नहीं खोजता, उसके वक्तव्य सीधे हैं। वह कहता है, ऐसा है। लेकिन फिर भारत में एक बौद्धिक पतन की लंबी कहानी है, जिसमें फिर कोई कहने की हिम्मत नहीं जुटाता कि ऐसा है, ऐसा मैं जानता हूं। फिर वे सब कहते हैं, ऐसा है, क्योंकि वेद ऐसा कहते हैं, और जो वेद कहते हैं, वही मैं भी जानता हूं। लेकिन, सीधा वक्तव्य खोता चला गया। अरविंद उस कड़ी में आखिरी हिस्से हैं।

इससे मैं कहता हूं कि रमण ज्यादा ईमानदार आदमी हैं। इससे मैं कहता हूं, कृष्णमूर्ति ज्यादा ईमानदार आदमी हैं। अगर गलती भी करनी है तो भी वेद पर मत थोपो, खुद ही अपने ऊपर लो। अगर ठीक भी खोजना है तो खुद ही अपने ऊपर लो। निर्णय तो हो सके, कल तय तो हो सके कि तुमने जो जाना था उसमें कुछ सार था कि नहीं था। लेकिन उस सबको 'कन्फ्यूजन' में डाल दिया जाता है। सारी गवाहियां खड़ी कर दी जाती हैं।

इसलिए मैं मानता हूं कि भारत में दर्शन का वैसा 'आनेस्ट', ईमानदार विकास नहीं हो सका जैसा पश्चिम में दर्शन का ईमानदार विकास हुआ है। क्योंकि सुकरात अगर कहता है तो खुद 'अथॉरिटी' है, खुद अधिकारी है। अगर कान्ट कुछ कहता है तो खुद अधिकारी है। अगर विट्गिंस्टीन कुछ कहता है तो खुद अधिकारी है। इनमें से कोई भी दूसरे पर अधिकार नहीं खोजने जाता है। कोई भी यह कहने नहीं जाता कि मैं जो कहता हूं वह ठीक है क्योंकि सुकरात भी ऐसा कहता है। इसलिए पश्चिम में एक ईमानदारी दर्शन की पैदा हुई और उसी ईमानदारी से विज्ञान पैदा हुआ है—उसी ईमानदारी का परिणाम विज्ञान है। क्योंकि विज्ञान बेईमानी से पैदा नहीं हो सकता। हिंदुस्तान में विज्ञान पैदा नहीं हो सका, क्योंकि एक बहुत गहरी बौद्धिक बेईमानी में हम फंसे हैं। यहां यह तय करना ही मुश्किल है कि कौन आदमी क्या कह रहा है। क्योंकि हर आदमी दूसरे की वाणी बोल रहा है। और हर आदमी दूसरे के शब्दों से जी रहा है। और हर आदमी दूसरे शास्त्रों पर खड़ा हुआ है।

मैं तो कहूंगा कि अरविंद का यह आग्रह कि वेद में भी यही है, एक आत्महीनता के बोध से पैदा होता है। इसमें बहुत अनुभव की बात नहीं है, इसमें बहुत आसान सहारे खोजने की बात है। और इस मुल्क का मन है, जो वेद से प्रभावित है; इस मुल्क का मन है जो महावीर से प्रभावित है, बुद्ध से प्रभावित है; इस मुल्क का मन परंपरानुगत है। इसलिए जब एक दफे कोई आदमी सिद्ध कर दे इतनी-सी बात कि ऐसा ही वेद में कहा है, तो हम उसे स्वीकार कर लेते हैं। इस आदमी को अलग से जांचने की फिर हमें कोई जरूरत नहीं रह जाती। इसलिए वेद की आड़ में यह आदमी स्वीकृत हो जाता है। लेकिन आड़ ही क्यों लेनी? सत्य को किस आड़ की जरूरत है? अगर मुझे कुछ दिखाई पड़ता है तो मैं कहूंगा, ऐसा मुझे

दिखाई पड़ता है। और अगर वेद के ऋषियों को भी ऐसा दिखाई पड़ा होगा तो वे ठीक थे और नहीं दिखाई पड़ा होगा तो वे गलत थे। पर मेरा दिखाई पड़ना मेरे आत्मविश्वास की बात है। मैं वेद की वजह से गलत और सही नहीं हो सकता हूं। मेरे लिए तो मेरी वजह से वेद सही और गलत हो सकते हैं, वह दूसरी बात है। अगर मुझे कोई आकर कहता है कि आप ऐसा कहते हैं और महावीर ने ऐसा कहा है, तो मैं कहता हूं कि अगर महावीर ने ऐसा ही कहा होगा तो वे गलत होंगे। क्योंकि मैं कैसे पक्का करूं कि महावीर ने ऐसा कहा है कि नहीं, इतना मैं दिखाई पड़ता है, तो मैं कहूंगा कि सारी दुनिया गलत होगी लेकिन मुझे जो दिखाई पड़ता है वह ऐसा है। और मैं सिर्फ अपने ही दिखाई पड़ने के लिए गवाह हो सकता हूं। दुनिया भर के दिखाई पड़ने के लिए गवाह नहीं हो सकता हूं।

लेकिन यह तरकीब बड़ी आसान है। यह बड़ी सुविधापूर्ण है। अपने व्यक्तित्व को सीधा-का-सीधा सत्य के सामने आमने-सामने खड़े कर लेने में हजारों साल लगेंगे इतिहास को तय करने में कि आपको मिला कुछ कि नहीं मिला। लेकिन वेद की आड़ में खड़े कर लेने में बड़ी आसानी है। वेद सही, फिर आप भी सही हैं। क्योंकि जो आप कहते हैं, वही वेद में कहा हुआ है। और यह 'ट्रिक' बड़ी आसान है। मैं एक छोटी-सी कहानी से समझाऊं—

एक फ्रेंच काउंटेस, शाही परिवार की औरत, और बड़ी 'कस्टीडियस', सब चीजों में अपने ढंग से जीने की आदी है। एक 'एशट्रे' खरीद लाई थी चीन से। 'एशट्रे' पर जो रंग था, उसने कहा कि यही रंग मेरे बैठकखाने में होना चाहिए। बड़े-बड़े चित्रकार बुलाए गए, लेकिन रंग में कुछ फर्क पड़ जाता। वह 'एशट्रे' का रंग ठीक-ठीक दीवाल पर न आ पाता। वे चीनी रंग थे, वे रंग भी उपलब्ध न थे। और कितनी ही कोशिश की जाए, ठीक 'एशट्रे' के रंगों का तालमेल दीवालों पर नहीं बैठता। बड़े-बड़े चित्रकार आए और हारकर चले गए। फिर एक चित्रकार ने कहा कि मैं यह रंग कर दूंगा, लेकिन एक शर्त पर कि एक महीने तक इस कमरे के भीतर कोई प्रवेश नहीं कर सकेगा। उसने कहा, राजी। किसी भी शर्त पर राजी हूं। वह एक महीने के लिए दरवाजा बंद करके अंदर चला जाता, ताला लगा लेता, कुछ करता रहता, फिर बाहर निकल आता। महीने भर के बाद उसने उसको कहा कि अब आप अंदर आ जाएं। अंदर आकर देखा तो ठीक 'एशट्रे' के कलर की सारी दीवालें हो गई हैं। और उस महिला ने उसे लाखों रुपये इनाम दिए। मरते वक्त उस चित्रकार ने अपनी आत्मकथा में लिखा है कि एक ही रास्ता था कि पहले मैंने दीवालें पोत दीं और फिर उसी रंग में 'एशट्रे' पोत दी। तब मेल बिलकुल बैठ गया।

यह अरविंद और दयानंद और सब पहले दीवालें पोतते हैं, फिर 'एशट्रे' पोतते हैं। पहले अपना सिद्धांत बना लेते हैं, फिर वेद पर पोत देते हैं। फिर उसमें से सब निकाल लेते हैं। फिर संस्कृत और ग्रीक और लैटिन और अरबी, जितनी भी पुरानी भाषाएं हैं वे सब काव्य-भाषाएं हैं, विज्ञान-भाषाएं नहीं हैं। काव्य-भाषाओं में एक खतरा यह है कि एक-एक शब्द चूंकि अनेकार्थी होते हैं, इसलिए कभी तय नहीं किया जा सकता कि मूलरूप से जिस आदमी ने उन शब्दों का प्रयोग किया था, उसका क्या अर्थ है। एक-एक शब्द के दस-दस, बारह-बारह अर्थ होते हैं। और आज किस हिसाब से हम तय करें कि जिस आदमी ने यह वक्तव्य दिया था उसका इन दस-बारह अर्थों में कौन-सा अर्थ है? काव्य के लिए बड़ी अच्छी हैं ये भाषाएं। क्योंकि काव्य में एक शब्द जितना अर्थी हो, उतने रंग आ जाते हैं। कविता की दो कड़ियों में जितने रंग आ जाएं, उतनी कविता गहरी हो जाती है। और हर पढ़ने वाला अपना अर्थ निकाल सकता है। और ढंग-ढंग के लोग प्रभावित हो सकते हैं। लेकिन विज्ञान ऐसे नहीं चलता। विज्ञान में तो भाषा 'एक्जेक्ट' होनी चाहिए। और 'अ' का अर्थ 'अ' ही होना चाहिए। तो पुरानी कोई भाषा वैज्ञानिक नहीं है, क्योंकि विज्ञान पुरानी भाषा में पैदा नहीं हुआ था। और इसलिए विज्ञान अब रोज नई भाषा पैदा करता जा रहा है।

आप जानकर हैरान होंगे कि फिजिक्स जो कि इस समय सर्वाधिक विकसित विज्ञान है, उसने तो धीरे-धीरे भाषा के शब्दों का उपयोग बंद कर दिया और गणित के फार्मूलों का उपयोग शुरू कर दिया। क्योंकि गणित का फार्मूला 'एक्जेक्ट' हो सकता है। आदमी के प्रयोग किए गए शब्दों की 'एक्ज़ेक्टनेस' संदिग्ध है। उसमें कोई अर्थ हो सकते हैं और हर उपयोग करने वाले का अपना अर्थ हो सकता है। इसलिए आइंस्टीन की किताब सिर्फ वही आदमी समझ सकता है, जिसने बहुत 'हायर मैथेमेटिक्स' को समझा हो। आइंस्टीन की किताब को समझने के लिए भाषा का ज्ञान पर्याप्त नहीं रहा, गणित का

ज्ञान अनिवार्य हो गया। क्योंकि भाषा गणित बन रही है। और आइंस्टीन जैसे लोगों का खयाल है कि भविष्य की जो विज्ञान की भाषा होगी, वह शब्द को छोड़कर 'सिंबल' को ले लेगी गणित के, क्योंकि उसी में ठीक बात कही जा सकती है, अन्यथा कोई भी कुछ अर्थ कर सकता है।

तो यह जो, यह सुविधा जो है इस देश में—यह सब जगह है जहां-जहां पुराने ग्रंथ हैं, और सब पुराने ग्रंथ पुरानी भाषाओं में हैं, और पुरानी भाषाएं काव्य के आसपास निर्मित हुई थीं। इसलिए जानकर हैरानी होगी कि हिंदुस्तान में वैद्यक के ग्रंथ भी कविता में लिखे हुए उपलब्ध हैं। थोड़ा सोचने जैसा मामला है। असल में कविता ही लिखने का ढंग थी, बोलने का। उसके कारण थे। उसके कारण थे, क्योंकि लिखना बहुत बाद में आया और याददाश्त रखकर ही शास्त्रों को मन में रखना पड़ता था। कविता को याद रखना आसान है। गद्य को याद रखना मुश्किल है, पद्य को याद रखना आसान है। उसमें एक तुक के कारण सुविधा है, वह याददाश्त में रह जाती है। इसलिए सब वेद, सब उपनिषद, सब गीताएं, सब पुराण काव्य की भाषा में पद्यबद्ध हैं। ताकि उन्हें याद रखना आसान हो। हजारों साल तक याद रखना पड़ा, लिखने का उपाय न था। मगर उस याद रखने के लिए कविता ने सुविधा दी, लेकिन अर्थ की सुविधा खो गई। इसलिए अब हर आदमी को सुविधा है कि जो अर्थ वेद में करना चाहे, कर ले। मगर अब मैं मानता हूं कि किसी भी आदमी को ऐसा अर्थ करने नहीं जाना चाहिए। नहीं जाना चाहिए इसलिए कि यह बहुत बचकाना खेल हो गया, इसमें कोई बहुत प्रयोजन नहीं है। और क्यों सहारा खोजा जाए! क्यों न ऐसा कहा जाए कि मुझे ऐसा दिखाई पड़ता है। हो सकता है वेद भी ऐसा कहते हों। कहते हों तो ठीक होंगे, न कहते हों तो गलत होंगे। कोई वेद ने ठेका ले रखा है सदा के लिए ठीक होने का? कि पीछे के लोगों को सिर्फ सिद्ध करना होगा कि जो वेद ने कहा है, वह ठीक कहा है। मुझे नहीं दिखाई पड़ता।

और जो मैंने कहा कि पांडिचेरी में जो प्रयोग हो रहा है वह व्यर्थतम प्रयोग हैं अध्यात्म के क्षेत्र में, इसको भविष्य को तय करने की जरूरत नहीं है। यह तो अध्यात्म की प्रक्रिया को समझ कर आज तय किया जा सकता है। अगर एक आदमी पानी को गरम कर रहा है नीचे आग जला कर, तो यह भविष्य के बच्चे तय नहीं करेंगे कि यह भाप बनेगा, यह हम अभी तय कर सकते हैं कि भाप बन जाएगा। लेकिन अगर चूल्हे में आग की जगह बर्फ रखी जा रही है, तो यह कोई भविष्य के बच्चे तय नहीं करेंगे कि पानी भाप नहीं बनेगा, बर्फ बन जाएगा, यह हम तय कर सकते हैं। भविष्य के बच्चों पर छोड़ने का कोई खास सवाल नहीं है। अध्यात्म भी एक विज्ञान है। अध्यात्म कोई ज्योतिष-शास्त्र नहीं है, कोई हस्तरेखा-विज्ञान नहीं है, कोई सामुद्रिक नहीं है। अध्यात्म के अपने गणित के सूत्र हैं। इसलिए उलटी प्रक्रियाओं से कुछ हल होने वाला नहीं है, यह आज कहा जा सकता है। और भविष्य अगर तय करेगा तो इतना ही तय करेगा कि मैंने जो कहा था वह ठीक था, कि अरविंद ने जो किया था वह ठीक था। भविष्य और कुछ तय नहीं करेगा।

जगत में समस्त विकास वैयक्तिक है। जगत में समस्त विकास वैयक्तिक है, 'इंडिविजुअल' है। उपलब्धि 'काज़्मिक' है, उपलब्धि ब्रह्मांडगत है। लेकिन गति, विकास व्यक्तिगत है। जगत में समस्त चेतना की अभिव्यक्ति व्यक्तिगत है। मूल स्रोत समष्टिगत है, अभिव्यक्ति व्यक्तिगत है। सागर समष्टि है, लहर सदा व्यक्ति है। चेतना जहां भी दिखाई पड़ेगी हमें, व्यक्ति दिखाई पड़ेगी। हां, जब व्यक्ति की चेतना को खोएंगे तो समष्टि की चेतना का अनुभव शुरू होगा। लेकिन मैं अपनी चेतना को खोकर अनुभव करूंगा। मेरे अनुभव के साथ आपका अनुभव नहीं हो जाएगा।

एक पुराना सूत्र खयाल में लेना जरूरी है।

जिन लोगों ने सबसे पहले कहा कि एक ही आत्मा है सबमें, तो जो मानते थे कि अनेक आत्माएं हैं, उन्होंने कहा, तब तो एक आदमी मरे तो सबको मर जाना चाहिए। और एक आदमी दुखी हो तो सबको दुखी हो जाना चाहिए। ठीक कहते हैं, उनकी दलील दुरुस्त है। अगर चेतना एक ही है हम सबके भीतर, जैसे कि घर में बिजली एक ही है, अगर ऐसी चेतना हममें सब एक ही है और उसके बीच कहीं कोई दीवालें नहीं हैं, व्यक्ति और व्यक्ति में टूट नहीं गई है चेतना, तो मैं जब दुखी होऊंगा तो आप कैसे सुखी रह सकेंगे? अगर मेरी चेतना जुड़ी हुई है आपसे, तो मेरा दुख आप में प्रवेश कर जाएगा और जब मैं मरूंगा तो आप कैसे जिंदा रह सकेंगे? मैं मरूंगा तो आपको मरना पड़ेगा। इस तर्क के आधार पर वे लोग मानते रहे कि आत्मा एक नहीं है, सबमें अलग-अलग हैं। मैं उनके तर्क को बहुत ठीक नहीं मानता। क्योंकि यह मानता हूं

कि बिजली एक घर में सारे बल्बों में एक है, लेकिन अगर एक बल्ब को फोड़ दें तो सब बल्ब नहीं फूट जाएंगे। हालांकि सारी बिजली को हटा लें, तो सब बल्ब बंद हो जाएंगे। 'मेन स्विच आफ' कर दें, तो सब बल्ब बुझ जाएंगे। लेकिन एक-एक बल्ब का अपना 'स्विच' भी है। और एक-एक 'स्विच' को बंद करते रहें तो एक-एक बल्ब बंद होता रहेगा। और बिना 'स्विच' के भी एक बल्ब को फोड़ दें तो वह तो खो जाएगा।

लहरें सब अलग हैं, उनके नीचे जुड़ा हुआ सागर एक है। इसलिए यह नहीं कहा जा सकता कि जब एक लहर गिरेगी तो सब लहरों को गिरना चाहिए और जब एक लहर उठे तो सब लहरों को उठना चाहिए। एक लहर गिरेगी तो एक लहर गिरेगी। बाकी लहरें उठ सकती हैं, कोई रोकने वाला नहीं है। अगर हम ऐसा इसके विपरीत सोचते हुए चलें कि समष्टि-चेतना, ब्रह्म-चेतना, परमात्मा उतर आए, तो मुझमें और आप में क्या फर्क कर पाएगा फिर! 'मेन स्विच आफ' हो गया।

इसलिए अरविंद जो कल्पना कर रहे हैं—कल्पना कहता हूं—कल्पना सुखद है। बहुत कल्पनाएं सुखद होती हैं, लेकिन सुखद होने से कल्पनाएं सही नहीं हो जाती हैं। यह बड़ी सुखद कल्पना है कि परमात्मा हम सब पर अवतरित हो जाए। लेकिन अगर मैं अज्ञानी रहने का तय किए हुए हूं, तो अरविंद की कोई ताकत नहीं है कि मुझ पर परमात्मा को उतरवा दें, न परमात्मा की खुद की कोई ताकत है कि मुझ पर उतर आए। इतनी स्वतंत्रता तो मुझे देंगे न कि मैं अज्ञानी रह सकूं। और जिस दिन अज्ञानी रहने की स्वतंत्रता न रह जाएगी, उस दिन ज्ञान का कितना मूल्य होगा? उस दिन तो ज्ञान एक परवशता होगी, ज्ञान भी एक गुलामी होगी, जो आपकी छाती पर सवार हो जाएगा।

अरविंद की जो कल्पना है, देखने में सुखद, भीतर बहुत भयावह है। नहीं, मैं ऐसा नहीं देखता हूं। आज तक की मनुष्यजाति का इतिहास ऐसा नहीं कहता। आज तक की मनुष्य जाति का इतिहास यही कहता है कि व्यक्ति-चेतना उठती है और परमात्म-चेतना में लीन हो जाती है। जब लीन होती है तो उसमें परमात्म-चेतना भी उतर जाती है। फिर तय करना मुश्किल होता है कि बूंद सागर में गिरी कि सागर बूंद में गिर गया, एक दफा बूंद गिरे। लेकिन गिरती सदा बूंद ही है, अब तक सागर को बूंद में गिरते नहीं देखा गया है। गिर जाने के बाद तय करना मुश्किल है कि कौन किसमें गिरा! एक दफा बूंद गिर जाए सागर में, तो फिर तय करना मुश्किल है कि सागर बूंद से मिला कि बूंद सागर से मिली। मिल जाने के बाद तो तय करना मुश्किल है कि कौन किससे मिला, कौन किसमें गिरा, लेकिन मिलने के पहले ऐसा कभी नहीं हुआ है कि सागर बूंद में गिरा हो। अरविंद इसकी कामना कर रहे हैं कि सागर बूंद में गिर जाए। लेकिन किसी दिन अगर सागर बूंद पर गिरेगा, तो मैं मानता हूं, बूंद इनकार ही करेगी। बूंद को बूंद होने का हक है। सागर इनकार नहीं करता है बूंद को गिरने से, क्योंकि बूंद गिरने से सागर का कुछ बनता-बिगड़ता नहीं, कुछ कम-ज्यादा नहीं होता। सागर को पता ही नहीं चलता बूंद के गिरने से। बूंद को ही पता चलता है, जब वह सागर में गिरती है कि मैं सागर में गिरी, बूंद को ही पता चलता है कि मैं सागर से एक हो गई, मैं सागर हो गई। सागर ने कभी ऐसा वक्तव्य नहीं दिया कि मैं बूंद से एक हो गया। कभी परमात्मा का कोई वक्तव्य नहीं है कि मैं व्यक्ति से एक हो गया। सब वक्तव्य व्यक्तियों के हैं कि मैं परमात्मा से एक हो गया। लेकिन सागर अगर बूंद पर गिरे तो बूंद कह भी सकती है कि कृपा करो, तुम मुझे मिटा ही दोगे! और तुम्हारा गिरना मुझ पर भारी हो जाएगा।

तो मैं मानने को राजी नहीं हूं कि 'काज़्मिक कांशसनेस', ब्रह्मांड-चेतना व्यक्ति के ऊपर गिरेगी, जैसा अरविंद का खयाल है। और समस्त मनुष्य जाति के अनुभव के विपरीत है वह बात इसलिए भविष्य को नहीं छोडूंगा। और फिर अरविंद एक अर्थ में अतीत हो गए। अब वह नहीं हैं जमीन पर। अरविंद ने और भी वक्तव्य दिए थे जो निपट नासमझी के सिद्ध हुए हैं।

अरविंद ने कहा था कि मैं 'फिजिकली इम्मार्टल' हूं, मैं शरीर रूप से अमृत हूं। और मजा यह है कि वह अंधे भक्त जो अभी भी आशा कर रहे हैं कि परमात्म-चेतना उन पर उतर आएगी, वे यह भी माने बैठे हुए थे कि अरविंद 'फिजिकली', शरीरगत रूप से अमर हैं, उनकी मृत्यु नहीं हो सकती। और जिस आदमी में परमात्मा उतर आया हो—और अरविंद का खयाल यह था कि परमात्मा आत्मा तक ही नहीं उतरेगा, 'फिजिकल बॉडी' तक उतरेगा। ये जो भौतिक शरीर के अणु हैं,

यह भी परमात्मरूप हो जाएंगे जब वह उतरेगा; तो फिर मृत्यु कैसे घटित हो सकती है? तो तर्क तो ठीक ही था, इसी के संदर्भ में था तर्क कि जब परमात्मा उतर ही आएगा और शरीर के कण तक उतर जाएगा, 'मैटर' तक उतर जाएगा, प्रकृति तक उतर जाएगा, तो फिर मृत्यु का क्या सवाल है? इसलिए अमृत्यु की बहुत लोगों ने बातें की हैं, लेकिन वह आत्मिक अमरत्व की बातें की हैं, अरविंद पहले आदमी हैं पृथ्वी पर जो भौतिक अमरत्व की, 'फिजिकल इम्मार्टलिटी' की बात करते थे।

लेकिन इस तरह की बात करने में एक बड़ा फायदा है कि जब तक मैं नहीं मरा हूं, तब तब आप मुझे हरा नहीं सकते। और जब मैं मर ही गया तो मुझे आप क्या हराइयेगा। जब तक अरविंद जिंदा थे, दलील सही थी। कैसे सिद्ध करियेगा कि यह बात गलत होगी! और जब मर गए, तो अब किसके सामने सिद्ध करने जाइएगा? लेकिन आश्चर्य यह नहीं है कि अरविंद मर गए। अरविंद के मरने के चौबीस घंटे तक जो मां नाम की महिला उस आश्रम में हैं, उन्होंने मानने से...राजी नहीं हुई वह कि वह मर सकते हैं। उन्होंने यही माना कि वह गहरी समाधि में चले गए हैं। और तीन दिन तक शरीर को बचाने की कोशिश की, इस आशा में, क्योंकि इस मुल्क की एक पुरानी धारणा है कि योगी का शरीर 'डिसइंटीग्रेट' नहीं होता है। योगी का शरीर, मरने के बाद सड़ता नहीं। लेकिन तीन दिन बाद जब अरविंद के शरीर से बदबू छूटने लगी तब बड़ी मुश्किल हुई। फिर इसको जल्दी से दफनाना पड़ा। क्योंकि वह खबर अगर सब जगह पहुंच जाए, तो जैसा अभी पूछा गया कि यह मुल्क बहुत समझदार है और हर किसी को योगी नहीं कह देता, तो यह मुल्क मानता है कि योगी मर जाए तो उसके शरीर से बास नहीं आनी चाहिए, तो फिर क्या होगा? फिर जब बास आने लगेगी तो यह मुल्क कहेगा कि अरे, हम बड़ी गलती में थे, यह आदमी योगी नहीं है। तो इसको जल्दी दफनाओ और यह खबर मत फैलने दो। और आज भी अरविंद आश्रम में बैठे हुए नासमझों में बहुत ऐसे हैं जो मानते हैं कि वह वापिस लौट आएंगे, क्योंकि वह 'फिजिकली इम्मार्टल' हैं।

ये जो नासमझियां हैं, हमारे ये जो अंध-विश्वास हैं, ये बड़े विचारणीय हैं। हम क्या-क्या पागलपन की बातें करते हैं! मैं न तो मानता हूं कि योगी के शरीर में कोई विशेषता हो जाती है कि उसमें सड़ांध न आए। सड़ेगा। ऐसा नहीं है कि नहीं सड़ेगा। क्योंकि जिस योगी का शरीर सड़ेगा ही नहीं, वह मरेगा ही किसलिए? आखिर सड़ने से तो मरना आता है। हमारी मृत्यु जो है, बुढ़ापा जो है, वह 'डिसइंटीग्रेशन' की शुरुआत है। जब योगी बूढ़ा हो जाएगा, और जब योगी का शरीर बाकी सब नियम पालन करेगा, बचपन से जवानी में जाएगा, जवानी से बुढ़ापे में जाएगा, बुढ़ापे से मौत में जाएगा, तो सिर्फ एक नियम चूक जाएगा उसका कि मरने के बाद उसका शरीर सड़ेगा नहीं? सड़ेगा। इससे कोई संबंध नहीं है। उसके भीतर की आत्मा ज्ञान को उपलब्ध हुई थी कि ज्ञान को नहीं उपलब्ध हुई थी, इससे उसके शरीर के सड़ने-न सड़ने का कोई भी संबंध नहीं है। कोई 'रेलिवेंस' नहीं है। और आत्मा तो दोनों हालत में आपके भीतर है, चाहे आप योगी हैं, चाहे आप योगी नहीं हैं। आत्मा की मौजूदगी में तो कोई फर्क नहीं पड़ता। सिर्फ आत्मा के बोध में फर्क पड़ता है कि योगी जानता है कि मैं आत्मा हूं, और आप नहीं जानते। लेकिन इस बोध से शरीर के सड़ने-न सड़ने का कोई भी संबंध नहीं है। फिर योगी बीमार भी पड़ता है। फिर हमें झूठी कहानियां गढ़नी पड़ती हैं, फिर हमें परेशानियां होती हैं।

महावीर को मरने के पहले छः महीने पेचिश की बीमारी थी। अब जैनियों को कहानियां गढ़नी पड़ीं, क्योंकि महायोगी को पेचिश की बीमारी हो जाए! और वह भी उसको जिसने महा-उपवास किए हों! उसका तो पेट कम-से-कम बिलकुल ठीक ही होना चाहिए। पेचिश और महावीर को! तो फिर हम सबका क्या होगा? महावीर तो खाते-पीते ही नहीं। कथा तो यह है कि बारह साल में उन्होंने तीन सौ पैंसठ दिन खाना खाया—कभी तीन महीने छोड़कर, कभी दो महीने छोड़कर, कभी चार महीने छोड़कर एक दिन खाना खाया। अब इस आदमी को कभी पेचिश हो जाए! हालांकि मेरे हिसाब से इस आदमी को ही होनी चाहिए। क्योंकि यह जो खाने के साथ अनाचार होगा, तो पेट को नुकसान पहुंचेंगे। तो मेरे लिए तो संगतिपूर्ण है। यानी मैं मानता हूं कि इसमें संगति है कि पेचिश हुई छः महीने। लेकिन महावीर को महायोगी मानकर जो चल रहा है उसकी बड़ी दिक्कत है, क्योंकि वह साथ में यह मानता है। मेरे लिए कोई दिक्कत नहीं आती, महायोगी होने से पेचिश होने की कोई बाधा मुझे नहीं पड़ती। मैं महायोगी को इतना बड़ा मानता हूं कि पेचिश से कोई खास नुकसान नहीं

हो जाता। लेकिन कुछ हैं, जिनके लिए पेचिश हो गई तो महायोगी कैसे! तो उनको कहानी गढ़नी पड़ी कि यह पेचिश साधारण नहीं है, यह गोशालक के द्वारा मंत्र द्वारा फेंकी गई पेचिश है, जिसको महावीर ने झेल लिया है। करुणावश पी गए हैं और उसको झेल रहे हैं। जब योगी बीमार पड़ता है तो हमें कहना पड़ता है, यह किसी की ली गई बीमारी है। बड़ा मजा यह है कि योगी को आप खुद बीमार तक न होने देंगे! तो वे यह कहेंगे कि किसी की ली गई बीमारी है—कोई बीमार था, योगी ने उसकी बीमारी ले ली।

हम कैसी नालायकी की बातों में पड़े हुए हैं! इसका कोई मतलब नहीं है! अरविंद मरे, शरीर सड़ा, 'फिजिकल इम्मार्टलिटी' की बात बेमानी हो गई—पहले ही बेमानी थी। लेकिन पहले यह कहा जाता है कि अभी आप कैसे कह सकते हैं, अभी तो अरविंद जिंदा हैं। लेकिन तब भी हम कह सकते थे, क्योंकि आज तक पृथ्वी पर 'फिजिकल इम्मार्टलिटी' संभव नहीं हुई। उसके कारण हैं। उसके कारण हैं, कि जो भी चीज...जैसे बुद्ध ने कहा है—ठीक कहा है—कि जो भी चीज जोड़ से बनती है वह टूटेगी, क्योंकि सब जोड़ों की सीमा है। एक पत्थर को मैं फेंकूंगा, तो वह गिरेगा, क्योंकि मेरे हाथ की ताकत है फेंकने के लिए। वह ताकत जब चुक जाएगी और 'रेसिस्टेंस' टूट जाएगा, तो पत्थर गिर जाएगा। ऐसा कोई पत्थर नहीं हो सकता कि मैं फेंकूं और फिर गिरे ही न। दूरी बढ़ सकती है, लेकिन गिरेगा। जन्म होगा, मृत्यु होगी। हां, ऐसा योगी 'फिजिकल इम्मार्टलिटी' को उपलब्ध हो सकता है जो जन्म ही न ले। एकदम 'फिजिकली' मौजूद हो जाए पृथ्वी पर—स्वयंभू—खड़ा हो जाए एकदम जमीन पर आकर। किसी माता-पिता से जन्म न ले। अब बड़ा मजा यह है कि एक छोर को तो आप मानते हैं कि माता-पिता से जन्म लेंगे और दूसरे छोर को नहीं मानते कि मृत्यु होगी। इस जगत में दोनों छोर सदा साथ हैं। जो माता-पिता से जन्मेगा, वह मरेगा। क्योंकि माता-पिता 'इम्मार्टल' को पैदा नहीं कर सकते। दो शरीर ही हैं वे बेचारे, दो शरीर जो पैदा करेंगे वह शरीर के नियमों से चलेगा। और शरीर के नियमों से मरेगा। यह इतना सीधा-सा गणित भी, लेकिन हम कहेंगे जब तक अरविंद नहीं मरते तब तक आप कुछ नहीं कह सकते।

मैं कहता हूं, मैं कह सकता हूं। उनके मरने के लिए राह देखने की जरूरत नहीं है। क्योंकि यह सीधा गणित और विज्ञान का सूत्र है। इसमें उनकी कल्पनाओं से बाधा नहीं पड़ती, इसमें उनके अनुमानों से कोई अर्थ नहीं है। और फिर मजा यह है कि मर जाने के बाद किससे कहियेगा? अब वह मर गए, अब किससे कहियेगा? अब अरविंद से कोई विवाद का उपाय न रहा। और आप कहते हैं कि पांडिचेरी में जो हो रहा है वह बाद की पीढ़ियां तय करेंगी। तो यह पीढ़ी तो मूढ़ बन ही जाएगी वहां जाकर। इसका क्या होगा? इस पीढ़ी का क्या होगा जो वहां बैठकर मूढ़ता कर लेगी? इसको बनने दें? भविष्य की पीढ़ियां तय करेंगी, लेकिन यह पीढ़ी मर जाएगी।

नहीं, भविष्य के लिए नहीं रुका जा सकता है। ये भी आदमी कीमती हैं जो वहां बैठकर काम में लगे हैं। इनको भी खबर पहुंचानी जरूरी है कि तुम जो कर रहे हो, उसे एक दफा पुनर्विचार कर लो। परमात्मा कभी नहीं उतरता व्यक्ति तक, व्यक्ति ही परमात्मा तक जाता है। लेकिन जाकर जो अनुभव होता है, वे ऐसे ही होता है कि परमात्मा ही उतर आया, वह बिलकुल दूसरी बात है। उसका इससे कोई लेना-देना नहीं है।

एलिस बेली के संबंध में एक सवाल पूछा है। एलिस बेली का खयाल है कि कोई मास्टर 'के' तिब्बत की किन्हीं गुफाओं, हिमालय की किन्हीं कंदराओं से उसे संदेश देते रहे।

इसकी बहुत संभावना है। इसमें बहुत सच्चाइयां हैं।

असल में ऐसी आत्माएं हैं, शरीर से हट गई हैं लेकिन जिनकी अनुकंपा इस जगत से नहीं हट गई है। ऐसी आत्माएं हैं, जो अपने अशरीरी जगत से भी इस जगत के लिए निरंतर संदेश भेजने की कोशिश करती हैं। और कभी अगर उन्हें 'मीडियम' उपलब्ध हो जाए, कोई माध्यम उपलब्ध हो जाए, तो उसका उपयोग करती हैं।

ऐसा कोई बेली के साथ पहली दफा हुआ हो, ऐसा नहीं है। ए.पी.सिनेट ने भी ठीक वैसे ही माध्यम का काम इसके पहले किया था। उसके पहले लीडबीटर ने भी, कर्नल अल्काट ने भी, एनीबेसेंट ने भी, ब्लावट्स्की ने भी, इन सबने भी इस तरह के माध्यम के काम किए थे। इसका एक लंबा इतिहास है। ऐसी आत्माओं से संबंधित होकर, जो आत्मिक विकास

के दौर में हमसे आगे की सीढ़ियों पर हैं, बहुत कुछ जाना जा सकता है और बहुत कुछ संदेशित किया जा सकता है, 'कम्यूनिकेट' किया जा सकता है।

ठीक इसी तरह का बहुत बड़ा प्रयोग, जो असफल हुआ, वह ब्रह्मवादियों ने जे.कृष्णमूर्ति के साथ करना चाहा था। बड़ी व्यवस्था की थी कि कृष्णमूर्ति को उन आत्माओं के निकट संपर्क में लाया जाए जो संदेश देने को आतुर हैं, लेकिन जिनके लिए माध्यम नहीं मिलते। और कृष्णमूर्ति की पहली किताबें, 'एट द फीट आफ द मास्टर', या 'लाइव्स आफ अलक्यानी', उन्हीं दिनों की किताबें हैं। इसलिए जे.कृष्णमूर्ति उनके लेखक होने से इनकार कर सकते हैं, करते हैं। वे उन्होंने अपने होश में नहीं लिखी हैं। 'एट द फीट आफ द मास्टर'—'गुरुचरणों में'—बड़ी अदभुत किताब है। लेकिन कृष्णमूर्ति उसके लेखक नहीं हैं। सिर्फ माध्यम हैं। किसी आत्मा के द्वारा दिए गए संदेश उसमें संगृहीत हैं।

बेली का भी दावा यही है। पश्चिम के मनोवैज्ञानिक इसे इनकार करेंगे। क्योंकि मनोविज्ञान के पास अभी कोई उपाय नहीं है जहां से वह स्वीकार कर सके। पश्चिम के मनोविज्ञान को अभी कुछ भी पता नहीं है कि मनुष्य के इस शरीर के बाद और शरीर भी हैं। पश्चिम के मनोविज्ञान को अभी यह भी बहुत स्पष्ट पता नहीं हो पा रहा है—मैं मनोविज्ञान कह रहा हूं, 'साइकिक साइंसेज' की बात नहीं कर रहा हूं, 'साइकोलॉजी' की बात कर रहा हूं। पश्चिम का जिसको हमें कहना चाहिए ऑफिसियल साइकोलॉजी, आक्सफर्ड, कैंब्रिज और हार्वर्ड में जो पढ़ाई जाती है विद्यार्थी को, वह जो मनोविज्ञान है—उस मनोविज्ञान को अभी इन सबका कोई भी पता नहीं है कि मनुष्य अशरीरी स्थिति में भी रह सकता है। और अशरीरी स्थितियों से भी संदेश दिए जा सकते हैं। और ऐसी बहुत-सी आत्माएं हैं जो निरंतर संदेश देती रही हैं, इस सदी में ही नहीं।

महावीर के जीवन में बहुत उल्लेख हैं। महावीर एक गांव के किनारे खड़े हैं—मौन हैं। एक ग्वाला अपनी गायों को उनके पास छोड़कर और यह कहर कि मैं थोड़ी देर में आता हूं, जरा मेरी गायों को देखते रहना, गांव वापस चला गया। महावीर मौन खड़े हैं इसलिए हां भी नहीं भर सकते, ना भी नहीं कर सकते। कुछ नहीं कहा है, वह जल्दी में यह सोचकर कि देखता रहेगा यह आदमी, कुछ काम भी नहीं कर रहा है, नंगा खड़ा है गांव के किनारे, वह अंदर चला गया है। लौट कर जब आया है, तब तक गायें चल पड़ी हैं और जंगल के अंदर खो गई हैं। उस आदमी ने समझा कि यह बड़ा बेईमान आदमी मालूम पड़ता है, गायें चोरी करवा दीं इसने, गायें चोरी हो गइ। तो उसने मारा, पीटा, ठोंका; उनके कान में कील ठोंक दिए। और कहा, बहरे हो! लेकिन वह फिर भी चुप रहे, क्योंकि वे चुप ही खड़े हैं।

तो एक कथा है कि इंद्र ने आकर महावीर को कहा कि मैं आपकी रक्षा का कोई उपाय करूं? अब यह इंद्र कोई व्यक्ति नहीं है। यह इंद्र अशरीरी एक आत्मा है, जो इतने निरीह, निपट सरल आदमी पर हुए व्यर्थ के अनाचार से पीड़ित हो गई है। लेकिन महावीर ने कहा, नहीं। अब यह बड़े मजे की बात है कि महावीर ग्वाले से नहीं बोले और इंद्र से कहा, नहीं। तो निश्चित ही यह 'नहीं' भीतर कहा गया है, बाहर नहीं कहा गया है। नहीं तो ग्वाले से ही बोल देते। इसमें क्या कठिनाई थी? इसलिए यह इंद्र से जो बात है, यह 'इनर' है, यह भीतरी है, यह 'साइकिक' है, 'एस्ट्रल' है। यह महावीर ने ओंठ नहीं खोले हैं अभी भी, उनके ओंठ बंद ही हैं। यह बात किसी और तल पर हुई है, नहीं तो महावीर का मौन टूट गया—वह बारह साल के लिए मौन हैं—यह मौन नहीं टूटा। इस पर महावीर के पीछे चलने वालों को बड़ी कठिनाई आती है कि इसको कैसे हल करें, क्योंकि अगर यह इंद्र कोई आदमी है तो फिर यह महावीर बोल गए और मौन टूट गया। और जब इंद्र ही से तोड़ दिया, तो गरीब ग्वाले ने क्या बिगाड़ा था, उससे ही तोड़ लेते! लेकिन न तो मौन टूटा, क्योंकि ऐसे मार्ग हैं जहां बिना वाणी के वाणी संभव है, जहां बिना शब्द के बोला जा सकता है और जहां बिना कानों के सुना जा सकता है, और ऐसे व्यक्तित्व हैं जो अशरीरी हैं।

महावीर ने कहा, नहीं; क्योंकि तुम्हारे द्वारा रक्षित होकर मैं परतंत्र हो जाऊंगा। मुझे असुरक्षित ही रहने दो, लेकिन वह मेरी स्वतंत्रता तो है। अगर तुमसे मैंने रक्षा ली, तो मैं तुमसे बंध जाऊंगा। तो मुझे असुरक्षित रहने दो। असल में महावीर यह कह रहे हैं कि ग्वाला मुझे इतना नुकसान नहीं पहुंचा सकता, जितना तुमसे सुरक्षा लेकर मुझे पहुंच जाएगा। उसे माने दो,

उससे कुछ हर्जा नहीं होगा; बाकी तुमसे रक्षा लेकर तो मैं गया, तब तो तुम मेरी 'सिक्योरिटी' बन गए, तुम मेरी सुरक्षा बन गए।

बुद्ध को जब पहली दफा ज्ञान हुआ, तो देवताओं के आने की कथा है कि देवता आए और बुद्ध से प्रार्थना करने लगे—क्योंकि बुद्ध सतत सात दिन तक बोले ही नहीं ज्ञान के बाद। उन्हें ज्ञान हो गया लेकिन वाणी खो गई। अक्सर ऐसा होगा ही। जब ज्ञान होगा, वाणी खो जाएगी। अज्ञान में बोलना बहुत आसान है। क्योंकि कोई डर ही नहीं है कि क्या बोल रहे हैं। जिसका हमें पता नहीं है, उस संबंध में बोलना बहुत सुविधापूर्ण है। क्योंकि भूल होने का भी कोई डर नहीं है। बुद्ध को ज्ञान हुआ, वाणी खो गई, सात दिन वे चुप बैठे रहे, देवता उनके आसपास हाथ जोड़े खड़े रहे और प्रार्थना करते रहे, बोलो। सात दिन बाद वे सुन पाए। देवताओं ने प्रार्थना की कि आप नहीं बोलेंगे तो जगत का बड़ा अहित होगा। लाखों वर्षों में ऐसा व्यक्ति पैदा होता है। तो आप चुप न रहें, आप बोलें!

ये देवता कोई व्यक्ति नहीं हैं। ये वे आत्मायें हैं, जो आतुर हैं कि एक व्यक्ति को उपलब्ध हो गया है। जो वे खुद कहना चाहती हों आत्मायें जगत से, लेकिन उनके पास अब शरीर नहीं है, इस व्यक्ति के पास अभी शरीर है और यह कह सकता है, और इसको वह मिल गया है जो कहा जाने योग्य है, और पृथ्वी पर ऐसी घटना मुश्किल से, मुश्किल से कभी-कभी घटती है। तो वे आत्मायें प्रार्थना करती हैं कि आप कहें। आप कहें। बुद्ध को बामुश्किल राजी कर पाती हैं कहने को। लेकिन बुद्ध का वे माध्यम की तरह उपयोग नहीं कर रही हैं। संदेश उनका और बुद्ध की वाणी नहीं है। बुद्ध का अपना नहीं संदेश है, अपनी ही वाणी है।

एलिस बेली जैसे व्यक्ति गलत नहीं कह रहे हैं। लेकिन वे सही कह रहे हैं, इसको सिद्ध करना उनके लिए बहुत मुश्किल मामला है। वे केवल माध्यम हैं। माध्यम इतना ही कह सकता है कि मुझे ऐसा सुनाई पड़ता है, यह सही है? यह मेरे ही मन का खेल नहीं है, वह कैसे सिद्ध करेगा? यह मेरा ही 'अनकांशस' नहीं बोलता है, यह कैसे सिद्ध करेगा? यह मैं ही अपने को किसी 'डिसेप्शन' में नहीं डाल रहा हूं, यह कैसे सिद्ध करेगा? बहुत मुश्किल है। माध्यम को सिद्ध करना मुश्किल है। इसलिए बेली को मनोवैज्ञानिक हरा सकते हैं।

और आखिरी सवाल पूछा है कि क्या मेरा किसी इस तरह के मास्टर या ऐसे किसी गुरु से संबंध है?

नहीं, उधार काम मैं करता ही नहीं। मेरा संबंध सिर्फ मुझसे है। तो जो भी मैं कह रहा हूं वह मैं ही कह रहा हूं। उसकी भूल-चूक, उसके सही-गलत होने का सारा जिम्मा मुझ पर है। किसी 'मास्टर' से मेरा कोई लेना-देना नहीं है। और अगर मैं किसी को 'मास्टर' बनाऊं, तो डर यह है कि फिर मैं किसी का 'मास्टर' बन सकता हूं। वह काम मैं करता नहीं। न मैं किसी का शिष्य हूं, न किसी को शिष्य बनाने का सवाल है। निपट जो सीधा मुझे दिखाई पड़ रहा है, वह मैं कह रहा हूं, इसलिए मुझे कोई सिद्ध करने जाने की जरूरत नहीं है कि 'मास्टर' होते हैं कि नहीं होते हैं। मैंने सिर्फ बात कही है आपसे। वे होते हैं कि नहीं होते हैं, इससे मेरा कोई लेना-देना नहीं है। इतना मैं कहता हूं कि शरीर छूट जाने के बाद बुरी आत्मायें भी बच जाती हैं, जिन्हें हम प्रेत कहते हैं। अच्छी आत्मायें भी बच जाती हैं, जिन्हें हम देवता कहते हैं। इन देवताओं के लिए पश्चिम में जो नया शब्द है 'मास्टर' का, वह पकड़ गया है। इन देवताओं ने सदा संदेश भेजे हैं। वे आज भी संदेश भेजने के लिए सदा उत्सुक हैं। प्रेतात्माओं ने भी, बुरी आत्माओं ने भी संदेश भेजे हैं। अगर आपके मन की स्थिति ऐसी हो कि प्रेतात्मा आपको संदेश दे सके, तो बराबर देगी। और बहुत बार आदमियों ने ऐसे काम किए हैं जो उन्होंने नहीं किए हैं, किसी ने उनसे करवाए हैं। बुरे आदमियों ने भी करवाए हैं। बुरी आत्मायें भी आपसे काम करवा लेती हैं, जो आपने नहीं किया है। इसलिए जरूरी नहीं है कि जब अदालत में एक आदमी कहता है कि यह हत्या मैंने नहीं की, मेरे बावजूद हो गई है, तो पक्का नहीं है कि वह आदमी झूठ ही कहता हो। यह हो सकता है। ऐसी आत्मायें हैं, जिन्होंने निरंतर हत्यायें करवाई हैं। ऐसे घर हैं जमीन पर जिन पर उन आत्माओं का वास है कि उस घर में जो भी रहेगा, वे उनसे हत्या करवा लेंगी। बदले हैं लंबे भी; पीढ़ियों ही नहीं चलते झगड़े, जन्मों भी चलते हैं।

एक व्यक्ति को मेरे पास लाया गया—एक युवक को मेरे पास लाया गया। जिस मकान में वह रह रहा है, अभी कोई दो साल पहले, तीन साल पहले वह उस मकान को खरीदे और उसमें आए, तब से उस लड़के में कुछ गड़बड़ होनी शुरू हो

गई। और उसका सारा व्यक्तित्व बदल गया। वह सौम्य था, विनम्र था, वह सब खो गया। वह दंभी, अहंकारी, हिंसक, हर चीज की तोड़-फोड़ में उत्सुक, जरा-सी बात में लड़ने को आतुर हो गया—अचानक जिस दिन घर में वह आया। अगर यह धीरे-धीरे होता तो पता भी न चलता। एकदम से 'पर्सनैलिटी चेंज' हुई, एकदम से व्यक्तित्व बदला। वह मेरे पास लाए। उन्होंने कहा कि हम बड़ी मुश्किल में पड़ गए हैं। और जैसे ही उसको घर के बाहर ले जाते हैं, वह फिर ठीक हो जाता है। जब मेरे पास लाए तो वह ठीक था। वह कहने लगा, मैं खुद ही मुश्किल में हूं। अब अभी मैं बिलकुल ठीक हूं। लेकिन न-मालूम उस घर में जाकर क्या होता है कि मैं एकदम गड़बड़ हो जाता हूं।

उसको बेहोश किया, उसको सम्मोहित किया और उससे पूछा। तो ग्यारह सौ साल लंबी कहानी! कोई आदमी ग्यारह सौ साल पहले उस खेत का मालिक था, जहां वह मकान है। और ग्यारह सौ साल से वह निरंतर कोई पैंतीस हत्यायें करवा चुका। उसने सब वक्तव्य दिया कि मैं तो इससे जब तक हत्या न करवा लूं, तक तक छोड़ने वाला नहीं हूं। और ग्यारह सौ साल से निरंतर वह उस परिवार के लोगों की हत्या करवा रहा है, जिसके द्वारा उसकी हत्या ग्यारह सौ साल पहले की गई थी। उसकी हत्या की गई थी। और तब से वह प्रेत है और उस जगह बैठा है। और जिसने उसकी हत्या की थी, जिस परिवार ने, जिस दस-पंद्रह लोगों ने उसकी हत्या में हाथ बंटाया था, निरंतर उनकी हत्या में वह संलग्न है, वे किसी रूप में, वे कहीं पैदा हों, वह उनकी हत्या करवा रहा है।

बुरी आत्मायें भी अपने संदेश पहुंचाने की चेष्टा करती हैं। बहुत बार आप इस खयाल में होंगे कि आप कर रहे हज, आप नहीं कर रहे होते। बहुत बार आपसे ऐसा अच्छा कृत्य हो जाता है जो कि आप खुद ही नहीं सोच सकते कि मैं कर सकता था! दूसरे की बात छोड़ें, दूसरा तो मानता ही नहीं कि किसी ने अच्छा किया, आप खुद भी नहीं मान पाते कि इतना अच्छा मैं कर सकता था जो मैंने किया। उसमें भी कोई संदेश काम करते चले जाते हैं।

बेली के वक्तव्य में कोई गलती नहीं है, लेकिन बेली अपने वक्तव्यों को सिद्ध न कर पाएगा। कोई नहीं कर पाता। ब्लावट्स्की नहीं कर पाई अपने वक्तव्यों को सिद्ध। और मैंने इस बीच एक बात कही, उसको थोड़ा और समझा दूं। मैंने कहा कि कृष्णमूर्ति के साथ एक बहुत बड़ा प्रयोग किया जा रहा था, जो असफल गया। एक बहुत बड़ा प्रयोग था कि जिनको हम देवलोग की आत्मायें कहें, उनमें बहुत-सी आत्मायें एक-साथ उत्सुक होकर इस व्यक्ति में एक ऐसी चेतना को जन्माना चाहती थीं जैसा कि बुद्ध, महावीर या कृष्ण, इस तरह की बड़ी चेतना इस व्यक्ति के भीतर प्रवेश कर जाए। ऐसी कोई चेतना आतुर है। असल में बुद्ध का ही एक आश्वासन अभी प्रतीक्षा कर रहा है। बुद्ध का एक आश्वासन है कि ठीक समझना कि मैं ही मैत्रेय के नाम से एक बौर और लौट आऊंगा। तो मैत्रेय नाम का बुद्ध-अवतार आतुर है, लेकिन उसके योग्य शरीर उपलब्ध नहीं हो रहा है। उसके योग्य ठीक संस्थान और 'मीडियम' उपलब्ध नहीं हो रहा है। 'थियोसॉफी' का सारा-का-सारा आयोजन, कोई सौ वर्ष की निरंतर श्रम-व्यवस्था एक ऐसे व्यक्ति को खोजने के लिए थी, जिसमें मैत्रेय की आत्मा प्रवेश कर जाए। इसलिए तीन-चार व्यक्तियों पर मेहनत उन्होंने शुरू की, लेकिन सभी असफल हुआ। सर्वाधिक मेहनत कृष्णमूर्ति पर की गई थी, लेकिन वह नहीं हो सका। और नहीं होने के कारण में, अति मेहनत ही कारण बनी। सारे लोग इतने चेष्टारत हो गए, चारों तरफ से इतना दबाव डाला गया कि स्वभावतः कृष्णमूर्ति का अपना व्यक्तित्व विद्रोही और बगावती हो गया। वह 'रिएक्ट' कर गया। उसने अंततः इनकार कर दिया कि—नहीं!

और उसके बाद चालीस साल हो गए, लेकिन कृष्णमूर्ति 'रिएक्शन' से पूरी तरह मुक्त नहीं हैं। वह अभी भी उन्हीं के खिलाफ बोले चले जा रहे हैं। वह कुछ भी बोलते हैं, उसमें उनकी खिलाफत मौजूद है ही। बहुत गहरे में वह पीड़ा अभी भी मौजूद है, वह घाव एकदम भर नहीं गया। लेकिन, थोड़ी गलती हो गई। कृष्णमूर्ति की हैसियत के आदमी को दूसरे की आत्मा के प्रवेश के लिए राजी नहीं किया जा सकता। थोड़ी और कमजोर आत्मा चुननी थी। फिर उन्होंने कृष्णमूर्ति से कमजोर आत्मायें चुनीं लेकिन उसकी भी तकलीफ है। उतनी कमजोर आत्मा उस आत्मा के प्रवेश के योग्य नहीं बन पाती। वह पात्र छोटा पड़ जाता है। और मैत्रेय की आत्मा उसमें प्रवेश न कर पाए। और जो पात्र बड़ा पड़ सकता है, वह खुद अपनी आत्मा में इतना गहरा है कि वह किसी आत्मा के प्रवेश के लिए राजी क्यों हो? इसलिए बचपन में तो कृष्णमूर्ति को उन्होंने किसी तरह राजी रखा, लेकिन जैसे-जैसे उनकी उम्र बढ़ी और उनकी 'अवेयरनेस' बढ़ी और उनकी खुद की चेतना

का जन्म हुआ, वैसे-वैसे इनकार बढ़ता चला गया। एक बहुत बड़ा प्रयोग सफल नहीं हो सका और मैत्रेय की आत्मा आज भी भटकती है।
लेकिन कठिनाई बड़ी है, और कठिनाई यही है कि जो राजी हो सकते हैं उसके लिए, वह योग्य नहीं है और जो योग्य हैं, वह राजी नहीं हो सकते। इसलिए कहा नहीं जा सकता कि कितनी देर लगेगी मैत्रेय के व्यक्तित्व को उतरने में। उतर भी सकेगा जल्दी, यह भी संभावना रोज सिकुड़ती जाती है। क्योंकि अब तो कोई बड़ा आयोजन भी नहीं है उसकी तैयारी के लिए। अब तो आकस्मिक आयोजन ही काम कर सकता है। वैसा ही आयोजन सदा काम किया है, अतीत में। कोई बुद्ध के लिए किसी व्यक्ति को राजी नहीं करना पड़ा। एक गर्भ उपलब्ध हो गया और बुद्ध प्रवेश कर गए। और महावीर के लिए किसी को राजी नहीं करना पड़ा, एक गर्भ उपलब्ध हो गया और महावीर प्रवेश हो गए। लेकिन उतने श्रेष्ठ गर्भ उपलब्ध होने मुश्किल होते चले गए हैं।

'गीता के सात सौ एक श्लोकों का परायण करने में कम-से-कम चार घंटे लग जाते हैं। तो क्या कुरुक्षेत्र के रण-मैदान में दोनों सेनाओं के मध्य में जब श्रीकृष्णार्जुन-संवाद हुआ, उस दरम्यान चार घंटे तक युद्ध स्थगित कर दिया गया?'

* बिलकुल ठीक है। बैठिये।

'आपने कहा था कि ज्यादा-से-ज्यादा एक साल तक शरीर छोड़ने के बाद आत्मा दूसरा जन्म ले लेती है। आज कहा कि ग्यारह सौ साल तक खून करवाती रही एक प्रेतात्मा?'

* हां, ये विशेष स्मृति वाले लोग हैं। साधारण स्मृति की बात कर रहा था मैं, ये विशेष स्मृति वाले लोग हैं। और हमारे बीच विशेष स्मृति वाले लोग भी हैं।
कर्जन ने अपने संस्मरणों में एक घटना लिखी है। कर्जन ने लिखा है कि उसके पास एक विशेष स्मृति का आदमी राजस्थान से लाया गया। विशेष शब्द भी छोटा पड़ जाता है उसकी स्मृति के लिए। वह सिर्फ राजस्थानी के अतिरिक्त कोई भी भाषा नहीं जानता है। तीस भाषा बोलने वाले लोग लार्ड कर्जन के वाइसराय-भवन में बिठाए गए—तीस भाषा बोलने वाले लोग। और उन तीसों से कहा गया कि वे एक-एक वाक्य अपनी-अपनी भाषा को खयाल में ले लें। फिर वह राजस्थानी, ठेठ गंवार, गांव का आदमी पहले आदमी के पास गया और वह अपनी भाषा के वाक्य का पहला शब्द उसे बताएगा, फिर एक जोर का घंटा बजाया जाएगा। फिर वह दूसरे के पास जाएगा, वह अपनी भाषा के अपने वाक्यों का पहला शब्द उसे बताएगा। फिर जोर से घंटा बजाया जाएगा। ऐसा वह तीस लोगों के तीस वाक्यों का पहला शब्द लेकर पहले आदमी के पास वापिस लौटेगा। अब वह दूसरा शब्द बताएगा, फिर घंटा, और ऐसा चलेगा। ऐसा घंटों की लंबी यात्रा में वे तीस आदमी अपने तीस वाक्य बता पाएंगे, और हर शब्द के बाद तीस शब्दों का अंतराल होगा। और बाद में उस आदमी ने तीसों आदमियों के तीसों वाक्य अलग-अलग बता दिए कि इस आदमी का पूरा वाक्य यह है, इस आदमी का पूरा वाक्य यह है, इस आदमी का पूरा वाक्य यह है। अब ऐसा आदमी अगर प्रेत हो जाए, तो ग्यारह सौ साल बहुत कम हैं। ऐसे आदमी के लिए ग्यारह सौ साल बहुत कम हैं, यह ग्यारह लाख साल तक भी याद रख सकता है। विशेष स्मृति की बात है।
और आप जो पूछते हैं, वह बहुत कीमती सवाल है। ठीक पूछते हैं। चार घंटे लग गए! अगर हम गीता को पढ़ें तो चार घंटे लगते हुए मालूम पड़ते हैं। चार घंटे तक युद्ध रुका रहा होगा? संभव नहीं मालूम होता। कोई तो सवाल उठाता कि यह क्या हो रहा है? हम यहां युद्ध करने आए, हम कोई यह लंबा गीता का पाठ सुनने नहीं आए, यह कोई गीता-ज्ञान यज्ञ नहीं है कि यहां चार घंटे तक गीता का पाठ चले।
चार घंटे विचारणीय हैं।

अगर हम इतिहासज्ञ से पूछेंगे, तो वह कहेगा कि कुछ बात ऐसी होगी कि गीता तो थोड़े में कही गई होगी, फिर बाद में उसका विस्तार किया गया। अगर हम महाभारत के जानकारों से पूछें, तो वे कहेंगे गीता जो है, वह प्रक्षिप्त है। यह जगह मौजूं है ही नहीं। ऐसा मालूम होता है कि महाभारत पहले लिखा गया और फिर किसी कवि ने इस मौके को चुनकर अपनी पूरी कविता इसमें डाल दी, लेकिन यह जगह मौजूं नहीं मालूम पड़ती। युद्ध के स्थल पर इतने बड़े संदेश देने का कोई अवसर नहीं है, कोई उपाय नहीं है।

मैं क्या कहूंगा? न तो मैं मानता हूं कि प्रक्षिप्त है गीता, न मैं मानता हूं कि पहले संक्षिप्त में कही गई और फिर बड़े में कही गई। एक छोटे-से उदाहरण से समझाऊं तब खयाल में आ जाए।

विवेकानंद जर्मनी गए और डयूसन के घर मेहमान हुए। और डयूसन पश्चिम में उन दिनों 'इंडोलाजी' का, भारतीय ज्ञान का बड़े-से-बड़ा पंडित था। उस कोटि के एक ही दो आदमी, जैसे मेक्समूलर का नाम गिना सकते हैं। फिर भी कई मामलों में मेक्समूलर से भी डयूसन की अंतर्दृष्टि गहरी है। उपनिषदों को पश्चिम में समझने वाला वह पहला आदमी है। गीता को समझने वाला भी पश्चिम में वह ठीक पहला आदमी है। डयूसन का अनुवाद ही लेकर शापेनहॉर सड़क पर नाचा था। गीता का अनुवाद डयूसन का जब शापेनहॉर ने पहली दफा पढ़ा, तो सिर पर रखकर वह बाजार में नाचने लगा। और उसने कहा, यह किताब पढ़ने जैसी नहीं है, नाचने जैसी है। और शापेनहॉर साधारण आदमी नहीं था, असाधारण रूप से उदास आदमी था। उसकी जिंदगी में नाच बहुत मुश्किल बात है। एकदम उदास है, उदास और दुखवादी था। 'पेसिमिस्ट' था। मानता ही यह था कि जिंदगी दुख है। और सुख सिर्फ आगे आने वाले दुख में डालने की तरकीब है। जैसे कि हम मछली को आटा लगाकर कांटा डाल देते हैं। बस, आटा है सुख। असली चीज कांटा है, जो दुख है। आटे में फंस जाओगे, कांटा चुभ जाएगा। तो सुख का इतना ही मूल्य मानता था, जितना मछली के लिए आटा मानता है। वह शापेनहॉर डयूसन का अनुवाद लेकर नाचा था। उस डयूसन के घर विवेकानंद मेहमान थे।

डयूसन ने जर्मन भाषा में लिखी एक किताब जिसे वह पढ़ रहा था, कई दिन से मेहनत कर रहा था। आधी पढ़ चुका था। जब विवेकानंद उसके पास गए थे तो वह आधी पढ़ रहा था। उसने कहा, यह बड़ी अदभुत किताब है। विवेकानंद ने कहा कि घंटे भर के लिए मुझे भी दे दो। पर उसने कहा, आप तो ज्यादा जर्मन जानते नहीं। तो विवेकानंद ने कहा कि जो ज्यादा जर्मन जानते हैं क्या वे समझ ही लेंगे? उसने कहा, यह जरूरी नहीं है। तो विवेकानंद ने कहा, उलटा भी हो सकता है कि जो कम जर्मन जानता हो, वह भी समझ ले। खैर, मुझे दो। पर डयूसन ने कहा, आप दो-तीन दिन ही तो यहां मेहमान होंगे, पंद्रह दिन तो मैं मेहनत कर चुका, अभी आधी ही पढ़ पाया हूं। विवेकानंद ने कहा कि मैं डयूसन नहीं हूं, मैं विवेकानंद हूं। खैर, वह किताब दे दी गई और घंटे भर बाद विवेकानंद ने वह किताब वापस कर दी। डयूसन ने कहा कि क्या! किताब पढ़ गए! विवेकानंद ने कहा, पढ़ ही नहीं गए, समझ भी गए। डयूसन ऐसे छोड़ने वाला आदमी न था। उसने दस-पांच प्रश्न पूछे, जो हिस्सा वह पढ़ चुका था उस बाबत, और विवेकानंद ने जो समझाया तो डयूसन तो दंग रह गया। उसने कहा कि आप समझ भी गए! कैसे यह हुआ, यह चमत्कार कैसे हुआ? विवेकानंद ने कहा, पढ़ने के साधारण ढंग भी हैं, असाधारण ढंग भी हैं।

हम सब साधारण ढंग से पढ़ते हैं, इसलिए जिंदगी में दस-पांच किताबें भी पढ़ पाएं, समझ पाएं, तो बहुत है। और ढंग भी हैं। और असाधारण ढंगों की बड़ी सीढ़ियां हैं। ऐसे लोग भी हैं जो किताब को हाथ में रखें और आंखें बंद करें और किताब फेंक दें। लेकिन वे 'साइकिक' ढंग हैं, वे बहुत आंतरिक ढंग हैं।

तो मेरा अपना मानना जो है वह मैं आपको कहूं, कृष्ण ने यह गीता कोई प्रकट वाणी में अर्जुन से नहीं कही है। यह बड़ा 'साइकिक कम्यूनिकेशन' है, इसका किसी को पता ही नहीं चला है। यह आसपास जो युद्ध में खड़े हुए लोग हैं, उन्होंने यह नहीं सुनी है। नहीं तो भीड़ लग जाती वहां। वहां सभी इकट्ठे हो जाते, कम-से-कम पांडव तो इकट्ठे हो ही जाते। चार घंटे गीता चलती, उधर कुछ भी हो सकता था; नहीं इस चार घंटे में कम-से-कम कृष्ण जैसा आदमी बोलता हो तो कम-से-कम पांडव तो सब इकट्ठे हो ही जाते। कौरव भी इकट्ठे हो सकते थे। कुछ भी हो सकता था, हमला भी हो सकता था, कुछ भी हो सकता था। लेकिन नहीं, यह कृष्ण और अर्जुन के बीच 'इनर कम्यूनिकेशन' है। वह 'साइकिक

कम्यूनिकेशन' है। यह ठीक शब्दों में बाहर कहा नहीं गया, यह भीतर बोला गया है, भीतर पूछा गया है। और इसकी खबर सबसे पहले आसपास खड़े लोगों को नहीं चली। सबसे पहले संजय को पता चला।
अब यह भी बड़े मजे की बात है कि वह इतने दूर बैठा है संजय और अंधे धृतराष्ट्र से कहता है। अंधा धृतराष्ट्र पूछता है कि मेरे बेटे क्या कर रहे हैं युद्ध में? कौरव-पांडवों के बीच जो चल रहा है वहां, क्या हो रहा है? ये बहुत मीलों का फासला है। संजय उस कथा को कहता है कि वहां वे धर्म के क्षेत्र में, कुरुक्षेत्र में इकट्ठे हो गए हैं। वहां यह सब हो रहा है। वहां अर्जुन दुविधा में पड़ गया है। वहां अर्जुन जिज्ञासा कर रहा है। वहां कृष्ण ऐसा समझा रहे हैं। यह भी 'टेलिपैथिक कम्यूनिकेशन' है। यह संजय के पास कोई उपाय नहीं है, कुरुक्षेत्र में क्या हो रहा है उसको कहने का। तो दो आदमियों ने गीता सुनी सबसे पहले। पहले सुनी अर्जुन ने, उसके साथ सुनी संजय ने, उसके बाद सुनी धृतराष्ट्र ने, उसके बाद सुनी जगत ने। फिर उसके बाद सब फैलाव हुआ। बाकी यह कोई बाहर कही गई बात नहीं है। इसलिए चार घंटे हमें लगते हैं गीता को पढ़ने में क्योंकि हम बाहर पढ़ते हैं। चार क्षण में भी हो गई हो, यह भी संभव है। एक क्षण भी न लगा हो, यह भी संभव है।

'भगवान श्री, जैन-इतिहास के आधार पर जैनों के बाईसवें तीथ□कर नेमिनाथ कृष्ण के चचेरे भाई थे। घोर तपश्चर्या के बाद वे ही हिंदुओं के घोर अंगिरस ऋषि के नाम से प्रचलित हुए। और अध्यात्म ज्ञान की परंपरा में गुह्य-ज्ञान के क्षेत्र में वे श्रीकृष्ण के 'लिंक' रहे। आपकी इस संबंध में क्या दृष्टि है? क्या ऐसा संबंध होता है? क्योंकि आपने ही कहा कि कृष्ण का होना आंतरिक कारणों पर अवलंबित था। वे आंतरिक कारण क्या थे—गुह्यज्ञान के संदर्भ में?'

* नेमिनाथ कृष्ण के चचेरे भाई हैं। और यह उन दिनों की कथा है, जब हिंदू और जैन दो धारायें नहीं बने थे। हिंदू और जैन महावीर के बाद स्पष्ट रूप से टूटे और अलग धारायें बने। नेमिनाथ कृष्ण के चचेरे भाई हैं और जैनों के बाईसवें तीथ□कर हैं। लेकिन नेमिनाथ और कृष्ण के बीच किसी तरह का कोई 'इज़ोटेरिक' संबंध नहीं है। किसी तरह का कोई गुह्य-ज्ञान का संबंध नहीं है। उसका कारण है। क्योंकि नेमिनाथ एक बहुत ही विभिन्न प्रकार की 'वन डायमेंशनल' परंपरा के हकदार हैं। नेमिनाथ, जैनों की जो चौबीस तीथ□करों की परंपरा है जिसने संभवतः त्याग की 'डायमेंशन' में इस 'पृथ्वी पर सर्वाधिक प्रयोग किया है। इस पृथ्वी पर इतनी लंबी परंपरा और इतने अदभुत व्यक्तियों की इतनी बड़ी कड़ी कहीं भी नहीं हुई है।
जैनों के पहले तीथ□कर ऋग्वेद के समकालीन, या थोड़े-से पूर्वकालीन हैं। क्योंकि ऋग्वेद में पहले तीथ□कर के प्रति इतने सम्मानवादी शब्द हैं, जो कि समकालीन लोग समकालीन के प्रति इतनी शिष्टता कभी नहीं दिखलाते। वे शब्द इतने आदरपूर्ण हैं कि ऐसा लगता है कि यह आदमी आदृत तब तक हो चुका होगा। थोड़ा-सा वक्त बीत गया होगा। क्योंकि समकालीन आदमी के प्रति इतने सम्मानजनक शब्द—अभी तक मनुष्य इतना सभ्य नहीं हो पाया है! पर इतना तो पक्का है कि वह समकालीन हैं, क्योंकि उनका नाम उपलब्ध है, और आदर से उपलब्ध है। वेद से लेकर महावीर तक हजारों साल का फासला है। इतिहास निर्णय नहीं कर पाता कि वे हजार साल कितने हैं। पश्चिम के नाप-जोख के जो ढंग हैं उस नाप-जोख के ढंग से पहले तो वे हजार-डेढ़ हजार साल से ज्यादा फासला नहीं जोड़ पाते थे, क्योंकि 'क्रिश्चियनिटी' एक बहुत गहरे पक्षपात से भरी है कि पृथ्वी को बने ही...जीसस के चार हजार साल पहले सृष्टि ही बनी। तो अब वह कोई छः ही हजार साल ही जगत की सृष्टि के हुए, तो इसमें हिंदुओं की और जैनों की काल-गणना का तो उपाय ही नहीं है। क्योंकि जब सृष्टि ही केवल छः हजार साल पहले बनी हो, तो वह लाखों साल के लंबे हिसाब का कहां हिसाब होगा।
तो इसलिए जिन लोगों ने पहली दफा पश्चिम की काल-गणना के हिसाब से यहां सोचना शुरू किया, उन्होंने हजार-डेढ़ हजार साल के 'स्पैन' में सारी बातों को बिठाने की कोशिश की, लेकिन वह सच नहीं है। और अब तो 'क्रिश्चियनिटी' को अपनी काल-गणना का ढंग छोड़ देना पड़ा है। लेकिन बड़े मजेदार लोग हैं, अंधविश्वास भी बड़े मुश्किल से छूटते हैं। अब तो जमीन में ऐसी हड्डियां मिल गइ□, जो लाखों साल पुरानी हैं। लेकिन एक मजे की बात आपसे

कहूं—अंधविश्वासियों को कोई प्रमाण डिगा नहीं सकता। एक ईसाई 'थियोलॉजियन' ने, जब ये हजारों-लाखों साल पुरानी, तीन-तीन, चार-चार, पांच-पांच लाख साल पुरानी हड्डियों का आविष्कार हुआ और जमीन से मिलीं, तो क्या कहा? उसने कहा, कि भगवान के लिए सब कुछ संभव है। जब उसने पृथ्वी बनाई, तो उसमें ऐसी हड्डियां भी उसने डाल दीं जो पांच लाख साल पुरानी मालूम पड़ सकती हैं। आदमी का मन!

लेकिन अब विज्ञान की काल-गणना लंबी हुई है। तिलक ने तो तय किया वेद को कम-से-कम नब्बे हजार-वर्ष—कम-से-कम। नब्बे न भी हों, तो भी लंबा काल है। हजारों साल तक वेद सिर्फ स्मरण रखे गए हैं। फिर हजारों साल से लिखे हुए हैं। और जितना काल उनका लिखे हुए बीता है, उससे भी बहुत बड़ा काल उनका अनलिखा बीता है। उसमें ऋग्वेद में जैनों का पहला तीथ□कर मौजूद है। और चौबीसवां तीथ□कर तो बहुत ही ऐतिहासिक प्रमाणों से पच्चीस सौ साल पुराना है। यह जो चौबीस तीथ□करों की लंबी परंपरा है, यह पृथ्वी पर त्याग के 'डायमेंशन' में सबसे बड़ी परंपरा है। इसका कोई मुकाबला पृथ्वी पर कहीं भी नहीं है। और भविष्य में भी कहीं हो सकेगा, बहुत मुश्किल है। क्योंकि अब वह 'डायमेंशन' ही धीरे-धीरे क्षीण होती चली गई। इसलिए यह बात बहुत सार्थक मालूम पड़ती है कि चौबीसवें तीथ□कर के बाद पच्चीसवां तीथ□कर नहीं होगा। क्योंकि त्याग का 'डायमेंशन' जो है, वह सूख गया। अब उस त्याग के 'डायमेंशन' की कोई सार्थकता नहीं रही भविष्य के लिए। लेकिन अतीत में वह बड़ा सार्थक 'डायमेंशन' था। नेमिनाथ उसमें बाईसवीं कड़ी हैं। कृष्ण के वे चचेरे भाई हैं। कभी-कभी कृष्ण का उनसे मिलना भी होता है। गांव से नेमिनाथ निकलते हैं, तो कृष्ण उनको सम्मान देने जाते हैं। यह भी बड़े मजे की बात है। नेमिनाथ गांव से निकलते हैं तो कृष्ण सम्मान देने जाते हैं। नेमिनाथ कभी कृष्ण को सम्मान देने नहीं गए।

त्यागी किसी को सम्मान दे, यह बड़ा मुश्किल है। बहुत कठिन है। त्यागी बड़ा कठोर हो जाता है, बड़ा पथरीला हो जाता है। उसके लिए व्यक्ति-संबंध और राग का कोई मूल्य नहीं रह जाता। तो ऐसा समझें कि कृष्ण की तरफ से नेमिनाथ चचेरे भाई हैं, नेमिनाथ की तरफ से कोई भाई-वाई नहीं है। क्योंकि नेमिनाथ कभी कुशल-क्षेम पूछने भी नहीं गए। उससे कोई संबंध नहीं है। वह तो राग की दुनिया के बाहर हैं, विराग का 'डायमेंशन' है, जहां सब संबंध छोड़ देने हैं, असंग हो जाना है; जहां कोई अपना नहीं है, जहां कोई है ही नहीं जिससे कोई संबंध जोड़ने की बात हो। लेकिन अगर कोई सोचता हो कि नेमिनाथ से कोई 'इज़ोटेरिक' बात, कोई गुह्य-बात कृष्ण को मिली हो, ऐसा नहीं है। क्योंकि नेमिनाथ कृष्ण को कुछ भी नहीं दे सकते हैं। चाहते तो कृष्ण से कुछ ले सकते थे। उसके कारण हैं। क्योंकि कृष्ण 'मल्टी-डायमेंशनल' हैं। कृष्ण बहुत कुछ जानते हैं जो नेमिनाथ नहीं जानते—नहीं जान सकते। नेमिनाथ जो जानते हैं, उसे कृष्ण जान सकते हैं, पहचान सकते हैं। उसमें कोई कठिनाई नहीं है।

कृष्ण का व्यक्तित्व समग्र को आच्छादित करता है। नेमिनाथ का व्यक्तित्व एक दिशा को पूरा-का-पूरा जीता है। इसलिए नेमिनाथ कीमती व्यक्ति थे कृष्ण के युग में, लेकिन इतिहास पर उनकी कोई छाप नहीं छूट जाती। त्यागी की कोई छाप इतिहास पर नहीं छूट सकती। इतिहास पर त्यागी की क्या छाप छूटेगी? उसकी एक ही कथा है कि उसने छोड़ दिया। एक ही घटना है जो इतिहास अंकित करेगा कि उसने सब छोड़ दिया। कृष्ण का व्यक्तित्व सारे हिंदुस्तान पर छा गया। सच तो ऐसा है कि कृष्ण के साथ हिंदुस्तान ने जिस ऊंचाई को देखा, फिर वह दुबारा नहीं देख पाया। कृष्ण के साथ उसने जो युद्ध लड़ा, महाभारत, फिर वैसा युद्ध नहीं लड़ पाया। फिर हम छोटी-मोटी लड़ाइयों में, टुच्ची लड़ाइयों में उलझे रहे।

महाभारत जैसा युद्ध कृष्ण के साथ संभव हो सका। और ध्यान रहे, साधारणतः लोग सोचते हैं कि युद्ध लोगों को नष्ट कर जाते हैं। लेकिन हिंदुस्तान ने तो कृष्ण के बाद, महाभारत के बाद कोई बड़ा युद्ध नहीं लड़ा। हिंदुस्तान को तो सबसे ज्यादा समृद्ध होना चाहिए था, नष्ट होने का कोई कारण नहीं। लेकिन आज पृथ्वी पर वे ही कौमें समृद्ध हैं, जो बड़े युद्धों से गुजरी हैं। युद्ध नष्ट नहीं कर जाते, युद्ध सोई हुई ऊर्जा को जगा जाते हैं। असल में युद्ध के क्षणों में ही कोई कौम अपनी चेतना के, अपने होने के, अपने अस्तित्व के शिखरों को छूती हैं। चुनौती के क्षण में ही हम पूरे जगते हैं। तो महाभारत के बाद ऐसे जागरण का कोई क्षण नहीं आया जब हमने पूरी तरह अपने को जाना हो।

पिछले दो महायुद्ध जहां गुजरे हैं, एक कथा है उनकी कि वे टूटे और मिटे। लेकिन वह अधूरी है कथा। जापान नष्ट हो गया था बुरी तरह। लेकिन सिर्फ बीस साल में, जैसा जापान कभी नहीं था, वैसा फिर प्रगट हो गया। जर्मनी टूट कर बिखर गया था। दो युद्ध गुजरे उसकी छाती पर। लेकिन पहला युद्ध उन्नीस सौ चौदह में गुजरा और बीस साल बाद वह फिर दूसरा युद्ध लड़ने के योग्य हो गया। और कोई नहीं कह सकता कि दस-पांच वर्षों में वह फिर तीसरा युद्ध लड़ने के योग्य नहीं हो जाएगा। यह बड़ी आश्चर्य की बात है कि हमने युद्ध का एक ही पहलू देखा है कि वह नष्ट कर जाता है। हमने दूसरा पहलू नहीं देखा कि वह हमारी सोयी हुई प्रसुप्त चेतना को जगा जाता है। और हमने यह नहीं देखा कि उसकी चुनौती में हमारे वे जो अंश बेकाम पड़े रहते हैं, सक्रिय हो उठते हैं। 'क्रिएटिव' हो उठते हैं। असल में विध्वंस की छाया में, विध्वंस के साथ सृजन की क्षमता और आत्मा भी पैदा होती है। वे भी जीवन के दो पहलू हैं, इकट्ठे। और कृष्ण, जो इतने रागरंजित हैं, जो इतने नृत्य-गान में मस्त हैं, जो गीत और बांसुरी में जिए हैं, वे उस युद्ध को स्वीकार कर लेते हैं। इस स्वीकृति में कोई विरोध नहीं पड़ता। और इतने बड़े युद्ध के वे कारण बन जाते हैं।

नेमिनाथ जैसे व्यक्ति इतिहास पर कोई रेखा नहीं छोड़ जाते। इसलिए बहुत मजे की बात है कि जैनों के चौबीस तीथ□करों में पहले तीथ□कर का उल्लेख हिंदू ग्रंथों में है। फिर पार्श्वनाथ का थोड़ा-सा उल्लेख हिंदू ग्रंथों में है, तेईसवें तीथ□कर का। और बाईसवें तीथ□कर का अनुमान किया जाता है कि घोर अंगिरस के नाम से जिस व्यक्ति का उल्लेख है, वह नेमिनाथ है। महावीर तक का उल्लेख हिंदू ग्रंथों में नहीं है। इतने प्रभावी व्यक्ति, लेकिन इतिहास पर कोई रेखा नहीं छोड़ जाते। असल में 'रिनंसिएशन' का मतलब ही यह है, त्याग का मतलब ही यह है कि हम इतिहास से विदा होते हैं। हम उस घटनाक्रम से विदा होते हैं जहां चीजें घटती हैं, बनती हैं, बिगड़ती हैं। हम उस तरफ जाते हैं जहां न कुछ बनता है, न कुछ बिगड़ता है, जहां सब शून्य है।

कृष्ण से सीखने को हो सकता है नेमिनाथ के लिए, लेकिन नेमिनाथ सीखेंगे नहीं। कोई जरूरत नहीं है। कोई प्रयोजन नहीं है। और नेमिनाथ के पास एक धरोहर है। उनके पीछे इक्कीस तीथ□करों की एक बड़ी धरोहर है, एक बड़े अनुभव का सार उनके पास है। और उस यात्रा-पथ पर जहां वे चल रहे हैं, उस यात्रा-पथ पर उनके पास पर्याप्त पाथेय है। उनको कुछ सीखने की कहीं कोई जरूरत नहीं है। इसलिए नमस्कार वगैरह होता है, कुछ लेन-देन नहीं होता, कुछ आदान-प्रदान नहीं होता। ऐसे कृष्ण कभी नेमिनाथ बोलते हैं तो वहां भी सुनने चले जाते हैं। इससे कृष्ण की गरिमा ही प्रगट होती है। इससे महिमा ही प्रगट होती है, सीखने की सहजता ही प्रगट होती है। नहीं, कृष्ण ही वह कर सकते हैं। क्योंकि जिसे जीवन के सब पहलुओं में रस हो, वह कहीं भी सीखने जा सकता है। वह किसी को भी गुरु बना सकता है। वह किसी से भी सीख ले सकता है। लेकिन, नेमिनाथ से कुछ कृष्ण को अंतस्तल पर उपलब्ध होता हो, ऐसी कोई जरूरत ही नहीं है। ऐसा कोई कारण ही नहीं है।

'कृष्ण ने किस नास्तिकता से गुजर कर इतनी गहरी आस्तिकता पायी?'

* जो गहरा आस्तिक है, वह गहरा नास्तिक होता ही है। सिर्फ उथले आस्तिक उथले नास्तिकों के विरोध में होते हैं। झगड़ा सदा उथलेपन का है। गहरे में कोई झगड़ा नहीं है। झगड़ा सिर्फ नासमझ आस्तिकों का नासमझ नास्तिकों से है। समझदार आस्तिक नास्तिक से झगड़ने नहीं जाएगा। समझदार नास्तिक आस्तिक से झगड़ने नहीं जाएगा। क्योंकि समझ कहीं से भी आ जाए, एक पर पहुंच जाती है। आस्तिक कहता क्या है? आस्तिक इतना ही कहता है कि परमात्मा है। लेकिन जब आस्तिकता की गहराई बढ़ती है तो परमात्मा दूसरा नहीं रह जाता। मैं ही परमात्मा हो जाता हूं। नासमझ आस्तिक कहता है, वहां है परमात्मा; कहीं और। समझदार आस्तिक कहता है, यहीं है परमात्मा; यहीं। नास्तिक कहता है, कहीं कोई परमात्मा नहीं है। अगर नास्तिक और गहरी समझ में जाए तो उसका भी मतलब यही है कि कहीं कोई परमात्मा नहीं है। मतलब, जो है, उसके अतिरिक्त कोई परमात्मा नहीं है, जो है, वही है। वह उसे प्रकृति का नाम देता है।

नीत्से का एक वचन है, और नीत्से गहरे-से-गहरे नास्तिकों में एक है। उतना ही गहरा, जितना कोई आस्तिक कभी गहरा होता है। नीत्से का एक वचन है कि यदि कहीं भी कोई परमात्मा है तो मैं बर्दाश्त न कर पाऊंगा, क्योंकि फिर मेरा क्या होगा? यानी वह यह कह रहा है कि अगर कहीं भी कोई परमात्मा है, मैं बर्दाश्त न कर पाऊंगा, मेरा क्या होगा? तब मैं कहां खड़ा होता हूं फिर? और अगर किसी को परमात्मा होना ही है, तो मेरे होने में हर्ज क्या है? मैं ही परमात्मा हो जाऊंगा। अब यह घोर नास्तिक है। यह कहता है, कोई परमात्मा नहीं है, क्योंकि मतलब यह है कि जो है वही परमात्मा है। यह अतिरिक्त परमात्मा को सोचने की बात गलत है। गहरा आस्तिक भी यही कहता है कि अतिरिक्त परमात्मा नहीं है। जो है वही परमात्मा है।

मैंने गहरी आस्तिकता और गहरी नास्तिकता में कभी कोई फर्क नहीं देखा। असल में आस्तिक विधेयवाची शब्दों का प्रयोग करता है, इतना ही फर्क है। और नास्तिक निषेधवाची शब्दों का प्रयोग करता है, इतना ही फर्क है। इसलिए जो विधेयवादी आस्तिक था उसने बुद्ध को, महावीर को नास्तिक कहा है। बुद्ध और महावीर राजी नहीं हैं नास्तिक मानने को अपने को। सांख्य या योग उथले आस्तिक को नास्तिक दिखाई पड़ते हैं। लेकिन सांख्य और योग नास्तिक नहीं हैं। नास्तिक उस अर्थों में नहीं हैं जिस अर्थों में दिखाई पड़ते हैं। सिर्फ वे जो शब्द का प्रयोग करते हैं, वह निषेध का है। कृष्णमूर्ति जैसे व्यक्ति उथले आस्तिकों को नास्तिक मालूम पड़ सकते हैं, क्योंकि वह जो शब्द का प्रयोग करते हैं वह 'निगेटिविटी' के शब्द हैं, वह 'निगेटिव माइंड' पर उनका जोर है। और मुसीबत यह है कि कोई भी शब्द का हम उपयोग करें, दो ही उपाय हैं—या तो 'पाजिटिव' शब्द का उपयोग करें, या 'निगेटिव' शब्द का उपयोग करें।

आस्तिक कह रहा है, जो है, वह ईश्वर है। वह विधेयात्मक वक्तव्य दे रहा है। नास्तिक कह रहा है, जो है, वह ईश्वर नहीं है। वह निषेधात्मक वक्तव्य दे रहा है। ऐसे भी लोग हुए हैं जो इन दोनों गहराइयों को स्पर्श करते हैं। जैसे उपनिषद कहते हैं, नेति-नेति। उपनिषद कहते हैं, यह भी नहीं है, वह भी नहीं है। और जो है, वह कहा नहीं गया है। ऐसे नास्तिक भी आधा कहता है, आस्तिक भी आधा कहता है। 'नीदर दिस, नॉर दैट'। न यह, न वह। दोनों ही आधी-आधी बातें कहते हैं। हम पूरी कहते हैं, और पूरी कही नहीं जा सकती है। इसलिए हम चुप रह जाते हैं। वे लोग भी। कृष्ण को किसी नास्तिकता से गुजरने का कारण नहीं है, क्योंकि कृष्ण किसी उथली आस्तिकता को पकड़ने के लिए आतुर भी नहीं हैं। असल में कृष्ण जो है उसका इतने गहनता में स्वीकार करते हैं कि उसे क्या नाम दिया जाता है इससे कोई फर्क नहीं पड़ता है। उसे ईश्वर कहो, उसे प्रकृति कहो—उसे अनीश्वर कहो तो भी क्या फर्क पड़ता है! जो है वह है। ये पौधे फिर भी हंसेंगे, ये फूल फिर भी खिलेंगे, ये बादल फिर भी चलेंगे, यह पृथ्वी फिर भी होती रहेगी, ये चांद-तारे घूमते रहेंगे, यह जीवन उतरेगा और विदा होगा, लहरें बनेंगी और मिटेंगी। ईश्वर है या नहीं, यह सिर्फ नासमझों का विवाद है। जो है, उसे क्या फर्क पड़ता है, 'दैट व्हिच इज', उसमें क्या फर्क पड़ता है।

मैं एक गांव में ठहरा हुआ था और उस गांव के दो बूढ़े आदमी मेरे पास आए। एक उसमें जैन था और एक उसमें ब्राह्मण था। वे दोनों पड़ोसी थे। दोनों बूढ़े, और उनका विवाद लंबा था। असल में सब विवाद लंबे होते हैं, क्योंकि विवाद में कोई अंत तो आता नहीं। वे लंबे होते चले जाते हैं। आदमी चुक जाते हैं और विवाद चलते जाते हैं। उन दोनों का विवाद लंबा था। कोई साठ साल के ऊपर दोनों की उम्र थी। वे मुझसे मिलने आए और उन्होंने कहा कि हम एक सवाल लेकर आए हैं जो कि हमारे बीच कोई पचास साल से चलता है। मैं ईश्वर को नहीं मानता हूं, यह सज्जन ईश्वर को मानते हैं। आपका क्या कहना है? मैंने कहा, आपने विवाद पूरा कर लिया, तीसरे के लिए उपाय कहां है? आधा-आधा आप बांट चुके हैं। अब मैं कहां खड़ा होऊं? फिर मैंने उनसे पूछा कि चालीस-पचास साल से आप विवाद करते हैं, कुछ तय नहीं हो पाता? मेरी दलीलें मुझे ठीक लगती हैं, इनकी दलीलें इन्हें ठीक लगती हैं। न मैं इनको गलत कर पाता, न यह मुझे गलत कर पाते। तो मैंने उनसे कहा कि आपको पता है, यह आपकी जिंदगी में चालीस-पचास साल चला, मनुष्य की जिंदगी में कितना लंबा है यह विवाद? आज तक कोई आस्तिक किसी नास्तिक को समझा पाया? कोई नास्तिक किसी आस्तिक को समझा पाया? क्या इससे यह पता नहीं चलता कि दोनों के पास कहीं आधी-आधी दलीलें तो नहीं हैं।

क्योंकि दोनों अपनी-अपनी दलील पर मजबूत हैं। और कहीं ऐसा तो नहीं कि सत्य का आधा-आधा छोर पकड़े हुए हैं? इसलिए दोनों को हाथ में छोर दिखाई पड़ता है। और उससे विपरीत छोर को वे कैसे मान सकते हैं कि वह भी होगा!

मैंने कहा कि मैं तुम्हारे विवाद में न पड़ूं, तो सहयोगी हो सकता हूं। क्योंकि अगर मैं विवाद में पड़ जाऊं तो ज्यादा-से-ज्यादा यही होगा कि मैं एक पक्ष में खड़े होकर दलीलें दूं। क्या उससे कोई अंतर पड़ेगा? तो मैं तुमसे यह कहता हूं कि अब तुम दोनों जाओ और इस बात को देखने की कोशिश करो कि दूसरा जो कह रहा है, क्या उसमें भी सत्य हो सकता है? अब तुम इसकी फिक्र छोड़ दो कि मैं जो कह रहा हूं उसमें सत्य है—उसमें है ही। उसके लिए मैं राजी हूं, तुम जो कह रहे हो उसमें सत्य है। अब रह गया इतना कि दूसरा जो कह रहा है उसे असत्य मानकर ही मत चलो, उसमें भी खोजो कि क्या सत्य है? फिर मैंने उनसे कहा कि और अगर यह तय हो जाए कि ईश्वर है, पक्का हो जाए, 'गारंटीड', कोई लिखकर दे दे, और यह निर्णय हो जाए कि ईश्वर है, तो तुम क्या करोगे? उन्होंने कहा, करना क्या है? मैंने कहा और अगर यह तय हो जाए कि ईश्वर नहीं है, तो तुम क्या करोगे? उन्होंने कहा, नहीं, करना क्या है? तो फिर मैंने कहा कि इस व्यर्थ विवाद में क्यों पड़े हो? तुम ईश्वर नहीं है तो भी श्वास लेते हो। इनका ईश्वर है, तो भी यह श्वास लेते हैं। तुम ईश्वर को नहीं मानते तो भी प्रेम करते हो। यह ईश्वर को मानते हैं तो भी प्रेम करते हैं। तुम ईश्वर को नहीं मानते तो ईश्वर तुम्हें दुनिया के बाहर निकाल कर नहीं कर देता, तुम्हें स्वीकार करता है। यह ईश्वर को मानते हैं तो इनको किसी सिंहासन पर नहीं बिठा दिया है उसने। वह इनकी भी फिक्र नहीं करता है। अब जब ऐसी स्थिति हो, तो इस विवाद का कितना अर्थ है!

नहीं, ईश्वर और अनीश्वर को लेकर, आस्तिक और नास्तिक को लेकर 'लिंग्विस्टिक' भूल हो गई है। सिर्फ भाषा की भूल हो गई है। और हमारी अधिक 'फिलासफी', तत्त्वचिंतन जिसे हम कहते हैं, तत्त्वचिंतन नहीं है, 'फिलालाजी' में की गई भूलें हैं, भाषाशास्त्र में की गई भूलें हैं। और भाषाशास्त्र की भूलें ऐसी हैं कि अगर उनको हम सत्य मानकर चल पड़ें, तो बड़े उपद्रव बन जाते हैं। समझ लो कि एक गूंगा आदमी है और नास्तिक है, और एक गूंगा आदमी है और आस्तिक है। इनके बीच विवाद कैसे चलेगा? ये क्या करेंगे जिससे कि ये कहें कि मैं आस्तिक हूं और एक कहे कि मैं नास्तिक हूं? एक दिन को सोचें कि चौबीस घंटे के लिए हमारी भाषा खो जाए, तो हमारे विवाद कहां होंगे? चौबीस घंटे के लिए आपकी भाषा छीन ली जाए, बस, धर्म वगैरह नहीं। धर्म वगैरह आप सम्हालकर रखिये। शास्त्र वगैरह नहीं, बिलकुल छाती से लगा रखिये। सिद्धांत वगैरह नहीं, आपको जो मानना हो तो मानते रहिये। चौबीस घंटे के लिए अगर आपकी भाषा छीन ली जाए, तो कहां होगा हिंदू, कहां होगा मुसलमान, कहां होगा आस्तिक, कहां होगा नास्तिक? और आप तो होंगे फिर भी भाषा के बिना। वह क्या होंगे आप? वह होना ही धार्मिक होना है।

एक छोटी-सी घटना और अपनी बात मैं बंद करूं। मैंने सुना है, मार्क ट्वेन एक मजाक किया करता था। वह मजाक किया करता था कि एक बार ऐसा हुआ कि सारी पृथ्वी के लोगों ने तय किया कि अगर हम सब मिलकर किसी एक क्षण में जोर से चिल्लाएं तो चांद तक आवाज पहुंच सकती है। और अगर चांद पर कोई होगा तो सुन लेगा और जवाब भी आ सकता है, वे लोग अगर इकट्ठे होकर जवाब दें। क्योंकि चांद पर आदमी की आंखें बहुत दिन से गड़ी हैं। चांद से संबंध जोड़ने का मन बड़ा पुराना है। बच्चा पैदा नहीं होता और चांद से संबंध जोड़ना शुरू कर देता है। तो सारी पृथ्वी के लोगों ने एक खास दिन नियत किया और ठीक बारह बजे दोपहर सारी दुनिया के लोग जोर से हुंकार करेंगे—हूऽऽ की आवाज करेंगे, इकट्ठे। चांद तक आवाज पहुंच जाएगी, शायद उत्तर मिल सकेगा, अगर कोई वहां होगा तो सुनाई पड़ जाएगा।

फिर यह हुआ, वह दिन आ गया। और बारह बजे की आतुरता से लोगों ने सड़कों पर और गांवों में फैलकर प्रतीक्षा की। पहाड़ों पर, चोटियों पर, सब तरफ लोग फैल गए पूरी पृथ्वी पर। ठीक बारह बजे और एकदम सन्नाटा छा गया, कोई चिल्लाया नहीं। क्योंकि सबने सोचा कि मैं सुन तो लूं कि हूऽऽ की आवाज! सारी पृथ्वी चिल्लाएगी तो एक मौका मैं न चूकूं चिल्लाने में, मैं सुन लूं। तो उस दिन बारह बजे जैसा सन्नाटा हुआ पृथ्वी पर, ऐसा कभी नहीं हुआ था।

अगर ऐसा सन्नाटा कभी हो जाए, तो जो दिखाई पड़ता है वह सत्य है। ऐसा सन्नाटा अगर भीतर हो जाए और भाषा और शब्द सब खो जाएं, तो जो दिखाई पड़ता है वह सत्य है।

सत्य का आधा हिस्सा आस्तिकों के पास है, सत्य का आधा हिस्सा नास्तिकों के पास है। और आधा सत्य असत्य से सदा बदतर होता है। क्योंकि असत्य को छोड़ा भी जा सकता है, आधे सत्य को छोड़ा भी नहीं जा सकता। वह सत्य मालूम पड़ता है। और ध्यान रहे, सत्य तोड़ा नहीं जा सकता, काटा नहीं जा सकता। इसलिए अगर आपके पास आधा सत्य है, तो सिर्फ आधे सत्य का सिद्धांत हो सकता है। सिद्धांत काटा जा सकता है, सत्य को काटने का कोई उपाय नहीं है। इसलिए न नास्तिक सत्य है, न आस्तिक सत्य है। दोनों आधे-आधे सत्यों के शब्दों को पकड़कर लड़ते रहते हैं।

कृष्ण को पूरा ही स्वीकार है। इसलिए कृष्ण को आस्तिक कहें, तो गलती हो जाएगी। कृष्ण को नास्तिक कहें, तो गलती हो जाएगी। कृष्ण को क्या कहें बिना गलती किए, कहना मुश्किल है।

17 स्वभाव की पूर्ण खिलावट के प्रतीक कृष्ण

'भगवान श्री, आपकी प्रवचन-धारा ज्यों-ज्यों बहने लगी है त्यों-त्यों आपके साथ, आपके वाक्-प्रवाह के साथ बहते-बहते हम दिक्कत में पड़ जाते हैं। तकलीफ यह है कि आपके द्वारा कथित उस तिनके की भांति हम लड़ते नहीं, बहने को हम भी हाथ-पांव पसारते हैं, मगर आपका जोश इतना है कि हम बह नहीं सकते।

सुबह आज श्री अरविंद के बारे में बातचीत हुई। 'द वे आफ व्हाइट क्लॉउड' में एक जगह लिखा है—'समटाइम्स आइ टेक अवे द मैन, द सब्जेक्ट, बट डू नाट टेक अवे द सरकामस्टांसेज, दैट इज आब्जेक्ट। समटाइम्स आइ टेक अवे द सरकमस्टांसेज, बट डू नाट टेक अवे द मैन। समटाइम्स आइ टेक अवे बोथ, द मैन एंड द सरकमस्टांसेज, एंड समटाइम्स आइ टेक अवे नीदर द मैन नॉर द सरकमस्टांसेज।'

श्री अरविंद की बात करते-करते प्रश्न यह उठता है मन में, कई बार, कि आप जैसा पांडिचेरी के बारे में कहते हैं वैसा मैं भी मानता हूं, मगर जो 'इंटरप्रेटीशन' मिला आपसे, उससे ऐसा महसूस हुआ कि अरविंद के साक्षात्कार के बारे में अन्य किसी भी से क्यों पूछा जाए?

मैं यहां आया था तब मुझे ऐसा लगा था कि मैं निरहंकारी रजनीश जी के पास जा रहा हूं और मेरा अहंकार विगलित हो जाएगा। मेरा अहंकार यहां आकर इतना छोटा हो गया, क्योंकि मैंने देखा कि यहां तो निश्चय ही छोटा मालूम पड़ जाएगा। मगर कृष्ण ऐसे नहीं हैं। कृष्ण तो कहते हैं कि अनादिकाल से प्राप्त जो ज्ञान है, वह ज्ञान मैं तुमको देता हूं। वह कृष्ण की बात है।

और आपकी शैली में भी कुछ तकलीफें पड़ती हैं कि तर्क को छोड़कर आप जब तथ्यों में आ जाते हैं तब सब कुछ बहने लगता है, हम भी बहने लगते हैं, ऐसी अनुभूति होती है।

और वेद-उपनिषद के बारे में आपने सुबह जो कहा कि यह बेमानी है उद्धृत करना कि ऐसा ही वेद में कहा गया है, ऐसा ही उपनिषद में कहा गया है, क्योंकि यह आत्महीनता का अनुभव ही है।

इसी संदर्भ में, प्रथम उपनिषद में और बाद में श्रीमद्भगवद्गीता में 'निर्वाण' शब्द का विन्यास हो चुका था। वही भाव बुद्धोक्त 'निर्वाण' शब्द में भी मिलता है। फिर भी इस परंपरा की देन को बुद्ध ने स्वीकार नहीं किया। कृष्णावतार अनादिकाल से

प्राप्त ज्ञान को पृथ्वी पर ले आने का दावा करता है। मगर बुद्ध का निजी प्रतीति पर आधार रखते हुए भी डा.राधाकृष्णन के अनुसार उपनिषदों के सिद्धांत का ही बुद्ध के प्रवचनों में अवतरण है। तो किसकी बौद्धिक प्रामाणिकता विश्वस्त कही जाए, कृपया शंकाओं का निवारण करें।'

* सत्य तो अनादि है।

अनादि का अर्थ पुराना नहीं। अनादि का अर्थ है, जिसका कोई प्रारंभ नहीं है। अनादि का अर्थ है, 'बिगिनिंगलेस'। अनादि का अर्थ 'एनशियेंट' नहीं है। पुराने का तो प्रारंभ होता है। सत्य का कभी प्रारंभ नहीं होता। और जो पुराना पड़ गया, वह सत्य नहीं हो सकता। क्योंकि सत्य तो अभी भी है, इस क्षण भी है। तो सत्य न तो नया होता है, न पुराना होता है। जो सत्य कहता है कि नया है, वह कल पुराना पड़ जाएगा। सब जिनको हम पुराना कहते हैं वह कभी नए थे और जिनको हम आज नया कहते हैं, कल पुराने हो जाएंगे। नया तो पुराना हो जाता है, पुराना कभी नया था। सत्य न तो नया है, न पुराना है। सत्य तो वही है जो सदा है। अनादि का अर्थ यह है। अनादि का अर्थ पुराना, प्राचीन नहीं है।

तो यदि कृष्ण कहते हैं कि मैं वही सत्य कह रहा हूं जो अनादि है, तब आप यह मत समझ लेना कि कृष्ण कह रहे हैं, मैं वही सत्य कह रहा हूं जो पुराना है। कृष्ण कह रहे हैं कि मैं वही सत्य कहता हूं, जो है। अनादि का मतलब इतना ही होता है—मैं वही कहता हूं, जो है। जिन्होंने पहले जाना होगा, अगर सत्य जाना है तो यही जाना होगा। जो आज जान रहे हैं, यदि सत्य जानेंगे तो यही जानेंगे। जो कल जानेंगे, यदि सत्य जानेंगे तो यही जानेंगे। सिर्फ असत्य नए और पुराने हो सकते हैं। सत्य पुराना और नया नहीं हो सकता। इसलिए सत्य की घोषणा दो प्रकार से हो सकती है।

बुद्ध उन सारे पुराने लोगों की बात नहीं करते जिन्होंने सत्य जाना है। कोई कारण नहीं है। क्योंकि जब बुद्ध स्वयं ही सत्य जान रहे हैं, तब और गवाहियां जुड़ाने से कुछ ज्यादा फर्क नहीं पड़ने वाला है। जो वह जान रहे हैं, उसमें कुछ जुड़ेगा नहीं। कि किन-किन ने जाना, इससे सत्य में कुछ जुड़ेगा नहीं। बुद्ध ने जितना सत्य जाना है, जो जाना है, इसमें और हजार लोगों ने भी जाना हो उनका नाम लेने से कुछ 'एडीशन' होने वाला नहीं है। इस सत्य की गरिमा में कोई फर्क पड़ने वाला नहीं है। इस सत्य की प्रतिष्ठा में कोई अंतर पड़ने वाला नहीं है। इसलिए बुद्ध सीधे निपट कहते हैं कि ऐसा जो मैंने जाना, तुमसे कहता हूं।

और जानकार ही वे पुराने लोगों का नाम नहीं लेते, क्योंकि पुराने लोगों के साथ, पुराने लोगों का नाम लेने के साथ बुद्ध के समय तक बड़ा खतरा हो चुका है। क्योंकि बुद्ध अपने सुनने वालों को यह भी कहते हैं कि तुम इसलिए मत मान लेना कि मैं कहता हूं, तुम इसलिए मत मान लेना कि बुद्ध ने ऐसा जाना है, जब तक तुम न जान लो, तब तक तुम किसने कहा, किसने जाना, इससे कुछ प्रमाण मत जुटा लेना

। तो बुद्ध जिनसे बोल रहे हैं, वे साधक हैं। बुद्ध जिनसे बोल रहे हैं, वे सत्य की ख
ोज पर निकले हुए लोग हैं। बुद्ध के सामने जो सुनने वाला है वह बहुत भिन्न है, कृ
ष्ण के सामने जो सुनने वाला है उससे। बुद्ध के सामने जो लोग हैं, वे वे हज जो स
त्य को खोजने निकले हैं। सत्य को खोजने जो लोग निकले हैं, उनसे यह कहना ही
होगा कि तुम मेरी मत मान लेना। क्योंकि फिर तुम खोज पर कैसे जाओगे! और अ
गर बुद्ध अपने पिछले प्रमाणों को दोहराएं, तो फिर वे रास्ता बन रहे हैं अपने से पी
छे आने वालों के लिए कि वे बुद्ध के प्रमाण को दोहराएं। इसलिए बुद्ध निपट रूप से
पिछले सारे संबंधों की बात ही नहीं करते। वे कहते हैं, ऐसा मैंने जाना है, यह स
त्य मैंने देखा है, यह मैं तुमसे कहता हूं। और तुम भी जान न लो, तब तक बुद्ध ने
कहा है इसलिए मत मान लेना।

लेकिन कृष्ण के सामने बहुत दूसरे तरह का आदमी है, वह कोई साधक नहीं है, व
ह कोई सत्य की खोज पर निकला हुआ व्यक्ति नहीं है। जो व्यक्ति कृष्ण के सामने
है, वह बुद्ध के सामने वाला व्यक्ति नहीं है। कृष्ण के सामने जो व्यक्ति खड़ा है उस
की सत्य की कोई खोज नहीं है। वह सिर्फ मोहग्रस्त हुआ है। वह सिर्फ विभ्रमित हुअ
ा है, वह सिर्फ 'कन्फ्यूज्ड' हो गया है, स्थिति ने उसे भयभीत कर दिया है। इसलिए
कृष्ण उसके सामने सत्य का अनावरण करने को उतने उत्सुक नहीं हैं, जितना सत
य क्या है यह कहने को उत्सुक हैं। वह अनावरण करने के लिए आया भी नहीं है।
इसलिए कृष्ण कहते हैं कि जो मैं तुझसे कह रहा हूं, यह मैं ही तुझसे कह रहा हूं
ऐसा नहीं है, यह और भी पहले औरों ने औरों से कहा है। अगर अर्जुन एक साधक
हो, तब तो उसे ही सत्य के साक्षात्कार के लिए कहा जा सकता है। वह कोई सा
धक नहीं है। वह सिर्फ समझने के लिए आतुर है कि सत्य क्या है, खोजने का कोई
सवाल नहीं है अर्जुन के लिए। वह कोई आश्रम में, किसी पहाड़ की कंदरा में, किस
ी गुरु के पास बैठकर सत्य सीखने नहीं गया है। वह सत्य की खोज में आया ही नह
ीं है, आया तो वह युद्ध करने है और युद्ध की स्थिति ने उसे भयभीत और डांवाडो
ल कर दिया है। तो कृष्ण उससे कहते हैं कि जो मैं कह रहा हूं, यह मैं ही तुझसे
कह रहा हूं ऐसा नहीं है, यह मुझसे पहले औरों ने भी औरों से कहा है। वह जो अ
नादि है, जो सदा कहा गया है, वही मैं तुमसे कह रहा हूं। अर्जुन के लिए इसमें अ
र्थ है। अर्जुन खुद खोजने जाता तो बात और हो जाती, अर्जुन खुद खोजने नहीं जा
रहा है। इसलिए कृष्ण केवल सत्य की लंबी धारा की बात उससे कह रहे हैं। वे अ
र्जुन के मन पर एक चीज साफ करना चाहते हैं कि वे ही उससे नहीं कह रहे हैं।
और इसमें और भी कारण हैं।

बुद्ध के पास जो व्यक्ति आया है, वह बुद्ध की शरण होकर आया है। अर्जुन तो मि
त्र है, वह अभी कृष्ण की शरण नहीं है वहां। और कई बार ऐसा होता है कि बुद्ध
के भिक्षुओं ने बुद्ध की बात मान ली, लेकिन बुद्ध की पत्नी ने नहीं मानी। और जब
वह बुद्ध गांव वापिस लौटे और पत्नी उनसे मिली बारह साल के बाद, जबकि वे
जगत, दूर-दूर तक सत्य के उद्घोषा हो गए थे, दूर-दूर से लोग उनके चरणों में स

त्य की तलाश के लिए आने लगे थे, सारी दुनिया के लिए वे बुद्ध हो गए थे, तब भी जब वे घर लौटे तो उनकी पत्नी के लिए बुद्ध नहीं थे। उनकी पत्नी ने वही बात शुरू की जो बारह वर्ष पहले जब वे घर से गए थे तब की होगी। वह उसी तरह नाराज थी और कहने लगी कि तुमने मुझे धोखा दिया, तुम मुझे छोड़कर भाग गए।

बुद्ध की पत्नी का अपना कोण है। और जगह बुद्ध की पत्नी को कहें कि मैं बुद्ध हूं तो वह कहेगी, छोड़ो ये बात! कोई बुद्ध नहीं है और तुम वही-के-वही हो। बुद्ध की पत्नी के लिए बुद्ध को और तरह बात करनी पड़ेगी। बुद्ध की पत्नी का एक दृष्टकोण है। एक बहुत मीठी कथा इससे जुड़ी है।

आनंद जब दीक्षित हुआ तो बुद्ध का बड़ा चचेरा भाई था। दीक्षा लेते समय उसने कहा कि मैं कुछ वचनबद्धता आपसे करवा लेना चाहता हूं, क्योंकि दीक्षा लेने के बाद तो मैं छोटा हो जाऊंगा। अभी मैं बड़ा भाई हूं और अभी तुम छोटे भाई की हैसियत से मुझे कुछ वचन दे दो, जो बाद में मैं नहीं ले सकूंगा। दीक्षा लेने के ही साथ तो मैं छोटा हो जाऊंगा। तो अभी मैं बड़ा भाई हूं और तुम छोटे भाई हो, इसलिए अभी मैं तुमसे कुछ वचन ले लूं। वे तीन वचन उसने लिए। उसने कहा एक वचन तो यह कि मैं सदा तुम्हारे साथ रहूंगा। तुम कभी यह न कह सकोगे कि जाओ विहार करो, उस जगह चले जाओ, इस जगह चले जाओ। मैं सदा तुम्हारे साथ रहूंगा। दूसरा वचन मैं तुमसे यह ले लेता हूं कि कभी भी मैं किसी को मिलाना चाहूंगा, चाहे आधी रात हो, तो तुम्हें मिलना पड़ेगा। और कोई भी प्रश्न मैं पूछना चाहूंगा, पुछवाना चाहूंगा, तो आप किसी तरह टाल न सकोगे, उस प्रश्न का उत्तर देना ही पड़ेगा। और तीसरी बात, कितनी ही निजी चर्चा किसी से हो रही हो, अगर मैं वहां मौजूद रहना चाहूंगा तो मुझे रोका नहीं जा सकेगा। ऐसे तीन वचन उसने बुद्ध से दीक्षा के पहले ले लिए। और छोटे भाई थे, इसलिए इस खेल को उन्होंने निभा दिया। उन्होंने कहा कि ठीक है। अब वह कोई ज्यादा मांग भी नहीं रहा था, दे दिया।

लेकिन बड़ी कठिनाई आई, बुद्ध को खयाल में न था, जब वह पत्नी से मिलने गए तब आनंद ने कहा कि मैं साथ नहीं छोड़ सकता। बुद्ध ने कहा, तू बड़ा पागल है, तू थोड़ा तो सोच क्योंकि मैं उसके लिए कोई गौतम बुद्ध नहीं हूं, मैं उसका पति हूं। उसके लिए तो अभी भी पति हूं। और अगर तू मेरे साथ गया तो वह बहुत मानिनी है और बहुत नाराज हो जाएगी कि तुम आए भी बारह साल बाद तो एक आदमी को साथ लेकर आए हो! यानी मुझे थोड़ा मौका दो कि मैं एकांत में बारह साल का सब दुख, पीड़ा, सारा क्रोध निकाल लूं। तो आनंद से कहा कि माना कि मैंने तुझे वचन दिया था, लेकिन तुझसे प्रार्थना करता हूं कि तू इस बार कृपा करके उस वचन का आग्रह मत कर।

अब यह तुम्हारे सोचने जैसा है कि बुद्ध का कहना अति मानवीय है, अदभुत है। आनंद कहा भी है कि आपके लिए भी क्या कोई पत्नी है? बुद्ध कहते हैं, मेरे लिए नहीं, लेकिन उसके लिए मैं पति हूं, इसको अभी कैसे मिटाऊं? यह मेरे हाथ में नहीं

है। ठीक, आनंद दूर खड़ा रह गया और बुद्ध पत्नी के पास गए और उसने चिल्लान ा शुरू किया। बारह साल की लंबी बात थी, बहुत पीड़ाएं थीं, अचानक रात में बिन ा कहे उसको छोड़कर भाग गए थे, उसका दुख बिलकुल स्वाभाविक है। बुद्ध चुपचा प खड़े हैं। वह उसकी सारी बात सुन लेते हैं। फिर वह आंसू पोंछती है और बुद्ध उ ससे कहते हैं कि तू ठीक से देख, मैं वहां नहीं हूं जो गया था। अब मैं तेरे पति की तरह नहीं आया हूं, तेरा पति मर चुका। मैं कोई और ही हूं। अब तू मुझसे बात कर, अब तू किससे बात कर रही है?

तो कृष्ण और अर्जुन के बीच भेद-स्थिति बहुत और है। अर्जुन मित्र है, गले में हाथ डालकर घूमे हैं, खेले हैं, गपशप किए हैं। यहां कृष्ण सिर्फ इतना ही कहें कि मैंने ज ो सत्य जाना है वह मैं तुमसे कहता हूं, तो वह कहेगा कि जानते हैं हम आपको औ र आपके सत्य को! तो कृष्ण उससे कहते हैं कि और भी पहले इस सत्य को औरों ने भी औरों से कहा है, वही मैं तुझसे कह रहा हूं। मुझे मित्र मानकर तू कहीं इस खयाल में मत पड़ जाना। इसलिए एक 'पर्टिकुलर सिचुएशन' की बात है, और वह चूक जाए खयाल से तो आप गलती में पड़ेंगे। बुद्ध वैसी स्थिति में नहीं हैं। बुद्ध कह सकते हैं यह मैं कह रहा हूं, और किसी ने किसी से कहा हो या न कहा हो, इससे मुझे प्रयोजन नहीं है। और तुमसे मैं यह कह देता हूं कि मेरे कहने से तुम मत मा न लेना। इसलिए बुद्ध कोई अहंकार की घोषणा कर रहे हों, ऐसा नहीं मालूम होता । क्योंकि अहंकारी यह कहेगा कि मैं कहता हूं, इसलिए मान लो। बुद्ध तो निपट नि जता की बात कर रहे हैं, वह यह कह रहे हैं कि मैं कहता हूं, इससे तुम मान मत लेना, लेकिन कहता मैं ही हूं।

हम जानते हैं कि बुद्ध जो कह रहे हैं वह औरों ने भी कहा है। हम जानते हैं कि बु द्ध जो कह रहे हैं वह उपनिषदों ने भी कहा है। हम जानते हैं कि बुद्ध जो कह रहे हैं वह वेदों ने भी कहा है। लेकिन बुद्ध क्यों जोर देते हैं इस बात पर? अगर कोई बुद्ध से कहे भी कि यह वेदों में कहा है, उपनिषद में कहा है, तो बुद्ध कहेंगे कि न हीं, यह मैं तुमसे कह रहा हूं। इसके भी कारण हैं, 'सरकमस्टेंशियल'। क्योंकि बुद्ध के समय तक वेद और उपनिषद की परंपरा बिलकुल सड़ गई थी। और वेद-उपनिष द के पक्ष में एक बात भी कहनी उस पूरी परंपरा को सहारा देना था जो बुरी तरह सड़ गई थी। यह जानते हुए भलीभांति कि बुद्ध जो कह रहे हैं सारभूत, वही वेद-उपनिषद में कहा गया है। लेकिन फिर भी वेद-उपनिषद को सहारा नहीं दिया जा स कता, क्योंकि उस सहारे पर एक बहुत बड़ा पाखंड का जाल खड़ा हो गया था, जो जनता को लूट रहा है, खसोट रहा है, गलत रास्तों पर भटका रहा है, अंधविश्वास में डुबा रहा है। इसलिए वेद और उपनिषद के पक्ष में वह बिलकुल चुप रह जाते हैं ।

ऐसा नहीं है कि बुद्ध को यह बोध नहीं होता है, कि खयाल नहीं होता है। लेकिन कई बार इतिहास में ऐसा वक्त आ जाता है कि कल के सत्यों को आज के सत्यवा दी को उखाड़कर फेंकना पड़ता है। क्योंकि कल के सत्य के होने की वजह से असत्य

ों के साथ इस बुरी तरह घुल-मिल जाते हैं कि अब उनको साथ देना उन असत्यों को भी साथ देना है जिनके साथ उनका जोड़ और गठबंधन हो गया होता है। कृष्ण के सामने वैसा सवाल नहीं था। कृष्ण के सामने वेद और उपनिषद की परंपरा जरा भी अशुद्ध नहीं हुई थी, वह अपनी ऊंचाई पर थी, शिखर पर थी। सच तो यह है, इसीलिए हम गीता को कह सके कि वह समस्त वेदों और समस्त उपनिषदों का सार है। असल में हम कृष्ण को कह सकते हैं कि उपनिषद ने जो संस्कृति पैदा की थी, उसके वह सारभूत हैं। जो 'एसेंशियल' था उस संस्कृति में, वह सब कृष्ण से प्रगट हो गया है। तो कृष्ण तो उस संस्कृति के शिखर पर पैदा हुए और बुद्ध उस संस्कृति के बिलकुल पतन के गर्त में पैदा हुए। वही संस्कृति थी, लेकिन बुद्ध उसकी शिखर की अवस्था में पैदा नहीं हुए हैं, बुद्ध उसकी पतन की अवस्था में पैदा हुए हैं, जब वह संस्कृति बिलकुल धूल-धूसरित हो गई थी और सब सड़ गया था। और ब्राह्मण ब्रह्मज्ञानी नहीं रह गया था, ब्राह्मण सिर्फ ब्रह्म के नाम पर शोषक हो गया था। और ब्राह्मण ब्रह्मज्ञानी नहीं रह गया था, ब्राह्मण सिर्फ ब्रह्म के नाम पर शोषक हो गया था। और उस संस्कृति के साथ सब कुछ गंदा जुड़ गया था जो कि धर्म का जिससे कोई नाता नहीं है।

इसलिए कृष्ण तो 'पीक' पर पैदा होते हैं। उपनिषद अपनी कीर्ति के शिखर पर हैं। उपनिषद में जो ज्ञान प्रगट हुआ था, उसकी किरणें चारों ओर व्याप्त हैं। हवा और कण-कण में उनकी खबर है। और कृष्ण के लिए उपनिषद कोई मरी हुई बात नहीं है। कण-कण में, हवा-हवा में, फूल-फूल में, आकाश की बदलियों में, सब तरफ उप निषद की गूंज है। उस वक्त जब वह कह सकते हैं, वह कहते हैं, तो वह किसी पुर ाने की गवाही नहीं दे रहे हैं। वह जो मौजूद ही है पूरी तरह, उसकी गवाही दे रहे हैं। लेकिन बुद्ध के वक्त तक यह सब सड़ गया और नष्ट हो गया और लाश पड़ी र ह गई थी। उस लाश की गवाही बुद्ध नहीं दे सकते। इस कारण।

न कोई बुद्ध का अहंकार है और न कोई कृष्ण का अहंकार है कि वह पुराने का स मर्थन खोजते हैं। न बुद्ध का अहंकार है कि वह अपनी घोषणा करते हैं।

'भगवान श्री, कृष्ण ने गीता के अध्याय दस में अपने घोड़ों में उच्चैःश्रवा, हाथियों में ऐरावत, गौवों में कामधेनु, सर्पों में वासुकि, पशुओं में सिंह, पक्षियों में गरुड़, नदि यों में गंगा, ऋतुओं में वसंत आदि बताया है। अर्थात अपने को सर्वश्रेष्ठ बताने का प्रयत्न किया है। तो क्या वे निकृष्ट वर्ग का प्रतिनिधित्व नहीं करते? क्या निकृष्ट व र्ग कृष्ण का रूप नहीं था? उन्होंने निकृष्ट और साधारण का जिक्र क्यों नहीं किया?'

* यह बड़ा मजेदार सूत्र है। इस सूत्र में दो बातें हैं।

पहली बात तो यह है कि कृष्ण इसमें अपने को सभी में श्रेष्ठ घोषित करते हैं--ऋतु ओं में वसंत कहते हैं, हाथियों में ऐरावत कहते हैं, गायों में कामधेनु कहते हैं। ले किन दूसरी मजे की बात यह भी है कि गाय और घोड़े जैसे निम्नतम प्राणियों में भी

वे अपनी तुलना खोजते हैं। ये दो बातें एकसाथ हैं। ये दो बातें एकसाथ हैं! इधर वह हर जाति में अपने को श्रेष्ठ घोषित करते हैं, लेकिन इसकी जरा भी फिक्र नहीं करते कि जाति किसकी है। आखिर ऐरावत भी होंगे तो हाथियों में ही होंगे न, अ ौर कामधेनु होंगे तो गायों में ही होंगे न, और वसंत होंगे तो ऋतुओं में ही होंगे न !

ये दो बातें एकसाथ हैं। निम्नतम में भी जो श्रेष्ठतम है, उसकी वे घोषणा करते हैं। कारण हैं। इस श्रेष्ठतम की घोषणा क्यों की जा रही है? ऊपर से देखने पर लगेगा कि अहंकार की बात है—क्योंकि हमें सिवाय अहंकार के कुछ और लगता ही नहीं। भीतर से देखने पर पता चलेगा कि जब प्रत्येक जाति में, प्रत्येक वर्ग में श्रेष्ठतम की बात कही जा रही है, तो उसका कुल मतलब ही इतना है कि जब वह कहते हैं हाथियों में ऐरावत हैं, तो वह यह कहते हैं कि जो हाथी ऐरावत नहीं हो पाए, वे अपने स्वभाव से च्युत रह गए हैं। ऐसे तो हर हाथी ऐरावत होने को पैदा हुआ है। जो ऋतु वसंत नहीं हो पाई, वह ऋतु होने से च्युत हो गई, उसके स्वभाव से च्यु त हो गई। ऐसे तो हर ऋतु वसंत होने को पैदा हुई है। जो गाय कामधेनु नहीं हो पाई, वह असल में ठीक अर्थों में गाय ही नहीं हो पाई है, वह अपने स्वभाव से च्यु त हो गई है। कृष्ण इस घोषणा में सिर्फ इतना ही कहते हैं कि मैं प्रत्येक स्वभाव क ी सिद्धि हूं। जो जो हो सकता है चरम शिखर पर, वह मैं हूं। इसका मतलब आप समझे?

इसका मतलब यह हुआ कि जो हाथी ऐरावत नहीं है वह कृष्ण नहीं है, ऐसा नहीं, वह भी कृष्ण है, लेकिन पिछड़ा हुआ कृष्ण है; वह ऐरावत नहीं हो पाया, जो कि ह ो सकता है, जो कि वह 'पोटेंशियली' है। कृष्ण यह कह रहे हैं कि सबके भीतर जो 'पोटेंशियली' है, वह मैं हूं। इसको अगर पूरे सार में हम रखें, तो इसका मतलब हुआ कि सबके भीतर जो बीजरूप संभावना है, जो अंतिम उत्कर्ष की संभावना है, जो अंतिम विकास का शिखर है, वह मैं हूं। और जो इससे जरा भी पीछे छूट जाता है, वह अपने स्वभाव के शिखर से च्युत हो जाता है। वह अपने को पाने से वंचित रह गया है। इसमें कहीं कोई—कहीं भूलकर भी कोई अहंकार की घोषणा नहीं है। इसका सीधा और साफ मतलब इतना ही है कि तुम जब तक हाथियों में ऐरावत न हो जाओ, तब तक तुम मुझे न पा सकोगे। तुम जब तक ऋतुओं में वसंत न हो जाओ, तब तक तुम मुझे न पा सकोगे। तुम अपने पूरे खिलने में, अपनी पूरी 'फ्ला वरिंग' में ही मुझे पाते हो। वह अर्जुन को यही समझा रहे हैं, वह उसको यही कह रहे हैं कि क्षत्रियों में तू पूरा श्रेष्ठ हो जा तो तू कृष्ण हो जाएगा।

अगर कृष्ण कभी हजार-दो हजार साल बाद आते, तो वह जरूर कहते कि क्षत्रियों में मैं अर्जुन हूं। मगर हजार-दो हजार साल बाद। तो वह जरूर कहते कि क्षत्रियों में मैं अर्जुन हूं। जब कृष्ण अपने होने की यह घोषणा कर रहे हैं, तो यह श्रेष्ठता का दावा नहीं है। क्योंकि श्रेष्ठता का दावा करने के लिए घोड़ों और हाथियों में जाना प. डेगा? गायों-बैलों में जाना पड़ेगा? श्रेष्ठता का दावा तो सीधा ही हो सकता है, पर

वह सीधा नहीं कर रहे हैं। असल में वह श्रेष्ठता का दावा ही नहीं कर रहे हैं। वह एक जागतिक विकास की बात कर रहे हैं कि जब तुम अपने श्रेष्ठतम रूप में प्रकट होते हो, तब तुम प्रभु हो जाते हो।

शब्द है हमारे पास, ईश्वर। ईश्वर शब्द बनता है ऐश्वर्य से ही। जब तुम अपने पूरे ऐश्वर्य में प्रकट होते हो, तो ईश्वर हो जाते हो। ईश्वर तो ऐश्वर्य का ही रूप है। लेकिन हमने कभी सोचा नहीं। ईश्वर का मतलब ही यह है कि गायों में कामधेनु और हाथियों में ऐरावत, और ऋतुओं में वसंत। जब भी कोई अपने पूरे ऐश्वर्य में प्रकट होता है तो वह ईश्वर हो जाता है। ईश्वर का मतलब ही यह है कि जिसकी 'पोटेंशियलिटी' और 'एक्चुअलिटी' में फर्क नहीं है। जिसकी वास्तविकता में और जिसकी संभावना में कोई फर्क नहीं है। जिसके जीवन में संभावना और वास्तविकता एक ही हो गई है। जो संभावना थी वह पूरी-की-पूरी वास्तविकता बन गई है, वह ईश्वर है। जिसकी संभावना और वास्तविकता में अंतर है, 'डिस्टेंस' है, वह अभी ईश्वर की तरफ यात्रा कर रहा है। तो जो मेरे भीतर छिपा है, जिस दिन पूरी तरह प्रकट हो जाएगा, उस दिन मैं अपने ईश्वर को उपलब्ध हो जाता हूं। लेकिन अभी, जो मेरे भीतर छिपा है, वह थोड़ा-थोड़ा प्रकट होता है। वह पूरा वसंत नहीं बन पाता है। वह सरकता रहता है, वसंत की तरफ सरकता है लेकिन वसंत नहीं हो पाता है। फूल पूरा नहीं खिल पाता है। अगर कृष्ण इस बगिया में आएं और वह कहें कि इन फूलों में मैं सबसे ज्यादा खिला हुआ फूल हूं, तो क्या मतलब होगा? उसका मतलब यह हुआ कि दूसरे फूल भी इतने ही खिल सकते थे, नहीं खिल पाए हैं। और उचित ही है कि कृष्ण अधखिले फूल से अपने को नहीं जोड़ते हैं। उचित ही है कि जो अभी कली में बंद है, उससे नहीं जोड़ते। उचित ही है कि जो अभी शाखाओं में छिपा है, उससे नहीं जोड़ते। उचित ही है कि जो बीज में पड़ा है उससे नहीं जोड़ते। वे उससे जोड़ते हैं जो पूरा खिला है, क्योंकि जिससे वह बात कर रहे हैं उसको पूरे खिलाने की ही बात कर रहे हैं कि तू पूरा खिल जा, तू क्षत्रियत्व का पूरा फूल बन जा, तू वसंत हो जा क्षत्रियत्व का। तो तू मुझे पा सकेगा। मुझे पा सकेगा से मतलब, कि तू अपने ईश्वर को पा सकता है।

यहां कृष्ण पूरे समय दोहरा काम कर रहे हैं। कृष्ण का पूरा 'रोल डबल' है। इधर वह अर्जुन के साथी हैं, उसके मित्र हैं और इसलिए अर्जुन पर ज्यादा डांट-डपट नहीं कर पाते हैं, उससे मित्रता की भाषा बोलते हैं, लेकिन साथ-ही-साथ पूरे समय खिले फूल भी हैं। और उनकी इस मित्रता के बीच-बीच में उनकी पूर्णता की घोषणायें जगह-जगह से फूट पड़ती हैं और अर्जुन तक पहुंच जाती हैं। और ये दोनों जरूरी हैं। अगर वह निपट मित्र रह जाएं, तो किसी काम के नहीं रहेंगे, और अगर वह निपट परमात्मा हो जाएं तो अर्जुन कहेगा कि क्षमा करो, अपनी दोस्ती समाप्त! इन दोनों के बीच उनको पूरे वक्त तालमेल बिठालना पड़ रहा है। वह अर्जुन के मित्र भी बने रहते हैं और परमात्मा होने की घोषणा भी बीच-बीच में कर जाते हैं। जब-जब भी उन्हें लगता है कि अर्जुन जरा राजी दिखता है, तब-तब वह परमात्मा होने

की घोषणा करते हैं, हे महाबाहो! तब वे फिर उससे मित्रता की बातें करने लगते हैं—हे भारत, हे महाबाहो! फिर उससे मित्रता की बातें करने लगते हैं, उनका काम बड़ा 'डेलिकेट' और बड़ा नाजुक है। ऐसा नाजुक मौका बहुत कम आया है। बुद्ध के पास ऐसा नाजुक मौका नहीं है। क्योंकि जो आया है, वह निश्चित है कि कौन है; जो बैठा है, वह निश्चित है कि कौन है, बात सीधी-साफ होती है। महावीर को ऐसा मौका नहीं आता, क्योंकि बातें साफ-सुथरी हैं, सीधा 'डायलाग' है। उसमें कुछ दोहरे 'रोल' का काम नहीं है। कृष्ण के साथ बड़ी कठिनाई है, वहां 'रोल' बड़ा दोहरा है। मित्र के गुरु होना बड़ी कठिन बात है। मित्र को उपदेश देना बड़ी कठिन बात है। मित्र को सलाह देना बड़ी कठिन बात है। क्योंकि वह जो मित्र है, वह कहेगा कि बस बंद करो, ज्यादा ज्ञान मत बघारो, अर्जुन कह सकता है कि ज्यादा ज्ञान मत बघारो! मेरे ही साथ खेले, मेरे साथ बड़े हुए, इतना ज्ञान मत बघारो। अगर ज्यादा ज्ञान दिखाई पड़े तो अर्जुन छूट जाएगा बाहर। तो कृष्ण पूरे वक्त दोनों काम कर रहे हैं, उसे थपथपाते भी जाते हैं कि हे महाबाहो, और फिर उससे कहते भी चले जाते हैं कि तू अज्ञानी है रे! तू पहचान नहीं पा रहा है कि असली बात क्या है! ये दोनों बातें साथ चल रही हैं, इसको खयाल में लेंगे तो सरलता हो सकती है।

'भगवान श्री, लगभग सभी महापुरुषों का कुछ तो चरित्र वैयक्तिक होता है, और कुछ होता है समष्टिगत। अभी पिछले दिनों में कृष्ण के जीवन पर चर्चा रही, उसमें बहुत कुछ वैयक्तिक विशेषताएं भी थीं जो कि आज के युग में मुमकिन है कि यदि हम उनका थोड़ा-सा भी अनुकरण करने लगें तो पिट जाने की ही संभावना है और तो कोई दूसरी बात दिखाई नहीं पड़ती। आज हम किसी की दधि और दूध की मटकी को कंकड़ी मारकर फोड़ नहीं सकते हैं। आज हम कहीं स्नान करती हुई किन्हीं बालाओं के वस्त्र उठाकर भाग नहीं सकते हैं। और तो और, किसी राधा के साथ चाहते हुए भी हम प्रेम नहीं कर सकते हैं। कृष्ण में और चीजें भी हैं जो समष्टिगत हैं; कृष्ण ने जो कुछ भी कहा है उसका अतीत, वर्तमान और भविष्य के लिए महत्व है, ऐसा आपने बताया। इसी संदर्भ में अब हम चाहते हैं कि कृष्ण ने गीता में जो कर्मयोग की बात कही है, अनासक्त योग की बात कही है, उनका जो यह जीवनदर्शन हमारे लिए सबसे महत्वपूर्ण है, जो जीवन जीने की कला सिखाता है, जीवन का एक नया मार्ग हमें देता है और हम जीवन के हर क्षण में उसे व्यवहार रूप में उतार भी सकते हैं, उनके इस जीवनदर्शन पर विशद रूप से कुछ बातें हमारे सम्मुख प्रस्तुत करें, ताकि हम उनका अनुसरण कर सकें।'

* पहली बात तो यह खयाल लेनी चाहिए कि आज कृष्ण का होना कठिन हो गया है, ऐसा नहीं है। उस दिन भी आसान नहीं था। अन्यथा बहुत कृष्ण हो जाते। और आपको कठिन मालूम होता है कृष्ण होना। उस दिन भी इतना कठिन मालूम होता—

आपको। कृष्ण आज पैदा हों तो आज भी उतना ही सरल होगा—कृष्ण को। लेकिन यह भ्रांति वहां से शुरू होती है जहां से हम अनुकरण का खयाल लेते हैं, वहां से उपद्रव शुरू होता है। न तो आप उस दिन कृष्ण का अनुकरण कर सकते थे, न आज कर सकते हैं। कर ही नहीं सकते हैं। और करेंगे तो ठीक कहते हैं कि मुसीबत में पड़ेंगे।

जो सारी उनके जीवन पर चर्चा हुई है, वह इसलिए नहीं कि आप अनुकरण करेंगे, बल्कि इसलिए ही कि इस कृष्ण के व्यक्तित्व के अगर पूरे जीवन को हम समझ पाएं, तो शायद अपने-अपने जीवन को समझने के लिए सुविधा हो। अनुकरण के लिए नहीं। अगर कृष्ण के व्यक्तित्व का—जो कि बड़ा विराट, बहु-आयामी है—पूरा खुलाव हो जाए, तो हम अपने व्यक्तित्व को भी खोलने की कुंजी पा सकते हैं। लेकिन अगर आप अनुकरण की भाषा में सोचेंगे, तो आप कृष्ण को नहीं समझ पाएंगे, समझना मुश्किल हो जाएगा। जिसका भी हम अनुकरण करना चाहते हैं, उसे हम समझना तो चाहते ही नहीं। और अनुकरण करना ही हम इसलिए चाहते हैं कि हम अपने को भी समझना नहीं चाहते। किसी को अपने ऊपर आरोपित करके जी लेंगे तो सुविधा होगी, समझने की झंझट से बच जाएंगे। समझने का काम तो वहीं से शुरू होता है जहां से हम न किसी का अनुकरण करना चाहते हैं, न किसी जैसे होना चाहते हैं, बल्कि इस बात का पता लगाना चाहते हैं कि मैं क्या हूं, और क्या हो सकता हूं। तो जिन लोगों ने अपनी जिंदगी में पूरी तरह खुलाव से अपने को प्रगट कर किया है, उनकी जिंदगी को समझने से अपनी जिंदगी को समझने का रास्ता सुगम हो जाता है। इससे जिंदगियां एक नहीं हो जाएंगी, जिंदगी तो अलग-अलग ही होंगी, अलग-अलग होनी ही चाहिए, कोई होने का उपाय भी नहीं है कि वह एक जैसी हो जाएं।

तो अगर इतनी सारी चर्चाओं में कहीं भूलकर भी आपके मन में अनुकरण का खयाल रहा है, जैसा कि प्रश्न से लगता है कि रहा होगा, तो आप कृष्ण को नहीं समझ पाएंगे; और कृष्ण को तो समझ ही नहीं पाएंगे, अपने को भी समझना मुश्किल हो जाता है।

दूसरी बात, कृष्ण के विचार, उनके वे सत्य, जो सदा उपयोग के लिए हो सकते हैं; लेकिन उनमें भी मैं आपसे यही कहना चाहूंगा कि वे भी अनुकरणीय नहीं हैं। क्योंकि जब कृष्ण का जीवंत व्यक्तित्व अनुकरण नहीं किया जा सकता, तो शब्दों में प्रगट सिद्धांत और सत्य कैसे अनुकरण किए जा सकते हैं! नहीं, वह भी नहीं किया जा सकता। वह भी समझा ही जा सकता है। हां, उसके समझने की प्रक्रिया में आपकी समझ बढ़ती है, और वह समझ आपके काम आ सकती है। सिद्धांत काम नहीं आएंगे, समझ ही काम आएगी। लेकिन हम हर हालत में अनुकरण हमारी मांग होती है। या तो हम जीवन का अनुकरण करें, या सिद्धांतों का अनुकरण करें, लेकिन अनुकरण हम करेंगे ही।

तो पहली बात आपसे उनके सिद्धांत के संबंध में बात करने के पहले यह कह देनी जरूरी है कि जीवन अनुकरणीय नहीं है, इसलिए नहीं कि आज मटकी नहीं फोड़ी ज ा सकती, इसलिए भी नहीं कि आज प्रेम नहीं किया जा सकता, इसलिए भी नहीं ि क आज बांसुरी नहीं बजाई जा सकती, सब किया जा सकता है, इसमें कोई कठिना ई नहीं है। मटकी फोड़ने से उस दिन भी तकलीफ आती थी, आज भी आएगी। बांसु री बजाने से उस दिन भी आदमी मुश्किल में पड़ता था, आज भी पड़ेगा। इससे को ई फर्क नहीं पड़ता है। थोड़े-बहुत भेद होंगे, कोई बहुत बुनियादी फर्क नहीं पड़ता है। इसलिए नहीं कह रहा हूं कि अनुकरण नहीं किया जा सकता क्योंकि बहुत बुनियाद ी फर्क नहीं पड़ता है। इसलिए नहीं कह रहा हूं कि अनुकरण नहीं किया जा सकता क्योंकि परिस्थिति बदल गई है, अनुकरण ही गलत है—परिस्थिति बिलकुल वही हो तो भी। अनुकरण मात्र आत्मघात है। 'सूसाइडल' है। अपने को मारना हो, तो ही अनुकरण ठीक है।

कृष्ण किसका अनुकरण करते हैं? कोई व्यक्तित्व दिखाई नहीं पड़ता कृष्ण ने जिसक ा अनुकरण किया हो। बुद्ध किसका अनुकरण करते हैं? कोई व्यक्तित्व दिखाई नहीं पड़ता जिसका बुद्ध ने अनुकरण किया हो। क्राइस्ट किसका अनुकरण करते हैं? कोई दिखाई नहीं पड़ता। बड़े मजे की और बड़े रहस्य की बात है कि उन्हीं लोगों का ह म अनुकरण करते हैं जिन्होंने कभी किसी का अनुकरण नहीं किया। यह बड़ी 'एब्सर्ड ' बात है। अगर हम उनको समझें तो एक बात तो हमें यह समझ लेनी चाहिए कि ये लोग किसी का अनुकरण नहीं करते हैं। ये सारे-के-सारे अपनी निजता के फूल हैं। और हम? हम किसी और के फूल के ढंग से खिलना चाहेंगे तो कठिनाई में पड़ जाएंगे। और यह कठिनाई मटकी फोड़ने की कठिनाई, राधा से प्रेम की कठिनाई न हीं है, यह बहुत गहरी कठिनाई है। वे तो बहुत छोटी कठिनाइयां हैं। और उनमें तो आप रोज पड़ते रहते हैं, कोई रुकता नहीं। कोई दूसरों की स्त्रियों से प्रेम करने से रुकता हो, ऐसा दिखाई नहीं पड़ता। कोई अपनी पत्नियों से डर का दूसरे की पत्नि यों का नाम न लेता हो, ऐसा भी दिखाई नहीं पड़ता। पत्नियां डराए चली जाती हैं, पति डरे चले जाते हैं; पति डराए चले जाते हैं, पत्नियां डरी चली जाती हैं, यह कोई आज की बात नहीं, वह सदा की बात है। असल में जब तक पति और पत्नी रहेंगे तब तक डर रहेगा। पति-पत्नी न हों, इसमें भी बड़ा डर लगता है। आदमी जै सा है वह चूंकि डरा हुआ है, इसलिए उसकी सारी व्यवस्था में डर व्याप्त हो जाता है।

नहीं, यह सवाल नहीं है कि अनुकरण में यह भय है। अनुकरण में जो बुनियादी भय है वह मैं आपसे कह दूं, फिर कल सुबह से आप प्रश्न उठाइये जीवन-सत्यों के संबं ध में। क्योंकि जीवन के संबंध में मैं चर्चा नहीं कर रहा था, आप प्रश्न उठा रहे थे। कल सुबह से आप प्रश्न उठाइये उनके दर्शन और सत्यों के संबंध में, उसकी चर्चा कर लूंगा। जो अनुकरण का बुनियादी भय है, वह यह है कि इस जगत में दो व्यकि त एक जैसे नहीं हैं, न हो सकते हैं। बेजोड़ हैं, अद्वितीय सब हैं। कोई तुलना का उ

पाय नहीं। बस आप आप ही हैं, और आप जैसा पहले कभी नहीं हुआ और आप जै सा बाद में कभी नहीं होगा। असल में आपका कोई सांचा भगवान के पास नहीं है, जिस सांचे में और लोग ढाले जा सकें। और जब भी आप अपनी इस निजता को अ स्वीकार कर देंगे और किसी जैसा होने की कोशिश करेंगे, तो जो भूल भगवान ने न हीं की, वह आप करेंगे। उसने आपको बनाया व्यक्ति, और आप 'कॉपी' बनने की कोशिश में लग जाएंगे। उसने आपको दी निजता और आप पराए को ओढ़ने में लग जाएंगे। वह कठिनाई है।

लेकिन अब तक सभी धर्म अनुकरण पर जोर देते रहे हैं। सभी सारी दुनिया में मां-बाप, शिक्षक-गुरु सिखाते रहे हैं, किसी जैसे हो जाओ, बस अपने जैसे भर मत होना ! एक भूल भर मत करना, बाकी सब करना! कृष्ण जैसे हो जाना, राम जैसे हो ज ाना, बुद्ध जैसे हो जाना, बस एक भूल भर मत करना, अपने जैसे मत हो जाना। क या कारण है? ये सारी दुनिया की शिक्षाएं किसी आदमी को यह नहीं कहती कि अ पने जैसे हो जाओ। कुछ कारण है।

बड़ा कारण तो यह है कि प्रत्येक व्यक्ति अगर अपने जैसा हो जाए, तो खतरा है, समाज को, गुरुओं को, मां-बाप को, व्यवस्थाओं को, सबको खतरा है। क्योंकि कौन कैसा हो जाएगा, इसके बाबत पहले से सुनिश्चित नहीं हुआ जा सकता। लेकिन राम जैसे हो जाओ, इसमें खतरा नहीं है। राम के बाबत हम सुनिश्चित हैं, हमें पता है पक्का कि राम क्या करते हैं। ऐसा ही तुम भी करो, ताकि तुम खतरनाक न रह जाओ। तुम्हारे बाबत 'प्रेडिक्शन' हो सके, तुम्हारे बाबत घोषणा हो सके कि तुम ऐ सा करोगे। और जिस दिन तुम न करो, तो हम तुम्हें अपराधी ठहरा पाएं। अगर प्रत येक व्यक्ति अपने जैसा हो, तो बहुत मुश्किल हो जाएगा तय करना कि क्या अपरा ध है और क्या अपराध नहीं है। क्या पाप है, क्या पुण्य है; क्या ठीक है, क्या गलत है; बहुत मुश्किल हो जाएगा। इसलिए समाज की जड़ व्यवस्था को इसी में सुविधा है कि सब साफ-सुथरी रेखाएं रहें, चाहे जिंदगी कट जाए और लोग मर जाएं, और चाहे उनके व्यक्तित्व समाप्त हो जाएं और उनकी आत्माएं दीन हो जाएं, इसकी कोई चिंता नहीं, लेकिन व्यवस्था!

ऐसा मालूम होता है कि मनुष्य समाज के लिए जी रहा है, समाज मनुष्य के लिए न हीं जी रहा। शिक्षा मनुष्य के लिए नहीं है, मनुष्य इसलिए पैदा हुआ है कि लोग उ सको शिक्षा दे सकें। सिद्धांत मनुष्य के काम में आएं इसलिए नहीं हैं, मनुष्य इसलिए पैदा किया गया है कि सिद्धांतों के काम में आ सके। धर्म मनुष्य के लिए नहीं है, मनुष्य धर्म के लिए है। मनुष्य को नीचे रखते हैं, साधन बनाते हैं और मनुष्य के ऊ पर सब चीजों को थोप देते हैं। खतरा यह है। अनुकरण का खतरा परिस्थितिगत ख तरा नहीं है, आत्मगत खतरा है। अनुकरण का खतरा अपने को धीरे-धीरे मारने औ र 'पायज़निंग' का खतरा है, अपने को धीरे-धीरे जहर देने का खतरा है; और उस जहर पर आपने कृष्ण का 'लेबल' लगा रखा है, कि बुद्ध का, कि महावीर का, इस से कोई फर्क नहीं पड़ता।

दुनिया में कोई 'टाइप' नहीं है जिसमें सबको ढलना है। प्रत्येक को अपने जैसा होना है। इसलिए कृष्ण पर जो मैं बात कर रहा हूं, कोई भूलकर यह न समझ ले कि मैं आपसे कह रहा हूं आप कृष्ण जैसे हो जाएं। नहीं, बाहर से जो मुसीबतें आएंगी वे गौण हैं, भीतर से जो मुसीबत आएगी वही असली है। आप बिना मुर्दा हुए कृष्ण जैसे नहीं हो सकते। और मुर्दे अगर पिट जाएं, तो आश्चर्य है कुछ! मुर्दे पिटेंगे ही। वह जो डर है पिटाई का, वह मुर्दा होने का डर है। जिंदा आदमी तो जैसा होता है, होता है। और जितना जिंदा आदमी होता है, उतना ही जैसा होता है वैसा ही होता है।

और बड़े मजे की बात है कि जो समाज जिंदा आदमी की निंदा से शुरू करती है यात्रा, वह प्रशंसा पर पूरी करती है। सदा ऐसा हुआ है। जिंदा आदमी को गाली से हम प्रारंभ करते हैं, उसकी निंदा से शुरू करते हैं और आखिर में पूजा पर अंत होता है। यह हमारा ढंग है। यह बात दूसरी है कि वह जिंदा आदमी पूरा जिंदा न हो, बीच से लौट जाए, यह बात दूसरी है। अगर वह जिंदा आदमी पूरा है, तो तो आपकी गाली पूजा तक पहुंचेगी ही, सदा पहुंचती रही है। उसका अपना 'लाजिक' है। हां, अगर वह मुर्दा आदमी है तो डर जाएगा, गाली से लौट जाएगा, पूजा तक नहीं पहुंच पाएगा। यह उसका कसूर है। इसमें आपकी कोई गलती नहीं है। आपने तो ठीक शुरुआत की थी, वह बीच से भाग गया।

कृष्ण को इससे कोई फिक्र नहीं पैदा होती। क्या आप सोचते हैं कृष्ण भगवान की तरह स्वीकृत हो गए थे उस दिन? नहीं; कृष्ण पर सब दोषारोपण थे। और आज भी अगर आप अपनी आंख बचाकर ही चलें तो ही दोषारोपण से बच सकते हैं कृष्ण पर, अन्यथा बहुत मुश्किल है मामला! सब दोषारोपण थे। और जीसस को जब सूली दी गई, तो जिन लोगों ने सूली दी थी उन्होंने एक आवारा आदमी को सूली दी थी। तीन 'क्रास' खड़े किए थे, बीच में जीसस को लटकाया था, दोनों तरफ दो चोर भी लटकाए थे। इस बात की सूचना के लिए जीसस की हैसियत हम चोरों से ज्यादा नहीं समझते हैं। और मजे की बात यह है कि और लोगों ने मजाक किया हो किया हो, एक चोर ने भी मरते वक्त आखिरी समय जीसस से मजाक किया था। और उस चोर ने भी कहा था कि अब तो हम साथ ही मर रहे हैं, बड़ा संबंध हो गया, अगर तुम्हारे प्रभु के राज्य में जाऊं तो जरा जगह मेरे लिए बना देना! वह भी संदिग्ध है कि कहां का प्रभु का राज्य और कहां का क्या! चोर ज्यादा आश्वस्त था। वे लोग जो सूली पर लटका रहे थे, वे ही नहीं निश्चित थे कि यह आदमी आवारा और फिजूल है, वे चोर भी यही समझ रहे थे—तुमसे बेहतर तो हमीं हैं। कुछ करके मर रहे हैं, तुम बिना ही किए मरे जा रहे हो।

कृष्ण या क्राइस्ट को, या महावीर या बुद्ध को उनका समाज एकदम से उन्हें भगवान नहीं कह देता है। गालियों से शुरू करता है। पर वे जिंदा आदमी हैं, वे गालियां पिये चले जाते हैं, फिर कब तक आप गालियां देंगे? और जो आदमी गालियां पिये ही चला जाता है, फिर धीरे-धीरे आप उसका सम्मान करने लगते हैं। फिर वह सम्मा

न को भी पीता चला जाता है, वह उससे भी प्रभावित नहीं होता है, तब फिर आप उसको भगवान बनाने में लग जाते हैं।

कृष्ण की चर्चा मेरे लिए इसलिए महत्वपूर्ण नहीं है कि आप उनका अनुकरण करने जाएं, इसलिए महत्वपूर्ण है कि ऐसा व्यक्ति, इतना 'मल्टी-डायमेंशनल' व्यक्ति पृथ्वी पर नहीं हुआ। इस बहु-आयामी व्यक्तित्व के अगर सारे खजाने आपके सामने खुल जाएं, तो आपको अपने खजाने खोलने का खयाल आ सकता है। बस, इससे ज्यादा नहीं। आपके खजाने आपके होंगे, और कोई नहीं कह सकता कि आपके खजाने कृष् ण से ज्यादा गहरे और ज्यादा समृद्ध नहीं होंगे। यह कोई सवाल नहीं है। लेकिन जो कृष्ण के भीतर घटित हुआ, वह किसी और के भीतर भी घटित हो सकता है इस का स्मरण ही काफी है। उस स्मरण के लिए ही सारी चर्चा है।

लेकिन आप पूछते हैं कि जीवन-सिद्धांत। हमारा मन होता है कि कोई सिद्धांत मिल जाएं तो उनको आरोपण करना आसान होगा। उनके सिद्धांतों की कल सुबह से ह म चर्चा करेंगे, लेकिन वह भी आरोपण के लिए नहीं। वह भी जिंदगी को समझने के लिए। कृष्ण जैसे लोग जब पैदा होते हैं, तो जिंदगी को बड़ी गहराई से देखते हैं, और गलती होगी यह कि हम उनकी आंख में आंख डालकर थोड़ी देर जिंदगी को न देखें। उनकी आंख में आंख डालकर जिंदगी को देख लेने से हमारी भी देखने की क्षमता, हमारा 'पर्सपेक्टिव' बदलता है। यह मनाली आप आए हैं। ये चारों तरफ प हाड़ हैं, लेकिन आपके पास जितनी आंख है और जितना 'पर्सपेक्टिव' है उतना सौंद र्य ही तो इन पहाड़ों में दिखाई पड़ेगा? यहीं निकोलस रोरिक भी था, उसके चित्र आप देख आएंगे तो ये पहाड़ कुछ और कहते हुए मालूम पड़ने लगेंगे, तत्काल, क्यों कि उसकी आंख में से आपने आंख डालकर देखना शुरू कर दिया। और वह निकोल स रोरिक ठेठ रूस से यात्रा करके इन पहाड़ों में आ गया था। और आज तो रास्ता है, तब तो रास्ता भी नहीं था, और तब फिर वह जिंदगी भर यहीं रह गया था। इ स हिमालय ने उसे बिलकुल ही पागल कर दिया था। जहां तक मेरा खयाल है, आ पको काफी दिन हो गए हिमालय में आए और अब शायद ही आपको पहाड़ियां दिख ाई पड़ती होंगी। पहले दिन दिखाई पड़ी होंगी—थोड़ी बहुत देर—अब नहीं दिखाई पड़ ती होंगी। अब बात खत्म हो गई है। पहाड़ हैं, ठीक है, बात खतम हो गई।

लेकिन निकोलस जिंदगी भर लगा रहा यहां। और एक ही पहाड़ों को पोतता रहा, रंगता रहा, जिंदगी भर। और पहाड़ नहीं चुके, और निकोलस का मन नहीं चुका। तो निकोलस से अगर आप देख पाएंगे एक दफा, तो ये पहाड़ आपको कुछ और क हते दिखाई पड़ने लगेंगे। एक आदमी ने जिंदगी भर इन्हीं को देखने में लगाया। और हजार रंगों में, कभी सूरज में, कभी वर्षा में, कभी बर्फ में, कभी धूप में। और हज ार रंगों में इन पहाड़ों को देखा। सैकड़ों ढंगों से इन पहाड़ों को देखा—कभी चांद में, कभी अंधेरे में, कभी सूरज में, कभी वर्षा में, कभी बर्फ में, कभी धूप में। और उस आदमी ने अपने भी हजार रंगों में इन पहाड़ों को देखा। और जिंदगी भर बस इन पहाड़ों को ही रंगता रहा। आखिरी वक्त, मरते वक्त भी इन पहाड़ों को ही रंग रह

ा था। इस आदमी से अगर आप थोड़ा परिचित हो लेंगे, इन पहाड़ों के बीच में खड़े होकर आपको इन पहाड़ों में कुछ और दिखाई पड़ने की संभावना शुरू होती है। मैं नहीं कहता कि निकोलस ने जैसा देखा वैसा आप देखना—आप देख भी नहीं सकते, उपाय भी नहीं है—लेकिन निकोलस को जानने के बाद ये पहाड़ सिर्फ साधारण पहा. ड नहीं रह जाएंगे, जो एक दफे देखकर चुक जाते हैं।

प्रेम तो बहुत लोगों ने किया है, लेकिन कभी फरहाद और मजनूं को पढ़ लेना उपयोगी है। हमारा प्रेम जल्दी चुक जाता है। पता ही नहीं चलता कब चुक गया। ठीक से याद भी नहीं कर सकते कि कभी था। सब रूखा-सूखा रह जाता है भीतर। नदी आने के पहले ही विदा हो जाती है और मरुस्थल हो जाता है। लेकिन कुछ ऐसे भी लोग रहे हैं जो कि जिंदगी भर प्रेम किए ही चले गए हैं। और इनके प्रेम का कोई हिसाब लगाना मुश्किल है। अगर इन प्रेम करने वालों से आप थोड़े परिचित हुए तो अपने प्रेम को समझने में बड़ी सुविधा हो जाएगी और हो सकता है कि आपके भीतर भी कोई धारा अंतर्गर्भ में बहती हो और उसका स्मरण आ जाए। ऐसा नहीं कि आप मजनूं हो जाएंगे। उसका कोई उपाय नहीं है। होना भी नहीं है। और हुआ हुआ मजनूं क्या मजनूं हो सकता है? बाल वगैरह लटका लेगा मजनूं की तरह, कपड़े-लत्ते पहन लेगा मजनूं की तरह, सड़क पर गुजरने लगेगा, चिल्लाने लगेगा—लैला, लैला; नहीं, सब बेकार होगा। उसमें कोई मतलब नहीं होगा। उसके भीतर से तो कहीं कुछ आएगा नहीं।

लेकिन, आपका भी अपना प्रेम है जो मजनूं और फरहाद के प्रेम से शायद सजग हो जाए, सुलग जाए। शायद बारूद आग पकड़ जाए और आपको भी पता चले कि मैं भी ऐसे ही चुक जाने वाला नहीं हूं, मेरे भीतर भी कोई धारा है। उसी अर्थ में कह रहा हूं। बहुत लोगों ने गीत लिखे हैं, लेकिन कालिदास या रवींद्रनाथ का गीत प. ढकर आपको पहली दफा कुछ दिखाई पड़ना शुरू होता है, जो आपको शायद कभी दिखाई नहीं पड़ा था। वह आपकी भी संभावना थी। लेकिन प्रसुप्त थी।

तो कृष्ण के सिद्धांतों की कल सुबह से हम बात करेंगे, इस आशा में नहीं कि आप उनको मानकर और सिद्धांतवादी हो जाएं—कृष्ण जैसा गैर-सिद्धांतवादी आदमी नहीं है; इसलिए इस उपद्रव में पड़ना ही नहीं। कृष्ण को समझने का कुल मतलब इतना है कि जब ऐसा महिमा का पूरा खिला हुआ आदमी जगत को देखता है, तो वह क्या कह जाता है, उसकी 'वर्डिक्ट' क्या है, क्या कह जाता है इस जगत के बाबत? इस आदमी के चित्त की गहराइयों के बाबत वह क्या खबर दे जाता है? इस आदमी के खिलने के संबंध में वह क्या सूचनाएं दे जाता है? वे सूचनाएं शायद आपके अंतर्गर्भ में पड़ी हुई किन्हीं धाराओं को छू दें; तो ऐसा नहीं है कि फिर आप कृष्णवादी हो जाएंगे, बस ऐसा ही है कि आप अपने होने की यात्रा पर निकल जाएंगे। तभी आप समझ पाएंगे कि यह आदमी, जो स्वधर्म में मर जाने को कहता है, यह आदमी आपके ऊपर सिद्धांत थोपने वाला आदमी नहीं हो सकता है।

तो कल से आप पूछें। जो आप पूछ लेंगे, उसकी मैं बात कर लूंगा। मुझे इसमें सुवि धा पड़ती है कि आप पूछ लेते हैं। क्योंकि इसमें मुझे सोच-विचार की झंझट नहीं र ह जाती। नहीं तो मुझे सबसे बड़ी दिक्कत यही हो जाती है कि क्या कहूं? ऐसे जब तक आपसे बोलता हूं, तभी तक शब्द और विचार मेरे साथ होते हैं। जब नहीं बो ल रहा हूं तब मैं खाली हो जाता हूं। तो मुझे बड़ी कठिनाई होती है, कि कहूं क्या? आप कुछ पूछ लेते हैं, खूंटी बन जाते हैं, मुझे टांगने की सुविधा हो जाती है। तो मुझे बहुत ही कठिन मामला है वह कुछ बोलना। उसके लिए बड़ी मुश्किल होता जा रहा है। इधर मित्रों ने, बहुत मित्रों ने कहा है कि आप कुछ स्वतंत्र रूप से बोल दें । वह मेरे लिए मुश्किल होता जा रहा है। और ज्यादा दिन अब मैं स्वतंत्र रूप से न हीं बोल सकूंगा, उसमें बहुत कठिनाई पड़ती है। क्योंकि मुझे समझ ही नहीं पड़ता है , समझ ही खो गई है। आप पूछ लेते हैं, तो कोई उपाय नहीं रह जाता, मुझे 'रिस पांड' करना पड़ता है। आप नहीं पूछते हैं, तो मेरे पास कोई उपाय नहीं कि क्या ब ोलना है, बोलने को क्या है! अपनी तरफ से मैं अब चुप हूं, आपकी तरफ से ही बो ल रहा हूं। इसलिए कल सवाल उठा लेंगे। जो सवाल आप उठा लेंगे, उनकी हम बा त कर लेंगे।

अब हम ध्यान के लिए बैठेंगे।

18 अभिनय-से जीवन के प्रतीक कृष्ण

'भगवान श्री, श्रीकृष्ण कहते हैं कि निष्कामता और अनासक्ति से बंधनों का नाश होता है और परमपद की प्राप्ति होती है। कृपया इसका अर्थ स्पष्ट करते हुए समझाएं कि किस साधना या उपासना से यह उपलब्धि होगी? सामान्यजन के लिए सीधे निष्काम व अनासक्त होना तो संभव नहीं दिखता।'

* सबसे पहले तो अनासक्ति का अर्थ समझ लेना चाहिए। अनासक्ति थोड़े-से अभागे शब्दों में से एक है जिसका अर्थ नहीं समझा जा सका है। अनासक्ति से लोग समझ लेते हैं—विरक्ति। अनासक्ति विरक्ति नहीं है। विरक्ति भी एक प्रकार की आसक्ति है। विरक्ति विपरीत आसक्ति का नाम है। कोई आदमी काम में आसक्त है, वासना में आसक्त है। कोई आदमी काम के विपरीत ब्रह्मचर्य में आसक्त है। कोई आदमी धन में आसक्त है। कोई आदमी धन के त्याग में आसक्त है। कोई आदमी शरीर के श्रृंगार में आसक्त है, कोई आदमी शरीर को कुरूप करने में आसक्त है। लेकिन शरीर को कुरूप करने वाला विरक्त मालूम पड़ेगा, धन का त्याग करने वाला विरक्त मालूम पड़ेगा, क्योंकि इनकी आसक्तियां 'निगेटिव' हैं, नकारात्मक हैं।

आसक्ति के दो रूप हैं—किसी के पक्ष में आसक्त होना; या किसी के विपक्ष में आसक्त होना। जो विपक्ष में आसक्त है, वह भी उतना ही आसक्त है जितना पक्ष में आसक्त है। अनासक्ति इन दोनों तरह की आसक्तियों से मुक्ति का नाम है। अनासक्ति का अर्थ है, आसक्त भी नहीं, विरक्त भी नहीं। अनासक्ति दोनों का अतिक्रमण है। इसलिए मैंने कहा कि अनासक्ति थोड़े-से अभागे शब्दों में एक है। वह विरक्ति के साथ पर्यायवाची हो गया।

आध्यात्मिक जगत में ऐसे बहुत से शब्द हैं, जो इसी भांति भ्रांत हो गए हैं। वीतराग ऐसा ही शब्द है। वीतराग विराग का पर्यायवाची बन गया है। वीतराग का अर्थ है, राग और विराग दोनों के पार। महावीर की धारा में जो वीतराग का अर्थ है, कृष्ण की धारा में वह अनासक्ति का अर्थ है। अनासक्ति और वीतरागता पर्यायवाची हैं; लेकिन महावीर वीतराग होंगे राग और विराग दोनों को छोड़कर और कृष्ण अनासक्त होंगे दोनों को स्वीकार करके। उतना फर्क है। और ये दो ही ढंग हैं।

इसलिए वीतराग और अनासक्ति की परिणति तो एक है, मार्ग भिन्न हैं। वीतराग का मतलब है, जिसने राग भी छोड़ा विराग भी छोड़ा—लेकिन छोड़ने पर जोर है। अनासक्त का अर्थ है, जिसने राग भी स्वीकारा, विराग भी स्वीकारा—स्वीकार पर जोर है। इसलिए बहुत गहरे में वीतराग शब्द भी निषेधात्मक है और अनासक्त शब्द विधेयात्मक है, वह 'पाज़िटिव' बहुत गहरे में।

यह जो अनासक्त चित्त है, जिसने सब स्वीकार किया—और यह बड़े मजे की बात है कि जिसने सब स्वीकार किया, जैसा है वैसे के लिए ही राजी हो गया, ऐसे व्यक्ति के चित्त पर किसी चीज की कोई रेखा नहीं छूटती। हम किसी चीज को जोर से पकड़ें, तो भी रेखा छूटती है चित्त पर, किसी चीज को जोर से छोड़ें तो भी रेखा छूटती है चित्त पर। लेकिन न हम पकड़ें, न हम छोड़ें, चित्त पर कोई रेखा न छूटे, ऐसे चित्त का नाम अनासक्त।

यह अनासक्ति, पूछा है, कैसे साधारणजन को आए? सभी जन साधारण हैं जब तक अनासक्ति न आ जाए। इसलिए ऐसा सवाल नहीं है कि साधारणजन को कैसे आए। अनासक्ति जब तक न आए, तक तक सभी साधारण हैं। अनासक्ति आ जाए तभी असाधारणतया जीवन में फलित होती है। इसलिए ऐसा नहीं है कि साधारणजन के लिए अनासक्ति का और रास्ता होगा, असाधारणजन के लिए और होगा। क्योंकि असाधारण का एक ही अर्थ है कि वह अनासक्ति को उपलब्ध हुआ है। कैसे उपलब्ध हो, ऐसा ही पूछें। यह अनासक्ति कैसे उपलब्ध हो? इसको भी समझने के पहले जरा इसे समझ लें कि यह चूक कैसे गई है—यह अनासक्ति हमसे चूक कैसे रही है?

अनासक्ति कृष्ण की दृष्टि में स्वभाव है। हम चूक कैसे गए हैं स्वभाव से? इसलिए ऐसा नहीं है कि हमें कुछ साधना है अनासक्ति में, इतना ही जानना है कि स्वभाव से हम चूक कैसे गए हैं। हमने अनासक्ति खोई कैसे? कोई व्यक्ति मेरे पास आया और उसने पूछा कि मैं ईश्वर को खोजता हूं। तो मैंने उससे पूछा कि तुमने खोया कब? और अगर खोया हो तो खोज सकते हो। उसने कहा, नहीं, मैंने खोया तो कभी भी नहीं। तो फिर मैंने कहा, खोजना पागलपन है। जिसे खोया ही न हो, उसे खोजा कैसे जा सकता है? इसलिए असली सवाल, मैंने उस व्यक्ति को कहा कि यह नहीं है कि तुम ईश्वर को कैसे खोजो, असली सवाल यह है कि तुम यह खोजो कि तुमने ईश्वर खोया भी है? और अगर तुम्हें, यह पता चल जाए कि मैंने खोया ही नहीं, तो खोज पूरी हो जाती है।

अनासक्ति स्वभाव है। यह बहुत मजे की बात है। चूंकि अनासक्ति हमारा स्वभाव है इसलिए हम आसक्त भी हो सकते हैं और विरक्त भी हो सकते हैं। अगर आसक्ति हमारा स्वभाव हो, तो विरक्त हम कभी भी नहीं हो सकते। अगर विरक्ति हमारा स्वभाव हो, तो हम आसक्त कभी भी नहीं हो सकते। एक वृक्ष की शाखा है। हवा चलती है पश्चिम की तरफ तो शाखा पश्चिम में झुक जाती है। हवा चलती है पूरब की तरफ तो शाखा पूरब में झुक जाती है। वह इसलिए झुक जाती है कि शाखा न पूरब में है, न पश्चिम में है। वह बीच में है। हवाएं जिस तरफ चलती हैं, वह उसी तरफ झुक जाती है। पानी को हम गर्म करते हैं तो गर्म हो जाता है, ठंडा करते हैं तो ठंडा हो जाता है, क्योंकि पानी खुद न ठंडा है, न गरम है। अगर पानी गरम ही हो, तो फिर ठंडा न हो सकेगा; ठंडा ही हो, तो फिर गरम न हो सकेगा। पानी का स्वभाव ठंडे और गरम के पार है। इसलिए दोनों तरफ यात्रा संभव है।

हमारा स्वभाव अगर आसक्ति हो, तो फिर विरक्ति संभव नहीं है। लेकिन हम विरक्त लोगों को देखते हैं। अगर हमारा स्वभाव पकड़ना ही हो, तो फिर त्याग संभव नहीं है, लेकिन हम त्याग करते लोगों को देखते हैं। अगर हमारा स्वभाव त्यागी हो, तो फिर आसक्ति कैसे संभव होगी, हम तो लोगों को जोर से चीजों को पकड़े देखते हैं। इसका अर्थ इतना ही कि हमारा स्वभाव दोनों नहीं है। इसलिए हम जिस तरफ जाना चाहें जा सकते हैं। हमारा स्वभाव दोनों का अतिक्रमण करता है इसलिए हम दोनों तरफ झुक सकते हैं। हम आंख खोल सकते हैं, आंख बंद कर सकते हैं, क्योंकि आंख का स्वभाव न खुला होना है न बंद होना है। अगर आंख का स्वभाव खुला होना हो तो फिर बंद कैसे करियेगा? अगर आंख का स्वभाव बंद होने का अतिक्रमण करती है। दोनों के पार है। खुलना और बंद होना बाहरी घटनाएं हैं। आंख भीतर न खुली है, न बंद है सिर्फ पलक ही झपकते और खुलते हैं। बहुत गहरे में चेतना हमारी अनासक्त है। सिर्फ पलक ही आसक्त होते हैं और विरक्त होते हैं।

तो पहली बात समझ लेनी जरूरी है कि स्वभाव हमारा अनासक्ति है। और यह भी ध्यान रहे कि जो हमारा स्वभाव है उसे ही पाया जा सकता है, जो हमारा स्वभाव नहीं है उसे हम कभी भी पा न सकेंगे। सिर्फ हम वही पा सकते हैं जो बहुत गहरे में हैं ही। एक बीज फूल बन जाता है, क्योंकि गहरे में वह फूल है ही। एक पत्थर फूल नहीं बन जाता क्योंकि गहरे को छोड़ दे, उथले में भी वह फूल नहीं है। पत्थर को बो दें तो पत्थर ही रह जाता है, क्योंकि बहुत गहरे में वह पत्थर ही है। बीज को बो दें, देखने में दोनों एक से मालूम पड़ते थे—पत्थर का टुकड़ा और बीज—पत्थर की कंकड़ी और बीज, लेकिन जब बोया तब पता चलता है कि बीज पत्थर नहीं था, वह फूल हो गया। अब हम कह सकते हैं कि बीज फूल था ही, इसलिए फूल हो गया। अगर न होता, तो नहीं हो सकता था। जीवन के गहनतम सूत्रों में से एक है कि हम वही हो सकते हैं जो हम हैं ही—किसी गहरे तल पर हैं, फिर हम परिधि पर भी प्रकट हो जाएंगे। अनासक्ति हमारा स्वभाव है। आसक्ति या विरक्ति हमारा स्वभाव नहीं है। इसलिए हम आसक्त और विरक्त हो पाते हैं। और अनासक्ति हमारा स्वभाव है, इसलिए अनासक्ति पाई जा सकती है। जो बीज है, वह फूल बन सकता है।

यह अनासक्ति सभी का स्वभाव है। ऐसा नहीं कि किसी का है और किसी का नहीं। जहां भी चेतना है, चेतना सदा अनासक्त है। हां, चेतना का व्यवहार, पलक का झपना और बंद होना, आसक्त हो जाता है या विरक्त हो जाता है। यह दूसरी बात ठीक से समझ लें—चेतना अनासक्त है, व्यवहार आसक्त या विरक्त है, व्यवहार। अगर मुझे निपट अकेला छोड़ दिया जाए, जहां सिर्फ मेरी चेतना ही है, तो उस क्षण में मैं आसक्त हूं या विरक्त हूं? नहीं, उस क्षण में मैं कोई भी नहीं हूं। आसक्ति या विरक्ति सदा दूसरे के संबंध में पैदा होती है। अगर मैं कहूं कि फलां आदमी आसक्त है, तो आप तत्काल पूछेंगे, किस चीज में? क्योंकि बिना किसी चीज के आसक्त कैसे होगा? अगर मैं कहूं, फलां आदमी विरक्त है, तो आप पूछेंगे, किस संबंध में? क्योंकि अकेली विरक्ति का कोई अर्थ नहीं होता। विरक्ति या आसक्ति, दोनों वस्तुओं या व्यक्तियों, 'पर' से हमारे संबंध हैं, 'रिलेशनशिप्स' हैं। वह हमारा व्यवहार है, वह हमारा 'बिहेवियर' है, वह हम नहीं हैं।

यह दूसरी बात ठीक से समझ लेनी जरूरी है कि आसक्त या विरक्त हमारा व्यवहार है। और इसलिए यह भी सुविधापूर्ण है कि जिसके प्रति आज हम आसक्त हैं, कल विरक्त हो सकते हैं। जिसके प्रति आज विरक्त हैं, कल आसक्त हो सकते हैं। और ऐसा भी नहीं है कि कल ही हों, कभी-कभी तो ऐसा होता है, एक ही क्षण में एक ही आदमी के किसी हिस्से के प्रति हम आसक्त हैं और किसी के प्रति विरक्त होते हैं। एक ही चीज के प्रति भी हमारी दुविधा होती है, द्वंद्व होता है। कहीं से वह पकड़ने योग्य लगती है, कहीं से वह छोड़ने योग्य लगती है, लेकिन एक बात तय है कि विरक्ति और आसक्ति हमारा व्यवहार है, हमारा स्वभाव नहीं। व्यवहार का मतलब है, जिस में 'पर' अनिवार्य है, जो 'पर' के बिना न हो सकेगा। जो अकेले में न हो सकेगा। और स्वभाव का मतलब है, जो निपट अकेले में ही है। अगर मुझे बिलकुल ही अकेला छोड़ दिया जाए सारी वस्तुओं से, सारे लोगों से, सारे विचारों से, मैं निपट अपने अकेलेपन में, 'टोटल लोनलीनेस' में रह जाऊं, तो वहां मैं आसक्त रहूंगा कि विरक्त रहूंगा? नहीं, वहां ये दोनों बातें असंगत होंगी। 'रेलिवेंस' नहीं होगा इनका कोई। वहां मैं कोई भी नहीं होऊंगा, क्योंकि सारे के सारे संबंधों के सूचक शब्द हैं। वहां मैं असंग होऊंगा या वहां मैं अनासक्त होऊंगा। यह मैं समझने के लिए कह रहा हूं कि आप इन शब्दों की पूरी अर्थवत्ता को समझ लें, तो फिर बहुत कठिनाई नहीं रहेगी कि कैसे उपलब्ध हों।

आसक्ति विरक्ति संबंध है, 'पर' अपेक्षित है। 'पर' के बिना नहीं होगा। वह जो 'द अदर' है, वह अनिवार्य है। इसलिए आसक्ति भी गुलामी है और विरक्ति भी गुलामी है। दासता है; क्योंकि जो दूसरे के बिना न हो सके, उसमें हम कभी स्वतंत्र नहीं हो सकते। इसलिए आसक्त भी एक तरह का गुलाम होता और विरक्त भी उलटी तरह का गुलाम होता है। आसक्त के पास तिजोड़ी न हो, तो मुश्किल में पड़ जाता है; विरक्त के कमरे में रात तिजोड़ी रख दो, तो उतनी ही मुश्किल में पड़ जाता है। लेकिन तिजोड़ी से दोनों का बड़ा गहरा संबंध है। आसक्त के पास स्त्री न हो, पुरुष न हो, तो मुश्किल में पड़ जाता है; विरक्त के कमरे में रात स्त्री को ठहरा दो, पुरुष को ठहरा दो, उतनी ही मुश्किल में पड़ जाता है। दोनों गुलाम हैं। दोनों दूसरों पर निर्भर हैं—दूसरे के होने, या न होने पर, इससे फर्क नहीं पड़ता, लेकिन दूसरा उनके होने

में अनिवार्य है। वे दूसरे के बिना अपने को नहीं सोच पा सकते। लोभी धन के बिना नहीं सोच पाता, त्यागी धन के बिना नहीं सोच सकता। लेकिन दोनों के केंद्र पर कहीं 'पर' सदा मौजूद रहता है।

यह हमारा व्यवहार ठीक से समझ लें, तो फिर व्यवहार में परिवर्तन से कोई अंतर नहीं पड़ता कि आसक्त विरक्त हो जाए—अक्सर होता रहता है, आसक्त विरक्त हो जाते हैं, विरक्त आसक्त हो जाते हैं। जो लोग घनी आसक्ति में खड़े हैं, जब वे मुझे मिलते हैं तब वे सदा रोते मिलते हैं कि हम बहुत बंधन में पड़े हैं, इससे छुटकारे का उपाय क्या है? जो विरक्त हैं, जब वे मुझे मिलते हैं तो वे कहते हैं, कहीं हमने भूल तो नहीं कर दी? हम जिंदगी से भाग गए। कहीं ऐसा तो नहीं है कि जिंदगी में कुछ लोगों को मिल रहा हो और वह हमें मिल रहा है? विरक्त को सदा खयाल बना रहता है कि पता नहीं आसक्त तो कुछ नहीं लूट रहा! आसक्त को सदा खयाल बना रहता है कि कहीं विरक्त तो कुछ नहीं लूट रहा है! पता नहीं विरक्त को क्या मिल रहा है, जो आसक्त सोचता रहता है, मुझे नहीं मिल रहा। दोनों की स्थितियां भर अलग हैं, परिस्थितियां भर अलग हैं, मनःस्थितियां अलग नहीं हैं। दोनों की मनःस्थितियां पर-निर्भर हैं। और पर-निर्भरता से न कोई स्वतंत्रता है न कोई सत्य है। पर-निर्भरता से न कोई आनंद है न कोई मुक्ति है। 'पर' ही बंधन है।

लेकिन विरक्त कहता है, तो हम 'पर' को छोड़कर भाग जाते हैं। लेकिन उसे पता नहीं कि जिसे वह छोड़कर भागता है, उससे उसके संबंध नहीं टूटते, सिर्फ भागने के संबंध हो जाते हैं। और जिसे हम छोड़कर भागते हैं वह हमारा पीछा करता है। वह नहीं करता पीछा लेकिन हम छोड़कर भगे हैं, उस कारण ही हम उससे भयभीत हैं, हम उससे डरे हैं, हम उससे चिंतित हैं, वही हमारा पीछा करती है। और फिर 'पर' को छोड़कर जाइयेगा कहां, सब जगह 'पर' मौजूद है। सिर्फ एक जगह को छोड़कर, स्वयं के भीतर को छोड़कर, और तो सब जगह 'पर' मौजूद है। घर छोड़कर जाइयेगा तो आश्रम मौजूद है। पत्नी-पति को छोड़कर जाइयेगा तो शिष्य-शिष्यायें मौजूद हैं। गांव को छोड़कर जाइयेगा तो जंगल मौजूद है। महलों को छोड़कर जाइयेगा तो झोपड़ियां मौजूद हैं। कीमती वस्तु छोड़कर जाइयेगा तो लंगोटियां मौजूद हैं, नंगापन मौजूद है। वह सब मौजूद है। 'पर' को छोड़कर इस जगत में भागा नहीं जा सकता क्योंकि जगत ही 'पर' है; तो भागियेगा कहां? जगत तो होगा। जहां भी जाइयेगा वहां जगत होगा। इसलिए जगत को छोड़कर नहीं भागा जा सकता, इसलिए 'पर' को भी छोड़कर नहीं भागा जा सकता। क्योंकि 'पर' तो रहेगा ही। हां, नये रूपों में प्रगट होगा। नये-नये रूप लेगा, लेकिन नये रूपों से 'पर' नहीं बदलता। हम जहां भी होंगे जगत में, वहां 'पर' होगा, सिर्फ एक जगह को छोड़कर। स्वयं के बहुत गहरे केंद्र पर ही 'पर' नहीं है। लेकिन इसलिए नहीं कि वहां 'पर' प्रवेश नहीं कर सकता, बल्कि इसलिए कि स्वयं के बहुत गहरे केंद्र पर 'स्व' भी मिट जाता है। 'मैं' भी मिट जाता है, इसलिए 'पर' के होने का उपाय मिट जाता है।

इसको अब ऐसे समझिये कि जब 'आप' हैं तब तक 'पर' से नहीं बच सकते हैं। एक मैंने कहा कि जब तक आप जगत में हैं, कहीं भी भागिये 'पर' होगा। अब मैं दूसरी बात आपसे कहता हूं कि जब तक 'आप' हैं, अगर आंख भी बंद कर लीजिये और जगत न हो, तो भी 'पर' होगा। हां, बंद आंख में होगा, सपने में होगा, कामना में होगा, कल्पना में होगा, वासना में होगा, लेकिन 'पर' होगा। जब तक आप हैं तब तक 'पर' भी होगा।

स्वभाव का मतलब है जहां 'स्व' भी मिट जाता है। इसलिए स्वभाव भी अभागे शब्दों में एक है, क्योंकि उसका मतलब होता है, स्वयं का भाव। लेकिन जहां स्वभाव शुरू होता है, वहां 'स्व' मिट जाता है। स्वभाव का स्वयं से कोई संबंध नहीं है। स्वभाव का मतलब ही है कि हमसे होने के पहले था। हमसे होने के बाद होगा; हम हैं तब भी है, हम नहीं हैं तब भी है। अगर मैं बिलकुल भी मिट जाऊं, मेरा 'मैं' बिलकुल भी मिट जाए, तब भी शेष रह जाएगा वह स्वभाव है। स्वभाव में 'स्व' शब्द खतरनाक है। उससे खतरा पैदा होता है, उससे लगता है कि स्वयं का होना। नहीं, स्वभाव का मतलब है, 'द नेचर'। स्वभाव का मतलब है, प्रकृति। स्वभाव का मतलब है जो हमारे बिना भी है। जब आप रात सो गए होते हैं तब 'स्व' नहीं होता है, लेकिन स्वभाव होता है। जब गहरी प्रषुप्ति में होते हैं, तब 'स्व' नहीं होता, लेकिन स्वभाव होता है। जब एक आदमी मूर्च्छित पड़ा है? गहरी मूर्च्छा में, 'स्व' नहीं होता, लेकिन स्वभाव होता है। सुषुप्ति और समाधि में इतना ही फर्क है कि सुषुप्ति में मूर्च्छा के कारण 'स्व' नहीं होता, समाधि में अमूर्च्छा के कारण, जागरण के कारण, ज्ञान के कारण, 'स्व' नहीं होता। तो जब तक 'जगत' है, तब तक 'पर' है और जब तक 'मैं' हूं तब तक 'पर' है। अब इसे हम और तरह से

भी ले लें। जब तक 'मैं' हूं, तभी तब जो मुझे दिखाई पड़ रहा है वह 'जगत' है। 'जगत' मेरे 'मैं' के बिंदु से देखा गया कोण है। मेरे 'मैं' के बिंदु से देखा गया सत्य है। इसलिए 'पर'—अगर मेरा 'मैं' मिट जाए तो 'पर' कोई भी नहीं है, फिर मैं किससे बचूंगा और किससे बंधूंगा? फिर मैं ही हूं।

अनासक्ति स्वभाव है। कैसे चलें इसकी तरफ? जो बड़ी-से-बड़ी भूल है वह यह है कि कोई विरक्ति की तरफ चल पड़े अनासक्ति को पाने के लिए। खयाल रहे, आसक्ति उतना बड़ा खतरा नहीं है अनासक्ति के मार्ग पर, क्योंकि आसक्ति का चेहरा साफ है। कोई भूल नहीं करेगा आसक्ति को अनासक्ति समझने की। कैसे करेगा? कोई भूल नहीं करेगा धन को पकड़ने को अनासक्ति समझने की। लेकिन धन को छोड़ने को अनासक्ति समझने की भूल होती रही है, होती है, हो सकती है। इसलिए बड़ा खतरा अनासक्ति की यात्रा में आसक्ति नहीं है, आसक्ति का चेहरा बिलकुल साफ है, बड़ा खतरा विरक्ति है, विरक्ति के चेहरे पर बुर्का है। विरक्ति को जो न पहचान पाए, वह अनासक्ति के नाम पर विरक्ति का खोटा सिक्का लेकर घूमता रहेगा। इसलिए अनासक्ति की यात्रा में विरक्ति से सावधान रहने की पहली जरूरत है। विरक्ति भी आसक्ति है। इतना समझते ही सावधानी उत्पन्न हो जाती है।

दूसरी बात, 'पर' कहीं भी हम जाएं तो रहेगा। इसलिए हम उसी जगह चलें, जहां 'पर' नहीं रहेगा। हम भीतर चलें। हम स्वयं में चलें। हम अपने एकांत में चलें। हम अपने अकेलेपन में उतरें। लेकिन इसका क्या मतलब है? कि क्या मैं बाहर के जगत से आंख बंद कर लूं तो एकांत में उतर जाऊंगा? अकेला हो जाऊंगा? आंख तो हम रोज बंद करते हैं, लेकिन एकांत नहीं होता। क्योंकि आंख बंद करते ही वे चित्र, वे प्रतिमाएं, वे प्रतीक, 'इमेजेज' जो हमने बाहर से ग्रहण किए थे, भीतर से उठने शुरू हो जाते हैं। विचार आते हैं, कल्पनायें आती हैं, स्वप्न आते हैं, दिवास्वप्न आते हैं और फिर हम जगत को ही देखते रहते हैं। हां, अब जो जगत होता है, वह कल्पित होता है। जो बाहर आंख के था वह वास्तविक था, अब उसकी सिर्फ छायायें होती हैं, अब सिर्फ फिल्म होती है उसकी, अब वह खुद नहीं होता।

हम अपनी आंखों और मन का उपयोग बिलकुल 'मूवी' कैमरे की तरह कर रहे हैं—जो देखते हैं उसे उतारते चले जाते हैं; फिर आंख बंद करके उसको पर्दे पर देखते रहते हैं। फिर वह चलता रहता है, यह भी 'पर' की छाया है। यह भी हट जाए तो हम 'स्व' में उतरते हैं। हट सकती है, इसमें कोई कठिनाई नहीं है। हम इसे चलाते हैं, इसलिए यह चलती है। हम इसे चलाने में उत्सुक न रह जाएं, हमारी रुचि इसके चलाने में न रह जाए तो ये प्रतिमायें तत्काल गिर जाती हैं, इनका कोई अर्थ नहीं रह जाता। हमारा रस ही इन प्रतिमाओं को चलाने का मूल आधार है। विरस भी। ध्यान रहे, रस ही नहीं विरस भी। जिसे हम याद करना चाहते हैं वह भी याद आता है आता है और उससे भी ज्यादा वह याद आता है जिसे हम भूलना चाहते हैं। लेकिन जिसे न हम भूलना चाहते हैं, जिसे न हम याद करना चाहते हैं, वह अचानक गिर जाता है। वह हमारे चित्त से अर्थहीन हो जाता है। वह पर्दे से हट जाता है।

तो इस भीतर चलती हुई फिल्म को अगर साक्षीभाव से देखें—सिर्फ देखें, न रस लें, न विरस लें; न आसक्त हों, न विरक्त हों इस भीतर की फिल्म पर तो थोड़े दिन में यह साक्षी का बोध इस फिल्म को गिराता जाता है। और एक क्षण आता है जब निपट चेतना अकेली रह जाती है और कोई 'आब्जेक्ट', कोई विषय नहीं होता है—निर्विषय चेतना रह जाती है। इस निर्विषय चेतना में जिसका अनुभव होता है, वह अनासक्ति है। इस निर्विषय चेतना से जो व्यवहार निकलता है, उसका नाम अनासक्ति-योग है। निश्चित ही व्यवहार बिलकुल दूसरा होगा।

जिस व्यक्ति ने अपने इस स्वभाव की अनासक्ति को पहचाना, जिसने जाना कि मुट्ठी बांध लेती है, खोल लेती है, लेकिन मुट्ठी के दोनों काम नहीं हैं इसलिए दोनों काम कर पाती है, अब ऐसा व्यक्ति बाहर के जगत में लौटकर, भीतर से बाहर आकर वही नहीं होगा जो बाहर से भीतर जाते वक्त था। अब इसने अपने चेतना के दर्पण को पहचाना, अब यह चित्त का उपयोग कैमरे की तरह नहीं, दर्पण की तरह करेगा। और अब इसके चित्त का संबंध पैदा नहीं होगा। संबंध बनेंगे लेकिन संबंध पैदा नहीं होगा। संबंध होंगे लेकिन असंगता होगी। यह प्रेम भी करेगा ऐसे ही जैसे पानी पर लकीर खींची जाती है। यह लड़ेगा भी जैसे पानी पर लकीर खींची जाती है। इसका दर्पण लड़ने को भी दिखलाएगा और प्रेम को भी दिखलाएगा।

और यह दोनों के बाहर, पूरे समय दोनों के बाहर चलता रहेगा। इस व्यक्ति के व्यवहार की स्थिति अभिनय हो जाएगी, 'एक्टिंग' की हो जाएगी। और यह व्यक्ति अब कर्ता नहीं होगा, अभिनेता हो जाएगा।

कृष्ण अगर कुछ हैं, तो अभिनेता हैं। और उनसे कुशल अभिनेता पृथ्वी पर नहीं हुआ है। उन्होंने इस पूरे जगत को मंच बना लिया है। बाकी अभिनेता एक छोटे से मंच को मंच मानते हैं उन्होंने पूरी पृथ्वी को मंच बना लिया। इससे क्या फर्क पड़ता है? दस-पांच तख्त रखकर हम मंच बना दें, फिर उस पर अभिनय चलता है। यह पूरी पृथ्वी मंच क्यों नहीं हो सकती? इस पूरी पृथ्वी पर अभिनय क्यों नहीं चल सकता? और अभिनेता जो है उसे न तो आंसू बांधते हैं, न उसे मुस्कुराहट बांधती है। जब वह रोता है, तब भी रोता नहीं; जब हंसता है, तब भी हंसता नहीं; जब प्रेम करता है तब भी प्रेम करता नहीं, जब लड़ता है तब भी लड़ता नहीं; उसकी मित्रता मित्रता नहीं, उसकी शत्रुता शत्रुता नहीं। तब ऐसे व्यक्ति के जीवन को अगर हम कहें तो एक 'ट्राइ-एंगल' बन जाता है। ऐसे व्यक्ति का जीवन त्रिभुज बन जाता है। 'ट्राइ-एंगल'। हम त्रिभुज नहीं हैं। हमारा तीसरा जो कोण है, वह जो 'थर्ड एंगल' है, अंधेरे में डूबा हुआ है।

हमारे सिर्फ दो कोण हमें दिखाई पड़ते हैं—आसक्ति, विरक्ति। एक तीसरा इन दोनों को जोड़ने वाला 'ट्राइ-एंगल' का तीसरा हिस्सा, वह हमारा अंधेरे में दबा है। अनासक्त व्यक्ति का वह भी प्रकाश में आ जाता है। उसकी पूरी जिंदगी—दोनों कोणों पर वह व्यवहार करता है। लेकिन रहता सदा अपने तीसरे कोण पर। जब भी दूसरों से संबंध होता है तब यह आसक्त दिखाई पड़ता है या विरक्त दिखाई पड़ता है। लेकिन वह सिर्फ दिखाई पड़ना है। वह 'एपियरेन्स' है। रहता सदा अपने तीसरे कोण पर है। इस तीसरे कोण पर, इस 'थर्ड एंगल' पर हो जाने का नाम अनासक्ति है। हम सब के पास तीनों कोण हैं, लेकिन दो कोण हमारे आंखों के सामने और एक कोण हमारी आंख के पीछे है। दो कोण स्पष्ट हैं, बायें और दायें साफ हैं; राग और विराग साफ हैं; इधर कुआं उधर खाई साफ हैं, और एक तीसरा कोण भीतर अंधेरे में डूबा है, वह तो जब अपने भीतर उतरेंगे एकांत में तभी हमें स्पष्ट होगा तभी रोशनी वहां पहुंचेगी। और जिसने अपने तीसरे कोण को पा लिया, उसने कृष्ण को पा लिया। उसने बुद्ध को पा लिया, उसने महावीर को पा लिया, उसको कुछ पाने को बचता नहीं। क्योंकि एक बार उसको यह पता हो गया कि आसक्त होते हुए मैं अनासक्त होता हूं, विरक्त होते हुए मैं अनासक्त होता हूं, तब फिर आसक्ति और विरक्ति खेल हो गए।

एक विचारक ने एक किताब लिखी है, जिसका नाम है—'गेम दैट पीपुल प्ले', खेल जो लोग खेलते हैं। लेकिन उस बड़ी किताब में उसने सब खेलों की चर्चा की है, बुनियादी खेल की नहीं चर्चा कर पाया। बुनियादी खेल यह है कि अनासक्त रहते हुए आसक्ति और विरक्ति का जो खेल है वह बुनियादी खेल है, वह 'अल्टीमेट प्ले' है। बहुत कम लोग खेल पाते हैं इसलिए उसको पता नहीं होगा, उसने उसकी कोई चर्चा नहीं की।

अनासक्ति भीतर उतरने से उपलब्ध होती है और भीतर उतरना साक्षीभाव से संभव होता है। इसलिए जीवन के किसी भी कोण में साक्षी होना शुरू हो जाएं, आप भीतर पहुंच जाएं। और जिस दिन आप भीतर पहुंच जाएं, उस दिन आप अनासक्त हो जाते हैं।

'भगवान श्री, आसक्ति पर आपने अभी प्रकाश डाला। इसी के साथ गीता में कृष्ण ने दो बातें और कही हैं। कर्म से संन्यास अर्थात संपूर्ण कर्म में कर्तापन का त्याग और निष्काम कर्म अर्थात समत्व बुद्धि से कर्मों का करना। अतएव अनासक्ति, कर्म-संन्यास और निष्काम-कर्म, इन तीनों में क्या रिश्ता या भिन्नता है? इस पर और प्रकाश डालें।'

* अनासक्ति योग मूल है। और यह अनासक्ति योग तीसरा कोण है। इस कोण से जीवन के दो कोण निकलेंगे। करते हुए न करना, न करते हुए करना। एक को हम कर्म-संन्यास कहें, एक को हम निष्काम कर्म कहें। निष्काम कर्म का अर्थ है, करते हुए न करना। करते हुए भी करने की वासना जहां नहीं है, करते हुए भी करने का आग्रह जहां नहीं है, करते हुए भी न करना आ जाए तो दुख और पीड़ा जहां नहीं है, करते हुए भी करने का फल न मिले तो कोई विषाद नहीं है, करते हुए भी सब किया हुआ अनकिया हो जाए तो कोई पीड़ा नहीं है, तो यह निष्काम कर्म।

इसको और हम विस्तार से थोड़ा समझेंगे—

न करते हुए भी करते हुए पाना। अब इसे थोड़ा समझना पड़े, यह और भी कठिन है। जिसको संन्यास कहें। न करते हुए करते हुए पाना। मैं कुछ भी नहीं करता, लेकिन आपके द्वार पर भिक्षा तो मांगने आता हूं, और अगर आपने चोरी की है और चोरी का ही अन्न खाते हैं तो मुझे भी चोरी का अन्न देते हैं। अगर व्यक्ति सच में संन्यासी है तो वह कहेगा, मैं भी चोर हूं। अगर सच में संन्यासी नहीं है तो वह कहेगा मुझे क्या मतलब तुम क्या करते हो! मुझे कोई प्रयोजन नहीं। अगर व्यक्ति झूठा संन्यासी है तो वह चोरी की रोटी खाकर चोर नहीं होगा। लेकिन अगर सच्चा संन्यासी है तो वह कहेगा कि नहीं करता हूं मैं चोरी, लेकिन मैं भी भागीदार हूं। लेकिन यह तो मैंने कहा भिक्षा मांगता है तो। ऐसा समझ लें कि भिक्षा भी नहीं मांगता है। ठीक संन्यासी इस पृथ्वी पर है अगर, और वियतनाम में लोग कट रहे हैं, तो वह मानता है कि मैं भी जिम्मेवार हूं। नहीं करता हुआ मैं भी भागीदार हूं। और इस पृथ्वी पर जो चेतना निर्मित हुई है वह मेरे बिना तो नहीं हो सकती है, मैं भी हूं। अगर इस गांव में मैं हूं और इस गांव में हिंदू-मुस्लिम दंगा हो जाए और न मैं हिंदू हूं और न मुसलमान हूं, मैं सिर्फ संन्यासी हूं, तो भी मैं जिम्मेदार हूं। जरूर मैंने भी कुछ ऐसा किया होगा जिसने इस झगड़े को बल दिया। या हो सकता मैंने कुछ भी न किया होगा। मैं खड़ा देखता रहा और मेरा खड़ा देखना भी झगड़े के लिए आधार बन सकता है। संन्यास का अर्थ यह है, न करते हुए भी जानना कि जो भी हो रहा है, चूंकि मैं भी हूं, उससे मैं बच नहीं सकता, उसमें मैं भी भागीदार हूं। होऊंगा ही, क्योंकि मैं एक हिस्सा हूं। और मैं जो भी करूंगा उससे विराट फल आएंगे। अगर हिंदू-मुस्लिम लड़ रहे थे और मैं रास्ते से चुपचाप निकल गया तो कम से कम मैं रोक तो सकता ही था। मैंने नहीं रोका। नहीं रोकना भी मेरा कृत्य है। नहीं रोकने की भी जिम्मेवारी मेरी है।

तो आमतौर से लोग जिसे संन्यास समझते हैं वह संन्यास नहीं है, वह विरक्ति है। कृष्ण जिसे संन्यास समझते हैं वह बहुत कठिन मामला है। वह अनासक्त व्यक्ति की स्थिति है। वह यह कहता है कि जो मैं नहीं कर रहा हूं उसके लिए भी मैं जिम्मेवार हूं क्योंकि मैं भी हूं और चेतना अंततः संयुक्त है, इकट्ठी है।

सागर में आपने लहरें देखी हैं लेकिन शायद ही आपको कभी खयाल आया हो, लहरें आती हुई मालूम पड़ती हैं, आती नहीं। आप कहेंगे, कैसी बात कर रहे हैं, लहरें बराबर आती हैं! लगता है कि एक लहर मील भर दूर से चली आ रही है और आप स्नान भी करते हैं उस लहर में सागर के तट के किनारे बैठकर, तो आप मेरी कैसे मानेंगे कि नहीं आ रही है। लेकिन जो जानते हैं सागर को, वे कहेंगे कि कोई लहर आती नहीं, सिर्फ एक लहर दूसरी लहर को उठाती है। वह मील भर की लहर इस किनारे तक नहीं आती। वह मील भर की लहर जब उठती है तो पड़ोस में गड्ढा पैदा हो जाता है, उस गड्ढे की वजह से जहां गड्ढा खत्म होता है दूसरी लहर पैदा हो जाती है। वह लहर अपने उठने से हजारों लहरों को उठाती है। आती नहीं। उस लहर के हजारों धक्कों का कोई धक्का सिर्फ आता है जब आप सागर के किनारे नहाते हैं, तो वह मील भर से लहर आपके पास नहीं आती है। बस सागर की छाती कंप गई है उसके उठने की वजह से और कंपन आते हैं आपके पास। कंपती हुई जो लहरें आपको दिखाई पड़ती हैं वे इतनी 'कंटिन्युअस' हैं कि आप कभी फर्क नहीं कर पाते कि यह लहर सच में आ रही है? लेकिन अगर इस किनारे से आई हुई लहर में कोई बच्चा डूबकर मर जाए, तो क्या मील भर दूर उठी लहर को जिम्मेवार ठहरा सकेंगे—कि तू जिम्मेवार है? वह कहेगी, मैंने डुबाया नहीं, मैं गई नहीं तट पर कभी। मैं सदा यहीं हूं। मील भर का फासला उस बच्चे के डूबने में और मेरे होने में। न, कृष्ण कहते हैं कि अगर वह लहर संन्यासी है, वह कहेगी कि मैंने डुबाया क्योंकि मैं सागर का हिस्सा हूं। उस तट पर गई या नहीं यह सवाल नहीं। उस तट पर जो गया है उसमें भी मेरा हाथ है।

इस जगत में कहीं भी कुछ घट रहा है, संन्यासी उसमें अपने को कर्ता मानता है जो उसने किया ही नहीं। यह बड़ा कठिन है। कर्म करते हुए अपने को अकर्ता मानना इतना कठिन नहीं है। हालांकि एक ही सिक्के के दो पहलू हैं, लेकिन संन्यासी की यह दृष्टि हमारे खयाल में नहीं है। संन्यास की हमारी कुल इतनी दृष्टि है कि जो छोड़कर चला जाता है, जो कहता है, अब मैंने छोड़ ही दिया तो मेरी क्या जिम्मेवारी है? जब मैंने छोड़ ही दिया तो मेरी क्या जिम्मेवारी है! लेकिन यह जगत पूरा का पूरा सागर की छाती पर उठी हुई लहरों जैसा है। इसमें कोई लहर यह नहीं कह सकती कि मैं जिम्मेवार नहीं हूं जो

'पैटर्न' बन रहा है उसमें। जिंदगी बड़ी जटिल है, उसमें भी चेतना के सागर में लहरें हैं। मैं एक शब्द बोलता हूं, मैं कल नहीं रहूंगा लेकिन उस शब्द के परिणाम अनंत काल तक जगत में आते रहेंगे। कौन होगा जिम्मेवार? मैं नहीं बोलता हूं, चुप खड़ा रह जाता हूं, लेकिन मेरी चुप्पी के परिणाम इस जगत में अनंत काल तक प्रभावी होते रहेंगे। कौन होगा जिम्मेवार? मैं नहीं रहूंगा! यह हो सकता है कि जिस लहर के धक्के से यह किनारे की लहर उठी वह अब न हो, और बच्चा डूबकर मरा तब वह लहर कहेगी कि न तो मैं किनारे गई, और जब बच्चा डूबकर मरा तब तो मैं थी ही नहीं। तो उस लहर को आप किसी अदालत में जिम्मेवार न ठहरा सकेंगे, कोई मुकदमा न चला सकेंगे, लेकिन कृष्ण की अदालत में वह लहर भी मुकदमे में फंस जाएगी। कृष्ण कहेंगे कि तेरा होना या न होना, दोनों अर्थों में इस विराट जाल को पैदा करता है। इसमें तू भागीदार है ही, इसलिए न करते हुए भी जानना कि कर रही है। यह एक पहलू है, इसका अर्थ संन्यास है। ऐसा आदमी संन्यासी नहीं है जो कहता है कि हमारा क्या जुम्मा?

अब हिंदुस्तान में संन्यासी थे हजारों-लाखों की संख्या में। यह मुल्क गुलाम था। वे संन्यासी कहते, हमें क्या मतलब? इस मुल्क की गुलामी का हमें क्या मतलब! हमें तो कोई फर्क ही नहीं पड़ता, हम तो संन्यासी हैं। लेकिन उन लाखों संन्यासियों का यह भाव भी इस मुल्क को गुलाम बनाने में सहयोगी है। जिम्मेवारी उनकी है, वे भाग नहीं सकते। संन्यासी किसी भी जिम्मेवारी से भागेंगे नहीं। संन्यासी का मतलब ही यह है कि जो दूसरे की जिम्मेवारी है वह भी अपनी है। वह जो दूसरे का पाप है, वह भी अपना है। वह जो दूसरे का पुण्य है, वह भी अपना है। क्योंकि हम अलग-अलग कहां हैं? अगर दूसरा नहीं है तो फिर मैं न करते हुए भी करता हूं।

लेकिन बड़े मजे की बात है। अगर न करते हुए कोई कर्ता हो जाए तो अनासक्त हो जाएगा। क्योंकि अब तो अपना कर्म और पराया कर्म का कोई फासला नहीं रहा। अब मैं किसको छोडूं और किससे भागूं? अगर मैं चोरी न करूं तो भी कोई फर्क नहीं पड़ता। जमीन पर चोरी चलती रहेगी। मैं चोरी करूं तो भी कोई फर्क नहीं पड़ता है। तो अब इसको मैं अपना मानूं, इसका कोई अर्थ नहीं रहा है। अगर सभी कुछ का मैं भागीदार हूं, सभी पाप मेरे हैं, सभी युद्ध मेरे, सभी शांतियां मेरी, तो अब, मैं किसको छोडूं और किसको पकडूं! अब पकड़ने न पकड़ने का कोई सवाल न रहा। सभी हाथ मेरे हैं अगर, तो इन दो हाथों को छोड़कर अगर भाग भी जाऊंगा तो क्या फर्क पड़ता है? और सभी आंखें अगर मेरी हैं तो अगर मैंने अपनी दो आंखें फोड़ भी लीं, तो क्या फर्क पड़ता है? और अगर सभी घर मेरे हैं तो मैं एक घर छोड़कर जंगल चला गया तो क्या फर्क पड़ता है?

संन्यास का अर्थ है कि यह जो कर्म का विराट 'पैटर्न' है, यह जो जाल है, इसमें हम भागीदार हैं, हम इसके हिस्से हैं। इसलिए न करते हुए जानना कि मैं कर रहा हूं। ठीक दूसरा पहलू कृष्ण कहते हैं, करते हुए जानना कि मैं नहीं कर रहा हूं। अब तो वह भी कठिन मालूम पड़ेगा। इस बात को समझने के बाद वह और भी कठिन हो जाएगा। ऐसे साधारणतः वह सरल मालूम पड़ता है। आदमी कहता है कि हम अभिनेता बनकर कर सकते हैं। लेकिन, बड़ी है कठिन बात वह भी। सच तो यह है कि जो अभिनेता होता है वह भी कई बार चूक जाता है और कर्ता हो जाता है। अभिनय करते वक्त भी पच्चीस दफे चूक जाता है और कर्ता हो जाता है। अभिनय जो आदमी करता है वह जब अपने अभिनय में पूरा लीन होता है, तब वह यह भूल जाता है कि अभिनय कर रहा हूं। तब तो वह वही हो जाता है जो वह कर रहा है। तब वह आविष्ट हो जाता है, अध्यास हो जाता है, तब वह वही हो जाता है जो वह कर रहा है।

इस अध्यास को थोड़ा समझना जरूरी है अभिनेता के। क्योंकि जब अभिनेता को अध्यास पकड़ जाता हो, भ्रम पकड़ जाता है कि मैं यही हो गया, तो हम जो जी रहे हैं हम फिर अभिनेता कैसे हो पाएंगे। राम की सीता खोए तो राम अभिनेता कैसे हो पाएंगे? अगर रामलीला में भी सीता खोती हो और रामलीला में बने राम के भी असली आंसू आ जाते हों, आ जाते हैं, कई बार। क्यों न आ जाते होंगे? जब देखने वालों के आ जाते हैं, जो रामलीला देख रहे हैं, जो कि राम भी नहीं बने हैं, जब वे रोने लगते हैं, तो जो सच में राम बना है वहां उसकी स्थिति तो और जरा गहरे में है। वह दर्शक तो नहीं है। कर्ता तो है, अभिनेता ही सही, लेकिन कर रहा है। अगर उसकी सीता खो जाती है और वह रोने लगता हो और वे आंसू थोड़ी देर के लिए असली आंसू हो जाते हों तो हैरानी नहीं है। हो जाता है। अभिनेता भी भूल जाता है उन क्षणों में कि मैं

अभिनय कर रहा हूं। तो हम तो जीवन में हैं। वहां यह जानना कि हम अभिनय कर रहे हैं, बड़ी कठिन है, बड़ी 'आरडुअस' बात है। लेकिन, जो हम कर रहे हैं, अगर उसे हम ठीक से पहचान लें, तो तत्काल दिखाई पड़ने लगेगा कि यह हम अभिनय कर रहे हैं! रास्ते पर आप गुजर रहे हैं और किसी ने कहा, कहिये, कैसे हैं, और आप कहते हैं, बिलकुल ठीक हैं! और खयाल में भी नहीं आता कि क्या आप कह रहे हैं। एक क्षण वहीं रुक जाएं और गौर से देखें, बिलकुल ठीक हैं? तो तत्काल पता चलेगा कि जो आपने कहा है, वह अभिनय-वचन था। एक आदमी मिलता है और उसको आप नमस्कार करते हैं और कहते हैं कि देखकर आपको बड़ा आनंद हुआ। रुक जाएं एक क्षण, पीछे लौटकर देखें, आनंद हुआ है? तब दिखाई पड़ जाएगा, अभिनय कर रहे हैं।

जिंदगी के क्षणों और क्षणों में कभी-कभी जब आप कर्ता होते हैं, एक क्षण रुक जाएं और लौटकर पीछे देखें कि जो आप कर रहे हैं, वह है? किसी से कहते हैं कि मेरे प्रेम का तेरे लिए कोई अंत नहीं, तेरे बिना मैं जी न सकूंगा। लेकिन कितने प्रेमी मरे हैं? लौटकर जरा पीछे देखेंः नहीं जी सकेंगे? और अभिनय साफ हो जाएगा। जिंदगी में चारों तरफ मौके खोज लें, रुक जाएं, एक क्षण को पीछे देखें, और देखें कि जो आप कह रहे हैं, कर रहे हैं, वह क्या है? अभिनय आप तभी समझ पाएंगे जब अभिनय दिखाई पड़ने लगें।

मैं नसरुद्दीन की कहानी निरंतर कहता रहता हूं। एक सम्राट की पत्नी से उसका प्रेम है। रात चार बजे वह विदा हो जाता है और अब दूसरे गांव जा रहा है। तो वह उससे कहता है कि तेरे बिना मैं कैसे रह सकूंगा! एक-एक पल बिताना मुश्किल हो जाएगा। तुझसे ज्यादा सुंदर, तुझसे ज्यादा प्रेमी कोई भी नहीं है। वह स्त्री उसकी ये बातें सुनकर रोने लगी है। नसरुद्दीन ने लौटकर देखा, उसने कहा कि माफ कर, ये बातें मैंने दूसरी स्त्रियों से भी कही हैं। ये बातें मैंने दूसरी स्त्रियों से भी कही हैं। उनसे भी मैंने यही कहा है कि तेरे बिना पल भर न रह सकूंगा, लेकिन मैं हूं। और मैं रहूंगा, क्योंकि कल मुझे फिर किसी स्त्री से कहने का मौका आ सकता है। और यह तो मैंने सभी स्त्रियों से कहा है कि तुमसे ज्यादा सुंदर कोई भी नहीं है। वह स्त्री बहुत नाराज हो जाती है, वह बहुत दुखी हो जाती है। नसरुद्दीन कहता है, मैं तो सिर्फ मजाक करता हूं। वह फिर खुश हो जाती है।

अब यह जो आदमी है नसरुद्दीन, यह आदमी समझ सकता है कि जिंदगी अभिनय है। यह आदमी पहचान सकता है कि जिंदगी अभिनय है। लेकिन यह स्त्री को पहचानना बड़ा मुश्किल पड़ जाएगा कि जिंदगी अभिनय है। ऐसा नहीं है कि अभिनय होने से जिंदगी कुछ खराब हो जाती है। सच तो यह है कि अभिनय होने से जिंदगी बड़ी कुशल हो जाती है। इसलिए कृष्ण कहते हैं, योग तो कर्म की कुशलता है। असल में जब जिंदगी अभिनय हो जाती है, तो दंश चला जाता है, पीड़ा चली जाती है, कांटा चला जाता है, फूल ही रह जाता है, जब अभिनय ही करना है तो क्रोध का किसलिए करना, पागल हैं? जब अभिनय ही करना है तो प्रेम का ही किया जा सकता है। क्रोध का अभिनय करने का क्या प्रयोजन है? जब अभिनय ही करना है तो फिर क्रोध का सिर्फ पागल अभिनय करेंगे। जब अभिनय ही करना है तो प्रेम का ही हो सकता है। जब सपना ही देखना है तो दीनता-दरिद्रता का क्यों देखना, सम्राट होने का देखा जा सकता है।

अपने कृत्यों को झांक-झांकर देखने से धीरे-धीरे पता चलता है कि मैं अभिनय कर रहा हूं। पिता का अभिनय कर रहा हूं, बेटे का अभिनय कर रहा हूं, मां का अभिनय कर रहा हूं, पत्नी का अभिनय कर हां हूं, पति का अभिनय कर रहा हूं, प्रेमी का अभिनय कर रहा हूं, मित्र का अभिनय कर रहा हूं। यह दिखाई पड़ना चाहिए। इसको आप एक-एक कृत्य को 'एटामिकली', एक-एक को अणु में पकड़ लें, और देखें कि क्या हो रहा है। और आप बहुत हंसेंगे। और हो सकता है, बाहर आंसू गिर रहे हों और भीतर हंसी आनी शुरू हो जाए कि यह मैं क्या कर रहा हूं! हो सकता है, बाहर कुछ और हो रहा हो, भीतर कुछ और होना शुरू हो जाए। और तत्काल आप इस स्थिति को समझ पाने में समर्थ होते चले जाएंगे। जैसे-जैसे यह साफ होगा, वैसे-वैसे जिंदगी अभिनय हो जाएगी।

एक झेन फकीर मर रहा है। मरते वक्त उसने मित्रों से पूछा, कि मुझे जरा कुछ बताओ, क्योंकि मरे तो बहुत लोग हैं, मैं भी मरना चाहता हूं, लेकिन कोई नये ढंग से मरें! कब तक पुराने ढंग से मरते रहेंगे? उन्होंने कहा, आप कैसी बातें कर रहे हैं, मरना कोई मजाक है! उस फकीर ने कहा कि तुमने कभी किसी आदमी को चलते-चलते मरते हुए सुना है? चल रहा

हो, और मर गया हो, लोगों ने कहा, ऐसा तो सुना नहीं! फिर भी एक बूढ़े ने कहा कि ऐसी कहानी मैंने पढ़ी है कि एक दफा एक फकीर चलता हुआ मर गया था! उस मरने वाले फकीर ने कहा कि फकीर ही चलते हुए मर सकता है! मर गया होगा! छोड़ो इस ढंग को। तुमने कभी किसी को खड़े-खड़े मरते हुए सुना है? किसी ने कहा कि हां, मुझे ऐसा पता है कि एक आदमी एक बार खड़े-खड़े मर गया था। तो उस फकीर ने कहा कि जो ढंग से जिंदा रहा हो, वह ढंग से मरता है। मर सकता है। अच्छा तुमने कभी यह सुना है कि कोई आदमी शीर्षासन करते हुए मर गया हो? उन्होंने कहा, न सुना, न सोच सकते। शीर्षासन करके कैसे कोई मरेगा! तो उस फकीर ने कहा, फिर यह ढंग अपने लिए ठीक रहेगा। वह शीर्षासन लगाकर खड़ा हो गया और मर गया।

अब बड़ी मुसीबत हुई उस 'मॉनस्ट्री' में। उस आश्रम में बड़ी कठिनाई पड़ गई, क्योंकि इसको उतारें कैसे! बड़े डरने लगे। एक तो यह आदमी खतरनाक मालूम पड़ा कि जो शीर्षासन लगाकर कहे कि अच्छा चलो, शीर्षासन लगाकर मर जाते हैं! यह पता नहीं मरा है कि नहीं मरा? या क्या हो गया है? सब तरफ से जांच-पड़ताल की, पाया कि न श्वास का कोई पता है, न धड़कन का कोई पता है, वह मर ही गया। लेकिन यह शीर्षासन कर रहा हो मुर्दा, तो कौन उतारे! और पीछे कोई झंझट न पड़े। और यह मुर्दा कोई साधारण मालूम होता नहीं। तो वे सब, जिन्होंने कहा था तुम्हारे बिना हम एक क्षण न रह सकेंगे, वे भी उसको उतारने को तैयार नहीं थे। तब किसी ने कहा कि इसकी बहन भी साध्वी है और वह पास की एक 'मॉनेस्ट्री' में रहती है। वह इसकी बड़ी बहन है। और जब भी यह कोई उपद्रव करता था तो उसको लोग बुलाकर लाते थे, इसको ठीक करवाने के लिए। तो अब हम कुछ नहीं समझ सकते, उसको बुला लिया जाए। वह बड़ी बहन कोई नब्बे वर्ष की बूढ़ी औरत, वह आई। उसने अपना डंडा जोर से बजाया और कहा कि जिंदगी भर की मजाक मरते वक्त बैठ गया और उसने कहा कि बाई, नाराज मत हो, हम ढंग से मरे जाते हैं। हमें क्या फर्क पड़ता है! फिर वह आदमी बैठ गया और मर गया। और उसकी बहने ने लौटकर भी नहीं देखा, वह अपना डंडा लेकर वापिस चली गई। उसने कहा कि यह क्या बातचीत कर रखी है कि मरने में तो कम-से-कम परंपरा निभाओ! वह आदमी बैठकर फिर लेट गया और मर गया।

अब यह जो आदमी है, अगर मृत्यु के क्षण में अभिनय कर सकता है, तो इसकी पूरी जिंदगी एक अभिनेता की जिंदगी है। इसको मैं कहूंगा यह निष्काम कर्म है। तब सब खेल हो जाता है। तब जिंदगी एक खेल है। तब हम सारी चीजों को खेल की तरह ले सकते हैं। लेकिन हम पहचानेंगे अपने भीतर के अभिनेता को अपने कृत्यों में, तभी यह हो पाएगा। आप अभिनय कर न सकेंगे। आप अभिनय कर ही रहे हैं, इस सत्य को पहचानना है। तो यह नहीं कहते हैं, कृष्ण कि तुम अभिनय करो। अगर कोई अभिनय करेगा तो अभिनय करने में कर्ता बन जाएगा और गंभीर हो जाएगा, क्योंकि कर्ता तो रहेगा ही वह, अभिनय का कर्ता हो जाएगा। कृष्ण यह नहीं कह रहे हैं कि तुम अभिनय करो। कृष्ण यह कह रहे हैं, तुम जो करते हो उसे मैं जानता हूं कि वह अभिनय है। तुम भी जानो। तुम भी पहचानो। तुम भी खोजो। और जिस दिन दिख जाए कि वह अभिनय है, उस दिन तुम करते हुए अकर्ता हो जाओगे। उस दिन ढंग की बात है।

फिर जो दो हिस्से उन्होंने बांट दिए, निष्कामकर्मी का और संन्यास का, वह ढंग की बात है। वह किसकी क्या पसंद है, इसकी बात है। कोई करते हुए न करने वाला हो जाएगा, कोई न करने वाला होते हुए करने वाला हो जाएगा। वह दो तरह के लोग हैं जगत में। वह हमारे 'टाइप' की बात है। जैसे मैं मानता हूं कि पुरुष के लिए आसान पड़ेगा कि वह करते हुए न करने वाला हो जाए। स्त्री के लिए आसान पड़ेगा कि वह न करने वाली होती हुई करने वाली हो जाए। उसके 'टाइप' के फर्क हैं। स्त्री का जो चित्त है, वह 'पैसिव' है। पुरुष का जो चित्त है, वह 'एक्टिव' है। पुरुष का जो चित्त है, वह करने वाले का है। स्त्री का जो चित्त है, वह न करने वाले का है। स्त्री को अगर कुछ करना भी हो, तो वह न करने के ढंग से करती है। पुरुष को कुछ न भी करना हो, तो वह करने वाले की तरह हमला कर देता है। मोटा विभाजन कर रहा हूं। मोटा इसलिए कहता हूं कि पुरुषों में कोई स्त्रैण-चित्त लोग हैं और स्त्रियों में कोई पुरुष-चित्त स्त्रियां हैं। स्त्री कुछ करना भी चाहे, तो उसकी सारी व्यवस्था न-करने की होगी। अगर वह किसी को प्रेम भी करती है। सब तरफ से छिपायेगी, इस प्रेम को वह न-करना बनायेगी। और पुरुष अगर प्रेम न भी करता हो, तो भी वह इतना उपाय करके प्रगट करेगा कि चारों तरफ से घेर लेगा और प्रेम की वर्षा कर देगा कि मैं प्रेम करता हूं। पुरुष और स्त्री-चित्त के कारण ही—और दो ही तरह के

चित्त हैं जगत में, स्त्रियां और पुरुष मैं नहीं कह रहा हूं, स्त्री-चित्त और पुरुष-चित्त—ऐसी स्त्रियां भी हैं जो हमला करती हैं प्रेम में और ऐसे पुरुष भी हैं जो प्रतीक्षा करते हैं प्रेम में। इसमें कोई कठिनाई नहीं है। ये दो चित्त हैं। 'फीमेल माइंस—फेमिनिन माइंड' और 'मेल माइंड'। कृष्ण ने इन दो चित्तों को ध्यान में रखकर ही दो हिस्से कर दिए।

संन्यास का तो मतलब एक ही है, हिस्से दो हैं। अगर स्त्रैण-चित्त का प्रतीक्षारत व्यक्तित्व, समर्पण करने वाला, खोने वाला, 'पैसिव माइंड' अगर इस दिशा में जाएगा, तो वह कहेगा कि न-करता हुआ। न करना ही उसकी व्यवस्था होगी, और न-करने के बीच अपने को कर्ता जानना उसका अनुभव होगा। इसलिए स्त्री अगर, कभी 'इनशिएटिव' नहीं लेती—किसी चीज का, कोई पहल नहीं करती। इसलिए पुरुष कई बार धोखे में भी पड़ता है। लेकिन स्त्री बहुत भलीभांति जानती है कि पहल उसने ली है। लेकिन उसकी पहल प्रतीक्षा वाली पहल है। वह एक शब्द न कहेगी प्रेम का। और अगर पुरुष उससे प्रेम के शब्द न कहे, तो वह दुखी हो जाएगी, हालांकि उसने एक शब्द नहीं कहा है। वह दुखी हो जाएगी, क्योंकि उसके न कहने में भी उसकी पहल तो जारी है—बाकी उसकी पहल प्रतीक्षा करने वाली है। अगर पुरुष प्रेम के शब्द न कहे और सीधा प्रेम करने लगे, तो किसी स्त्री को कभी पसंद नहीं आएगा। क्योंकि उसका प्रेम वह स्त्री पहचान ही नहीं पाएगी, जब तक कि वह आक्रामक न हो जाए। जब तक कि पुरुष का प्रेम आक्रमण न करेगा, तब तक स्त्री मान ही नहीं सकेगी कि वह प्रेम कर रहा है। इसलिए बहुत शांत पुरुष, जिसका प्रेम आक्रामक नहीं है, स्त्री को कभी तृप्ति नहीं दे पाता है। और ऐसा व्यक्ति भी, जो उतना कीमती भी नहीं है, उतना अर्थपूर्ण भी नहीं है, लेकिन अगर उसका प्रेम आक्रामक बन जाए तो वह स्त्री के लिए बड़ा रस दे पाता है, क्योंकि उसका आक्रमण बताता है कि वह कितना प्रेम करता है! उसका आक्रामक होना बताता है कि वह कितना चाहता है! स्त्री अगर आक्रामक हो जाए तो किसी पुरुष को कभी तृप्ति नहीं दे पाती, क्योंकि तब वह पुरुष जैसी हो जाती है।

ये जो चित्त के दो विभाजन हैं, इस विभाजन के कारण दो हिस्से हैं—करते हुए न करता हुआ जानना, न करते हुए करता हुआ जानना, ये एक ही सिक्के के दो पहलू हैं।

'भगवान श्री, एक तकलीफ और पैदा हो गई है। जैसे आज 'प्राइवेट सेक्टर' और 'पब्लिक सेक्टर', दो में इतना अंतर है कि अगर हमने 'प्राइवेट सेक्टर' को नष्ट कर दिया तो 'इनशिएटिव' खत्म हो जाता है। और 'इनशिएटिव' खत्म हो जाने से गति रुक जाती है। तो अनासक्ति में उतर जाने पर या निष्काम में उतर जाने पर या कर्म-संन्यास में उतर जाने पर ऐसा लगता है कि जो पहल है, जो स्फूर्ति है, जो 'इनशिएटिव' है, वह सारी चीज 'कन्वर्ट' हो जाती है निष्क्रियता में। इसकी संभावना तो है।'

* ऐसा हो सकता है, अगर उलटा व्यक्तित्व हो। जैसा मैंने कहा, दो तरह के व्यक्तित्व हैं। मैंने कहा, एक व्यक्तित्व जिसको स्त्रैण व्यक्तित्व कहें, जो कि न करते हुए करने वाले का है। अगर स्त्रैण व्यक्तित्व संन्यासी हो जाए, तो निष्क्रियता आ जाएगी। क्योंकि वह उस व्यक्तित्व का स्वभाव नहीं है। दूसरा, जैसा मैंने कहा पुरुष व्यक्तित्व, जो कि करने वाले में ही न करने वाले को जान सकता है; करे, करेगा तो ही, करना तो उसका जीवन ही होगा, अब इस करने के भीतर वह जान सकता है कि मैं अकर्ता हूं। यह जाना जा सकता है। अब अगर ऐसा व्यक्ति, न करने की दुनिया में उतर जाए और फिर जानना चाहे कि मैं कर्ता हूं तो निष्क्रिय हो जाएगा। निष्क्रियता फलित होती है विपरीत व्यक्तित्व के कारण। इसलिए बहुत साफ-साफ चुनाव जरूरी है और प्रत्येक व्यक्ति को समझना जरूरी है कि उसका 'टाइप' क्या है। अपने से उलटे को चुनने से कठिनाइयां पैदा होती हैं। अपने से उलटे को चुनकर सिर्फ एक ही फल हो सकता है कि हमारा समस्त जीवन क्षीण हो जाए। उलटे को भर चुनने की भूल न हो, तो कर्म फैलेगा, बड़ा होगा। तेजी, निखार आएगा, प्रखरता आएगी, निखर जाएगा कर्म। क्योंकि पुरुष-चित्त का कर्म अगर कहीं से भी बाधा पाता है, तो उसके कर्ता होने से बाधा पाता है। अगर कर्ता विदा हो जाए और सिर्फ कर्म ही रह जाए, तो कर्म की गति का अनुमान ही लगाना मुश्किल है। वह पूर्ण गति को उपलब्ध हो जाएगा। क्योंकि कर्ता होने में जितनी शक्ति खर्च होती थी वह भी अब कर्म को मिलेगी और कर्म

पूर्ण हो जाएगा, 'टोटल ऐक्ट' पैदा हो जाएगा। स्त्री को कर्म करने में जितनी कठिनाई पड़ती है, वह अगर उससे मुक्ति मिल जाए उसे, और वह अपने अकर्म में पूरी राजी हो जाए, तो उसके अकर्म से, उसके न करने से विराट कर्म का जन्म होगा। क्योंकि सारी शक्ति उसको उपलब्ध हो जाएगी। उसके ढंग में फर्क होंगे। लेकिन हम अक्सर भूल में पड़ जाते हैं। हम अक्सर अपने से विपरीत व्यक्तित्व को चुन लेते हैं। उसका भी कारण आप समझ लें।

हमारी पूरी जिंदगी में आकर्षण विपरीत का होता है—'दि अपोजिट' का। पूरी जिंदगी में। पुरुष स्त्री को पसंद करता है, स्त्री पुरुष को पसंद करती है। हमारी पूरी जिंदगी जैसी है, उसमें विपरीत आकर्षक होता है। अध्यात्म में यही उपद्रव बन जाता है। उसमें भी हम विपरीत को चुन लेते हैं। अध्यात्म विपरीत की यात्रा नहीं है, अध्यात्म स्वभाव की यात्रा है। अध्यात्म उसका पाना नहीं है, जो आकर्षक है। अध्यात्म उसका पाना है, जो मैं हूं ही। लेकिन जीवन की यात्रा में विपरीत आकर्षक है।

मैंने एक कहानी सुनी है कि एक द्वीप पर—एक छोटे-से द्वीप पर सागर में, अनजान किसी कोने में लोग एक बार बिलकुल निष्क्रिय हो गए और तामसी हो गए। उन्होंने सब काम-धंदा बंद कर दिया। जो मिल जाता, खा-पी लेते और पड़ रहते, सो जाते। उस द्वीप के ऋषि बड़े चिंतित हुए, उन्होंने कहा कि अब क्या करें! लोग सुनते ही नहीं—क्योंकि तामसी हो गए हो, यह भी तो सुनने कोई नहीं आता था। ऋषि बहुत डुंडी भी पीटते तो पीटकर आ जाते, लेकिन कोई आता नहीं सुनने उनको। आलसी हो गए हो, यह सुनने तो वही आएगा न जो थोड़ा बहुत आलसी नहीं है। तो ऋषि बहुत परेशान हुए। कोई रास्ता न सूझे। गांव धीरे-धीरे मरने लगा, सिकुड़ने लगा। तब उन्होंने कहा कि अब बड़ी कठिनाई हो गई! क्या किया जाए, क्या न किया जाए!

तो गांव के एक बहुत वृद्ध आदमी से जाकर उन्होंने सलाह ली, तो उसने कहा, अब एक ही उपाय बचा है कि पास में एक द्वीप है, सब स्त्रियों को उस पर भेज दो, सब पुरुषों को इस पर रहने दो। पर उन्होंने कहा, इससे क्या होगा? उसने कहा, वे जल्दी नाव बनाने में लग जाएंगे। वे स्त्रियां भी जल्दी तैयारी करने में लग जाएंगी। इनको बांटो। अब उनका पास-पास होना ठीक नहीं। विपरीत को विपरीत ही खड़ा कर दो, फिर जल्दी सक्रियता गूंजने लगेगी।

जवानी में आदमी सक्रिय इसीलिए होता है, बुढ़ापे में निष्क्रिय इसीलिए हो जाता है। और कोई कारण नहीं है। जवानी में पूरे पुरजोश उसमें स्त्रीत्व और पुरुषत्व होता है। वे दोनों नाव बनाने में लग जाते हैं और यात्रायें करने में लग जाते हैं। बुढ़ापा आते-आते सब थक जाता है। स्त्री पुरुष को जान लेती है, पुरुष स्त्री को जान लेता है, विपरीतता कम हो जाती है। वह जो 'अपोजिट' का आकर्षण है, परिचित होने से विदा हो जाता है, बुढ़ापे में आदमी शिथिल हो जाता है।

जिंदगी के सहज नियम में विपरीत आकर्षक है, और अध्यात्म के सहज नियम में स्वभाव, विपरीत नहीं। इसीलिए भूल होती है। इसलिए अध्यात्म जिन-जिन मुल्कों में फैलता है वे निष्क्रिय हो जाते हैं। यह मुल्क हमारा निष्क्रिय हुआ। और उसका कुल कारण इतना है कि विपरीत का आकर्षण वहां भी खींचकर ले गए। तो वहां जो पुरुषगत साधना जिसे चुननी चाहिए थी उसने स्त्रीगत साधना चुन ली और जिसे स्त्रीगत साधना चुननी चाहिए थी उसने पुरुषगत साधना चुन ली। वे दोनों मुश्किल में पड़ गए। पूरा मुल्क निष्क्रिय हो गया। जिसको मीरा होना चाहिए था वे महावीर हो गए, जिसको महावीर होना चाहिए था वह झांझ-मंजीरा लेकर मीरा हो गया, वह दिक्कत हो गई। दिक्कत हो ही जाने वाली है।

इसलिए भविष्य के अध्यात्म की जो सबसे बड़ी वैज्ञानिक प्रक्रिया मेरे खयाल में आती है, वह यह है कि हम साफ इस सूत्र को करें कि 'बायोलाजी' का जो नियम है वह 'स्प्रीचुअलिटी' का नियम नहीं है। जीवनशास्त्र जिस आधार से चलता है—वह विपरीत के आकर्षण से चलता है, अध्यात्म विपरीत का आकर्षण नहीं है, स्वभाव में निमज्जन है। वह दूसरे तक पहुंचना नहीं है, अपने तक पहुंचना है। लेकिन जिंदगी भर का अनुभव बाधा डालता है।

मैंने सुना है कि जब पहली दफे बिजली आई, तो फ्रायड के घर एक आदमी मेहमान हुआ। और उसने कभी बिजली नहीं देखी थी। उसने तो हमेशा लालटेन देखी थी, दीया देखा था, वह मेहमान हुआ, उसको सुलाकर फ्रायड कमरे के बाहर चला गया। वह बड़ी मुश्किल में पड़ा, प्रकाश में नींद न आए। तो उसने सीढ़ियां लगाकर, किसी तरह खड़े होकर फूंकने की कोशिश की, लेकिन फूंकने से बिजली बुझे न। अब वह आदमी भी क्या करे, उसकी कोई गलती नहीं! उसका एक ही

अनुभव था कि दीये फूंकने से बुझ जाते हैं। उसकी परेशानी का अंत नहीं है। सामने बटन लगी है, लेकिन बटन से कोई संबंध नहीं है। उसके चित्त में बटन कहीं दिखाई ही नहीं पड़ती। आखिर अनुभव ही तो हमें दिखलाता है। उसको बटन भर नहीं दिखाई पड़ती, वह सारे कमरे में सब तरह की खोज करता है कि माजरा क्या है! चढ़कर बल्ब को सब तरफ से देखता है कि कहां से द्वार है इसमें जिसमें से फूंक मार दूं। कहीं कोई फूंक का द्वार नहीं दिखता। नींद आती नहीं, करवट बदलता है, फिर खड़ा होता है, लेकिन पुराने अनुभव से ही जीता है। डर लगता है कि जाकर कहूं तो लोग कहेंगे, कैसे नासमझ, तुम्हें दीया बुझाना भी नहीं आता? तो रात जाता भी नहीं, पूछने में भी भयभीत है। सुबह जब उठता है, और फ्रायड जब कमरे में आता है तो देखता है, बिजली जली है। वह पूछता है, क्या बिजली बुझाई नहीं? उसने कहा, बुझाई तो बहुत, बुझी नहीं। अब तुमने पूछ ही लिया तो अब निवेदन कर दूं। रात भर इसी को बुझाने में गया। क्योंकि इसके जलते नींद नहीं आती और यह है कि बुझती नहीं। फ्रायड ने कहा, पागल हुए हो। यह रही बटन! लेकिन उस आदमी के अनुभव में बटन का कोई सवाल नहीं उठता था। उस आदमी को हम दोषी नहीं ठहरा सकते।

हमारे जिंदगी भर का अनुभव विपरीत के आकर्षण का अनुभव है। इसलिए जब हम अध्यात्म के जगत में पहुंचते हैं, जहां कि यात्रा बिलकुल बदल जाती है, हम उसी अनुभव से दीये फूंकते चले जाते हैं, बटन का हमें खयाल नहीं होता। यह भूल बड़ी लंबी है और पुरानी है। इसलिए जिस मुल्क में अध्यात्म प्रभावी हो जाता है वह निष्क्रिय हो जाता है। और जिस मुल्क में 'सेक्स' प्रभावी होता है वह सक्रिय होता है। इसलिए दुनिया की सभी सक्रिय सभ्यतायें कामुक सभ्यतायें होती हैं। और दुनिया की सभी निष्क्रिय सभ्यतायें आध्यात्मिक होती हैं। ऐसा होना आवश्यक नहीं है। ऐसा अब तक हुआ है।

इसलिए जिस मुल्क में काम मुक्त हो जाएगा, 'फ्री सेक्स' होगा, उस मुल्क की 'एक्टिविटी' एकदम बढ़ जाएगी। उसकी 'एक्टिविटी' का हिसाब नहीं रहेगा! अगर हम प्रकृति में चारों तरफ नजर डालें तो 'एक्टिविटी' 'सेक्स' से ही पैदा होती है। वसंत में फूल खिलने लगते हैं, और किसी कारण से नहीं; पक्षी गीत गाने लगते हैं, और किसी कारण से नहीं; पक्षी घोंसले बनाने लगते हैं, किसी और कारण से नहीं; सबके पीछे काम और 'सेक्स' की ऊर्जा है। पक्षी वह घोंसला बना रहा है जो उसने कभी बनाया नहीं। उस अंडे को रखने की तैयारी कर रही मादा जो उसने कभी रखा नहीं। लेकिन सब तरफ गुनगुन हो गई है, सब तरफ गीत चल रहा है, सब तरफ भारी क्रिया पैदा हो गई है, वह 'बायोलाजिकल' 'एक्टिविटी' है। आदमी भी अभी एक ही तरह की एक्टिविटी जानता है, 'बायोलाजिकल'। इसलिए जिन मुल्कों में 'सेक्स' स्वतंत्र है, उन मुल्कों में मकान आकाश को छूने लगेंगे। वह घोंसला बनाने का ही विस्तार है। कोई और बड़ी बात नहीं है। जिन मुल्कों में मुक्त होगा काम, उन मुल्कों में नाच, रंग, गीत पैदा हो जाएंगे; रंग-बिरंगे कपड़े फैल जाएंगे। वह वही पक्षियों के गीत और मोर के पंख, उन्हीं का विस्तार है। कोई बहुत अंतर नहीं है।

जिन मुल्कों में हम कहेंगे कि हम जीवशास्त्र के विपरीत चलते हैं, और नियम जीवशास्त्र का ही मानेंगे—विपरीत से आकर्षित होंगे—वहां सब उदास, शून्य हो जाएगा। वहां मकान झोंपड़े रह जाएंगे, जमीन से लग जाएंगे; वहां सब गतिविधि क्षीण हो जाएगी, वहां कोई गीत नहीं गाएगा, गीत गाता हुआ आदमी अपराधी मालूम पड़ेगा; वहां रंग-बिरंगे कपड़े खो जाएंगे, वहां रंग-रौनक, सौंदर्य खो जाएगा, वहां सब उदास, दीन-हीन और क्षीण हो जाता है।

अब मेरा अपना मानना यह है कि दोनों के अपने नियम हैं, और ठीक पूरी संस्कृति दोनों नियमों पर खड़ी होती है। ठीक संस्कृति काम-मुक्त होगी। काम में आनंद लेगी, काम में उल्लसित होगी, तो क्रिया पैदा होगी। विराट क्रिया का जाल फैलेगा। और ठीक अध्यात्म, ठीक 'टाइप' के चुनाव से अगर होगा, तो आध्यात्मिक क्रिया का जाल फैलेगा। कृष्ण ठीक अपने 'टाइप' में हैं। बुद्ध अपने 'टाइप' में हैं, महावीर अपने 'टाइप' में हैं। इसलिए कृष्ण एक तरह की क्रिया करते हैं, लेकिन ऐसा नहीं है कि बुद्ध कोई क्रिया नहीं करते। बुद्ध का जीवन भी क्रिया का विराट जाल है। महावीर भी एक क्षण शांत नहीं बैठे हैं। चालीस वर्ष सतत एक गांव से दूसरे गांव, एक गांव से दूसरे गांव भाग रहे हैं, भाग रहे हैं। अपना ढंग है उनकी क्रिया का। युद्ध पर लड़ने वह नहीं जाते हैं, लेकिन किसी और बड़े विराट युद्ध में वह संलग्न हैं; किसी चीज को तोड़ने, मिटाने, बनाने में संलग्न हैं। बुद्ध बांसुरी नहीं बजाते, लेकिन बुद्ध की वाणी में किसी और बड़ी बांसुरी का स्वर है। इससे कोई अंतर नहीं पड़ता। लेकिन बुद्ध ने अपना 'टाइप' पा लिया। 'आथेंटिक', प्रामाणिक रूप से बुद्ध ने वह पा

लिया जो वह हो सकते हैं—वह हो गए हैं। कृष्ण ने पा लिया जो वह हो सकते हैं—वह हो गए हैं। पीछे चलने वाले साधक अक्सर 'टाइप' की भूल में पड़ते हैं। 'टाइप' का 'कन्फ्यूजन', इसकी मैंने पीछे बात की, वह वही मतलब है—'स्वधर्मे निधनम् श्रेयः'। वह अपने निजता में मर जाना श्रेयस्कर, और दूसरे के धर्म को स्वीकार कर लेना भयावह।

'टाइप को कैसे समझें'?

* 'टाइप' को समझने में बहुत कठिनाई नहीं है। एक तो रास्ता यह है कि जो तुम्हें आकर्षित करता हो, समझना वह तुम्हारा 'टाइप' नहीं है। सीधा सूत्र, वह तुम्हारा 'टाइप' नहीं है। उससे बचना, उससे सावधान रहना। और जो तुम्हें विकर्षित करता हो, उस पर जरा चिंतन करना, वह तुम्हारा 'टाइप' होगा। अब यह बड़ी मुश्किल की बात है, जो तुम्हें विकर्षित करता हो, 'रिपल्सिव' सिद्ध होता हो, वह तुम्हारा 'टाइप' है। जैसे, पुरुष कैसे पहचाने कि मैं पुरुष हूं? अगर पुरुषों के प्रति उसे कोई प्रेम-लगाव पैदा न होता हो, पहचान ले। और क्या रास्ता है? पुरुष उसे आकर्षित नहीं करते, वह विकर्षक है। स्त्री कैसे समझे कि वह स्त्री है? स्त्री को देखकर ही दिक्कत होती हो, और अड़चन पैदा हो जाती हो। दो स्त्रियों को पास रखना बड़ी कठिन बात है। वह विकर्षक है। वे एक-दूसरे के लिए आकर्षक नहीं हैं, 'रिपल्सिव' हैं। एक-दूसरे को हटाती हैं। एक-दूसरे की तरफ उनकी आकर्षण की धारा नहीं बहती, विकर्षण की धारा बहती है। इसलिए दो स्त्रियों को साथ रखने से बड़ी कठिनाई और कुछ नहीं है।

जो तुम्हें आकर्षित करे, पहला समझ लेना कि यह तुम्हारा 'टाइप' नहीं होगा। जो तुम्हें आकर्षित करे, वह तुम्हारा 'टाइप' होगा। यह बड़ी कठिन और जटिल बात है। और इसलिए बड़े मजे की बात है, आमतौर से जिन चीजों की तुम निंदा करते हो और जिनके तुम खिलाफ हो, वे तुम्हारी होंगी, वे तुम्हारे भीतर होंगी। जो आदमी दिन-रात 'सेक्स' का विरोध करता है, उसकी खबर मिलती है कि उसके भीतर 'सेक्सुअलिटी' होगी। यह बड़ा जटिल है। लेकिन खयाल में ले लिया जाए तो बहुत आसान हो जाएगा। जो आदमी दिन-रात धन की निंदा करता हो, जानना कि वह धन-लोलुप है। जो आदमी संसार से भागता हो, जानना कि संसारी है। मैं यही कह रहा हूं कि आपका विपरीत जो है, वह आपके लिए आकर्षक होता है। इसलिए जो आपको आकर्षित करे, समझना कि वह आपका 'टाइप' नहीं है।

'कभी यह आकर्षित करे, कभी वह आकर्षित करे तो?'

* तो उसको समझना कि तुम 'कन्फ्यूज्ड टाइप' हो। समझे न! उसका और कोई मतलब नहीं होता।

'समान व्यसन हों तो पुरुष-पुरुष में मैत्री हो जाती है!'

* पूछते हैं कि समान व्यसन हो, तो मैत्री हो जाती है।

बहुत-सी बातें इसमें खयाल लेनी पड़ेंगी। समान व्यसन की जो मैत्री है, वह एक ही 'टाइप' के लोगों में भी हो सकती है। लेकिन समान व्यसन उनकी मैत्री का आधार होगा। उनके बीच कोई मैत्री नहीं होगी, व्यसन ही उनकी मैत्री का सेतु होगा। अगर व्यसन छूट जाए, तो मैत्री तत्काल टूट जाएगी। अगर दो आदमी शराब पीते हैं, तो उनमें मैत्री हो जाती है। शराब पीने के कारण। एक ही काम दोनों करते हैं, इसलिए मैत्री हो जाती है। लेकिन मैत्री नहीं है कोई भी। क्योंकि मैत्री सदा अकारण होती है। मैत्री सदा अकारण होती है। अगर कारण है, तो मैत्री नहीं, सिर्फ 'एसोसिएशन' है, साथ है।

साथ और मैत्री में फर्क है।

हम दो आदमी एक रास्ते पर चल रहे हैं, साथ हो जाता है। यह कोई मैत्री नहीं है। फिर मेरी मंजिल का रास्ता मुड़ जाता है अलग, आपकी मंजिल का अलग, तो हम अपने रास्तों पर चले जाते हैं। एक रास्ते पर चलने वाले दो राहगीर जैसे बीच

में साथ हो जाते हैं, ऐसे एक व्यसन पर चलने वाले दो लोग साथ हो जाते हैं। लेकिन यह मैत्री नहीं है। सच तो यह है कि मैत्री सदा विपरीत व्यक्तित्वों में होती है। विपरीत व्यक्तित्वों में मैत्री होती है। इसलिए मैत्री जितनी गहरी होगी, उतने विपरीत व्यक्तित्व होंगे। क्योंकि यह 'कांप्लीमेंट्री' होते हैं। मित्र जो हैं, वे एक-दूसरे को 'कांप्लीमेंट्री' होते हैं, एक-दूसरे के परिपूरक होते हैं। इसलिए अक्सर ऐसा हुआ है कि दो बुद्धिमान लोगों में मैत्री नहीं हो सकेगी। वे 'कांप्लीमेंट्री' नहीं हैं। उनमें कलह हो सकती है, मैत्री नहीं हो सकती। अगर बुद्धिमान से किसी की मैत्री होगी तो वह निर्बुद्धि से होगी, वह 'कांप्लीमेंट्री' है। दो शक्तिशाली व्यक्तियों में मैत्री नहीं हो सकेगी। असल में दो समकक्ष और ठीक एक दिशा से आए हुए व्यक्तियों में मैत्री नहीं हो सकेगी। दो कवियों में मैत्री मुश्किल है। दो चित्रकारों में मैत्री मुश्किल है। और अगर होगी, तो उसके कारण उनके चित्रकार होने से अन्य होंगे। क्योंकि एक व्यक्ति में बहुत-सी बातें हैं। दोनों शराब पीते होंगे, यह हो सकती है मैत्री कि दोनों जुआ खेलते होंगे, यह हो सकती है मैत्री। लेकिन यह संग-साथ है, यह मैत्री नहीं है। मैत्री का नियम भी विपरीत का ही है। मैत्री प्रेम का ही एक रूप है।

इसलिए मनोवैज्ञानिक तो यह कहते हैं कि अगर दो पुरुषों में बहुत गहरी मैत्री है, तो किसी-न-किसी गहरे अर्थों में वे 'होमोसेक्सुअल' होने चाहिए। अगर दो स्त्रियों में बहुत गहरी मैत्री है, तो वह 'होमोसेक्सुअल' होनी चाहिए। एकदम से राजी होना बहुत मुश्किल हो जाता है, लेकिन इसमें सचाइयां हैं। इसलिए आप देखेंगे कि बचपन जैसी मैत्री फिर बाद में कभी निर्मित नहीं होती। क्योंकि बचपन में एक 'फेज' 'होमोसेक्सुअलिटी' का हर आदमी की जिंदगी में आता है। लड़के, इसके पहले कि लड़कियों में उत्सुक हों, लड़कों में उत्सुक होते हैं। लड़कियां, इसके पहले कि लड़कों में उत्सुक हों, पहले लड़कियों में उत्सुक होती हैं। असल में 'सेक्स मेच्योरिटी' होने के पहले, काम की दृष्टि से, यौन की दृष्टि से परिपक्व होने के पहले कोई काम-भेद बुनियादी नहीं होता। लड़के-लड़कों में उत्सुक होते हैं। लड़कियां-लड़कियों में उत्सुक होती हैं। इसलिए बचपन की सहेलियां और बचपन के मित्र चिरस्थायी हो जाते हैं। सेक्स के जन्म के बाद जब सेक्स अपने पूरे प्रभाव में प्रगट होता है, तो जो लोग सहज स्वस्थ हैं, लड़के लड़कियों में उत्सुक होना शुरू हो जाएंगे, लड़कियां लड़कों में उत्सुक होना शुरू हो जाएंगी। पुरानी मित्रताएं और सहेलीपन शिथिल होने लगेंगे। या याददाश्तें रह जाएंगे। धीरे-धीरे नई मैत्रियां बननी शुरू होंगी जो 'अपोजिट' से होंगी, विपरीत से होंगी। हां, कोई पच्चीस-तीस परसेंट लोग नहीं पार कर पाएंगे इस स्थिति को। इसका मतलब है कि उनकी 'मेंटल एज' पिछड़ गई। उसका मतलब है कि वह मानसिक रूप से अस्वस्थ हैं।

ऐसा हो सकता है कि एक लड़का अठारह-बीस साल का हो गया, फिर भी लड़कियों में उत्सुक नहीं है और लड़कों में ही उत्सुक है, तो उसकी मानसिक उम्र पिछड़ गई। यह मानसिक रूप से बीमार है, इसकी चिकित्सा की जरूरत है। अगर कोई लड़की पच्चीस साल की होकर भी लड़कियों में ही उत्सुक है, लड़कों में उत्सुक नहीं है, तो उसके मनस के साथ कोई बीमारी हो गई है, कोई दुर्घटना घट गई है, यह स्वस्थ नहीं है। इसका यह मतलब नहीं है कि बाद में मित्रतायें नहीं होंगी, बाद में मित्रतायें होंगी, लेकिन वे 'एसोसिएशन' की होंगी। एक ही क्लब में आप ताश खेलते हैं, मित्रता हो जाएगी। एक ही धंदे में काम करते हैं, मित्रता हो जाएगी। एक ही सिद्धांत को मानते हैं, कम्युनिस्ट हैं दोनों, तो मित्रता हो जाएगी। एक ही गुरु के शिष्य हो गए हैं तो मित्रता हो जाएगी। लेकिन ये मित्रतायें वैसी मित्रतायें नहीं हैं जैसा कि यौन-जन्म के पहले एक गहरा प्रगाढ़ मैत्री का संबंध होता है। इसलिए बचपन की मैत्री फिर कभी नहीं लौटती। वह लौट नहीं सकती। उसका आधार खो गया।

और विपरीत में बड़ा गहरा आकर्षण है। अगर आप इसको ऐसा भी समझें तो थोड़ा खयाल में आ जाएगा। आप अक्सर देखेंगे, नंगे फकीर के पास कपड़ों को प्रेम करने वाले लोग पहुंचेंगे। त्यागी के पास भोगी इकट्ठे हो जाएंगे। जो खूब खाने-पीने में मजा लेते हैं वे किसी उपवास करने वाले की पूजा करने लगेंगे। अब यह बड़े मजे की बात है। महावीर नग्न थे और जैन कपड़ा बेचने का ही काम करते हैं! कैसे जैनों ने कपड़े बेचने का काम चुन लिया, थोड़ा सोचने जैसा है। जरूर कपड़े को प्रेम करने वाले लोग महावीर के इर्द-गिर्द इकट्ठे हो गए। महावीर सब छोड़कर दीन हो गए, हिंदुस्तान में महावीर को मानने वाले सबसे ज्यादा समृद्ध हैं। यह आकस्मिक नहीं है, 'एक्सिडेंटल' नहीं है, ये घटनायें इनके

ऐतिहासिक कारण हैं। असल में महावीर ने जब सब छोड़ा तो जो सबसे ज्यादा प्रभावित होंगे वे ही होंगे जो सब पकड़े हुए हैं। क्योंकि वे कहेंगे, अरे, हम एक पैसा नहीं छोड़ सकते हैं, और इस आदमी ने तो सब छोड़ दिया, लात मार दी! भगवान है यह आदमी! यह जो उनका आकर्षण है चित्त का, यह उनकी पकड़ की वजह से। त्यागी महावीर से बिलकुल प्रभावित नहीं होगा, वह कहेगा, क्या किया तुमने? इसमें है ही क्या? राख को लात मार दी तो मार दी। इसमें कौन-सी बड़ी बात है। लेकिन जो उस राख को समझता था हीरा है, वह फौरन महावीर के चरणों में सिर रख देगा कि मान गए, आप हैं आदमी! हम एक पैसा नहीं छोड़ सकते और तुमने सब छोड़ दिया। तुम हमारे गुरु हुए।

फिर जो कुछ नहीं छोड़ सकता, उसके मन में छोड़ने की कामना सदा बसती रहती है। जो कुछ नहीं छोड़ सकता है, वह भी सोचता है कि बड़ा दुख झेल रहा हूं पकड़ने से, कब वह दिन आएगा जब सब छोड़ दूं! तो जो सब छोड़ देता है, वह उसका आदर्श बन जाता है फौरन, कि इस आदमी को वह दिन आ गया जिसकी मुझे अभी प्रतीक्षा है। कोई बात नहीं, अभी मैं तो नहीं हो सका, लेकिन तुम हो गए। हम तुम्हें भगवान तो मान ही सकते हैं। इसलिए त्यागियों के पास भोगी इकट्ठे हो जाएंगे। यह बड़ा 'मेग्नेटिक' काम है, जो अपने-आप चलता रहता है। इसको अगर हम पहचान लें तो हम सारी दुनिया की चेतना को 'मेग्नेटिक फील्ड्स' में बांट सकते हैं कि किस तरह दुनिया की चेतना आकर्षित होती रहती है, बनती रहती है, मिटती रहती है। अजीब काम चलता रहता है जो दिखाई नहीं पड़ता ऊपर से।

तो जब भी आप किसी से आकर्षित हों, तो एक बात पक्की समझ लेना कि इस आदमी से बचना। यह आपका 'टाइप' नहीं है, यह उल्टा 'टाइप' है। 'कांप्लीमेंट्री' है। अध्यात्म की यात्रा में सहयोगी न होगा, संसार की यात्रा में साथी हो सकता है। अध्यात्म की यात्रा में आपको अपनी ही खोज करनी पड़ेगी, स्वधर्म की। मैं कौन हूं, उसकी ही खोज करनी पड़ेगी। वह खोज हो जाए, तो आप जीवन को बिना छोड़े, गति को बिना छोड़े, कर्म को बिना छोड़े अकर्म को उपलब्ध हो जाएंगे। संसार को बिना छोड़े सत्य को उपलब्ध हो जाएंगे। सब जैसा है वैसा ही रहेगा, सिर्फ आप बदल जाते हैं। सब जैसा है, ठीक वैसा ही रहेगा। सिर्फ आप बदल जाते हैं। और जिस दिन आप बदल जाते हैं, उस दिन सब बदल जाता है, क्योंकि जो सब दिखाई पड़ता है वह आपकी दृष्टि है।

'भगवान श्री, श्रीकृष्ण अर्जुन से कहते हैं कि यदि तू सुख-दुख, लाभ-हानि, जय-पराजय को समान समझ कर युद्ध करेगा, तो तू पाप को नहीं, स्वर्ग को उपलब्ध होगा। यह क्यों और कैसे संभव है? क्या हिंसा तब हिंसा की घटना न रह जाएगी?'

* इसमें दो-तीन बातें खयाल लेनी चाहिए।

पहली तो बात यह कि कृष्ण कहते हैं कि हिंसा एक असत्य है, जो हो नहीं सकती। भ्रम है, जो संभव नहीं है। कोई मारा नहीं जा सकता। 'न हन्यते हन्यमाने शरीरे'। शरीर को मार डालने से वह नहीं मरता जो पीछे है; और शरीर मरा ही हुआ है। इसलिए शरीर मरता है, यह कहना व्यर्थ है।

कृष्ण पहले तो यह कहते हैं कि हिंसा असंभव है। क्या यह मतलब है कि कोई भी जाए और किसी की हिंसा करे? नहीं, कृष्ण यह कहते हैं कि हिंसा तो असंभव है, लेकिन हिंसक-वृत्ति संभव है। तुम किसी को मारना चाहो, यह संभव है; कोई नहीं मरेगा, यह दूसरी बात है। तुम्हारे मारने से कोई नहीं मरेगा, यह दूसरी बात है। तुम मारना चाहते हो, यह बिलकुल दूसरी बात है। तुम मारना चाहते हो, इसमें पाप है; उसके मरने का तो कोई सवाल नहीं है, वह तो मरेगा नहीं। हिंसा में पाप नहीं है, हिंसकता में पाप है। तुमने तो मारना ही चाहा, वह नहीं मरा यह दूसरी बात है। तुम्हारी चाह तो मारने की है। कोई नहीं बचेगा, इसमें पुण्य नहीं है; कि कोई बचेगा, इसमें पुण्य नहीं है। तुमने बचाना चाहा, इसमें पुण्य है। एक आदमी मर रहा है, सब जानते हुए कि मरेगा, तुम बचाने की कोशिश में लगे हो। यह तुम्हारी बचाने की कोशिश से वह बचेगा नहीं, मर जाएगा कल, लेकिन तुम्हारी बचाने की कोशिश में पुण्य है। पाप दूसरे को नुकसान पहुंचाने की वृत्ति है, पुण्य दूसरे को लाभ पहुंचाने की वृत्ति है।

और कृष्ण तीसरी जो बात कहते हैं, वे कहते हैं कि अगर तू पाप और पुण्य, अगर तू सुख और दुख, दोनों के पार उठ जा, तो फिर न पाप है, फिर न पुण्य है। फिर कुछ भी नहीं है। फिर न हिंसा है, न अहिंसा है, अगर तू इन दोनों के ऊपर उठ जाए और जान ले कि उस तरफ हिंसा नहीं होती, तो मैं नाहक हिंसा करने के खयाल से क्यों भरूं? और उस तरफ कोई बचता नहीं, तो मैं नाहक बचाने के पागलपन में क्यों पड़ूं? अगर तू सत्य को देखकर अपनी वृत्तियों को भी समझ ले कि ये वृत्तियां व्यर्थ हैं—असंभव हैं—अगर तू इन दोनों बातों को ठीक से समझ ले, तो तू स्वर्ग को उपलब्ध हो ही गया। हो जाएगा ऐसा नहीं, हो ही गया। क्योंकि हो जाने का क्या सवाल है? ऐसी स्थिति में, जहां सुख और दुख, लाभ और हानि, जय और पराजय, हिंसा और अहिंसा, सब समान हो गई हैं, समत्व उपलब्ध हुआ, ऐसी स्थिति में स्वर्ग मिल ही गया। अब कुछ स्वर्ग बचा नहीं पाने को । ऐसी स्थिति में, ऐसी समत्व बुद्धि को ही कृष्ण योग कहते हैं।

वह कहते यह हैं कि दो तरह की भ्रांति है। एक भ्रांति तो यह कि कोई मरेगा। और एक भ्रांति यह कि मैं मारूंगा। एक भ्रांति यह कि कोई बचेगा और एक भ्रांति यह कि मैं बचाऊंगा। ये दोनों ही भ्रांतियां हैं। अगर पहली भ्रांति छूट जाए, कि कोई मरता नहीं, कोई बचता नहीं, जो है वह है, अगर यह पहली भ्रांति छूट जाए, तो फिर एक दूसरी भ्रांति बचती है कि कोई नहीं मरता तो भी मैं मारने की कोशिश करता हूं तो पाप है। कोई नहीं बचता तो भी मैं बचाने की कोशिश करता हूं, तो पुण्य है। लेकिन पाप और पुण्य भी अधूरा अज्ञान है। आधा। आधा अज्ञान बच गया। अगर यह भी पता चल जाए कि न मैं किसी को बचाता, न कोई बचता; न मैं किसी को मारता, न कोई मरता; अगर यह पूरा ही चला जाए, तो ज्ञान है। फिर ऐसे ज्ञान वाले व्यक्ति को जो हो रहा है, वह होने देता है। बाहर, भीतर, कहीं भी जो हो रहा है वह होने देता है। क्योंकि अब न होने देने का कोई सवाल नहीं। तब वह 'टोटल एक्सेप्टिबिलिटी' को, समग्र स्वीकार को उपलब्ध हो जाता है।

तो कृष्ण अर्जुन से यही कहते हैं कि तू सब देख और स्वीकार कर और जो होता है, होने दे; तू धारा के खिलाफ लड़ मत, तू बह। और फिर तू स्वर्ग को उपलब्ध हो जाता है।

19 फलाकांक्षामुक्त कर्म के प्रतीक कृष्ण

'साधना-जगत में यज्ञों और 'रिचुअल्स' का बहुत उल्लेख है। यज्ञ की बहुत विधियां भी हैं। होमात्मक यज्ञ की बात आती है। लेकिन गीता में जपयज्ञ और ज्ञानयज्ञ को विशेष स्थान दिया गया है। साथ ही आपने जप पर बात करते हुए अजपा जप के बारे में कहा था। तो गीता के जपयज्ञ, ज्ञानयज्ञ और अजपा जप पर भी प्रकाश डालने की कृपा करें।'

* जीवन में 'रिचुअल' की, क्रियाकांड की अपनी जगह है। जिसे हम जीवन कहते हैं, वह नब्बे प्रतिशत 'रिचुअल' और क्रियाकांड से ज्यादा नहीं है। जीवन को जीने के लिए, जीवन से गुजरने के लिए बहुत कुछ जो अनावश्यक है आवश्यक मालूम होता है। आदमी का मन ऐसा है।

मनुष्यजाति के पूरे इतिहास में हजारों तरह के 'रिचुअल', हजारों तरह के क्रियात्मक खेल विकसित हुए हैं। ये सारे-के-सारे खेल अगर गंभीरता से ले लिए जाएं, तो बीमारी बन जाते हैं। अगर ये सारे खेल की तरह लिए जाएं, तो उत्सव बन जाते हैं। जैसे, जब पहली बार अग्नि का आविष्कार हुआ—और सबसे बड़े आविष्कारों में अग्नि का आविष्कार है। आज हमें पता नहीं किस आदमी ने सबसे पहले अग्नि पैदा

की है, लेकिन जिसने भी पैदा की होगी, उससे बड़ी क्रांति अभी तक नहीं हो सक ती है। बहुत कुछ आदमी ने फिर खोजा है। और फिर न्यूटन है, और गेलेलियो है और कोपरनिकस है और केपलर है और आइंस्टीन है और मेक्सब्लांट और हजारों खोजी हैं, लेकिन अब तक भी, हमारी अणु की खोज भी, हमारा चांद पर पहुंच जा ना भी उतना बड़ा आविष्कार नहीं है जितना बड़ा आविष्कार उस दिन हुआ था जि स दिन पहले आदमी ने अग्नि पैदा कर ली थी।

आज हमें बहुत कठिनाई होगी यह सोचकर, क्योंकि अग्नि आज बिलकुल सहज बात है। माचिस में बंद है। लेकिन सदा ऐसा नहीं था। फिर हमारा जो भी विकास हुआ है मनुष्य का, जैसा मनुष्य आज है, उसमें नब्बे प्रतिशत अग्नि का हाथ है। फिर ह मारे जो भी आविष्कार हुए हैं, वे सब बिना अग्नि के हो नहीं सकते। उन सब की बुनियाद में वह अग्नि का आविष्कर्ता खड़ा है।

स्वभावतः जब पहली बार अग्नि किसी ने खोजी होगी, तो हमने अग्नि का भी स्वाग त किया था उसके चारों ओर नाचकर। यह जिंदगी की बिलकुल सहज घटना थी। अग्नि को और किसी तरह धन्यवाद दिया भी नहीं जा सकता था। और अग्नि ने ए क केंद्रीय अर्थ मनुष्य की जिंदगी में उस दिन बना लिया था। मनुष्य के सारे पुराने धर्म, किसी-न-किसी रूप में अग्नि या सूरज के आसपास विकसित हुए हैं। रात थी अंधकारपूर्ण, खतरनाक, पशुओं का डर था। दिन था उजाले से भरा, निर्भय; हमला कोई कर सके, इसके पहले पता चल जाता था। तो सूर्य बड़ा मित्र मालूम हुआ। अं धकार बड़ा शत्रु बन गया। अंधकार में खतरे थे, भय था, उपद्रव था। सूर्य के साथ सब खतरे तिरोहित हो जाते थे, सब भय मिट जाते थे। तो सूर्य परमात्मा की तरह खयाल में आया था। और जब अग्नि का आविष्कार कर लिया, तो स्वभावतः, रात के अंधकार पर भी हमारी विजय हो गई थी। सूर्य से भी ज्यादा अग्नि प्रीतिकर हो गई थी। इस अग्नि के आसपास नाच का, गान का, नृत्य का, प्रेम का, उत्सव का विकसित हो जाना बिलकुल स्वाभाविक था। वह विकसित हुआ।

कभी आपने खयाल किया कि जब यूरी गागरिन पहली बार अंतरिक्ष की यात्रा करके लौटा तो सारी पृथ्वी उत्सव से भर गई थी। और यूरी गागरिन एक दिन में विश्वि वख्यात व्यक्ति हो गया था। ठेठ दूर-देहात के गांवों में भी उसका नाम पहुंच गया था। लाखों लोगों ने अपने बच्चों का नाम यूरी गागरिन के ऊपर रखा—सारी दुनिया में, बिना जाति-पांति-धर्म की फिक्र किए। यूरी गागरिन की हैसियत पाने के लिए ि कसी आदमी को सत्तर-अस्सी साल मेहनत करनी पड़ती है, तब सारी दुनिया उसे ज ान पाती है। इस आदमी ने कुछ और नहीं किया, यह सिर्फ पृथ्वी की जो 'आर्बिट' है, उसको पार कर गया। लेकिन बड़ी घटना थी। यूरी गागरिन जहां गया, वहीं लो ग दीवाने हो गए उसके दर्शन करने को। बड़े नगरों में लोग मरे, 'एक्सीडेंट' से, ज हां यूरी गागरिन गया।

मनुष्य का मन उस सबके प्रति उत्सव से भर जाता है जो नया है, जिससे नए का आगमन होता है। नए बच्चे के जन्म पर ही हम बैंडबाजा नहीं बजाते और उत्सव से

भर जाते, जब भी इस जगत में नया कुछ पैदा होता है, तो हमारा चित्त उत्सव से उसका स्वागत करता है और उचित है कि ऐसा हो। क्योंकि जिस दिन आदमी न ए के स्वागत में भी उत्सवपूर्ण नहीं रहेगा, उस दिन समझना चाहिए कि आदमी के भीतर कुछ महत्वपूर्ण मर गया है।

यह मैंने इसलिए कहा कि हम यज्ञ को समझ सकें। यह उन लोगों का आविष्कार था , जिनकी जिंदगी में अग्नि पहली बार आयी थी और इस अग्नि के लिए वे उत्सव मना रहे थे। वे इसके चारों ओर नाच रहे थे। और जो कुछ श्रेष्ठ उनके पास था, उ न्होंने अग्नि को दिया। क्या दे सकते थे? उनके पास गेहूं था, उन्होंने गेहूं दिया। उन के पास सोमरस था--उस दिन की सुरा थी--वह उन्होंने दी; उनके पास जो श्रेष्ठतम गाय होती, वह उन्होंने अग्नि को दी; उनके पास जो भी था, वह उन्होंने अग्नि को भेंट किया। एक देवता अवतरित हुआ था, जिसने जिंदगी को सब बदल दिया था। उसके उत्सव में उन्होंने सब यह किया। यह बहुत सहज था। लेकिन, यह बहुत 'सोफिस्टिकेटेड' नहीं था। यह बिलकुल ग्रामीण-चित्त से उठी हुई बात थी, और ग्राम ही थे जगत में, ग्रामीण-चित्त ही था।

गीता के समय तक ऐसा यज्ञ बेमानी हो गया था। क्योंकि गीता के समय तक अग्नि घर-घर की चीज हो गई थी। उसके आसपास नाचना व्यर्थ मालूम होने लगा था। उसमें गेहूं फेंकना, मंत्र पढ़ना सार्थक नहीं रह गया था। और हजारों लोग इसका वि रोध कर चुके थे इस बीच की प्रक्रिया में। क्योंकि उनको कुछ भी पता नहीं था कि अग्नि का पहला आगमन जिनकी जिंदगी में हुआ था, वे उसे भगवान की तरह ही स्वीकार कर सकते थे। उनके लिए उतना बड़ा वरदान था। इसलिए गीता ने फिर शब्दों पर नई कलमें लगाईं और कृष्ण ने नए शब्द ईजाद किए, ज्ञानयज्ञ। यज्ञ था शब्द पुराना, ज्ञान से उसे जोड़ा। जैसे अभी विनोबा ने नई कलम लगाई, भूदान-यज्ञ। यज्ञ था शब्द पुराना, भूदान से उसे जोड़ा।

कृष्ण के समय तक जीवन काफी 'सोफिस्टिकेटेड', काफी विकसित हुआ था। और जब अग्नि के आसपास नाचना अपने-आप में अर्थपूर्ण न था। अब तो ज्ञान की अग्नि जलाने की बात कृष्ण ने उठाई। लेकिन स्वभावतः पुराने शब्दों का उपयोग करना प. डता है। अब अगर नाचना ही था तो ज्ञान की ज्योति के आसपास नाचना था। और अब कुछ भेंट भी करना था तो गेहूं के दानों से क्या भेंट होगी, अब अपने को ही दान कर देना था। ज्ञानयज्ञ का अर्थ है, ज्ञान की अग्नि में स्वयं को जो समर्पित कर देता है। ज्ञानयज्ञ का अर्थ है, कि अब साधारण अग्नि से नहीं, ज्ञान की अग्नि से, जिसमें व्यक्ति जलता है और समाप्त हो जाता है। यह अग्नि का प्रतीक लेकिन जारी रहा।

इसके जारी रहने के पीछे बहुत गहरे कारण थे।

सबसे बड़ा गहरा कारण जो था वह यह था कि अतीत के मनुष्य की जिंदगी में सदा ऊपर की तरफ जाने वाली चीज सिवाय अग्नि के और कोई भी न थी। पानी नीचे की तरफ जाता है। उसे कहीं से भी डालो, वह नीचे की जगह खोज लेता है। अग्नि

न के साथ कुछ भी उपाय करो, उसकी लपटें सदा ऊपर की तरफ भागती हैं। पुराने मनुष्य के समक्ष अग्नि भर एक ऐसी चीज थी जो सदा ऊपर की तरफ भागती है; ऊपर की तरफ भागना, ऊर्ध्वगमन ही जिसका स्वभाव है; जिसे हम नीचे की तरफ बहा ही नहीं सकते। अगर हम उलटी भी कर दें जलती हुई लकड़ी को, तो लकड़ी ही उलटी होती है, अग्नि ऊपर की तरफ ही भागती रहती है। ऊर्ध्वगमन का प्रतीक बन गई अग्नि। उसकी लपटें आकाश की यात्रा की, अज्ञात की यात्रा की सूचक हो गईं। जमीन के 'ग्रेविटेशन', को तोड़ने वाली वह पहली चीज मालूम पड़ी। पृथ्वी की जो कोशिश है, उसको तोड़ देती है, उसको उससे कोई फिक्र नहीं है। अग्नि पर उसका कोई प्रभाव नहीं है। एक कारण तो यह था कि ऊर्ध्वगमन का प्रतीक अग्नि बन गई, इसलिए जिन्होंने अग्नि की लपटों के आसपास नृत्य किया था, नाचे थे, गीत गाए थे, खुशी प्रगट की थी, उन्होंने एक प्रतीक के अर्थ में भी वह खुशी प्रगट की थी कि किस दिन वह दिन होगा जिस दिन हम भी अग्नि की लपटों की तरह ऊपर की यात्रा करेंगे।

अभी आदमी का मन जैसा है वह सदा नीचे की तरफ यात्रा करता है, पानी की तरह है। आदमी का मन जैसा है, वह सदा नीचे की तरफ यात्रा करता है, उसके नियम पानी के नियम हैं, वह नीचे गड्ढे खोजता है। उसे पर्वत-शिखर पर भी ले जाकर छोड़ दो तो बहुत जल्दी खाई में नीचे आकर झील में विश्राम करने लगता है। उसे कितनी ही ऊंचाई पर ले जाओ, वह तत्काल नीचे की तरफ जाने को आतुर है। जैसा मनुष्य का मन अभी है, वह नीचे जाने की आतुरता है। अग्नि के आसपास नाचने वाले ऋषियों ने घोषणा की कि हम ऊपर की तरफ की यात्रा के सूत्र को नमस्कार करते हैं। और हम अपने भीतर के प्राणों को अग्नि जैसा बनाना चाहते हैं कि वे ऊपर की तरफ भागें। हम उन्हें नीचे खाई में भी छोड़ दें, खंदक में भी छोड़ दें, घाटी में भी छोड़ दें, तो भी वे शिखर पर चले जाएं। यह बड़ा 'सिंबालिक', बड़ा प्रतीकात्मक था।

दूसरी बात अग्नि में और बड़ी खूबी की थी और वह और भी गहरी थी, और वह थी कि अग्नि पहले तो ईंधन को जलाती और फिर खुद ही जल जाती। पहले ईंधन राख होता है, फिर अग्नि खुद राख हो जाती है। ज्ञान के लिए यह प्रतीक बड़ा गहरा बन गया। ज्ञान पहले तो अज्ञान को जलाता है। पहले तो ज्ञान अज्ञान को मिटाता है और फिर ज्ञान ज्ञान को भी मिटा देता है। इसलिए उपनिषद कहते हैं, अज्ञानी तो भटकते ही हैं अंधकार में, ज्ञानी महा अंधकार में भटक जाते हैं। निश्चित ही यह व्यंग्य में कही गई बात है उन ज्ञानियों के लिए जिनके पास उधार ज्ञान है। क्योंकि जिनके पास अपना ज्ञान है वे तो बचते ही नहीं, उनके भटकने का तो उपाय नहीं है। ज्ञान पहले तो अज्ञान को जलाता है; फिर ज्ञान को भी जला देता है, ज्ञानी को भी जला देता है, पीछे कुछ भी बचता नहीं। अग्नि पहले ईंधन को जलाती है, फिर ईंधन जल जाता है, फिर अग्नि भी बुझ जाती है, फिर अंगारे भी बुझ जाते हैं, फिर राख ही रह जाती है, फिर सब समाप्त हो जाता है।

तो ज्ञान की घटना जिनके जीवन में घटी, उनको दिखाई पड़ा कि ज्ञान की घटना अ
ग्नि जैसी है। पहले अज्ञान जलेगा, फिर ज्ञान भी जलेगा, फिर ज्ञानी भी जलेगा और
पीछे तो सिवाय राख के कुछ बचेगा नहीं। सब तिरोहित हो जाएगा। इतना शून्य ह
ोने को जो तैयार है, वह ज्ञान की यात्रा पर निकल सकता है।

तीसरी बात। अग्नि की लपटें हमने उठते देखी हैं, थोड़ी दूर तक ही दिखाई पड़ती
हैं, फिर खो जाती हैं। अग्नि बहुत थोड़े दूर तक दृश्य है, इसके बाद अदृश्य हो जात
ी है। ज्ञान भी बहुत थोड़े दूर तक दिखाई पड़ता है, या ऐसा कहें कि थोड़े दूर तक
ज्ञान का संबंध दिखाई पड़ने वाले से रहता है, दृश्य से रहता है, और इसके बाद उ
सका संबंध अदृश्य से हो जाता है। फिर दृश्य खो जाता है और अदृश्य ही रह जाता
है। इन सारे कारणों से अग्नि बड़ा ही समर्थ प्रतीक ज्ञान का बन गया और कृष्ण
ज्ञानयज्ञ शब्द का उपयोग कर सके।

ये प्रतीक अगर हमारे खयाल में हों, तो ज्ञानयज्ञ सदा जारी रहेगा। अग्नि के आसपा
स निर्मित हुए दूसरे 'रिचुअल' और यज्ञ तो खो जाएंगे, क्योंकि वे परिस्थिति से पैदा
होते हैं, लेकिन ज्ञानयज्ञ सदा जारी रहेगा। इसलिए कृष्ण ने यज्ञ को पहली दफा प
रिस्थिति से मुक्त करके शाश्वत अर्थ दे दिया। वेद जिस यज्ञ की बात करते थे वह
परिस्थिति से बंधा था, एक घटना से जुड़ा था। कृष्ण ने उसे उस घटना से मुक्त क
र दिया और एक शाश्वत अर्थ दे दिया। अब कृष्ण के अर्थ में ही यज्ञ का प्रयोजन ह
ोगा आगे। उसका अर्थ कृष्ण के द्वारा ही निकल सकता है। और कृष्ण के पहले के
अध्याय बंद हो गए हैं। अब भी जो कृष्ण के पहले के यज्ञ की बात करता है, वह
असामयिक, 'आउट आफ डेट', व्यर्थ की बात करता है; अब उसमें कोई अर्थ नहीं
रह गया है, वह बात समाप्त हो चुकी है। अब अग्नि के आसपास आनंद से नहीं कू
दा जा सकता, क्योंकि अग्नि अब हमारे जीवन में कोई ऐसी घटना नहीं है।

वह जपयज्ञ की भी बात करते हैं। कृष्ण जपयज्ञ की भी बात करते हैं। जप के साथ
भी वही राज है, जो ज्ञान के साथ है। जप पहले तो दूसरे विचारों को जलाएगा, ि
फर जब दूसरे विचार जल जाएंगे, तो जप का विचार भी जल जाएगा। जो शेष रह
जाएगा, वह अजपा स्थिति होती है। इसलिए उसको भी अग्नि से प्रतीक बनाया जा
सकता है। वह भी यज्ञ बनाया जा सकता है।

आपके मन में बहुत विचार हैं। आप एक शब्द का जप की भांति प्रयोग करते हैं। स
ारे विचारों को हटा देते हैं, एक ही विचार पर आप अपने मन को डोलाते हैं। एक
घड़ी ऐसी आती है कि यह विचार भी बेमानी हो जाता है कि इसको क्यों दोहराए
चले जाना। जब सब विचार ही छूट गए, तो इस एक को भी क्यों पकड़े चले जाना
! फिर यह भी छूट जाता है। फिर आप जिस स्थिति में होते हैं, वह अजपा स्थिति
है, वहां जप भी नहीं है। अग्नि ने पहले ईंधन जलाया, फिर खुद भी जल गई।

लेकिन, खतरा है जप के साथ, जैसा कि ज्ञान के साथ खतरा है। खतरे सब चीजों
के साथ हैं। ऐसा कोई भी रास्ता नहीं है जिस पर न भटका जा सके। ऐसा रास्ता ह
ो भी कैसे सकता है! जो भी रास्ता पहुंचा सकता है, उस पर यात्री चाहे तो भटक

भी सकता है। सब रास्ते इस अर्थों में भटकाने वाले की तरह प्रयोग किए जा सकते हैं, और आदमी ऐसा है कि वह सब रास्तों को पहुंचने के लिए काम में कम लाता है, भटकने के लिए ज्यादा काम में लाता है। मैंने कहा कि ज्ञान यज्ञ है, जैसे कृष्ण कहते हैं। लेकिन आदमी ज्ञान का अर्थ ले सकता है पांडित्य, 'इनफॅर्मेशन', सूचनाएं, शास्त्र, सिद्धांत, शब्द और इनको इकट्ठा कर ले सकता है। तब वह भटक गया। वैसा आदमी ज्ञान को उपलब्ध ही नहीं हुआ। ज्ञान के नाम से उसने कुछ और ही अपने ऊपर थोप लिया है। और ध्यान रहे, अज्ञान से इतना नुकसान नहीं है जितना मिथ्या ज्ञान से है। अज्ञान से इतना नुकसान नहीं है, जितना झूठे, उधार, बासे ज्ञान से है। क्योंकि बासे ज्ञान में कोई अग्नि नहीं होती। बासा ज्ञान समझना चाहिए कि बुझ गए अंगारों के बुझे कोयलों की तरह है। उसे कितना ही इकट्ठा कर लो, उससे कोई जीवन रूपांतरण नहीं होता है। लेकिन अगर कोई ज्ञान का यह अर्थ ले ले, तो भटकेगा।

ऐसे ही जप के साथ भी कठिनाई है। जप का अगर कोई यह अर्थ ले ले कि जप करते-करते ही पहुंच जाऊंगा, तो गलती में है। जप करते-करते कोई कभी नहीं पहुंचा है। जप का उपयोग ऐसा ही किया जाता है जैसे पैर में एक कांटा लग गया हो और उस कांटे को हम दूसरे कांटे से निकाल देते हैं। लेकिन फिर दूसरे कांटे को पहले वाले कांटे के घाव में रख नहीं लेते सुरक्षित। पहला कांटा निकला कि दूसरा बिलकुल वैसे ही बेकार है, जैसा पहला है, और दोनों को एक-साथ फेंक देते हैं। लेकिन हो सकता है कोई नासमझ! वह कहे कि जिस कांटे ने मेरा कांटा निकाला, उसको मैं कैसे फेंक सकता हूं। वह कहे कि शिष्टता भी तो कम-से-कम इतना कहती है कि जिस कांटे ने मेरा कांटा निकाला उसको मैं सम्हाल कर रखूं। तब यह आदमी पागल है।

बुद्ध निरंतर कहते हैं, बार-बार एक कहानी वह कहते हैं कि एक गांव में कुछ लोग एक नाव से उतरे, फिर जब वे नाव से नदी के किनारे उतर गए तो उन आठों लोगों ने तय किया—वे बड़े बुद्धिमान थे—उन्होंने तय किया कि जिस नाव ने हमें नदी पार कराई, उस नाव को हम छोड़ कैसे सकते हैं! और उन्होंने सोचा कि जिस नाव से हम नदी पार किए और जिस पर हम बैठकर सवार हुए, अब उचित है कि हम उसको अपने ऊपर सवार करें। तो उन्होंने नाव को आठों आदमियों ने अपने सिरों पर उठा लिया और बाजार की तरफ चले। गांव में लोग उनसे पूछने लगे कि पागलो, हमने नाव पर तो बहुत बार लोगों को देखा, लेकिन नाव लोगों पर नहीं देखी, यह बात क्या है? वे सब कहने लगे कि तुम हो अकृतज्ञ। तुम्हें 'ग्रेटीच्यूड' का कुछ पता नहीं है। हम जानते हैं अनुग्रह का भाव। इस नाव ने हमें नदी पार करवाई है, अब इस नाव को संसार पार करवा के रहेंगे। अब तो सदा यह हमारे सिर पर रहेगी।

तो बुद्ध यह मजाक में कहते हैं कि बहुत लोग हैं, जो फिर साधना को इस बुरी तर
ह पकड़ लेते हैं कि वही साध्य हो जाता है। नदी पार करने को नाव है, सिर पर ढ
ोने को नाव नहीं है।

जप का उपयोग किया जा सकता है, इस होश के साथ कि वह भी एक कांटा है।
और अगर आपने उसको कांटा नहीं समझा और प्रेम में पड़ गए उसके, तो जो दूसरे
विचार आपको भरे थे वे तो हट जाएंगे, जप आपको भर देगा। अब एक आदमी
चौबीस घंटे राम-राम, राम-राम कर रहा है, उसकी बजाय हो सकता है जो व्यर्थ ि
वचारों से भरा है उसके जीवन में भी कुछ सार्थकता फलित हो जाए, क्योंकि उसके
व्यर्थ विचारों में भी कुछ आ सकता है। इसके पास सिवाय राम-राम के कुछ आने
को नहीं है। और जब यह राम-राम को छोड़ने को राजी नहीं होगा, यह कहेगा सब
विचारों से छुटकारा दिलाया राम-राम ने, तो अब मैं कैसे छोड़ सकता हूं, अब तो
मैं नाव को सिर पर रखूंगा।

जप को यज्ञ कहना बड़ी 'सीक्रेट' बात है। कृष्ण जब जप को यज्ञ कहते हैं तो वह
कहते हैं, ध्यान रखना, जप भी अग्नि की भांति है। पहले दूसरे को जलाएगा, फिर
खुद को जलाएगा, और जब खुद को जला ले तभी समझना कि सार्थक हुआ है।
तो हम शब्द का उपयोग कर सकते हैं दूसरे शब्दों को बाहर करने में, लेकिन फिर
उस शब्द को भी बाहर करना पड़ेगा। और अगर मोहग्रस्त हुए और उस शब्द को स
म्हालकर रखा तो जप यज्ञ न रहेगा, जप सम्मोहन हो जाएगा। फिर हम जप शब्द
से ही 'आब्सेस्ड' हो गए, फिर हम उसी से पीड़ित होकर रहने लगेंगे, और वही हम
ारा पागलपन बन जाएगा। इसलिए जो लोग जप करते वक्त जप में लीन हो जाते
हैं, वे लोग जप को फिर कभी न छोड़ सकेंगे, क्योंकि लीनता में एक गहरा संबंध स्
थिर हो जाता है। जो लोग जप करते समय साक्षी बने रहते हैं, जो ऐसा अनुभव नह
ीं करते कि मैं जप कर रहा हूं, बल्कि ऐसा अनुभव करते हैं कि जप मन से हो रहा
है और मैं देख रहा हूं, वे एक दिन जप के बाहर जा सकते हैं। तब जप यज्ञ हो
जाता है, क्योंकि तब जप अग्नि की भांति हो जाता है। पहले वह दूसरे विचारों को
जला देता है, फिर खुद जलकर राख हो जाता है। आप जब खाली रह जाते हैं, शू
न्य, तब आप ध्यान को, समाधि को उपलब्ध होते हैं।

इसलिए कृष्ण ने ज्ञान और जप, दोनों के साथ यज्ञ का प्रयोग किया। यज्ञ का प्रयोग
अग्नि के केंद्र पर है। और अग्नि के प्रतीक को हम समझ लें तो ये दोनों बातें भी
साफ समझ में आ सकती हैं। असल में जो जलने को तैयार है, वह यज्ञ के लिए तै
यार है, जो मिटने को तैयार है, वह यज्ञ के लिए तैयार है। जो होम होने को तैयार
है, वह यज्ञ के लिए तैयार है। और तब सब यज्ञ छोटे पड़ जाते हैं और जीवनयज्ञ
ही शेष रह जाता है।

'भगवान श्री, श्रीकृष्ण कहते हैं कि ज्ञानीजन कर्मफल त्याग कर जन्मरूप बंधन से छू
ट जाते हैं और परमपद को प्राप्त करते हैं। तो क्या कृष्ण जन्म को बंधन मानते हैं?
आप तो जन्म को, संसार को निर्वाण ही है, ऐसा कहते हैं।'

* कृष्ण कहते हैं, ज्ञानीजन कर्मफल की आसक्ति को छोड़कर, फलासक्ति को छोड़
कर जन्मरूपी बंधन से मुक्त हो जाते हैं। ये सब बातें समझने जैसी हैं।
पहली बात, फलासक्ति से मुक्त होकर। कर्म से मुक्त होकर नहीं, फलासक्ति से मुक
त होकर। कर्म से मुक्त होने को नहीं कहा जा रहा है कि काम से मुक्त हो जाने क
ा जोर ही इसलिए है कि कर्म पीछे बचाया गया है। कर्म तो रहेगा, फलासक्ति नहीं
रहेगी।
फलासक्ति से मुक्त होकर कोई कैसे कर्म को उपलब्ध होगा, यह थोड़ा सोचने जैसा
है। हम तो अगर फल से मुक्त हो जाएं तो कर्म से ही मुक्त हो जाएंगे। अगर कोई
आपसे कहे कि फल की कामना न करें, और कर्म करें, तो आप कहेंगे, मैं पागल हूं
! अगर फल की कामना नहीं है तो कर्म क्यों होगा? फल की कामना से ही तो क
र्म होता है। एक कदम भी उठाते हैं तो किसी फल की कामना से उठाते हैं। अगर
फल की कामना ही नहीं होगी, तो कदम ही क्यों उठेगा? हम उठाएंगे ही क्यों?
इस 'फलासक्ति से मुक्त होकर', इस शब्द ने, जिन लोगों ने कृष्ण को सोचा है उन्हें
बड़ी कठिनाई में डाला है। और सबसे बड़ी कठिनाई उन्होंने यह पैदा की है कि तब
उन्होंने एक बहुत ही रहस्यपूर्ण ढंग से फल की पुनर्प्रतिष्ठा कर दी है। फिर उन्होंने
यह कहा कि जो फलासक्ति से मुक्त होते हैं, वे मोक्ष को या मुक्ति को उपलब्ध हो
जाते हैं। और मुक्ति और मोक्ष को फल की तरह उपयोग में लाना शुरू किया है,
कि तुम ऐसा करोगे, तो ऐसा मिलेगा। तुम ऐसा करोगे तो ऐसा नहीं मिलेगा। यही
तो फल की आकांक्षा है। मोक्ष को भी फल बना लिया। तभी वे लोगों को समझा पा
ए कि तुम सब और फलों को छोड़ दो। तो मोक्ष को अगर पाना चाहते हो, तो सब
फलों को छोड़कर ही तुम मोक्ष को पा सकते हो। लेकिन यह तो कृष्ण के साथ ब.
डी ज्यादती हो गई। अगर कृष्ण ऐसा भी कहते हैं कि जो सब फलासक्ति से मुक्त
हो जाते हैं, वे ज्ञानीजन जन्मरूपी बंधन से मुक्त होते हैं, तो उनकी मुक्त होने की
जो बात है वह सिर्फ परिणाम की सूचक है। 'कांसीक्वेंस' की खबर है। वह फल नह
ीं है। ऐसा नहीं है कि जिन्हें जन्मरूपी बंधन से मुक्त होना है, वे फल की आकांक्षा
छोड़ दें, तब तो यह फिर फल की ही आकांक्षा हो गई। यह सिर्फ खबर है कि ऐसा
होता है। फल की आकांक्षा छोड़ने से मुक्ति फलित होती है, ऐसा होता है। लेकिन
मुक्ति की आकांक्षा जो करता है उसे तो मुक्ति कभी फलित नहीं हो सकती, क्योंि
क वह फल की आकांक्षा करता है। लेकिन हम बिना फल-आकांक्षा के कर्म कैसे करें
गे?
इसे समझने के लिए यह देखना जरूरी होगा कि हमारी जिंदगी में दो तरह के कर्म
हैं। एक कर्म तो वह है जो हम अभी करते हैं, कल कुछ कुछ पाने की आशा में। ऐ

सा कर्म भविष्य की तरफ से 'पुल' है, खींचना है। भविष्य खींच रहा है लगाम की तरह। जैसे एक गाय को कोई गले में रस्सी बांध खींचे लिए जा रहा है, ऐसा भविष्य हमारे गले में रस्सियां डालकर हमें खींचे लिए जा रहा है। यह मिलेगा, इसलिए हम यह कर रहे हैं। वह मिलेगा, इसलिए हम वह कर रहे हैं। मिलेगा भविष्य में, कर अभी रहे हैं। रस्सी अभी गले में पड़ी है; हाथ में जो फंदा है रस्सी का, वह भविष्य के लिए है। मिलेगा, नहीं मिलेगा, यह पक्का नहीं है। क्योंकि भविष्य का अर्थ ही यह है कि जो पक्का नहीं है। भविष्य का अर्थ ही यह है, जो अभी नहीं हुआ है, होगा। लेकिन उस आशा में हम रस्सी में बंधे हुए पशु की तरह भागे चले जा रहे हैं।

यह बड़े मजे की बात है, यह शब्द पशु बड़ा बढ़िया है। कभी आपने शायद खयाल न किया होगा कि पशु का मतलब होता है, जो पाश में बंधा हुआ खिंचा जा रहा है। पशु शब्द का ही मतलब होता है, जो पाश में बंधा हुआ खिंचा जा रहा है। तब तो हम सब पशु हैं, अगर हम भविष्य के पाश में बंधे हुए खिंचे जा रहे हैं। पशु का मतलब ही इतना है कि जो भविष्य से बंधा है और जिसकी लगाम भविष्य के हाथों में है और जो खिंचा जा रहा है। जो रोज आज इसलिए जीता है कि कल कुछ होगा, कल भी इसीलिए जियेगा कि परसों कुछ होगा। जो हर दिन आज कल के लिए जियेगा और कभी नहीं जी पाएगा—क्योंकि जब आएगा तब आज आएगा, और जीना उसका सदा कल होगा। कल भी यही होगा, परसों भी यही होगा, क्योंकि जब भी समय आएगा वह आज की तरह आएगा और यह आदमी पाश में बंधा हुआ पशु की तरह भविष्य से खिंचा हुआ कल में जियेगा। यह कभी नहीं जी पाएगा। इसकी पूरी जिंदगी अनजियी, 'अनलिव्ड' बीत जाएगी। मरते वक्त यह कह सकेगा कि मैंने सिर्फ जीने की कामना की, मैं जी नहीं पाया हूं। और मरते वक्त उसकी सबसे बड़ी पीड़ा यही होगी कि अब आगे कोई फल नहीं दिखाई पड़ता। और कोई पीड़ा नहीं है। अगर आगे कोई फल दिखाई पड़ जाए इसे, तो यह मौत को भी झेलने को राजी हो जाएगा। इसलिए मरता हुआ आदमी पूछता है, पुनर्जन्म है? मैं मरूंगा तो नहीं? वह असल में यह पूछ रहा है, कल है अभी बाकी? अगर कल हो तो चल सकता है, क्योंकि मेरे जीने का ढंग कल पर निर्भर है। अगर कल नहीं है अब, तो बड़ा मुश्किल हो गया। मैं तो रोज-रोज कल के लिए जिया और आज अचानक पाता हूं कि आज के साथ ही सब समाप्त होता है और कल नहीं है। 'फ्यूचर ओरियेंटेड लिविंग' जो है, वह फलासक्ति का अर्थ है। भविष्य-केंद्रित जीवन।

एक ऐसा कर्म भी है, जो भविष्य से खिंचाव की तरह नहीं निकलता, बल्कि 'स्पांटेनियस' है और झरने की तरह हमारे भीतर से फूटता है। जो हम हैं, उससे निकलता है। जो हम होंगे, उससे नहीं। रास्ते पर आप जा रहे हैं, किसी आदमी का—आपके सामने चल रहा है, उसका छाता गिर गया है, आपने उठाया और छाता दे दिया। न तो छाता देते वक्त यह खयाल आया कि कोई 'प्रेसरिपोर्टर' आसपास है या नहीं; न छाता देते वक्त यह खयाल आया कि कोई 'फोटोग्राफर' आसपास है या नहीं; न

छाता देते वक्त यह खयाल आया कि कोई देख रहा है कि नहीं देख रहा है; न छ
ाता देते वक्त यह खयाल आया कि यह आदमी धन्यवाद देगा कि नहीं; तो यह कर्म
फलासक्तिरहित हुआ। यह आपसे निकला सहज। लेकिन समझें कि उस आदमी ने
आपको धन्यवाद नहीं दिया, दबाया छाता और चल दिया। और अगर मन में विषाद
की जरा-सी भी रेखा आई, तो आपको फलाकांक्षा का पता नहीं था लेकिन अचेतन
में फलाकांक्षा प्रतीक्षा कर रही थी। आप सचेतन नहीं थे कि इसके धन्यवाद देने के
लिए मैं छाता उठाकर दे रहा हूं, लेकिन अचेतन मन मांग ही रहा था कि धन्यवाद
दो। उसने धन्यवाद नहीं दिया, उसने छाता दबाया और चल दिया, तो आपके मन
में विषाद की एक रेखा छूट गई और आपने कहा कि यह कैसा कृतघ्न, कैसा अकृ
तज्ञ आदमी है! मैंने छाता उठाकर दिया और धन्यवाद भी नहीं! तो भी फलाकांक्षा
हो गई। अगर कृत्य अपने में पूरा है, 'टोटल', अपने से बाहर उसकी कोई मांग ही
नहीं है, तो फलाकांक्षारहित हो जाता है।

कोई भी कृत्य जो अपने में पूरा है, 'सर्किल' की तरह है; वृत्त की तरह अपने को
घेरता है और पूर्ण हो जाता है और अपने से बाहर की कोई अपेक्षा ही उसमें नहीं
है। बल्कि छाता देकर आपने उसे धन्यवाद दिया कि तूने मुझे एक पूर्ण कृत्य करने
का मौका दिया, जिसमें कि कोई आकांक्षा न थी वह अवसर मेरे लिए दे दिया! फल
ाकांक्षा से भरा हुआ व्यक्ति किसी-न-किसी तरह की आकांक्षा, अपेक्षा से भरा होगा।
लेकिन जब पूर्ण कृत्य होता है तो वह इतना आनंद दे जाता है कि उसके पार को
ई मांग नहीं है। फलाकांक्षारहित कृत्य का मेरी दृष्टि में जो अर्थ है वह यह है कि
कृत्य पूर्ण हो, उसके बाहर कोई सवाल ही नहीं है। वह खुद ही इतना आनंद दे जा
ता है, वह खुद ही अपना फल है, कृत्य ही अपना फल है, आज ही अपना फल है,
यही क्षण अपना फल है।

जीसस एक गांव से गुजर रहे हैं और उस गांव के आसपास लिली के फूलों के बड़े
खेत हैं और वह अपने शिष्यों से कहते हैं कि देखते हो इन लिली के फूलों को? शि
ष्य बड़ी देर से देख रहे थे, लेकिन नहीं देख रहे थे, क्योंकि सिर्फ आंखों से तो नहीं
देखा जाता, प्राणों से देखा जाता है। जीसस ने कहा, देखते हो इन लिली के फूलों
को? उन्होंने कहा, देखते हैं, इसमें देखने जैसा क्या है? जैसे लिली के फूल होते हैं,
वैसे हैं। जीसस ने कहा, नहीं, मैं तुमसे कहता हूं कि सोलोमन भी—सम्राट सोलोमन
भी अपनी पूरी प्रतिष्ठा और गौरव में इतना सुंदर न था जितना ये गरीब लिली के
फूल इस गांव के किनारे हैं। जीसस से पूछा कि सोलोमन से इनकी आप क्या तुलन
ा करते हैं? कहां सोलोमन! यहूदी विचार में कुबेर का तुलनात्मक प्रतीक है सोलोम
न। कहां सोलोमन, कहां ये गरीब लिली के फूल, इस अनजाने गांव के रास्तों पर ि
खले! जीसस ने कहा कि नहीं, लेकिन देखो गौर से। सोलोमन भी अपनी पूरी 'ग्लोर
ी' में, जब वह पूरा अपने वैभव पर था तब भी इस एक साधारण से लिली के फूल
के बराबर सुंदर न था।

कोई पूछता है कि क्या कारण है? तो जीसस कहते हैं, फूल अभी और यहीं खिलते हैं, सोलोमन सदा भविष्य में रहता है। और भविष्य का तनाव कुरूप कर जाता है। फूल अभी और यहीं खिलते हैं। फूलों को कल कोई पता नहीं। यही हवा का झोंका सब कुछ है, यही सूरज की किरण सब कुछ है, यही पृथ्वी का टुकड़ा सब कुछ है; यही राह, यही होना, बस यही सब कुछ है, इसके बाहर कुछ होना नहीं। ऐसा नह ीं कि सांझ नहीं आएगी। सांझ अपने से आएगी। आपकी अपेक्षाओं से आती है? आप की आकांक्षाओं से आती है? ऐसा नहीं है कि इन फूलों में बीज नहीं लगेंगे और फ ल नहीं बनेंगे, वे अपने से लगते हैं। आपकी अपेक्षाओं से लगते हैं? लेकिन हम उस पागल औरत की तरह हैं, जिसके बाबत हम सबको पता होगा ही, क्योंकि हम स ब उसकी तरह हैं।

एक पागल औरत एक दिन सुबह अपने गांव से नाराज होकर चली गई। गांव भर के लोगों ने कहा कि यह क्या कर रही हो? कहां जा रही हो? उसने कहा कि अब मैं जा रही हूं, तुमने मुझे बहुत सताया, अब कल से तुम्हें पता चलेगा! पर उन ल ोगों ने कहा कि बात क्या है? उसने कहा, मैं वह मुर्गा अपने साथ लिए जा रही हूं जिसकी बांग देने पर इस गांव में सूरज ऊगा करता था। अब यह सूरज दूसरे गांव में ऊगेगा। वह दूसरे गांव पहुंच गई। सुबह सूरज ऊगा—मुर्गे ने बांग दी, सूरज ऊगा, उसने कहा, अब रोते होंगे नासमझ, क्योंकि अब सूरज इस गांव में ऊग रहा है। उस बूढ़ी औरत के तर्क में कोई खामी है? जरा भी नहीं। उसके मुर्गे की बांग देने से सूरज ऊगता था। और फिर जब दूसरे गांव में भी बांग देने से सूरज ऊगा, तब तो बिलकुल पक्का ही हो गया न, कि अब उस गांव का क्या होगा! मुर्गे ऐसी भ्रांति में नहीं पड़ते, लेकिन मुर्गों के मालिक पड़ जाते हैं। मुर्गे तो सूरज ऊगता है, इसलिए बांग देते हैं, मुर्गों के मालिक समझते हैं कि अपना मुर्गा बांग दे रहा है, इसलि ए सूरज ऊग रहा है।

हम सबका चित्त ऐसा है। भविष्य तो आता है अपने से। वह आ ही रहा है, वह हम ारे रोके न रुकेगा। कल आते हैं अपने से, वे हमारे रोके न रुकेंगे। हम अपने कृत्य को पूरा कर लें, इतना काफी है, उसके बाहर हमें होने की जरूरत नहीं है। कृष्ण इ तना ही कहते हैं कि तुम्हारा कृत्य पूरा हो—'द एक्ट मस्ट बी टोटल'। 'टोटल' का मतलब है कि उसके बाहर करने को कुछ तुम्हें कुछ भी न बचे, तुम पूरा उसे कर लिए और बात खत्म हो गई। इसलिए वे कहते हैं कि तुम परमात्मा पर छोड़ दो फ ल। परमात्मा पर छोड़ने का मतलब यह नहीं है कि कोई नियंता, कहीं 'कंट्रोलर' कोई बैठा है, उस पर तुम छोड़ दो, वह तुम्हारा हिसाब-किताब रखेगा। परमात्मा प र छोड़ने का कुल इतना ही मतलब है कि तुम कृपा करो, तुम सिर्फ करो और सम ष्टि से उस करने की प्रतिध्वनि आती ही है। वह आ ही जाएगी। जैसे कि मैं इन पह ाड़ों में जोर से चिल्लाऊं और कोई मुझसे कहे कि तुम चिल्लाओ भर, प्रतिध्वनि की चिंता मत करो, पहाड़ प्रतिध्वनि करते ही हैं। तुम पहाड़ों पर छोड़ दो प्रतिध्वनि की बात। तुम नाहक चिंतित मत होओ, क्योंकि तुम्हारी चिंता तुम्हें ठीक से ध्वनि

भी न करने देगी और फिर हो सकता है प्रतिध्वनि भी न हो पाए, क्योंकि प्रतिध्वनि होने के लिए ध्वनि तो होनी चाहिए। फलाकांक्षा कर्म को ही नहीं करने देती। फलाकांक्षा में उलझे हुए लोग कर्म करने से चूक ही जाते हैं, क्योंकि कर्म का क्षण है वर्तमान और फल का क्षण है भविष्य। जिनकी आंखें भविष्य पर गड़ी हैं भविष्य पर, कल पर, फल पर, तो काम तो बेमानी हो जाता है। किसी तरह हम करते हैं। नजर लगी होती है आगे, ध्यान लगा होता है आगे—और जहां ध्यान है, वहीं हम हैं। और अगर ध्यान वर्तमान क्षण पर नहीं है, तो गैर-ध्यान में, 'इनअटेंटिविली' जो होता है, उस होने में बहुत गहराई नहीं होती, उस होने में पूर्णता नहीं होती, उस होने में आनंद नहीं होता है।

कृष्ण की फलाकांक्षारहित कर्म की जो दृष्टि है, उसका कुल मतलब इतना है कि तुम इतना भी अपना हिस्सा भविष्य के लिए मत तोड़ो कि इस काम में बाधा पड़ जाए, तुम इस काम को पूरा ही कर लो। भविष्य जब आए तब भविष्य में पूरे हो लेना, कृपा करके अभी तुम पूरे हो लो। अभी तुम इसी में पूरे हो लो, भविष्य आएगा। और तुम्हारे पूरे होने से फल निकलेगा। उसकी तुम चिंता ही मत करो, उसे तुम निश्चिंत हो परमात्मा पर छोड़ सकते हो। इसका मतलब यह हुआ कि हम जो कर रहे हैं वह हमारा आनंद हो जाए, तभी हम भविष्य से और फल से बच सकते हैं। जो हम कर रहे हैं वह हमारे आनंद से सृजित हो, वह हमारे आनंद से निकले, उसका आविर्भाव हमारे आनंद से हो, वह हमारे भीतर से झरने की तरह फूटे—किसी भविष्य के लिए नहीं; पशु की तरह नहीं, झरने की तरह। झरना किसी भविष्य के लिए नहीं फूट रहा है।

भला आप सोचते होंगे कि नदियां सागर के लिए बह रही हैं, गलती में हैं आप। सागर तक पहुंच जाती हैं, यह दूसरी बात है। नदियां बहती हैं अपने वेग से, नदियां बहती हैं अपने 'ओरिजनल सोर्स' की क्षमता से। गंगोत्री की क्षमता से गंगा बहती है। सागर तक पहुंचती है, यह बिलकुल दूसरी बात है। इस पूरी लंबी यात्रा में गंगा को सागर से कुछ लेना-देना नहीं है। सागर मिलेगा कि नहीं मिलेगा, इससे कोई संबंध ही नहीं है। गंगा की भीतरी ऊर्जा इतनी है कि वह बहाए लिए जाती है, बहाए लिए जाती है, और हर तट पर गंगा नाच रही है। कोई सागर के तट पर ही नाचती है, ऐसा नहीं, हर तट पर नाच रही है। पत्थरों में, पहाड़ों में, गड्ढों में, ऊंचाइयों पर, नीचाइयों में, सुख में, दुख में, निर्जन में, रेगिस्तान में, वृक्षों में, हरियाली में, मनुष्यों में, न-मनुष्यों में, वह हर जगह नाच रही है। जहां है जिस तट पर पहुंचने के लिए वह किसी तट से जल्दी में नहीं है। फिर एक दिन वह सागर तक पहुंच जाती है। सागर तक पहुंच जाना उसके जीवन की फलश्रुति है। वह फल है, लेकिन उस फल के लिए कहीं कोई आकांक्षा नहीं है। एक झरना फूट रहा है, अपनी भीतरी ऊर्जा से उसका कृत्य फूटता है। कृष्ण यह कह रहे हैं कि आदमी ऐसा जिये कि अपनी भीतरी ऊर्जा से फूटता रहे। मेरी दृष्टि में संन्यासी में और गृहस्थ में यही फर्क है। गृहस्थ रोज कल के लिए जीता है, संन्यासी आज की ऊर्जा से फूटता है और जीत

ा है। आज पर्याप्त है। कल आएगा, वह भी आज की तरह आएगा, उसमें भी हम आज की तरह जी लेंगे।

मुहम्मद के जीवन में एक छोटी-सी घटना है। मुहम्मद उन थोड़े-से संन्यासियों में हैं जैसे संन्यासी मैं दुनिया में देखना चाहूंगा। मुहम्मद को रोज लोग भेंट कर जाते हैं। कोई मिठाइयां दे जाता है, कोई रुपये दे जाता है, कोई कुछ कर जाता है। सांझ त क जो लोग आते हैं, खाते हैं, पीते हैं, सांझ को मुहम्मद अपनी पत्नी को कहते हैं ि क अब सब बांट दो, क्योंकि सांझ हो गई। तो जो भी होता है, सब बांट दिया जात ा है। सांझ मुहम्मद फिर फकीर हो जाते हैं। उनकी पत्नी उनसे पूछती भी है कि य ह ठीक नहीं है, कल के लिए कुछ बचाना उचित है, तो मुहम्मद कहते हैं कि जो आज आया था, कल उसकी फिर प्रतीक्षा करेंगे। और जब आज बीत गया, तो कल भी बीत जाएगा। और फिर वह अपनी पत्नी से कहते हैं कि क्या तू मुझे नास्तिक समझती है कि मैं कल का इंतजाम करूं? कल का इंतजाम नास्तिकता है। कल का इंतजाम इस बात की सूचना है कि जिस समष्टि ने मुझे आज दिया, कल पता नहीं देगी, नहीं देगी! कल का इंतजाम अश्रद्धा है। कल का इंतजाम अश्रद्धा है जागतिक ऊर्जा पर, विश्व-प्राण पर। जिसने मुझे आज दिया, वह कल मुझे देगा या नहीं देगा , इसलिए मैं इंतजाम कर लूं। लेकिन मैं कितना इंतजाम कर पाऊंगा, क्या इंतजाम कर पाऊंगा और मेरे इंतजाम कहां तक काम पड़ेंगे। मुहम्मद कहते हैं, बांट दे, क ल सुबह फिर श्रद्धा से प्रतीक्षा करेंगे। मुहम्मद कहते हैं, मैं आस्तिक हूं। तो कल के लिए बचाकर नहीं रख सकता, नहीं तो परमात्मा क्या कहेगा कि ऐ मुहम्मद, तेरा इतना भी भरोसा नहीं! तो रोज सांझ सब बंट जाता है।

फिर मुहम्मद की मौत आती है। मरने की रात, चिकित्सकों ने कहा है कि आज वह बच न सकेंगे। तो उनकी पत्नी ने सोचा कि आज तो कुछ बचा लेना चाहिए, रात दवा-दारू की जरूरत हो सकती है! खैर, कल सुबह कोई लाएगा, वह तो ठीक है, लेकिन आधीरात कौन लाएगा? तो उसने पांच दीनार, पांच रुपये तकिये के नीचे ि छपा दिए। सांझ को जब सब बांटा है, पांच रुपये छिपा दिए। रात को बारह बजे मु हम्मद बड़ी तड़फन में हैं, बड़ी पीड़ा में हैं। आखिर उन्होंने अपनी चादर उघाड़ी और अपनी पत्नी से पूछा कि मैं सोचता हूं, समझता हूं कि मालूम होता है आज गरीब मुहम्मद गरीब नहीं है। कुछ घर में बचा है। उसकी पत्नी तो बहुत घबड़ा गई। उ सने कहा आपको कैसे पता चला? तो मुहम्मद ने कहा कि तेरे चेहरे को देखकर प ता चलता है, क्योंकि आज तू वैसी निश्चिंत नहीं है जैसी सदा निश्चिंत है। घर में तूने जरूर कुछ बचाया है। जो चिंतित हैं वे भी बचा लेते हैं, जो बचा लेते हैं वे भी चिंतित हो जाते हज, वह 'विसियस सर्किल' है। तो मुहम्मद कहते हैं, उसे निकाल और बांट दे अभी। मुझे शांति से मरने दे। आखिरी रात, कहीं ऐसा न हो कि पर मात्मा कहे कि आखिरी रात मुहम्मद, तू चूक गया! और जब मैं उसके सामने जाऊं तो अपराधी की तरह खड़ा होना पड़े। निकाल कहां है? उसकी पत्नी ने घबड़ाहट में वे पांच रुपये जो छिपा रखे थे कि रात दवा-दारू की जरूरत पड़े, निकाले। मुहम्

मद ने कहा, किसी को भी पुकार दे सड़क से। तब उसने कहा, आधी रात कौन हो गा? उन्होंने कहा, तू पुकार दे। पुकार दी गई है, कोई बाहर सड़क पर भिखारी था वह भीतर आ गया। मुहम्मद ने कहा, देख, आधी रात को लेने वाला आ सकता है तो देने वाला भी आ सकता है। तू उसको दे दे। ये पांच रुपये दे दे। वे पांच रुपये उसे दे दिए गए, फिर मुहम्मद ने चादर ओढ़ ली और वह उनका आखिरी कृत्य था उनका चादर ओढ़ना। मुहम्मद डूब गए उसी वक्त। जैसे वे पांच रुपये अटकाव थे। जैसे वे पांच रुपये बाधा थे। जैसे वे पांच रुपये पीड़ा थे। जैसे वह पांच रुपये की गांठ उस संन्यासी को भारी पड़ रही थी, रोके हुए थी।

प्रत्येक कृत्य और प्रत्येक क्षण और प्रत्येक दिन अपने में पूरा होता जाए, तो भी कल आता है। कल सदा आता रहा है, लेकिन तब कल रोज नया होता है। बासा नहीं होता। और तब कल जैसा अभी आता है, वह 'फ्रस्ट्रेट' नहीं करता। कल हमें विषाद से भर देगा अगर आज की हमारी अपेक्षाओं के विपरीत पड़ा। और किन अपेक्षाओं के अनुकूल भविष्य पड़ता है! कभी नहीं पड़ता। क्योंकि भविष्य इतने विराट पर निर्भर है और हमारी अपेक्षाएं इतने क्षुद्र पर निर्भर हैं कि इस क्षुद्र की अपेक्षाएं इस विराट में कैसे पूरी होंगी! उनका कोई पता ही नहीं चलेगा। यह ऐसा ही है जैसे कि नदी की बहती धार में एक बूंद तय करती हो कि अगर पश्चिम को कल बहें तो बड़ा अच्छा। नदी की पूरी धार में एक बूंद कहां निर्णायक होगी कि पश्चिम को बहें। नदी को जहां बहना है, बहेगी। एक बूंद उसके साथ ही होगी, लेकिन कल दुखी होगी। क्योंकि उसने तय किया था पश्चिम बहने का और नदी पूरब बही जा रही है और तब विषाद और पीड़ा भर जाएगी। अपेक्षाएं, फलाकांक्षाएं, विषाद, दुख, 'फ्रस्ट्रेशन' और पीड़ा से भर जाती हैं, असफलताओं से भर जाती हैं। जो आदमी प्रतिपल पूरा जी रहा है, उसके जीवन में विषाद नहीं है।

इसलिए जो कर रहे हैं, उस करने में पूरे हो जाएं और फल परमात्मा पर छोड़ दें। ऐसा जो करेगा, तो कृष्ण कहते हैं, वह जन्म के, जन्मरूपी बंधन से छूट जाता है। और वह बड़े मजे की बात कह रहे हैं। वह यह कह रहे हैं, जन्मरूपी बंधन से। जन्म बंधन है, ऐसा वह नहीं कह रहे हैं। असल में जो आदमी फलाकांक्षा से भरा है, वह आदमी जन्म लेने की आतुरता से भरा होता है। क्योंकि फल को पूरा करने के लिए कल तो होना चाहिए न! जो आदमी फलों में जीता है, वह आदमी जन्म लेने की आतुरता में जीता है। उसे जन्म लेना ही पड़ेगा। और जो आदमी फलों में जीता है उसके लिए जन्म बंधन बन जाता है। वह उसकी मुक्ति नहीं रहती। रहेगी नहीं मुक्ति। क्योंकि जन्म का भी आनंद उसे नहीं है। आनंद तो उसे कुछ फल मिलने का है। जन्म भी उसके लिए आनंद नहीं है। जन्म भी एक अवसर है, जिसमें वह कुछ फलों को पाकर आनंदित होना चाहता है। मृत्यु उसके लिए दुख होगी, क्योंकि मृत्यु उसे उन सब मार्गों को तोड़ देगी जिन मार्गों से भविष्य में जिआ जा सकता था। और जन्म उसके लिए बंधन मालूम पड़ेगा। जन्म उसके लिए इसलिए बंधन मालूम पड़ेगा कि वह जीवन को जानता ही नहीं है, जो मुक्ति है। और एक बार कोई जीवन

को जान ले, तो जन्म भी नहीं रह जाता और मृत्यु भी नहीं रह जाती है। कृष्ण ने उसमें जो बात कही है वह अधूरी है, उसे पूरा किया जाना चाहिए। वह कह रहे हैं, जन्मरूपी बंधन से मुक्त हो जाता है। मैं आपको कहता हूं, वह मृत्युरूपी बंधन से भी मुक्त हो जाता है।

इसका मतलब यह नहीं है कि जन्म और मृत्यु बंधन हैं। इसका मतलब यह है कि जन्म और मृत्यु बंधन प्रतीत होते हैं अज्ञान में। ज्ञानी के लिए तो जन्म और मृत्यु र ह ही नहीं जाते। यह जो बंधन की प्रतीति है, वह अज्ञानी चित्त की प्रतीति है। और जो मुक्ति की प्रतीति है, वह ज्ञानी चित्त की प्रतीति है। जन्म बुरा है, ऐसा वह न हीं कह रहे। लेकिन जैसे हम हैं, उनको जन्म बंधन मालूम होगा। हम जैसे आदमी प्रे म तक को बंधन बना लेते हैं। मेरे पास न-मालूम कितने मित्रों की लड़कियों के, ल. डकों के विवाह के निमंत्रण आते हैं, उसमें लिखा रहता है कि मेरी पुत्री प्रेम के बंध न में बंधने जा रही है; मेरा बेटा विवाह के बंधन में बंध रहा है। हम प्रेम को भी बंधन बना लेते हैं; जबकि प्रेम मुक्ति है। कहना तो यही उचित होगा कि मेरी बेटी प्रेम में मुक्त होने जा रही है। हम कहते हैं, बेटी प्रेम में बंधने जा रही है। हम प्रेम को भी बंधन बना लेते हैं। इसमें प्रेम बंधन है ऐसा नहीं, हम जैसे हैं, हम मृत्यु को भी बंधन बना लेते हैं। हम जैसे हैं, हम पूरे जीवन को ही बंधन बना लेते हैं। हम जैसे हैं हम प्रेम को भी बंधन बना लेते हैं। हम जैसे हैं, हम पूरे जीवन को ही बंधन ों की एक श्रृंखला बना लेते हैं। जो व्यक्ति क्षण में जीता है, वर्तमान में जीता, फलाकांक्षा से मुक्त जीता, अनासक्त जीता, जो व्यक्ति जीवन को अभिनय की तरह जी ता, जो करता हुआ न करता है, न करता हुआ करता है, ऐसा व्यक्ति जिंदगी में जो भी है उस सबको मुक्ति बना लेता है। उसके लिए बंधन भी मुक्ति हो जाते हैं, हमारे लिए मुक्ति भी बंधन है। यह हमारे होने के ढंग पर निर्भर करता है। इसलिए कृष्ण की बात में कोई जन्म बंधन है, ऐसा जन्म की निंदा नहीं है, हम जैसे हैं, ह मने जन्म को बंधन बनाया है। और अगर हम फलाकांक्षारहित होकर जीना शुरू करें, तो जन्म हमारे लिए बंधन नहीं रह जाएगा। ऐसा व्यक्ति जीवनमुक्ति को उपलब्ध होता है। यही जीवन मुक्ति। यहीं है वह जीवन, अभी है वह जीवन। हमारे देखने पर निर्भर करता है।

मैंने सुना है कि एक विद्रोही को—एक विद्रोही फकीर को, एक सूफी को किसी खली फा ने कारागृह में डाल दिया। उसके हाथों पर जंजीरें डाल दीं, उसके पैरों में बेड़िय ां डाल दीं और वह सूफी, वह फकीर जो निरंतर स्वतंत्रता के गीत गाता था, जेल के सींखचों में डाल दिया गया। सम्राट—वह खलीफा उससे मिलने गया। और उसने पू छा कि कोई तकलीफ तो नहीं है? तो उस फकीर ने कहा, तकलीफ कैसी! शाही मे हमान को तकलीफ कैसे हो सकती है! आप मेजबान, आप 'होस्ट', तकलीफ कैसे ह ो सकती है! हम बड़े आनंद में हैं। झोपड़े से महल में ले आए। उस सम्राट ने कहा, मजाक तो नहीं करते हो? उस फकीर ने कहा, जिंदगी को मजाक समझा, इसीलिए ऐसा कह पाते हैं। तो उसने कहा कि जंजीरें बहुत बोझिल तो नहीं हैं? ये जंजीरें

कोई पीड़ा तो नहीं देतीं? तो उस फकीर ने जंजीरों को गौर से देखा और उसने क
हा कि मुझसे बहुत दूर हैं। मेरे और इन जंजीरों के बीच बड़ा फासला है। सो तुम इ
स भ्रम में होओगे कि तुमने मुझे कारागृह में डाला, लेकिन मेरी मुक्ति को तुम कार
ागृह नहीं बना सकते, क्योंकि मैं कारागृह को भी मुक्ति बना सकता हूं।
इस पर ही सब निर्भर करता है कि हम कैसे देखते हैं। उस फकीर ने कहा, बड़ा फ
ासला है इन जंजीरों में और मुझमें। तुम कैसे मुझ पर जंजीरें डालोगे? मंसूर को सू
ली दी गई और मंसूर के हाथ-पैर काटे गए और लाखों लोग देखने इकट्ठे थे, लेकिन
मंसूर हंसता ही रहा, और उसकी हंसी बढ़ती ही गई। जब उसके पैर काटे, तब व
ह जितना हंस रहा था, जब हाथ काटे तब और जोर से हंसने लगा। लोगों ने पूछा
कि पागल मंसूर, यह कोई हंसने की घड़ी है? मंसूर ने कहा कि मैं इसलिए हंस रहा
हूं कि तुम समझ रहे हो कि मुझे मार रहे हो, और तुम किसी और को काटे जा
रहे हो! याद रखना, मंसूर ने कहा, कि मंसूर को जब तुम काट रहे थे तब वह हंस
रहा था। ध्यान रखना कि तुम मंसूर को छू भी नहीं सकते हो, काटना तो बहुत दू
र की बात है। और तुम जिसे काट रहे हो, वह मंसूर नहीं है। मंसूर तो वही है जो
हंस रहा है। तब तो जो जल्लाद उसको काट रहे थे, जो उसके दुश्मन उसे काट र
हे थे उन्होंने कहा कि कैसे हंसता है हम देखें, उन्होंने जीभ काट दी मंसूर की, लेकि
न तब मंसूर की आंखें हंस रही थीं। इन लाखों लोगों ने कहा, जीभ तो तुमने काट
दी, लेकिन मंसूर हंस रहा है, उसकी आंखें हंस रही हैं। उन जल्लादों ने उसकी आं
खें फोड़ दीं। लेकिन मंसूर का चेहरा हंसता रहा। उसका रोआं-रोआं हंस रहा था।
लोगों ने का तुम इसको न रुला सकोगे। अब इस आदमी के पास काटने को भी कुछ
नहीं बचा, लेकिन उसका पूरा अस्तित्व हंस रहा है।
जीवन वैसा ही हो जाता है, जैसे हम हैं। जन्म वैसा ही हो जाता है, जैसे हम हैं। मृ
त्यु वैसी ही हो जाती है, जैसे हम हैं। यदि हम मुक्ति हैं, तो जन्म मुक्ति है, जीवन
मुक्ति है, मृत्यु मुक्ति है। यदि हम बंधे हैं, पाश में पशु हैं, तो जन्म बंधन है, जी
वन बंधन है, प्रेम बंधन है, मृत्यु बंधन है, सब बंधन है। परमात्मा भी तब एक बंध
न की तरह ही दिखाई पड़ता है।

'पहले एक चर्चा में आपने कहा था कि पुरुष में साठ प्रतिशत पुरुष और चालीस प्रि
तशत स्त्री, तथा स्त्री में साठ प्रतिशत स्त्री और चालीस प्रतिशत पुरुष होता है। यदि
दोनों शक्तियों का पचास-पचास प्रतिशत अनुपात हो जाए, तो क्या वह शक्ति नपुं
सक होगी? और परमात्मा को अर्द्धनारीश्वर क्यों कहा है?'

* मैंने ऐसा नहीं कहा था कि साठ और चालीस का अनुपात होता है, उदाहरण के
लिए कहा। अनुपात बहुत हो सकते हैं। सत्तर-तीस भी हो सकता है, अस्सी-बीस भी
हो सकता है, नब्बे-दस भी हो सकता है, इक्यावन-उनचास भी हो सकता है। और
पचास-पचास भी हो सकता है। और जब पचास-पचास होता है, तभी 'एसेक्सुअलि

टी' पैदा हो जाती है। तभी वह व्यक्ति यौन की दृष्टि से द्वंद्व के बाहर हो जाता है, जिसको हम नपुंसक या 'इम्पोटेंट' कह रहे हैं।
यह बड़े मजे की बात है कि इस मुल्क ने ब्रह्म शब्द को नपुंसकलिंग में रखा है। ब्रह्म पुरुष है कि स्त्री? नहीं, ब्रह्म 'इम्पोटेंट' है। वह जो कि 'ऑमनीपोटेंट' है, वह जो कि सर्वशक्तिमान है, उसको हमने जो लिंग रखा है वह नपुंसकलिंग में रखा है। क्योंकि वह कैसे स्त्री हो सकता है, वह पक्ष हो जाएगा। वह कैसे पुरुष हो सकता है, वह पक्ष हो जाएगा। वह निष्पक्ष है। निष्पक्ष है, तो वह पचास-पचास दोनों पूरा है, तभी निष्पक्ष हो सकता है। अर्द्धनारीश्वर की कल्पना ब्रह्म की कल्पना है। उसमें नारीत्व और पुरुषत्व आधा-आधा है। वह दोनों है एकसाथ। क्योंकि वह दोनों नहीं है। अगर पुरुष है तो स्त्री-तत्व का इस जगत में कहां से आविर्भाव होगा? अगर वह स्त्री है, तो पुरुष-तत्व कहां से आएगा, कहां से शुरू होगा, कहां से पैदा होगा? वह दोनों ही है। एकसाथ दोनों है। इसलिए दोनों को पैदा कर पाता है।
और हम जब तक स्त्री-पुरुष हैं, तब तक हम परमात्मा के टूटे हुए दो हिस्से हैं। इसलिए स्त्री-पुरुष का आपसी आकर्षण एक होने का आकर्षण है। स्त्री-पुरुष का आकर्षण पूरा होने का आकर्षण है। वह आधे-आधे हैं। अर्द्धनारीश्वर की हमारी कल्पना और हमारी प्रतिमा बड़ी अनूठी है। दुनिया ने बहुत प्रतिमायें बनाई हैं, लेकिन अर्द्धनारीश्वर में जो बहुत मनोवैज्ञानिक सत्य है, उसका कोई मुकाबला नहीं है। अर्द्धनारीश्वर में हम इतना ही कह रहे हैं कि परमात्मा दोनों हैं, एक-साथ, और पूरा है। एक पहलू उसका स्त्रैण है, एक पहलू उसका पुरुष है। या ऐसा कहें कि वह दोनों का सम्मिलन है, दोनों का मध्य है; दोनों का 'बियांड' है, दोनों का पार है।
यह जो मैंने कहा कि परमात्मा को, ब्रह्म को, यह जो मध्य की स्थिति है, जीसस ने एक बहुत अच्छा शब्द उपयोग किया है, 'यूनचेज़ ऑफ गॉड'। जीसस ने कहा है कि जिसे प्रभु को पाना है, उसे प्रभु के लिए नपुंसक हो जाना पड़ेगा। बड़ी अजीब बात कही है। पर कही बिलकुल ठीक है। जिसे प्रभु को पाना है, उसे प्रभु जैसा होना ही पड़ेगा। इसलिए बुद्ध अपनी पूरी गरिमा में, या कृष्ण अपनी पूरी गरिमा में न स्त्री हैं, न पुरुष हैं। अपनी पूरी गरिमा में वे दोनों हैं। अपनी पूरी गरिमा में वे मिश्रित हैं। अपनी पूरी गरिमा में एक अर्थ में वे 'ट्रांसेंडेंटल सेक्स' हैं, वे पार हो गए दोनों द्वंद्वों के और दोनों के बाहर हो गए। लेकिन हमारे बीच द्वंद्व है। मात्राओं का द्वंद्व है।
और जो उन्होंने पूछा कि जो हमारे बीच 'थर्ड सेक्स' पैदा होता है कभी, उसका क्या कारण है? उसका वही कारण है। अगर उसके भीतर 'फिजियोलाज़िकली', शारीरिक तल पर दोनों तत्व समान रह गए, तो उसका लिंग विकसित नहीं हो पाता किसी भी दिशा में। उसकी जाति ठीक से विकसित नहीं हो पाती। दोनों बराबर समतुल शक्तियां एक-दूसरे को काट जाती हैं। यह भी संभव हो गया है, पहले तो कभी-कभी आकस्मिक होता था कि कोई स्त्री बाद के जीवन में पुरुष हो गई, या कोई पुरुष बाद में स्त्री हो गया।

लंदन में पीछे एक बड़ा मुकदमा चला। और सनसनीखेज मुकदमा था। और मुकदमा यह था कि एक लड़की और एक लड़के का विवाह हुआ, लेकिन विवाह के बाद व ह लड़की जो थी वह लड़का हो गई। और अदालत में जो मुकदमा था वह यह था ि क उस लड़की ने धोखा दिया, वह लड़का थी ही। बड़ी कठिनाई हुई इस मुकदमे में। उस लड़की का तो कहना था, वह लड़की थी, और वह विकास उसमें बाद में हुआ है। लेकिन तब तक विज्ञान इस संबंध में बहुत साफ नहीं था। लेकिन अभी इधर ब ीस-पच्चीस वर्षों में विज्ञान बहुत साफ हुआ। और घटनाएं बहुत तरह की घटी हैं, ि जनमें 'सेक्स'-रूपांतरण हुआ, जिनमें कोई पुरुष स्त्री हो गया, कोई स्त्री पुरुष हो ग ई। अगर यह 'मार्जिनल केसेज' हैं, अगर उन्चास और इक्यावन का 'मार्जिन' है, त ो बदलाहट कभी भी हो सकती है। थोड़े-से 'केमिकल' फर्कों से बदलाहट हो सकती है। और अब, अब तो बहुत सुविधापूर्ण हो गई है बात और भविष्य में बहुत ज्यादा दिन नहीं हैं कि कोई आदमी जिंदगी भर पुरुष रहने का ही कष्ट भोगे, या कोई स्त्री जिंदगी भर स्त्री रहने के ही चक्कर में रहे। इसमें बदलाहट कभी भी की जा सकत ी है। यह 'सेक्स' जो है, यह रूपांतरित हो सकेगा, क्योंकि उसके 'केमिकल' सूत्र सा रे खयाल में आ गए हैं कि अगर एक 'केमिकल' की मात्रा बढ़ा दी जाए व्यक्तित्व के शरीर में, 'हारमोन्स' बदल दिए जाएं, तो उस व्यक्तित्व में स्त्री प्रगट हो सकती है—फिर पुरुष स्त्री हो सकता है, स्त्री पुरुष हो सकती है।

स्त्री और पुरुष एक ही तरह के व्यक्ति हैं, सिर्फ मात्राओं के फर्क हैं उनमें कुछ। उन मात्राओं के कारण सारी-की-सारी बात है।

अर्द्धनारीश्वर इस बात की सूचना है कि विश्व का मूलस्रोत न तो स्त्री है न तो पुरु ष है। वह दोनों एकसाथ हैं। लेकिन क्या मैं आपसे यह कहूं कि वह जो 'इम्पोटेंट' हैं , नपुंसक है, वह परमात्मा के ज्यादा निकट पहुंच जाएगा? यह मैं नहीं कह रहा हूं। परमात्मा दोनों हैं और नपुंसक दोनों नहीं हैं।

इस फर्क को आप खयाल में ले लेना।

परमात्मा दोनों हैं एकसाथ, और जिसे हम नपुंसक कहें, वह दोनों नहीं है। नपुंसक हमारा सिर्फ अभाव है, 'एब्सेंस' है। और परमात्मा भाव है, 'प्रेजेंस' है। परमात्मा में स्त्री और पुरुष दोनों हैं। इसलिए अर्द्धनारीश्वर की प्रतिमा है, उसमें आधी स्त्री है, आधा पुरुष है। हम परमात्मा को नपुंसक जैसा भी बना सकते थे, जिसमें न स्त्री ह ोती, न पुरुष होता; लेकिन वह अभाव होता। परमात्मा दोनों का भाव है, दोनों की 'पाज़िटिविटी' है। और जिसे हम नपुंसक कहते हैं, वह बेचारा दोनों का अभाव है। उसके पास कोई व्यक्तित्व नहीं है, इसलिए उसकी पीड़ा का कोई अंत नहीं है। इस लिए जब जीसस कहते हैं, 'यूनचेज़ ऑफ गॉड, तब वह बिलकुल कह रहे हैं कि पर मात्मा में, परमात्मा के लिए वे न स्त्री रह जाएं, न पुरुष हो जाएं; और तब वे दो नों रह जाएंगे, दोनों हो जाएंगे।

'जैन-शास्त्रों में क्यों कहा है कि स्त्रियों के लिए मोक्ष नहीं है?'

* बात जरा बदल जाएगी। एक सवाल छोटा-सा पूछा है। बात बदल जाएगी, इसलिए थोड़े में करें, फिर हम ध्यान के लिए बैठेंगे। पूछा है कि जैन-शास्त्रों में क्यों कहा है कि स्त्रियों के लिए मोक्ष नहीं है। उसका कारण है कि जैन-शास्त्र पुरुष-चित्त के द्वारा निर्मित शास्त्र हैं। जैन-साधना पुरुष-साधना है। जैन-साधना की पूरी प्रक्रिया 'एग्रेसिव' है, आक्रामक है। और इसलिए जैन-शास्त्र सोच नहीं सकता कि स्त्री को कैसे मोक्ष हो सकता है? अगर कृष्ण के भक्त से हम पूछें तो वह बहुत मुश्किल में पड़ेगा! वह कहेगा, स्त्री के सिवाय और किसी का मोक्ष हो ही कैसे सकता है! पुरुष का मोक्ष होगा कैसे! क्योंकि कृष्णभक्त अगर पुरुष भी हैं, तो अपने को स्त्री बनाकर कृष्ण के प्रेम में पड़ता है। मीरा जब गई वृंदावन और वहां के मंदिर में प्रवेश पर उस पर रोक लगाई गई, क्योंकि प्रवेश में, उस मंदिर में जो पुजारी था वह स्त्रियों को नहीं देखता था। और जब मीरा को रोका तो मीरा ने कहा, एक सवाल उन पुजारी से पूछ लो कि क्या कृष्ण के अलावा और कोई पुरुष भी है? और कृष्ण के पुजारी होकर अभी तक पुरुष बने हुए हो? तो उस पुजारी ने कहा, उसको आने दो। मेरी भूल मुझे पता चल गई, मैं गलती में था। तो कृष्ण के आसपास तो 'पैसिव', समर्पण, 'सरेंडर', वह जो स्त्री का चित्त है वह।

महावीर के आसपास पुरुष-चित्त की गति है। महावीर स्वयं पुरुष-चित्त के साधक हैं। उनकी सारी साधना पुरुष-चित्त की साधना है, इसलिए महावीर सोच भी नहीं सकते, मान भी नहीं सकते कि स्त्री मोक्ष जा सकती है। तो महावीर की परंपरा में स्त्री को थोड़ी प्रतीक्षा करनी पड़े, उसे एक पर्याय और लेनी पड़े, एक बार पुरुष होना पड़े, फिर ही वह जा सकती है। और मैं मानता हूं कि इसमें गलती नहीं है। अगर महावीर की ही साधना करनी हो तो दुनिया में कोई स्त्री नहीं कर सकती। स्त्रैण-चित्त ही महावीर की साधना नहीं कर सकता। सिर्फ पुरुष-चित्त ही कर सकता है। और अगर पुरुष चित्त की साधना करनी हो, तो कृष्ण के साथ बहुत कठिनाई है। हो नहीं सकती। पुरुष-चित्त का कृष्ण से तालमेल नहीं बैठेगा।

ये हमारे जो दो चित्त हैं, इन दो चित्तों पर सब कुछ निर्भर करता है।

फिर कल सुबह बात करेंगे।

20 राजपथरूप भव्य जीवनधारा के प्रतीक कृष्ण

'भगवान श्री, महावीर की वीतरागता, क्राइस्ट की 'होली इनडिफरेंस', बुद्ध की उपेक्षा, कृष्ण की अनासक्ति, इनमें क्या सूक्ष्म समानता व भिन्नता है? इस पर प्रकाश डालें।'

*** क्राइस्ट की तटस्थता, बुद्ध की उपेक्षा, महावीर की वीतरागता और कृष्ण की अनासक्ति, इनमें बहुत-सी समानताएं हैं, लेकिन बुनियादी भेद भी हैं। समानता अंत पर है, उपलब्धि पर है, भेद मार्ग में हैं। अंतिम क्षण में ये चारों बातें एक ही जगह पहुंचा देती हैं। लेकिन चारों के रास्ते बड़े अलग-अलग हैं।**

जीसस जिसे तटस्थता कहते हैं, बुद्ध जिसे उपेक्षा कहते हैं, इनमें बड़ी गहरी समानता है। यह जगत जैसा है, इस जगत की धाराएं जैसी हैं, इस जगत के अंतद्व्रद्व जैसे हैं, इस जगत के भेद और विरोध जैसे हैं, उनके प्रति कोई तटस्थ हो सकता है। लेकिन तटस्थता कभी भी प्रसन्नता नहीं हो सकती। तटस्थता बहुत गहरे में उदासी बन जाएगी। इसलिए जीसस उदास हैं। और अगर वे किसी आनंद को भी पाते हैं, तो वह इस उदासी के रास्ते से ही उन्हें उपलब्ध होता है। लेकिन उनका पूरा रास्ता उदास है। वे इस जीवन के पथ पर गीत गाते हुए नहीं निकलते। तटस्थता उदासी बन ही जाएगी। और जीसस की तटस्थता बहुत उदासी बन गई है।

अगर न मैं यह चुनूं, न वह चुनूं, अगर कोई चुनाव न हो, तो मेरे भीतर की बहने वाली सारी धाराएं रुक जाएंगी। नदी न पूरब बहे, न पश्चिम बहे, न दक्षिण बहे, न उत्तर बहे, तटस्थ हो जाए, तो एक उदास तालाब बन जाएगी। तालाब भी सागर तक पहुंच जाता है, लेकिन नदी के रास्ते से नहीं, सूर्य की किरणों के रास्तों से पहुंचता है। लेकिन नदी जो बीच का नाचता हुआ, गीत गाते हुए रास्ता तय करती है, वह भाग्य तालाब का नहीं है। तालाब सूखता है धूप में, गर्मी में, उत्तप्त होता है, उमड़ता है, भाप बनता है, बादल बनता है, सागर तक पहुंच जाता है। लेकिन नदी की मुदिता, उसकी प्रफुल्लता, उसकी 'इक्सटेसी' तालाब को नहीं मिलती। वह उदासी स्वाभाविक है। सूरज की किरणों में तपना और भाप बनना उदास ही हो सकता है। तालाब नाचता हुआ बादलों पर नहीं चढ़ता, नदी नाचती हुई सागर में उतर जाती है। और तालाब सीधा भी सागर तक नहीं पहुंचता, बीच में भाप बनता है, फिर पहुंचता है। तो जीसस एक उदास बादल की तरह हैं, जो आकाश में मंडराता है और सागर की यात्रा करता है। नाचती हुई नदी की भांति नहीं हैं।

तो बुद्ध और जीसस की जीवन-व्यवस्था में थोड़ी निकटता है, लेकिन एकदम निकटता नहीं, क्योंकि बुद्ध और तरह के व्यक्ति हैं। जहां जीसस की तटस्थता जीसस को उदास कर जाती है, वहां बुद्ध की उपेक्षा बुद्ध को सिर्फ शांत कर जाती है, उदास नहीं। उतना फर्क है। बुद्ध की उपेक्षा सिर्फ शांत कर जाती है। न वहां उदासी है जीसस जैसी, न वहां कृष्ण जैसा नाचता हुआ गीत है, न महावीर जैसा झरता हुआ अप्रगट सुख और आनंद है। बुद्ध शांत हैं। तटस्थ हैं वे। तटस्थता तो उदासी ले ही आएगी। वे सिर्फ तटस्थ नहीं हैं। वे उपेक्षा को उपलब्ध हैं। पाया है कि यह भी व्यर्थ है, पाया है कि वह भी व्यर्थ है। इसलिए उत्तेजित होने का उन्हें कोई उपाय नहीं रहा है। उन्हें कोई भी 'आल्टरनेटिव', कोई भी विकल्प उत्तेजित नहीं कर पाता। सब विकल्प समान हो गए हैं। जीसस के लिए तटस्थता है, सब विकल्प समान नहीं हो गए हैं। जीसस अभी भी कहेंगे, यह ठीक है और वह गलत है; यह करो और वह मत करो। यद्यपि वे दोनों तटस्थ हैं, लेकिन बहुत गहरे में उनका चुनाव जारी है। बुद्ध अचुनाव को, 'च्वॉइसलेसनेस' को उपलब्ध होते हैं। बुद्ध को अगर हम ठीक से समझें तो बुद्ध के लिए न कुछ सही है, न कुछ गलत है। सिर्फ चुनाव ही गलत है और अचुनाव सही होना है। 'च्वॉइस' गलत है, 'च्वॉइसलेसनेस' सही है।

इसलिए जीसस अपनी तटस्थता, 'होली इनडिफरेंस' में भी मंदिर में जाकर कोड़ा उठा लेते हैं और सूदखोरों को कोड़े से पीट देते हैं। उनके तख्ते उलट देते हैं। यहूदियों के मंदिर में, 'सिनागॉग' में पुरोहित ब्याज का काम भी करते थे। हर वर्ष लोग इकट्ठे होते थे मेले पर और तब वे उन्हें उधार दे देते थे और सूद लेते थे। और सूद की दरें इतनी बढ़ गई थीं कि लोग अपना मूल तो कभी चुका नहीं पाते थे, ब्याज भी नहीं चुका पाते थे और जिंदगी भर मेहनत करके बस इतना ही काम करते थे कि वे हर वर्ष आकर और पुरोहितों को उनके ब्याज का पैसा चुका जाएं। पूरे मुल्क का धन 'सिनागॉगों' में इकट्ठा होने लगा था। तो जीसस कोड़ा उठा लेते हैं, तख्ते उलट देते हैं सूदखोरों के।

जीसस 'इनडिफरेंट' हैं, तटस्थ हैं, लेकिन चुनाव जारी है। वे कहते हैं कि इस जगत के प्रति एक तटस्थता चाहिए। लेकिन इस जगत में अगर गलत हो रहा है, तो जीसस चुनाव करते हैं। लेकिन बुद्ध को हाथ में हम कोड़ा उठाए हुए नहीं सोच सकते। उनका कोई चुनाव नहीं है। उनका कोई चुनाव ही नहीं है। अचुनाव के कारण वे गहरी 'साइलेंस' को, एक गहरी शांति को उपलब्ध हुए हैं। इसलिए बुद्ध को समझते वक्त शांति सबसे महत्वपूर्ण शब्द है। तो बुद्ध की प्रतिमा से जो भाव प्रगट होता है और झरता है चारों तरफ, वह शांति का है। तालाब भी कम-से-कम धूप की किरणों में भाप बनता है और

आकाश की तरफ उड़ता है। बुद्ध इतने शांत हैं कि वे कहते हैं मैं सागर की तरफ जाने की भी उत्तेजना नहीं लेता हूं, सागर को आना हो तो आ जाए। वे उतनी भी यात्रा करने की तैयारी में नहीं हैं। उतनी यात्रा भी तनाव है।

इसलिए बुद्ध ने सागरवाची जितने भी प्रश्न हैं, सबको इनकार कर दिया। कोई पूछे, ईश्वर है? कोई पूछे, ब्रह्म है? कोई पूछे, मोक्ष है? कोई पूछे, आत्मा का मरने के बाद क्या होता है? इस तरह के जितने भी प्रश्न हैं वह, बुद्ध उनको हंसकर टाल देते हैं; वह कहते हैं, यह पूछो ही मत। क्योंकि अगर कुछ भी है, तो उस तक की यात्रा पैदा होती है और यात्रा अशांति बन जाती है। वह कहते हैं, मैं जहां हूं, वहीं हूं। मुझे कोई यात्रा नहीं करनी, मुझे कोई चुनाव नहीं करना है। इसलिए बुद्ध की उपेक्षा अगर बहुत गहरे में देखें, तो सिर्फ संसार की उपेक्षा नहीं है—जीसस की उपेक्षा सिर्फ संसार की उपेक्षा है, लेकिन परमात्मा का चुनाव जारी है—बुद्ध की उपेक्षा परमात्मा की भी उपेक्षा है। वह कहते हैं, परमात्मा को भी पाना है तो यह भी तो मन की 'डिज़ायर', तृष्णा और ईर्ष्या है। आखिर नदी क्यों सागर को पाना चाहे? और नदी सागर को पाकर पा भी क्या लेगी? अगर सागर में ज्यादा जल है, तो मात्रा का ही फर्क पड़ता है। नदी में भी जल है और सागर के जल में और नदी के जल में फर्क क्या है? बुद्ध कहते हैं, हम जो हैं, हैं। और वहीं शांत हैं। इसलिए बुद्ध की उपेक्षा यात्रा-विहीन है। बुद्ध के गहरे चेहरे पर, बुद्ध की आंखों में यात्रा नहीं देखी जा सकती है। वे स्थिर हैं, ठहर गई हैं, वहीं हैं। जैसे कोई झील बिलकुल शांत हो। न नदी की तरफ भागती हो, न आकाश की तरफ उड़ती हो, बिलकुल शांत हो, एक लहर भी न उठती हो, एक 'रिपिल' भी पैदा न होती हो, ऐसे बुद्ध का होना है।

स्वभावतः बुद्ध की शांति 'निगेटिव' होगी, नकारात्मक होगी। उसमें कृष्ण का प्रगट आनंद नहीं हो सकता, उसमें महावीर का अप्रगट आनंद भी नहीं हो सकता। लेकिन जो इतना शांत होगा, इतना शांत होगा कि जिसे सागर तक पहुंचने की इच्छा भी नहीं है, क्या वह अंततः आनंद को उपलब्ध नहीं हो जाएगा? हो जाएगा, लेकिन वह बुद्ध की भीतरी दशा होगी। उनके अंतरतम में वह आनंद का दीया जलेगा। लेकिन बाहर उनकी सारी-की-सारी आभा, उनका जो प्रभामंडल है, वह शांति का होगा। दीये की गहरी ज्योति तो जहां होगी वहां तो आनंद होगा, लेकिन उसका प्रभामंडल सिर्फ शांति का होगा। बुद्ध को हिलते-डुलते सोचना भी कठिन मालूम पड़ता है। बुद्ध की कोई चिंतना करे, सोचे, तो ऐसा भी नहीं लगता कि यह आदमी उठकर चला भी होगा। उनकी प्रतिमा देखें तो वह ऐसी गलती है जैसे यह आदमी सदा बैठा ही रहा होगा। यह उठा भी होगा, हिला भी होगा, डुला भी होगा, इसने पैर भी उठाया होगा, इसने ओंठ भी खोला होगा, यह बोला भी होगा, ऐसा भी मालूम नहीं पड़ता। बुद्ध की प्रतिमा 'जस्ट स्टिलनेस' की प्रतिमा है। जहां सब चीजें ठहर गई हैं, जहां कोई 'मूवमेंट' नहीं है। किसी तरह की कोई गति नहीं है। तो बुद्ध की आभा जो है, वह शांति की है।

बुद्ध की उपेक्षा समस्त तनावों की उपेक्षा है, चाहे वे तनाव मोक्ष के ही क्यों न हों! कोई आदमी मोक्ष ही क्यों न पाना चाहे, बुद्ध कहेंगे कि पागल हो! कहीं मोक्ष है! कोई कहे, आत्मा पानी है, तो बुद्ध कहेंगे, पागल हो, कहीं आत्मा है? असल में जब तक पाना है तब तक, बुद्ध कहेंगे, तुम न पा सकोगे। तुम उस जगह खड़े हो जाओ जहां पाना ही नहीं है। तब तुम पा लोगे, लेकिन यह बात वह कभी साफ कहते नहीं हैं। क्योंकि अगर वह इतना भी कहें कि तब तुम पा लोगे, तो हम तत्काल पाने को दौड़ पड़ेंगे। तो बुद्ध सिर्फ निषेध करते जाते हैं। वह कहते हैं, न परमात्मा है, न आत्मा है, न मोक्ष है, कोई भी नहीं है, है ही नहीं कुछ। क्योंकि जब तक कुछ है, तब तक तुम पाना चाहोगे और जब तक तुम पाना चाहोगे तब तक तुम न पा सकोगे। क्योंकि जो भी पाना है वह ठहरकर, रुककर, मौन में, थिरता में, शून्य में पाना है। और तुम्हारी चाह, तुम्हारी तृष्णा तुम्हें दौड़ाती रहेगी। तृष्णा मूल है बुद्ध के लिए और उपेक्षा सूत्र है तृष्णा से मुक्ति का। चुनो ही मत, पूछो ही मत कि कहीं जाना है। मंजिल बनाओ ही मत। मंजिल नहीं है कोई।

जीसस के लिए मंजिल है। इसलिए जगत के प्रति वे एक 'होली इनडिफरेंस', पवित्र तटस्थता की बात करते हैं, लेकिन परमात्मा के प्रति उनकी 'इनडिफरेंस' नहीं हो सकती। अगर वैसा कोई 'इनडिफरेंट' आदमी है, तो वह 'अनहोनी इनडिफरेंस' होगी, वह अपवित्र तटस्थता होगी। पवित्र तटस्थता संसार के प्रति है। अगर हम जीसस से पूछें कि बुद्ध तो कहते हैं, कोई परमात्मा नहीं, कैसा परमात्मा? कोई आत्मा नहीं है; कैसी आत्मा? न कुछ पाने को है, न कोई पाने वाला है। बुद्ध तो कहते हैं, जब यह भाव ही तुम्हारा पूरा बैठ जाएगा—इसलिए बुद्ध जो बातें करते हैं वे बहुत अदभुत हैं। अगर उनसे पूछो

कि कोई भी नहीं है? तो वह कहते हैं यह जो हमें दिखाई पड़ रहा है, सिर्फ संघट है, सिर्फ संघात है, सिर्फ एक 'कंपोजीशन' है। जैसे एक रथ है, उसका चाक अलग कर लें, घोड़े अलग कर लें, बल्ली अलग कर लें, तो फिर रथ पीछे नहीं बचता। रथ सिर्फ एक जोड़ है। ऐसे ही तुम भी एक जोड़ हो। यह सारा जगत एक जोड़ है। चीजें टूट जाती हैं, पीछे कुछ भी नहीं बचता—न कोई आत्मा, न कोई परमात्मा। और यही पाने योग्य है। लेकिन, यह सदा बुद्ध भीतर कहते हैं। यह कभी बाहर नहीं कहते। इसलिए जो बहुत गहरे समझ सकते हैं वही समझ पाते हैं, अन्यथा बुद्ध के पास से तृष्णालु व्यक्ति सभी लौट जाते हैं। जिनको कुछ भी पाना है वे कहते हैं, यह आदमी व्यर्थ है। इसके पास पाने को कुछ भी नहीं है, सिर्फ शांत होने को हम नहीं आए, हम कुछ पाने को आए हैं। और बुद्ध उन पर हंसते हैं, क्योंकि वे कहते हैं, शांत होकर ही पाया जा सकता है। वह जो परमात्मा है, शांत होकर ही पाया जा सकता है। वह जो आत्मा है, शांत होकर ही पाया जा सकता है। वह जो मोक्ष है...लेकिन तुम इनको लक्ष्य मत बनाओ। तुम अगर मुझसे पूछोगे, मोक्ष है? और मैं कहूं, है, तो तुम तत्काल लक्ष्य बना लोगे। और लक्ष्य की तरफ दौड़ता आदमी कभी शांत नहीं होता है। इसलिए बुद्ध की अपनी तकलीफ है। उनकी उपेक्षा शांति में ले जाती है—इतनी गहरी शांति में, जहां कोई यात्रा ही नहीं है।

महावीर की वीतरागता बुद्ध की शांति से मेल खाती है, थोड़ी दूर तक, क्योंकि इस जगत में वे भी उपेक्षा के पक्ष में हैं। और थोड़ी दूर तक महावीर की वीतरागता जीसस से मेल खाती है, क्योंकि उस जगत में मोक्ष के प्रति उनका चुनाव है। महावीर मोक्ष के प्रति अचुनाव में नहीं हैं। क्योंकि महावीर कहेंगे कि अगर मोक्ष भी नहीं है, तो फिर शांत होने का भी प्रयोजन क्या है? फिर अशांत होने में हर्ज भी क्या है! अगर कुछ पाने को ही नहीं है, तो फिर चुप और मौन बैठने का प्रयोजन भी क्या है! महावीर कहेंगे कि सब छोड़ा जाए, तो कुछ पाने को है। और जो पाने को है, उसी के लिए सब छोड़ा जा सकता है। इसलिए मोक्ष के प्रति महावीर की उपेक्षा नहीं है। वीतरागता उनकी इस जगत का जो द्वंद्व है उसके पार ले जाने वाली है। निद्व□द्व की उपलब्धि का मार्ग है। लेकिन महावीर की वीतरागता किसी उपलब्धि का मार्ग है। बुद्ध की उपेक्षा अनुपलब्धि का द्वार है, जहां सब शून्य हो जाएगा और सब खो जाएगा।

बुद्ध का संन्यास एक अर्थ में पूर्ण है। उसमें परमात्मा की भी मांग नहीं है। महावीर के संन्यास में मोक्ष की जगह है। और महावीर यह कहते हैं कि संन्यास संभव ही नहीं है अगर मोक्ष नहीं है, तो किसलिए? क्योंकि महावीर का चिंतन बड़ा वैज्ञानिक है और 'कॉज़ल' है। महावीर कहते हैं कि बिना 'कॉज़लिटी' के, बिना कार्य-कारण के कुछ होता ही नहीं। इसलिए वह बुद्ध से राजी न होंगे कि हम सिर्फ शांत हो जाएं बिना किसी वजह के। महावीर कहते हैं, अशांत होने की भी वजह होती है और शांत होने की भी वजह होती है। वे कृष्ण से भी राजी न होंगे इस बात के लिए कि हम सब कुछ स्वीकार कर लें। क्योंकि महावीर कहते हैं कि अगर हम सब कुछ स्वीकार कर लेते हैं, तो हम आत्मवान ही नहीं रह जाते, हम पत्थर की तरह हो जाते हैं। आत्मा के होने का अर्थ ही है, 'डिसक्रिमिनेशन'। महावीर कहते हैं, आत्मवान होने का अर्थ है, विवेक। यह ठीक है और यह गलत है, इस बात का विवेक ही आत्मवान होने का अर्थ है। और जो गलत है उसे छोड़ते जाना है, और राग भी गलत है और विराग भी गलत है, इसलिए दोनों को छोड़ देना है, और वीतरागता को पकड़ लेना है। महावीर के लिए वीतरागता उपलब्धि है और वीतरागता से मोक्ष है।

तो महावीर सिर्फ शांत नहीं हैं, शांत तो हैं ही लेकिन आनंदित भी हैं। मोक्ष की उपलब्धि की किरणें उनके भीतर ही नहीं फैलतीं, उनके शरीर से चारों तरफ नाचने लगती हैं। इसलिए, अगर हम महावीर और बुद्ध को साथ-साथ खड़ा करें, तो बुद्ध बिलकुल 'पैसिव साइलेंस' में हैं, जैसे हों ही न। महावीर 'एक्टिव साइलेंस' में हैं, बहुत होकर हैं, बहुत मजबूती से हैं। हां, उनके होने में चारों तरफ आनंद की प्रखरता है। लेकिन अगर कृष्ण के पास महावीर को खड़ा करें, तो महावीर का आनंद भी 'साइलेंट' मालूम पड़ेगा, शांत मालूम पड़ेगा, और कृष्ण का आनंद भी आंदोलित मालूम पड़ेगा। कृष्ण नाच सकते हैं, महावीर नाच नहीं सकते। अगर महावीर के नाच को देखना है, तो उनकी शांति, मौन, उनकी स्थिरता में ही देखना होगा। वह दिखाई पड़ सकता है, उनके रोएं-रोएं से, उनकी श्वास-श्वास से, उनकी आंख के हिलने-डुलने से, उनके चलने से। सब तरफ से उनका आनंद दिखाई पड़ेगा, लेकिन वे नाच नहीं सकते। यह नाच देखना पड़ेगा, यह 'इनडाइरेक्ट' है, यह परोक्ष है।

तो महावीर की वीतरागता प्रगट रूप से आनंद को घोषित करती है। इसलिए महावीर की प्रतिमा और बुद्ध की प्रतिमा में वही फर्क है। महावीर की प्रतिमा में आनंद प्रगट होता मालूम पड़ेगा, महावीर के बाहर कुछ जाता हुआ मालूम पड़ेगा, बुद्ध एकदम भीतर चले गए हैं, उनके बाहर कुछ जाता हुआ मालूम नहीं पड़ता। वह बिलकुल ऐसे हो गए हैं जैसे न हों। महावीर ऐसे हो गए हैं जैसे पूरी तरह हैं। उनके अस्तित्व की घोषणा समग्र है, इसलिए महावीर ईश्वर को इनकार कर देते हैं, लेकिन आत्मा को इनकार नहीं कर पाते। महावीर कह देते हैं, कोई परमात्मा नहीं है। हो भी कैसे सकता है! मैं ही परमात्मा हूं। इसलिए महावीर कहते हैं, आत्मा ही परमात्मा है। तुम सब परमात्मा हो, कोई और अलग परमात्मा नहीं है। यह घोषणा उनके प्रगाढ़ आनंद, 'एक्सटेसी' से निकलती है। हर्षोन्माद में वे यह घोषणा करते हैं कि मैं ही परमात्मा हूं। कोई और ऊपर परमात्मा नहीं है। क्योंकि महावीर कहते हैं, अगर मुझसे ऊपर कोई भी परमात्मा है, तो फिर मैं कभी पूरी तरह स्वतंत्र न हो पाऊंगा। स्वतंत्रता की फिर कोई संभावना न रही। कोई एक परमात्मा ऊपर बैठा ही है। अगर मेरे ऊपर कोई एक नियंता है, जिसके कानून से जगत चलता है, तो मेरी मुक्ति का क्या अर्थ है! कल अगर वह सोच ले कि वापिस भेज दो इस मुक्त आदमी को संसार में, तो मैं क्या कर सकूंगा? इसलिए महावीर कहते हैं स्वतंत्रता की 'गारंटी' सिर्फ इसमें है कि परमात्मा न हो। परमात्मा और स्वतंत्रता दोनों साथ-साथ नहीं चल सकते हैं। इसलिए परमात्मा को इनकार कर देते हैं, लेकिन आत्मा को बड़ी प्रगाढ़ता से घोषित करते हैं कि आत्मा ही परमात्मा है। इसलिए महावीर में प्रगट आनंद दिखाई पड़ता है। वह उनकी वीतरागता।

वीतरागता में वे बुद्ध से सहमत हैं अचुनाव के लिए। राग और विराग में चुनाव नहीं करना है। लेकिन संसार और मोक्ष में चुनाव नहीं करना है, इस बात मग वे बुद्ध से राजी नहीं हैं। वे कहते हैं, संसार और मोक्ष में तो चुनाव करना ही है। इस मामले में वे जीसस से राजी हैं। इस मामले में जीसस की तटस्थता उनके करीब आती है। लेकिन जीसस का परमात्मा परलोक में है। और मरने के बाद ही जीसस प्रसन्न हो सकते हैं, जब परमात्मा से मिल जाएं। महावीर का कोई परमात्मा परलोक में नहीं है। महावीर का परमात्मा भीतर है और वह यहीं पाकर प्रसन्न हैं। इसलिए जीसस उदास हैं, और महावीर उदास नहीं हैं।

कृष्ण की अनासक्ति का भी तीनों से कुछ तालमेल है और कुछ बुनियादी भेद हैं। कृष्ण को अगर हम इन तीनों का इकट्ठा जोड़, और कुछ ज्यादा कहें, तो कठिनाई नहीं है। कृष्ण की अनासक्ति उपेक्षा नहीं है। कृष्ण कहते हैं, जिसके प्रति उपेक्षा हो गई, उसके प्रति हम अनासक्त नहीं हो सकते क्योंकि उपेक्षा भी विपरीत आसक्ति है। रास्ते से मैं गुजरा और मैंने आपकी तरफ देखा ही नहीं। देखने में भी एक आसक्ति है, न देखने में भी एक आसक्ति है। सिर्फ विपरीत आसक्ति है कि नहीं देखूंगा। और फिर कृष्ण कहते हैं, उपेक्षा किसके प्रति, क्योंकि परमात्मा के अतिरिक्त कुछ है ही नहीं। जिसके प्रति भी उपेक्षा हुई, वह परमात्मा ही है। यह जगत पूरा-का-पूरा ही अगर परमात्मा है, तो उपेक्षा किसके प्रति? और उपेक्षा करेगा कौन? और जो उपेक्षा करेगा वह अहंकार से मुक्त कैसे होगा? उपेक्षा करेगा कौन? मैं करूंगा उपेक्षा? बुरे की उपेक्षा करूंगा अच्छे के लिए, संसार की उपेक्षा करूंगा मोक्ष के लिए। करेगा कौन? और करेगा किसकी? इसलिए उपेक्षा जैसे नकारात्मक और 'कंडेनमेटरी', निंदात्मक शब्द का उपयोग कृष्ण नहीं कर सकते।

तटस्थता का भी उपयोग वह नहीं कर सकते हैं। क्योंकि कृष्ण कहेंगे कि परमात्मा खुद भी तटस्थ नहीं है, तो हम कैसे तटस्थ हो सकते हैं? तटस्थ हुआ नहीं जा सकता। कृष्ण कहते हैं हम सदा धारा में हैं, तट पर हो नहीं सकते। जीवन एक धारा है, जीवन का तट कोई है ही नहीं जिस पर हम खड़े हो जाएं और तटस्थ हो जाएं और हम कह दें, हम धारा के बाहर हैं। हम जहां भी हैं धारा के भीतर हैं, हम जहां भी हैं जीवन में हैं, हम जहां भी हैं अस्तित्व में हैं, तट पर हम खड़े हो नहीं सकते। होना ही, अस्तित्व ही धारा है। इसलिए तटस्थ हम होंगे कैसे? हां, नदी के किनारे हम तट पर खड़े हो जाते हैं। नदी बहती जाती है, हम तट पर खड़े रहते हैं। लेकिन जीवन की ऐसी कोई नदी नहीं है जिसके किनारे हम खड़े हो जाएं। जीवन की नदी का कोई किनारा ही नहीं है। तो तटस्थता शब्द का प्रयोग वे नहीं कर सकते, उपेक्षा शब्द का वे प्रयोग नहीं कर सकते।

वीतराग शब्द का वे इसलिए प्रयोग नहीं कर सकते कि वे यह कहते हैं कि अगर राग बुरा है, अगर विराग बुरा है, तो है ही क्यों? बुरे का अस्तित्व भी कैसे हो सकता है! या तो हम ऐसा मानें कि जगत में दो शक्तियां हैं—एक शुभ की, परमात्मा की शक्ति है; एक अशुभ की, शैतान की शक्ति है। जैसा कि जरथुस्त्र मानते हैं, जैसा कि ईसाई मानते हैं, जैसा कि मुसलमान मानते हैं। उन सबकी तकलीफ यही है कि अगर जगत में अशुभ है, तो फिर अशुभ की शक्ति हमें अलग करनी पड़ेगी परमात्मा से। क्योंकि परमात्मा अशुभ का स्रोत! वह जरथुस्त्र नहीं सोच पाए, मुहम्मद नहीं सोच पाए, जीसस भी राजी नहीं हैं। इसलिए शैतान, 'डेविल', अशुभ की हमें कोई जगह बनानी पड़ती है। कृष्ण यह कहते हैं कि अगर अशुभ भी है, अलग भी है, तो भी क्या, वह परमात्मा की आज्ञा से है, या परमात्मा की आज्ञा के बिना है? उसके होने में भी परमात्मा के सहारे की जरूरत है या वह स्वतंत्र रूप से है? अगर वह स्वतंत्र रूप से है, तब वह ठीक परमात्मा के समतुल शक्ति हो गई। फिर इस जगत में शुभ कभी भी फलित नहीं हो सकता। फिर वह हारेगा भी क्यों? हारने की जरूरत भी क्या है? फिर इस जगत में दो परमात्मा हो गए। और इस जगत में दो परमात्मा की कल्पना असंभव है।

इसलिए कृष्ण कहते हैं कि शक्ति तो एक है, और उसी शक्ति से सब उठता है। जिस शक्ति से स्वस्थ फल लगता है वृक्ष में, उसी शक्ति से सड़ा हुआ फल भी लगता है। उसके लिए किसी अलग शक्ति के होने की जरूरत नहीं। और जिस चित्त से बुराई पैदा होती है, उसी चित्त से भलाई पैदा होती है, उसके लिए अलग शक्ति की जरूरत नहीं है। शुभ और अशुभ एक ही शक्ति के रूपांतरण हैं। अंधकार और प्रकाश एक ही शक्ति के रूपांतरण हैं। इसलिए कृष्ण यह कहते हैं कि मैं दोनों को छोड़ने को नहीं कहता, दोनों को उसकी समग्रता में जीने को कहता हूं।

अनासक्ति का अर्थ, एक के पक्ष में दूसरे के प्रति आसक्ति नहीं, शुभ के पक्ष में अशुभ की आसक्ति नहीं, अशुभ के पक्ष में या विपक्ष में शुभ की आसक्ति नहीं—आसक्ति ही नहीं। चुनाव ही नहीं। और जीवन जैसा है, इस समग्र जीवन की पूर्ण स्वीकृति और इस समग्र जीवन के प्रति स्वयं का पूर्ण समापन, पूर्ण समर्पण। अनासक्ति का अर्थ यह है कि मैं अलग हूं ही नहीं, एक ही हूं इस जगत से। कौन चुने, किसको चुने? जगत जैसा करवा रहा है वैसा मैं लहर की तरह सागर में बहा जा रहा हूं। मैं अलग हूं ही नहीं।

इसमें कुछ समानताएं मिलेंगी।

कृष्ण बुद्ध जैसी शांति को उपलब्ध हो जाएंगे, क्योंकि कुछ उन्हें पाना नहीं है। जो भी है, वह पाया हुआ है। वे महावीर जैसे वीतराग दिखाई पड़ेंगे किन्हीं क्षणों में, क्योंकि उनके आनंद का कोई पारावार नहीं है। वे जीसस जैसे परमात्मा की घोषणा करते दिखाई पड़ेंगे। इसलिए नहीं कि इस लोक और परलोक में परमात्मा कहीं बैठा है, बल्कि सब कुछ परमात्मा ही है। कृष्ण की अनासक्ति समग्र समर्पण है, 'मैं' का न हो जाना है। 'मैं' है ही नहीं, यह जानना है। इसके जान लेने के बाद जो हो रहा है, वह हो रहा है। इसमें कोई उपाय ही नहीं है। इसमें हम कुछ कर सकते हैं, ऐसा है ही नहीं। इसमें हमारे द्वारा कुछ हो सकता है, इसकी कोई संभावना ही नहीं है। कृष्ण अपने को एक लहर की तरह सागर में देखते हैं। कोई चुनाव नहीं करना है, इसलिए कोई आसक्ति नहीं है। अनासक्ति की यह स्थिति अगर ठीक से हम समझें तो स्थिति नहीं है, 'स्टेट आफ माइंड' नहीं है, यह समस्त 'स्टेट आफ माइंड' को छोड़ देना है, समस्त स्थितियों को छोड़ देना है और अस्तित्व के साथ एक हो जाना है।

इस एकता में कृष्ण वहीं पहुंच जाते हैं जहां अपनी-अपनी संकरी गलियों से महावीर पहुंचते हैं, जीसस पहुंचते हैं, बुद्ध पहुंचते हैं। लेकिन उनके चुनाव पगडंडियों के हैं। कृष्ण का चुनाव राजपथ का है। पगडंडियों वाले भी पहुंच जाते हैं, राजपथ वाला भी पहुंच जाता है। पगडंडियों की सुविधाएं भी हैं, असुविधाएं भी हैं। राजपथ की सुविधाएं हैं, असुविधाएं भी हैं।

व्यक्तिगत चुनाव है। कुछ लोग हैं जो पगडंडियों पर ही चलना पसंद करेंगे। उन्हें चलने का मजा ही तब आएगा जब पगडंडी होगी, जब वे अकेले होंगे, जब न कोई आगे होगा न पीछे होगा, जब भीड़ के धक्के न होंगे और जब प्रतिपल उन्हें रास्ता खोजना पड़ेगा घने जंगल में, तभी उनकी चेतना को चुनौती होगी। वे पगडंडियों को खोजकर ही पहुंचेंगे। कुछ लोग हैं, जो पगडंडियों पर चलना बिलकुल आनंदपूर्ण न पाएंगे। अकेला होना उन्हें भारी पड़ जाएगा। सबके साथ होना

ही उनका होना है, सबके साथ ही उनका आनंद है। आनंद उनके लिए सहजीवन, सहयोग, साथ में है, संग में है। वे राजपथ पर चलेंगे। निश्चित ही पगडंडियों पर चलने वाले उदासी से चल सकते हैं। राजपथ पर जहां लाखों लोग चलेंगे, वहां नाचते हुए ही चला जा सकता है, वहां गीत गाते हुए ही चला जा सकता है। पगडंडियों पर चलने वाले शांति से चल सकते हैं। राजपथ पर चलने वालों पर अशांतियों के बादल भी आते रहेंगे। उनको उनके लिए भी राजी होना पड़ेगा, यही उनकी शांति होगी। पगडंडियों पर चलने वाले अपनी निपट निजता के आनंद में तल्लीन हो सकते हैं, राजपथ पर चलनेवालों को दूसरों के सुख-दुख में भागीदार भी होना पड़ेगा। यह सब भेद होंगे। लेकिन कृष्ण, जैसा मैंने कहा, 'मल्टी-डायमेंशनल' हैं, उनका चुनाव राजपथ का है।
और ठीक से अगर हम समझें, तो परमात्मा तक पहुंचने का कोई एक मार्ग नहीं है। जो जहां है, वहीं से एक हर एक के लिए मार्ग बन सकता है कि वह परमात्मा तक पहुंच जाए। परमात्मा तक पहुंचने के लिए कोई बना हुआ मार्ग नहीं है। सब अपने तरफ से, अपने ढंग से पहुंच सकते हैं। पहुंचने पर यात्रा एक ही मंजिल पर पूरी हो जाती है। उनकी भी जो वीतरागता से जाते हैं, उनकी भी जो तटस्थता से जाते हैं, उनकी भी जो उपेक्षा से जाते हैं, उनकी भी जो आनंद से जाते हैं। मंजिल एक है, रास्ते अनेक हैं। और प्रत्येक व्यक्ति को उसके क्या अनुकूल है, उसे चुन लेना चाहिए। उसे इसकी बहुत चिंता में नहीं पड़ना चाहिए कि कौन गलत है, कौन सही है? उसे इसकी फिक्र में पड़ जाना चाहिए कि मेरे अनुकूल, मेरे स्वभाव के अनुकूल क्या है?

'भगवान श्री, अभी आपने कृष्ण के अचुनाव के संबंध में कहा। परंतु गीता में उल्लेख है कि उत्तरायण का सूर्य हो तब जिसका अंत हो तो मोक्ष होता है। यदि दक्षिणायण का सूर्य हो तो क्या कोई तकलीफ पड़ती है? और स्थितप्रज्ञ और भक्त के विषय में गीता में जो बात कही है, इन दोनों में क्या समानता या भिन्नता है?
स्थितप्रज्ञ मनुष्य सुख में अनुद्विग्न रहेगा और दुख में भी अनुद्विग्न रहेगा, तो ऐसी मुसीबत खड़ी होने की शक्यता नहीं कि सुख-दुख दोनों में उसकी संवेदनशीलता, 'सेंसिटिविटी' 'ब्लंट' हो जाए? अगर सुख को सुख की भांति और कष्ट को कष्ट की भांति न ले, तो उसकी संवेदना को 'ह्यूमन' कैसे कहेंगे हम?'

* यह सूत्र बहुत बहुमूल्य है। कृष्ण का यह कहना कि सुख और दुख में अनुद्विग्न रहे, वही स्थितप्रज्ञ है। यह प्रश्न बहुत अच्छा है, अर्थपूर्ण है कि यदि सुख में कोई सुखी न हो और दुख में कोई दुखी न हो, तो क्या उसकी संवेदनशीलता, उसकी 'सेंसिटिविटी' मर नहीं जाएगी?
दो उपाय हैं सुख और दुख में अनुद्विग्न होने के। एक उपाय यही है जो प्रश्न में उठाया गया है। एक उपाय यही है कि अगर संवेदनशीलता मार डाली जाए, तो सुख सुख जैसा मालूम न होगा, दुख दुख जैसा मालूम न होगा। जैसे कि जीभ जला दी जाए तो न प्रीतिकर स्वाद का पता चलेगा, न अप्रीतिकर स्वाद का पता चलेगा। जैसे आंखें फोड़ डाली जाएं तो न अंधेरे का पता चलेगा, न उजाले का पता चलेगा। जैसे कि कान नष्ट कर दिए जाएं, तो न संगीत का पता चलेगा, न विसंगीत का पता चलेगा। सीधा रास्ता यही मालूम पड़ता है कि संवेदशीलता नष्ट कर दी जाए, 'सेंसिटिविटी' मार डाली जाए, तो व्यक्ति दुख-सुख में अनुद्विग्न हो जाएगा। और साधारणतः कृष्ण को न समझने वाले लोगों ने ऐसा ही समझा है। और ऐसा ही करने की कोशिश की है। जिसको हम संन्यासी कहते हैं, त्यागी कहते हैं, विरक्त कहते हैं, वह यही करता रहा है, वह संवेदनशीलता को मारता रहा है। संवेदनशीलता मर जाए, तो स्वभावतः सुख-दुख का पता नहीं चलता।
लेकिन, कृष्ण का सूत्र बहुत और है। कृष्ण कहते हैं, सुख-दुख में अनुद्विग्न। वह यह नहीं कहते हैं कि सुख-दुख में असंवेदनशील, वह कहते हैं सुख-दुख में अनुद्विग्न। सुख-दुख के पार, उनके विगत, उनके आगे, उनके ऊपर। साफ है यह बात कि सुख-दुख अगर पता ही न चलें, तो सुख-दुख में अनुद्विग्नता का क्या अर्थ होगा? कोई अर्थ नहीं होगा। मरा हुआ आदमी सुख-दुख के बाहर होता है, अनुद्विग्न नहीं होता।
नहीं, इसलिए मैं दूसरा ही अर्थ करता हूं।

एक और मार्ग है जो कृष्ण का मार्ग है। अगर कोई व्यक्ति सुख को पूरा अनुभव करे—पूरा—इतना पूरा अनुभव करे कि बाहर रह ही न जाए, सुख में पूरा हो जाए, सुख के प्रति पूरा संवेदनशील हो, तो अनुद्विग्न हो जाएगा; क्योंकि उद्विग्न होने को बाहर कोई बचेगा नहीं। अगर कोई व्यक्ति दुख में डूब जाए, 'टोटल' दुख में डूब जाए, तो दुख के बाहर दुखी होने को कौन बचेगा? कृष्ण जो कह रहे हैं वह संवेदनशीलता का अंत नहीं है, संवेदनशीलता की पूर्णता की बात है। अगर हम पूरे संवेदनशील हो जाएं—समझें कि मुझ पर दुख आया। यह मुझे पता चलता है कि दुख आया, क्योंकि दुख से अलग खड़ा होकर मैं सोचता हूं। मैं ऐसा कहता हूं कि मुझ पर दुख आया, मैं ऐसा नहीं कहता हूं कि मैं दुखी हो गया हूं। और जब हम यह भी कहते हैं कि मैं दुखी हो गया हूं, तब भी फासला बनाए रखते हैं। हम ऐसा नहीं कहते कि मैं दुखी हूं।
इसे थोड़ा समझना उपयोगी होगा।
हम जिंदगी में सब चीजों को तोड़कर रख देते हैं, जब कि वे सत्य नहीं हैं। जब मैं किसी से कहता हूं कि मुझे तुमसे प्रेम है, तब भाषागत ठीक बात कही जाने पर भी अस्तित्वगत रूप से गलत है। जब मुझे किसी से प्रेम होता है तो ऐसा नहीं होता है कि मुझे किसी से प्रेम है, बल्कि ऐसा होता है कि मैं किसी के प्रति प्रेम हूं। मैं पूरा ही प्रेम होता हूं। मेरे पार कुछ बच ही नहीं रहता जो कि प्रेम न हो। और अगर मेरे पार इतना भी कोई बच रहता है जो कहने को भी हो कि मुझे उससे प्रेम हो गया है, तो मैं पूरा प्रेम में नहीं चला गया हूं। और जो पूरा प्रेम में नहीं चला गया है, वह प्रेम में गया ही नहीं है, वह जा ही नहीं सकता। जब हम पर सुख आते हैं, दुख आते हैं, तब हम पूरे उनमें नहीं हो जाते हैं। अगर हम पूरे हो जाएं और उसके बाहर हमारे भीतर कुछ भी न बचे, तो कौन कहेगा, कौन उद्विग्न होगा, कौन पीड़ित होगा? मैं दुख ही हो जाऊं। तो संवेदनशीलता तो पूर्ण होगी, अपनी पूरी त्वरा में, अपनी पूरी चरमता में होगी। क्योंकि मेरी पुलक-पुलक दुख से भर जाएगी, मेरा रोआं-रोआं दुख से भर जाएगा; मेरी आंख, मेरी श्वास, मेरा अस्तित्व दुख हो जाएगा। लेकिन तब उद्विग्न होने को कोई नहीं बचेगा। मैं दुखी हूं, उद्विग्न कौन होगा?
ऐसे ही जब सुख आए तो मैं पूरा सुख हो जाऊं, तो उद्विग्न कौन होगा? मैं सुखी हो जाऊंगा। और अगर सुख और दुख में मैं इस तरह पूरा होता चला जाऊं, तो कभी भी सुख और दुख की 'कंपेरीज़न', तुलना करने का मौका कैसे आएगा, कौन तौलेगा? कि जब मैं दुखी था तो बहुत बुरा था, अब जब मैं सुखी हूं तो बहुत अच्छा हूं। और अब आगे भी सुख ही होना चाहिए, दुख नहीं होना चाहिए। प्रतिपल हमारे पूरे अस्तित्व को घेर ले, तो संवेदनशीलता समग्र होती है, पूर्ण होती है, लेकिन उद्विग्नता खो जाती है। उद्विग्नता का कोई कारण नहीं हो जाता। कोई कारण नहीं रह जाता।
एक मित्र मेरे पास आए, अभी दो दिन पहले, और उन्होंने कहा कि मैं सिगरेट पीता हूं और इससे बड़ा परेशान हूं। मैंने कहा कि मालूम होता है तुमने अपने को दो हिस्सों में तोड़ा होगा—एक सिगरेट पीने वाला, एक परेशान होने वाला। नहीं तो यह कैसे संभव है? या सिगरेट पिओ, या परेशान होओ। ये दो बातें एकसाथ तभी संभव हैं, जब तुमने अपने को दो हिस्सों में तोड़ लिया, तुमने अपने दो 'सेल्फ' बनाए, दो आत्माएं कर लीं—एक सिगरेट पिए चली जाती है और एक जो पश्चाताप किए चली जाती है। अब वह जो पश्चाताप करती है वह पश्चाताप करती रहेगी जिंदगी भर, और जो सिगरेट पीती है वह जिंदगी भर सिगरेट पीती रहेगी। जो पश्चाताप करती है वह कभी-कभी नियम-व्रत भी लेगी और जो पश्चाताप नहीं करती है, सिगरेट पीती है, वह नियम-व्रत तोड़ेगी। मैंने उनसे कहा, या तो तुम सिगरेट ही पिओ, या पश्चाताप ही करो। दो-दो काम एक-साथ करोगे तो कष्ट पैदा होता है। सिगरेट पिओ तो सिगरेट पीने वाले हो जाओ। फिर पीछे बचाओ मत अपने को। वह जो दूर खड़ा होकर कहे कि बुरा कर रहे हो, भला कर रहे हो, उसे पार मत बचाओ। और मैंने उनसे कहा, अगर किसी दिन सिगरेट पिओ और पूरे हो जाओ, तो पूरा आदमी सिगरेट छोड़ भी सकता है। क्योंकि तब वह पूरी तरह कर सकता है, छोड़ना भी। जब पीना पूरा कर सकता है, तो छोड़ना भी पूरा कर सकता है। और तब इस तरह की दुविधा में नहीं जीता है। या तो वह पूरी तरह पीता है, तब भी आनंदित होता है। या पूरी तरह छोड़ देता है और तब भी आनंदित होता है।
यह जो अधूरा-अधूरा बंटा हुआ आदमी है यह पीते वक्त कष्ट पाता है—पश्चाताप वाले हिस्से से कि बुरा कर रहे हो। नहीं पीते वक्त कष्ट पाता है—पीने वाले हिस्से से कि मौका चूक रहे हो। इसके कष्ट का कोई अंत नहीं, यह कष्ट झेले

ही चला जाता है। यह हर हालत में उद्विग्न होगा। उद्विग्नता इसका भाग्य बन जाएगी, नियति बन जाएगी। यह अनुद्विग्न हो ही नहीं सकता। अनुद्विग्न वही हो सकता है जो 'टोटल' है, जो पूरा है। क्योंकि तब उद्विग्न होने को कोई बचता नहीं। जो पूरा है, जो समग्र है किसी स्थिति में, जो भी स्थिति आती है उसके साथ समग्र रूप से एक होता है, कुछ बचता नहीं पीछे, ऐसा व्यक्ति साक्षी के पर जा चुका। साक्षी सिर्फ साधन है, सिद्धि नहीं है। कृष्ण साक्षी नहीं हैं, अर्जुन को कह रहे हैं कि तू साक्षी हो जा। कृष्ण सिद्ध हैं। सिद्ध का मतलब यह है कि अब इतना भी फासला नहीं तोड़ा जाता कि कौन देख रहा है और कौन देखनेवाला है। अब तो सिर्फ देखने की क्रिया रह गई है, जिसके दो छोर हैं। एक छोर पर लोग कहते हैं दिखाई पड़नेवाला है, एक छोर पर लोग कहते हैं देखने वाला है। अब देखना पूरा हो गया, वह इकट्ठा है।

साक्षी जगत को दो में तोड़ता है—'आब्जेक्ट' और 'सब्जेक्ट' में; देखने वाले में, दिखाई पड़ने वाले में। साक्षी कभी भी अद्वैत नहीं है। साक्षी द्वैत की अंतिम सीमारेखा है। वह जगह है जहां तख्ती लगी है कि अब अद्वैत शुरू होता है। लेकिन साक्षी हुए बिना कोई अद्वैत में मुश्किल से जा पाता है। साक्षी होने का मतलब है, हमने बहुत में तोड़ना बंद किया, दो में तोड़ना शुरू किया। अनेक में तोड़ना बंद किया, द्वैत में तोड़ा। दो में तोड़ने के बाद बहुत कठिन नहीं है, क्योंकि जो आदमी साक्षी होगा उसे साक्षी होने में भी कभी-कभी वे क्षण बीच-बीच में आएंगे जब वह पाएगा कि न साक्षी रह गया था, न जिसका साक्षी था वह रह गया था, सिर्फ साक्षी होना रह गया था। ये जो क्षण उसे दिखाई पड़ने शुरू होंगे—जैसे कि मैं किसी को प्रेम करता हूं; तो प्रेम करने वाला है, प्रेम किया जा रहा है, वह है; लेकिन प्रेम में ऐसे क्षण आते हैं जब करने वाला भी नहीं बचता, जिसे किया जा रहा है वह भी नहीं बचता, सिर्फ प्रेम की एक लहर बचती है जो दोनों को छूती है। एक लहर रह जाती है जिसके एक छोर पर करने वाला होता है, एक छोर पर किया जाने वाला होता है। एक प्रेम की लहर रह जाती है। और प्रेम के जो गहरे क्षण हैं, उसमें प्रेमी और प्रेमिका, प्रेमी और प्रेमपात्र नहीं बचते, प्रेम ही बचता है। वे अद्वैत के क्षण हैं। साक्षी में भी ऐसे क्षण आते हैं जब अद्वैत के क्षण होते हैं। 'सब्जेक्ट'—'आब्जेक्ट' मिट जाते हैं, सिर्फ 'कांशसनेस' रह जाती है, जिसके दो छोर रह जाते हैं—एक दूर वाला छोर, एक पास वाला छोर। पास वाला छोर, जिसे हम 'मैं' कहते रहे हैं, दूर वाला छोर, जिसे हम 'तू' कहते रहे हैं। लेकिन अब ये एक ही लहर के दो छोर हो जाते हैं। जिस दिन स्थिति पूर्णता को उपलब्ध हो जाती है और कभी नहीं खोती, उस दिन साक्षी मिट जाता है। उस दिन सिद्ध रह जाता है।

कृष्ण साक्षी नहीं हैं। हां, कृष्ण अर्जुन से साक्षी होने की बात कह रहे हैं। लेकिन कृष्ण पूरे समय साक्षी होने की बात भी कह रहे हैं और उस क्षण की भी चर्चा चलाए जा रहे हैं जबकि साक्षी भी मिट जाएगा। वे साधन की भी बात कर रहे हैं, वे साध्य की भी बात कर रहे हैं। वे रास्ते की भी बात कर रहे हैं, वे मंजिल की भी बात कर रहे हैं। जब वे कह रहे हैं कि सुख-दुख में अनुद्विग्न, तब वे साक्षी की बात नहीं कर रहे हैं। हालांकि गीता समझने वाले बहुत लोगों ने ऐसा ही समझा कि वे साक्षी की बात कर रहे हैं। यही समझा है कि सुख के तुम साक्षी हो जाओ, देखते रहो, भागो मत, तो अनुद्विग्न हो जाओगे। दुख को देखते रहो, भागो मत, तो अनुद्विग्न हो जाओगे। लेकिन अगर दुख और सुख को कोई देखे ही, तो देखना भी एक तनाव और उद्विग्नता होगी। और पूरे वक्त 'डिफेंस' की हालत होगी। और पूरे वक्त अपने को बचाता रहेगा आदमी। और अगर यह पता ही न चलता हो कि कौन सुख है, कौन दुख है, क्योंकि अनुद्विग्न होने में पता नहीं चलना चाहिए फिर। अगर पता चलता है कि यह सुख रहा, यह दुख रहा, तो उद्विग्नता हो रही है किसी तरह की, और दोनों में भेद हो रहा है। अगर यह पता चल रहा है साक्षी को कि यह सुख है और यह दुख है, तो उद्विग्नता है; लेकिन सूक्ष्म है, दिखाई नहीं पड़ रही है। उद्विग्नता जारी है। सुख और दुख का फर्क जारी है। और जब तक फर्क है, तब तक उद्विग्नता है।

मैं जो कह रहा हूं, बहुत और बात कह रहा हूं। मैं यह कह रहा हूं कि 'टोटल इनवॉल्वमेंट', साक्षी की तरह दूर खड़े होना नहीं, अभिनेता की तरह पूरी तरह कूद जाना। पूरी तरह कूद जाना! एक ही हो जाना! नदी आपको डुबाती है, क्योंकि आप अलग हैं। आप नदी ही हो गए, ऐसी बात कह रहा हूं। अब कैसे डुबायेगी! किसको डुबायेगी, कौन डूबेगा, कौन चिल्लायेगा—बचाओ? जो स्थिति है जिस पल में, उस पल में पूरी तरह एक हो जाना। और जब वह पल बीत गया, दूसरा पल आएगा, आपको पल के साथ पूरे एक होने की कला आ गई, तो आप पल के साथ एक होते चले जाएंगे। और

तब बड़े मजे की बात है, दुख भी आएगा और आपको निखार जाएगा। सुख भी आएगा और आपको निखार जाएगा। दुख भी आपको कुछ दे जाएगा और सुख भी आपको कुछ दे जाएगा। तब दुख भी मित्र मालूम होगा और सुख भी मित्र मालूम होगा। तब अंत के, जीवन के अंतिम क्षण में विदा होते वक्त आप अपने सुखों को भी धन्यवाद दे सकेंगे, अपने दुखों को भी धन्यवाद दे सकेंगे, क्योंकि दोनों ने मिलकर आपको बनाया। यह दिन ही नहीं है जो आपको बनाता है, इसमें रात भी सम्मिलित है। यह उजाला ही नहीं है जो आपकी जिंदगी में, अंधेरा भी आपकी जिंदगी है। और यह जन्म ही नहीं है जो खुशी का अवसर है, मृत्यु भी उत्सव का क्षण है।

लेकिन, यह तभी होगा जब हम प्रतिपल को पूरा जी लें। तब हम यह न कह पाएंगे कि दुख विपरीत था और सुख साथी था, दुख शत्रु था। नहीं, तब हम ऐसा ही कह पाएंगे कि दुख दायां हाथ था, सुख बायां हाथ था। दोनों के साथ हम चल पाए। दुख बायां पैर था, सुख दायां पैर था, दोनों हमारे पैर थे। लेकिन जो पूरा हुआ है। अब यह बड़े मजे की बात है, जब आप अपना बायां पैर उठाते हैं तब आप आधे नहीं उठाते, आप पूरे ही अपने बाएं पैर के साथ होते हैं। जब आप दायां पैर उठाते हैं, तब पूरे ही आप अपने दाएं पैर के साथ होते हैं। जब आप चुप होते हैं तब भी आपको अपनी चुप्पी में पूरा होना चाहिए, जब आप बोलते हैं तब अपने बोलने में पूरा हो जाना चाहिए।

विकल्प जब हम चुनते हैं तभी उद्विग्नता शुरू होती है। और जब तक चुनने वाला अलग खड़ा है, तब तक चुनाव जारी रहता है। इसलिए साक्षी बहुत ऊंची अवस्था नहीं है, मध्य अवस्था है। कर्ता के बजाय अच्छी है, इसी अर्थ में कि कर्ता सीधा छलांग नहीं लगा सकता अद्वैत में। साक्षी 'जंपिंग बोर्ड' के करीब पहुंच जाता है, जहां से छलांग हो सकती है। लेकिन साक्षी भी तट पर खड़ा है और कर्ता भी तट पर खड़ा है। कर्ता जरा तट से दूर खड़ा है, जहां से सीधी छलांग नहीं हो सकती। साक्षी तट के बिलकुल किनारे खड़ा है, जहां से छलांग हो सकती है। लेकिन दोनों ने जब तक छलांग नहीं ली, तब तक दोनों एक ही भूमि के टुकड़े पर खड़े हैं। छलांग के बाद अद्वैत बच रहता है।

तो यहां जो अनुद्विग्नता की बात कृष्ण कहते हैं, वह अद्वैत की बात है। उद्विग्न होने वाला ही न बचे, वह पूरा ही डूब जाए। इसलिए मैं मानता हूं कि कृष्ण की यह जो दृष्टि है, यह 'एंटी सेंसिटिविटी' की नहीं है, यह संवेदनशीलता के विपरीत नहीं है, बल्कि पूर्ण संवेदनशीलता की उपलब्धि की है।

असल में दक्षिणायण और उत्तरायण की जो बात कृष्ण ने गीता में कही है, वह हमारे सूर्य और हमारे दक्षिणायण और उत्तरायण की नहीं है। इस पृथ्वी पर जो सूर्य उत्तर और दक्षिणायण होता रहता है, उसकी कोई बात नहीं है। कि दक्षिणायण के सूर्य के समय मुक्ति हो जाएगी, मोक्ष हो जाएगा। उत्तरायण के सूर्य के समय मुक्ति नहीं होगी, मोक्ष नहीं होगा। यह हमारे सूर्य, हमारी पृथ्वी की बात नहीं है। यह बहुत 'सिंबॉलिक' है।

यह हमारे भीतर चित्त के प्रकाश-सूर्य की बात है। और जैसे हमने इस पृथ्वी को दो हिस्सों में बांटा हुआ है, ऐसा ठीक हमने मनुष्य के व्यक्तित्व को दो हिस्सों में बांटा हुआ है। उस मनुष्य के व्यक्तित्व के भीतर सूर्य की, प्रकाश की, या सत्य की—जो भी हम नाम देना पसंद करें—एक गति है। और मनुष्य के भीतर चक्रों की एक व्यवस्था है। अगर उस व्यवस्था में एक विशेष जगह तक प्रकाश का अनुभव शुरू नहीं हुआ है, तो व्यक्ति मुक्त नहीं होता है। एक विशेष जगह तक भीतरी अंतर्जीवन में सूर्य का प्रवेश हुआ है, तो व्यक्ति मुक्त होता है। वह लंबी चर्चा होगी, उसे फिर कभी उठाना ठीक होगा, अभी इतना ही समझ लेना उचित है कि बाहर के उत्तरायण और दक्षिणायण की बात वह नहीं है। भीतर भी हमारे सूर्य की गति की व्यवस्था है। भीतर भी हमारा एक अस्तित्व है, जहां प्रकाश की गतियां हैं। उन प्रकाश की गतियों की वह चर्चा है। और उसमें यह कहा है कि उत्तरायण के चक्रों पर जब प्रकाश होगा, ऐसी स्थिति में जीवन से छूटा हुआ व्यक्ति जन्म-मरणरूपी बंधन से मुक्त हो जाता है। वह फिर अपने को सदा मुक्त पाता है। ऐसे ही जैसे हम कहते हैं कि सौ डिग्री पर पानी गर्म होता है तो भाप बन जाता है। सौ डिग्री के नीचे होता है तो भाप नहीं बनता। ऐसी एक विशेष भीतरी सूर्य की व्यवस्था की बात की है। वह जब हम चक्रों की और अंतर्शरीरों की पूरी बात समझें तभी खयाल में आ सकती है, इसलिए उसे फिलहाल न उठाएं, अभी इतना भर समझ लेना उचित है।

'भगवान श्री, स्थितप्रज्ञ और भक्त में क्या समानता है और क्या भिन्नता है, यह भी प्रश्न के पिछले अंश में था।'

* स्थितप्रज्ञ और भक्त में क्या भेद या समानता है? स्थितप्रज्ञ का अर्थ है, जो अब भक्त नहीं रहा, भगवान हो गया। भक्त का अर्थ है, जो भगवान होने की यात्रा पर है। भक्त रास्ते में है, स्थितप्रज्ञ पहुंच गया है। रास्ता वही है, पहुंचना वहीं है। लेकिन यह मुकाम पर पहुंचे हुए आदमी का नाम है, स्थितप्रज्ञ। और भक्त यात्री का नाम है जो चल रहा है।

समानता होगी ही, क्योंकि रास्ता और मंजिल जुड़े होते हैं—अन्यथा रास्ता मंजिल तक कैसे पहुंचेगा। समानता होगी ही, क्योंकि मंजिल सिर्फ रास्ते की पूर्णता है। जहां रास्ता पूरा हो जाता है, वहां मंजिल आ जाती है। समानता होगी ही, क्योंकि जो रास्ते पर है वह एक अर्थ में मंजिल पर ही है, थोड़ा फासला है, बस। 'डिस्टेंस' का फासला है। अंतर जो है, वह पहुंचने का और पहुंचते होने का है। भक्त चल रहा है, स्थितप्रज्ञ बैठ गया, पहुंच गया। इसलिए भक्त के लिए वे सारी अपेक्षाएं हैं, जो स्थितप्रज्ञ की उपलब्धि बनेंगी। क्योंकि तभी वह वहां तक पहुंच सकेगा।

भक्त की आखिरी मंजिल उसका भक्त होना मिट जाने की है। जब तक वह भगवान न हो जाए, तब तक तृप्ति नहीं हो सकती। भक्त कितना ही चिल्लाए और रोए परमात्मा के मिलन को और मिलन हो भी जाए और दोनों आलिंगनबद्ध खड़े भी हो जाएं, तो भी भक्त का चिल्लाना बंद नहीं होगा। क्योंकि आलिंगन कितने ही निकट हो फिर भी दूर है। और हम किसी को कितने ही छाती से लगा लें, फिर भी दोनों के बीच फासला है। अंतर तो पूर्ण तभी मिट सकता है जब एक ही हो जाएं। इंच भर का अंतर भी उतना ही है जितना लाख मील का अंतर है। अंतर में कोई फर्क नहीं पड़ता। इंच के हजारवें हिस्से का अंतर भी उतना ही अंतर है जितना कि लाख मील का अंतर है। तो भक्त की तृप्ति तब भी नहीं हो सकती जब भगवान की छाती से लगकर वह बैठ जाए, तब भी नहीं हो सकती। तब भी फासला है।

यह तकलीफ तो प्रेमी की है। प्रेमी का कष्ट यही है कि वह कितने ही पास आ जाए, तो भी दुखी रहेगा। प्रेमी को कितना ही पा ले तो भी दुखी रहेगा। अगर यह बात समझ में आ जाए तो उसका दुख असल में यह है कि जब तक वह प्रेमी ही न हो जाए तब तक दुखी रहेगा, और यह होना बड़ा मुश्किल है। प्रेम के तल पर तो होना मुश्किल है। बहुत मुश्किल है। कैसे यह होगा! कितने ही पास आते हैं, इसलिए प्रेमी जितने पास जाएंगे उतना ही कष्ट शुरू होने लगेगा। क्योंकि जितने पास आएंगे उतना 'डिसइलूज़नमेंट' होगा। दूर थे तो यह खयाल था कि पास आने से सुख मिल जाएगा। फिर जब पास ही आ गए, अब कैसे सुख मिलेगा! अब और पास आने का कोई उपाय ही न रहा। और तब प्रेमी एक-दूसरे पर क्रोधित होना शुरू हो जाते हैं। शायद सोचते हैं कि दूसरा कुछ बाधा डाल रहा है; दूसरा कोई नुकसान पहुंचा रहा है, दूसरा शायद ठीक से प्रेम नहीं कर रहा है; दूसरा शायद धोखा दे गया, दूसरा शायद किसी और के प्रेम में पड़ गया है, यह प्रेमी की चिंता शुरू हो जाती है पास आने पर। असली कारण यह है कि प्रेमी तब तक तृप्त नहीं हो सकता जब तक कि वह इतने निकट न आ जाए कि दूरी ही न बचे। यह तो तभी हो सकता है जब वह एक हो जाए।

इसलिए जो भी प्रेमी हैं, वे आज नहीं कल भक्त बनने शुरू हो जाएंगे, क्योंकि तब फिर शरीरधारी व्यक्ति के इतने निकट आना असंभव है। तब अशरीरी परमात्मा के निकट ही इतना आया जा सकता है, जहां कि कोई फासला ही न बचे। तो सब प्रेमी आज नहीं कल भक्त बनेंगे और सब प्रेम-निवेदन आज नहीं कल प्रार्थना बन जाते हैं। अंततः बनने ही चाहिए। अन्यथा दुख देते रहेंगे। जो प्रेमी भक्त नहीं बन पाता, वह सदा दुखी रहेगा। क्योंकि आकांक्षा उसकी भक्त की है और मांग वह प्रेम से पूरी करना चाह रहा है। चाहता कुछ और है, कर कुछ और रहा है। चाहता वह यह है कि बिलकुल एक हो जाऊं, इतना फासला भी न रहे कि मैं और तू का फासला भी बचे, चाहता वह यह है। लेकिन जिससे वह यह करना चाह रहा है उससे यह नहीं हो सकता है। उससे मैं और तू का फासला बना ही रहेगा। दो व्यक्ति कभी इतने निकट नहीं आ सकते जहां कि मैं और तू का फासला गिर जाए, सिर्फ दो अव्यक्ति इतने निकट आ सकते हैं जहां मैं और तू का फासला मिट जाए। परमात्मा अव्यक्ति है। जिस दिन भक्त भी अव्यक्ति हो जाएगा, उस दिन उपलब्धि हो जाएगी। जब तक भक्त बचा है—परमात्मा तो है ही नहीं इस अर्थ में, जिस अर्थ में भक्त है। परमात्मा का तो होना न-होने जैसा है। उसकी उपस्थिति अनुपस्थिति जैसी है।

यह बड़े मजे की बात है। यह थोड़ा खयाल में लेना जरूरी है।

अगर हम निरंतर पूछते हैं—दुनिया में सारे भक्तों ने पूछा है—कि परमात्मा प्रगट क्यों नहीं होता? क्योंकि अगर परमात्मा प्रगट हो जाए तो उससे मिलन असंभव है। सिर्फ अप्रगट से ही पूर्ण मिलन हो सकता है। भक्तों ने निरंतर पूछा है कि तुम छिपे क्यों हो? सामने क्यों नहीं आते हो? अगर वह सामने आ जाए तो इतना बड़ा पर्दा गिर जाएगा कि फिर मिलन हो ही नहीं सकता है। वह छिपा है, इसलिए मिलने की संभावना है। वह अदृश्य है, इसलिए उसमें डूबा जा सकता है। वह दृश्य बन जाए तो दीवाल बन जाएगी और मिलन असंभव है।

एक बहुत अदभुत फकीर इकहार्ट ने कहा है, परमात्मा को धन्यवाद दिया है कि तेरी अनुकंपा अपार है कि तू दिखाई नहीं पड़ता। तेरी अनुकंपा अपार है कि तू पकड़ में नहीं आता। तेरी अनुकंपा अपार है कि तू खोजे से कहीं भी नहीं मिलता, कहीं भी नहीं पाते हैं तुझे। क्यों है तेरी अनुकंपा अपार? क्योंकि इस भांति तू हमें भी यह निरंतर सिखाए जाता है कि जब तक तुम भी ऐसे न हो जाओ कि खोजे से न मिलो, कि जब तक तुम भी ऐसे न हो जाओ कि दिखाई न पड़ो, जब तक तुम भी ऐसे न हो जाओ कि न-होने जैसे हो जाओ, तब तक मिलन असंभव है। भगवान तो अरूप है, जिस दिन भक्त भी अरूप हो जाता है उस दिन मिलन हो जाता है। इसलिए बाधा सिर्फ भक्त की तरफ से है, भगवान की तरफ से कोई बाधा नहीं है।

स्थितप्रज्ञ का अर्थ है, भक्त जो अरूप हो गया। अब वह भगवान को भी नहीं चिल्लाता, क्योंकि कौन चिल्लाए? अब वह प्रार्थना भी नहीं करता, क्योंकि कौन करे? किसकी करे? या अब हम ऐसा कह सकते हैं कि वह जो भी करता है वही प्रार्थना है। या अब वह जो भी चिल्लाता है या नहीं चिल्लाता है, वही भगवान के लिए निवेदन है। अब हम दोनों तरह से कह सकते हैं। स्थितप्रज्ञ का अर्थ है कि मनुष्य भी वैसा हो गया जैसा परमात्मा है। भक्त का अर्थ है कि उसने यात्रा तो शुरू की परमात्मा की तरफ, लेकिन अभी वह मनुष्य है। और उसकी सब आकांक्षाएं, अपेक्षाएं मनुष्य की हैं। मीरा कितनी चिल्ला रही है। उसके गीत बड़े अदभुत हैं। इस अर्थ में अदभुत हैं कि वे बड़े मानवीय हैं। उसकी सारी चिल्लाहट एक प्रेमी की चिल्लाहट है। एक भक्त की। वह कहती है कि सेज सजा दी और तुम आ जाओ। अब मैं तुम्हारे लिए द्वार खोल कर प्रतीक्षा कर रही हूं। ये सब मानवीय प्रतीक्षाएं हैं।

भक्त का मतलब है, मनुष्य जो परमात्मा की तरफ चल पड़ा, लेकिन अभी मनुष्य है। स्थितप्रज्ञ का अर्थ है, मनुष्य अब मनुष्य नहीं रहा, अब वह किसी की तरफ नहीं जा रहा है, अब जाने का कोई सवाल नहीं रहा, अब वह जहां है वहीं है और वहीं परमात्मा तो सदा था, सिर्फ हम अरूप हो जाते, हम अदृश्य हो जाते, हम न हो जाते। जीसस का वचन है, जो अपने को बचाएगा, वह खो देगा। और जो अपने को खो देता है, वह पा लेता है। स्थितप्रज्ञ ने अपने को खो दिया, इसलिए पा लेता है। भक्त अभी पाने चला है, और खुद है। अनुभव उसे धीरे-धीरे मिटाएगा। कबीर का वचन है कि खोजते-खोजते फिर मैं ही खो गया। और कोई उपाय न था। खोजने निकले थे किसी को। आखिर में पाया कि खोज ने खुद को ही छीन लिया। 'हेरत हेरत हे सखी, गया कबीर हेराय'। खोजने निकले थे सखी, लेकिन आखिर ऐसा हुआ कि वह तो मिला नहीं, खुद ही खो गए। लेकिन जिस दिन खो गए, उस दिन खोज पूरी हो जाती है। उस दिन वह मिला ही हुआ है।

लाओत्से का बहुत अदभुत वचन है। लाओत्से कहता है, 'सीक ऐंड यू विल नाट फाइंड' खोजो और तुम न पा सकोगे। 'डू नाट सीक ऐंड फाइंड'। मत खोजो और पाओ। 'बिकाज़ ही इज़ हियर ऐंड नाव'। वह अभी और यहीं है। खोज की वजह से तुम दूर निकल जाते हो। क्योंकि कोई भी यहीं और अभी नहीं खोजेगा। खोज का मतलब ही कहीं और है। तो खोजने कोई मक्का जाएगा, कोई मदीना जाएगा, कोई काशी जाएगा, कोई मानसरोवर जाएगा, कैलास जाएगा। खोजने कहीं जाएगा, ...हां-हां, कोई मनाली जाएगा।...और वह वहीं है, यहीं है, अभी है। इसलिए खोजने वाला उसे जब तक खोजता है तब तक खोता चला जाता है। जिस दिन खोजने वाला खोज-खोज कर थक जाता है और मिट जाता है और गिर जाता है, तब वह मनाली में गिरे, कि मक्का में, कि मदीना में, काशी में, कि कैलाश पर, वह कहीं भी गिर जाए, कहीं भी, वह जहां भी गिर जाए वहीं पाता है कि वह मौजूद है। वह सदा मौजूद है, हमारी मौजूदगी बाधा है। हम गैर-मौजूद हो जाएं।

भक्त अभी मौजूद है, स्थितप्रज्ञ गैर-मौजूद हो गया। भक्त की अभी 'प्रेजेंस' है, स्थितप्रज्ञ की कोई 'प्रेजेंस' नहीं है। वह 'एब्सेंट' हो गया। वह अब है नहीं। यह भी समझ लेना जरूरी है कि जब तक भक्त 'प्रेजेंट' है तब तक ईश्वर 'एब्सेंट' रहेगा। जब तक भक्त मौजूद है, तब तक ईश्वर गैर-मौजूद है। और इसलिए भक्त ईश्वर को 'प्रॉक्सी' की तरकीब से मौजूद करता रहता है। कभी मूर्ति बनाकर रख लेता है, कभी मंदिर बना लेता है, यह 'प्रॉक्सी' है। इससे कोई हल नहीं है। यह भक्त का ही बनाया हुआ खेल है। यह भी थोड़े दिन में ऊब जाएगा। अपने ही बनाए हुए भगवान से बहुत तृप्ति नहीं मिल सकती। कैसे मिलेगी, कब तक मिलेगी? 'प्रॉक्सी' पकड़ में आ ही जाएगी। तब वह फेंक देगा मूर्तियों-वूर्तियों को। वह कहेगा मैं उसी को चाहता हूं, जो है। लेकिन वह तभी मिलता है जब मैं नहीं हूं, एक ही शर्त है उसकी। मेरा होना ही दीवाल है, मेरा न-होना द्वार बन जाता है। बस भक्त और स्थितप्रज्ञ में उतना ही फर्क है।
स्थितप्रज्ञ द्वार है, भक्त अभी दीवाल है। दीवाल हम भी हैं, लेकिन भक्त ऐसी दीवाल है जिसके भीतर चीख-पुकार शुरू हो गई, भक्त ऐसी दीवाल है जिसने दरवाजे होने की तरफ श्रम शुरू कर दिया। हम ऐसी दीवाल हैं जो आराम से विश्राम कर रहे हैं। जिनकी कोई यात्रा शुरू नहीं हुई है।

'सेक्स' के संबंध में श्रीकृष्ण के विद्रोही और क्रांतिकारी अनुदान पर सविस्तार प्रकाश डालने की कृपा करें।
दो पूरक प्रश्न भी हैं।'

* बोलो-बोलो, पहले बोलो।

'श्रीकृष्ण के प्रति स्त्रियों के अति आकर्षित होने में क्या कारण थे? हजारों-लाखों गोपियां उनके पीछे दीवानी थीं, और उनके सहवास से ही उन्हें तृप्ति मिलती थी, ऐसा क्यों होता था?
यदि प्रेमपूर्णता से कामशून्यता आती है, तो कामशून्यता की उपलब्धि के बाद कैसे बच्चे पैदा होंगे? अर्थात कामशून्यता में संभोग कैसे घटित होगा? क्या आत्म-समाधि, ब्रह्म-समाधि और निर्वाण-समाधि के बाद संभोग संभव है? क्योंकि संभोग के लिए प्राणों की चंचलता आवश्यक है न?'

* इस संबंध में बहुत-सी बात तो हो गई है, इसलिए कुछ थोड़ी-सी बातें और खयाल में ले लेनी चाहिए।
कृष्ण के प्रति आकर्षण लाखों स्त्रियों का ठीक ऐसा ही है जैसे पहाड़ से पानी भागता है नीचे की तरफ और झील में इकट्ठा हो जाता है? अगर हम पूछेंगे तो उत्तर यही होगा कि क्योंकि झील झील है। गड्ढा है, पानी गड्ढे में भर जाता है। गिरता है पर्वत के शिखर पर, भरता है झील में। पर्वत के शिखर पानी को नहीं रोक पाते हैं। पानी का स्वभाव है कि वह गड्ढे को खोजे, क्योंकि वहीं वह निवास कर सकता है।
अगर हम इसको ठीक से समझें तो स्त्री का स्वभाव है कि वह पुरुष को खोजे। वह पुरुष में ही निवास कर सकती है। पुरुष का स्वभाव है कि वह स्त्री को खोजे, वह स्त्री में निवास कर सकता है। यह स्वभाव है। यह वैसे ही स्वभाव है जैसे और जीवन की सारी चीजों का स्वभाव है। जैसे आग का कुछ स्वभाव है, जैसे पानी का कुछ स्वभाव है, ऐसे ही पुरुष होने का स्वभाव है कि वह स्त्री में अपने को खोजे। अगर ठीक से हम समझें तो पुरुष का मतलब है, वह स्त्री में अपने को खोजता है। स्त्री का मतलब है, वह जो पुरुष में अपने को खोजती है। स्त्रैण होने का मतलब ही यही है कि जो पुरुष के बिना अधूरी है। पुरुष होने का मतलब यही है, जो स्त्री के बिन अधूरा है। अधूरा होना स्त्री-पुरुष का होना है। इसलिए उनकी निरंतर खोज है। और जब यह खोज पूरी नहीं हो पाती तो 'फ्रस्ट्रेशन' है। जब यह खोज पूरी नहीं हो पाती तो दुख है, पीड़ा है, परेशानी है। जब यह खोज पूरी नहीं हो पाती तो स्वभाव के प्रतिकूल होने के कारण कष्ट है, संताप है, चिंता है।
कृष्ण के प्रति इतने आकर्षण का एक ही कारण है कि कृष्ण पूरे पुरुष हैं। जितना पूर्ण पुरुष होगा उतना आकर्षक हो जाएगा स्त्रियों को। जितनी स्त्री पूर्ण होगी उतनी आकर्षक हो जाएगी पुरुषों को। पुरुष की पूर्णता कृष्ण में पूरी तरह प्रगट हो सकी

है। महावीर कम पुरुष नहीं हैं। ठीक कृष्ण जैसे ही पूरे पुरुष हैं। लेकिन महावीर की पूरी साधना, अपने पुरुष होने को छोड़ देने की साधना है। महावीर की पूरी साधना वह जो स्त्री-पुरुष के नियम का जगत है, उसके पार हो जाने की साधना है। फिर भी इस सारी साधना के बावजूद भी महावीर की भिक्षुणियां चालीस हजार हैं और भिक्षु दस हजार हैं। फिर भी स्त्रियां ही ज्यादा आकर्षित हुई हैं। जहां चार साधु महावीर के पीछे थे वहां तीन स्त्रियां हैं और एक पुरुष है। तो अगर महावीर के पास भी चालीस हजार संन्यासिनियां इकट्ठी हो जाती हैं, ऐसे व्यक्ति के पास जिसकी सारी साधना पुरुष और स्त्री होने के 'ट्रांसेंडेंस' की है, पार जाने की है, जो अपने पुरुष होने को इनकार करता है, किसी के स्त्री होने को इनकार करता है, जो कहता है कि यह संसार की बातें हैं, इनसे पार सब है। लेकिन वह भी स्त्रियों के लिए आकर्षक है। महावीर को छू भी नहीं सकतीं वे स्त्रियां। महावीर के निकट भी नहीं बैठ सकतीं आकर। लेकिन फिर भी स्त्रियां महावीर के लिए कम दीवानी नहीं हैं। हालांकि इस बात को हम इस तरह कभी देखा नहीं गया। और जो दस हजार पुरुष महावीर के पास आए हैं, इनकी भी अगर हम कभी बहुत खोजबीन करें तो पता चलेगा कि इनके चित्त में कहीं-न-कहीं स्त्रैणता है। होगी। जरूरी नहीं है कि एक आदमी शरीर से पुरुष हो तो मन से भी पुरुष हो। ऐसा भी जरूरी नहीं है कि एक स्त्री शरीर से स्त्री हो तो मन से भी स्त्री हो। मन जरूरी रूप से शरीर के साथ सदा तालमेल नहीं रखता। या बहुत कम तालमेल भी रखता है। कई बार ऐसा हो जाता है कि शरीर पुरुष का होता है, लेकिन चित्त स्त्री की तरफ झुका हुआ होता है। तो जो पुरुष महावीर के पास इकट्ठे होते हैं, अगर न दस हजार का भी ठीक कभी कोई मानसिक-परीक्षण हो सके, तो हम पाएंगे कि इसमें भी स्त्री-चित्त की बहुतायत है। होगी ही। महावीर आकर्षक तभी हो पाते हैं जब भीतर है। महावीर का आकर्षण आधी बात है। हमारा चित्त भी तो उस तरफ बहना चाहिए।

तो कृष्ण के साथ तो और भी अदभुत स्थिति है। कृष्ण तो कुछ छोड़कर भागे हुए नहीं हैं। स्त्रियां उनके पास सिर्फ साध्वी होकर खड़ी रह सकती हैं, ऐसा नहीं है। सिर्फ उनको देख सकती हैं, ऐसा नहीं है। कृष्ण के साथ नाच भी सकती हैं। तो अगर कृष्ण के पास लाखों स्त्रियां इकट्ठी हो गइ हों, तो कुछ आश्चर्य नहीं है। सहज है। बिलकुल सरलता से है।

बुद्ध वैसे ही पूर्ण पुरुष हैं। इसलिए बहुत मजेदार घटना घटी है। बुद्ध ने स्त्रियों को दीक्षा देने से इनकार कर दिया। बुद्ध ने इनकार कर दिया कि स्त्रियों को दीक्षा नहीं देंगे। क्योंकि बुद्ध के सामने खतरा बिलकुल साफ है। वह खतरा यह है कि स्त्रियां दौड़ पड़ेंगी और भारी भीड़ स्त्रियों की इकट्ठी हो जाएगी। और जरूरी नहीं है कि ये स्त्रियां साधना के लिए ही आतुर होकर आई हों, बुद्ध का आकर्षण बहुत कीमती हो सकता है। कोई कृष्ण के पास जो गोपियां पहुंच गइ हैं, वे कोई परमात्म-उपलब्धि के लिए ही पहुंच गइ, ऐसा नहीं है। कृष्ण भी काफी परमात्मा हैं। इन कृष्ण के पास होना भी बड़ा सुखद है। तो कृष्ण को तो इसकी चिंता नहीं होती कि कौन किसलिए आया है, क्योंकि कृष्ण का कोई चुनाव नहीं है, लेकिन बुद्ध को चुनाव है। और बुद्ध सख्ती से इनकार करते हैं कि स्त्रियों को दीक्षा नहीं देंगे। और बड़े दिनों तक यह संघर्ष चलता है और स्त्रियों का बड़ा आंदोलन चलता है। और स्त्रियां सख्ती से बुद्ध की इस बात की खिलाफत करती हैं कि हमारा क्या कसूर है कि हमें दीक्षा नहीं मिलेगी! और बड़ी मजबूरी में और बड़े दबाव में और बड़े आग्रह में बुद्ध राजी होते हैं। अब यह थोड़ा सोचने जैसा मामला है, कि बुद्ध का इतनी देर तक यह कहे चले जाना कि नहीं दूंगा दीक्षा, क्योंकि बुद्ध को इसमें साफ एक बात दिखाई पड़ती है कि जो सौ स्त्रियां आती हैं उसमें निन्यानबे के आने की संभावना का कारण बुद्ध हैं, बुद्धत्व नहीं। यह साफ दिखाई पड़ रहा है। यह इतना साफ दिखाई पड़ रहा है कि बुद्ध 'रेज़िस्ट' करते हैं।

लेकिन तब कृशा गौतमी नाम की एक स्त्री बुद्ध को कहती है कि क्या हम स्त्रियों को बुद्धत्व नहीं मिलेगा? फिर आप कब दुबारा आएंगे हमारे लिए? और अगर हम चूके तो जिम्मेदारी तुम्हारी होगी। हमारा कसूर क्या है? हमारा स्त्री होना कसूर है? यह सौवीं स्त्री है, निन्यानबे वाली स्त्री नहीं है। इस कृशा गौतमी के लिए बुद्ध को झुकना पड़ता है। यह बुद्ध के लिए नहीं आई है, बुद्धत्व के लिए आई है। वह कहती है हमें तुमसे प्रयोजन नहीं है, लेकिन तुम्हारे होने का लाभ पुरुष ही उठा पाएंगे? हम सिर्फ स्त्री होने से वंचित रह जाएंगे? स्त्री होने का ऐसा दंड हमें मिल रहा है! और आप भी इतने चुनाव करते हैं? तो कृशा गौतमी को आज्ञा दी जाती है। फिर द्वार खुल जाता है। और फिर वही होता है जो महावीर के पास हुआ। पुरुष कम पड़ जाते हैं, स्त्रियां रोज ज्यादा होती चली जाती हैं।

आज भी मंदिरों में स्त्रियां ज्यादा हैं, पुरुष कम हैं। तब तक पुरुष मंदिरों में कम होंगे, जब तक स्त्री तीथकर और स्त्री अवतारों की मूर्तियां मंदिर में न हों। तब तक कम होंगे। क्योंकि सौ जाते हैं, उसमें से निन्यानबे बहुत सहज कारणों से जाते हैं, एक ही असहज कारण से जाता है।

कृष्ण के पास तो बहुत ही सरल बात है। कृष्ण के लिए तो कोई बाधा ही नहीं है। कृष्ण तो जीवन की समग्रता को अंगीकार कर लेते हैं। और कृष्ण अपने पुरुष होने को स्वीकार करते हैं, किसी के स्त्री होने को स्वीकार करते हैं। सच तो यह है कि कृष्ण ने शायद भूलकर भी जरा-सा भी अपमान किसी स्त्री का नहीं किया। जीसस के वचनों में भी संभावना है, महावीर के वचनों में भी, बुद्ध के वचनों में भी—स्त्री के अपमान की संभावना है। और कारण सिर्फ इतना ही है कि वे अपने पुरुष होने को मिटाना चाह रहे हैं, और कोई कारण नहीं है। स्त्री से कोई वास्ता नहीं है। महावीर, या बुद्ध, या जीसस अपने 'सेक्सुअल बीइंग' को, अपने 'बायोलाजिकल बीइंग' को, अपने जैविक अस्तित्व को पोंछ डालना चाह रहे हैं। स्वभावतः, स्त्री उनको न पोंछने देगी। स्त्री पास पहुंचेगी तो उनका पुरुष होना प्रगट हो सकता है। उनके पुरुष होने को भोजन मिलता है। लेकिन जीसस जैसे उदास आदमी के पास भी, जीसस जैसे जिसके ओंठ पर बांसुरी नहीं है, उसके पास भी स्त्रियां इकट्ठी हो गइ। और जीसस की सूली पर से लाश जिन्होंने उतारी, वे पुरुष न थे, वे स्त्रियां थीं। उस युग की सर्वाधिक सुंदरी स्त्री मेरी मेग्दलीन, उसने उस लाश को उतारा। पुरुष तो भाग गए थे, स्त्रियां रुकी थीं। पुरुष तो जा चुके थे। पर स्त्रियां रुकी थीं। और जीसस ने स्त्रियों के लिए सम्मान का कभी एक वचन नहीं कहा।

महावीर कहते हैं कि स्त्रियां स्त्री-पर्याय से मोक्ष न जा सकेंगी। उन्हें एक बार पुरुष का जन्म लेना होगा, फिर वे मोक्ष जा सकती हैं। बुद्ध तो उनको दीक्षा ही देने से इनकार करते हैं कि हम दीक्षा ही न देंगे। और जब दीक्षा भी दे दी तब भी उन्होंने जो वचन कहे, वह बहुत ही हैरानी के हैं। बुद्ध ने कहा कि मेरा जो धर्म हजारों साल चलता, अब वह पांच सौ साल से ज्यादा नहीं चल पाएगा; क्योंकि स्त्रियां दीक्षित हो गइ हैं।

'इस कथन में सच्चाई तो थी!'

* सवाल यह नहीं है। सवाल यह नहीं है! बुद्ध की तरफ से कथन में सच्चाई थी। बुद्ध की तरफ से कथन में सच्चाई थी, क्योंकि बुद्ध का जो मार्ग है, उस मार्ग में, या महावीर का जो मार्ग है उस मार्ग में स्त्री के लिए उपाय नहीं है बहुत। लेकिन महावीर और बुद्ध बड़े आकर्षक हैं और स्त्री आ जाती है। सचाई उनके मार्ग के संदर्भ में है, सचाई 'एब्सोलूट' नहीं है। स्त्री के लिए कोई बाधा नहीं है मोक्ष जाने से—कोई बाधा नहीं है। लेकिन मार्ग अन्यथा होगा। महावीर वाले मार्ग से नहीं हो सकता। ऐसे ही जैसे कि दो रास्ते हों पहाड़ पर, एक सीधी चढ़ाई का गोल रास्ता हो और वहां एक तख्ती लगी हो कि स्त्रियां यहां से। बस इतना ही फर्क है। यह रास्ते के संदर्भ में सच है, महावीर के रास्ते के संदर्भ में यह बिलकुल सच है कि स्त्री जा नहीं सकती मोक्ष। अगर महावीर के मार्ग से ही जाने की किसी स्त्री की जिद्द हो तो उसे एक बार पुरुष के रूप में लौटना जरूरी है। क्योंकि सीधी चढ़ाई का रास्ता है। चढ़ाई के कई कारण हैं।

बड़ा कारण तो यह है कि न कोई परमात्मा है महावीर के रास्ते पर, न कोई संगी-साथी। न ही कोई है जिसके कंधे पर हाथ रखा जा सके। स्त्री का व्यक्तित्व अपने-आप में ऐसा है कि कोई झूठा कंधा भी मिल जाए तो भी ठीक है। उसको कंधे पर हाथ चाहिए। वह किसी के कंधे पर हाथ रखकर आश्वस्त हो जाती है। यह उसके व्यक्तित्व का ढंग है। इसमें कोई, और कोई कारण नहीं है। पुरुष किसी के कंधे पर हाथ रखे तो दीन अनुभव करता है अपने को। स्त्री किसी के कंधे पर हाथ रखे तो उसकी गरिमा बढ़ जाती है। स्त्री जब किसी के कंधे पर हाथ रख कर चलती है तब उसकी शान अलग है। जब वह अकेली चलती है तब दीन होती है। और पुरुष किसी के कंधे पर हाथ रखकर चलता है तो उसकी दीनता प्रगट होती है।

'गांधी जी भी तो दो स्त्रियों के कंधे पर हाथ रखकर चलते थे।'

* इसकी पीछे बात करनी पड़ेगी। यह जो गांधी जी की बात उठाई है, वह भी एक क्षण में ले लेनी चाहिए। गांधी जी स्त्रियों के कंधे पर हाथ रखकर चले हैं, शायद इस भांति के वे पहले पुरुष हैं। कोई कभी किसी स्त्री के कंधे पर हाथ रखकर नहीं चला है।

'बूढ़े थे, इसलिए?'

* नहीं, बूढ़े नहीं थे। बूढ़े नहीं थे तब भी वे रखते थे। गांधीजी का स्त्री के कंधे पर हाथ रखकर चलना किसी विशेष घोषणा के लिए है। इस मुल्क में, जहां सदा ही स्त्री ने पुरुष के कंधे पर हाथ रखा हो, जहां सदा ही स्त्री अर्द्धांगिनी रही हो—और नंबर दो की अर्द्धांगिनी, नंबर एक की कभी नहीं—जहां स्त्री सदा ही पीछे रही हो, आगे कभी नहीं; जहां स्त्री का होना ही 'सेकेंड्री' हो गया हो, द्वितीय कोटि का हो गया हो, वहां गांधी को लगता है कि किसी पुरुष को यह घोषणा करनी चाहिए कि स्त्री के कंधे भी इतने कमजोर नहीं, उस पर भी हाथ रखा जा सकता है। यह एक लंबी परंपरा के खिलाफ एक प्रयोग है, और कुछ भी नहीं, और कोई कारण नहीं है। हालांकि, गांधीजी स्त्रियों के कंधे पर हाथ रखे हुए बहुत सुंदर नहीं मालूम पड़ते हैं, और गांधीजी के हाथ के नीचे दबी हुई स्त्रियां भारी बोझ से ग्रसित होती मालूम होती हैं। असल में यह बिलकुल स्वभाव के प्रतिकूल किया जा रहा है। यह है नहीं ठीक। यह है नहीं ठीक। यह स्त्री और पुरुष के 'बीइंग' के संबंध में गांधी की समझ बहुत नहीं है। सिर्फ एक परंपरा का विरोध है, वह बात अलग है। एक व्यवस्था का विरोध है, वह बात अलग है। लेकिन स्त्री और पुरुष के व्यक्तित्व के संबंध में गांधी की समझ बहुत गहरी नहीं है।
इसलिए गांधी ने बहुत-सी स्त्रियों को करीब-करीब पुरुष बनाकर छोड़ दिया। और स्त्री जाति को फायदा हुआ है ऐसा मैं नहीं कहूंगा। स्त्री जाति को गहरा नुकसान हुआ है। क्योंकि स्त्री को पुरुष नहीं बनाया जा सकता। उसके स्त्री होने का अपना ढंग है। और उसके ढंग की खूबी ही यह है। और यह बड़े मजे की बात है कि न केवल स्त्री जब किसी के कंधे पर हाथ रखती है तो खुद गौरवान्वित होती है, उस पुरुष को भी गरिमा से भर देती है। ऐसा नहीं है, यह कुछ सिर्फ लेना ही नहीं है, उसमें देना भी है। यह सिर्फ कंधे का सहारा लेकर ऐसा नहीं है कि स्त्री को ही कुछ मिल जाता है, पुरुष को भी बहुत कुछ मिलता है। ऐसा पुरुष जिसके कंधे पर किसी स्त्री ने हाथ नहीं रखा, वह भी बहुत दीनता का अनुभव करता है।
यह जो महावीर, बुद्ध, जीसस, इन सारे लोगों के व्यक्ति में, जैविक व्यक्तित्व का निषेध इनकी साधना का हिस्सा है। कृष्ण के जीवन में समस्त की स्वीकृति साधना है। उसमें जैविक भी स्वीकार है, उसमें वह जो 'सेक्सुअल बीइंग' है वह भी स्वीकार है, वह जो काम-शरीर है, निषेध कुछ भी नहीं है। कृष्ण के हिसाब से तो जो निषेध करता है, वह किसी-न-किसी अर्थ में थोड़ा-न बहुत नास्तिक है। असल में निषेध करना ही नास्तिकता है। कितनी मात्रा में कोई करता है—कोई कहता है कि हम शरीर को स्वीकार नहीं करते हैं तो शरीर के प्रति नास्तिक हैं। कोई कहता है हम यौन को स्वीकार नहीं करते, तो यौन के प्रति नास्तिक हैं। कोई कहता है हम ईश्वर को स्वीकार नहीं करते, तो वह ईश्वर के प्रति नास्तिक है। लेकिन अस्वीकृति नास्तिकता का ढंग है। स्वीकृति आस्तिकता है। इसलिए न मैं महावीर को, न बुद्ध को, न जीसस को इतना आस्तिक कह सकता हूं जितना आस्तिक मैं कृष्ण को कहता हूं। समस्त स्वीकृति। निषेध है ही नहीं, निंदा है ही नहीं। जो भी है, उसकी अपनी जगह है अस्तित्व में।
इस वजह से कृष्ण के पास अगर लाखों स्त्रियां इकट्ठी हो सकीं, तो आकस्मिक नहीं है। और पास इकट्ठे होने का कारण न था। महावीर के पास इकट्ठे हों, तो भी एक 'डिस्टेंस', एक 'फार्मल डिस्टेंस' जरूरी है। महावीर के पास भी खड़े हों, तो एक शिष्टाचार का जितना फासला है उतना रखना पड़ेगा। महावीर के गले को स्त्री जाकर मिल जाए तो एकदम अशिष्टता हो जाएगी। न तो महावीर इसे बर्दाश्त करेंगे, न उस स्त्री को इससे कोई सुख और शांति मिलेगी, अपमान ही मिलेगा।

'महावीर किसलिए बर्दाश्त नहीं करेंगे?'

* महावीर इसलिए बर्दाश्त नहीं करेंगे कि महावीर उसे बिलकुल स्वीकार नहीं करेंगे, वह पत्थर की तरह खड़े रह जाएंगे। उनका पूरा अस्तित्व उसे इनकार करेगा। वह कहेंगे नहीं कि मत छुओ। मगर ऐसा लगेगा, कोई शिलाखंड ही हाथों में ले लिया। और स्त्री का अपमान इससे नहीं होता कि कोई कह दे कि मत छुओ, अपमान इससे होता है—वह किसी को छुए और दूसरी तरफ से कोई 'रिस्पांस' न हो, कोई उत्तर न हो। यह सवाल नहीं है। महावीर ऐसे हैं, इसमें कोई उपाय नहीं है। वह कोई स्त्री का अपमान करने जा रहे हैं, ऐसा नहीं है। यह उनका अपना होने का ढंग है। इसलिए स्त्रियां महावीर के आसपास, जिसको हम कहें एक औपचारिक फासला सदा कायम रखती हैं। उनके पास नहीं जाया जा सकता। उनके अस्तित्व का एक घेरा है जिसमें प्रवेश नहीं किया जा सकता।

लेकिन कृष्ण के साथ स्थिति बिलकुल और है। कृष्ण के साथ अगर कोई स्त्री कोई फासला रखना चाहेगी तो मुश्किल में पड़ जाएगी। वह अगर दूर खड़ी होगी तो पाएगी कि गिरती है पास। अगर कृष्ण के पास जाएगी तो पास आना ही पड़ेगा, जहां तक कि पास जाया जा सकता है। जहां कि आगे जाने का उपाय ही न हो, वह बात दूसरी है। लेकिन जहां तक पास जाया जा सकता है, कृष्ण के पास जाना ही पड़ेगा। जैसे कि कृष्ण पुकारते हुए हैं, एक निमंत्रण हैं। जैसे मैंने कहा कि महावीर एक शिलाखंड की तरह खड़े रह जाएंगे, कोई छुएगा भी तो पता चलेगा कि पत्थर है।

हेनरी थारो के संबंध में इमर्सन ने कहीं कहा है कि अगर हेनरी थारो से हाथ कोई मिलाए, तो ऐसा लगता है वृक्ष की सूखी शाखा को हाथ में ले लिया है। क्योंकि हेनरी थारो उत्तर नहीं देता, सिर्फ हाथ दे देता है। और हाथ बिलकुल मुर्दा होता है। उसमें कुछ नहीं होता, उसमें कोई गर्मी नहीं होती, उसमें कोई धारा नहीं होती। उसमें कुछ होता ही नहीं, सिर्फ हाथ होता है। हेनरी थारो की महावीर से दोस्ती बन सकती है।

कृष्ण के अगर कोई दूर भी खड़ा हो जाएगा तो ऐसा लगेगा, वह छू रहे हैं; वह स्पर्श कर रहे हैं, वह बुला रहे हैं। उनका पूरा अस्तित्व निमंत्रण है, आमंत्रण है। इस आमंत्रण को अगर हजारों स्त्रियों ने स्वीकार किया हो, तो आश्चर्य नहीं है। कोई आश्चर्य नहीं है। यह सहज हुआ।

रह गई बात यह कि हम पूछते हैं कि क्या कृष्ण के लिए संभोग जैसी बात संभव है? कृष्ण के लिए कुछ भी असंभव नहीं है। हमारे लिए संभोग प्रश्न है, कृष्ण के लिए प्रश्न नहीं है। हम नहीं पूछते कि फूलों के लिए संभोग संभव है? हम नहीं पूछते, पक्षियों के लिए संभोग संभव है? हम नहीं पूछते कि सारा जगत संभोग की एक लीला में लीन है? यह सारा अस्तित्व संभोगरत है! आदमी पूछना शुरू करता है कि क्या कृष्ण के लिए संभोग संभव है? क्योंकि आदमी जैसा है, तनाव से भरा हुआ, जीवन के प्रति निंदा से भरा हुआ, उसके लिए संभोग जैसी गहन चीज भी संभव नहीं रह गई है। उसके लिए संभोग जैसा अस्तित्व का क्षण भी जटिल जाल बन गया है। वह भी सिद्धांतों की, दीवालों की ओट में खड़ा हो गया है।

संभोग का अर्थ ही क्या है? संभोग का अर्थ इतना ही है कि दो शरीर इतने निकट आ जाएं, जितने कि प्रकृति उन्हें निकट ला सकती है। और कोई अर्थ नहीं है। दो शरीर अपनी जैविक-निकटता में, 'बायोलाजिकल इंटीमेसी' में आ जाएं। उसके आगे प्रकृति का उपाय नहीं है। प्रकृति की आखिरी जो निकटता है, वह संभोग है। प्रकृति के तल पर जो निकटतम नाता है, वह संभोग है। उसके आगे प्रकृति का उपाय नहीं। उसके आगे फिर परमात्मा का ही क्षेत्र शुरू होता है। लेकिन कृष्ण प्रकृति की निकटता को स्वीकार करते हैं; वह कहते हैं, प्रकृति भी परमात्मा की है।

कृष्ण के लिए संभोग विचारणीय नहीं है, प्रश्न नहीं है, समस्या नहीं है, जीवन का एक तथ्य है। हमें बहुत कठिनाई होगी। हमने संभोग को एक समस्या बना दिया है, जीवन का तथ्य नहीं रखा। अभी हमने और चीजों को नहीं बनाया, हम और चीजों को भी कल बना सकते हैं। हम कह सकते हैं कल कि कृष्ण आंख खोलते हैं कि नहीं? अगर हम कभी एक सवाल उठा लें और सिद्धांत बना लें कि आंख खोलना पाप है, तो फिर यह भी हो जाएगा। फिर हम पूछेंगे कि उन्होंने आंख खोली है कि नहीं? अभी हम नहीं बनाएंगे यह सवाल। अभी हम सवाल उन्हीं चीजों को, जिनको हम सवाल बना लेते हैं, उनको हम पूछते हैं कि ऐसा करेंगे या नहीं?

मेरी अपनी समझ यह है, कृष्ण के जीवन में कोई मर्यादा नहीं है। यही उनका व्यक्तित्व है, यही उनकी विशेषता है। मर्यादा वे मानते ही नहीं। मर्यादा ही उनके लिए बंधन है और अमर्यादा ही उनके लिए मुक्ति है। लेकिन जो अर्थ हम लेते हैं अमर्यादा का, वह उनके लिए नहीं है। हमारे लिए अमर्यादा का अर्थ मर्यादा का उल्लंघन है। कृष्ण के लिए अमर्यादा का अर्थ मर्यादा की अनुपस्थिति है। इसको खयाल में ले लें, नहीं तो कठिनाई होती है। कृष्ण के लिए संभोग विचारणीय नहीं है, फलित होना है तो हो जाता है, हो सकता है। नहीं फलित होता है तो नहीं होना है, नहीं होता है। इसकी चिंतना से वह नहीं चलते हैं। इसको सोचकर नहीं चलते। हमारी बड़ी अजीब हालत है। हमने संभोग को मानसिक, 'साइकोलाजिकल' बना लिया है। हम संभोग को भी सोचते हैं। करते हैं तो सोचते हैं, नहीं करते हैं तो सोचते हैं। संभोग भी हमारा निर्णय बनकर चलता है। कृष्ण के लिए निर्णय नहीं है अगर किसी का प्रेम-क्षण इतने निकट आ जाए कि संभोग घटित हो जाए, 'हैपनिंग' हो जाए, तो कृष्ण 'अवेलेबल' हैं, कृष्ण उपलब्ध हैं। न घटित हो, तो कृष्ण आतुर नहीं हैं। न कृष्ण के मन में कोई विरोध है, न कोई प्रशंसा है। जो हो जाता है, उसमें सहज जीने की सिर्फ राजी, स्वीकृति, स्वीकार है।

मैं फिर दोहराऊं कि हमारे अर्थों में स्वीकार नहीं। क्योंकि हम स्वीकार भी अगर करते हैं तो अस्वीकार के खिलाफ करते हैं। कृष्ण के स्वीकार का मतलब है सिर्फ, कि अस्वीकार नहीं। इसलिए कृष्ण को समझना हमें सबसे ज्यादा जटिल है। महावीर को समझना आसान, बुद्ध को समझना आसान, जीसस को समझना आसान, मुहम्मद को समझना आसान, सारी पृथ्वी पर कृष्ण को समझना सर्वाधिक कठिन है। इसलिए सर्वाधिक अन्याय उनके साथ हो जाना सहज ही हो जाता है। हमारी सारी धारणाएं महावीर, बुद्ध, जीसस और मुहम्मद ने निर्मित की हैं। हमारी सारी धारणाओं का जगत, हमारे विचार, हमारे सिद्धांत, हमारे शुभ-अशुभ की व्याख्या महावीर, बुद्ध, जीसस, मुहम्मद, कन्फ्यूसियस, इनने तय की है। इसलिए इनको समझना हमें सदा आसान है, क्योंकि हम इनसे निर्मित हुए हैं। कृष्ण ने हमें निर्मित नहीं किया। असल में कृष्ण किसी को निर्मित ही नहीं करते, वह कहते हैं, जो है वह ठीक है। निर्माण का सवाल क्या है! तो जो निर्मित करते हैं उनसे हम निर्मित हुए हैं, कृष्ण ने तो किसी को निर्मित किया नहीं, इसलिए कृष्ण को समझना बहुत मुश्किल हो जाता है।

जब भी हम कृष्ण को समझते हैं, तो या तो महावीर का चश्मा हमारी आंख पर होगा, या बुद्ध का चश्मा होगा, या क्राइस्ट का होगा, या कन्फ्यूसियस का होगा, उससे हम कृष्ण को देखेंगे। और कृष्ण कहते हैं, तुम्हें अगर मुझे देखना है तो चश्मा उतार दो। बहुत मुश्किल है मामला! वह चश्मा नहीं उतारोगे तो कृष्ण में कुछ-न-कुछ गड़बड़ दिखाई पड़ेगी। वह आपके चश्मे की वजह से दिखाई पड़ेगी। लेकिन आप चश्मा उतारो, तो कृष्ण अत्यंत सहज पुरुष हैं—अत्यंत सहज पुरुष हैं।

पूछा जा सकता है कि इतनी सहज स्त्री क्यों पृथ्वी पर नहीं हो सकी? एकाध स्त्री तो होनी ही चाहिए थी न! कृष्ण को एकाध जवाब स्त्री को देना चाहिए था। कोई इतनी सहज स्त्री क्यों न हो सकी कि लाखों पुरुष उसके प्रति आकर्षित हों? क्या बात है? क्या कारण है? कुछ कारण हैं। इतना ही कारण नहीं है कि स्त्री दबाई गई। इतना ही कारण नहीं है कि पुरुष ने उसे स्वतंत्रता नहीं दी होने की। क्योंकि यह बात फिजूल है। इसका कोई अर्थ नहीं है। जितनी स्वतंत्रता जिसे चाहिए उतनी सदा मिल जाती है, अन्यथा वह जीने से इनकार कर देता है। नहीं, स्त्री कृष्ण का उत्तर नहीं दे पायी, शायद अभी और हजार दो हजार वर्ष लग जायेंगे, तब शायद स्त्री दे पाये। अभी नहीं दे पायी। अभी देना कठिन भी है। न देने का कारण है। स्त्री का सारा व्यक्तित्व, सारा ढंग, उसके होने की प्राकृतिक व्यवस्था 'मोनोगेमस' है, वह एक पर निर्भर रहना चाहती है।...

'क्लियोपेत्रा जैसी?'

* नहीं, बात करता हूं। ...वह एक पर निर्भर रहना चाहती है। उसका चित्त 'मोनोगेमस' है, अब तक, कल भी रहेगा ऐसा जरूरी नहीं है। पुरुष 'पोलीगेमस' है। वह एक उसे कभी भी सुख नहीं दे पाता। पुरुष एक से ऊब जाता है। स्त्री एक से बिलकुल नहीं ऊबती। स्त्री एक के साथ जन्म-जन्म जीने की कामना करती है। एक के साथ फिर दुबारा भी जन्म मिले तो उसी के साथ मिले, वैसी कामना करती है।

यह जो एक-स्त्री-पुरुष का संबंध है, यह पुरुष ने कम तय किया है, यह स्त्री ने ज्यादा तय करवा लिया है। यह पुरुष की वजह से नहीं है, एकपत्नीव्रत, या एक पतिव्रत, यह स्त्री की वजह से है। इसके अब तक 'बायोलाजिकल' कारण भी थे, जैविक कारण भी थे। क्योंकि स्त्री को निर्भर होना है—बहुतों पर निर्भर नहीं हुआ जा सकता है। इसको खयाल में लेना जरूरी है। स्त्री को कंधे पर हाथ रखना है। बहुत कंधों पर हाथ नहीं रखे जा सकते। निर्भर होना जिसका सुख है, वह बहुतों पर निर्भर होगी तो अनिश्चितमना हो जाएगी, निर्भरता उसकी 'इनडिसीसिव' हो जाएगी, उसमें निर्णय नहीं रह जाएगा। जिसे निर्भर होना है—जैसे एक बेल है, उसे एक वृक्ष पर निर्भर होना है, वह बहुत वृक्षों पर एक-साथ नहीं चढ़ सकती। उसे एक वृक्ष पर ही चढ़ना होगा। लेकिन एक वृक्ष बहुत-सी बेलों को आमंत्रित कर सकता है। और एक वृक्ष पर जितनी बेलें चढ़ जाएं उतनी उसे तृप्ति होगी, क्योंकि उतना ही वह वृक्ष मालूम होने लगेगा। एक पुरुष बहुत-सी स्त्रियों को, हाथों को निमंत्रित कर सकता है कि मेरे कंधे पर रखो, क्योंकि उतना ही उसके पुरुष होने की गहरी रस की स्थिति उसे उपलब्ध होगी।

मगर स्त्री एक पर निर्भर होना चाहेगी। इस एक पर निर्भर होने का कारण चित्त में तो है ही, बहुत ज्यादा 'बायोलाजिकल', शारीरिक कारण है, जैविक कारण है। उसके बच्चे होंगे। उन बच्चों के लिए कोई निर्धारक, कोई नियंता, कोई फिक्र करने वाला होना चाहिए। नौ महीने वह असमर्थ होगी। उसके बाद उसके बच्चे के सम्हाले में उसे सारा वक्त लगाना पड़ेगा। अगर वह बहुतों पर निर्भर है, तो इसमें अनिश्चय पैदा होगी और कठिनाई होगी। इसलिए मैंने कहा कि हजार-दो हजार साल लग जाएंगे, क्योंकि बहुत जल्दी स्त्रियां इनकार कर देंगी वैज्ञानिक विकास के साथ बच्चों को पेट में सम्हालने से। वे तो प्रयोगशालाओं में सम्हाले जाएंगे। जिस दिन स्त्री बच्चे को पेट में रखने से मुक्त हो जाएगी, उस दिन स्त्री भी कृष्ण जैसा व्यक्ति पैदा कर सकती है, उसके पहले नहीं पैदा कर सकती। उसके कारण थे।

यह जो मैंने कृष्ण के सहज होने की बात कही, इसे मनुष्यता जितने गहरे में समझ पाए उतने ही चिंताओं और तनावों और संतापों से मुक्त हो सकती है। आदमी के अधिक तनाव आदमी के अपने ही स्वभाव से संघर्ष के परिणाम हैं। आदमी की अधिक चिंताएं अपने से ही लड़ने की चिंताएं हैं। और मजा यह है कि हम अपने से लड़ सकते हैं, लेकिन जीत नहीं पाते—जीत नहीं सकते। हार ही होती है—हार ही होती है। कभी-कभी कोई जीत जाता है। बड़ी अनूठी वह घटना है, कभी-कभी कोई जीत पाता है। उस कभी-कभी कोई जीतने वाले के अनुसरण में लाखों लोग अपने से लड़ते चले जाते हैं। और ये लाखों लोग सिर्फ चिंतित होते हैं, असफल होते हैं; हारते हैं और परेशान होते हैं।

मेरी अपनी दृष्टि ऐसी है कि महावीर के मार्ग से कभी कोई एकाध आदमी उपलब्ध हो सकता है। लेकिन महावीर के मार्ग पर सौ में से निन्यानबे आदमी चलते हैं। कृष्ण के मार्ग से निन्यानबे आदमी उपलब्ध हो सकते हैं, लेकिन कृष्ण के मार्ग से एकाध आदमी भी नहीं चलता है। महावीर का मार्ग पगडंडी का है, मैंने का। बुद्ध का भी। जीसस का भी। इनके मार्ग बहुत संकरे हैं, बहुत 'नैरो' हैं। और बड़े दुरूह हैं, क्योंकि व्यक्ति को अपने से ही लड़कर गुजरना है। कभी-कभी कोई सफलता उपलब्ध होती है।

कृष्ण का मार्ग राजपथ की तरह है। उस पर बहुत लोग जा सकते हैं। लेकिन, उस पर बहुत कम लोग जाएंगे, बहुत कम लोग जाते हैं। क्योंकि सहज होने की क्षमता ही जैसे आदमी खोता चला गया। असहज होना ही सहज हो गया है। रुग्ण होना ही हमारा स्वास्थ्य हो गया है और स्वस्थ होने की धारणा ही भूल गई है। पुनर्विचार की जरूरत है मनुष्य पर। लेकिन मैं मानता हूं कि पुनर्विचार पैदा हो रहा है। फ्रॉयड के बाद अब भविष्य में कृष्ण रोज-रोज सार्थक होते चले जाएंगे। क्योंकि फ्रॉयड के बाद पहली बार मनुष्य के चित्त की सहजता को स्वीकृति मिलने की भूमिका बन रही है। जैसा मनुष्य है, उस मनुष्य को ही विकसित करना है। अब तक जैसा मनुष्य होना चाहिए, उसको हमने पैदा करने की कोशिश की थी। अब तक आदर्श कीमती था और मनुष्य को उस आदर्श तक पहुंचना ही था जरूरी। अब फ्रॉयड के बाद एक रूपांतरण पूरी दुनिया के जिसको हम कहें बौद्धिक जगत में एक ऊहापोह शुरू हुआ है, वह यह कि हम आदमी को पहुंचाने की सारी कोशिश करके भी पहुंचा नहीं पाए। कभी-कभी कोई एकाध आदमी पहुंच जाता है, उससे कोई हल नहीं होता। वह नियम नहीं है, सिर्फ अपवाद है। और अपवाद सिर्फ नियम को सिद्ध करते हैं और कुछ नहीं करते। वह सिर्फ इतना सिद्ध करते

हैं कि सब न पहुंच सकेंगे। फ्रॉयड के बाद पहली दफा 'आनेस्ट थिंकिंग', ईमानदार चिंतन शुरू हुआ है। वह ईमानदार चिंतन यह कह रहा है कि आदमी क्या है, उसको हम समझने चलें।

अब एक पत्नी है, उसकी आकांक्षा है कि उसका पति कभी किसी दूसरी स्त्री को देखकर प्रसन्न न हो। यह आकांक्षा पुरुष के स्वभाव के बिलकुल अनुकूल है। इस आकांक्षा का एक ही परिणाम हो सकता है। अगर पुरुष की आकांक्षा से नीति और नियम निर्धारित किए जाएं तो स्त्री दुखी और पीड़ित हो जाएगी। अगर स्त्री की आकांक्षा से नीति और नियम निर्धारित किए जाएं तो पुरुष दुखी हो जाएगा। और मजा यह है कि दो में से एक दुखी हो जाए तो दूसरा सुखी नहीं हो सकता। उसका कोई उपाय नहीं रह जाता। लेकिन अब तक यही हुआ है।

क्या ऐसा नहीं हो सकता है कि हम पुरुष और स्त्री दोनों के स्वभाव को समझने की दोनों कोशिश करें? और जब पुरुष किसी स्त्री को देखकर प्रसन्न हो तो पत्नी इससे पीड़ित न हो जाए, और जाने कि यह पुरुष का स्वभाव है। और जब उसकी स्त्री उदास और परेशान दिखाई पड़े तो उसका पति उस पर टूट न पड़े, जाने कि यह स्त्री का स्वभाव है। अगर हम एक संतापहीन, तनावमुक्त जगत पैदा करना चाहते हों, तो हमें व्यक्तियों के स्वभाव को समझने की कोशिश करनी चाहिए। और स्वभाव क्यों है, उसकी जड़ों में जाना चाहिए। और अगर स्वभाव बदलना हो तो जड़ें बदलनी चाहिए, स्वभाव को बदलने की ऊपर से नैतिक चेष्टा नहीं करनी चाहिए। स्त्री तब तक ईर्ष्यालु रहेगी, जब तक आर्थिक रूप से स्वतंत्र नहीं है। तब तक ईर्ष्यालु रहेगी, जब तक बच्चे का बोझ अकेले उस पर पड़ जाता है। तब तक ईर्ष्यालु रहेगी, जब तक उसका होना द्वितीय कोटि की जगह, पुरुष के बराबर आर्थिक स्वावलंबन, पुरुष के बराबर उसकी जैविक मजबूरी से मुक्ति, तो हम स्त्री को ईर्ष्या से तत्काल मुक्त कर सकेंगे। और स्त्री उसी तरह दूसरे पुरुषों में भी रस लेने को आतुर हो जाएगी जैसा पुरुष सदा से रहा है। लेकिन यह अभी तक नहीं हो सका। यह अब हो सकता है। मनुष्य के बाबत हमारी समझ गहरी हुई है।

पुरानी हमारी सारी व्यवस्था मनुष्य की समझ पर निर्भर नहीं थी, बल्कि मनुष्य की जरूरतों पर निर्भर थी। मनुष्य के समाज में क्या जरूरी है, वह हमने नियम बनाए थे। मनुष्य के स्वभाव के लिए क्या जरूरी है, वह हमने नियम नहीं बनाए थे। लेकिन फ्रॉयड के बाद एक क्रांति घटित हुई है। और मैं मानता हूं, फ्रॉयड द्वार बनेगा कृष्ण की वापसी का। कृष्ण वापस लौटेंगे—वह फ्रॉयड के द्वार से लौटेंगे। फ्रॉयड ने बड़ा प्राथमिक काम किया है। अभी बहुत काम उस दिशा में होना जरूरी है। फ्रॉयड और कृष्ण के आने वाले भविष्य में निरंतर अधिक लोगों को कृष्ण के जीवन से रोशनी मिलने की संभावना बढ़ती जाने वाली है। उसकी सहजता धीरे-धीरे हमारे अनुकूल और प्रीतिकर होती जाने वाली है।

और जिस दिन यह हो सकेगा—मेरा अपना मानना है कि महावीर, बुद्ध, जीसस, कन्फ्यूसियस को मानकर हम एक स्वस्थ दुनिया पैदा नहीं कर सके। एक प्रयोग जरूर किया जाने जैसा है कि कृष्ण की तरह देखकर हम दुनिया को एक व्यवस्था दे पाएं। और मेरी अपनी समझ है कि जो दुनिया हमने अब तक पैदा की है, उससे वह दुनिया बेहतर हो सकेगी। क्योंकि अब तक जो दुनिया हमने पैदा की है वह अपवाद को नियम मानकर की है, अब हम नियम को ही नियम मानकर करेंगे।

21 वंशीरूप जीवन के प्रतीक कृष्ण

'भगवान श्री, कृष्ण के संदर्भ में जीसस पर चर्चा करते समय एक बार आपने कहा कि जीसस के 'क्रॉस' से जिस सभ्यता का प्रारंभ हुआ, उसका अंत आधुनिक स्थिति में एटम बम पर जाकर हुआ। और आधुनिक सभ्यता को अभी वर्तमान स्थिति में ' क्रॉस' या वंशी के बीच चुनाव करना है। कृपया इस बात को फिर स्पष्ट करें। तथा जिस प्रकार 'क्रॉस' की संस्कृति का अंत एटम बम पर हुआ है अभी, उसी प्रकाश वंशी से जो जीवनधारा चली, उसका भी तो अंत सुदर्शनचक्र और महाभारत पर हुआ था। मैं यह पूछना चाहूंगा कि आप 'क्रॉस' और एटम बम का जोड़ चुनेंगे कि वंशी और महाभारत का जोड़ भारत के लिए चुनेंगे?'

* 'क्रॉस' मृत्यु का सूचक है। कब्र पर लगता है तो उसका अर्थ है, और जब जीवन पर लग जाता है तो खतरनाक है। लेकिन, बहुत सारे तथाकथित धार्मिक लोगों ने मनुष्य के शरीर को कब्र ही समझा है। उनकी इस समझ का परिणाम खतरनाक होने वाला है। और अगर मनुष्य की छाती पर 'क्रॉस' लटका दिया जाए, जैसे कब्र पर 'क्रॉस' लगा होता है, तो हम जीवन को स्वीकार नहीं करते, अस्वीकार की घोषणा करते हैं। हम जीवन को वरदान नहीं मानते हैं, अभिशाप मानते हैं। ईसाइयत– जीसस का नाम नहीं कह रहा हूं–ईसाइयत ऐसा समझती रही है कि जो मनुष्य का जीवन है, पाप का फल है, 'ओरिजनल सिन' का फल है। जिसे हम जिंदगी समझ रहे हैं, वह जिंदगी परमात्मा के द्वारा दिया गया वरदान नहीं, परमात्मा के द्वारा दी गई सजा है।

ऐसा चिंतन गहरे में दुखवादी और 'पैसिमिस्ट' है। ऐसा चिंतन गुलाब के फूल के पास खड़े होकर कांटों की गिनती करता है, फूल को भूल जाता है। ऐसा चिंतन दो अंधेरी रातों के बीच में एक छोटे-से दिन को देखता है, दो प्रकाशित दिनों के बीच में एक अंधेरी रात को नहीं। ऐसा चिंतन जीवन के दुखों को बटोर कर इकट्ठा कर लेता है, जीवन के सुखों का विस्मृत कर देता है। असल में दुख को बटोर कर इकट्ठा करना भी रुग्णचित्त का लक्षण है। अस्वाभाविक, भटका हुआ। और फिर उस दुख के आधार पर पूरे जीवन के संबंध में जो 'फिलॉसफी', जो दर्शन का फैलाव होता है, वह उदासी का, अंधेरे का, निषेध का, नकार का और 'क्रॉस' का हो जाता है।

जीसस का प्रभाव, शायद वे सूली पर लटकाए गए होते तो दुनिया पर इतना न पड़ता। शायद दुनिया उन्हें भूल ही गई होती। लेकिन जीसस का सूली पर लटकाया जाना ही 'क्रिश्यिनिटी' का जन्म बन गया। आज कोई एक अरब आदमी के करीब ईसाइयत में सम्मिलित हैं। यह मैं जीसस की विजय नहीं मानता हूं, यह मैं 'क्रॉस' की विजय मानता हूं। जीसस सूली पर लटके हुए हमारे रुग्ण और उदास चित्तों को बड़े ही ठीक मालूम पड़े, वे हमारे जीवन के प्रतीक ही मालूम पड़े, हम सब सूली पर लटके हुए लोग हैं। हम सब दुख में जी रहे लोग हैं। हम सब दुख को ही चुनते हैं, इकट्ठा करते हैं। हम दुख का ढेर लगाए चले जाते हैं। आखिर में दुख ही हाथ में रह जाता है, सुख सब खो जाते हैं।

कृष्ण बिलकुल ही विपरीत व्यक्तित्व है। और कृष्ण की बांसुरी का प्रतीक 'क्रॉस' से ठीक उलटा है। जैसे बांसुरी को कब्र पर रखने का कोई अर्थ नहीं होता। उसे जिंदा ओंठ चाहिए। और सिर्फ ओंठ ही नहीं चाहिए, नाचते हुए ओंठ भी चाहिए। गाते हुए ओंठ भी चाहिए। और ओंठ ऐसे ही नहीं नाचते और गाते हैं जब तक कि भीतर के प्राण आनंद से उल्लसित नहीं हों। मेरे लिए जीसस के 'क्रॉस' और कृष्ण की बांसुरी में चुनाव दिखाई पड़ता है। ऐसा नहीं है कि जिंदगी में दुख नहीं है, दुख जिंदगी में हैं। लेकिन जो आदमी उन्हें इकट्ठा कर लेता है, जो उन्हें समूहगत रूप से देखने लगता है, उसे फिर सुख दिखाई पड़ने बंद हो जाते हैं। ऐसा भी नहीं है कि जिंदगी

में सुख नहीं हैं—सुख हैं। और जो आदमी सुखों को इकट्ठा कर लेता है, और सुखों की उस आनंद-राशि में डूबता है, उसे दुख दिखाई पड़ने बंद हो जाते हैं।
जीवन में तो सुख और दुख दोनों हैं। सब कुछ निर्भर करता है व्यक्ति पर कि वह क्या देखता है। मेरी अपनी समझ ऐसी है कि अगर कोई आदमी गुलाब के फूल को ठीक से देख पाए और प्रेम कर पाए, तो उसे कांटे दिखाई पड़ने बंद हो जाते हैं। क योंकि जो आंखें गुलाब के फूल से रस जाती हैं, रम जाती हैं, वे आंखें कांटों को दे खना बंद कर देती हैं। ऐसा नहीं है कि कांटे मिट जाते हैं, बल्कि ऐसा कि कांटे भी गुलाब के साथी और मित्र हो जाते हैं और वे गुलाब के फूल की रक्षा की तरह ही दिखाई पड़ते हैं। वे एक ही पौधे पर फूल की रक्षा के लिए निकले हुए कांटे होते हैं। लेकिन जो आदमी कांटों को चुन लेता है, उसे फूल दिखाई पड़ना बंद हो जाता है। जो आदमी कांटों को चुनता है, वह यह कहेगा कि जहां इतने कांटे हैं वहां एक फूल खिल कैसे सकता है? जहां कांटे-ही-कांटे हैं, वहां फूल असंभावना है। जरूर मैं किसी भ्रम में हूं कि मुझे फूल दिखाई पड़ रहा है। जहां कांटे-ही-कांटे हैं, वहां फूल हो नहीं सकता। कांटा सत्य हो जाता है, फूल स्वप्न हो जाता है। और जो आदमी फूल को देख लेता है, और देख पाता है और प्रेम कर पाता है और जी पाता है, उ स आदमी को एक दिन लगना शुरू होता है कि जिस पौधे पर गुलाब जैसा कोमल फूल खिलता हो, उस पौधे पर कांटे कैसे हो सकते हैं। उसके लिए कांटे धीरे-धीरे भ्र म और झूठ हो जाते हैं।
मर्जी है आदमी की कि वह क्या चुने। स्वतंत्रता है आदमी को कि वह क्या चुने। सा र्त्र का एक वचन बहुत अदभुत है; उसमें वह कहता है—'वी आर कंडेम्ड टु बी फ्री'। हम मजबूर हैं स्वतंत्र होने को। जबर्दस्ती है हमारे ऊपर स्वतंत्रता। हम सब चुन स कते हैं, सिर्फ एक स्वतंत्रता को ही नहीं चुन सकते हैं, वह हमें मिली ही हुई है। क ोई आदमी यह नहीं कह सकता कि मैं परतंत्रता चुन सकता हूं, क्योंकि वह चुनना भी उसकी स्वतंत्रता ही है। इसलिए सार्त्र कहता है—'कंडेम्ड टु बी फ्री'। कभी भी स्व तंत्रता के साथ किसी ने 'कंडेम्ड' शब्द का प्रयोग नहीं किया होगा।
मनुष्य स्वतंत्र है। और परमात्मा के होने की यह घोषणा है। और मनुष्य जो चुनना चाहे, चुन सकता है। यदि मनुष्य ने दुख चुना, तो चुन सकता है। जिंदगी उसके लि ए दुख बन जाएगी। हम जो चुनते हैं, जिंदगी वही हो जाती है। हम जो देखने जाते हैं, वह दिखाई पड़ जाता है। हम जो खोजने जाते हैं, वह मिल जाता है। हम जो मांगने जाते हैं, वह 'फुलफिल' हो जाता है, उसकी पूर्ति हो जाती है।
दुख चुनने जाएं, दुख मिल जाएगा। लेकिन, दुख चुनने वाला आदमी अपने लिए ही दुख नहीं चुनता। वहीं से अनैतिकता शुरू होती है। दुख चुनने वाला आदमी दूसरे के लिए भी दुख चुनता है। यह असंभव है कि दुखी आदमी और किसी के लिए सुख देने वाला बन जाए। जो लेने तक में दुख लेता है, वह देने में सुख नहीं दे सकता। जो लेने तक में चुन-चुन का दुख को लाता है, वह देने में सुख देने वाला नहीं हो सकता। यह भी ध्यान रखना जरूरी है कि जो हमारे पास नहीं है, उसे हम कभी दे

नहीं सकते हैं। हम वही देते हैं जो हमारे पास है। यदि मैंने दुख चुना है, तो मैं दुख ही दे सकता हूं। दुख मेरा प्राण हो गया है। जिसने दुख चुना है, वह दुख देगा। इस लिए दुखी आदमी अकेला दुखी नहीं होता, अपने चारों तरफ दुख की हजार तरह की तरंगें फेंकता रहता है। अपने उठने-बैठने, अपने होने, अपनी चुप्पी, अपने बोलने, अपने कुछ करने, न करने, सबसे चारों तरफ दुख के वर्तुल फैलाता रहता है। उस के चारों तरफ दुख की उदास लहरें घूमती रहती हैं और परिव्याप्त होती रहती हैं। तो जब आप अपने लिए दुख चुनते हैं तो अपने ही लिए नहीं चुनते, आप इस पूरे संसार के लिए भी दुख चुनते हैं।

तो जब मैंने कहा कि दुख के चुनाव ने मनुष्य को युद्ध तक पहुंचा दिया है। और ऐसे युद्ध तक, जो कि 'टोटल सूसाइड' बन सकता है, जो कि समग्र आत्मघात बन सकता है। यह मनुष्य के दुख का चुनाव है जो हमें उस जगह ले आया। हमने सुना है बहुत बार, जानते हैं हम कि कभी कोई आत्मघात कर लेता है, लेकिन हमें वक्त भी आ सकता है कि पूरी मनुष्यता इतनी दुखी हो जाए कि आत्मघात कर ले। हमारे बढ़ते हुए युद्ध आत्मघात के बढ़ते हुए चरण हैं। यह दुख के चुनाव से संभव हुआ है। और दुख को जब हम धर्म की तरह चुन लेते हैं, तो फिर अधर्म की तरह चुनने को कुछ बचता भी नहीं है। जब दुख को हम धर्म बना लेते हैं, तो फिर अधर्म क्या होगा? जब दुख धर्म बन जाता है, तो गौरवान्वित भी हो जाता है। 'ग्लोरीफाइड' भी हो जाता है।

यह जो दुख की धारा 'क्रॉस' के आसपास निर्मित हुई, मैं नहीं कहता जीसस के आसपास, क्योंकि जीसस का 'क्रॉस' से कोई अनिवार्य संबंध नहीं है। जीसस बिना 'क्रॉस' के भी हो सकते थे। यह जिन लोगों ने जीसस को सूली दी, जिन्होंने 'क्रॉस' दिया, ईसाइयत उनने पैदा की है। मैं निरंतर ऐसा कहता हूं कि ईसाइयत को पैदा करने वाले जीसस नहीं हैं, ईसाइयत को पैदा करने वाले वे पंडे और पुरोहित हैं यहूदी, जिन्होंने जीसस को सूली दी। ईसाइयत का जन्म 'क्रॉस' से होता है, जीसस से नहीं। जीसस तो बेचारा 'क्रॉस' पर लटकाया गया है, यह बिलकुल ही 'सेकेंड्री' से बात है, इससे कोई लेना-देना नहीं है। वह 'क्रॉस' महत्वपूर्ण होता चला गया हमारे चित्त में। और जो-जो अपने का 'क्रॉस' पर अनुभव करते हैं लटका हुआ, सूली पर, चाहे वह सूली परिवार की हो, चाहे वह सूली प्रेम की हो, चाहे वह सूली राष्ट्रों की हो, चाहे वह सूली धर्मों की हो, चाहे वह सूली दैनंदिन जीवन की हो, जो लोग भी अनुभव करते हैं कि सूली पर लटके हैं, उन्हें जीवन एक महापाप हो जाता है। वे सारे महापाप को अनुभव करने वाले लोग 'क्रॉस' से प्रभावित होते चले गए हैं और 'पैसिमिस्टों' का एक बड़ा गिरोह सारी दुनिया में इकट्ठा हो गया है।

पिछले दो महायुद्ध ईसाई मुल्कों ने लड़े और पैदा किए। गैर-ईसाई मुल्क अगर उन युद्धों में आए भी, घसीटे गए। सिर्फ एक जापान ऐसा मुल्क था, जो गैर-ईसाई था जो युद्ध में आक्रामक की तरह आया था। लेकिन, जापान को अब पूर्वी मुल्क कहना मुश्किल है। जापान बहुत गहरे अर्थों में भूगोल का खयाल छोड़ दे तो अब पश्चिम

का हिस्सा है। और जापान के पास भी 'सूसाइड' की लंबी परंपरा है, जिसको वे 'हा राकिरी' कहते हैं। जरा-सा आदमी दुखी हो जाए तो मर जाए, बस इसके सिवा को ई उपाय नहीं है। जैसे कि कल फूल खिलने की कोई संभावना न रही। सांझ फूल मु र्झा गया तो मर जाओ, कल सुबह फूल खिलने का कोई उपाय नहीं। इतनी प्रतीक्षा भी नहीं, इतना धैर्य भी नहीं।

तो 'हाराकिरी' वाला एक मुल्क और पश्चिम के 'क्रॉस' वाले मुल्कों ने इधर पिछले दो बड़े युद्ध लड़े हैं। तीसरा युद्ध पूरी मनुष्यता का अंत हो सकता है, जैसे जीसस सूली पर लटके हैं, ऐसे पूरी मनुष्यता सूली पर लटक सकती है। मैं नहीं कहता हूं ि क इसमें जीसस का हाथ है, मैं कहता हूं, 'क्रॉस' पर लटकाने वाले लोगों का हाथ है। और मैं यह भी नहीं कहता हूं कि जीसस से प्रभावित होकर लोग 'क्रॉस' के पा स आए हैं, 'क्रॉस' से प्रभावित होकर जीसस के पास आए हैं।

दूसरी बात पूछी है, तो मैं मानता हूं कि क्रॉसवादी, दुखवादी, 'सैडिस्ट' सभ्यता मनुष् य को अंततः आत्मघात में ले जाने वाली है। असल में 'क्रॉस' को लेकर चलने का कोई अर्थ नहीं है और अगर जिंदगी 'क्रॉस' भी रख दे तो उस पर फूल लटका देना भी हमारा चुनाव है।

कृष्ण तो ठीक मुझे विपरीत मालूम पड़ते हैं, उनकी बांसुरी मुझे ठीक विपरीत मालू म पड़ती है। और यह भी मैं आपको कह दूं कि जीसस को 'क्रॉस' पर दूसरे लटका ते हैं, कृष्ण के ओंठों पर कोई दूसरा बांसुरी नहीं रखता। इसलिए यह खयाल में र ख लेना जरूरी है कि कृष्ण की बांसुरी उनके व्यक्तित्व का प्रतीक है और जीसस क ा 'क्रॉस' उनके व्यक्तित्व का प्रतीक नहीं है। उसे दूसरों ने दिया है, कृष्ण की बांसुर ी अपने हाथों से ओंठों पर रखी गई है। कृष्ण की बांसुरी में मुझे जीवन के अहोभाव , जीवन के अनुग्रह, जीवन के प्रति 'ग्रेटीच्यूड' का गीत, धन्यवाद, आभार मालूम ह ोता है। कृष्ण का चुनाव जीवन में सुख का चुनाव है। आनंद का चुनाव है। और जै सा मैंने कहा, जो दुख को चुनता है, वह दुख देने वाला बन जाता है, जो आनंद क ो चुनता है, वह आनंद देने वाला बन जाता है।

तो कृष्ण अगर बांसुरी बजाएंगे—यह भी थोड़ा समझ लेने वाली बात है—कि अगर कृ ष्ण बांसुरी बजाएंगे तो यह आनंद कृष्ण तक ही सीमित नहीं रहेगा, यह उन कानों तक भी पहुंच जाएगा जिन पर ये बांसुरी के स्वर पड़ते हैं। अगर जीसस को आप सू ली पर लटका हुआ देखेंगे और उनके पास से गुजरेंगे तो आप भी उदास हो जाएंगे। और कृष्ण को अगर नाचते हुए देखेंगे किसी वृक्ष की छाया में और पास से गुजरेंगे , तो आप भी प्रफुल्लित होंगे। सुख भी संक्रामक है, दुख भी संक्रामक है। वे सब फै लते हैं, और दूसरों तक हो जाते हैं। इसलिए जो आदमी अपने लिए दुख चुनता है, वह सारी दुनिया के लिए 'कंडेमनेशन' चुनता है। वह यह कह रहा है कि मैं दुखी होकर अब सारी दुनिया को दुखी होने का निर्णय करता हूं। जो आदमी जीवन में सु ख का चुनाव करता है, वह सारी दुनिया के लिए गीत और संगीत और नृत्य चुनत ा है। मैं धार्मिक आदमी उसी को कहता हूं जो दूसरे के लिए भी सुख चुनता है। मेरे

लिए धार्मिक का अर्थ आनंद के अतिरिक्त कुछ और हो ही नहीं सकता है। कृष्ण इन अर्थों में मेरे लिए धार्मिक हैं। उनका सारा होना आनंद के एक स्फुरण के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है।

लेकिन पूछा गया है कि कृष्ण की बांसुरी के बाद भी तो महाभारत का युद्ध हुआ? यह कृष्ण की बांसुरी के बावजूद हुआ। यह कृष्ण की बांसुरी के कारण नहीं हुआ। क्योंकि बांसुरी से युद्ध होने का कोई आंतरिक संबंध नहीं है। 'क्रॉस' का और युद्ध से तो आंतरिक संबंध है, एक 'लाजिकल रिलेशनशिप' है, लेकिन बांसुरी से युद्ध का कोई भी तार्किक संबंध नहीं है। कृष्ण की बांसुरी के बावजूद युद्ध हुआ। इसका मतलब यह है कि हम इतने दुखवादी हैं कि कृष्ण की बांसुरी भी हमें प्रफुल्लित नहीं कर पाई है। बांसुरी बजती रही है और हम युद्ध में उतर गए हैं। बांसुरी बजती रही, लेकिन हम अहोभाव से नहीं भर पाए हैं। बांसुरी हमारी बांसुरी नहीं हो पाई।

यह भी बहुत मजे की बात है कि दूसरे का सुख अपना सुख बनाना बहुत मुश्किल है। दूसरे का दुख अपना दुख बनाना बहुत आसान है। इसलिए आप दूसरे के रोने में रो सकते हैं, लेकिन दूसरे के हंसने में हंसना मुश्किल हो जाता है। अगर किसी के मकान में आग लग गई है तो आप सहानुभूति बता पाते हैं, लेकिन किसी का मकान बड़ा हो गया है, तो उसके आनंद में भाग नहीं ले पाते हैं। इसमें बुनियादी कारण हैं।

जीसस के 'क्रॉस' के साथ हम निकट हो पाते हैं; लेकिन कृष्ण की बांसुरी के साथ हो सकता है हम ईर्ष्या से भर का लौट जाएं। कृष्ण की बांसुरी हममें सिर्फ ईर्ष्या ही जगाए, कोई सहानुभूति, कोई 'एम्पैथी' पैदा न करे। लेकिन जीसस का 'क्रॉस' हममें 'क्रॉस' हममें 'एम्पैथी' पैदा करता है, ईर्ष्या पैदा नहीं करता। जीसस का 'क्रॉस' इसलिए भी ईर्ष्या पैदा नहीं कर सकता है कि हम कोई 'क्रॉस' पर लटकने के लिए तैयार तो नहीं है। कृष्ण बांसुरी बजा रहे हैं तो हमारा मन ईर्ष्या से भर सकता है, और ईर्ष्या दुख बन सकती है। सुख में सहभागी होना बड़ी कठिन बात है। दुख में सहभागी होना बड़ी सरल बात है। अति साधारण चित्त का व्यक्ति भी दुख में सहभागी हो जाता है। अति असाधारण चित्त का व्यक्ति चाहिए जो सुख में सहभागी हो सके। दूसरे के सुख में 'पार्टिसिपेट' करना, दूसरे के सुख में डूबना और दूसरे के सुख को अपने जैसा अनुभव कर पाना बड़ी ऊंचाई की बात है। दूसरे के दुख में कठिनाई नहीं है। इसके बहुत कारण हैं। पहला कारण तो यह है कि हम दुखी हैं ही, 'आलरेडी'। कोई भी दुखी हो तो हमें कोई दिक्कत नहीं आती, हम उसमें डूब पाते हैं। सुखी हम नहीं हैं। कोई सुखी हो तो हमारा कोई तालमेल नहीं बन पाता। कोई संबंध नहीं बन पाता।

युद्ध हुआ कृष्ण की बांसुरी के बाद भी। और भी मजे की बात है कि जीसस के 'क्रॉस' के बाद युद्धों की गति बढ़ते-बढ़ते अभी दो हजार साल लगे तब हुआ। कृष्ण तो बांसुरी बजा रहे थे तभी युद्ध हो गया। कृष्ण की बांसुरी के बावजूद यह युद्ध हुआ है, कृष्ण की बांसुरी न तो समझी जा सकी है, न पकड़ी जा सकी है, न पहचानी

जा सकी है। यह भी सोचने जैसा है कि कृष्ण तो खुद युद्ध में उतरे हैं, जीसस को युद्ध में नहीं उतारा जा सकता। जीसस से अगर कोई कहेगा कि आप युद्ध में उतरें तो जीसस कहेंगे, पागल हो गए हैं; क्योंकि मैं कहता हूं जो एक चांटा तुम्हारे गाल पर मारे, दूसरा उसके सामने कर देना। और जीसस कहते हैं कि पुराने पैगंबरों ने कहा था कि जो तुम्हारी तरफ ईंट फेंके, तुम उसकी तरफ पत्थर से मारना, और जो तुम्हारी एक आंख फोड़े, तुम उसकी दोनों आंखें छीन लेना, लेकिन मैं तुमसे कह ता हूं कि कोई तुम्हारा कोट छीने तो तुम अपनी कमीज भी दे देना। और मैं तुमसे कहता हूं कि कोई अगर एक मील तक तुमसे बोझा ढोने को कहे, तो तुम दो मील तक ढो देना। हो सकता है संकोच में वह बेचारा ज्यादा न कह पा रहा हो।

यह जो जीसस है, इसको हम युद्ध में नहीं उतार सकते। अब चीज थोड़ी जटिल मा लूम पड़ेगी। जीसस को युद्ध में नहीं उतारा जा सकता। लेकिन कृष्ण युद्ध में उतर जाते हैं। जीसस को इसलिए युद्ध में नहीं उतारा जा सकता है कि जीवन इतना बद तर है कि उसके लिए लड़ने का कोई अर्थ नहीं है। कृष्ण को युद्ध में उतारा जा स कता है। जीवन इतना आनंदपूर्ण है कि उसके लिए लड़ा जा सकता है।

इसे थोड़ा समझ लें।

जीसस के लिए जीवन इतना व्यर्थ है, जैसा जीवन है वह इतना दुखपूर्ण है कि आप ने एक चांटा मार दिया तो इससे दुख में कोई बढ़ती नहीं होती। कहना चाहिए कि जीसस पहले से ही इतने पिटे हुए हैं कि आपके एक चांटे से कोई फर्क नहीं पड़ता। वह दूसरा गाल भी सामने कर देते हैं कि आपको उनका गाल फेरने की तकलीफ भ ी न हो। जीसस इतने दुखी हैं कि उन्हें और दुखी नहीं किया जा सकता। इसलिए ज ीसस को लड़ने के लिए तैयार नहीं किया जा सकता। लड़ने के लिए तो केवल वे ही तैयार हो सकते हैं जो जीवन के आनंद के घोषक हैं। अगर जीवन के आनंद पर ह मला हो तो वे लड़ेंगे। वे जीवन के आनंद के लिए अपने को दांव पर लगा देंगे। वे जीवन के आनंद को बचाने के लिए कुछ करने को तैयार हो सकते हैं। जीसस को तैयार नहीं किया जा सकता युद्ध को। महावीर को भी तैयार नहीं किया जा सकता युद्ध के लिए। बुद्ध को भी तैयार नहीं किया जा सकता युद्ध के लिए। सिर्फ कृष्ण को तैयार किया जा सकता है। या एक और आदमी है, मुहम्मद, उसे तैयार किया जा सकता है युद्ध के लिए। मुहम्मद किसी बहुत गहरे रास्ते से कृष्ण के थोड़े समीप आते हैं। पूरा आना तो मुश्किल है, थोड़े समीप आते हैं। जिनको ऐसा लगता है ि क जीवन में कुछ बचाने योग्य है, केवल वे ही लड़ने के लिए तैयार किए जा सकते हैं। जिनको ऐसा लगता है कि जीवन में कुछ बचाने योग्य ही नहीं है, उनके लड़ने का क्या सवाल है!

लेकिन कृष्ण युद्धखोर नहीं हैं। युद्धवादी नहीं हैं। हैं तो वे जीवनवादी, लेकिन अगर जीवन पर संकट हो, तो वे लड़ने को तैयार हैं। इसलिए कृष्ण ने पूरी कोशिश की है कि युद्ध न हो। इसके सब उपाय कर लिए गए हैं कि युद्ध न हो। इस युद्ध को टा ला जा सके और जीवन बचाया जा सके, इसके लिए कृष्ण ने कुछ भी उठा नहीं र

खा है। लेकिन जब ऐसा लगता है कि कोई उपाय नहीं है, और मृत्यु की शक्तियां लड़ेंगी ही, और अधर्म की शक्तियां झुकने के लिए तैयार नहीं हैं, समझौते के लिए भी तैयार नहीं हैं, तब कृष्ण जीवन के पक्ष में और धर्म के पक्ष में लड़ने को खड़े ह ो जाते हैं।

मेरे देखे कृष्ण के लिए जीवन और धर्म दो चीजें नहीं हैं। वे लड़ने को तैयार हो जा ते हैं। स्वभावतः, कृष्ण जैसा आदमी जब लड़ता है, तभी भी प्रफुल्लित और आनंदि त होता है; और जीसस जैसा आदमी अगर न लड़े, तो भी उदास मिलेगा। कृष्ण जै सा व्यक्ति जब लड़ता है, तभी भी आनंदित है, क्योंकि लड़ना भी जीवन के एक हि स्से की तरह आया है। इसे कोई जीवन से अलग बांटा नहीं जा सकता। और जैसे मैं ने पीछे आपको बार-बार कहा, कृष्ण का जिंदगी में ऐसा चुनाव नहीं है जैसा कि आ मतौर से साधुओं और 'प्यूरिटन्स' और नैतिकवादियों का होता है। कृष्ण ऐसा नहीं कहते हैं कि युद्ध जो है, वह हर हालत में कोई चीज न बुरी होती है, न कोई ची ज हर हालत में अच्छी होती है। ऐसे क्षण होते हैं जब जहर अमृत होता है और अ मृत जहर हो जाता है। और ऐसे क्षण होते हैं, जब अभिशाप वरदान बन जाता है और वरदान अभिशाप हो जाता है।

कृष्ण कहते हैं, हर हालत में कुछ तय नहीं है। यह प्रतिपल और प्रति परिस्थिति में तय होता है कि क्या शुभ है। इसे कोई पहले से तय कर के नहीं चल सकता है ि क यह शुभ है। परिस्थिति बदले तो कठिनाई हो सकती है। इसलिए कृष्ण तो प्रतिप ल निर्णय के लिए राजी हैं। उन्होंने कोशिश कर ली है कि युद्ध न हो, लेकिन देखते हैं कि युद्ध होगा ही, तो फिर बेमन से लड़ना बेकार है। कृष्ण जैसा आदमी बेमन से नहीं लड़ेगा। लड़ने भी जाएगा तो फिर पूरे मन से ही जाएगा। पूरे मन से कोशि श कर ली है, युद्ध न हो। अब युद्ध होगा ही, तो कृष्ण पूरे मन से ही लड़ने जाते हैं। युद्ध करने का उनका खयाल न था कि वह सीधे युद्ध में भागीदार बनेंगे। वह स ीधे सक्रिय होंगे युद्ध में, इसका खयाल न था। लेकिन ऐसा क्षण आ जाता है, तो उन्हें सीधे भागीदार हो जाना पड़ता है और वे सुदर्शन हाथ में ले लेते हैं।

जैसा मैंने पीछे कहा, कृष्ण क्षणजीवी हैं। सभी आनंदवादी क्षणजीवी होते हैं। सिर्फ दु खवादी क्षणजीवी नहीं होते। सिर्फ दुखवादी लंबा हिसाब रखते हैं। और लंबे हिसाब की वजह से दुखी रहते हैं। वे पृथ्वी जब से बनी है तबसे सारा दुख इकट्ठा कर लेते हैं। और जब जगत का अंत होगा तब तक का सारा दुख इकट्ठा करके अपने ऊपर रख लेते हैं। दुख इतना ज्यादा मालूम पड़ता है कि वे उसके नीचे दबकर मर जाते हैं। आनंदवादी क्षणवादी है। वह कहता है, क्षण के अतिरिक्त अस्तित्व नहीं है। जब भी अस्तित्व है, तब क्षण में है--'मॉमेंट टू मॉमेंट', क्षण से क्षण में उसकी यात्रा है। न वह कल का हिसाब रखता है जो बीत गया, न वह आने वाले कल का हिसाब रखता है जो आने वाला है, क्योंकि वह कहता है, जो बीत गया वह बीत गया और जो अभी नहीं आया वह अभी नहीं आया है। जो है, इस क्षण में जो है इस क्षण

के प्रति पूरी 'रिस्पांसिबिलिटी', इस क्षण के प्रति पूरा-का-पूरा 'रिस्पांस', इस क्षण के प्रति पूरा खुला होना उसका आनंद है।

दुखवादी 'क्लोज्ड' है, वह इस क्षण की तरफ देखता ही नहीं। अगर आप उसको फूल के पास ले जाएं और कहें कि फूल खिले हैं, वह कहेगा कि सांझ मुर्झा जाएंगे। दुखवादी से आप कहें कि देखें यह यौवन। वह कहेगा, देख लिया बहुत यौवन; सब यौवन बुढ़ापे के अतिरिक्त और कहीं नहीं जाता है। आप उससे कहेंगे, यह सुख है। वह कहेगा, हमने बहुत सुख देखे, जरा उलटा कर देखो, सब सुखों के पीछे दुख छिपा है। हमें धोखा नहीं दिया जा सकता।

दुखवादी विस्तार में देखता है, क्षण में होता ही नहीं। सुखवादी कहता है, सांझ जब मुर्झाएंगे—लेकिन सांझ तो आने दो, अभी से दुखी होने का क्या कारण है? आनंदवादी कहता है, सांझ आने दो, अभी से दुखी होने का क्या कारण है? जब फूल ही दुखी नहीं हैं सांझ की वजह से और आनंद से नाच रहे हैं, तो हम क्यों दुखी हो जाएं? आने दो सांझ। और मजा यह है कि आनंदवादी चित्त सांझ को गिरते हुए फूलों का भी सुख ले पाता है। क्योंकि किसने कहा कि सिर्फ खिलते हुए फूलों में सुख होता है और गिरते हुए फूलों में नहीं होता? शायद नहीं देखा हमने, वह हमारे दुख के कारण। किसने कहा कि बच्चे ही सुंदर होते हैं और बूढ़े नहीं होते? बुढ़ापे का अपना सौंदर्य है! और जब कोई आदमी सच में बूढ़ा होता है—कोई रवींद्रनाथ—तो उसके सौंदर्य का कोई हिसाब नहीं है। कोई वाल्ट व्हिटमन, तो उसके सौंदर्य का कोई हिसाब नहीं है! वाल्ट व्हिटमन को बुढ़ापे में देखकर ऐसा लगता है कि और क्या सौंदर्य होगा! असल में बचपन का अपना ढंग है सौंदर्य का, जवानी का अपना ढंग है, बुढ़ापे का अपना ढंग है, लेकिन ढंगों की फुर्सत किसे है? जब सारे बाल शुभ्र हो जाते हैं और जीवन की जब सारी यात्रा पूरी होने के करीब आती है, तो वैसा ही सौंदर्य होता है जैसा सूर्यास्त का होता है। किसने कहा कि सूर्योदय में ही सौंदर्य है? सूर्यास्त का अपना सौंदर्य है। लेकिन, दुखवादी सूर्योदय के समय भी सौंदर्य नहीं देखता, वह कहता है, क्या पागलपन में पड़े हो, अभी घड़ी भी नहीं बीत पाएगी और यह सब सूर्यास्त हो जाने वाला है। अंधकार छा जाएगा।

कृष्ण क्षणवादी हैं। समस्त आनंद की यात्रा क्षण की यात्रा है। कहना चाहिए यात्रा ही नहीं है, क्योंकि क्षण में यात्रा कैसे हो सकती है; क्षण में सिर्फ डूबना होता है। समय में यात्रा होती है। क्षण में आप लंबे नहीं जा सकते; गहरे जा सकते हैं। क्षण में आप डुबकी ले सकते हैं। क्षण में कोई लंबाई नहीं है, सिर्फ गहराई है। समय में लंबाई है, गहराई कोई भी नहीं है। इसलिए जो क्षण में डूबता है, वह समय के पार हो जाता है। जो क्षण में डूबता है वह 'इटरनिटी' को, शाश्वत को उपलब्ध हो जाता है। कृष्ण क्षण में हैं, और साथ ही शाश्वत में हैं। जो क्षण में है वह शाश्वत में है। जो समय में है, 'टाइम ऐज़ ए सीरीज़', वह कभी शाश्वत से संबंध नहीं जोड़ पाता। वह तो समय के क्षणों का हिसाब लगाता रहता है, कणों का हिसाब लगाता रहता है। जब वह जीता है तब मरने का हिसाब लिखता रहता है। जब सुबह होती

है तब वह सांझ ही सोचता रहता है। जब प्रेम आता है तब वह बिछोह की सोचता है। जब मिलने होता है तब वह विरह के आंसुओं से पीड़ित हो जाता है।
इसलिए कृष्ण को अगर किसी क्षण में ऐसी घड़ी आ गई कि सुदर्शन हाथ में ले लेना पड़ा, तो वह पिछले कृष्ण की 'प्रामिस' के लिए रुके नहीं, जिसने कहा था कि युद्ध में मैं सक्रिय होने को नहीं हूं। क्योंकि वह कहेंगे, अब वह कृष्ण ही कहां, जिसने वायदा किया था! अब गंगा वहां कहां है जहां थी, अब फूल वहां कहां हैं जहां थे, अब बादल वहां कहां हैं जहां थे। अब सब बदल गया है, तो मैंने ही कोई ठेका लिया है वही होने का! सब जा चुका है। अब मैं जहां हूं वहां हूं। और इस क्षण से मेरा जो 'रिस्पांस' है, इस क्षण में मेरी जो प्रतिध्वनि है, मेरा वही अस्तित्व है। वे क्षमा नहीं मांगते, वे कोई पश्चाताप नहीं करते। वह यह नहीं कहते कि मैंने भूल की थी कि वचन दिया था। वे यह नहीं कहते कि बुरा हो गया, गलत हो गया, मैं दुखी हूं, पश्चाताप कर लूंगा, पीछे प्रायश्चित कर लूंगा। वे यह कुछ भी नहीं कहते। वे क्षण के प्रति बड़े सच्चे हैं।
अब इसको थोड़ा समझना चाहिए।
'टु बी ट्रू टु द मॉमेंट'। वे क्षण के प्रति बहुत सच्चे हैं। वे इतने सच्चे हैं कि क्षण ऐसी घटना ले आता है जिसका उन्होंने कभी सोचा भी नहीं था, तो भी वे डूब जाते हैं, कूद जाते हैं। हां, हमें बहुत बार लगेगा कि हमारे प्रति उतने सच्चे नहीं मालूम होते। क्योंकि कहा था कि युद्ध में नहीं उतरेंगे और अब युद्ध में उतर गए। जो क्षण के प्रति सच्चा है वह अस्तित्व के प्रति सच्चा है, लेकिन समाज के प्रति बहुत सच्चा नहीं हो सकता। क्योंकि समाज समय में जीता है और वह 'इटरनिटी' में जीता है। समाज समय में जीता है, वह पीछे का हिसाब रखता है, आगे का हिसाब रखता है। ऐसा आदमी क्षण में जीता है, वह हिसाब रखता ही नहीं।
मैंने सुनी है एक कहानी कि एक बहुत बड़े झेन फकीर रिंझाई के पास एक युवक मिलने आया और उस युवक ने कहा कि मैं सत्य की खोज में आपके पास आया हूं। तो रिंझाई ने कहा, सत्य की बात छोड़ो, अभी मैं कुछ और पूछना चाहता हूं। तुम पेकिंग से आते हो? उसने कहा, हां। तो रिंझाई ने पूछा कि पेकिंग में चावल के क्या भाव हैं? वह आदमी इतनी लंबी यात्रा करके आया है इसके पास। यह सोचकर नहीं आया था कि चावल के दाम बताने पड़ेंगे। तो उस आदमी ने कहा कि माफ करिए और पहले यह आपको सूचना कर दूं, ताकि और इस तरह के सवाल आप न पूछ सकें, मैं जिन रास्तों से गुजर जाता हूं, उन्हें तोड़ देता हूं; और जिन 'ब्रिज़ेज' को पार कर लेता हूं, उन्हें गिरा देता हूं; और जिन सीढ़ियों से चढ़ जाता हूं उन्हें मिटा देता हूं, मेरा कोई अतीत नहीं है। रिंझाई ने कहा, फिर बैठो, फिर सत्य की कोई बात हो सकती है। मैंने तो जानने के लिए यह पूछा कि कहीं पेकिंग में चावल के जो दाम हैं वह तुम्हें याद तो नहीं हैं? अगर वह याद हैं, तो सत्य से मिलाना बहुत मुश्किल हो जाएगा, क्योंकि सत्य सदा क्षण में है, वर्तमान में है। उसका अतीत से कोई लेना-देना नहीं। और जो अतीत में जीता है, वह वर्तमान में नहीं जी पा

ता। जो अतीत में जीता है, वह भविष्य में हो सकता है उसका मन, वर्तमान में नह ीं हो पाता।

कृष्ण के बावजूद युद्ध हुआ है। और कृष्ण युद्ध में भागीदार हो सके हैं, क्योंकि आनं द का पक्षपाती लड़ भी सकता है। फिर कृष्ण का कहना यह है कि लड़ना जीवन के भीतर का हिस्सा है। जीवन जब तक है, तब तक किसी-न-किसी भांति का युद्ध ज ारी रहेगा। युद्ध के तल बदलेंगे, युद्ध के आधार बदलेंगे, युद्ध के मार्ग बदलेंगे, 'प्लेन ' बदलेंगे युद्ध के, गुण बदलेगा, लेकिन युद्ध जारी रहेगा। ऐसा नहीं हो सकता है ि क युद्ध बंद हो जाए। युद्ध उसी दिन बंद हो सकता है कि या तो मनुष्यता न रहे, समाप्त हो जाए, या मनुष्यता पूर्ण हो जाए। दो ही अर्थों में युद्ध बंद हो सकता है। मनुष्य पूर्ण हो जाए तो भी समाप्त हो जाता है, समाप्त हो जाए तो भी समाप्त हो जाता है। मनुष्य जैसा है, वैसे मनुष्य के जीवन में युद्ध जारी रहेगा। फिर खयाल क्य ा करना है? युद्ध न हो, इसका? नहीं, कृष्ण इतना ही कहते हैं, युद्ध धर्मयुद्ध हो, इतना। शांति धर्मशांति हो, इतना।

अब ध्यान रहे, शांति भी अधार्मिक हो सकती है, और युद्ध भी धार्मिक हो सकता है। लेकिन शांतिवादी सोचता है कि शांति सदा ही धार्मिक है। और युद्धवादी सोचत ा है कि युद्ध सदा ही ठीक है। कृष्ण कोई वादी नहीं हैं, वे बहुत 'लिक्विड' हैं, बहु त तरल हैं। जिंदगी में वहां पत्थर की तरह कटी हुई चीजें नहीं हैं, उनकी जिंदगी में। उनकी जिंदगी में सब हवा की तरह है। वे कहते हैं शांति भी—मैं रास्ते से गुजर रहा हूं, एक शांत आदमी हूं और कोई किसी को लूट रहा है, मैं शांति से गुजर ज ाऊंगा, क्योंकि मैं कहता हूं लड़ना मेरे लिए नहीं है। मैं शांति से गुजर रहा हूं, लेकि न मेरी शांति अधार्मिक हो गई; क्योंकि मेरी शांति भी सहयोगी हो रही है किसी के लुटने में और किसी के लूटने में। अनिवार्य नहीं है कि शांति सदा ही धर्म हो। बर्ट्रें ड रसल जैसे लोग, 'पेसिफिस्ट', शांति को सदा ही ठीक मान लेते हैं। वे मान लेते हैं कि सदा ही ठीक है, शांत होना ही ठीक है। लेकिन ऐसी शांति 'इम्पोटेंस' भी ब न सकती है। ऐसी शांति नपुंसकता हो सकती है।

इसलिए कृष्ण बार-बार अर्जुन को कहते हैं, दौर्बल्य त्याग। मैंने कभी सोचा न था ि क तू क्लीव हो सकता है, तू नपुंसक हो सकता है। तू कैसी नपुंसकों जैसी बातें कर रहा है! जबकि युद्ध सामने खड़ा हो और जबकि युद्ध कृष्ण की दृष्टि में अधर्म के लिए हो, तब तू कैसी कमजोरी की बातें कर रहा है! तेरी शक्ति कहां खो गई? ते रा पौरुष कहां गया? शांति जरूरी नहीं है कि धर्म हो। युद्ध भी जरूरी नहीं है कि अधर्म हो। कहा जा सकता है कि तब युद्धखोर कह सकते हैं कि हमारा युद्ध धर्म है । कह सकते हैं। जिंदगी जटिल है। कोई उन्हें रोक नहीं सकता। लेकिन, धर्म क्या है , अगर इसका विचार स्पष्ट फैलता चला जाए, तो कठिन होता जाएगा उनका ऐसा दावा करना।

कृष्ण की दृष्टि में धर्म क्या है, वह मैं कहूं। कृष्ण की दृष्टि में जीवन को जो विकसि त करे, जीवन को जो खिलाए, जीवन को जो नचाए, जीवन को जो आनंदित करे,

वह धर्म है। जीवन के आनंद में जो बाधा बने, जीवन की प्रफुल्लता में जो रुकावट डाले, जीवन को जो तोड़े, मरोड़े, जीवन को जो खिलने न दे, फूलने न दे, फलने न दे, वह अधर्म है। जीवन में जो बाधाएं बन जाएं, वे अधर्म हैं; और जीवन में जो सीढ़ियां बन जाए, वह धर्म है।

'भगवान श्री, कृष्ण को सही ढंग से किसने और कब आत्मसात किया? हमें उनको आत्मसात करना हो तो क्या करें?
कृष्ण को आत्मसात कर मनुष्य-सभ्यता और संस्कृति जिन आयामों में प्रवेश कर पा एगी, उसकी रूपरेखा प्रस्तुत करने की कृपा करें।'

* कोई किसी दूसरे को आत्मसात कैसे कर सकता है? करे भी क्यों? दायित्व भी वैसा नहीं है। मैं अपने को ही आत्मसात करूंगा, कृष्ण को कैसे करूंगा? और जब कृष्ण खुद को आत्मसात करते हैं, तो कृष्ण को कोई दूसरा आत्मसात करने क्यों ज ाए? नहीं, दूसरे को आत्मसात करना व्यभिचार है। दूसरे को आत्मसात करना अपने साथ अन्याय है। दूसरे को आत्मसात करने की बात ही गलत है। मेरी अपनी आत मा है। वह खिलनी चाहिए। अगर मैं दूसरे को आत्मसात करूं तो मेरी आत्मा का क या होगा? हां, दूसरा मुझ पर हावी हो जाएगा, दूसरा मुझ पर उढ़ जाएगा, दूसरे को मैं ओढ़ लूंगा, मेरा क्या होगा? मेरा दायित्व मेरे होने के प्रति है।
नहीं, कृष्ण को समझना काफी है, आत्मसात करने की कोई भी जरूरत नहीं है। स मझना पर्याप्त है। और समझना इसलिए नहीं कि पीछे जाना है, आत्मसात करना है , एक हो जाना है कृष्ण से। समझना इसलिए कि कृष्ण जैसा व्यक्ति जब खिलता है, तो उसके खिलने के नियम क्या हैं? कृष्ण जैसा व्यक्ति जब अपनी सहजता में प्रगट होता है, तो उसकी सहजता के नियम क्या हैं? मैं भी अपनी सहजता में प्रगट हो सकता हूं। कृष्ण को समझने से एक सूत्र तो यह मिलेगा कि अगर कृष्ण खिल सकते हैं, तो मेरे रोए चले जाने की जरूरत क्या है? जब कृष्ण नाच सकते हैं, तो मैं क यों न नाच सकूंगा? ऐसा नहीं है कि कृष्ण का नाच और आपका नाच एक हो जाए गा। आपका नाच आपका होगा, कृष्ण का नाच कृष्ण का नाच होगा। लेकिन कृष्ण को समझने से आपके आत्म-आविर्भाव में सहायता मिल सकती है। आत्मसात करने में नहीं, आपके अपने आविर्भाव में सहायता मिल सकती है।
इसलिए पहली बात यह कहता हूं कि किसी को आत्मसात करने की जरूरत नहीं है , हालांकि कुछ नासमझों ने करने की कोशिश की है। पूरा तो कोई भी नहीं कर पा एगा, क्योंकि वह असंभव है। मैं दूसरे को ओढ़ ही सकता हूं, दूसरे को आत्मा नहीं बना सकता। कितना ही गहरा ओढूं, तो भी मैं पीछे अलग रह ही जाऊंगा। अभिनय ही कर सकता हूं दूसरे का, होना तो सदा अपना ही होता है। वह दूसरे का कभी नहीं होता। 'बारोड बीइंग', उधार आत्मा नहीं होती। हो नहीं सकती। रहूंगा तो मैं मैं ही। हां, किसी को इतना ओढ़ सकता हूं कि मेरे मैं को मैं भीतर दबाए चला जा

ऊं, दबाए चला जाऊं, वह मेरे अंतर्गर्भ में छिप जाए और मेरा सारा व्यक्तित्व दूसरे का हो जाए लेकिन मैं फिर भी मैं ही रहूंगा।

कृष्ण को आत्मसात करने की कोशिश बहुत लोगों ने की है, जैसे बुद्ध को करने की कोशिश की है, राम को करने की कोशिश की है, क्राइस्ट को करने की कोशिश की है, लेकिन कोई कभी किसी को आत्मसात नहीं कर पाता है। वह असफलता सुनिश्चत है। जो वैसा करने चलता है, उसने अपनी असफलता को ही नियति बना लिया है। और असफलता ही नहीं होगी, आत्मघात भी होगा। और जो लोग आत्मघात करते हैं साधारणतः, उनको हमें आत्मघाती नहीं कहना चाहिए, क्योंकि वे केवल शरीर-आघाती हैं, वे केवल अपने शरीर की हत्या करते हैं। लेकिन जो दूसरे को आत्मसात करते हैं, वे आत्मघाती हैं। वे अपनी आत्मा को ही मार डालने की कोशिश करते हैं। सब अनुयायी, सब शिष्य, सब अनुकरण करने वाले, सब पीछे चलने वाले आत्मघाती होते हैं।

लेकिन कुछ लोगों ने करने की कोशिश की है। उस कोशिश में दोहरे परिणाम निकलते हैं। एक तो वह आदमी सिर्फ ओढ़ पाता है, अभिनय कर पाता है। दूसरा, उसके ओढ़ने में ही कृष्ण का पूरा रूप बदल जाता है। उसके ओढ़ने में ही। क्योंकि मैं ओढूंगा कृष्ण को तो मेरे ढंग से ओढूं उतना तो कम-से-कम मैं रहूंगा ही। आप ओढ़ोगे तो आपके ढंग से ओढ़ोगे, उतने तो आप कम-से-कम आप रहेंगे ही। इसलिए न केवल अपने साथ व्यभिचार होता है, बल्कि कृष्ण के साथ भी व्यभिचार हो जाता है। जितने भी थियॉलाजियन हैं, जितने भी धर्मशास्त्री हैं, चाहे क्राइस्ट, चाहे कृष्ण, चाहे बुद्ध, चाहे महावीर, इनके पीछे ओढ़ने की चेष्टा में चलते हैं, वे सब ऐसा ही करते हैं। वे मनुष्यता की विफलता की अदभुत कहानियां हैं। और मनुष्यता के आत्मघाती होने के अदभुत प्रमाण हैं।

लेकिन, मीरा या चैतन्य जैसे लोग कृष्ण को ओढ़ते नहीं, जरा नहीं ओढ़ते। मीरा कृष्ण को ओढ़ती नहीं। चैतन्य कृष्ण को ओढ़ते नहीं। वे कृष्ण को आत्मसात नहीं करते हैं। वे तो जो हैं, हैं, उसको ही पूरा प्रगट करते हैं। उनके प्रगट होने में, मीरा के प्रगट होने में कृष्ण का व्यक्तित्व ओढ़ा नहीं जाता है। मीरा के प्रगट होने में, या चैतन्य के नृत्य में या चैतन्य के नाच में और चैतन्य के गीतों में कृष्ण ओढ़े नहीं गए हैं, न आत्मसात किए गए हैं। चैतन्य चैतन्य हैं, अपने ढंग के, हां, उनके ढंग में कृष्ण के प्रति जो प्रेम की धारा है, वह है। और जैसे-जैसे यह धारा बड़ी होती है, जैसे-जैसे धारा यह बड़ी होती है, वैसे-वैसे चैतन्य खोते जाते हैं, वैसे-वैसे कृष्ण बचते हैं, न चैतन्य बचते हैं। उस क्षण अगर हम पूछें कि तुम कृष्ण हो कि चैतन्य, तो चैतन्य कहेंगे, मुझे कुछ पता नहीं चलता कि मैं कौन हूं। मैं हूं। या शायद मैं भी नहीं बचता, 'हूं' ही। यह 'प्योर-एक्ज़िस्टेंस' है। और यह जो उपलब्धि है, यह चैतन्य का अपने ही आत्मा का फूल है। इसमें कोई ओढ़ना नहीं है, इसमें किसी को आत्मसात करना नहीं है।

ऐसी भूल कभी करनी भी नहीं चाहिए। ऐसी भूल करने का हमारा मन होता है। म
न होता है इसलिए कि 'रेडीमेड' कपड़े खरीद लेना सदा आसान है। तत्काल पहने
जा सकते हैं, बड़ी सुविधा जो है। पहनने के लिए रुकना नहीं पड़ता। अगर किसी क
ो खोजना है, तो कब होगी यह बात, नहीं कहा जा सकता। लेकिन अगर कृष्ण को
ओढ़ना है, तो अभी हो सकती है। उधार तो कभी भी हो सकता है। कमाई वक्त म
ांग सकती है, इसलिए ओढ़ने का मन होता है। किसी को भी ओढ़ लें और झंझट के
बाहर हो जाएं। लेकिन कभी कोई उस झंझट के बाहर नहीं हुआ, और गहरी झंझट
के भंवर में पड़ गया है।

इसलिए धार्मिक आदमी मैं उसे कहता हूं, जो अपना आविष्कार कर रहा है। हां, इ
स आविष्कार करने में महावीर, बुद्ध, कृष्ण, क्राइस्ट की समझ सहयोगी हो सकती
है। क्योंकि जब हम दूसरे को समझते हैं, तब हम अपने को समझने के भी आधार
रख रहे होते हैं। जब हम दूसरे को समझते हैं, तब समझना आसान पड़ता है बजाय
अपने को समझने के। क्योंकि दूसरे से एक फासला है, एक दूरी है और समझ के ि
लए उपाय है। अपने को समझने के लिए बड़ी जटिलता है, क्योंकि फासला नहीं सम
झने वाले में और जिसे समझना है उसमें। समझ के लिए दूसरा उपयोगी होता है।
लेकिन उसे समझ लेने के बाद हमारी अपनी ही समझ बढ़नी चाहिए, हमारी अपने
प्रति ही समझ बढ़नी चाहिए।

कभी आपने कई बार अनुभव किया होगा, अगर कोई आदमी आए और अपनी कोई
मुसीबत आपके पास लाए, तो आप जितनी योग्य सलाह दे पाते हैं, वही मुसीबत
आप पर पड़ जाए तो उतनी योग्य सलाह अपने को नहीं दे पाते हैं। यह बड़े मजे क
ी बात है। क्या मामला है? यह आदमी बड़ा बुद्धिमान है। किसी की भी दिक्कत हो
तो उसको सलाह दे पाता है। जब दिक्कत इसी पर आती है, वही दिक्कत, तो अ
चानक यह खुद सलाह मांगने चला जाता है। नहीं, इतनी निकटता होती है कि सम
झने के जिए अवकाश नहीं मिल पाता। दूसरे को समझना आसान होता है और दूसरे
की समझ धीरे-धीरे हमारी अपनी समझ बनती चली जाए तो कृष्ण बाद में भूल ज
ाएंगे, क्राइस्ट भूल जाएंगे, बुद्ध-महावीर भूल जाएंगे, अंततः हम ही रह जाएंगे। आि
खर में मेरी शुद्धता ही बचनी चाहिए।

वैसी शुद्धता की उपलब्धि ही मुक्ति है। वैसे परम शुद्ध हो जाने का नाम ही निर्वाण
है। वैसे परम शुद्ध हो जाने का नाम ही भागवत चैतन्य की उपलब्धि है। हां, लेकि
न जो कृष्ण को समझ कर वहां तक पहुंचेगा, वह हो सकता है कृष्ण नाम का उपय
ोग करे, वह कहे कि मैंने कृष्ण को पा लिया। यह सिर्फ पुराने ऋण का चुकतारा है
, यह सिर्फ पुराने ऋण के प्रति अनुग्रह है। और कुछ भी नहीं। वैसे पहुंचने वाला क
ह सकता है, मैं जीसस को पा लिया हूं। वह सिर्फ जीसस के प्रति, जीसस को समझ
ने से जो समझ उसे मिली थी उसके प्रति ऋण का चुकतारा है। इससे ज्यादा नहीं
है। पाते तो सदा हम अंततः अपने को ही हैं। कोई दूसरे को नहीं पा सकता। लेकिन
जिस दिन हम अपने को पाते हैं उस दिन कोई दूसरा रह नहीं जाता है। इसलिए ह

म कोई-न-कोई शब्द का उपयोग करेंगे। जो हमने यात्रा पर उपयोगी पाया होगा, व
ह हम उपयोग करेंगे। एक छोटी-सी बात, फिर हम ध्यान के लिए बैठें।
प्रश्न का दूसरा हिस्सा है कि कृष्ण की जीवनधारा से प्रभावित होकर मनुष्य-सभ्यता और संस्कृति किन जीवन-आयामों में प्रवेश कर पाएगी? इसकी संक्षिप्त रूपरेखा स्पष
ट करें।
उस पर तो बहुत लंबी बात करनी पड़े—वैसे उसकी ही बात कर रहे हैं इतने दिन से। दो-तीन शब्द कहे जा सकते हैं। मनुष्य की सभ्यता कृष्ण की समझ से सहज हो सकेगी; क्षण-जीवी हो सकेगी, आनंद-समर्पित हो सकेगी; दुखवादी नहीं रहेगी, समय वादी नहीं रहेगी, निषेधवादी नहीं रहेगी, त्यागवादी नहीं रहेगी। अनुग्रहपूर्वक जीवन को वरदान समझा जा सकेगा और जीवन और परमात्मा में भेद नहीं रहेगा। जीवन ही परमात्मा है, ऐसी प्रतिष्ठा धीरे-धीरे बढ़ती जाएगी। जीवन के विरोध में कोई पर मात्मा कहीं बैठा है, ऐसा नहीं, जीवन ही परमात्मा है। सृष्टि के अतिरिक्त कोई स्रष
टा कहीं बैठा है, ऐसा नहीं, सृष्टि की प्रक्रिया, सृजन की शक्ति, 'क्रिएटिविटी, इटसे
ल्फ' परमात्मा है।
ये पूरी बातें जो मैंने इस बीच कही हैं, उनको खयाल में लेंगे तो जो मैंने अंतिम बा
त कही है, वह स्पष्ट हो जाएगी। इन दिनों बहुत-सी बातें मैंने आपसे कहीं, कुछ रुि
चकर लगी होंगी, कुछ अरुचिकर लगी होंगी। रुचिकर लगने से भी समझने में बाधा पड़ती है, अरुचिकर लगने से भी समझने में बाधा पड़ती है। जो रुचिकर लगती है उसे हम बिना समझे पी जाते हैं, जो अरुचिकर लगती है उसे हम बिना समझे द्वार बंद करके बाहर छोड़ देते हैं। मैंने जो बातें कहीं, वह इसलिए नहीं कहीं कि आप उनको पी जाएं या द्वार से बाहर छोड़ दें, मैंने सिर्फ इसलिए कहीं कि आप उनको सहजता और सरलता से समझ पाएं। मेरी बातों को घर मत ले जाइए। उन बातों को समझने में जो समझ आपके पास आई हो; जो प्रज्ञा, जो 'विज़डम' आई हो उस को भर ले जाइए। फूलों को यहीं छोड़ जाइए, इत्र कुछ बचा हो आपके हाथ में, उ
से ले जाइए। मेरी बातों को ले जाने की कोई भी जरूरत नहीं है। मेरी बातें वैसी ह
ी बेकार हैं जैसी सब बातें बेकार होती हैं। लेकिन इन बातों के संदर्भ में, इन बातों के संघर्ष में, इन बातों के आमने-सामने 'एनकाउंटर' में आपके भीतर कुछ भी पैदा हुआ हो—वह तभी पैदा हो सकता है जब आपने पक्षपात न लिए हों; वह तभी पैदा हो सकता है जब आपने ऐसा न कहा हो कि ठीक कह रहे हैं, ऐसा ही मैं मानता हूं; कि गलत कह रहे हैं, ऐसा मैं मानता नहीं हूं; तभी आपमें समझ, 'अंडरस्टैंडिंग' पैदा हो सकती है।
अगर आपने समझा हो कि यह तो कृष्ण के पक्ष में बोल रहे हैं, हमारे महावीर के पक्ष में नहीं बोलते हैं, तो आप दुख ले जाएंगे, समझ नहीं ले जाएंगे। उसका जुम्मा मेरा नहीं होगा। जुम्मा महावीर का भी नहीं होगा। आपका ही होगा। आपने सोचा, यह तो हमारे जीसस के पक्ष में नहीं बोले, तो आप समझ नहीं ले जाएंगे। या आप ने ऐसा समझा कि यह तो हमारे कृष्ण के संबंध में बोल रहे हैं, तो आप नासमझ ह

ी लौट जाएंगे। आपके कृष्ण से मुझे क्या लेना-देना? न रुचि, न अरुचि; न पक्ष, न विपक्ष; मुझे जो दिखाई पड़ता है उसे सीधा मैंने आपकी आंखों के सामने फैला दिया है। और मैं खुद ही क्षणजीवी व्यक्ति हूं, इसलिए भरोसे का नहीं हूं। कल क्या कहूंगा, इससे आज कोई 'प्रामिस' नहीं बनती है, इससे आज कोई आश्वासन नहीं है। आज जैसा मुझे दिखाई पड़ता था, वैसा मैंने कहा। आज जो आपकी समझ में आया हो—समझ में आया हो, उसका मूल्य नहीं है; जो समझ में आने में समझ बढ़ी हो, उसका मूल्य है।

मैं आशा करता हूं, यह दस दिन में सबके पास थोड़ी-न बहुत समझ का विकास हुआ होगा, थोड़ी-न बहुत दृष्टि फैली होगी, द्वार थोड़े-न बहुत खुले होंगे, सूरज को आने के लिए थोड़ी-बहुत जगह बनी होगी। मैं नहीं कहता हूं कि आपके भीतर जब सूरज आए तो आप उसे क्या नाम दें—कृष्ण कहें, कि बुद्ध कहें, कि राम कहें, यह आपकी मर्जी है, नाम आपके होंगे—मैं इतना ही कहता हूं दरवाजा आपके चित्त का खुला हो। तो सूरज आ जाएगा। नाम आप पर निर्भर होगा, क्योंकि सूरज अपना कोई नाम कहता नहीं कि मेरा नाम क्या है। वह अनाम है। नाम अपना आप दे लेंगे। लेकिन दरवाजा सिर्फ उनके ही चित्त का खुलता है, जो समझपूर्वक, समझ में, समझ के साथ जीते हैं, पक्षों और धारणाओं और सिद्धांतों के साथ नहीं। सिद्धांतों और धारणाओं और पक्षों के साथ वे ही लोग जीते हैं, जिनको अपनी समझ का भरोसा नहीं है। तो वे पक्के, बंधे-बंधाए, सिमेंट-कांक्रीट के बाजार में बिकते हुए सिद्धांतों को ले आते हैं। समझ तो पानी की तरह तरल है। समझ तो बहाव है, एक 'फ्लो' है। सिद्धांत, सिद्धांत कोई बहाव नहीं है।

तो अगर आपने सिद्धांतों की आड़ से मुझे सुना हो—चाहे मित्र हों उन सिद्धांतों के, चाहे शत्रु—तो फिर आप नहीं समझ पाएंगे कि मैंने क्या कहा है।

आखिरी बात आपसे कह दूं, कृष्ण से मुझे कुछ लेना-देना नहीं है। कृष्ण से कोई संबंध ही नहीं है। कोई कृष्ण के पक्ष में आप हो जाएं, इसलिए नहीं कहा है; कि कृष्ण के विपक्ष में आप हो जाएं, इसलिए नहीं कहा है। कृष्ण को तो मैंने एक 'कैनवस' की तरह उपयोग किया, जैसे एक चित्रकार एक 'कैनवस' का उपयोग करता है। 'कैनवस' से उसका कोई मतलब ही नहीं होता। कुछ रंग उसे फैलाने के 'कैनवस' पर, वह उन रंगों को फैला देता है। कुछ रंग मुझे फैलाने थे आपके सामने, वह कृष्ण के 'कैनवस' पर मैंने फैला दिए। मुझे महावीर का 'कैनवस' भी काम दे जाता है, बुद्ध का 'कैनवस' भी काम दे जाता है, जीसस का 'कैनवस' भी काम दे जाता है। और एक 'कैनवस' पर जिन रंगों का मैं उपयोग करता हूं, कोई जरूरी नहीं है कि दूसरे 'कैनवस' पर उन्हीं रंगों का उपयोग करूं। और ऐसा भी मुझसे कोई कभी नहीं कह सकता हूं कि कल आपने जो चित्र बनाया था आज तो उसके बिलकुल विपरीत बना दिया। अगर मैं चित्रकार हूं, तो विपरीत बनाऊंगा ही। और अगर सिर्फ 'कापीइस्ट' हूं तो फिर कल उसी की नकल फिर करूंगा।

इसलिए मेरे वक्तव्यों को जड़ता से पकड़ने की कोई भी जरूरत नहीं है। मेरे वक्तव्यों को समझें और छोड़ दें। समझ पीछे बाकी रह जाएगी, वक्तव्य छूट जाएगा। इससे एक और फायदा होगा कि किसी दिन मुझे पकड़ने का खतरा पैदा नहीं होगा। नहीं तो मेरे वक्तव्यों को पकड़ा—पक्ष से या विपक्ष से—तो मैं पकड़ा जाऊंगा। नहीं, मुझे कोई हर्जा नहीं होगा। हर्जा आपको हो जाएगा। जब भी हम किसी को पकड़ लेते हैं, तभी हम अपने को खो देते हैं। जब हमारे हाथ सबसे खाली हो जाते हैं तब अचानक हमारे हाथों में हम ही भर जाते हैं। इस आशा में ये सारी बातें कही हैं। मेरी बातों को इतने प्रेम, इतनी शांति, इतने मौन, इतने आनंद से सुना है, उससे बहुत अनुगृहीत हूं। और अंत में सबके भीतर बैठे परमात्मा को प्रणाम करता हूं। मेरे प्रणाम स्वीकार करें।

अब हम ध्यान के लिए बैठेंगे। अंतिम बैठक है, इसलिए जो लोग देखने आए हों वे बाहर चले जाएंगे, रास्ते पर खड़े हो जाएंगे।

हां, जिन मित्रों को देखना है वे बाहर सड़क पर खड़े हो जाएंगे। यहां कंपाउंड में करने वालों के सिवाय कोई नहीं रहेगा।...किन्हीं मित्रों को खड़े होकर ध्यान करना हो, उन्हें खड़े होने में सुविधा होती हो तो वे पीछे लान पर खड़े हो जाएं। और कंपाउंड में सिर्फ करने वाले लोग रुकेंगे, जिनको देखना है वे बाहर चले जाएंगे। यहां आंख खोल कर कोई नहीं बैठ सकेगा।

ठीक है, अपनी-अपनी जगह बैठ जाएं। जिन मित्रों को खड़े होकर करना है वे पीछे खड़े हो जाएं। कुछ दो-चार मित्र नए हैं तो मैं सूचनाएं दे दूं। पहले दस मिनट गहरी श्वास लेनी है और पूरी शक्ति श्वास लेने-छोड़ने में लगा देनी है। श्वास ही रह जाए। दस मिनट की श्वास की चोट से भीतर की ऊर्जा जगेगी, भीतर की विद्युत जगेगी। और सारा शरीर शक्ति का एक स्पंदन मात्र रह जाएगा। दूसरे दस मिनट में शरीर को मुक्त छोड़ देना है। शरीर नाचेगा, रोएगा, डोलेगा, चिल्लाएगा, जो भी करेगा उसे पूरी शक्ति से सहयोग देना है। जिन दो-चार-दस मित्रों को ऐसा नहीं होता उन्हें अपनी ओर से प्रयोग करना है, ताकि एक-दो दिन में उनकी धारा टूट जाए और वे प्रयोग में सहज उतर जाएं। तीसरे चरण में दस मिनट तक, मैं कौन हूं? यह पूछना है। और चौथे चरण में दस मिनट तक मौन प्रतीक्षा में पड़े रह जाना है।

आंख बंद कर लें। यह आंख चालीस मिनट के लिए बंद होती है, इस बीच आंख नहीं खोलनी है। आंख बंद कर लें। कंपाउंड में कोई खुली आंख से नहीं होगा। अन्यथा उसे बीच में उठाना पड़ेगा। यह आंख चालीस मिनट के लिए बंद होती है, अब आपको आंख चालीस मिनट तक नहीं खोलनी है। जब तक मैं न कहूं आंख बंद रखनी है।

दोनों हाथ जोड़ लें। प्रभु को साक्षी रख कर अपने मन में संकल्प कर लें: मैं प्रभु को साक्षी रख कर संकल्प करता हूं कि ध्यान में अपनी पूरी शक्ति लगाऊंगा। मैं प्रभु को साक्षी रख कर संकल्प करता हूं कि ध्यान में अपनी पूरी शक्ति लगाऊंगा। मैं प्रभु को साक्षी रख कर संकल्प करता हूं कि ध्यान में अपनी पूरी शक्ति लगाऊंगा।

जो मित्र देखने खड़े हैं वे शांत खड़े रहेंगे, इतनी कृपा करेंगे, ताकि हमें बाधा न पड़े। अब पहला चरण शुरू करें।

धौंकनी की तरह शरीर का उपयोग करें। श्वास बाहर फेंकें, भीतर ले जाएं। श्वास बाहर फेंकें, भीतर ले जाएं। दस मिनट में ऐसा हो जाए कि सिर्फ श्वास ही श्वास आपमें बचे। सारी शक्ति, सार मन श्वास पर ही लग जाए, और सब भूल जाए श्वास ही रह जाए। इसलिए धीरे न करें, धीरे करेंगे तो नहीं, दूसरे काम चलते रहेंगे। आप पूरी ताकत से श्वास लें और छोड़ें। दस मिनट में डूब जाना है श्वास के कृत्य में, और कोई बचे न, आप भी न बचें पीछे। बस श्वास ही श्वास रह जाए। आखिरी दिन है, पूरी शक्ति लगा दें। जो दो-चार मित्र पीछे रह गए हैं, वे पूरा कर लें। गहरी श्वास, तेज श्वास, श्वास ही श्वास रह जाए।...बहुत ठीक, बहुत ठीक, खयाल कर लें कि कोई पीछे तो नहीं है। अपनी तरफ ध्यान कर लें, खयाल कर लें, पीछे तो नहीं हैं। पूरी शक्ति लगाएं।...

तेज, तेज, तेज, चोट करें। श्वास की भीतर चोट करनी है ताकि शक्ति जगे। थोड़ी देर में शरीर में विद्युत दौड़नी शुरू हो जाएगी।... ...

बहुत ठीक, बहुत ठीक, और बढ़ें, और बढ़ें, जरा भी कंजूसी नहीं, पूरी शक्ति लगानी है। थकने से न डरें, थक जाएं कोई हर्जा नहीं। पूरी शक्ति लगाएं।... ...

पूरी शक्ति, पूरी शक्ति, पूरी शक्ति। सात मिनट बचे हैं, पूरी शक्ति लगाएं, पूरी शक्ति लगाएं। एकदम विद्युत के प्रवाह मात्र हो जाएं। एक बिजली के पुंज मात्र रह जाएंगे। चोट करें, भीतर शक्ति जागेगी और शक्ति ही शक्ति मालूम होने लगेगी।... हां, शक्ति जाग रही है, आप चोट करते जाएं, चोट करते जाएं, चोट करते जाएं।...बहुत ठीक, बहुत ठीक, बहुत ठीक, चोट करें, चोट करें। देखें, कोई पीछे न रह जाए, पूरी शक्ति लगा दें।...

जो पहले चरण को पूरा करेगा वही दूसरे में प्रवेश कर पाएगा, इसलिए पूरी फिक्र कर लें। शक्ति जाग रही है, उसे जागने दें, शरीर डोलता है डोलने दें, कंपता है कंपने दें, हाथ-पैर हिलते हैं हिलने दें, आप श्वास पर ताकत लगाएं। आप श्वास लें और शरीर को जो होने देना है होने दें। आप श्वास लें, बस आप श्वास ही रह जाएं।... ....

जोर से, जोर से, जोर से।... ...

बहुत ठीक, बहुत ठीक, पांच मिनट बचे हैं, शक्ति पर चोट करें, शक्ति जागनी शुरू हुई है उसे अधूरे में न छोड़ें। पूरी चोट करें। बस एक शक्ति के पुंज मात्र रह जाएंगे। शक्ति ही शक्ति रह जाएगी, आप मिट जाएंगे। श्वास, श्वास, श्वास। जोर से जोर से।... ....

शक्ति जाग गई है, जागने दें, जागने दें, जोर से चोट करें। शक्ति जाग गई, जागने दें। शरीर कंपता है कंपने दें, डोलता है डोलने दें, आप जोर से श्वास की चोट करते जाएं।... ...

शक्ति जाग गई है, जागने दें, चोट करें, जोर से चोट करें, शक्ति को पूरा जागने दें। शरीर को जो हो रहा है होने दें, आप श्वास की चोट करते जाएं। चार मिनट बचे हैं। पूरा उपयोग करें।... ...

जोर से, जोर से, जोर से, बहुत ठीक, करीब-करीब आ गई हैं, ताकत लगाएं।...बहुत ठीक, बहुत ठीक, बहुत ठीक, जोर से, जोर से।...तीन मिनट बचे हैं, अब पूरी ताकत लगाएं, जब मैं एक, दो, तीन कहूं तब पूरे तूफान में आ जाएं।... ....

जागें, जागें, जोर से जगाएं। दो मिनट बचे हैं, जोर से जगाएं, श्वास की चोट करें, थोड़ा ही समय और है। जोर से जगाएं। भीतर की शक्ति को पूरी चोट कर दें। बहुत ठीक। एक, पूरी ताकत लगा दें।...दो, पूरी ताकत लगाएं।...तीन, पूरी ताकत लगा दें। कूद जाएं पूरी ताकत से, एक मिनट के लिए पूरी ताकत लगा दें।...बहुत ठीक, बहुत ठीक, तेजी पर आएं, पूरे 'क्लाइमेक्स' पर आ जाएं। फिर हम दूसरे चरण में प्रवेश करेंगे। कुछ सेकेंड के लिए पूरी ताकत को डुबा दें।...बहुत ठीक, बहुत ठीक, थोड़ा सा श्रम और लें, कुछ सेकेंड और, पूरी ताकत में आएं।...

बहुत अच्छा, बहुत अच्छा। पूरी ताकत, पूरी ताकत, कुछ भी बचे न, पूरी ताकत लगा दें।...

अब दूसरे चरण में प्रवेश करें। शरीर को जो करना है करने दें। दस मिनट के लिए चिल्लाएं, हंसें, रोएं, डोलें, नाचें।... ...

जोर से, जो भी कर रहे हैं जोर से करें। जोर से, जोर से, दस मिनट में बिलकुल थका डालें। चिल्लाएं जोर से, नाचें, डोलें जोर से, हंसें जोर से।...शक्ति जाग गई है, उसे पूरा काम करने दें, जोर से काम करने दें। डोलें, नाचें, चिल्लाएं, हंसें। धीमे कुछ भी न करें। जो भी कर रहे हैं शक्ति से करें। आनंद से चिल्लाएं, आनंद से डोलें, जोर से चिल्लाएं।... ...

जोर से ताकत लगा दें। पूरी ताकत लगा दें।...जोर से, जोर से, जोर से, दिल खोल कर करें जो भी कर रहे हैं। जरा सा भी संकोच न लें। चिल्लाएं, जोर से चिल्लाएं।...शक्ति जाग गई है। पांच मिनट बचे हैं, उसे पूरा काम करने दें। जोर से, जोर से, जोर से।... ...

बहुत ठीक, पूरी शक्ति लगाएं। चार मिनट बचे हैं, पूरी शक्ति लगा दें। जोर से करें जो भी कर रहे हैं। नाचें जोर से, डोलें जोर से, चिल्लाएं जोर से, हंसें जोर से, रोएं जोर से।...जोर से आनंद से, जोर से आनंद से, जो भी हो रहा है जोर से।...बहुत ठीक, बहुत ठीक, चार मिनट बचे हैं, पूरी शक्ति लगाएं।... ...

जोर से, जोर से चिल्लाएं, जोर से नाचें, जोर से हंसें, जोर से रोएं। हंसें, हंसें, जोर से हंसें, जोर से हंसें, डोलें, नाचें, जोर से हंसें।...जोर से, जोर से, तीन मिनट बचे हैं, पूरी शक्ति लगाएं। चिल्लाना है जोर से चिल्लाएं, दिल खोल कर चिल्लाएं। डोलें, नाचें, चिल्लाएं, भूल जाएं, सब भूल जाएं, सिर्फ चिल्लाना रह जाए। चिल्लाएं जोर से।... ...

जोर से, जोर से, दो मिनट बचे हैं, जोर से।...जोर से, दो मिनट बचे हैं, पूरी शक्ति लगा दें। जोर से, जोर से, दो मिनट बचे हैं, चिल्लाएं, चीखें, हंसें।... ...

जोर से, एक मिनट बचा है, पूरी ताकत लगा दें।...एक, पूरी शक्ति लगाएं।...दो, पूरी शक्ति लगाएं।...तीन, पूरे तूफान में आ जाएं। बिलकुल पागल हो जाएं। बिलकुल पागल हो जाएं, एक मिनट के लिए सारी ताकत लगा दें।...पागल हो जाएं कुछ सेकेंड के लिए, पूरी ताकत लगा दें। चिल्लाएं जोर से।... ...

बस अब तीसरे चरण में प्रवेश करें। अब भीतर पूछें, मैं कौन हूं? शक्ति जाग गई है, उसकी जिज्ञासा में उपयोग करें। भीतर पूछें, मैं कौन हूं? मैं कौन हूं? शक्ति को पूरा प्रश्न बना दें। शक्ति जाग गई है, पूछें, मैं कौन हूं? भीतर पूछें, जोर से पूछें भीतर, मैं कौन हूं? मैं कौन हूं? मैं कौन हूं? पांच मिनट तक अंदर पूछते रहें मैं कौन हूं, फिर हम बाहर पूछेंगे। पूछें, मैं कौन हूं? मैं कौन हूं? मैं कौन हूं? मैं कौन हूं? एकदम तूफान उठा दें भीतर।... ...

मैं कौन हूं? पूछें, शक्ति सो जाएगी, जग गई है उसे पूछें। शीघ्रता से पूछें भीतर, मैं कौन हूं? मैं कौन हूं? मैं कौन हूं? डोलते रहें, कंपते रहें, पूछते रहें, मैं कौन हूं? आनंद से पूछें, मैं कौन हूं? मैं कौन हूं? मैं कौन हूं? मैं कौन हूं?... ...

मैं कौन हूं? मैं कौन हूं? मैं कौन हूं? पूछें, पूछें, शक्ति जग गई है उसका उपयोग करें। उसको जरा भी ढीला छोड़ा वह बेकार चली जाएगी। जोर से पूछते रहें, मैं कौन हूं? मैं कौन हूं? मैं कौन हूं?... ...

जोर से, जोर से, जोर से, सतत पूछें, मैं कौन हूं? मैं कौन हूं? आनंद से पूछें, डोलते रहें, नाचते रहें, पूछें, मैं कौन हूं? मैं कौन हूं? मैं कौन हूं? मन को बिलकुल थका डालना है, पूछें, पूछें, पूछें, मैं कौन हूं? मैं कौन हूं? मैं कौन हूं? मैं कौन हूं? मैं कौन हूं?... ...

जोर से, जोर से, जोर से, ताकत लगाएं, मैं कौन हूं? मैं कौन हूं? मैं कौन हूं?...मैं कौन हूं? मैं कौन हूं? मैं कौन हूं? मैं कौन हूं? शक्ति का उपयोग करें। शक्ति जग गई है उसका उपयोग करें। अब जोर से बाहर भी चिल्ला कर पूछें, मैं कौन हूं? मैं कौन हूं? चिल्ला कर पूछें।... ...

मैं कौन हूं? जोर से। पांच मिनट बचे हैं। अब पूरी ताकत से चिल्ला कर पूछें, मैं कौन हूं?...पूछें, पूछें, शिथिल न पड़ें। जोर से पूछें।...चिल्लाएं, जोर से पूछें, मैं कौन हूं? बिलकुल पागल हो जाएं, जोर से चिल्लाएं, पूछें, मैं कौन हूं?...चार मिनट की बात है, पूरी ताकत लगाएं, फिर हम विश्राम करेंगे।...

चिल्लाएं, चिल्लाएं, पूछें, चिल्लाएं, डोलें, चिल्लाएं, पूछें। मैं कौन हूं? मैं कौन हूं? मैं कौन हूं?...बहुत ठीक, बहुत ठीक, जोर से, जोर से, मैं कौन हूं? मैं कौन हूं? मैं कौन हूं? मैं कौन हूं?...तीन मिनट बचे हैं, पूरी शक्ति लगा दें।...जोर से, जोर से, जोर से, पूरे तूफान में आ जाएं। जोर से, जोर से, जोर से।... ...

दो मिनट बचे हैं। पूरी ताकत में आ जाएं।...एक, पूरी शक्ति लगाएं।...दो, पूरी शक्ति लगा दें, भूल जाएं सब।...तीन, सब भूल कर चिल्लाएं, मैं कौन हूं?... ...

जोर से, जोर से, जोर से। आखिरी मौका है। पूरे जोर से, मैं कौन हूं?...जोर से, ज
ोर से, जोर से, पूरे पहाड़ गूंज उठें। जोर से, मैं कौन हूं? मैं कौन हूं?...
बस अब रुक जाएं, अब चौथे चरण में प्रवेश कर जाएं, पूछना छोड़ दें, डोलना छोड़
 दें, श्वास लेना छोड़ दें। अब सब छोड़ दें। दस मिनट के लिए बिलकुल शून्य में डूब
 जाएं जैसे हैं ही नहीं। सब मिट गया, सब समाप्त हो गया। सब शून्य हो गया। सब
 शांत हो गया। जैसे बूंद सागर में खो जाए ऐसे हम खो गए। जैसे बूंद सागर में खो
 जाए ऐसे हम खो गए। सब मिट गया, सब खो गया, सब समाप्त हो गया।...
प्रकाश ही प्रकाश, आनंद ही आनंद शेष रह जाता है। प्रकाश ही प्रकाश, दूर तक अ
नंत प्रकाश, भीतर आनंद ही आनंद शेष रह जाता है। हम मिट गए परमात्मा ही शे
ष रह गया है। वही है चारों ओर, उसमें डूब जाएं, निमज्जित हो जाएं, खो जाएं। स्
मरण करें, स्मरण करें, चारों ओर परमात्मा के अतिरिक्त और कोई भी नहीं है। प
रमात्मा के अतिरिक्त और कोई भी नहीं है। परमात्मा के अतिरिक्त और कोई भी
नहीं है।...वही है, वही है चारों ओर, ऊपर, नीचे, हवाओं में, बादलों में, पहाड़ों में,
 बाहर, भीतर, परमात्मा के अतिरिक्त और कोई भी नहीं है। स्मरण करें, स्मरण
करें, स्मरण करें। वही हमारा स्वरूप है। वही हम हैं। परमात्मा के अतिरिक्त और
कोई भी नहीं है।...
आनंद ही आनंद, इस आनंद को पी जाएं। इसको रोएं-रोएं में भर जाने दें। आनंद
ही आनंद, इस आनंद को पी जाएं, रोएं-रोएं में भर जाने दें। प्रकाश ही प्रकाश शेष
 रह गया। प्रकाश ही प्रकाश शेष रह गया और चारों ओर परमात्मा है। इस स्मरण
 को गहरे से गहरे प्रवेश कर जाने दें। चारों ओर परमात्मा है। वही है, वही है, उ
सके अतिरिक्त और कोई भी नहीं है।...
स्वाद लें, स्वाद लें, सुगंध लें, इस शांति का स्वाद लें, इस आनंद का स्वाद लें। प्रभु
की सुगंध को अनुभव करें, चारों ओर वही है, चारों ओर वही है। मिट गए, मिट ग
ए, बिलकुल मिट गए, हैं ही नहीं। बूंद जैसे सागर में खो जाए, ऐसे खो गए।... ...
बूंद जैसे सागर में खो जाए, ऐसे खो गए। स्मरण करें, चारों ओर सागर ही सागर,
प्रभु का सागर, चेतना का सागर, प्रकाश और आनंद का सागर है। चारों ओर, चार
ों ओर प्रकाश ही प्रकाश है, आनंद ही आनंद है।...देखें, पहचानें, अनुभव करें।...देखें,
 पहचानें, अनुभव करें। आनंद से भर जाएं उसके, प्रकाश से भर जाएं उसके, निकट
ता से भर जाएं उसके। हृदय नाच उठेगा। आनंद से भर जाएं उसके, प्रकाश से भर
 जाएं उसके। वही है, चारों ओर वही है, बाहर-भीतर वही है।... ...
आनंद से भर जाएं उसके, प्रकाश से भर जाएं उसके। चारों ओर वही है, चारों ओर
 वही है। स्मरण करें और इस स्मरण को सदा याद रखें, उठते-बैठते, चलते-सोते स्
मरण रखें, चारों ओर वही है। पहचानें, देखें, चारों ओर वही है। प्रकाश ही प्रकाश,
 आनंद ही आनंद, रोएं-रोएं में समा जाने दें, श्वास-श्वास में प्रवेश कर जाने दें। अ
स्तित्व के कण-कण में समा जाने दें।...प्रकाश ही प्रकाश, आनंद ही आनंद, फिर उस
की अंतर्धारा चौबीस घंटे बहने लगेगी। फिर चौबीस घंटे, यह परमात्मा चारों ओर ि

दखाई पड़ने लगेगा। फिर कोई अंधकार नहीं है, फिर कोई दुख नहीं है। फिर आनंद ही है, फिर प्रकाश ही है।...

अब दोनों हाथ जोड़ लें। उसे धन्यवाद दे दें। उसके चरणों में सिर झुका लें। दोनों हाथ जोड़ लें। उसके अज्ञात चरणों में, समर्पित हो जाएं। उतरने दें उसे आपके ऊपर, आपके भीतर उतर जाने दें। प्रभु की अनुकंपा अपार है। प्रभु की अनुकंपा अपार है।

... ...

प्रभु की अनुकंपा अपार है। प्रभु की अनुकंपा अपार है। प्रभु की अनुकंपा अपार है। अब दोनों हाथ छोड़ दें। दो-चार गहरी श्वास लें। फिर आंख खोल लें। ध्यान से वापस लौट आएं। आंख न खुलती हो तो दोनों हाथ आंख पर रख लें, फिर आंख खोलें।

उठते न बनता हो तो और दो-चार गहरी श्वास लें, फिर धीरे-धीरे उठ आएं।

हमारी ध्यान की बैठक पूरी हो गई है।